भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में प्रव

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास

प्रथम भाग

तीर्थंकर चरितावली

प्रेरक

अध्यात्म योगी प्रमुख आचार्य श्री देशभूषणजी महाराज विद्यालंकार

लेखक
बलभद्र जैन

प्राक्कथन

पुराण बनाम इतिहास

प्रत्येक संस्कृति, देश और जाति का अपना एक इतिहास होता है। इतिहास तथ्यों का संकलन मात्र नहीं है, अपितु परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में उत्थान और पतन, विकास और अवनति, जय और पराजय की पृष्ठभूमि और तथ्य संकलन ही इतिहास कहलाता है। देश और जाति के समान व्यक्ति और धर्म का भी इतिहास होता है। वस्तुतः धर्म का इतिहास भी व्यक्तियों का ही इतिहास होता है क्योंकि धर्म धार्मिकों के उच्च नैतिक आचार और आदर्शों में ही परिलक्षित होता है। व्यक्तियों और धर्म के इतिहास का एकमात्र प्रयोजन वर्तमान और भावी पीढ़ी को प्रेरणा देना होता है, जिससे वह भी उन आचारों और आदर्शों को जीवन व्यवहार का अभिन्न अंग बनाकर अपने जीवन को उस उच्च भूमिका तक पहुँचा सके। इससे मनुष्य के निजी जीवन में तो शान्ति और सन्तोष का अनुभव होता ही है, उसके व्यवहार में जिन व्यक्तियों का सम्पर्क होता है, उन्हें भी शान्ति और सन्तोष की अनुभूति हुए विना नहीं रहती।

इतिहास लेखन की परम्परा अति प्राचीन काल से उपलब्ध होती है। किन्तु प्राचीन काल के महापुरुषों का चरित्र जिन ग्रन्थों में गुम्फित किया गया है, उनका नाम इतिहास न होकर पुराण रखा गया है और इतिहास की सीमाङ्कित अवधि और उसके पश्चात्काल के महापुरुषों का चरित्र-चित्रण जिन ग्रन्थों में किया गया है अथवा किया जाता है, उसका नाम इतिहास, इतिवृत या ऐतिह्य कहलाता है। यद्यपि पुराण भी इतिहास ही होता है, किन्तु पुराण और इतिहास में कुछ मौलिक अन्तर भी होता है। 'इतिहास केवल घटित घटनाओं का उल्लेख करता है, परन्तु पुराण महापुरुषों के जीवन में घटित घटनाओं का उल्लेख करता हुआ उनसे प्राप्य फलाफल पुण्य-पाप का भी वर्णन करता है तथा साथ ही व्यक्ति के चरित्र निर्माण की अपेक्षा बीच बीच में नैतिक और धार्मिक भावनाओं का प्रदर्शन भी करता है। इतिहास में केवल वर्तमानकालिक घटनाओं का उल्लेख रहता है परन्तु पुराण में नायक के अतीत अनागत भावों का भी उल्लेख रहता है और वह इसलिये कि जन साधारण समझ सके कि महापुरुष कैसे बना जा सकता है। अवनत से उन्नत बनने के लिये क्या-क्या त्याग और तपस्यायें करनी पड़ती हैं। मनुष्य के जीवन निर्माण में पुराण का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि उसमें जनसाधारण की श्रद्धा आज भी यथापूर्व अक्षुण्ण है।'

७ कपिल, ८ वामन, ६ उशनस, १० ब्रह्माण्ड, ११ वरुण, १२ कालिका, १३ महेश्वर, १४ साम्ब, १५ सौर, १६ पराशर, १७ मारीच और १८ भार्गव।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक पुराण उपलब्ध हैं। इतिहासकार इनका निर्माण-काल ईसा की तीसरी से आठवीं शताब्दी मानते हैं। कुछ विद्वान रामायण और महाभारत की भी गणना पुराण साहित्य में करते हैं।

जैन धर्म में वैदिक धर्म की तरह पुराणों और उपपुराणों का विभाग नहीं मिलता। जैन धर्म की दिगम्बर परम्परा में पुराण साहित्य विपुल परिमाण में मिलता है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में पुराण नामक साहित्य का अभाव है। दिगम्बर परम्परा में संस्कृत, अपभ्रंश और कन्नड़ भाषा में ज्ञात पुराणों की संख्या ५० से ऊपर है जिनमें भगवज्जिनसेन का आदि पुराण, आचार्य गुणभद्र का उत्तर पुराण, आचार्य जिनसेन का हरिवंश पुराण, आचार्य रविषेण का पद्म पुराण सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त कवि पंप का आदि पुराण (कन्नड), महाकवि पुष्पदन्त का महापुराण (अपभ्रंश), कविवर रइधू का पद्म पुराण (अपभ्रंश) और कवि स्वयम्भू का पउमचरिय (अपभ्रंश) भी साहित्य जगत में गौरवपूर्ण स्थान रखते हैं।

जैन वाङ्मय को चार भागों में विभाजित किया गया है, जिन्हें चार अनुयोग कहा जाता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—द्रव्यानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और प्रथमानुयोग। इनमें प्रथमानुयोग में पुराण, आख्यायिका, कथा और चरित ग्रन्थ सम्मिलित हैं। जैन साहित्य में प्रथमानुयोग संबंधी ग्रन्थों की संख्या विपुल परिमाण में है। इन ग्रन्थों में, विशेषतः पुराण ग्रन्थों में प्राचीन राजवंशों और महापुरुषों का इतिहास सुरक्षित है। इसलिए यह कहा जाता है कि प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने के लिये जैन पुराणों और कथा ग्रन्थों से बड़ी सहायता प्राप्त होती हैं। जैन पुराणों की अपनी विशिष्ट वर्णन-शैली अवश्य है, किन्तु उसमें इतिहास की जो यथार्थता सुरक्षित है वह जैनेतर पुराणों में देखने को नहीं मिलती। जैन पुराणों और कथा ग्रन्थों की एक विशेषता की ओर विशेष रूप से ध्यान जाता है। उनकी मूल कथावस्तु में विभिन्न लेखकों में कोई उल्लेखनीय मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता, जब कि जैनेतर पुराणों में कथावस्तु में भारी अन्तर और मतभेद दिखाई पड़ते हैं। उसका मुख्य कारण यह है कि भगवान महावीर के पश्चात् आज तक आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा रही है। उन्होंने गुरु मुख से जो सुना और अध्ययन किया, उसको उन्होंने अपनी रचना में ज्यों का त्यों गुम्फित कर दिया। इसलिये दिगम्बर और श्वेताम्बर पुराणों और आगमों के कथानकों में भी प्रायः एकरूपता मिलती है। इसलिये उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध है। यहाँ उनकी विश्वसनीयता के लिये एक उदाहरण पर्याप्त होगा। जैनेतर पुराणों में हनुमान, नल, नील, जामवन्त, रावण आदि प्रसिद्ध पुरुषों को वानर, रीछ, राक्षस आदि लिखा है, जब कि जैन पुराणों ने उन्हें विद्याधर लिखा है और उनकी जाति का नाम वानर, रीछ, राक्षस आदि दिया है। जैन पुराणों में विद्याधरों और उनके विभिन्न वैज्ञानिक अनुसंधानों और उपलब्धियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। जैन पुराणों में वर्णित इन विद्याधर जातियों की सत्ता प्राचीन काल में थी, इस बात को नृवंश विज्ञान और विद्वानों ने सिद्ध कर दिया है। अतः कहा जा सकता है कि जैन पुराण कल्पना और किम्वदन्तियों पर आधारित न होकर पूर्वाचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त तथ्यों पर आधारित हैं।

धर्म के इतिहास की आवश्यकता

दुर्बलता नहीं रहती, अतः वे कल्याण का उपदेश देकर असंख्य प्राणियों के जीवन को धर्ममय बनाने में सफल होते हैं। दूसरा उपाय है दण्ड द्वारा लोक जीवन को अधर्म से विमुख करना। ऐसे व्यक्ति लोकनायक कहलाते हैं। इन लोक नायकों में मुख्य चक्रवर्ती, नारायण और बलभद्र होते हैं। पहला उपाय सृजनात्मक है और दूसरा निषेधात्मक। पहला उपाय है—अधार्मिकों के जीवन में से अधर्म दूर करके उन्हें धार्मिक बनाना अर्थात् हृदय परिवर्तन द्वारा धर्म की स्थापना जब कि दूसरा उपाय है—अधर्मियों और दुष्टों को दण्ड भय द्वारा अधर्माचरण और दुष्टता से रोकना। न मानने पर उन्हें दण्डित करना। हृदय परिवर्तन का प्रभाव स्थाई होता है। प्राणी का कल्याण हृदय-परिवर्तन द्वारा ही हो सकता है, जब कि दण्ड केवल भय उत्पन्न करके अस्थाई रूप से दुष्टता का निवारण कर सकता है। इसलिये धर्म नायक तीर्थंकरों की मान्यता और प्रभाव सर्वोपरि है।

इन धर्मनायकों का इतिहास पुराणों और कथा ग्रन्थों में सुरक्षित है किन्तु लोक भाषा में एक ही ग्रन्थ में सब नायकों का इतिहास नहीं मिलता। इसलिये ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता अनुभव की जाती रही है, जिसमें सरल भाषा और सुबोध शैली में इन धर्मनायकों और लोकनायकों का इतिहास हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ-निर्माण का इतिहास

उपर्युक्त आवश्यकता के फलस्वरूप प्रस्तुत ग्रन्थ 'जैन धर्म का प्राचीन इतिहास' की संयोजना की गई है। इस संयोजना के सूत्रधार पूज्य आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज रहे हैं। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि भगवान महावीर के २५०० वें निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष्य में एक ऐसे ग्रन्थ का निर्माण किया जाय, जिसमें चौबीस तीर्थंकरों का पावन चरित्र गुम्फित हो। साथ ही जिसमें चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और प्रतिनारायणों का भी चरित्र हो। उन्होंने अपनी यह इच्छा मुझ पर व्यक्त की और यह कार्य भार लेने के लिये मुझे आदेश दिया। मैं आजकल 'भारत के दिगम्बर जैन तीर्थों का इतिहास' तैयार करने में व्यस्त हूँ, जो भारतीय ज्ञानपीठ के तत्वावधान में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी की ओर से पाँच भागों में तैयार हो रहा है। इस व्यस्तता के कारण मैंने विनम्रतापूर्वक आचार्य महाराज से अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी। किन्तु आचार्य महाराज ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता और उपयोगिता का तीव्रता से अनुभव कर रहे थे। उन्होंने स्वनामधन्य साहू शान्ति प्रसाद जी से अपनी यह इच्छा व्यक्त की। साथ ही उन्होंने यह दायित्व मुझे सौंपने का आग्रह किया। मान्य साहू जी भी ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता से सहमत थे। अतः उन्होंने मुझसे यह दायित्व स्वीकार करने की प्रेरणा की। मैं इस दायित्व की गुरुता का अनुभव कर रहा था। किन्तु मैं इन सम्माननीय और कृपालु महानुभावों की आज्ञा की उपेक्षा करने का साहस न कर सका और मैंने बड़े संकोच के साथ यह दायित्व ओढ़ लिया।

यही विचार करके मैंने जैन इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान पं० परमानन्द जी शास्त्री से आचार्यों सम्बन्धी खण्ड का दायित्व स्वीकार करने के लिए अनुरोध किया। मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई, जब उन्होंने मेरे अनुरोध को स्वीकार कर लिया।

मैंने अपनी यह योजना पूज्य आचार्य महाराज के समक्ष रक्खी। मुझे अत्यन्त हर्ष है कि पूज्य आचार्य महाराज ने भी कृपापूर्वक इस योजना से अपनी सहमति व्यक्त की और उसे तत्काल स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार 'जैनधर्म का प्राचीन इतिहास' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित करने की योजना बन गई। इसका प्रथम भाग तीर्थंकर चरितावली सम्बन्धी है जो आपके हाथों में है तथा दूसरा भाग महावीर और उनकी संघ परम्परा से सम्बन्धित हैं जो इस ग्रन्थ के साथ ही प्रकाशित हो रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ भाग १ में आदि पुराण, उत्तर पुराण, हरिवंश पुराण, पद्म पुराण, पासणाहचरिउ, असग कवि कृत वर्द्धमान पुराण, जैनेतर पुराणों तथा अनेकांत आदि पत्रों से सहायता ली गई है। इतिहास और पुरातत्व के लिए तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। इसके लिए उनके लेखकों और सम्पादकों का मैं ऋणी हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ भाग १ में चौवीस तीर्थंकरों का चरित्र पौराणिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में निबद्ध किया गया है। प्रसंगवश उनके तीर्थ में होने वाले चक्रवर्तियों, बलभद्रों, नारायणों और प्रतिनारायणों का भी चरित्र दिया गया है। पाठकों की जिज्ञासा के समाधान की दृष्टि से जैन दृष्टिकोण से रामचरित और कृष्ण चरित भी विस्तार के साथ दिए गए हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी महापुरुष के जीवन चरित्र पर किसी सम्प्रदाय विशेष का अथवा किसी ग्रन्थ विशेष का एकाधिकार नहीं है। ऐसा आग्रह करना महापुरुष की महत्ता और व्यापकता को कम करना है। महापुरुष सबके होते हैं। उनको लेकर सबको गर्व और गौरव करने का अधिकार है। इसलिए वे देश, काल, जाति और सम्प्रदाय की सीमा से अतीत होते हैं। सभी सम्प्रदायों ने अपने अपने दृष्टिकोण से उनका जीवन विभिन्न भाषाओं में गुम्फित किया है। इससे उनके जीवन के विविध रंग और वैविध्य उभर कर हमारे समक्ष प्रगट होते हैं। यदि कोई अपने ही रंग को यथार्थ और दूसरे रंगों को अयथार्थ कहता है तो यह उसका दुस्साहस ही कहना चाहिए।

तीर्थ शब्द की परिभाषा

तीर्थ शब्द की व्युत्पत्ति तृ धातु के साथ थक् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होती है। इस शब्द की व्युत्पत्ति व्याकरण की दृष्टि से इस प्रकार है—'तीर्यते। अनेन वा। तृ प्लवन-तरणयोः (भ्या० प० सै०) 'पातृ तुदि'—(उ० २१७) इति थक्'। अर्थात् जिसके द्वारा अथवा जिसके आधार से तरा जाय।

जैन शास्त्रों में तीर्थ शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। यथा—

'संसाराब्धेरपारस्य तरणे तीर्थमिष्यते।
चेष्टितं जिननाथानां तस्योक्तिस्तीर्थसंकथा॥

भगवान की स्तुति करते हुए उनके तीर्थ को जन्म-मरण रूप समुद्र में डूबते हुए प्राणियों के लिए तरण-पथ बताया है।

तीर्थ के कर्ता तीर्थंकर

तीर्थंकर तीर्थ के कर्त्ता होते हैं। वे धर्म-तीर्थ की पुनः स्थापना करते हैं। तीर्थंकर केवल चतुर्थ काल में ही उत्पन्न होते हैं। वही काल उनकी उत्पत्ति के अनुकूल होता है। एक अवसर्पिणी या उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकरों की संख्या २४ ही होती है। न इससे कम, न इससे अधिक। इसे हम प्रकृति का नियम कह सकते हैं। वे किसी अव्यक्त शक्ति के अवतार नहीं होते। जैन धर्म में संसार की उत्पत्ति, विनाश और संरक्षण करने वाली कोई ऐसी अव्यक्त शक्ति नहीं मानी है, जो संसार का संचालन करती हो। बल्कि संसार में जो जीव, पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल नामक षड् द्रव्य हैं, उनके अपने स्वभाव और कार्य-कारण भाव से संसार का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य माना है। आधुनिक विज्ञान भी इस कार्य कारण भाव को स्वीकार करता है। तीर्थंकर भी मनुष्य होते हैं, किन्तु सामान्य मनुष्यों से असाधारण होते हैं। उनमें वह असाधारणता तीर्थंकर नाम कर्म के कारण होती है। तीर्थंकर नाम का एक कर्म होता है। उस कर्म का बन्ध उस व्यक्ति को होता है, जिसने किसी तीर्थंकर, केवली या श्रुतकेवली के पाद मूल में किसी जन्म में ग्यारह अंगों का अध्ययन किया हो, दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया हो तथा भावना की हो कि मैं संसार के दुखी प्राणियों का दुःख किस प्रकार दूर करूँ। ऐसी उच्च भावना और आशय वाले व्यक्ति को तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है। तीर्थंकर नामक कर्म प्रकृति महान पुण्य का फल होती है। इसलिये शास्त्रों में इस कर्म प्रकृति के लिये कहा गया है-'पुण्ण फला अरहन्ता'। इस महान पुण्य फल वाली तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करके वह व्यक्ति किसी जन्म में तीर्थंकर बनता है। तीर्थंकर केवल क्षत्रिय कुल में ही उत्पन्न होता है। चूँकि तीर्थंकर असाधारण पुण्य संचय करके उत्पन्न होते हैं, इसलिए असाधारण पुण्य के फलस्वरूप उन्हें असाधारण सांसारिक लक्ष्मी प्राप्त होती है। उनके असाधारण पुण्य का ही यह फल है कि इन्द्र, देव, मनुष्य और तिर्यंच उनके चरणों के सेवक बन जाते हैं। उनके गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान और निर्वाण के अवसर पर इन्द्र और देव यहाँ आकर उनकी स्तुति करते हैं। और पांचों अवसरों पर, जिन्हें कल्याणक कहा जाता है, वे उत्सव मनाते हैं। वे अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के लिये उनके गर्भ में आने से छह माह पूर्व से गर्भ काल अर्थात् पन्द्रह मास तक रत्न वर्षा करते हैं। केवल ज्ञान होने पर उनके लिए समवसरण की रचना करते हैं तथा विभिन्न अवसरों पर अपनी भक्ति का प्रदर्शन दैवी रीति से करते हैं जो मनुष्य लोक को विस्मयकारी और अद्‌भुत प्रतीत होता है।

हेमचन्द्र को पार्श्वनाथ के विवाहित होने की कल्पना रुची नहीं। कल्पसूत्रकार और उसका अनुसरण करने वाले आचार्यों को प्राचीन परम्परागत मान्यता के विरुद्ध महावीर आदि को विवाहित होने की नवीन कल्पना क्यों करनी पड़ी, यह अवश्य अनुसन्धान का विषय है। संभवतः उन्हें इस विषय में बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित बुद्ध चरित्र अनुकरणीय प्रतीत हुआ हो।

इसी प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में महावीर का ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में आना, फिर इन्द्र की आज्ञा से नैगमेषी देव द्वारा उस गर्भस्थ शिशु को त्रिशला के उदर में पहुँचाना विज्ञान की लाख दुहाई देने पर भी बुद्धि को रुचता नहीं है। श्वेताम्बर विद्वान् पं० सुखलाल जी संघवी इस कल्पना को कृष्ण के गर्भपरिवर्तन की कल्पना का अनुकरण मानते हैं।

दिगम्बर परम्परा में यह मान्यता है कि तीर्थंकर दीक्षा लेने पर केवल ज्ञान की प्राप्ति तक अर्थात् छद्मस्थ काल में मौन रहते हैं। किन्तु श्वेताम्बर मान्यता ऐसी नहीं है। वहाँ महावीर को छद्मस्थ काल में चण्डकौशिक सर्प को उपदेश देते हुए बताया है।

इन मान्यता - भेदों का उल्लेख इसलिए किया गया है जिससे तीर्थंकरों के सम्बन्ध में सामान्य नियमों की एकरूपता दृष्टि में आ सके। प्रस्तुत ग्रन्थ में, तीर्थंकरों के सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में जहाँ मान्यता भेद है, उसका निष्पक्ष दृष्टि से उल्लेख किया गया है।

प्रत्येक तीर्थंकर के मुनि संघ में सात प्रकार के संघ होते हैं—पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, विक्रिया ऋद्धिधारी, विपुल मति और वादी। इसी सप्त संघ के आधार पर प्रत्येक तीर्थंकर के मुनियों की संख्या इस ग्रन्थ में दी गई है।

एक तीर्थंकर का तीर्थकाल आगामी तीर्थंकर के तीर्थ-स्थापन तक रहता है। इस प्रकार धर्म की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहती है। किन्तु इस हुण्डावसर्पिणी के काल-दोष से सात काल ऐसे आये, जब धर्म की व्युच्छित्ति हो गयी। ये सात समय सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ और धर्मनाथ के तीर्थकाल में आये। शेष तीर्थंकरों के काल में धर्म की परम्परा निरन्तर चलती रही। इसका कारण यह था कि उस समय किसी ने दीक्षा नहीं ली थी। उक्त सात तीर्थों में क्रम से पावपल्य, अर्द्धपल्य, पौनपल्य, पल्य, पौन पल्य, पल्य, और पाव पल्य प्रमाण धर्म-तीर्थ का उच्छेद रहा।

अन्तिम निवेदन और आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत ग्रन्थ समय की आवश्यकता का परिणाम है। समाज में बहुत समय से इस आवश्यकता का तीव्रता से अनुभव किया जा रहा था। यह आवश्यकता थी-तीर्थंकरों का चरित्र पौराणिक शैली से उबार कर आधुनिक परिप्रेक्ष्य, भाषा और शैली में निबद्ध किया जाय किन्तु शैली बदलने पर भी उसके मूल रूप अर्थात् मौलिक चरित्र को और विशेषताओं को सुरक्षित रक्खा जाय। इसके साथ-साथ यदि उनके व्यक्तित्व का समर्थन जैनेतर ग्रन्थों, इतिहास और पुरातत्व से किया जा सके तो किया जाए। ऐसे चरित्र-ग्रन्थ से तीर्थंकरों का सही परिचय पाठकों को मिल सकेगा।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में श्री लाला केशरीचन्द्र श्रीचन्द्र चावल वाले दिल्ली ने सम्पूर्ण आर्थिक सहयोग दिया। आप अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति हैं। आप आचार्य श्री के अनन्य भक्तों में से हैं। आपका स्वभाव अत्यन्त सरल, सौम्य एवं उदार है। धार्मिक कार्यों में आप समय-समय पर मुक्तहस्त दान देकर अपनी चंचला लक्ष्मी का सदुपयोग किया करते हैं। आपकी उदारता सराहनीय है। मैं आपके अमूल्य योगदान के लिये हृदय से आपका आभारी हूँ।

मैं सम्राट प्रेस के प्रोप्राइटर और अपने मित्र श्रीनारायण सिंह जी शास्त्री के प्रति भी अपना हार्दिक आभार प्रगट करता हूँ जिन्होंने इसके मुद्रण में व्यावसायिक भावना के स्थान पर अपनत्व की भावना को अपनाया। उनका तथा उनके कर्मचारियों का मुझे सदा पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ।

अन्त में विद्वान् पाठकों से निवेदन है कि इस ग्रन्थ में प्रमाद या अज्ञानवश कहीं कोई स्खलन हुआ हो अथवा कोई त्रुटि उनकी दृष्टि में आवे तो वे कृपा करके उसकी सूचना मुझे अवश्य देने का कष्ट करें, जिससे आगामी संस्करण में वे सुधारी जा सकें।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा
वीर निर्वाण संवत् २५००

बलभद्र जैन
(भूतपूर्व संपादक दैनिक सन्देश, जैन सन्देश, दिव्यध्वनि)

भूल-शुद्धि

इस ग्रन्थ में एक बहुत भयंकर भूल हो गई है। पृष्ठ संख्या १४४ से आगे पृष्ठ संख्या १६१ चालू हो गई है। बीच के १६ पृष्ठों की संख्या छूट गई है। पाठ्य सामग्री तो पूरी है किन्तु पृष्ठ संख्या छूट गई है। इस भूल के लिये हमें हार्दिक दुःख है। पाठकों की सूचना के लिये यह निवेदन किया गया है, जिससे उन्हें कोई भ्रम न हो।

—बलभद्र जैन

विषयानुक्रमणिका

भरत-बाहुबली खण्ड

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पंचम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

दशम परिच्छेद

एकादश परिच्छेद

द्वादश परिच्छेद

त्रयोदश परिच्छेद

चतुर्दश परिच्छेद

पंचदश परिच्छेद

षोडश परिच्छेद

सप्तदश परिच्छेद

अष्टादश परिच्छेद

एकोनविंशति परिच्छेद

विंश परिच्छेद

षड्विंशतितम परिच्छेद

सप्तविंशतितम परिच्छेद

चौबीस तीर्थंकरों के चिन्ह

जैन धर्म का प्राचीन इतिहास

तीर्थंकर चरितावली

प्रथम भाग

प्रथम परिच्छेद

जैन धर्म

विश्व का अनादि सत्य

विश्व का प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है। क्षुद्र कीट पतंग से लेकर महान शक्ति-सामर्थ्य और ज्ञान विवेक से युक्त देव और मानवों तक सभी की इच्छा और प्रयास सुख की प्राप्ति के लिये ही होता है। अपनी इच्छा और कामना की पूर्ति में ही सुख समाया रहता है। दूसरों द्वारा बलात् थोपा गया सुख पीड़ा ही निपजाता है। स्पष्ट है कि प्रत्येक प्राणी सुख की अभिलाषा करता है और उसका काम्य सुख स्वाधीनता में प्रगट होता है। अर्थात् साध्य सबका सुख है और उसका साधन स्वाधीनता है। स्वाधीनता के बिना सुख मिलता नहीं, पराधीनता में दुःख जाता नहीं। स्वाधीनता हो तो सुख मिल सकता है। इसलिए सुख की उपलब्धि स्वाधीनता के बिना संभव नहीं है। इसलिये कहना होगा कि सुख और स्वाधीनता ही विश्व का अनादि सत्य है और यही चरम सत्य भी है।

किन्तु यह भी सत्य है कि समग्र प्राणधारी सत्व, विश्व के समस्त जीव सुख चाहते हैं, प्रयत्न भी सुख के लिये करते हैं, किन्तु उनके हर प्रयत्न का परिणाम दुःख होता है; उनके सारे आयोजनों का परिपाक अनचाहे दुःख में होता है। सुख के लिये उनकी यह दौड़ मृग-मरीचिका बनकर रह जाती है। यह कैसी विडम्बना है कि सब सुख चाहते हैं, किन्तु सुख मिलता नहीं; दुःख नहीं चाहते, किन्तु दुःख टलता नहीं। दुःख के कटु बीज बोकर सुख के मीठे फल लगेंगे, यह कभी संभव नहीं। किन्तु प्रत्येक जीव आशा यही करता है। क्षुद्र प्राणियों की तो बात ही क्या है, बुद्धि के कौशल से सुविधा के साधनों का अम्बार इकट्ठा करने वाले मनुष्य को भी अभी समझना शेष है कि सुख के स्वादिष्ट फल सुख के वृक्ष पर ही लगेंगे और सुख का वह वृक्ष सुख का बीज बोकर ही उगेगा।

सुख का बीज स्वाधीनता है। दुःख कोई दूसरा नहीं देता, दुःख पर की आधीनता से आता है। सुख कोई दूसरा देता नहीं है, सुख स्वाधीनता में से आता है। सुख और दुःख का यह विचार अनुभव में से निकला है। यह दर्शन शास्त्र का दुरूह तत्व नहीं, यह चिन्तन का सहज फल है। दुःख मिलता है तो उसका कोई कारण भी रहा होगा। विचार करते हैं तो दृष्टि की पकड़ में दोष दूसरों का आता है। इसलिये उपालम्भ भी दूसरों को देते हैं। दुःख से बिलबिलाते हैं किन्तु दूसरों को उपालम्भ देकर हम उसका निदान करने की झंझट से बच जाते हैं। इससे दुःख की मात्रा तो कम होती नहीं, उपालम्भ की मात्रा बढ़ जाती है। दुःख का यही एकमात्र निदान व्यक्ति के

पास शेष रह गया है । किन्तु क्या इससे दुःखों से मुक्ति मिल जाती है ? निश्चय ही नहीं मिलती । तब समझना चाहिये कि दुःख का यह निदान ही गलत है । सही निदान हो तो सही उपचार की आशा की जा सकती है । गलत निदान हो तो रोग की हर औषधि व्यर्थ हो जाती है ।

दुःख प्राणी मात्र का रोग है आज का नहीं, अनादि का रोग है । इस रोग को दूर करना है तो उसका सही निदान करना ही होगा । रोग का कारण पकड़ में आ जाय तो उस कारण को दूर करके रोग दूर किया जा सकेगा । रोग का कारण बना रहे और रोग दूर हो जाय, यह कभी संभव नहीं हो सकेगा ।

आत्मा का शाश्वत रूप

संसार की प्रत्येक वस्तु मूलतः शुद्ध है और स्वतन्त्र भी । जब इसमें अन्य से संसर्ग होता है, तब वस्तु अपने मूल रूप को छोड़कर अशुद्ध बनती है, उसमें विकार आता है । वह पराधीन होकर ही विकारी बनती है । संसार में प्राणी नाम का कोई मूल तत्व नहीं है । प्राणी तो प्राणधारी को कहते हैं । प्राण दस हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियां, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयु । संसार के प्रत्येक प्राणधारी जीव में इन दस प्राणों में से कम से कम चार प्राण और अधिक से अधिक दस प्राण होते हैं । इन प्राणों को लेकर ही जीवन है । प्राण हैं, इसलिये तो वह प्राणी कहलाता है । किन्तु प्राण शाश्वत रहने वाले नहीं हैं । आयु की मर्यादा को लेकर प्राण हैं । आयु समाप्त होते ही प्राणों का वियोग हो जाता है । इसलिये प्राण नामक कोई मूलतत्व नहीं है । आत्मा मूल तत्व है, प्राण उसके साथ संयुक्त हैं । अतः कहना होगा कि आत्मा और प्राण दो भिन्न वस्तु हैं । इसके साथ प्राणों का संयोग-वियोग चलता रहता है । प्राणों के सयोग-वियोग की यह आंख मिचौनी ही जन्म-मरण कहलाती है । किन्तु यह जन्म-मरण आत्मा का नहीं होता, प्राणों का होता है । प्राण शरीर के अंग हैं, अतः वस्तुतः जन्म-मरण आत्मा का नहीं, शरीर का होता है । प्राण और शरीर जड़ हैं, आत्मा चेतन है ।

चेतन का अर्थ है ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग । ये दोनों उपयोग सभी आत्माओं के स्वभाव हैं । ये किसी के निमित्त से नहीं हैं, ये तो आत्मा के गुण धर्म हैं । इनमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है । रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्‌गल के गुण धर्म हैं । प्राण और शरीर पुद्‌गल हैं । पुद्‌गल की पहचान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से होती है । वह अचेतन है ।

आत्मा का एक गुण आनन्द है । आनन्द को ही सुख कहते हैं । आत्मा में सुख और आनन्द का अनन्त सागर लहरा रहा है, उसके स्वभाव में दुःख का लेश भी नहीं है । दुःख जड़ पुद्‌गल का धर्म नहीं । पुद्‌गल में दुःख नाम का कोई गुण नहीं, सुख नाम का भी गुण नहीं । उसका स्वभाव तो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श है । तब प्रश्न उठता है—दुःख न आत्मा का स्वभाव है, न पुद्‌गल का । तब आत्मा को दुःख क्यों है ? जबकि सुख आत्मा का स्वभाव है तो आत्मा को सदाकाल सर्वत्र सुख ही मिलना चाहिये । दुःख कभी नहीं मिलना चाहिए । किन्तु संसार के प्राणी सुखी नहीं, बल्कि दुःखी हैं । प्राणी के जीवन में सुख का आभास तक नहीं होता और दुःख प्रति पल होता है । इसलिये संसार में कोई प्राणी सुखी नहीं, सभी दुखी हैं, ऐसा क्यों है ?

जब हम दुःख के कारणों की खोज करते हैं तो लगता है कि दुःख आत्मा ने स्वयं उपार्जित किये हैं । वह स्व में स्थित नहीं रहा, पर में स्थित हो गया । स्व में स्थित रहता तो सुख मिलता क्योंकि स्व के भीतर ही सुख रहता है । स्व के साथ अनुभूति हो तो निश्चय ही सुख प्राप्त होता है । किन्तु वह पर के साथ संलग्न हो गया, पर में स्थित हो गया, अतः उसे दुःख प्राप्त हुआ । अर्थात् स्वाश्रितता में सुख और पराश्रितता में दुःख है । 'स्वस्थ' रहे तो सुख मिले, किन्तु वह 'अस्वस्थ' रहा, अतः उसे दुःख मिला । दुःख आत्मा का रोग है । यह रोग नाना नाम-रूप वाला है, किन्तु सबका कारण एक ही है और वह है अस्वस्थता । आत्मा अपना आलम्बन छोड़कर हर क्षण हर अवसर पर पुद्‌गल का आलम्बन करता है । पर का आलम्बन तभी लिया जाता है, जब स्वयं पर विश्वास नहीं रह जाता । पुद्‌गल आत्मा से भिन्न है, पर है । आत्मा को अपने ऊपर, अपनी शक्ति पर, अपने स्वरूप पर विश्वास नहीं है, इसलिये ही उसे पुद्‌गल का सहारा लेना पड़ रहा है । पुद्‌गल का सहारा लेते-लेते वह इस स्थिति तक जा पहुंचा है कि वह अपने सुख के लिए पुद्‌गल पर निर्भर हो गया है । अपने भीतर रहने वाले सुख पर अविश्वास करने लगा है और यह विश्वास करने लगा है कि सुख पुद्‌गल में है, पुद्‌गल से ही उसे सुख मिल सकता है । स्पर्शन, रसना,

घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियाँ और मन पुद्गल की रचना हैं। इनकी संचालक शक्तियाँ आत्मा का पुद्गल अर्थात् अनात्मा के साथ सम्पर्क की परिणाम हैं। आत्मा अनात्मा की भाषा में सोचता है, उसी पर विश्वास करता है और उसी के सहारे कार्य करता है। आत्मा की यह असहाय स्थिति ही उसके सारे दुःखों की मूल है।

आत्म और अनात्म का चिरकालिक संघर्ष

आत्मा जब बहुत दुखी होता है तो वह इस असह्य स्थिति से छुटकारे का प्रयत्न करता है, कभी छुटकारे की भावना उसके अन्दर जागने लगती है। इस प्रकार की स्थिति कभी-कभी सत्संगति पाकर होती है, कभी सन्तों-मुनियों की अमृतवाणी सुनकर होती है, कभी सत् शास्त्र का अध्ययन-मनन करने पर होती है और कभी संसार के दुःखों से मुक्त होने का प्रयत्न करने वाले अथवा मुक्त हुए महापुरुषों के जीवन से प्रेरित होकर होती है। किन्तु इस प्रकार की स्थिति प्रायः अल्पकालिक होती है। अधिकांशतः तो वह पौद्गलिक संरचनाओं के प्रति आसक्ति और उनके प्रति विभिन्न प्रकार के मानसिक द्वन्द्वों से अभिभूत ही बना रहता है। यह आसक्ति ही विषय और मानसिक द्वन्द्व ही कषाय कहलाते हैं। इन्द्रियों की अपने भोगों के प्रति आसक्ति ही विषय कहलाते हैं। दूसरों को लेकर मन में क्रोध, अहंकार, माया और लोभ की जागृति कषाय कहलाती है। वस्तुतः आत्मा अपने भीतर के इन विषय-कषायों को लेकर ही दुखी रहता है। दुःख विषय-कषाय का परिणाम मात्र है, विषय-कषाय तो स्वयं दुःख रूप हैं। ये तो ऐसी आग है जो आत्मा के सम्पूर्ण गुणों को, शान्ति एवं सुख को भस्म कर देती है। ये तो ऐसी अमर बेल हैं कि ये जिस आत्मा के सहारे उगती हैं, उसी का रस पी-पीकर बढ़ती जाती हैं। ये तो ऐसे विष-वृक्ष हैं कि एक बीज बोकर हजारों विष-फल लगते हैं। आत्मा अपने भीतर इन्हीं विष-बीजों को बोती रहती है और जब इसके विष वृक्ष बड़े होते हैं और उन पर विष-फल लगते हैं तो उन्हें खाकर निरन्तर बिलबिलाता और छटपटाता रहता है।

कौन आत्मा है जो सुख नहीं चाहता। किन्तु कितनी आत्मा हैं जो इन विषय और कषायों से मुक्त होने का प्रयत्न करती हैं। संसार की अधिकांश आत्मायें तो यह भी नहीं जानतीं कि विषय-कषाय आत्मा के शत्रु हैं या ये आत्मा का अहित करते हैं। ये आत्मायें तो घोर अज्ञानान्धकार में भटक रही हैं। वे दुःख का सही निदान नहीं जानतीं, फिर दुःख से उनका छुटकारा कैसे हो। शेष आत्मायें-जिनकी संख्या अत्यल्प है—यह जानती हैं कि आत्मा के शत्रु केवल मेरे अपने ही विषय-कषाय हैं। जानती तो हैं किन्तु इसे मानती नहीं हैं, सुनकर-पढ़कर जान लिया अवश्य किन्तु उनकी मान्यता (विश्वास) और आचरण उन आत्माओं जैसा है, जो अज्ञान के कारण जानती तक नहीं। जानती हैं, किन्तु मानती नहीं, क्योंकि उन्हें पुद्गल के प्रति मोह है, उन्हें अपने प्रति आस्था नहीं, उनकी आस्था पुद्गल के प्रति है। आस्था अपने प्रति हो तो उनके भीतर आत्मा के सच्चिदानन्द रूप को पाने की ललक भी जागे। इसलिये उनका जानना भी निरर्थक हो जाता है।

किन्तु कुछेक आत्मा ही हैं जो इस तथ्य को जानती हैं, इसे मानती भी हैं और उसके लिये अपने आचरण में सुधार भी करती हैं। इस प्रकार वे ज्ञान-दर्शन और चारित्र की समन्वित एकता के द्वारा अज्ञान और मोह से संघर्ष करती हैं। पुद्गल उन्हें बलात् पथभ्रष्ट नहीं करता, उनको पथभ्रष्ट करने की सामर्थ्य तो उनके अपने भीतर के अज्ञान और मोह नामक विकार में है। ये अनादिकालीन संस्कार क्षण भर में दूर नहीं हो पाते। सत्य संकल्प का संबल लेकर इनसे संघर्ष करने का पुरुषार्थ जगाना पड़ता है। संकल्प और पुरुषार्थ में जितना तेज और बल होगा, मुक्ति की राह उतनी तीव्रता और शीघ्रता से तय होती जायगी। यह तथ्य सदा स्मरण रखना होगा कि 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' अर्थात् स्वयं आत्मा ही अपना शत्रु है और आत्मा स्वयं अपना मित्र है। इस तत्व-दर्शन में अभाव-अभियोगों को कोई अवकाश नहीं है। यह तो आत्मा की अनन्त सामर्थ्य के प्रति अडिग आस्था का नाद-घोष है। अज्ञान और मोह आत्मा की निर्बलता के प्रमाण-पत्र हैं। इन प्रमाण-पत्रों को नष्ट कर ही आत्मा की गरिमा के दर्शन होते हैं। यह तो आत्मा का सम्पूर्ण अनात्म के प्रति—चाहे वह आत्मा का अज्ञान और मोहरूप विकार हो, चाहे पुद्गल की संरचना हो—संघर्ष की उद्घोषणा है और उस आत्म-अनात्म के संघर्ष में आत्मा की विजय की स्वीकृति है।

आत्मा अज्ञान, मोह अथवा भ्रम के कारण अनात्म पुद्गल के प्रति अपनत्व का नाता जोड़ लेता है। इस

पास शेष रह गया है। किन्तु क्या इससे दुःखों से मुक्ति मिल जाती है? निश्चय ही नहीं मिलती। तब समझना चाहिये कि दुःख का यह निदान ही गलत है। सही निदान हो तो सही उपचार की आशा की जा सकती है। गलत निदान हो तो रोग की हर औषधि व्यर्थ हो जाती है।

दुःख प्राणी मात्र का रोग है आज का नहीं, अनादि का रोग है। इस रोग को दूर करना है तो उसका सही निदान करना ही होगा। रोग का कारण पकड़ में आ जाय तो उस कारण को दूर करके रोग दूर किया जा सकेगा। रोग का कारण बना रहे और रोग दूर हो जाय, यह कभी संभव नहीं हो सकेगा।

संसार की प्रत्येक वस्तु मुलतः शुद्ध है और स्वतन्त्र भी। जब दूसरे तत्व से संसर्ग होता है, तब वस्तु अपने मूल रूप को छोड़कर अशुद्ध बनती है, उसमें विकार आता है। वह पराधीन होकर ही विकारी बनती है। संसार में

आत्मा का शाश्वत रूप

प्राणी नाम का कोई मूल तत्व नहीं है। प्राणी तो प्राणधारी को कहते हैं। प्राण दस हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियां, मन, वचन, काय, श्वासोच्छ्वास और आयु। संसार के प्रत्येक प्राणधारी जीव में इन दस प्राणों में से कम से कम चार प्राण और अधिक से अधिक दस प्राण होते हैं। इन प्राणों को लेकर ही जीवन है। प्राण है, इसीलिये तो वह प्राणी कहलाता है। किन्तु प्राण शाश्वत रहने वाले नहीं हैं। आयु की मर्यादा को लेकर प्राण हैं। आयु समाप्त होते ही प्राणों का वियोग हो जाता है। इसलिये प्राण नामक कोई मूलतत्व नहीं है। आत्मा मूल तत्व है, प्राण उसके साथ संयुक्त हैं। अतः कहना होगा कि आत्मा और प्राण दो भिन्न वस्तु हैं। इसके साथ प्राणों का संयोग-वियोग चलता रहता है। प्राणों के सयोग-वियोग की यह आंख मिचौनी ही जन्म-मरण कहलाती है। किन्तुयह जन्म-मरण आत्मा का नहीं होता, प्राणों का होता है। प्राण शरीर के अंग हैं, अतः वस्तुतः जन्म-मरण आत्मा का नहीं, शरीर का होता है। प्राण और शरीर जड़ हैं, आत्मा चेतन है।

चेतन का अर्थ है ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ये दोनों उपयोग सभी आत्माओं के स्वभाव हैं। ये किसी के निमित्त से नहीं हैं, ये तो आत्मा के गुण धर्म हैं। इनमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है। रूप, रस, गन्ध और स्पर्श पुद्गल के गुण धर्म हैं। प्राण और शरीर पुद्गल हैं। पुद्गल की पहचान रूप, रस, गन्ध, स्पर्श से होती है। वह अचेतन है।

आत्मा का एक गुण आनन्द है। आनन्द को ही सुख कहते हैं। आत्मा में सुख और आनन्द का अनन्त सागर लहरा रहा है, उसके स्वभाव में दुःख का लेश भी नहीं है। दुःख जड़ पुद्गल का धर्म नहीं। पुद्गल में दुःख नाम का कोई गुण नहीं, सुख नाम का भी गुण नहीं। उसका स्वभाव तो रूप-रस-गन्ध-स्पर्श है। तब प्रश्न उठता है—दुःख न आत्मा का स्वभाव है, न पुद्गल का। तब आत्मा को दुःख क्यों है? जबकि सुख आत्मा का स्वभाव है तो आत्मा को सदाकाल सर्वत्र सुख ही मिलना चाहिये। दुःख कभी नहीं मिलना चाहिए। किन्तु संसार के प्राणी सुखी नहीं, बल्कि दुःखी हैं। प्राणी के जीवन में सुख का आभास तक नहीं होता और दुःख प्रति पल होता है। इसलिये संसार में कोई प्राणी सुखी नहीं, सभी दुखी हैं, ऐसा क्यों है?

जब हम दुःख के कारणों की खोज करते हैं तो लगता है कि दुःख आत्मा ने स्वयं उपार्जित किये हैं। वह स्व में स्थित नहीं रहा, पर में स्थित हो गया। स्व में स्थित रहता तो सुख मिलता क्योंकि स्व के भीतर ही सुख रहता है। स्व के साथ अनुभूति हो तो निश्चय ही सुख प्राप्त होता है। किन्तु वह पर के साथ संलग्न हो गया, पर में स्थित हो गया, अतः उसे दुःख प्राप्त हुआ। अर्थात् स्वाश्रितता में सुख और पराश्रितता में दुःख है। 'स्वस्थ' रहे तो सुख मिले, किन्तु वह 'अस्वस्थ' रहा, अतः उसे दुःख मिला। दुःख आत्मा का रोग है। यह रोग नाना नाम-रूप वाला है, किन्तु सबका कारण एक ही है और वह है अस्वस्थता। आत्मा अपना आलम्बन छोड़कर हर क्षण हर अवसर पर पुद्गल का आलम्बन करता है। पर का आलम्बन तभी लिया जाता है, जब स्वयं पर विश्वास नहीं रह जाता। पुद्गल आत्मा से भिन्न है, पर है। आत्मा को अपने ऊपर, अपनी शक्ति पर, अपने स्वरूप पर विश्वास नहीं है, इसलिये ही उसे पुद्गल का सहारा लेना पड़ रहा है। पुद्गल का सहारा लेते-लेते वह इस स्थिति तक जा पहुंचा है कि वह अपने सुख के लिए पुद्गल पर निर्भर हो गया है। अपने भीतर रहने वाले सुख पर अविश्वास करने लगा है और यह विश्वास करने लगा है कि सुख पुद्गल में है, पुद्गल से ही उसे सुख मिल सकता है। स्पर्शन, रसना,

घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियाँ और मन पुद्‌गल की रचना हैं। इनकी संचालक शक्तियाँ आत्मा का पुद्‌गल अर्थात् अनात्मा के साथ सम्पर्क की परिणाम हैं। आत्मा अनात्मा की भाषा में सोचता है, उसी पर विश्वास करता है और उसी के सहारे कार्य करता है। आत्मा की यह असहाय स्थिति ही उसके सारे दुःखों की मूल है।

आत्म और अनात्म का चिरकालिक संघर्ष

आत्मा जब बहुत दुखी होता है तो वह इस असह्य स्थिति से छुटकारे का प्रयत्न करता है, कभी छुटकारे की भावना उसके अन्दर जागने लगती है। इस प्रकार की स्थिति कभी-कभी सत्संगति पाकर होती है, कभी सन्तों-मुनियों की अमृतवाणी सुनकर होती है, कभी सत् शास्त्र का अध्ययन-मनन करने पर होती है और कभी संसार के दुःखों से मुक्त होने का प्रयत्न करने वाले अथवा मुक्त हुए महापुरुषों के जीवन से प्रेरित होकर होती है। किन्तु इस प्रकार की स्थिति प्रायः अल्पकालिक होती है। अधिकांशतः तो वह पौद्‌गलिक संरचनाओं के प्रति आसक्ति और उनके प्रति विभिन्न प्रकार के मानसिक द्वन्द्वों से अभिभूत ही बना रहता है। यह आसक्ति ही विषय और मानसिक द्वन्द्व ही कषाय कहलाते हैं। इन्द्रियों की अपने भोगों के प्रति आसक्ति ही विषय कहलाते हैं। दूसरों को लेकर मन में क्रोध, अहंकार, माया और लोभ की जागृति कषाय कहलाती है। वस्तुतः आत्मा अपने भीतर के इन विषय-कषायों को लेकर ही दुखी रहता है। दुःख विषय-कषाय का परिणाम मात्र है, विषय-कषाय तो स्वयं दुःख रूप हैं। ये तो ऐसी आग है जो आत्मा के सम्पूर्ण गुणों को, शान्ति एवं सुख को भस्म कर देती है। ये तो ऐसी अमर बेल हैं कि ये जिस आत्मा के सहारे उगती हैं, उसी का रस पी-पीकर बढ़ती जाती हैं। ये तो ऐसे विष-वृक्ष हैं कि एक बीज बोकर हजारों विष-फल लगते हैं। आत्मा अपने भीतर इन्हीं विष-बीजों को बोती रहती है और जब इसके विष वृक्ष बड़े होते हैं और उन पर विष-फल लगते हैं तो उन्हें खाकर निरन्तर बिलबिलाता और छटपटाता रहता है।

कौन आत्मा है जो सुख नहीं चाहता। किन्तु कितनी आत्मा हैं जो इन विषय और कषायों से मुक्त होने का प्रयत्न करती हैं। संसार की अधिकांश आत्मायें तो यह भी नहीं जानतीं कि विषय-कषाय आत्मा के शत्रु हैं या ये आत्मा का अहित करते हैं। ये आत्मायें तो घोर अज्ञानान्धकार में भटक रही हैं। वे दुःख का सही निदान नहीं जानतीं, फिर दुःख से उनका छुटकारा कैसे हो। शेष आत्मायें-जिनकी संख्या अत्यल्प है—यह जानती हैं कि आत्मा के शत्रु केवल मेरे अपने ही विषय-कषाय हैं। जानती तो हैं किन्तु इसे मानती नहीं हैं, सुनकर-पढ़कर जान लिया अवश्य किन्तु उनकी मान्यता (विश्वास) और आचरण उन आत्माओं जैसा है, जो अज्ञान के कारण जानती तक नहीं। जानती हैं, किन्तु मानती नहीं, क्योंकि उन्हें पुद्‌गल के प्रति मोह है, उन्हें अपने प्रति आस्था नहीं, उनकी आस्था पुद्‌गल के प्रति है। आस्था अपने प्रति हो तो उनके भीतर आत्मा के सच्चिदानन्द रूप को पाने की ललक भी जागे। इसलिये उनका जानना भी निरर्थक हो जाता है।

किन्तु कुछेक आत्मा ही हैं जो इस तथ्य को जानती हैं, इसे मानती भी हैं और उसके लिये अपने आचरण में सुधार भी करती हैं। इस प्रकार वे ज्ञान-दर्शन और चारित्र की समन्वित एकता के द्वारा अज्ञान और मोह से संघर्ष करती हैं। पुद्‌गल उन्हें बलात् पथभ्रष्ट नहीं करता, उनको पथभ्रष्ट करने की सामर्थ्य तो उनके अपने भीतर के अज्ञान और मोह नामक विकार में हैं। ये अनादिकालीन संस्कार क्षण भर में दूर नहीं हो पाते। सत्य संकल्प का संबल लेकर इनसे संघर्ष करने का पुरुषार्थ जगाना पड़ता है। संकल्प और पुरुषार्थ में जितना तेज और बल होगा, मुक्ति की राह उतनी तीव्रता और शीघ्रता से तय होती जायगी। यह तथ्य सदा स्मरण रखना होगा कि 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः' अर्थात् स्वयं आत्मा ही अपना शत्रु है और आत्मा स्वयं अपना मित्र है। इस तत्व-दर्शन में अभाव-अभियोगों को कोई अवकाश नहीं है। यह तो आत्मा की अनन्त सामर्थ्य के प्रति अडिग आस्था का उद्घोष है। अज्ञान और मोह आत्मा की निर्बलता के प्रमाण-पत्र हैं। इन प्रमाण-पत्रों को नष्ट कर ही आत्मा की शुचिता के दर्शन होते हैं। यह तो आत्मा का सम्पूर्ण अनात्म के प्रति—चाहे वह आत्मा का अज्ञान और मोहरूप विकार हो, चाहे पुद्‌गल की संरचना हो—संघर्ष की उद्‌घोषणा है और उस आत्म-अनात्म के संघर्ष में आत्मा की विजय की स्वीकृति है।

आत्मा अज्ञान, मोह अथवा भ्रम के कारण अनात्म पुद्‌गल के प्रति अपनत्व का नाता जोड़ लेता है। इस

मुक्त हो जाते हैं, तब वे सिद्ध या निकल अर्थात् अशरीरी परमात्मा कहलाने लगते हैं। फ़िर उनका जन्म-मरण नहीं होता। उन्हें शरीर नहीं धारण करना पड़ता। उनके सम्पूर्ण विकार, समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं और आत्मा का अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख, अनन्त वीर्य आदि सहज और वास्तविक स्वरूप प्रगट हो जाता है। वे अपने इसी स्वरूप में स्थित रहते हैं।

'जिन' को ही सम्मानसूचक अर्थ में जिनदेव, जिनेश्वर, जिनेन्द्र आदि शब्दों द्वारा व्यवहृत किया जाता है। आशय की दृष्टि से इन शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। इन्हीं को पूज्य अर्थ में अर्हत्, अर्हन्त, अरिहन्त अथवा अरहन्त भी कहा जाता है। अरहन्त शब्द में शब्दार्थ की दृष्टि से यह भी आशय निगूढ़ है कि उन्होंने आत्मा के जो विषय, कषाय अथवा कर्म शत्रु थे, उन्होंने इन सबका नाश कर दिया। विषय और कषाय आत्मा की सहज स्वाभाविक परिणति नहीं है, ये तो वैभाविक-विकारी परिणमन हैं। इन भावनात्मक विकारों को आत्मा में से निर्मूल कर दिया, उनको जीत लिया है। इसी आशय में कहा जाता है कि उन शत्रुओं का नाश कर दिया है। विषय और कषाय रूप विकृतियों को ही राग-द्वेष कहा जाता है। इन राग-द्वेष रूप विकृतियों को जीतकर ही वीतराग और जिन बनते हैं।

जिनदेव द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही जैन धर्म है

उन वीतराग जिन ने आत्म-विजय का जो उपदेश दिया, जो राह बताई, उसका एक निश्चित रूप तो है, किन्तु नाम कुछ नहीं है। किन्तु लोक में व्यवहार के लिए, सुविधा के लिये उसका एक नाम रख लिया। वह 'जिन' का धर्म था, अतः 'जिन' का धर्म 'जैन धर्म' कहलाने लगा। यहीं यह समझ लेना रुचिकर होगा कि 'जिन' किसी अमुक व्यक्ति का नाम नहीं है, यह तो एक पदवाचक शब्द है। जिसने भी आत्म-विजय की है, वही जिन कहलाने लगा। चूंकि आत्म-विजय करने वाला वीतराग होता है, इसलिये उन्होंने आत्म-विजय के लिये जिस धर्म का उपदेश दिया, वह धर्म भी वीतराग धर्म है। उसका प्रारम्भ अथवा उसकी स्थापना किसी व्यक्ति विशेष ने नहीं की, इसलिये जैनधर्म का प्रारम्भ किसी काल-विशेष में नहीं हुआ। वह तो आत्म-विजय की चिरन्तन राह है; वह तो आत्मा के सच्चिदानन्द रूप की प्राप्ति की सार्वदेशिक और सार्वकालिक जीवन-पद्धति है। यह तो वह जीवन-दर्शन है, जिस पर चलकर 'जिनों' ने आत्म-विजय की है और भविष्य में भी जो आत्म-विजय करेंगे, वे इसी राह पर चलकर ही करेंगे। इसलिये कहना होगा कि जैन धर्म वस्तुतः शाश्वत सत्य है। आज धर्म सम्प्रदाय के अर्थ में व्यवहृत होने लगा है। किन्तु जैन धर्म सम्प्रदाय नहीं, किन्तु यह तो आत्मा के लिये है, आत्मा द्वारा प्राप्त किया जाता है, आत्मा में प्रतिष्ठित होता है। इसलिये इसे आत्म-धर्म कहना तथ्य को स्वीकार करना होगा। सुविधा के लिये इसे हम जिनधर्म, जैनधर्म, आर्हत धर्म कह सकते हैं और चाहें तो इसे निज धर्म भी कहा जा सकता है।

प्राचीन साहित्य में जैनधर्म का नामोल्लेख

उपर्युक्त सन्दर्भ में यह बात विशेष महत्वपूर्ण है कि प्राचीन साहित्य में जैनधर्म का नामोल्लेख नहीं है। इससे उन लोगों का तर्क स्वयं खण्डित हो जाता है, जो यह कहते हैं कि जैनधर्म का उदय तथाकथित ऐतिहासिक काल की उपज है अथवा यह कि जैनधर्म की स्थापना पार्श्वनाथ अथवा महावीर ने की या यह कि जैनधर्म ब्राह्मण धर्म की हिंसामूलक यज्ञ-परम्परा की प्रतिक्रिया स्वरूप अस्तित्व में आया। वस्तुतः जैनधर्म आत्म-दर्शन के रूप में उस समय से प्रतिष्ठित रहा है, जबसे आत्म-विजय की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ है। वेदत्रयी के परवर्ती साहित्य में जिन और जैन मत के स्पष्ट उल्लेख होने लगे थे। संभवतः इस काल में आकर लोग इस धर्म को जैनधर्म और उसके पुरस्कर्ताओं को 'जिन' नाम से व्यवहृत करने लगे थे। योगवाशिष्ठ,[1] श्रीमद् भागवत,[2] विष्णुपुराण,[3] शाकटायन व्याकरण,[4] पद्मपुराण,[5]

---

१. योगवाशिष्ठ अ० १५ श्लोक ८

२. श्रीमद्भागवत ५.५

३. विष्णुपुराण २.१

४. शाकटायन-अनादि सूत्र २८६ पाद ३

५. पद्म पुराण (व्यंकटेश प्रेस) पृ०२

मत्स्यपुराण[1] आदि में जिन, जैनधर्म आदि नामों से उल्लेख मिलता है। प्राचीन साहित्य में जैनधर्म के लिये श्रमण शब्द का भी प्रयोग मिलता है। अतः श्रमण क्या है, इस पर विचार करना आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति की दो धाराएँ-श्रमण और वैदिक

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति कही जाती है। भारतीय संस्कृति पावनतोया गंगा है। उसमें दो महान नदियाँ आकर मिली हैं—श्रमण और वैदिक। इन दोनों के संगम से विशाल भारतीय संस्कृति की गंगा बनी है। न अकेली श्रमण धारा को हम भारतीय संस्कृति कह सकते हैं और न अकेली वैदिक धारा को हम भारतीय संस्कृति का नाम दे सकते हैं। ये दोनों धाराएँ परस्पर विरोधी लगती हैं, किन्तु दोनों ने मिलकर ही भारतीय संस्कृति का निर्माण किया है।

दोनों धाराओं की भी अपनी अपनी संस्कृति रही है। उन दोनों संस्कृतियों के अन्तर पर प्रकाश डालते हुए सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री मंगलदेव शास्त्री ने लिखा है—

"मुनि शब्द के साथ ज्ञान, तप और वैराग्य जैसी भावनाओं का गहरा सम्बन्ध है। मुनि शब्द का प्रयोग वैदिक संहिताओं में बहुत ही कम हुआ है। श्रमण संस्कृति में ही यह शब्द अधिकांशतः प्रयुक्त है। पुराणों में जो वैदिक तथा वैदिकेतर धाराओं का समन्वय प्रस्तुत करते हैं, ऋषि और मुनि दोनों शब्दों का प्रयोग बहुत कुछ मिले जुले अर्थ में होने लगा था। दोनों संस्कृतियों में ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से भिन्नता है। ऋषि या वैदिकी संस्कृति में कर्मकाण्ड की प्रधानता और असहिष्णुता की प्रवृत्ति बढ़ी तो श्रमण संस्कृति या मुनि संस्कृति में अहिंसा, निरामिषता तथा विचार सहिष्णुता की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी"।

श्रमण और वैदिक संस्कृति के अन्तर को संक्षेप में समझने के बाद यह समझना आवश्यक है कि श्रमण का अर्थ या आशय क्या है ?

दशवैकालिक सूत्र १७३ की टीका में आचार्य हरिभद्र सूरि ने श्रमण शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है—श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्ते इत्यर्थः।' अर्थात् जो श्रम करता है, कष्ट सहता है, तप करता है वह श्रमण है।

श्रमण संस्कृति

श्रमण शब्द की इस व्याख्या में ही श्रमण संस्कृति का आदर्श अन्तर्निहित है। जो श्रम करता है, तपस्या करता है और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करता है, वही श्रमण कहलाता है। अपने पुरुषार्थ पर विश्वास करने वाले और पुरुषार्थ द्वारा आत्म-सिद्धि करने वाले क्षत्रिय होते हैं। इसलिये कहना होगा कि श्रमण संस्कृति पुरुषार्थमूलक क्षत्रिय संस्कृति रही है।

प्राचीन वैदिक साहित्य में-विशेषतः वेदों में याज्ञिक कर्मकाण्ड द्वारा विभिन्न देवताओं को प्रसन्न करने और उनसे सांसारिक याचना करने के विधान पाये जाते हैं। याचना करना ब्राह्मणों का धर्म है। अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक संस्कृति ब्राह्मण संस्कृति है। इसीलिये इस संस्कृति में ब्राह्मणों को ही सर्वाधिक गौरव प्रदान किया गया है। यह संस्कृति परम्परामूलक रही है।

हमारी इस मान्यता का समर्थन वैदिक साहित्य से भी होता है। तैत्तिरीय आरण्यक में (२ प्रपाठक ७अनुवाक १-२) में वर्णन आया है कि—

"वातरशन श्रमण ऋषि ब्रह्मपद की ओर उत्क्रमण करने वाले हुए। उनके पास अन्य ऋषि प्रयोजनवश उपस्थित हुए। उन्हें देख कर ऋषि कहीं अन्तर्हित हो गये। वे वातरशन कूष्माण्ड नामक मंत्र वाक्यों में अन्तर्हित थे। तब उन्हें अन्य ऋषियों ने श्रद्धा और तप से प्राप्त कर लिया। ऋषियों ने उन वातरशन मुनियों से प्रश्न किया—'किस विद्या से आप अन्तर्हित हो जाते हैं। वातरशन मुनियों ने उन्हें निलय आये हुए अतिथि मानकर कहा—'हे मुनिजनो! आपको नमोऽस्तु है। हम आपका सत्कार किससे करें ?' ऋषियों ने कहा—'हमें पवित्र आत्म-विद्या का उपदेश दीजिये जिससे हम निष्पाप हो जायं।'

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि श्रमण मुनि आत्म विद्या में निष्णात थे, जबकि वैदिक ऋषियों को आत्मविद्या

---

१. मत्स्य पुराण अ० २४ श्लोक ५४-५५

का ज्ञान नहीं था। आत्मविद्या के जानकार केवल क्षत्रिय श्रमण ही होते थे, वैदिक ऋषियों के लिये आत्मविद्या अज्ञात थी। श्रमण जैन परम्परा की यह मान्यता कि सभी तीर्थंकर केवल क्षत्रिय ही होते हैं, हमारी इस धारणा को पुष्ट करती है कि श्रमण परम्परा क्षत्रियों की परम्परा रही है।

श्रीमद्भागवत में श्रमणों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो वातरशन ऊर्ध्वमन्थी श्रमण मुनि हैं, वे शान्त, निर्मल, सम्पूर्ण परिग्रह से सन्यस्त ब्रह्म पद को प्राप्त करते हैं।'

श्रमणों की उपर्युक्त पहचान वस्तुतः सही है। इसलिये निघण्टु की भूषण टीका में श्रमण शब्द की व्याख्या इस रूप में की है—

'श्रमणा दिगम्बराः श्रमणा वातरशनाः।'

श्रीमद्भागवत ११।२ में उपर्युक्त व्याख्या का ही समर्थन इस प्रकार किया गया है—श्रमणा वातरशना आत्मविद्या विशारदाः।

श्रमण दिगम्बर मुनि होते थे। उन मुनियों को ही भागवतकार ने ऊर्ध्वरेता, वातरशना, आत्मविद्या में विशारद बतलाया है।

भागवतकार ने स्कन्ध १२ अध्याय ३ श्लोक १८-१९ में श्रमणों की जो प्रशंसा की है, वह उनके उच्च आचार-विचार की द्योतक है। महर्षि शुकदेव राजा परीक्षित को उपदेश देते हुए कहते हैं—

कृते प्रवर्तते धर्मश्चतुष्पात्तज्जनैर्धृतिः।
सत्यं दया तपो दानमिति पादा विभोर्नृप॥
सन्तुष्टा करुणा मैत्राः शान्ता दान्तास्तितिक्षवः।
आत्मारामाः समदृशः प्रायशः श्रमणा जनाः॥

अर्थात् हे राजन! कृतयुग (सतयुग) में धर्म के चार चरण होते हैं—सत्य, दया, तप और दान। इस धर्म को उस समय लोग निष्ठापूर्वक धारण करते हैं। सतयुग में प्रायः श्रमण ही सन्तुष्ट, करुणाशील, मैत्रीपरायण, शान्त, इन्द्रियजयी, सहनशील, आत्मा में रमण करने वाले और समदृष्टि वाले होते हैं।

इस प्रकार के दिगम्बर श्रमणों का उल्लेख अति प्रचीन काल से होता आया है। ऋग्वेद १०।९४।११ में श्रमणों का सर्व प्रथम उल्लेख मिलता है। रामायण (वाल्मीकि) में भी अनेक स्थलों पर श्रमणों का उल्लेख बड़े सम्मान के साथ किया गया है। रामचन्द्रजी ने जिस शवरी का आतिथ्य ग्रहण किया था, वह श्रमणी थी (श्रमणी शवरी नाम श्रमणा श्रमणोत्तमा)। राजा जनक जिस प्रकार तापसों को भोजन कराते थे, श्रमणों को भी वैसे ही कराते थे (तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते)

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रमण दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनियों को कहा जाता था। भारत में श्रमणों का अस्तित्व अति प्राचीन काल से पाया जाता है। श्रमण आत्मविद्या में पारंगत थे। वैदिक ऋषि उनसे आत्मविद्या सीखते थे। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल[1] के अनुसार 'श्रमण परम्परा के कारण ब्राह्मण धर्म में वानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला।'

प्राचीन काल में जैनों को ही श्रमण कहा जाता था। प्राचीनतम भारतीय साहित्य में श्रमणों के उल्लेख मिलते हैं।

वैदिक ग्रन्थों में जैनधर्मानुयायियों को अनेक स्थलों पर व्रात्य भी कहा गया है। व्रतों का आचरण करने के कारण वे व्रात्य कहे जाते थे। संहिता-काल में व्रात्यों को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। संहिताओं में

व्रात्य

व्रात्यों के लिये बड़े आदरसूचक विशेषणों का प्रयोग किया गया है। जब तक वैदिक आर्य व्रात्यों के निकट सम्पर्क में नहीं आये थे और उनके साथ वैदिक आर्यों को निरन्तर संघर्ष करना पड़ा था, उस समय ऋग्वेद में जो मंत्र लिखे गये, उनसे ज्ञात होता है कि कीकट (मगध) देश का राजा प्रमंगद था। वह व्रात्य था। उसके राज्य में व्रात्यों के पास अपार धन, गायें और वैभव था।

१. प्राक्कथन जैन साहित्य का इतिहास, पृ० १३

इन्द्र से अनेक मंत्रों[1] द्वारा उनके धन और गायों को दिलाने की प्रार्थना की गई है। इससे ज्ञात होता है कि कीकट देश में व्रात्यों का शासन था और व्रात्यों की राजनैतिक और सैनिक शक्ति वैदिक आर्यों से श्रेष्ठ थी।

किन्तु धीरे धीरे जब वैदिक आर्य व्रात्यों के निकट सम्पर्क में आये और उनकी आत्म-साधना, उन्नत आध्यात्मिक ज्ञान एवं उच्च मान्यतायें देखीं तो वे उनसे बड़े प्रभावित हुए और उन्होंने यज्ञों के विरोधी व्रात्यों की प्रशंसा में अनेक मंत्रों की रचना की। व्रात्यों की यह प्रशंसा ऋग्वेद काल से लेकर अथर्ववेद काल तक प्राप्त होती है। अथर्ववेद में तो स्वतंत्र व्रात्य सूक्त[2] की रचना भी मिलती है।

इसी व्रात्य सूक्त में एक मंत्र द्वारा व्रात्य की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

'जो देहधारी आत्मायें हैं, जिन्होंने अपनी आत्मा को देह से ढंका है, इस प्रकार के जीव समूह समस्त प्राण-धारी चैतन्य सृष्टि के स्वामी हैं, वे व्रात्य कहलाते हैं।'

एक मंत्र में व्रात्य के निन्दकों की भर्त्सना करते हुए कहा है—

'जो ऐसे व्रात्य की निन्दा करता है, वह संसार के देवताओं का अपराधी होता है।'

कर्मकाण्ड को ही धर्म मानने वाले ब्राह्मणों की अपेक्षा साधारण व्रात्य को श्रेष्ठ बताते हुए एक मंत्र में कहा गया है—

'यद्यपि सभी व्रात्य आदर्श पर इतने ऊंचे चढ़े हुए न हों, किन्तु व्रात्य स्पष्टतः परम विद्वान्, महाधिकारी, पुण्यशील, विश्ववंद्य, कर्मकाण्ड को धर्म मानने वाले ब्राह्मणों से विशिष्ट महापुरुष होते हैं, यह मानना ही होगा।'

वैदिक ऋषि व्रात्यों के उच्च नैतिक मूल्यों से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने वेदों की ऋचाओं[3] द्वारा याज्ञिकों को यहां तक आदेश दिया कि—

'यज्ञ के समय व्रात्य आजाय तो याज्ञिक को चाहिये कि व्रात्य की इच्छानुसार यज्ञ को करे अथवा उसे बन्द करदे। जैसा व्रात्य यज्ञ-विधान करे, वैसा करे।

'विद्वान् ब्राह्मण व्रात्य से इतना ही कहे कि जैसा आपको प्रिय है, वही किया जायगा। वह व्रात्य आत्मा है। आत्मा का स्वरूप है। आत्म साक्षात् दृष्टा महाव्रत के पालक व्रात्य के लिये नमस्कार हो।'

इस प्रकार संहिता काल में व्रात्यों के प्रति अत्यन्त सम्मान के भाव प्रगट किये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं है कि व्रात्य शब्द का प्रयोग श्रमण के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। ये श्रमण और व्रात्य ही परवर्ती काल में जैन कहलाने लगे।

इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं कि संहिताओं का निर्माण-काल भारतीय संस्कृति का स्वर्णिम काल था। उस समय भारत में जन्मी श्रमण संस्कृति और भारत की मिट्टी में पनपी वैदिक संस्कृति मुक्त और उदार भाव से परस्पर लेन-देन कर रही थीं। भारत की स्वस्थ जलवायु में एक नई संस्कृति जन्म ले रही थी। भौतिक दृष्टि वाली वैदिक संस्कृति श्रमण संस्कृति के आध्यात्मिक मूल्यों पर मुग्ध हो रही थी। उस काल में वैदिक ऋषियों ने श्रमण अथवा व्रात्यों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रगट की और तभी उन्होंने व्रात्य सूक्त, ऋषभ सूक्त तथा स्वतन्त्र मंत्रों द्वारा महाव्रात्य ऋषभदेव, महाव्रत पालक व्रात्य श्रमणसाधु और सामान्य व्रात्य-श्रमण परम्परा के अनुयायी जनों की स्तुति और प्रशंसा[4] की।

किन्तु लगता है, ब्राह्मण साहित्य, स्मृति और पुराण-काल विशेषतः विष्णुपुराण के रचना काल में आकर वैदिक ऋषियों के ये भाव स्थिर नहीं रह सके और वे व्रात्यों की निन्दा करने लगे। संभवतः इसका कारण यह रहा हो कि व्रात्यों की आध्यात्मिक धारा से प्रभावित होकर वैदिक कर्मकाण्डमूलक विचारधारा अपने मूल रूप को छोड़कर औपनिषदिक ज्ञान काण्ड की ओर मुड़ने लगी थी। ऐसी स्थिति में अपने मूल रूप को स्थिर रखने के लिये वैदिक

१. ऋग्वेद १।३३।५, १।१०१।१, १।१३०।८, ७।१०४।२, ३।३०।१७
२. अथर्ववेद काण्ड १५ में २२० मंत्रों द्वारा व्रात्यों की स्तुति की गई है।
३. अथर्ववेद काण्ड १५
४. ऋग्वेद २।३३।१५, ४।६।२६।४, अथर्ववेद १९।४२।४

ऋषियों की चिन्ता स्वाभाविक थी। अतः इस काल में व्रात्यों को अयज्वन, अन्यव्रत, अकर्मन् आदि शब्दों द्वारा वैदिक अनुयायियों की दृष्टि में गिराने के प्रयत्न किये जाने लगे। इसी काल में व्रात्यों और वैदिक आर्यों के धार्मिक विश्वासों के आधार पर प्रादेशिक सीमायें स्थिर की गई। इतना ही नहीं, अंग-वंग-कलिंग-सौराष्ट्र और मगध में जाना निषिद्ध घोषित कर दिया गया और जाने पर प्रायश्चित्त का विधान तक किया गया। पुराणों में इस प्रकार के कल्पित कथानकों तक की रचना की गई कि एक राजा-रानी को एक व्रात्य (जैन) से केवल बात करने के अपराध का प्रायश्चित्त अनेक जन्म धारण करके करना पड़ा। अथवा प्राणों पर संकट आने की दशा में यदि जैन मन्दिर में जाकर प्राण-रक्षा की संभावना हो सकती है तो भी जैन मन्दिर में प्रवेश करके प्राण-रक्षा करने की अपेक्षा मृत्यु का वरण करना श्रेयस्कर घोषित कर दिया। व्रात्यों की लोक-भाषा प्राकृत को हीन घोषित करना, अथवा उसे स्त्रियों और शूद्रों की भाषा करार देना भी व्रात्यों के विरुद्ध वैदिक ऋषियों द्वारा आयोजित घृणा-प्रसार-आन्दोलन का ही एक अंग रहा है।

किन्तु वैदिक ऋषियों की इस चिन्ता अथवा इस घृणा-आन्दोलन का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उन श्रमणों और व्रात्यों—जिनकी प्रशंसा संहिता ग्रन्थों में की गई है—की कर्मकाण्ड विरोधी और अध्यात्म मूलक संस्कृति अत्यन्त सशक्त और प्रभावशाली थी। उसके प्रभाव से वैदिक संस्कृति अपना स्वरूप बदलने को बाध्य हो रही थी। उपनिषदों पर श्रमण-व्रात्य संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट ही था। ऐसी दशा में ही वदिक संस्कृति को बचाने की चिंता वैदिक ऋषियों को करनी पड़ी। कल्पना करें, यदि उन्होंने श्रमणों-व्रात्यों के विरुद्ध ये घृणा की दीवारें खड़ी न की होतीं और ये घृणा-आन्दोलन न चलाये जाते तो भारतीय संस्कृति का वह रूप न होता जो आज दिखाई पड़ता है, अथवा वैदिक संस्कृति शुष्क कर्मकाण्ड और भौतिकवाद की दलदल से निकलकर शुद्ध अध्यात्म प्रधान संस्कृति का रूप ग्रहण कर लेती।

जैन अर्थ में श्रमण और व्रात्य शब्दों के समान आर्हत शब्द का प्रयोग भी अत्यन्त प्राचीन काल से होता आया है। संभवतः पौराणिक काल में इस शब्द का प्रयोग खुलकर होने लगा था। श्रीमद्भागवत में तो आर्हत शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है। एक स्थान[1] पर भगवान ऋषभदेव के सन्दर्भ में लिखा है—'तपाग्नि से कर्मो को नष्टकर वे सर्वज्ञ 'अर्हत्' हुए और उन्होंने 'आर्हत मत का प्रचार किया। विष्णुपुराण[2] में देवासुर संग्राम के प्रसंग में मायामोह का उल्लेख करते हुए लिखा है—'माया मोह ने असुरों में 'आर्हत' धर्म का प्रचार किया।' वह माया मोह एक दिगम्बर मुनि के रूप में चित्रित किया गया है। हिन्दू 'पद्म पुराण' में इस माया मोह की उत्पत्ति बृहस्पति की सहायता के लिये विष्णु द्वारा बताई गई है। इस मुंडे सिर और मयूर पिच्छिकाधारी योगी दिगम्बर मायामोह द्वारा दैत्यों (असुरों) को जैन धर्म का उपदेश और उनके द्वारा जैन धर्म में दीक्षित होने का स्पष्ट उल्लेख है। 'मत्स्य[3] पुराण' में बताया है कि अहिंसा ही परम धर्म है, जिसे अर्हन्तों ने निरूपित किया है।

आर्हत

इस प्रकार विभिन्न हिन्दू पुराणों में 'आर्हतमत' और अर्हन्तों का उल्लेख मिलता है।

संक्षेप में श्रमण, व्रात्य, आर्हत, जैन इन शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में हुआ है। वैदिक ग्रन्थों में वातरशना, ऊर्ध्वरेता, ऊर्ध्वमन्थी शब्दों का प्रयोग भी श्रमण मुनियों के लिए ही हुआ है। जहाँ भी इन शब्दों का प्रयोग हुआ है, वह अत्यन्त सम्मान पूर्ण आशय से ही हुआ है।

इतिहासकार और पुरातत्ववेत्ता अब इस बात को स्वीकार करने लगे हैं कि भारत में वैदिक सभ्यता का जब प्रचार -प्रसार हुआ, उससे पहले यहाँ जो सभ्यता थी, वह अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत थी। प्राग्वैदिक काल का कोई साहित्य नहीं मिलता। किन्तु पुरातत्त्व की खोजों और उत्खनन के परिणामस्वरूप नये तथ्यों और मूल्यों पर प्रकाश पड़ा है। सन् १९२२ में और उसके बाद मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा की खुदाई भारत सरकार की ओर से की गई थी। पश्चिमी पाकिस्तान में सिन्ध प्रान्त

पुरातत्त्व और प्राग्वैदिक संस्कृति

१. श्रीमद्भागवत ५।६

२. विष्णुपुराण अध्याय १७-१८

३. मत्स्य पुराण अध्याय २४

के लरकाना जिले में सिन्धु नदी तथा नरनहर के मध्य में मोहन-जो-दड़ो स्थित है। मोहन-जो-दड़ो का अर्थ है मृतकों का टीला। यहाँ पर जल को स्पर्श करती हुई सात तहों तक खुदाई हुई थी। हड़प्पा मोण्टगोमरी जिले में एक स्थान है। मोहन-जो-दड़ो सिन्धु नदी के कांठे में तथा हड़प्पा रावी के कांठे में अवस्थित है। इन दोनों स्थानों में जिस संस्कृति की खोज हुई, वह सिन्धु घाटी की सभ्यता अथवा हड़प्पा संस्कृति कही जा सकती है।

भारत सरकार के पुरातत्त्व विभाग के डायरेक्टर सर जान मार्शल ने इस सभ्यता के सम्बन्ध में लिखा है—'पांच हजार वर्ष पूर्व पंजाब और सिन्धु प्रदेश में आर्यों से भी पहले ऐसे लोग रहते थे, जिनकी संस्कृति बहुत उच्च कोटि की थी और अपने समकालीन मेसोपोटामिया तथा मिश्र की संस्कृति से किसी बात में भी कम न थी। हां, कई बातें उत्कृष्ट अवश्य कही जा सकती हैं।'

इन स्थानों पर जो पुरातत्त्व उपलब्ध हुआ है, उससे तत्कालीन भारतवासियों के रहन-सहन, पहनाव-पोशाक, रीति-रिवाज, और धार्मिक विश्वासों पर प्रकाश पड़ता है। इन स्थानों पर यद्यपि कोई देवालय-मंदिर नहीं मिले हैं, किन्तु वहां पाई गई मुहरों (Seals), ताम्रपत्रों, धातुमिट्टी तथा पत्थर की मूर्तियों से उनके धर्म और विश्वास का पता चलता है।

मोहन-जो-दड़ो में कुछ मुहरें ऐसी मिली हैं, जिन पर योग मुद्रा में योगी-मूर्तियाँ अंकित हैं। एक मुहर ऐसी भी प्राप्त हुई है, जिसमें एक योगी कायोत्सर्ग मुद्रा (खड्गासन) में ध्यान लीन है। उसके सिर के ऊपर त्रिशूल है। वृक्ष का एक पत्ता मुख के पास है। योगी के चरणों में एक भक्त करबद्ध नमस्कार कर रहा है। उस भक्त के पीछे वृषभ खड़ा है। वृषभ के ऊपर वृक्ष है। योगी को वेष्टित किये हुए वल्लरी है। नीचे सामने की ओर सात योगी उसी कायोत्सर्ग मुद्रा में भुजा लटकाये ध्यान मग्न हैं। प्रत्येक के मुख के पास वल्लरी के पत्र लटक रहे हैं।

योगी के इस परिवेश और परिकर को आदि तीर्थंकर वृषभदेव के परिप्रेक्ष्य में जैन शास्त्रों के विवरण से तुलना करें तो अत्यन्त समानता के दर्शन होते हैं और कुछ रोचक तथ्य उभर कर सामने आते हैं। आचार्य जिन-सेन ने'आदि पुराण' सर्ग १८ श्लोक ३,६ और १० में भगवान की कायोत्सर्ग मुद्रा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। श्लोक १० में आचार्य लिखते हैं—'उनकी दोनों बड़ी बड़ी भुजाएं नीचे की ओर लटक रही थीं। और उनका शरीर अत्यन्त देदीप्यमान तथा ऊंचा था। इसलिए वे ऐसे जान पड़ते थे मानो अग्रभाग में स्थित दो ऊंची शाखाओं से सुशोभित एक कल्पवृक्ष ही हो।'

इसी सर्ग के श्लोक १२ में वर्णन है—'मन्द मन्द वायु से समीपवर्ती वृक्षों की शाखाओं के अग्रभाग हिल रहे थे।

आदि पुराण सर्ग १७ श्लोक २५३ में वर्णन है—'जो भगवान के चरणों की पूजा कर चुके हैं, जिनके दोनों घुटने पृथ्वी पर लगे हुए हैं और जिनके नेत्रों से हर्ष के आंसू निकल रहे हैं, ऐसे सम्राट् भरत ने अपने उत्कृष्ट मुकुट में लगे हुए मणियों की किरण रूप स्वच्छ जल के समूह से भगवान के चरण-कमलों का प्रक्षालन करते हुए भक्ति से नम्र हुए अपने मस्तक से उन भगवान के चरणों को नमस्कार किया।'

आदि पुराण सर्ग १७ श्लोक २१८—'जिनका संयम प्रगट नहीं हुआ है, ऐसे उन द्रव्यलिंगी मुनियों से घिरे हुए भगवान वृषभ देव ऐसे सुशोभित होते थे मानो छोटे-छोटे कल्प वृक्षों से घिरा हुआ कोई उन्नत विशाल कल्प-वृक्ष ही हो।'

इसी प्रकार का वर्णन महाकवि अर्हद्दास विरचित 'पुरुदेव चम्पू' में भी मिलता है। मोहन-जो-दड़ो में प्राप्त मुहर को सामने रखकर आदिपुराण और पुरुदेव चम्पू के भगवान वृषभदेव सम्बन्धी ध्यान विवरण को पढ़ें तो दोनों में ऐसी समानता मिलेगी, मानो इन पुराणकारों ने उक्त मुहर की ही व्याख्या की हो। इसलिये उक्त मुहर और उक्त पौराणिक विवरण से तुलना करके मुहर की व्याख्या इस प्रकार कर सकते हैं—

भगवान वृषभदेव कायोत्सर्गासन से ध्यानारूढ़ खड़े हैं। कल्प वृक्ष हवा से हिल रहा है और उसका एक पल्लव भगवान के मुख के पास डोल रहा है। उनके शिर पर सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र यह त्रिरत्न रूप त्रिशूल है। सम्राट् भरत भगवान के चरणों में भक्ति से झुक कर आनन्दाश्रुओं से उनके चरण प्रक्षालन कर रहे हैं।

उनके पीछे वृषभ लांछन है। नीचे सात मुनि भगवान का अनुसरण करके कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानमग्न हैं। जो चार हजार राजा दिगम्बर मुनि बन गये थे, उन्हीं के प्रतीक स्वरूप ये सात मुनि हैं। वे भी कल्प वृक्ष के नीचे खड़े हुए हैं और उनके मुख के पास भी पत्ता हिल रहा है।

संभवतः उक्त मुहर की तर्कसंगत व्याख्या इसके अतिरिक्त दूसरी नहीं हो सकती।

इस मुहर का अध्ययन करके प्रसिद्ध विद्वान् रा० ब० प्रो० राम प्रसाद चन्दा ने जो व्याख्या प्रस्तुत की, उससे इतिहास वेत्ताओं को अपनी प्रचलित धारणा में संशोधन करने के लिए बाध्य होना पड़ा। प्रो० चन्दा का आशय इस प्रकार है—

"सिन्धु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देव-मूर्तियां न केवल योग-मुद्रा में अवस्थित हैं और उस प्राचीन युग में सिन्धु घाटी में प्रचलित योग पर प्रकाश डालती हैं, उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की खड़ी मुद्रा भी प्रगट करते हैं। और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनों से सम्बन्धित है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर ध्यान करने की है। आदिपुराण सर्ग १८ में ऋषभ अथवा वृषभ की तपश्चर्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्व संग्रहालय में एक शिलाफलक पर जैन ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमायें मिलती हैं जो ईसा की द्वितीय शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति संख्या १२ में प्रतिबिम्बित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिश्री स्थापत्य कला में कुछ प्रतिमायें ऐसी भी मिलती हैं, जिनकी भुजाएं दोनों ओर लटकी हुई हैं। यद्यपि ये मिश्री मूर्तियां या ग्रीक कूरों प्रायः उसी मुद्रा में मिलती हैं, किन्तु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं, जो सिन्धु घाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनों की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती हैं। ऋषभ का अर्थ है वृषभ (बैल) और वृषभ जिन ऋषभ का चिन्ह है।"

—माडर्न रिव्यू, अगस्त १९३२, पृ० १५५-१६०

प्रो० चन्दा के इन विचारों का समर्थन डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार ने भी किया है। वे भी सिन्धु घाटी में मिलीं इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभ देव की मानते हैं। इन विद्वानों ने सील नं० ४४९ पर जिनेश्वर शब्द भी पढ़ा है। हमारी विनम्र मान्यता है कि सभी ध्यानस्थ प्रतिमायें जो सिन्धु घाटी में मिली हैं, जैन तीर्थंकरों की हैं। ध्यानमग्न वीतराग मुद्रा, त्रिशूल और धर्मचक्र, पशु, वृक्ष और नाग ये सभी जैन कला की अपनी विशेषतायें हैं। विशेषतः कायोत्सर्गासन जो जैन श्रमणों द्वारा ध्यान के लिए प्रयुक्त होता है।

T. N. Ram Chandran का अभिमत

These two ricks place before us the truth that we are perhaps recognising in the Harappa statue a full fledged Jain Tirthankar in the characteristic pose of physical abandon (kayotsarga).

The statue under description is therefore a splendid representative specimen of this thought of Jainism at perhaps its very inception.

T. N. Ram Chandran
Director General Indian Archeological
Department

सिन्धु सभ्यता अत्यन्त समृद्ध और समुन्नत सभ्यता थी। पुरातत्ववेत्ताओं ने सिन्धु सभ्यता का जो मूल्यांकन किया है, उसके बड़े रोचक निष्कर्ष निकले हैं। डा० राधाकुमुद मुकर्जी[1] लिखते हैं—'मुहर संख्या F. G. H. फलक दो पर अंकित देव मूर्ति में एक बैल ही बना है। संभव है, यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो। यदि ऐसा हो तो शैव धर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धु सभ्यता तक चला जाता है।"

१. हिन्दू सभ्यता, तृतीय संस्करण, पृ० ३९

प्रसिद्ध विद्वान् श्री रामधारी सिंह दिनकर[1] इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं—'मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभ देव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ सम्बन्धित थी। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं दीखता कि ऋषभ देव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व हैं।'

इसी सन्दर्भ में डा० एम० एल० शर्मा[2] लिखते हैं—'मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त मुहर पर जो चित्र अंकित है, वह भगवान ऋषभ देव का है। यह चित्र इस बात का द्योतक है कि आज से पांच हजार वर्ष पूर्व योग साधना भारत में प्रचलित थी। और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभ देव थे। सिन्धु निवासी अन्य देवताओं के साथ ऋषभ देव की भी पूजा करते थे।'

---

१. संस्कृति के चार अध्याय, पृ० ३९
२. भारत में संस्कृति एवं धर्म, पृ २०

२—जैन धर्म में तीर्थंकर-मान्यता

जैन परम्परा में सर्वोपरि उपासनीय देवाधिदेव अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु नामक पंच परमेष्ठी माने गये हैं। अर्हन्त आत्म-साधना द्वारा ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय इन चार कर्मों—जो घातिया कर्म कहलाते हैं—के क्षय से बनते हैं। इन कर्मों के क्षय से उनकी आत्मा के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य गुण प्रगट हो जाते हैं। अर्हन्त, अरहन्त, अरि-हन्त ये शब्द समानार्थक हैं। इन सबका एक ही अर्थ है—अरि अर्थात् शत्रु; हन्त अर्थात् नाश करने वाला। आत्मा के शत्रु कर्म हैं। उनका नाश करने वाला अर्हन्त कहलाता है। सिद्ध वह आत्मा कहलाती है, जिसने सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति कर ली है अर्थात् जो संसार में सदा काल के लिए जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त हो चुका है। अर्हन्त और सिद्ध दोनों ही परमात्मा कहलाते हैं। अन्तर इतना ही है कि अर्हन्त सशरीरी परमात्मा हैं और सिद्ध अशरीरी परमात्मा हैं। आयु कर्म शेष रहने के कारण अर्हन्त के चार कर्म—जो अघातिया कर्म कहलाते हैं—अभी शेष हैं। जब उनके वे चारों अघातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब वे अशरीरी परमात्मा बन जाते हैं। वे ही सिद्ध कहलाते हैं।

पंच-परमेष्ठी

शेष तीन परमेष्ठी—आचार्य, उपाध्याय और साधु साधक दशा में हैं और उनका लक्ष्य आत्म-साधना द्वारा आत्म-सिद्धि प्राप्त कर क्रमशः अर्हन्त और सिद्ध बनना है। साधु समस्त आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके ध्यानाध्ययन द्वारा आत्म-साधना करते हैं। उन साधुओं में विशिष्ट ज्ञानी साधु, जो अन्य साधुओं को अध्ययन कराते हैं, उपाध्याय कहलाते हैं। उन साधुओं में से विशिष्ट ज्ञानवान, आचार सम्पन्न, शासन-अनुशासन में सक्षम, व्यवहार कुशल साधु को साधु-साध्वी-श्रावक और श्राविका यह चतुर्विध संघ अपना धर्मनायक स्वीकार करके उसे आचार्य पद प्रदान करता है, वह आचार्य कहलाता है।

इस प्रकार साधु, उपाध्याय और आचार्य ये तीन और परमेष्ठी होते हैं। ये ही पंच परमेष्ठी कहलाते हैं। जैन परम्परा में मान्य महामन्त्र णमोकार में इन्हीं पंच परमेष्ठियों को नमस्कार किया गया है। किसी व्यक्ति विशेष का नामोल्लेख न करके तत्तद् गुणों से विभूषित आत्माओं को ही परमेष्ठी माना गया है। इससे यह सहज ही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैन धर्म में व्यक्ति-पूजा को स्थान नहीं दिया गया, अपितु वहां गुण-पूजा पर विशेष बल दिया गया है।

तीर्थंकर अर्हन्तों में से ही होते हैं। वे धर्म तीर्थ की पुनः स्थापना करते हैं, अतः तीर्थंकर कहलाते हैं। जो साधक किसी जन्म में ऐसी शुभ भावना करता है कि मैं जगत के समस्त जीवों का दुःख निवारण करूँ, उन्हें संसार के दुःखों से छुड़ाकर मुक्त करूँ तथा इस प्रकार की भावना के साथ सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करे, उसे तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है अर्थात् वह आगामी जन्म में अथवा एक जन्म के पश्चात् तीर्थंकर बनता है। कोई जीव उसी जन्म में (विदेह क्षेत्र में) तीर्थंकर बनता है। वे सोलह कारण भावनाएं इस प्रकार हैं—

तीर्थंकर धर्म नेता हैं, धर्म-संस्थापक नहीं

१. दर्शन विशुद्धि—पच्चीस दोषों से रहित सम्यग्दर्शन की प्राप्ति। यह गुण तीर्थकर प्रकृति के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।
२. विनय सम्पन्नता—देव, शास्त्र और गुरु तथा रत्नत्रय का हृदय से सम्मान करना।
३. शील और व्रतों का निरतिचार पालन—व्रतों तथा व्रतों के रक्षक नियमों (शीलों) में दोप न लगने देना।
४. अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग—निरन्तर सत्य ज्ञान का अभ्यास, चिन्तन, मनन करना।
५. अभीक्ष्ण संवेग—धर्म और धर्म के फल से अनुराग होना।
६. शक्ति के अनुसार त्याग—अपनी शक्ति के अनुसार कषाय का त्याग, ममत्त्व का त्याग तथा आहार, अभय, औषधि और ज्ञान का दान करना।
७. शक्ति के अनुसार तप—अपनी शक्ति को न छिपा कर अन्तरंग और वहिरंग तप करना
८. साधु समाधि—साधुओं का उपसर्ग दूर करना तथा समाधि पूर्वक मरण करना
९. वैयावृत्त्य करण—व्रती त्यागी और साधर्मी जनों की सेवा करना, दुखी का दुःख दूर करना
१०. अर्हन्त भक्ति—अर्हन्त भगवान की हृदय से भक्ति करना
११. आचार्य भक्ति—चतुर्विध संघ के नायक आचार्य की भक्ति करना
१२. वहुश्रुत भक्ति—उपाध्याय परमेष्ठी की भक्ति करना
१३. प्रवचन भक्ति—तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट जिनवाणी की भक्ति करना
१४. आवश्यकापरिहाणी—छह आवश्यक कर्मों का सावधानी पूर्वक पालन करना
१५. मार्ग प्रभावना—जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करना
१६. प्रवचन वात्सल्य—साधर्मी जनों से निश्छल प्रेम करना

तीर्थंकर किसी नये धर्म की स्थापना नहीं करता, न वह किसी नये सत्य का उद्घाटन ही करता है। वह तो सनातन सत्य का ही प्ररूपण करता है। इसे ही तीर्थ-प्रवर्तन कहा जाता है। यह धर्म तीर्थ का प्ररूपक धर्मनेता होता है, धर्म संस्थापक नहीं होता। धर्म तो अनादि निधन है। उसकी स्थापना नहीं हो सकती। धर्म के कारण जो व्यक्ति तीर्थंकर वना है, वह किस नये धर्म की स्थापना करेगा क्योंकि धर्म तो उससे पूर्व भी था। वस्तुतः धर्म से तीर्थंकर वनता है, तीर्थंकर से धर्म नहीं वनता। जो व्यक्ति से धर्म वनता है, वह धर्म नहीं; व्यक्ति की मान्यता है। वस्तु का स्वभाव धर्म है, वह तो वस्तु के साथ है। वह स्वभाव किसी के द्वारा वनाया नहीं जाता, केवल वताया जाता है। अतः तीर्थंकर धर्मनेता हैं, धर्म संस्थापक नहीं।

जैन धर्म में अवतारवाद नहीं है

जैन धर्म में किसी ऐसे ईश्वर की मान्यता नहीं है जो अवतार लेता है। तीर्थंकर ईश्वर नहीं होते। वे तीर्थंकर कर्म के कारण तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थंकर नामकर्म सातिशय पुण्य प्रकृति है। तीर्थंकर नाम कर्म के कारण कल्याणक प्रत्येक तीर्थंकर के होते हैं। उनके ३४ अतिशय अर्थात् जन साधारण की अपेक्षा अद्भुत वातें होती हैं। जन्म के समय १० अतिशय होते हैं, केवल ज्ञान हो जाने के अनन्तर १० अतिशय स्वयं होते हैं तथा १४ अतिशय देवों द्वारा सम्पन्न होते हैं। इन अतिशयों के अतिरिक्त तीर्थंकर के अपनी माता के गर्भ में आने से ६ मास पहले सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है। तव वह अवधिज्ञान से ६ मास पश्चात् होने वाले तीर्थंकर के गर्भावतरण को जानकर श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, वुद्धि, लक्ष्मी आदि ५६ कुमारिका देवियों को तीर्थंकर की माता का गर्भ-शोधन के लिए भेजता है तथा कुवेर को तीर्थंकर के माता-पिता के घर पर प्रतिदिन तीन समय साढ़े तीन करोड़ रत्न वरसाने की आज्ञा देता है। यह रत्नवर्षा जन्म होने तक अर्थात् १५ मास तक होती है। छह मास पीछे जव तीर्थंकर माता के गर्भ में आते हैं, तव माता को रात्रि के अन्तिम प्रहर में १६ स्वप्न दिखाई देते हैं। यह सव पुण्य का फल है।

वस्तुतः पुण्य के कारण तीर्थंकर को जो लाभ होता है, उससे यह सूचित होता है कि वे तीर्थंकर वनेंगे। किन्तु जव केवल ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् वे भाव-तीर्थ की स्थापना अथवा तीर्थ-प्रवर्तन करते हैं, तीर्थंकर तो वे तभी कहलाते हैं। गर्भ से तीर्थंकर द्रव्य दृष्टि से कहलाते हैं और भाव से धर्मतीर्थ-प्रवर्तन के कारण तीर्थंकर कहलाते

हैं। किन्तु वे तीर्थंकर बनते हैं अपनी साधना, तपस्या और पुरुषार्थ द्वारा। तीर्थंकर कर्म नष्ट करने पर परमात्मा बन जाते हैं, किन्तु कोई परमात्मा कर्म-बन्ध करके तीर्थंकर नहीं बनता। इसलिये तीर्थंकर अवतार नहीं कहलाते। सिद्ध परमात्मा बनने पर उनके कोई कर्म शेष नहीं रहता। जन्म, मरण, रोग, शोक चिन्ता आदि कर्म के फल हैं। जब कर्म ही नहीं तो ये आधि व्याधि भी नहीं हो सकतीं। इसीलिए जैन धर्म में अवतारवाद की कल्पना को कोई स्थान नहीं है।

तीर्थंकर चौवीस होते हैं। वर्तमान तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार हैं—

तीर्थंकरों के नाम

१ ऋषभदेव, २ अजितनाथ, ३ संभवनाथ, ४ अभिनन्दननाथ, ५ सुमतिनाथ, ६ पद्मप्रभ ७ सुपार्श्वनाथ, ८ चन्द्रप्रभ, ९ पुष्पदन्त, १० शीतलनाथ, ११ श्रेयांसनाथ, १२ वासुपूज्य, १३ विमलनाथ, १४ अनन्तनाथ, १५ धर्मनाथ, १६ शान्तिनाथ, १७ कुन्थुनाथ, १८ अरहनाथ १९ मल्लिनाथ, २० मुनिसुव्रतनाथ, २१ नमिनाथ २२ नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) २३ पार्श्वनाथ, २४ महावीर वर्धमान।

तीर्थंकरों के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य

तीर्थंकरों के वंश, वर्ण, विवाह, आसन आदि की जानकारी करना भी अत्यन्त रोचक होगा, अतः उनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातों का उल्लेख यहां किया जा रहा है।

वंश—भगवान महावीर नाथवंश में उत्पन्न हुए। श्वेताम्बर परम्परा में इनका वंश णाय वंश (ज्ञातृ वंश) बताया है। भगवान पार्श्वनाथ का जन्म उग्रवंश में हुआ। मुनि सुव्रत नाथ और नेमिनाथ हरिवंश में उत्पन्न हुए। धर्मनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ कुरुवंश में पैदा हुए। शेष १७ तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में हुए।

वर्ण—सुपार्श्वनाथ तथा पार्श्वनाथ तीर्थंकर हरित वर्ण के थे। मुनिसुव्रतनाथ और नेमिनाथ नील वर्ण थे। चन्द्रप्रभ और पुष्पदन्त का शरीर सफेद था। पद्मप्रभ और वासुपूज्य का रंग लाल था। शेष १६ तीर्थंकरों के शरीर का वर्ण संतप्त स्वर्ण जैसा था।

विवाह—वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर ये पांच तीर्थंकर बाल ब्रह्मचारी थे। इन्होंने विवाह नहीं किया था, कुमार अवस्था में ही प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी। शेष तीर्थंकरों ने विवाह किया था।

इस विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में कुछ मान्यता-भेद हैं। दिगम्बर परम्परा मान्य 'तिलोयपण्णत्ति' ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

'नेमी मल्ली वीरो कुमार कालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि य गहिद तपा शेष जिणा रज्ज चरमम्मि ॥४।६७०

अर्थात् भगवान नेमिनाथ, मल्लिनाथ, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पांच तीर्थंकरों ने कुमार-काल में और शेष तीर्थंकरों ने राज्य के अन्त में तप को ग्रहण किया।

'तिलोयपण्णत्ति' की इस मान्यता का समर्थन दिगम्बर परम्परा के शेष सभी ग्रन्थों ने किया है। इसलिए दिगम्बर परम्परा में इन पांच तीर्थंकरों को पंचकुमार अथवा पंच बालयति माना है। इन पंच बालयतियों की मूर्तियां भी अत्यन्त प्राचीन काल से उपलब्ध होती हैं।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में इस सम्बन्ध में दो मान्यतायें प्रचलित रही हैं। 'आवश्यक निर्युक्ति' में जो कि प्राचीन आगम ग्रन्थ माना जाता है, इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होता है—

'वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२४३॥
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु।
ण य इत्थिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइया ॥२४४॥

अर्थात् महावीर, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, मल्लिनाथ, और वासुपूज्य ये पांच तीर्थंकर विशुद्ध क्षत्रिय राज-

कुल में उत्पन्न हुए और कुमार अवस्था में ही मुनि-दीक्षा ली। इन्होंने न तो विवाह किया, न इनका राज्याभिषेक हुआ। शेष सभी तीर्थंकरों का विवाह तथा राज्याभिषेक हुआ। पीछे उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की।

'ण य इत्थिआभिसेआ' का अर्थ टिप्पणी में लिखा है—'स्त्री पाणिग्रहण इत्यादि रहिता इत्यर्थः अर्थात् स्त्री-पाणिग्रहण और राज्याभिषेक से रहित उक्त पांच तीर्थंकर थे।

आवश्यक निर्युक्तिकार की इस मान्यता के अनुसार ही स्थानांग, समवायांग, भगवती आदि सूत्रों में भी इन पांच तीर्थंकरों के विवाह का उल्लेख नहीं किया है। समवायांग सूत्र (नं० १९) में आगारवास का उल्लेख करते हुए १९ तीर्थंकरों का घर में रहकर और भोग भोग कर दीक्षित होना बतलाया है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने अपनी वृत्ति में 'शेषास्तु पंचकुमार भाव एवेत्याह च' वाक्य के साथ 'वीरं अरिट्ठणेमी' नामक गाथा उद्धृत की है। 'स्थानांग' सूत्र के ४७९ वें सूत्र में भी पांच तीर्थंकरों को कुमार प्रव्रजित कहा है। 'आवश्यक निर्युक्ति' की २४८ वीं गाथा में भी इसी आशय को स्पष्ट किया है। वह गाथा इस प्रकार है—

'वीरो अरिट्ठणेमी पासो मल्लिवासुपुज्जो य।
पढमवए पव्वइया सेसा पुण पच्छिमवयंसि ॥

इस गाथा की टीका करते हुए टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है—'प्रथम वयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिताः शेषा पुनः ऋषभस्वामि प्रभृतयो मध्यमे वयसि यौवनत्वलक्षणे वर्तमानाः प्रव्रजिताः।

यद्यपि इन सूत्रग्रन्थों में इन पांच तीर्थंकरों को स्पष्ट रूप से कुमार स्वीकार किया है तथा शेष तीर्थंकरों को घर में रहकर और भोग भोगकर दीक्षित होना लिखा है, जिसका अर्थ है कि उन पांच तीर्थंकरों ने भोग नहीं भोगे। किन्तु पश्चाद्वर्ती श्वेताम्बर आगम ग्रन्थों—कल्पसूत्र, आवश्यक भाष्य, आचारांग आदि में पार्श्वनाथ और महावीर को विवाहित माना है, तथा वासुपूज्य, मल्लिनाथ और नेमिनाथ को बिना विवाह किये दीक्षित होना माना है।

आचार्य हेमचन्द्र 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुष-चरित' के वासुपूज्य-चरित्र में उल्लिखित पांच तीर्थंकरों में से महावीर के सिवाय चार को अविवाहित कहते हैं। यथा—

मल्लिर्नेमिः पार्श्व इति भाविनोऽपि त्रयो जिनाः।
अकृतोद्वाह साम्राज्याः प्रव्रजिष्यन्ति मुक्तये ॥१०३॥
श्री वीरश्चरमश्चार्हन्नीषद्भोग्येन कर्मणा।
कृतोद्वाहोऽकृतराज्यः प्रव्रजिष्यति सेत्स्यति ॥१०४॥

परन्तु आगे चलकर पार्श्वनाथ चरित पर्व ९ सर्ग ३ में हेमचन्द्र पार्श्व को विवाहित सूचित करते हैं। इस पर्व के २१० वें श्लोक का एक चरण इस प्रकार है—'उद्वाह प्रभावतीम्'

इससे ऐसा लगता है कि हेमचन्द्र को इस सर्ग की रचना करते समय अपनी पूर्व स्थापना का स्मरण नहीं रहा तथा उनके समक्ष कोई दूसरी भी परम्परा विद्यमान थी। उस परम्परा के अनुसरण के आग्रह के कारण ही उन्होंने पार्श्वनाथ का विवाह प्रभावती के साथ होना स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थंकरों के विवाह के सम्बन्ध में दो मान्यतायें प्रचलित रहीं हैं।

३—तीर्थंकर और प्रतीक-पूजा

जन-मानस में तीर्थंकरों के लोकोत्तर व्यक्तित्व की छाप बहुत गहरी रही है। उन्होंने जन-जन के कल्याण और उपकार के लिए जो कुछ किया, उस अनुग्रह को जनता ने बड़ी श्रद्धा के साथ स्वीकार किया। जब जो तीर्थंकर विद्यमान थे, उनकी भक्ति, पूजा और उपदेश श्रवण करने के लिए जनता का प्रत्येक वर्ग उनके चरण-सान्निध्य में पहुंचता था और वहाँ जाकर अपने हृदय की भक्ति का अर्घ्य उनके चरणों में समर्पित करके अपने आपको धन्य मानता था। किन्तु जब उस तीर्थंकर का निर्वाण हो गया, तब जनता का मानस उनके अभाव को तीव्रता के साथ अनुभव करता और अपनी भक्ति के पुष्प समर्पित करने को आकुल हो उठता था। जनता के मानस की इसी तीव्र अनुभूति ने प्रतीक-पूजा की पद्धति को जन्म दिया।

प्रतीक दो प्रकार के रहे-अतदाकार और तदाकार। ये दोनों ही प्रतीक अविद्यमान तीर्थंकरों की स्मृति का पुनर्नवीकरण करते थे और जन-मानस में तीर्थंकरों के आदर्श की प्रेरणा जागृत करते थे। इन दोनों प्रकार के प्रतीकों में शायद अतदाकार प्रतीकों की मान्यता सर्व प्रथम प्रचलित हुई। ऐसा विश्वास करने के कुछ प्रबल कारण हैं। सर्व प्रथम आधार मनोवैज्ञानिक है। मानव की बुद्धि का विकास क्रमिक रूप से ही हुआ है। प्रतीकों का जो रूप वर्तमान में है, वह सदा काल से नहीं रहा। हम आगे चलकर देखेंगे कि तदाकार मूर्ति-शिल्प में समय, वातावरण और बुद्धि-विकास का कितना योगदान रहा है। अतदाकार प्रतीक से ही तदाकार प्रतीक की कल्पना का जन्म संभव हो सकता है। दूसरा प्रबल कारण है पुरातात्त्विक साक्ष्य। पुरातात्त्विक साक्ष्य के आधार पर यह माना गया है कि तदाकार प्रतीक के रूप (मन्दिर और मूर्ति के रूप में) बहुत अधिक प्राचीन नहीं हैं और वे हमें ईसा पूर्व की सात-आठ शताब्दियों से पूर्वकाल तक नहीं ले जाते, जबकि अतदाकार प्रतीक इससे पूर्व के भी उपलब्ध होते हैं। यदि हड़प्पाकाल की शिरविहीन ध्यानमग्न मूर्ति को निर्विवाद रूप से तीर्थंकर प्रतिमा होने की स्वीकृति हो जाती है तो तदाकार प्रतीक का काल ईसा पूर्व तीन सहस्राब्दी स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु इसके साथ यह भी स्वीकार करना होगा कि उस काल में भी तदाकार प्रतीकों का बाहुल्य नहीं था। एक शिरोहीन मूर्ति तथा कुछ मुद्राओं पर अंकित ध्यानलीन योगी जिन के रूपांकन के अतिरिक्त उस काल में विशेष कुछ नहीं मिला। ऐसी स्थिति में यह भी विचारणीय है कि हड़प्पा संस्कृति अथवा सिन्धु सभ्यता के काल से मौर्य काल तक के लम्बे अन्तराल में तदाकार प्रतीक-विधान की कोई कला-वस्तु क्यों नहीं मिली? इसका एक ही बुद्धिसंगत कारण हो सकता है कि तदाकार प्रतीक-विधान का विकास तब तक नहीं हो पाया और उसने पर्याप्त समय लिया।

जैनधर्म के अतदाकार प्रतीकों में स्तूप, त्रिरत्न, चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, पूर्णघट, शराव सम्पुट, पुष्पमाला, पुष्पपडलक आदि मुख्य हैं। अष्ट मंगल द्रव्य-यथा स्वस्तिक, धर्मचक्र, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, मीनयुगल, पद्म और दर्पण-तथा तीर्थंकरों के लांछन भी अतदाकार प्रतीकों में माने गये हैं। अष्ट प्रातिहार्य एवं आयागट्ट भी महत्त्वपूर्ण प्रतीक माने गये हैं। कला के प्रारम्भिक काल में इन अतदाकार प्रतीकों का पर्याप्त प्रचलन रहा है।

किन्तु जैसे-जैसे कला-बोध विकसित हुआ, त्यों-त्यों प्रतीक की तदाकारता को अधिक महत्त्व मिलने लगा। इसी काल में तीर्थंकरों की तदाकार मूर्तियों का निर्माण होने लगा। प्रारम्भ में प्रकृत भूमि से कुछ ऊंचे स्थान

पर देव-मूर्ति स्थापित की जाती थी। उसके चारों ओर वेदिका (वाड़) का निर्माण होता था। धीरे धीरे वेदिका को ऊपर से आच्छादित किया जाने लगा। यही देवायतन, देवालय या मन्दिर कहे जाने लगे। प्रारम्भ में ये देवायतन सीधे सादे रूप में वनाये जाते थे। पुरातत्त्वावशेषों में कई मूर्तियों, सिक्कों, मुद्राओं आदि पर देवायतनों का अंकन मिलता है। उससे ही ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में मन्दिरों का रूप अत्यन्त सादा था। कालान्तर में कलात्मक रुचि में अभिवृद्धि के साथ साथ देवायतनों के स्वरूप में विकास होता गया। मूर्ति-स्थापना के स्थल पर गर्भगृह को परिवेष्टित करने के अतिरिक्त उसके वाहर चारों ओर प्रदक्षिणापथ का निर्माण हुआ। गर्भगृह के वाहर आच्छादित प्रवेशद्वार या मुख-मण्डप का निर्माण हुआ। धीरे धीरे गर्भगृह के ऊपर शिखर तथा वाहर मण्डप, अर्धमण्डप, महामण्डप आदि का विधान हुआ। गुप्तकाल में आकर मन्दिर शिल्प और मूर्ति शिल्प के शास्त्रों की रचना भी होने लगी, जिनके आधार पर मन्दिर और मूर्तियों की रचना सुनियोजित ढंग से होने लगी।

प्रागैतिहासिक काल के पूर्व पाषाण युग में, जिसे जैन शास्त्रों में भोगभूमि वताया है, मानव अपनी जीवन-रक्षा के लिए वृक्षों पर निर्भर था, वृक्षों से ही अपने जीवन की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति करता था। कुलकरों के काल में मानव की बुद्धि का विकास हुआ और उस काल में मानव को जीवन-रक्षा के लिए संघर्ष करना पड़ा। अतः जीवन-रक्षा के कुछ उपाय ढूंढ़ने को वाध्य होना पड़ा। छुटपुट रहने के स्थान पर कवीलों के रूप में रहने की पद्धति अपनाई गई। किन्तु इस काल में भी वृक्षों की निर्भरता समाप्त नहीं हुई, वल्कि वृक्षों के कारण कवीलों में पारस्परिक संघर्ष भी होने लगे। प्रकृति में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। वृक्ष घट रहे थे, मानव की आवश्यकतायें वढ़ रही थीं। कुलकरों ने वृक्षों का विभाजन और सीमांकन कर दिया। किन्तु फल वाले वृक्षों की संख्या कम होते जाने से जीवन-यापन की समस्या उठ खड़ी हुई। वन्य पशुओं से रक्षा के लिए सुरक्षित आवास की आवश्यकता भी अनुभव की जाने लगी थी।

मन्दिर-निर्माण की पृष्ठभूमि

तव ऋषभदेव का काल आया। इसे नागरिक सभ्यता का काल कहा जा सकता है। इस काल में तीर्थंकर ऋषभदेव ने जीवन-निर्वाह के लिए कर्म करने की प्रेरणा दी और मानव समाज को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प की शिक्षा दी। इन्द्र ने अयोध्या नगरी की रचना की। भवन-निर्माण करने की विद्या बताई, जिससे भवनों का निर्माण होने लगा। इस काल में संघटित जीवन की परम्परा प्रारम्भ हुई, जिसने ग्रामों, पुरों, नगरों को जन्म दिया। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में और जीवन की प्रत्येक आवश्यकता-पूर्ति के लिए ऋषभदेव ने जो विविध प्रयोग करके मानव समाज को वताये और उसे व्यवस्थित नागरिक जीवन विताने की जो शिक्षा दी, उसके कारण तत्कालीन सम्पूर्ण मानव समाज ऋषभदेव के प्रति हृदय से कृतज्ञ था। और जव ऋषभदेव ने संसार से विरक्त होकर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली तथा दिगम्वर निर्ग्रन्थ मुनि के रूप में घोर तप करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया, उसके पश्चात् समवशरण में, गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर उन्होंने धर्म-देशना दी। मानव समाज के लिए वह धर्म-देशना अश्रुतपूर्व थी, समवशरण की वह रचना अदृष्टपूर्व थी। उनका उपदेश कल्याणकारक था, हितकारक था, सुखकारक था और शान्तिकारक था। इससे सम्पूर्ण मानव-समाज के मन में तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रति श्रद्धा और भक्ति की अजस्र धारा वहने लगी। वे सम्पूर्ण मानव समाज के आराध्य वन गये और उसके मन में समवशरण की प्रतिकृति वनाकर उसमें ऋषभदेव की तदाकार मूर्ति वनाकर उसकी पूजा करने की ललक जागृत हुई।

इन्द्र ने अयोध्या का निर्माण करते समय नगर की चारों दिशाओं में और नगर के मध्य में पांच देवालयों या जिनायतनों की रचना करके जिनायतनों का निर्माण करने और उसमें मूर्ति-स्थापना करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

एक वार जव सम्राट भरत कैलाश गिरि पर भगवान ऋषभदेव के दर्शन करके अयोध्या लौटे तो उनका मन भगवान की भक्ति से ओतप्रोत था। उन्होंने भगवान के दर्शन की उस घटना की स्मृति को सुरक्षित रखने के लिए कैलाश शिखर के आकार के घण्टे वनवाये और उन पर भगवान ऋषभदेव की मूर्ति का अंकन कराया। ये घण्टे नगर के चतुष्पथों, गोपुरों, राजप्रासाद के द्वारों और ड्यौढ़ियों में लटकवाये। यह मानवकृत प्रथम अतदाकार प्रतीक-स्थापना थी।

बेडौल यक्ष-मूर्तियाँ मिली हैं। यह कहा जा सकता है कि मृण्मूर्तियों में तो कला के दर्शन होते हैं, किन्तु इन प्रारम्भिक यक्ष-प्रतिमाओं में कला नाम की कोई चीज नहीं मिलती। मृण्मूर्तियों में कला का विकास शनैः शनैः हुआ। इसलिए पाषाण-मूर्तियों के प्रारम्भिक निर्माण-काल में भी मृण्मूर्तियों में वैविध्य के दर्शन होते हैं। स्त्री-पुरुषों के अलंकृत केश-विन्यास, पशु-पक्षियों के रूप, पंचशर कामदेव, विभिन्न मुद्राओं में स्त्रियों के नानाविध रूप इन मृण्मूर्तियों की विशेषता है। दूसरी ओर पाषाण-मूर्तियाँ प्रारम्भ में अविकसित रूप में दीख पड़ती हैं।

पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत में लोहानीपुर (पटना का एक मुहल्ला) में नाला खोदते समय जो तीर्थंकर-प्रतिमा उपलब्ध हुई है, वह भारत की मूर्तियों में प्राचीनतम है। यह आजकल पटना म्यूजियम में सुरक्षित है। इसका सिर नहीं है। कुहनियों और घुटनों से भी खण्डित है। किन्तु कन्धों और बाहों की मुद्रा से यह खड्गासन सिद्ध होती है तथा इसकी चमकीली पालिश से इसे मौर्यकाल (३२०-१८५ ई० पू०) की माना गया है। हड़प्पा में जो खण्डित जिन-प्रतिमा मिली है, उससे लोहानीपुर की इस जिन-प्रतिमा में एक अद्भुत सादृश्य परिलक्षित होता है। और इसी सादृश्य के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि भारतीय मूर्ति-कला का इतिहास वर्तमान मान्यता से कहीं अधिक प्राचीन है। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला गया है कि देव-मूर्तियों के निर्माण का प्रारम्भ जैनों ने किया। उन्होंने ही सर्व प्रथम तीर्थंकर-मूर्तियों का निर्माण करके धार्मिक जगत को एक आदर्श प्रस्तुत किया। उन्हीं के अनुकरण पर शिव-मूर्तियों का निर्माण हुआ। विष्णु, बुद्ध आदि की मूर्तियों के निर्माण का इतिहास बहुत पश्चात्कालीन है।

एक अन्य मूर्ति के सम्बन्ध में उदयगिरि की हाथीगुंफा में एक शिलालेख मिलता है। इस शिलालेख के अनुसार कलिंग नरेश खारवेल मगध नरेश बहसतिमित्र को परास्त करके छत्र-भृगांरादि के साथ 'कलिंग जिन ऋषभदेव' की मूर्ति वापिस कलिंग लाये थे जिसे नन्द सम्राट कलिंग से पाटलिपुत्र ले गये थे। सम्राट् खारवेल ने इस प्राचीन मूर्ति को कुमारी पर्वत पर अर्हत्प्रासाद बनवाकर विराजमान किया था। इस ऐतिहासिक शिलालेख की इस सूचना को अत्यन्त प्रामाणिक माना गया है। इसके अनुसार मौर्य-काल से पूर्व में भी एक मूर्ति थी, जिसे 'कलिंग-जिन' कहा जाता था। 'कलिंग-जिन' इस नाम से ही प्रगट होता है कि सम्पूर्ण कलिंगवासी इस मूर्ति को अपना आराध्य देवता मानते थे। नन्द सम्राट इसे अपने साथ केवल एक ही उद्देश्य से ले गये थे और वह उद्देश्य था कलिंग का अपमान। लगभग तीन शताब्दियों तक कलिंगवासी इस अपमान को भूले नहीं और अपने राष्ट्रीय अपमान का प्रतिकार कलिंग सम्राट खारवेल ने किया। वह मगध को विजय करके अपने साथ अपने उस राष्ट्र-देवता की मूर्ति को वापिस ले गया। किन्तु यह कितने आश्चर्य की बात है कि अबतक एक भी पुरातत्त्व वेत्ता और इतिहासकार ने इस ऐतिहासिक मूर्ति के सम्बन्ध में कोई खोज नहीं की। आखिर ऐसी ऐतिहासिक मूर्ति कुमारी पर्वत से कब किस काल में किसने कहाँ स्थानान्तरित कर दी ? यदि यह मूर्ति उपलब्ध हो जाय तो इससे लोहानीपुर की मूर्ति को प्राचीनतम मानने वाले पुरातत्त्ववेत्ताओं के मत को न केवल असत्य स्वीकार करना पड़ेगा, वरन् मूर्ति-निर्माण का इतिहास और एक-दो शताब्दी प्राचीन मानना होगा। कुछ अनुसन्धानकर्त्ता विद्वानों की धारणा है कि जगन्नाथपुरी की मूर्ति ही वह 'कलिंग जिन' मूर्ति है। किन्तु इस सम्बन्ध में अभी साधिकार कुछ कहा नहीं जा सकता।

इसके पश्चात् शक-कुशाण काल में मूर्ति कला का द्रुत वेग से विकास हुआ। इस काल में भी सर्व प्रथम तीर्थंकर-मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हुआ। मथुरा इस काल में मूर्ति-कला का केन्द्र था। तीर्थंकर-मूर्तियों में भी अधिकांशतः पद्मासन ही बनाई जाती थीं। इस काल में तीर्थंकर-मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स, लांछन और अष्ट प्रातिहार्य का प्रचलन प्रायः नहीं दीखता। तीर्थंकर-मूर्तियों में अलंकरण का भी अभाव था। मूर्तियों की चरण-चौकी पर अभिलेख अंकित करने की प्रथा का जन्म हो चुका था। जिस बौद्ध स्तूप की चर्चा ऊपर आ चुकी है, उसकी सूचना भी भगवान मुनिसुव्रतनाथ की चरण-चौकी के अभिलेख में ही मिलती है। इस काल की तीर्थंकर-प्रतिमाओं का अध्ययन करने पर एक बात की ओर ध्यान आकृष्ट हुए बिना नहीं रहता। ईसा की इन प्रथम द्वितीय शताब्दियों में भी आदिनाथ, शान्तिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि तीर्थंकरों के समान जनता में नेमिनाथ की भी मान्यता बहुप्रचलित थी। इस काल की भगवान नेमिनाथ की तीन प्रतिमायें विभिन्न स्थानों से उपलब्ध हुई हैं। एक में नेमिनाथ पद्मासन लगाये ध्यान-मुद्रा में अवस्थित हैं और उनके दोनों ओर

जैन मन्दिरों की संरचना और उनका क्रमिक विकास अनुसार जैन मन्दिरों का निर्माण-काल जैन प्रतिमाओं के निर्माण-काल से प्राचीन प्रतीत नहीं होता। लोहानीपुर, श्रावस्ती, मथुरा आदि में जैन मन्दिरों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, किन्तु अबतक सम्पूर्ण मन्दिर कहीं पर भी नहीं मिला। इसलिये प्राचीन जैन मन्दिरों का रूप क्या था, यह निश्चित तौर पर नहीं कहा जा सकता।

किन्तु गुहा-मन्दिर और लयण ईसा पूर्व सातवीं आठवीं शताब्दी तक के मिलते हैं। तेरापुर के लयण, उदयगिरि-खण्डगिरि के गुहामन्दिर, अजन्ता-ऐलौरा और बादामी की गुफाओं में उत्कीर्ण जैन मूर्तियां इस बात के प्रमाण हैं कि गुफाओं को मन्दिरों का रूप प्रदान कर उनका धार्मिक उपयोग ईसा पूर्व से होने लगा था। इन गुहा-मन्दिरों का विकास भी हुआ। विकास का यह रूप मात्र इतना ही था कि कहीं-कहीं गुफाओं में भित्ति-चित्रों का अंकन किया गया। ऐसे कलापूर्ण भित्ति चित्र सित्तन्नवासन आदि गुफाओं में अब भी मिलते हैं।

गुहा मन्दिरों में सामान्य मन्दिरों की अपेक्षा स्थायित्व अधिक रहा। इसीलिये हम देखते है कि ईसा पूर्व का कोई मन्दिर आज विद्यमान नहीं है, जबकि गुहा-मन्दिर अब भी मिलते हैं। लगता है, उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में मन्दिरों की सुरक्षा और स्थायित्व की ओर अधिक ध्यान दिया गया। इसके दो ही कारण हो सकते हैं— प्रथम तो यह कि दक्षिण को उत्तर की अपेक्षा मूर्ति-विध्वंसक मुस्लिम आक्रान्ताओं का कोप कम सहना पड़ा। दूसरे यह कि दक्षिण में मन्दिरों की भव्यता और विशालता के साथ उसे चिरस्थायी बनाने की भावना भी काम करती रही। दक्षिण के अधिकांश मन्दिर राजाओं, रानियों, राज्याधिकारियों और राजश्रेष्ठियों द्वारा निर्मित हुए, जबकि उत्तर के अधिकांश मन्दिरों का निर्माण सामान्य जनों ने कराया। शक कुषाणकाल के मथुरा के मूर्ति-लेखों से प्रकट है कि वहाँ के आयागपट्ट, प्रतिमा और मन्दिर स्वर्णकार, वेश्या आदि ने ही बनवाये थे। ककुभग्राम का गुप्तकालीन मानस्तम्भ एक सुनार ने बनवाया था। अस्तु !

पुरातत्त्वज्ञों के मतानुसार महावीर-काल में जिनायतन नहीं थे, बल्कि यक्षायतन और यक्ष-चैत्य थे। श्वेताम्बर सूत्र-साहित्य में किसी जिनायतन में महावीर के ठहरने का उल्लेख नहीं प्राप्त होता, बल्कि यक्षायतनों में उनके ठहरने के कई उल्लेख मिलते हैं। इन यक्षायतनों और चैत्यों के आदर्श पर जिनायतन या जिन-मन्दिरों की रचना की गई, यक्ष-मूर्तियों के अनुकरण पर जिन-मूर्तियाँ निर्मित हुईं और यक्ष एवं नाग-पूजा पद्धति से जिन-मूर्तियों की पूजा प्रभावित हुई।

किन्तु दिगम्बर साहित्यिक साक्ष्य के अनुसार कर्मभूमि के प्रारम्भिक काल में इन्द्र ने अयोध्या में पांच मन्दिरों का निर्माण किया; भरत चक्रवर्ती ने ७२ जिनालय बनवाये; शत्रुघ्न ने मथुरा में अनेक जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया। जैन मान्यतानुसार तो तीन लोकों की रचना में कृत्रिम और अकृत्रिम चैत्यालयों का पूजा-विधान जैन परम्परा में अबतक सुरक्षित है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में जिन चैत्यालयों की कल्पना बहुत प्राचीन है।

किन्तु पुरातत्त्व को ज्ञात जैन मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप-विधान कैसा था, इसमें अवश्य मतभेद दृष्टि-गोचर होता है। लगता है, प्रारम्भ में मन्दिर सादे बनाये जाते थे। उन पर शिखर का विधान पश्चातकाल में विकसित हुआ। शिखर सुमेरु और कैलाश के अनुकरण पर बने। अनेक प्राचीन सिक्कों पर मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप देखने में आता है। मथुरा की वेदिकाओं पर मन्दिराकृतियाँ मिलती हैं। जिन्हें विद्वानों ने मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप माना है। ई० पू० द्वितीय और प्रथम शताब्दी के मथुरा-जिनालयों में दो विशेषतायें दिखाई देती हैं—प्रथम वेदिका और द्वितीय शिखर। इस सम्बन्ध में प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी का अभिमत है कि मन्दिर के चारों ओर वृक्षों की वेष्टनी बनाई जाती थी। इसे ही वेदिका कहा जाता था। बाद में यह वेष्टनी प्रस्तरनिर्मित होने लगी।

मौर्य और शुंग काल में जैन मन्दिरों का निर्माण अच्छी संख्या में होने लगा था। उस समय ऊंचे स्थान पर स्तम्भों के ऊपर छत बनाकर मन्दिर बनाये जाते थे। छत गोलाकार होती थी, पश्चात् अण्डाकार बनने लगी। शक-सातवाहन-काल (ई० पू० १०० से २०० ई०) में मन्दिरों का निर्माण और अधिक संख्या में होने लगा। इस काल में जैन मन्दिरों, उनके स्तम्भों और ध्वजाओं पर तीर्थंकर की मूर्ति बनाई जाने लगी। इस काल में

अन्तर मिलता है। सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों के ऊपर पांच फण होते हैं और पार्श्वनाथ की मूर्तियों के सिर के ऊपर सात, नौ, ग्यारह अथवा सहस्र सर्प-फण पाये जाते हैं। इन तीर्थंकरों के अतिरिक्त शेष सभी तीर्थंकरों की मूर्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। उनकी पहचान उनकी चरण-चौकी पर अंकित उनके चिन्हों से ही होती है। चिन्ह न हो तो दर्शक को पहचानने में बड़ा भ्रम हो जाता है। कभी कभी तो लांछनरहित मूर्ति को साधारण जन चतुर्थकाल की मान बैठते हैं, जबकि वस्तुतः श्रीवत्स लांछन और अष्ट प्रातिहार्य से रहित मूर्ति सिद्धों की कही जाती है। इसलिये मूर्ति के द्वारा तीर्थंकर की पहचान करने का एकमात्र साधन तीर्थंकर-प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित उसका चिन्ह ही है। इसलिये तीर्थंकर-मूर्ति-विज्ञान में चिन्ह या लांछन का अपना विशेष महत्त्व है।

इन चौबीस तीर्थंकरों के चिन्ह निम्न प्रकार हैं—

ऋषभदेव का वृषभ, अजितनाथ का हाथी, संभवनाथ का अश्व, अभिनन्दननाथ का बन्दर, सुमतिनाथ का चक्रवाक पक्षी, पद्मप्रभु का कमल, सुपार्श्वनाथ का स्वस्तिक, चन्द्रप्रभ का अर्धचन्द्र, पुष्पदन्त का मगर, शीतलनाथ का श्री वृक्ष, श्रेयान्सनाथ का गेंडा, वासुपूज्य का महिष, विमलनाथ का शूकर, अनन्तनाथ का सेही, धर्मनाथ का वज्रदण्ड, शान्तिनाथ का हिरण, कुन्थुनाथ का बकरा, अरनाथ का मछली, मल्लिनाथ का कलश, मुनिसुव्रतनाथ का कछुआ, नमिनाथ का नीलकमल, नेमिनाथ का शंख, पार्श्वनाथ का सर्प और महावीर का सिंह लांछन था।

ये चिन्ह दाहिने पैर के अंगूठे में होते हैं। इन चिन्हों के सम्बन्ध में विचारणीय बात यह है कि इन चिन्हों का कारण क्या है? ये तीर्थंकर-प्रतिमाओं पर कबसे और क्यों उत्कीर्ण किये जाने लगे? इस सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टिकोण क्या है?

इस सम्बन्ध में शास्त्रों विभिन्न मत पाये जाते हैं। यहाँ उनमें से कुछ देना उपयुक्त होगा।

इन्द्र भगवान के अभिषेक के समय उनके शरीर पर जिस वस्तु की रेखाकृति देखता है, उसी को उनका लांछन घोषित कर देता है।

—हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि, काण्ड १२ श्लोक ४७-४८

—पं० आशाधर, अनगार धर्मामृत ८।४१

जम्मण काले जस्स दु दाहिण पायम्मि होय जो चिण्हं।
तं लक्खण पाउत्तं आगमसुत्ते सुजिण देहे॥

अर्थात् तीर्थंकर के दांये पैर के अंगूठे पर जन्म के समय इन्द्र जो चिन्ह देखता है, इन्द्र उसी को उनका लांछन निश्चित कर देता है।

—त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ० ५६

इन्हीं से मिलते जुलते विचार अन्य आचार्यों के भी हैं।

मूर्ति निर्माण के प्रारम्भिक काल में मूर्तियों पर लांछन उत्कीर्ण करने की परम्परा नहीं रही। लोहानीपुर की मौर्यकालीन या शक-कुषाण कालीन मूर्तियों पर लांछन नहीं पाये जाते। बाद के काल में लांछनों के अंकन की परम्परा प्रारम्भ हुई और इनका अंकन मूर्ति के पाद-पीठ पर किया जाने लगा।

जैन प्रतीकों का परिचय

जैन प्रतीकों में मन्दिरों में प्रायः निम्नलिखित प्रतीक उपलब्ध होते हैं—आयागपट्ट, स्तूप, धर्मचक्र, स्वस्तिक नन्द्यावर्त, चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, श्रीवत्स, सहस्रकूट, चैत्य, सर्वतोभद्रिका, द्विमूर्तिका, त्रिमूर्तिका त्रिरत्न, अष्टमंगल, अष्ट प्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, नवनिधि, नवग्रह, मकरमुख, शार्दूल, कीर्ति-मुख, कीचक, गंगा-यमुना, नाग-नागी, चरण, पूर्णघट, शराव सम्पुट, पुष्पमाल, आम्रगुच्छक सर्प, जटा, लांछन, पद्मासन, खड्गासन, यक्ष-यक्षी

आयागपट्ट— वर्गाकार या आयताकार एक शिलापट्ट होता है, जो पूजा के उद्देश्य से स्थापित किया जाता था। इस पर कुछ जैन प्रतीक उत्कीर्ण होते थे। कुछ पर मध्य में तीर्थंकर-मूर्ति भी होती थी। बुहलर के अनुसार अर्हतों की पूजा के लिए स्थापित पूजापट्ट को आयाग पट्ट कहते हैं। ये स्तूप के चारों द्वारों में से प्रत्येक के सामने स्थापित किये जाते थे।

स्तूप—यह लम्बोतरी आकृति का होता था और इसमें चार वेदिकायें होती थीं।

धर्मचक्र—गोल फलक में बना हुआ चक्र होता है, जिसमें बारह या चौबीस आरे होते हैं। कोई धर्मचक्र हजार आरों का भी होता है। मूर्तियों की चरण-चौकी पर इसका अंकन प्रायः मिलता है।

स्वस्तिक—एक दूसरी को काटती हुई सीधी रेखायें, जो सिरे से मुड़ी होती हैं। इसका प्रयोग स्वतन्त्र भी होता है और अष्ट मंगल द्रव्यों में भी होता है।

नन्द्यावर्त—नन्द्य का अर्थ सुखद या मांगलिक है और आवर्त का अर्थ घेरा है। इसका रूप स्वस्तिक जैसा होता है किन्तु इसके सिरे एकदम घुमावदार होते हैं, जबकि स्वस्तिक का मोड़ सीधा होता है।

चैत्यस्तम्भ—एक चौकोर स्तम्भ होता है, जिसकी चारों दिशाओं में तीर्थंकर-प्रतिमायें होती हैं और स्तम्भ के शीर्ष पर लघु शिखर होता है।

चैत्यवृक्ष—प्रत्येक तीर्थंकर को जिस वृक्ष के नीचे केवल ज्ञान होता है, वह उसका चैत्यवृक्ष कहलाता है। किन्तु कला में प्रायः अशोक वृक्ष का ही चैत्यवृक्ष के रूप में अंकन हुआ है। बहुधा वृक्ष के ऊपरी भाग में तीर्थंकर-प्रतिमा भी अंकित होती है।

श्रीवत्स—तीर्थंकर की छाती पर एक कमलाकार चिन्ह होता है शक-कुषाण काल तक तीर्थंकर प्रतिमाओं पर श्रीवत्स चिन्ह का अंकन नही मिलता। सम्भवतः गुप्त काल से इसका प्रचलन प्रारम्भ हुआ।

सहस्रकूट—एक चौकोर पाषाण स्तम्भ में १००८ मूर्तियां उत्कीर्ण की जाती हैं, वह सहस्रकूट कहलाता है।

सर्वतोभद्रिका—एक स्तम्भ में चारों दिशाओं में तीर्थंकर-प्रतिमा होती हैं। कभी तो एक स्तम्भ में चारों प्रतिमायें एक ही तीर्थंकर की होती हैं और किसी में विभिन्न तीर्थंकरों की चार प्रतिमायें होती हैं।

द्विमूर्तिका, त्रिमूर्तिका—एक ही फलक में दोनों ओर एक-एक मूर्ति होती है। कभी कभी एक ही ओर दो तीर्थंकरों की मूर्तियां होती हैं। इसी प्रकार एक ही फलक में एक ओर एक तीर्थंकर की और दूसरी ओर दो तीर्थंकरों की मूर्तियाँ होती हैं। किसी फलक में एक ही ओर तीन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ होती हैं।

त्रिरत्न—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन रतन कहे जाते हैं, जिन्हें त्रिरत्न अथवा रत्नत्रय कहते हैं। इनके प्रतीक रूप में एक फलक में एक ऊपर और दो नीचे छेद कर दिये जाते हैं। मथुरा में ऐसे त्रिरत्न मिले हैं।

अष्ट मंगल द्रव्य—स्वस्तिक, धर्मचक्र, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, मीनयुगल, पद्म और दर्पण ये अष्ट मांगलिक कहलाते हैं। इनके स्थान पर कहीं छत्रत्रय, चमर, दर्पण, भृङ्गार, पंखा, पुष्पमाल, कलश, स्वस्तिक और झारी ये आठ वस्तुएं बताई हैं।

अष्ट प्रातिहार्य—कल्पवृक्ष, पुष्पवृष्टि, दुन्दुभि, सिंहासन, दिव्य ध्वनि, छत्र, चमर और भामण्डल ये तीर्थ-करों के अष्ट प्रातिहार्य होते हैं। प्रतिमाओं पर इनका अंकन गुप्तकाल से होने लगा है।

सोलह स्वप्न–तीर्थंकर माता गर्भ धारण करने से पूर्व रात्रि में सोलह शुभ स्वप्न देखती है। वे इस प्रकार हैं—

१ हाथी, २ बैल, ३ सिंह, ४ लक्ष्मी, ५ दो पुष्पमाला, ६ चन्द्र, ७ सूर्य, ८ दो मछलियाँ, ९ जल से पूर्ण दो स्वर्णकलश, १० कमलों से परिपूर्ण सरोवर, ११ समुद्र, १२ सिंहासन, १३ देव विमान, १४ धरणेन्द्र का भवन १५ रत्नराशि, १६ निर्धूम अग्नि।

नवनिधि—नैसर्प, पिंगल, भाजुर, माणवक,संद,पाण्डुक, कालश्री, वरतत्त्व और तेजोद्भासि महाकाल ये नौ निधियाँ होती हैं। समवसरण के भीतरी और बाहरी गोपुरों में नवनिधि से शोभित अष्ट मंगल द्रव्य आदि रहते हैं। नव निधि चक्रवर्ती के भी होते हैं। अतः चक्रवर्ती भरत की मूर्तियों के साथ कहीं कहीं नौ घटों के रूप में नव निधियों का अंकन मिलता है।

नवग्रह—१ रवि, २ चन्द्र, ३ कुज, ४ बुध, ५ गुरु, ६ शुक्र, ७ शनि, ८ राहु, ९ केतु ये नवग्रह कहलाते हैं। इनका अंकन द्वारों, तीर्थंकर-मूर्तियों, देव-देवी मूर्तियों के साथ भी हुआ है और स्वतन्त्र भी हुआ है।

मकर मुख—मन्दिरों की द्वार देहरियों के मध्य में तथा स्तम्भों पर मिलते हैं।

शार्दूल—शार्दूल के पिछले पैरों के पास और अगले पैरों की लपेट में एक मनुष्य दिखाई पड़ता है और

शार्दूल की पीठ पर आयुध लिए कोई मनुष्य बैठा रहता है।

कीर्तिमुख—इसका अंकन प्रायः स्तम्भों, तोरणों और कोष्ठकों आदि में होता है। इनके मालाएँ, लड़ियाँ और शृंखलाऐं लटकती दिखाई पड़ती हैं।

कीचक—स्तम्भ के शीर्षों पर बैठा हुआ मनुष्य छत का भार वहन करता है।

गंगा यमुना—मन्दिर के द्वारों पर एक ओर मकरवाहिनी गंगा होती है और दूसरी ओर कच्छपवाहिनी यमुना होती है।

शेष प्रतीक स्पष्ट ही हैं।

द्वितीय परिच्छेद

भगवान ऋषभदेव

१ भगवान ऋषभदेव से पूर्वकालीन परिस्थिति

कालचक्र

प्रकृति परिवर्तनशील है। परिणमन प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। प्रत्येक वस्तु अपने मूल स्वरूप की धुरी पर प्रतिक्षण परिणमन करती रहती है। वह मूल स्वरूप की धुरी से कभी विचलित या च्युत नहीं होती किन्तु उसके रूपों का नित परिणमन होता रहता है। पूर्वरूप नष्ट होता है, नया रूप उत्पन्न होता है। इस विनाश और उत्पत्ति के चक्र में भी वस्तु का मूल स्वरूप अक्षुण्ण रहता है। हर वस्तु का यही स्वभाव है।

प्रकृति में भी नित नये परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों को लेकर ही यह सृष्टि चल रही है। इसका न कभी सर्वथा विनाश होता है और न कभी उत्पत्ति होती है। सदा आंशिक विनाश होता रहता है और उस विनाश में से ही आंशिक उत्पाद होता रहता है। सृष्टि इसी विनाश और उत्पाद के चक्र में भी अपने मूल तत्त्वों को संजो कर ज्यों का त्यों रक्खे हुए है।

काल का चक्र भी इसी प्रकार सदा घूमता रहता है। परिवर्तनों के इस चक्र में कहाँ आदि है और कहाँ अन्त है, कोई नहीं कह सकता। निरन्तर घूमते रहने वाले चक्र में आदि और अन्त संभव भी नहीं है। इस चक्र में काल के एक बजा, दो बजा आदि भेद भी नहीं किये जा सकते। वह तो अविभाज्य है, अखण्ड है। किन्तु व्यवहार की सुविधा के लिए हम समय का विभाग कर लेते हैं।

इसी व्यवहार की सुविधा के लिए जैन धर्म में काल को दो भागों में विभाजित किया गया है, जिनके नाम हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। इनमें प्रत्येक के छह-छह विभाग किये गये हैं—सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा-दुषमा, दुषमा। काल के ये बारह भेद हैं। इन बारह कालों का एक पूरा चक्कर कल्प कहलाता है। प्रकृति स्वयं ही एक कल्प के आधे भाग में निरन्तर उत्कर्षशील बनी रहती है। मनुष्यों की आयु, अवगाहना, रुचि, स्वास्थ्य, रूप आदि सभी में उत्कर्ष होता रहता है। यह काल उत्सर्पिणी कहलाता है। जिस काल में आयु, अवगाहना, बुद्धि आदि में हीनता बढ़ती जाती है, वह अवसर्पिणी काल कहलाता है। आजकल अवसर्पिणी काल है और उसका दुषमा नामक पांचवाँ भाग चल रहा है।

इस काल-विभाग को हम घड़ी की सुई से आसानी से समझ सकते हैं। घड़ी के डायल में सुई बारह के बाद छह तक नीचे की ओर जाती है और छह के बाद बारह बजे तक ऊपर की ओर जाती है। बिलकुल इसी प्रकार अवसर्पिणी काल में जीवों में हर बात में हीनता आती जाती है और उसके बाद उत्सर्पिणी काल में जीवों में हर बात में उन्नति होती है।

व्यावहारिक सुविधा के लिए कल्प का प्रारम्भिक काल सृष्टि का आदिकाल और उस काल के मनुष्य को सृष्टि का आदि मानव कह लेते हैं। वस्तुतः तो न सृष्टि का कोई आदि काल ही होता है और न कोई आदि मानव ही होता है।

मानव की आद्य संस्कृति

कल्प के प्रारम्भ में मनुष्य अविकसित था। वह ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं से अपरिचित था। उस काल में सामाजिक बोध भी नहीं था। इसलिए बहन-भाई ही पति-पत्नी के रूप में रहने लगते थे। इसे 'युगलिया काल' कहा जाता है। वे जीवन-निर्वाह के लिए वृक्षों पर निर्भर रहते थे। उनकी जीवन सम्बन्धी सम्पूर्ण आवश्यकतायें वृक्षों से ही पूरी होती थीं। उनकी इच्छाओं की पूर्ति वृक्ष ही करते थे। इसलिए उन वृक्षों को कल्पवृक्ष कहा जाता था। उनकी इच्छायें दस प्रकार की होती थीं। उन दस प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति वृक्षों से होती थी, अतः कल्पवृक्ष दस प्रकार के होते थे, ऐसा माना जाता है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१. मद्याङ्ग, २. तूर्याङ्ग, ३. विभूषाङ्ग, ४. माल्याङ्ग, ५. ज्योतिरङ्ग, ६. दीपाङ्ग, ७. गृहाङ्ग, ८. भोजनाङ्ग, ९. पात्राङ्ग, १०. वस्त्राङ्ग। ये सब अपने-अपने नाम के अनुसार ही कार्य करते थे।

मानव की इस संस्कृति को हम वन-संस्कृति कह सकते हैं। इसे भोगयुग भी कहा गया है क्योंकि उस काल का मानव जीवन-निर्वाह के लिए कोई कर्म नहीं करता था, उसे कल्प वृक्षों से यथावश्यक सब वस्तुएँ मिल जाती थीं। उनका यथेच्छ भोग करता था। आधुनिक भाषा में इस युग को हम पूर्व पाषाण युग कह सकते हैं। उस समय गांव, नगर, मकान, जाति, समाज, राज्य आदि कोई व्यवस्था नहीं थी। उनके सामने कोई समस्या भी नहीं थी, अतः युद्ध भी नहीं होते थे। मानव और पशु सब साथ रहते थे। दोनों को किसी से या परस्पर भय नहीं था।

प्रकृति-परिवर्तन

प्रकृति में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। वे तत्क्षण आंखों की पकड़ में न आपावें, किन्तु कुछ समय पश्चात् उनका फल अनुभव हुए विना नहीं रहता। उस युग के मानव के समक्ष प्रकृति के नित नूतन परिवर्तनों के कारण कुछ प्रश्न-चिन्ह उभरने लगे। समय बीतता गया तो ऐसा भी समय आया जब उसके समक्ष समस्यायें भी आने लगीं। प्रश्न-चिन्ह उभरे अद्भुत, अदृष्टपूर्व परिवर्तनों को लेकर; समस्यायें उभरीं आवश्यकताओं में नित नई बाधा उत्पन्न होने पर। वह अबोध मानव स्वयं समाधान खोज नहीं सकता था। अभी उसका बौद्धिक विकास ही कहाँ हो पाया था। किन्तु उसे समाधान तो चाहिए ही। जिन्होंने उसको समाधान दिया, जीवन की राह में नेतृत्व दिया, वे मानव असाधारण थे-बुद्धि, विवेक और संस्कारों में। वे ही मानव 'कुलकर' कहलाये। उन्हें मनु भी कहा गया।

उस समय का मानव सरल था। वह सहज जीवन व्यतीत करता था। उसका जीवन समगति से चल रहा था। किन्तु प्रकृति में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे थे। वह इनका अभ्यस्त नहीं था। उन परिवर्तनों को देखकर वह चौंक उठता, भयभीत हो जाता। तब कुलकरों ने इस अवस्था में उसका मार्ग-दर्शन किया।

चौदह कुलकर

इस प्रकार के कुलकर १४ हुए, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१. प्रतिश्रुति, २. उनका पुत्र सन्मति, ३. उनका पुत्र क्षेमंकर, ४. उनका पुत्र क्षेमंधर, ५. सीमंकर ६. सीमंधर, ७. विपुल वाहन, ८. चक्षुष्मान, ९. यशस्वी, १०. अभिचन्द्र, ११. चन्द्राभ, १२. मरुदेव, १३. प्रसेनजित, १४. और उनके पुत्र नाभिराज। इस प्रकार ये सभी आनुवंशिक परम्परा में उत्पन्न हुए थे। ये कुलकर गंगा और सिन्ध महानदियों के बीच दक्षिण भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए थे।

इन कुलकरों के कार्य 'त्रिलोकसार' ग्रन्थ में इस प्रकार बताये हैं—

इण ससितारासावदवि भयं दंडादि सीमचिण्ह करदि।
तुरगादि वाहणं सिसुमुहदंसण णिब्भयं वेंत्ति ॥७९९॥

प्रथम कुलकर ने चन्द्र-सूर्य के दर्शन से उत्पन्न भय को दूर किया। द्वितीय कुलकर ने तारों के दर्शन से उत्पन्न भय को दूर किया। तीसरे ने क्रूर मृगों के भय को दूर किया। चौथे ने हिंसक पशुओं का भय दूर किया। और उसके लिए दण्ड प्रयोग बताया। पांचवें ने अल्प फलदायी कल्पवृक्षों को लेकर झंझट होने लगे तो सीमा

बनाई। फिर भी झंझट दूर नहीं हुए तो छटवें कुलकर ने सीमा-चिन्ह लगाये। सातवें कुलकर ने हाथी, घोड़े आदि को वश में करके उन पर सवारी करना बताया। पहले माता-पिता बच्चों के उत्पन्न होते ही मर जाते थे, किन्तु अब कुछ समय जीवित रहने लगे और अपने शिशुओं का मुख देखकर भयभीत होने लगे तो आठवें कुलकर ने उन्हें समझाकर उनका भय दूर किया।

आसीवादादिं ससि पहु दिहि केलिं च कदिचिदिण ओत्ति।
पुत्तेहिं चिरंजीवण सेदुवहित्तादि तरणविहिं ॥८००॥

नवम कुलकर ने शिशुओं के लिए आशीर्वाद देना बताया। दशम ने शिशुओं के साथ कुछ दिन तक क्रीड़ा करना बताया। एकादश ने पुत्रों के साथ बहुत समय तक रहने का भय निवारण किया। द्वादश ने नदी आदि पार करना सिखाया।

सिक्खंति जराउ छिंदि णाभि विणासिदं चाव तडिदादिं।
चरिमो फलअकदोसहिभुत्ति कम्मावणी तत्तो ॥८०१॥

—तेरहवें कुलकर ने जरायु छेदन बताया। चौदहवें कुलकर ने नाभि-छेदन-विधि सिखाई। बिजली गिरने और बिजली का भय दूर किया, फलाकृतौषध भक्षण करना सिखाया। तदनन्तर कर्मभूमि प्रवर्तित हुई।

इन कुलकरों ने समाज-नियमन और अनुशासन के लिये दण्ड-व्यवस्था भी निर्धारित की थी। यदि किसी से कोई अपराध हो जाता था तो प्रथम कुलकर से पांचवें कुलकर तक के काल में अपराधी को 'हा' कहकर दण्ड देते थे। छटवें से दसवें तक कुलकर अपराधी को इससे कुछ कठोर दण्ड देते थे और उससे 'हा मा' कहते थे। ग्यारहवें से चौदहवें कुलकरों ने उस काल की दृष्टि से इससे भी कठोर दण्ड की व्यवस्था की। वे अपराधी को 'हा मा धिक्' कहकर वर्जना करते थे।

युगलिया समाज का वर्णन पढ़कर हमें ऐसा लगता है कि उस समय मनुष्य जंगलों में कबीले बनाकर रहते थे। समाज, राज्य, नगर, जाति और वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। अतः ये प्रकृति-पुत्र प्रकृति की गोद में फलते फूलते थे। समाज-व्यवस्था नहीं थी। आवश्यकतायें सीमित थीं; साधन असीम थे। इसलिए शोषण, छीना झपटी, द्वन्द्व आदि भी नहीं थे। प्रकृति के अनुरूप उनका जीवन सहज था। इसलिए पुण्य और पाप, धर्म और अधर्म का भी बोध नहीं था। जो चाहते थे,वह मिल जाता था। कर्म जीवन में आ नहीं पाया था। अतः इस युग को भोग-युग कहा जाता है।

कुलकरों को मनु भी कहा जाता है। उन मनुओं की सन्तान को ही मानव या मनुष्य कहा जाने लगा है।

प्रकृति का यह वैचित्र्य ही कहना होगा कि उस युग में पुत्र और पुत्री युगल उत्पन्न होते थे। पुत्रोत्पत्ति के तत्काल बाद माता-पिता का देहान्त हो जाता था। प्रकृति में धीरे धीरे परिवर्तन हुआ और पुत्रोत्पत्ति के पश्चात् माता-पिता जीवित रहने लगे। मरुदेव कुलकर के काल तक युगल ही उत्पन्न होते रहे। किन्तु उसके पश्चात् अकेली सन्तान भी होने लगी। सर्वप्रथम मरुदेव के एक पुत्र ही उत्पन्न हुआ। मरुदेव ने उसका विवाह भी किया था।

अन्तिम कुलकर नाभिराज

नाभिराज तेरहवें कुलकर प्रसेनजित के पुत्र थे। वे भरत क्षेत्र में विजयार्ध पर्वत से दक्षिण की ओर मध्यम आर्यखण्ड में उत्पन्न हुए थे। वे विश्व भर के क्षत्रियों में श्रेष्ठ थे। वे भोगभूमि और कर्मभूमि के सन्धि-काल में उत्पन्न हुए थे। उस समय दक्षिण भरत क्षेत्र में कल्पवृक्ष रूप प्रासाद नष्ट हो गये थे। केवल एक ही कल्पवृक्ष रूप प्रासाद अवशिष्ट रह गया था और वह था नाभिराज का। वह पृथ्वीनिर्मित प्रासाद बन गया था। उस प्रासाद का नाम सर्वतोभद्र था और वह इक्यासी खण्ड का था। उन्होंने ही उत्पन्न बालकों के नाभि-नाल को शस्त्र-क्रिया से पृथक् करने का परिज्ञान दिया। इसीलिये उन्हें 'नाभि'[1] कहा जाता था।

उनके काल में कल्पवृक्ष निःशेषप्राय हो गये। मानव के समक्ष नये प्रश्न उभरने लगे, उनका हल होना

---

१. महा पुराण ६२।८

युग की मांग थी। नाभिराज ने बड़े विवेक और धैर्य के साथ उन प्रश्नों का समाधान दिया। वे स्वयं त्राणसह बन गये। इसीलिये उन्हें क्षत्रिय कहा गया। क्षत्रिय ही नहीं, विश्व भर के क्षत्रियों में श्रेष्ठ कहा गया। आचार्य जिनसेन ने उन्हें 'विश्वक्षत्रगणाग्रणी' कहा है। इसीलिए आगे चलकर क्षत्रिय शब्द 'नाभि' अर्थ में रूढ़ हो गया। अमरकोषकार ने 'क्षत्रिये नाभि:' और अभिधान चिन्तामणि के कर्ता आचार्य हेमचन्द्र ने 'नाभिश्च क्षत्रिये' लिखा। उन्होंने अपने पुरुषार्थ और विवेक से एक नये युग का प्रवर्तन किया। इसीलिए उनके नाम पर इस आर्यखण्ड का नाम 'नाभिखण्ड'[1] हो गया। नाभि को अजनाभ भी कहते हैं। अत: इस खण्ड को 'अजनाभ वर्ष' भी कहा जाता था।

वैदिक पुराणों में भी इस बात का समर्थन मिलता है। स्कन्द पुराण में बताया है—

हिमाद्रिजलधेरन्तर्नाभिखण्डमिति स्मृतम् ।।१।२।३७।५५

श्रीमद्भागवत में इस सम्बन्ध में यह उल्लेख मिलता है—

'अजनाभं नामैतद् वर्ष भारतमिति यत् आरभ्य व्यपदिशन्ति ।।५।७।३

डॉ० अवधविहारीलाल अवस्थी ने 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप[2] में लिखा है—'सप्त द्वीपों वाली पृथ्वी में जम्बूद्वीप अत्यन्त प्रसिद्ध भूखण्ड था। आद्य प्रजापति मनु स्वायम्भुव के पुत्र प्रियव्रत दस राजकुमारों के पिता थे। उनमें तीन तो सन्यासी हो गये। और सात पुत्रों ने सात महाद्वीपों में आधिपत्य प्राप्त किया। ज्येष्ठ आग्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा हुए। उनके नौ लड़के जम्बूद्वीप के स्वामी बने। जम्बूद्वीप के नौ वर्षों में से हिमालय और समुद्र के बीच में स्थित भूखण्ड को आग्नीध्र के पुत्र नाभि के नाम पर ही 'नाभिखण्ड' कहा गया।'

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'मार्कण्डेय पुराण : सांस्कृतिक अध्ययन' के पादटिप्पण में लिखा है—'स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत, प्रियव्रत के पुत्र नाभि, नाभि के ऋषभ और ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए। जिनमें भरत ज्येष्ठ थे। यही नाभि अजनाभ भी कहलाते थे, जो अत्यन्त प्रतापी थे और जिनके नाम पर यह देश 'अजनाभ वर्ष' कहलाता था।'

नाभिराज द्वारा युग-प्रवर्तन

काल तीव्रगति से भाग रहा था। भोगभूमि का अन्त हो रहा था। प्रकृति के अन्दर कर्म भूमि की प्रसव वेदना हो रही थी। प्रकृति में चंचलता व्याप्त थी। नित नये और अनोखे परिवर्तन हो रहे थे। आकाश काले बादलों से भर गया। बादलों में एक ओर इन्द्रधनुष का सतरंगी वितान था, दूसरी ओर रह रह कर बिजली कौंध रही थी। बादल विकट गर्जना कर रहे थे। थोड़ी देर में मूसलाधार वर्षा होने लगी। शीतल पवन के झकोरे चल रहे थे। आज प्रकृति में प्रथम बार एक अनोखी पुलक समाई हुई थी। पपीहा पुलकित होकर प्रथम बार 'पीउ पीउ' की तान अलाप रहे थे। मोर हर्षित होकर झूम उठे और अपने रंग-बिरंगे पंख फैलाकर नृत्य करने लगे। नदियों में प्रथम बार जल का पूर आया। भूमि का उत्ताप शान्त हुआ और पृथ्वी के गर्भ से नवीन अंकुरों का जन्म हुआ। नाना प्रकार के बिना बोये हुए धान्य उग आये। धीरे धीरे वे बढ़ने लगे। उन पर फल भी लग गये। कल्पवृक्ष बिलकुल नष्ट हो गये थे।

प्रजा के समक्ष उदर-पूर्ति की समस्या थी। धान्य खड़े थे किन्तु वह उनका उपयोग करना जानती नहीं थी। कल्पवृक्षों से उसकी समस्या का समाधान होता आया था, किन्तु कल्पवृक्ष समाप्त हो चुके थे। तब प्रमुख लोग नाभि राज के पास गये और दीनतापूर्वक उनसे जीवनोपाय पूछने लगे। नाभिराज ने दयार्द्र होकर प्रजा को आश्वासन दिया—'तुम लोग किसी प्रकार का भय मत करो। कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं किन्तु अब ये फलों से झुके हुए साधारण वृक्ष तुम्हारा वैसा ही उपकार करेंगे, जिस प्रकार कल्पवृक्ष करते थे। किन्तु ये विषवृक्ष और

---

१. तस्य काले सुतोत्पत्तौ नाभिनालमदृश्यत।
स तन्निकर्तनोपायमादिशन्नाभिरित्यभूत्' ।। आदिपुराण ३।१६४

२. 'प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप, कैलाश प्रकाशन लखनऊ, पृ० १२३, परिशिष्ट २

औषधिवृक्ष हैं। इनके मसाले बनाकर अन्न को स्वादिष्ट बनाया जा सकता है। ये लम्बे लम्बे इक्षु-वृक्ष हैं। इन्हें दांतों से अथवा यंत्र से पेरकर स्वादिष्ट रस मिल सकता है।'

इसके पश्चात् नाभिराज ने गीली मिट्टी को हाथी के गण्डस्थल पर रखकर उससे थाली आदि पात्र बनाने की शिक्षा दी। इस प्रकार नाभिराज ने कल्पवृक्षों के नष्ट होने पर प्रजा की सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति की। इसलिये प्रजा के लिये वे ही कल्पवृक्ष बन गये।

सृष्टि के कर्मयुग के प्रारम्भ और भोगयुग के अन्त की इस सन्धि-वेला में नाभिराज ने मानव-जीवन की नवीन व्यवस्था का प्रारम्भ करके एक नये युग का प्रारम्भ किया। अतः वे युग-प्रवर्तक माने जाते हैं।

प्रतिश्रुति से लेकर नाभिराज तक चौदहों कुलकर क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे। इनमें से कुछ को जातिस्मरण ज्ञान था। कुछ को अवधिज्ञान था। इसलिये अपने विशिष्ट ज्ञान द्वारा उन्होंने प्रजा के समक्ष आये हुए नये नये प्रश्नों के उत्तर दिये, नई नई समस्याओं के समाधान दिये।

ये सभी प्रजा के जीवन का उपाय जानते थे। इसलिये ये मनु कहलाते थे। तत्कालीन प्रजा को कुल की भांति इकट्ठा रहने का उपदेश दिया था। इसलिये वे कुलकर कहलाते थे। उन्होंने नवीन वंश-परम्परा स्थापित की थी। इसलिये वे कुलधर कहलाते थे। तथा युग की आदि में हुए थे, इसलिए इन्हें युगादि पुरुष भी कहा जाता था। ऋषभदेव और भरत को भी इसी अर्थ में कुलकर कहा गया है।

भोगभूमि में, कल्पवृक्षों के सुविधा-काल में मनुष्य वनों में इधर उधर कबीलों के रूप में रहते थे। कुलकरों ने उन्हें समूहबद्ध करके एक स्थान में रहना और उगे हुए धान्यों से जीवन-निर्वाह करना सिखाया। नाभिराज ने मिट्टी के बर्तन बनाना सिखाकर मानव-सभ्यता की आधार-शिला रक्खी।

२. भगवान ऋषभदेव का जन्म

देवों द्वारा अयोध्या की रचना

सूर्य उदित होता है, उससे पूर्व ही उसकी प्रभा अन्धकार का नाश कर देती है। तीर्थंकर असाधारण और लोकातिशयी महापुरुष होते हैं। वे उत्पन्न होते हैं, उससे पूर्व ही उनका पुण्य असाधारण और लोकातिशयी कार्य करना प्रारम्भ कर देता है। तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव का जन्म नाभिराज के यहाँ होने वाला है, यह विचार कर सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने कुबेर को आज्ञा दी—'तीर्थंकर भगवान के गौरव के अनुकूल नगरी की तुरन्त रचना करो।' आज्ञा मिलते ही कुबेर आज्ञा-पालन में जुट गया। स्वयं इन्द्र ने शुभ मुहूर्त, शुभ नक्षत्र में सर्व प्रथम मांगलिक कार्य किया और अयोध्यापुरी के बीच में जिन मंदिर की रचना की। फिर चारों दिशाओं में भी जिन मंदिरों की रचना की। अनेक उत्साही देवों ने भक्ति और उत्साह के साथ इस कार्य में स्वेच्छा से योग दिया और स्वर्ग की सामग्री से एक अद्भुत नगरी की रचना की। यह नगरी ऐसी लगती थी, मानो इस पृथ्वी पर स्वर्गपुरी की ही रचना की गई हो।

उस नगरी के बीचों बीच सुन्दर राजमहल बनाया था। इस नगरी की इतनी सुन्दर रचना का कारण बताते हुए आचार्य जिनसेन कहते हैं—उस नगरी की रचना करने वाले कारीगर स्वर्ग के देव थे, उनका अधिकारी सूत्रधार इन्द्र था और मकान वगैरह बनाने के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी पड़ी थी, तब वह नगरी प्रशंसनीय क्यों न हो!' देवों ने उस नगरी को वप्र (मिट्टी के बने हुए छोटे कोट), प्राकार (चार मुख्य दरवाजों से युक्त पत्थर के बने हुए मजबूत कोट) और परिखा (खाई) आदि से सुशोभित किया था।

उस नगरी का सार्थक नाम 'अयोध्या' था। कोई भी शत्रु उससे युद्ध नहीं कर सकता था, इसीलिये तो

वह 'अयोध्या' कहलाती थी। उस नगरी को 'साकेत' भी कहते थे क्योंकि उसमें सुन्दर-सुन्दर मकान बने हुए थे। वह नगरी सुकोशल देश में थी, अतः उसे 'सुकोशला' भी कहा जाता था। उस नगरी में अनेक विनीत शिक्षित सभ्य मनुष्यों का निवास था, अतः उसका नाम 'विनीता' भी पड़ गया।

अयोध्या नगरी के बनने पर देवों ने शुभ दिन, शुभ मुहूर्त, शुभ योग और शुभ लग्न में पुण्याह वाचन किया। 'भगवान ऋषभ देव उत्पन्न होंगे' यह सोचकर इन्द्र ने नाभिराज और उनकी पत्नी मरुदेवी का अभिषेक करके पूजा की। तब उन्होंने अयोध्या में अपने लिये बने हुए प्रासाद में प्रवेश किया और वहां रहने लगे। इसके पश्चात् देवों ने इधर-उधर रहने वाले मनुष्यों को लाकर उस नगरी में बसाया और उन्हें हर प्रकार की सुविधा दी।

नाभिराज की पत्नी मरुदेवी

नाभिराज की पत्नी मरुदेवी थी। जब नाभिराज के साथ मरुदेवी का विवाह हुआ, उस समय इन्द्र की प्रेरणा से देवों ने उनका विवाहोत्सव धूमधाम के साथ मनाया। मरुदेवी अपने अनिंद्य रूप, बुद्धि, द्युति और विभूति से इन्द्राणी को भी मात करती थी। उस समय नाभिराज और मरुदेवी के समान पुण्यवान् दूसरा कोई नहीं था। जिनके स्वयंभू भगवान जन्म लेने वाले थे, उनके पुण्य की स्पर्धा संसार में कौन कर सकता था।

भगवान गर्भ में आये, इससे छह माह पहले से कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से अयोध्या में रत्नवर्षा की। यह रत्नवर्षा भगवान के जन्म तक अर्थात् पन्द्रह माह तक हुई। रत्नवर्षा दिन में तीन बार होती थी और एक बार में साढ़े तीन करोड़ रत्नों की वर्षा होती थी।

मरुदेवी का स्वप्न दर्शन

एक दिन मरुदेवी अपने प्रासाद में कोमल शय्या पर सो रही थीं। उन्होंने सोते हुए रात्रि के अन्तिम प्रहर में निम्नलिखित शुभ सोलह स्वप्न देखे—

१—उन्होंने इन्द्र का ऐरावत हाथी देखा, जिसके कपोलों से मद बह रहा है।
२—दूसरे स्वप्न में एक वृषभ (बैल) देखा। बैल का वर्ण श्वेत था और गम्भीर शब्द कर रहा था।
३—तीसरे स्वप्न में एक सिंह देखा। उसका वर्ण चन्द्रमा के समान श्वेत था और कन्धे लाल वर्ण के थे।
४—चौथे स्वप्न में कमलासन पर विराजमान लक्ष्मी को देखा और हाथी अपनी सूंड़ों में स्वर्ण-कलश लिये हुए उनका अभिषेक कर रहे हैं।
५—पांचवें स्वप्न में पुष्पमालायें देखीं, जिन पर भौंरे गुंजार कर रहे हैं।
६—छठे स्वप्न में पूर्ण चन्द्र देखा। चांदनी छिटक रही है। चारों ओर तारा गण हैं।
७—सातवें स्वप्न में उदयाचल से उदित होता हुआ सूर्य देखा।
८—आठवें स्वप्न में कमलों से ढंके हुए दो स्वर्ण कलश देखे।
९—नौवें स्वप्न में कमलों से सुशोभित तालाब में किलोल करती दो मछलियां देखी।
१०—दसवें स्वप्न में जल से भरा तालाब देखा, जिसमें कमल तैर रहे हैं।
११—ग्यारहवें स्वप्न में उत्ताल तरंगों वाला, गंभीर गर्जन करता समुद्र देखा।
१२—बारहवें स्वप्न में रत्नजटित स्वर्ण का सिंहासन देखा।
१३—तेरहवें स्वप्न में रत्नों से देदीप्यमान स्वर्ग का विमान देखा।
१४—चौदहवें स्वप्न में पृथ्वी से निकलता हुआ नागेन्द्र का भवन देखा,
१५—पन्द्रहवें स्वप्न में तेजस्वी किरणों वाली रत्न-राशि देखी।
१६—सोलहवें स्वप्न में जलती हुई धूम रहित अग्नि देखी।

इसके पश्चात् उन्होंने स्वर्ण वर्ण वाले और ऊँचे स्कन्ध वाले एक वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते देखा।[1]

---

१. श्वेताम्बर परम्परा १४ स्वप्न मानती है—गज, वृषभ, सिंह लक्ष्मी, पुष्पमाला, चन्द्र, सूर्य, ध्वजा, कुम्भ, पद्मसरोवर, क्षीर समुद्र, विमान, रत्नराशि और निर्धूम अग्नि। —कल्पसूत्र, सूत्र ३३

तभी प्रभात-जागरण के मंगल वाद्य वजने लगे और वन्दी जन मंगल गान करने लगे। तव मरुदेवी शुभ स्वप्नों के स्मरण से आनन्दित होती हुई उठीं। उन्होंने मंगल स्नान करके वस्त्राभूपण धारण किये और प्रमुदित मन से अपने पति नाभिराज के पास पहुंची। वहाँ समुचित विनय के साथ नाभिराज की वाईं ओर सिंहासन पर वैठ गई। नाभिराज ने पत्नी की समुचित अभ्यर्थना की। तव मरुदेवी ने रात में देखे हुए स्वप्नों का वर्णन करते हुए पूछा—देव! इन स्वप्नों का क्या फल है, यह जानने की मेरी अभिलाषा है।

तव अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल विचार कर नाभिराज वोले—'देवि! मैं इन स्वनों का फल वताता हूं।

हाथी के देखने से तेरे उत्तम पुत्र होगा। वैल देखने से यह समस्त लोक में श्रेष्ठ होगा। सिंह के देखने से वह अनन्त वल से युक्त होगा। मालाएं देखने से वह सत्य धर्म का प्रवर्तक होगा। लक्ष्मी देखने से सुमेरु पर्वत पर देव उसका अभिषेक करेंगे। पूर्ण चन्द्र को देखने से वह लोक को आनन्द देने वाला होगा। सूर्य दर्शन का फल वह अनन्त तेज का धारी होगा। दो कलश देखने का फल वह अनेक निधियों का स्वामी होगा। मीन-युगल का फल वह सुखी रहेगा। सरोवर देखने से वह १००८ शुभ लक्षणौं का धारक होगा। समुद्र दर्शन का फल वह सर्वज्ञ केवली वनेगा। सिंहासन देखने से वह जगद्गुरु का पद प्राप्त करेगा। देवों का विमान देखने से वह स्वर्ग से अवतरित होगा। नागेन्द्र का भवन देखने से वह जन्म से अवधिज्ञान का धारी होगा। रत्नों की राशि देखने से वह अनन्त गुणों का निधान होगा। और निर्धूम अग्नि देखने से वह कर्म रूप ईधन को जलाने वाला होगा। तुम्हारे मुख में वृषभ ने प्रवेश किया है, उसका फल यह है कि तुम्हारे गर्भ में वृषभनाथ अवतार लेंगे।

अपने ज्ञानवान पति से अपने स्वप्नों का फल सुनकर मरुदेवी आनन्द विभोर हो गई। उनके नेत्रों में हर्ष के अश्रुकण चमकने लगे। वे अपने पति को नमस्कार करके अपने महल में चली गईं। उन्हें यह जानकर अपार हर्ष हुआ कि मेरे गर्भ में तीन लोक के नाथ तीर्थंकर प्रभु ने अवतार लिया है।

आषाढ़ कृष्णा द्वितीया[1] के उत्तराषाढ़ नक्षत्र में सर्वार्थ सिद्धि विमान से वज्रनाभि अहमिन्द्र आयु पूर्ण करके मरुदेवी के गर्भ में अवतरित हुआ। देवों और इन्द्रों ने अपने अपने विमानों में होने वाले चिन्हों से तीर्थंकर भगवान का गर्भावतार जानकर प्रभु के दर्शनों के लिए प्रस्थान किया और वे अयोध्या नगर में आये। उन्होंने नगर की प्रदक्षिणा दी। फिर माता-पिता को नमस्कार किया और गर्भस्थ प्रभु का गर्भ कल्याणक महोत्सव मनाया। नाना संगीत, वाद्य और नृत्य से वातावरण मुखरित हो उठा। उत्सव मनाकर सभी देव और इन्द्र अपने अपने स्थान को चले गए।

भगवान का गर्भावतरण

इन्द्र की आज्ञा से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी नामक षट् कुमारी देवियां माता की सेवा में रह गई। दिक्कुमारियों ने गर्भ-शोधन का कार्य किया।

गर्भस्थ प्रभु के कारण माता को कोई कष्ट नहीं हुआ। प्रभु के भक्त एक आचार्य ने कल्पना की है कि माता मरुदेवी स्वयं भी गौरव से युक्त थीं, फिर तीनों जगत के गुरु (भारी तथा श्रेष्ठ) जिनेन्द्र देव को धारण कर रहीं थीं, फिर भी वे शरीर में लघुता (हल्कापन) अनुभव करती थीं। माता के गर्भ में भगवान का निवास ऐसा था, जैसा जल में प्रतिविम्वित सूर्य का होता है।

देवियाँ जगन्माता की नाना भांति सेवा करती थीं और उनका मनोरंजन करती थीं। कभी वे माता से प्रश्नोत्तर करती थीं, कभी गूढ़ार्थक काव्य-चर्चा करती थीं। कभी गीत-नृत्य करती थीं।

माता मरुदेवी त्रिलोकीनाथ भगवान को अपने गर्भ में धारण किए हुए थीं, अतः भगवान के तेजपुंज से वे भी उद्भासित हो रही थीं और समस्त जन उन्हें नमस्कार करते थे। नाभिराज और उनका परिवार भी मरुदेवी माता की सुख-सुविधा का वरावर ध्यान रखते थे।

इस प्रकार दिनों दिन गर्भ वढ़ता गया।

---

१. श्वेताम्वर परम्परा के अनुसार भगवान का गर्भावतरण आषाढ़ कृष्णा चतुर्थी को हुआ था—आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १८२

नौ माह पूर्ण होने पर चैत्र कृष्णा नौमी के दिन सूर्योदय के समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र में और ब्रह्म नामक महायोग में पुत्र रत्न उत्पन्न हुआ। उस समय प्रकृति में अत्यन्त उल्लास भर गया। आकाश स्वच्छ था, प्रकृति शान्त थी, शीतल मंद सुगन्धित पवन बह रही थी। वृक्ष फूल बरसा रहे थे। देवों के दुन्दुभि बाजे स्वयं बज रहे थे। समुद्र, पृथ्वी, आकाश मानो हर्ष से थिरक रहे थे। भगवान के जन्म से तीनों लोकों में क्षण भर को उद्योत और सुख का अनुभव हुआ।

भगवान का जन्म महोत्सव

जिनेन्द्रदेव का जातकर्म विजया, वैजयन्ती, जयन्ती, अपराजिता, रुचका, रुचकोज्वला, रुचकाभा और रुचकप्रभा नामक दिक्कुमारियों ने किया। ये दिक्कुमारियाँ जात कर्म में अत्यन्त निष्णात हैं। तीर्थकरों का जात कर्म ये ही देवियाँ करती हैं।

भगवान के जन्म के प्रभाव से इन्द्रों के मुकुट चंचल हो गये, आसन कम्पायमान हो गये। भवनवासी देवों के भवनों में शंखों का शब्द, व्यन्तरों के लोक में भेरी का शब्द, ज्योतिष्क देवों के विमानों में सिंहों के शब्द और कल्पवासी देवों के विमानों में घण्टाओं के शब्द होने लगे। सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने अवधिज्ञान से जान लिया कि भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थकर का जन्म हुआ है। वह अपने सिंहासन से उतर कर सात डग आगे बढ़ा। उसने उच्च स्वर से भगवान का जय घोष किया और दोनों हाथ मस्तक से लगा कर भगवान को प्रणाम किया। फिर सेनापति को आज्ञा दी 'भरत क्षेत्र में प्रथम तीर्थकर का जन्म हुआ है। सब देवों को सूचना करवादो कि सबको भरत-क्षेत्र चलना है।' सूचना मिलते ही समस्त देव चल पड़े। अच्युत स्वर्ग तक के इन्द्रों ने भी इसी प्रकार अपने अपने लोक में आदेश प्रचारित किये और उन स्वर्गों के भी देव चल दिये। इसी प्रकार भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देव भी चल दिये।

उस समय समस्त आकाश हाथी, घोड़ा, रथ, पैदल सैनिक, बैल, गन्धर्व और नर्तकी इन सात प्रकार की देव सेनाओं से व्याप्त हो गया। सौधर्मेन्द्र एरावत हाथी पर आरूढ़ था। चारों निकाय के देव भी विविध वाहनों पर आरूढ़ होकर चल रहे थे। आकाश में चारों ओर देवों के श्वेत छत्र, ध्वजा और चमर दिखाई पड़ रहे थे। भेरी, दुन्दुभि और शंखों के शब्दों से आकाश व्याप्त था। गीत और नृत्य से वातावरण में अद्भुत उल्लास भर रहा था। सभी देव अयोध्या नगरी में पहुंचे। सभी देव वहां एक साथ प्रथम बार पहुंचे, इसलिए उस समय से उस नगर का नाम 'साकेत' प्रसिद्ध हो गया।

सर्व प्रथम देवों नें नगर की तीन प्रदक्षिणा दी। तत्पश्चात् सौधर्मेन्द्र नाभिराज के प्रासाद में पहुंचा और इन्द्राणी को जिनेन्द्र प्रभु को लाने की आज्ञा दी। इन्द्राणी प्रसूति गृह में गई। उसने प्रभु को और माता को नमस्कार किया। फिर अपनी देव माया से माता को सुख निद्रा में सुलाकर और उनके बगल में मायामय बालक लिटाकर प्रभु को गोद में उठा लिया और लाकर इन्द्र को सौंप दिया

इन्द्र ने भगवान को गोद में ले लिया। बाल प्रभु के सुख-स्पर्श से उसका समस्त शरीर हर्ष से रोमांचित होगया। वह प्रभु के त्रिभुवन मोहन रूप को निहारने लगा। किन्तु उसे तृप्ति नहीं हुई। तब उसने हजार नेत्र बनाकर प्रभु के उस अनिंद्य रूप को देखा। फिर भी वह तृप्त नहीं हुआ। तो उसने भगवान की स्तुति करना प्रारम्भ किया।

तत्पश्चात् वह भगवान को गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर आरूढ़ हुआ। ऐशान इन्द्र ने भगवान के ऊपर श्वेत छत्र तान लिया। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र दोनों पार्श्वों में खड़े होकर चमर ढोलने लगे।

इन्द्र देव समूह के साथ भगवान को सुमेरु पर्वत के शिखर पर ले गया। सर्व प्रथम सबने सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा दी। फिर पाण्डुक शिला पर स्थित सिंहासन पर जिन-बालक को विराजमान किया। समस्त देव हर्ष में भरकर गीत-नृत्य करने लगे। उस समय तत, वितत, घन और सुषिर चारों प्रकार के बाजे बज रहे थे। अप्सरायें नृत्य करने लगीं, देवांगनाओं ने अपने हाथों में अष्ट मंगल द्रव्य ले लिये। देव लोग क्षीरसागर से स्वर्ण कलश भर-कर क्रम से एक से दूसरे तक पहुंचाने लगे। सर्व प्रथम सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के इन्द्रों ने भगवान का अभिषेक किया। सभी इन्द्र और देव भगवान का जय जयकार कर रहे थे। सौधर्म इन्द्र को एक कलश द्वारा अभिषेक करने

से तृप्ति नहीं हुई। तब उसने हजार भुजायें बना लीं और एक साथ हजार कलशों से भगवान का अभिषेक किया। इसके पश्चात् अन्य इन्द्रों और देवों ने भगवान का अभिषेक किया।

भगवान स्वयं ही पवित्र थे। उनके पवित्र अंगों का स्पर्श पाकर वह जल भी पवित्र हो गया और वह जहां जहां बहा, वह समस्त धरातल भी पवित्र हो गया।

अभिषेक के पश्चात् सौधर्मेन्द्र ने जगत की शान्ति के लिए शान्ति मन्त्र का पाठ किया। देवों ने बड़ी भक्ति से उस गन्धोदक को अपने मस्तकों पर लगाया, फिर सारे शरीर पर लगाया और अवशिष्ट गन्धोदक को स्वर्ग ले जाने के लिये रख लिया। फिर सब इन्द्रों ने मन्त्रों से पवित्र हुए जल, गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल और अर्घ इन अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजा की। पश्चात् मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा दी।

उस समय सुगन्धित पवन बह रहा था। आकाश से सुगन्धित जल की वर्षा होरही थी। देव विभिन्न प्रकार के बाजे बजा रहे थे। इन्द्राणी ने तब भगवान को अपनी गोद में लेकर सुगन्धित द्रव्यों का अनुलेपन करके दिव्य वस्त्राभूषण पहनाये। मस्तक पर तिलक लगाया और कल्पवृक्ष के पुष्पों का मुकुट पहनाया। उनके मस्तक पर चूड़ामणि रत्न रखा। नेत्रों में अंजन लगाया, कानों में कुण्डल पहनाये, गले में रत्नहार पहनाया। बाजूबन्द, अनन्त, करधनी, घुंघरू आदि अनेक रत्नाभरण पहनाये। फिर भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक वन के पुष्पों की माला पहनाई। श्री, शची, कीर्ति और लक्ष्मी देवियों ने भगवान को इस तरह अलकृत किया कि इन्द्राणी भी भगवान की रूप-सज्जा को देखकर विस्मित रह गई। इन्द्र तो भगवान की रूप माधुरी को हजार नेत्र बनाकर देखता रह गया। फिर सबने मिलकर भगवान की स्तुति की।

इस प्रकार जन्माभिषेक का उत्सव मनाकर इन्द्र और देव भगवान को लेकर अयोध्या वापिस आये। इन्द्र भगवान को लेकर कुछ देवों के साथ महाराज नाभिराज के महलों में पहुंचा और श्रीगृह के आगन में सिंहासन पर भगवान को विराजमान किया। नाभिराज बाल भगवान को देखकर अत्यन्त हर्षित हो रहे थे। इन्द्राणी ने माया-मयी निद्रा दूर कर माता मरुदेवी को सचेत कर दिया, तब माता भी अपने पुत्र को अत्यन्त वात्सल्य के साथ देखने लगी। इन्द्र ने महार्घ्य रत्नाभरणों और मालाओं से माता-पिता की पूजा-स्तुति की—हे नाभिराज! आप ऐश्वर्य-शाली उदयाचल हैं और रानी मरुदेवी पूर्व दिशा है क्योंकि यह पुत्र रूपी ज्योति आपसे ही उत्पन्न हुई है। आज आपका यह घर हम लोगों के लिये जिनालय के समान पूज्य है और आप जगत्पिता के भी माता-पिता हैं। इसलिये हम लोगों के लिये सदा पूज्य हैं।'

इन्द्र ने माता-पिता को जन्माभिषेक की सारी कथा सुनाई, जिसे सुनकर दोनों ही बड़े प्रसन्न हुए। फिर इन्द्र की सहमति से माता-पिता ने भगवान का जन्म महोत्सव किया। प्रजा ने भी विविध प्रकार के उत्सव किये।

हो उठी थीं। अपने इस ताण्डव नृत्य के द्वारा इन्द्र ताण्डव नृत्य का आद्य प्रणेता, सूत्रधार और जनक माना गया है।

इस नृत्य के पश्चात् इन्द्र ने भगवान के दश जन्मों या अवतारों का नाटक किया। सर्व प्रथम इन्द्र ने भगवान के उस जन्म का नाटक दिखाया, जिसमें वे महाबल विद्याधर थे। इसके बाद क्रमशः ललितांग देव, वज्र जंघ, भोगभूमिज आर्य, श्रीधरदेव, सुविधि नरेश, अच्युतेन्द्र, वज्रनाभि चक्रवर्ती, सर्वार्थ सिद्धि के अहमिन्द्र और नाभिपुत्र वृषभदेव का नाटक किया।

इस प्रकार यह आनन्द नाटक समाप्त हुआ।

इन्द्र ने भगवान का एक नाम पुरुदेव रक्खा था। किन्तु उनका मुख्य नाम वृषभदेव रक्खा। इन्द्र ने

भगवान का नामकरण

भगवान का यह नाम क्यों रक्खा, इस बारे में आचार्यों ने कई प्रकार की कैफियत दी हैं। गर्भावतरण के समय माता मरुदेवी ने वृषभ देखा था, इसलिये भगवान का नाम वृषभदेव रक्खा। एक हेतु यह दिया गया है कि भगवान जगत में श्रेष्ठ हैं, इसलिये उनका नाम वृषभदेव रक्खा। वृषभ का अर्थ है श्रेष्ठ। तीसरा हेतु यह दिया है कि वृष श्रेष्ठ धर्म को कहते हैं। भगवान उस श्रेष्ठ धर्म से शोभायमान होरहे थे, इसलिये इन्द्र ने उन्हें वृषभ स्वामी कहा। इन सभी मतों से भिन्न एक मत यह है कि वे जिनेन्द्र प्रभु इन्द्र द्वारा की गई पूजा के कारण प्रधानता को प्राप्त हुए थे, इसलिये माता-पिता ने ही उनका नाम ऋषभ रक्खा।

नामकरण के पश्चात् इन्द्र और देव अपने-अपने स्थान को चले गये।

३. बाल्य-काल

इन्द्र ने वाल भगवान के लालन पालन और सेवा-सुश्रूषा के लिये अलग-अलग देवियाँ नियुक्त कर दीं।

भगवान का दिव्य लालन पालन

इन्द्र ने भगवान के हाथ के अंगूठे में अमृत स्थापित कर दिया था। वे अमृत चूसते हुए शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की भांति वढ़ने लगे। उनका कोमल विस्तर, आसन, वस्त्र, आभूषण, अनुलेपन, भोजन, वाहन तथा यान सभी वस्तुएं दिव्य थीं। कुवेर ऋतु के अनुकूल सभी वस्तुएं भेजता था। नाभिराज और मरुदेवी वाल भगवान को देख देखकर हर्षित होते थे। भगवान के होठों पर सदा मंद स्मित विखरा रहता था, जिससे प्रतीत होता कि उन्हें संसार के भोगों की कोई कामना शेप नहीं है, वे इनसे परितृप्त हो चुके हैं। किन्तु प्रकृति-धर्म को तो निभाना ही है, इसलिए वे इस पर सदा हंसते रहते हैं। जो जिन वालक जन्म से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान का धारक है, उसे अवोध वालकों के समान चेष्टा करनी पड़े, इसमें अधिक परिहास की वात क्या हो सकती है!

वालक ऋषभदेव न केवल अपने माता-पिता के ही, अपित जन-जन के प्रिय थे। अनेक [illegible]

'आहे क्षिणि जोवइ क्षिणि सोवइ रोवइ लहीअ लगार।
आलि करइ कर मोड़इ त्रोडइ नवसर हार ।। आ० फा० १०३।।

वालक आदीश्वर लड़खड़ाते डगों से चलने लगे हैं। उनके पैरों में स्वर्ण के घुंघरू पड़े हैं। जब वे चलते हैं तो उनमें से घ्रण-घ्रण की मधुर ध्वनि निकलती है। जिसे सुनकर नाभिराज और मरुदेवी दोनों को ही अपार हर्ष होता है—

'आहे घ्रण घ्रण घूंघरी वाजइ हेम तणी विहु पाइ।
तिम तिम नरपति हरखइ मरुदेवी माइ ।। आ० फा०, १०१।।

अब वालक कुछ चलने लगा है। उसके मस्तक पर टोपी है। कानों में कुण्डल झलक रहे हैं। जो देखता है, देखता ही रह जाता है। उसे तृप्ति नहीं होती—

'आहे अंगोइ अंगि अनोपम उपम रहित शरीर।
टोपीय उपीय मस्तकि वालक छइ पण वीर ।।९५।।
आहे कनिय कुण्डल झलकइ खलकइ नेउर पाउ।
जिम-जिम निरखइ हियउइ तिम-तिम भाइ ।।९६।।

वालक ऋषभदेव अब क्रीड़ा करने लगे। इन्द्र ने उनके साथ खेलने के लिए देव भेज दिए। वे देव भगवान का सा रूप वनाकर उनके साथ खेलते थे। वे ऐसे लगते थे, मानो वे भी ऋषभदेव हों। वही रूप, वही शरीर, वही वय। सभी वातों में समानता। भगवान का वाल-सौन्दर्य कितना मोहक था। और जब वे रत्न जड़ित आंगन में खेलते हैं तो आंगन में अपना प्रतिविम्ब देखकर स्वयं ही मुग्ध हो जाते हैं। जब वे तोतली वोली वोलते हैं तो माता मरुदेवी उन पर वलि वलि जाती हैं। उनका धूल घूसरित वेष तो ऐसा लगता है, मानो सौन्दर्य साकार हो उठा हो। भगवान के इस अनोखे रूप और अनोखी लीला का सरस वर्णन अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदन्त ने 'महापुराण' में किया है, जिसे पढ़कर भगवान की वह वाल छवि आंखों के आगे तैरती सी प्रतीत होती है।

सेसवलीलिया कोलमसीलिया। पहुणा दाविया केण ण भाविया ।।
धूली धूसरु ववगय कडिल्लु। सहजायक विलकोंतलु जडिल्लु ।।
हो हल्लरु जो जो सुहुं सुअहि। पइं पणवंतउ भूयगणु ।।
णंदइ रिज्झइ दुविकय मलेण। का सुवि मलिगुण ण होइ मणु ।।
धूली धूसरी काड किंकिणी सरी। णिरुव मलीलउ कीलइ वालउ ।।

भगवान की इस छवि पर कौन नहीं रीझ उठेगा। उनके वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह था। उनके शरीर पर नौ सौ व्यंजन और एक सौ आठ शुभ लक्षण थे।

जन्म के दस अतिशय

जन्म से ही उनके शरीर में अनेक विशेषतायें थी। सर्व साधारण से उनका शरीर असाधारण था। उन्हें पसीना नहीं आता था। शरीर निर्मल था। दूध के समान धवल रक्त था। वज्र वृषभनाराच संहनन था। समचतुरस्रसंस्थान था। उनका रूप अनुपम था। चम्पक पुष्प के समान शरीर में सुगन्धि थी। १००८ लक्षण थे। अनन्त वलवीर्य था। तथा वे हित-मित-मधुर भाषण करते थे। इस प्रकार जन्म से ही उनमें ये दस विशेषतायें थीं, जिन्हें जन्म के दस अतिशय कहा जाता है।

४. भगवान गृहस्थाश्रम में

भगवान का विवाह

ऋषभदेव का शैशव काल वीता और उन्होंने यौवन की देहली पर पग रखा। वे जन्म से तीन ज्ञान के धारी थे। उस समय तक लिपि और अंक विद्या का प्रचलन नहीं था। अतः विद्याओं का प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया था। इसलिए किशोर ऋषभदेव की शिक्षा का प्रश्न ही नहीं था। फिर तीर्थंकर तो जगत के गुरु होते हैं, तीर्थंकर का गुरु कोई नहीं होता। वे जन्म से ही प्रतिवुद्ध होते हैं। पिछले जन्मों में सतत साधना द्वारा ज्ञान का जो भण्डार संचित कर लेते हैं, वह सुरक्षित रूप में उन्हें जन्म से ही प्राप्त रहता है। वे संसार की घटनाओं से नये-नये अनुभव संजोते हैं और उस पर मनन-चिन्तन करते हैं। इसलिए वे लोक की सम्पूर्ण विद्याओं के स्वामी होते हैं। ऋषभदेव सरस्वती के स्वामी थे। उन्हें जन्म से ही सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान था। वे समस्त कलाओं के ज्ञाता थे। ज्यों-ज्यों उनका शरीर बढ़ रहा था, वैसे ही उनके गुण भी बढ़ रहे थे।

अव भगवान की आयु विवाह योग्य हो गई। महाराज नाभिराज ने एक दिन अनुकूल अवसर देखकर अपने पुत्र से कहा—'वत्स ! आप जगद् गुरु हैं, संसार का कल्याण करने के लिए ही आपका अवतार हुआ है। किन्तु पिता के नाते मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप विवाह करके गृहस्थाश्रम अंगीकार करें। पिता के प्रिय वचन सुनकर भगवान ने स्वीकृति सूचक "ॐ" कहा। पुत्र की स्वीकृति पाकर पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्द्र के परामर्श से सुशील, शुभलक्षणों वाली, सती और सुन्दर दो कन्याओं की याचना की। ये दोनों कन्यायें कच्छ, महाकच्छ की वहनें थीं। उनका नाम यशस्वती[1] और सुनन्दा था। नाभिराज ने उन्हीं कन्याओं के साथ धूमधाम से ऋषभदेव का विवाह कर दिया। भगवान के विवाह से न केवल मनुष्य लोक में ही आनन्द छा गया, वल्कि देवलोक में भी भगवान के विवाह के उपलक्ष्य में नाना प्रकार के उत्सव हुए। माता मरुदेवी और पिता नाभिराज दोनों पुत्र-वधुओं को देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए।

दोनों देवियों के साथ भगवान ऐसे लगते थे मानो वे कीर्ति और लक्ष्मी से ही सुशोभित हों। उन देवियों का रूप, यौवन, कान्ति और सौन्दर्य अनुपम था।

पुत्र-पुत्रियों का जन्म

एक दिन महादेवी यशस्वती महलों में सो रही थीं। उन्होंने रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न देखा। स्वप्न में ग्रसी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्र, सूर्य, जल से परिपूर्ण सरोवर जिसमें हंस तैर रहे थे और चंचल लहरों वाला समुद्र देखा। स्वप्न देखने के वाद वन्दी जनों के मंगल पाठ को सुनकर वे जाग गईं। और शैय्या त्याग कर प्रातःकाल का मंगल स्नान कर देखे हुए स्वप्नों का फल जानने के लिए अपने पति ऋषभदेव के पास पहुंचीं। और भगवान के पास सिंहासन पर वैठ गई। फिर उन्होंने रात्रि में देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनसे फल की जिज्ञासा प्रगट की। भगवान ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—'हे देवि ! स्वप्न में तूने सुमेरु पर्वत देखा है, उससे प्रगट होता है कि तेरे चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा। सूर्य उसके प्रताप और चन्द्र उसकी कान्ति को सूचित करता है। सरोवर और हंस देखने से तेरा पुत्र अनेक शुभ लक्षणों से युक्त होगा और अपने विशाल वक्षस्थल पर कमलवासिनी लक्ष्मी को धारण करेगा। ग्रसी हुई पृथ्वी देखने से वह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का पालन करेगा। समुद्र देखने का फल यह है कि वह चरम शरीरी होगा। और तेरे सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र होगा।' स्वप्नों का फल सुनकर महादेवी यशस्वती को अपार हर्ष हुआ।

महादेवी यशस्वती के गर्भ में जो जीव आया था, वह अपने पूर्व जन्मों में व्याघ्र, अतिगृद्ध, देव, सुवाहु और सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था। वह अहमिन्द्र ही महादेवी के गर्भ में अवतरित हुआ था। गर्भस्थ वह जीव महा प्रतापी चक्रेश्वर वनने वाला था। यही कारण था कि महादेवी यशस्वती अपने ऊपर आकाश में चलते हुए सूर्य

---

१. इनका अपर नाम नन्दा भी था।

४. भगवान गृहस्थाश्रम में

भगवान का विवाह

ऋषभदेव का शैशव काल बीता और उन्होंने यौवन की देहली पर पग रखा। वे जन्म से तीन ज्ञान के धारी थे। उस समय तक लिपि और अंक विद्या का प्रचलन नहीं था। अतः विद्याओं का प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया था। इसलिए किशोर ऋषभदेव की शिक्षा का प्रश्न ही नहीं था। फिर तीर्थंकर तो जगत के गुरु होते हैं, तीर्थंकर का गुरु कोई नहीं होता। वे जन्म से ही प्रतिबुद्ध होते हैं। पिछले जन्मों में सतत साधना द्वारा ज्ञान का जो भण्डार संचित कर लेते हैं, वह सुरक्षित रूप में उन्हें जन्म से ही प्राप्त रहता है। वे संसार की घटनाओं से नये-नये अनुभव संजोते हैं और उस पर मनन-चिन्तन करते हैं। इसलिए वे लोक की सम्पूर्ण विद्याओं के स्वामी होते हैं। ऋषभदेव सरस्वती के स्वामी थे। उन्हें जन्म से ही सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान था। वे समस्त कलाओं के ज्ञाता थे। ज्यों-ज्यों उनका शरीर बढ़ रहा था, वैसे ही उनके गुण भी बढ़ रहे थे।

अब भगवान की आयु विवाह योग्य हो गई। महाराज नाभिराज ने एक दिन अनुकूल अवसर देखकर अपने पुत्र से कहा—'वत्स! आप जगद् गुरु हैं, संसार का कल्याण करने के लिए ही आपका अवतार हुआ है। किन्तु पिता के नाते मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप विवाह करके गृहस्थाश्रम अंगीकार करें। पिता के प्रिय वचन सुनकर भगवान ने स्वीकृति सूचक "ॐ" कहा। पुत्र की स्वीकृति पाकर पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने इन्द्र के परामर्श से सुशील, शुभलक्षणों वाली, सती और सुन्दर दो कन्याओं की याचना की। ये दोनों कन्यायें कच्छ, महाकच्छ की बहनें थीं। उनका नाम यशस्वती[1] और सुनन्दा था। नाभिराज ने उन्हीं कन्याओं के साथ धूमधाम से ऋषभदेव का विवाह कर दिया। भगवान के विवाह से न केवल मनुष्य लोक में ही आनन्द छा गया, बल्कि देवलोक में भी भगवान के विवाह के उपलक्ष्य में नाना प्रकार के उत्सव हुए। माता मरुदेवी और पिता नाभिराज दोनों पुत्र-वधुओं को देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए।

दोनों देवियों के साथ भगवान ऐसे लगते थे मानो वे कीर्ति और लक्ष्मी से ही सुशोभित हों। उन देवियों का रूप, यौवन, कान्ति और सौन्दर्य अनुपम था।

पुत्र-पुत्रियों का जन्म

एक दिन महादेवी यशस्वती महलों में सो रही थीं। उन्होंने रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न देखा। स्वप्न में ग्रसी हुई पृथ्वी, सुमेरु पर्वत, चन्द्र, सूर्य, जल से परिपूर्ण सरोवर जिसमें हंस तैर रहे थे और चंचल लहरों वाला समुद्र देखा। स्वप्न देखने के बाद बन्दी जनों के मंगल पाठ को सुनकर वे जाग गईं। और शैय्या त्याग कर प्रातःकाल का मंगल स्नान कर देखे हुए स्वप्नों का फल जानने के लिए अपने पति ऋषभदेव के पास पहुंचीं। और भगवान के पास सिंहासन पर बैठ गईं। फिर उन्होंने रात्रि में देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनसे फल की जिज्ञासा प्रगट की। भगवान ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—'हे देवि! स्वप्न में तूने सुमेरु पर्वत देखा है, उससे प्रगट होता है कि तेरे चक्रवर्ती पुत्र उत्पन्न होगा। सूर्य उसके प्रताप और चन्द्र उसकी कान्ति को सूचित करता है। सरोवर और हंस देखने से तेरा पुत्र अनेक शुभ लक्षणों से युक्त होगा और अपने विशाल वक्षस्थल पर कमलवासिनी लक्ष्मी को धारण करेगा। ग्रसी हुई पृथ्वी देखने से वह समुद्र पर्यन्त पृथ्वी का पालन करेगा। समुद्र देखने का फल यह है कि वह चरम शरीरी होगा। और तेरे सौ पुत्रों में ज्येष्ठ पुत्र होगा।' स्वप्नों का फल सुनकर महादेवी यशस्वती को अपार हर्ष हुआ।

महादेवी यशस्वती के गर्भ में जो जीव आया था, वह अपने पूर्व जन्मों में व्याघ्र, अतिगृद्ध, देव, सुबाहु और सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुआ था। वह अहमिन्द्र ही महादेवी के गर्भ में अवतरित हुआ था। गर्भस्थ वह जीव महा प्रतापी चक्रेश्वर बनने वाला था। यही कारण था कि महादेवी यशस्वती अपने ऊपर आकाश में चलते हुए सूर्य

---

१. इनका अपर नाम नन्दा भी था।

को भी सहन नहीं करती थी। ये अपने मुख की कान्ति तलवार में देखा करती थी, किन्तु वह तलवार में पड़ने वाली अपनी प्रतिकूल छाया को भी सहन नहीं कर पाती थीं।

महादेवी के ऊपर गर्भ के चिन्ह स्पष्ट दिखाई देने लगे थे—दोहला उत्पन्न होना, आहार में रुचि का मन्द होना, आलस्य सहित गमन करना, शरीर को शिथिल कर जमीन पर सोना, गालों तक मुख का सफेद पड़ जाना, आलस भरे नेत्रों से देखना, अधरोष्ठ का कुछ सफेद और लाल होना और मुख से मिट्टी जैसी सुगन्ध आना आदि।

नौ माह व्यतीत होने पर महादेवी यशस्वती ने देदीप्यमान तेज से परिपूर्ण और महापुण्यशाली पुत्र उत्पन्न किया। भगवान ऋषभदेव के जन्म के समय जो दिन, लग्न, योग, चन्द्र और नक्षत्र आदि पड़े थे, वे ही शुभ दिन आदि पुत्र के जन्म के समय भी पड़े। यह कैसा सुखद आश्चर्य था। वही चैत्र कृष्णा नौमी का दिन, मीन लग्न, ब्रह्म योग, धन राशि का चन्द्रमा और उत्तराषाढ़ नक्षत्र। इस शुभ वेला में सम्राट् के लक्षणों से सुशोभित पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पुत्र अपनी दोनों भुजाओं से पृथ्वी का आलिंगन कर उत्पन्न हुआ था। यह देखकर निमित्त ज्ञानियों ने भविष्य बताते हुए कहा था कि बालक समस्त पृथ्वी का अधिपति बनेगा। बालक के उत्पन्न होने पर सबसे अधिक हर्ष दादा-दादी को हुआ। सौभाग्यवती स्त्रियां माता यशस्वती को आशीर्वाद दे रही थीं—'तू इसी प्रकार के शत पुत्रों को जन्म दे।'

पुत्रोत्पत्ति की खुशी में राजमहल में विविध उत्सव होने लगे। तुरही, दुन्दुभि, झालर, शहनाई, सितार, शंख, काहल और ताल आदि नाना प्रकार के बाजे बज रहे थे। प्रकृति भी अपना हर्ष प्रकट करने में पीछे नहीं रही। आकाश से पुष्प-वर्षा हो रही थी। सुगन्धित जल कणों से युक्त पवन बह रहा था। देव आकाश में जय ध्वनि कर रहे थे और देवियां विविध आशीर्वचन उच्चारण कर रही थीं। नर्तकियां नृत्य कर रही थीं। नगर की वीथियों और राजमार्गों पर सुगन्धित जल का छिड़काव किया गया। सारा नगर तोरणों आदि से सजाया गया। चतुष्पथों पर रत्नचूर्ण से चौक पूर कर मंगल कलश रखे गए। निर्धनों को मुक्तहस्त दान दिया जा रहा था। सारी अयोध्या हर्षोत्सवों से व्याप्त थी। बन्धुजनों ने भरतक्षेत्र के अधिपति होने वाले बालक का नाम 'भरत' रक्खा। बालक के चरणों में चक्र, छत्र, तलवार, दण्ड आदि चौदह रत्नों के चिन्ह बने हुए थे।

बालक धीरे-धीरे युवावस्था को प्राप्त हुआ। भरत की जन्म तिथि, नक्षत्र आदि ही अपने पिता ऋषभदेव की जन्म तिथि आदि से समानता नहीं रखते थे, भरत का गमन, शरीर, मन्द हास्य, वाणी, कला, विद्या, द्युति, शील, विज्ञान आदि भी अपने पिता के समान था।

महादेवी शस्वती ने जब पुत्र भरत को जन्म दिया, तब उसके साथ ब्राह्मी नामक पुत्री को भी जन्म दिया। इस प्रकार भरत और ब्राह्मी युगल उत्पन्न हुए थे। इसके बाद यशस्वती ने क्रमशः ९८ पुत्रों को जन्म दिया। ऋषभदेव की दूसरी रानी सुनन्दा से बाहुबली पुत्र और सुन्दरी नामक पुत्री उत्पन्न हुई। बाहुबली सर्वश्रेष्ठ रूप सम्पदा के धारक थे। वे इस काल के चौबीस कामदेवों में प्रथम कामदेव थे। बाहुबली का जैसा रूप था, वैसा रूप अन्यत्र कहीं नहीं दिखाई देता था। युवा होने पर स्त्रियां उनके रूप को देखकर ठगी सी रह जाती थीं और वे उन्हें मनोभव, मनोज, मनोभू, मन्मथ, अंगज, मदन और अनन्यज आदि नामों से पुकारती थीं।

श्वेताम्बर परम्परा में ऋषभदेव की स्त्रियों के नाम सुनन्दा और सुमंगला बताये हैं। सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी तथा सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को युगल रूप में जन्म दिया। पश्चात् सुमंगला ने युगल रूप से ४९ बार में ९८ पुत्रों को जन्म दिया।

भगवान के सौ पुत्र

दिगम्बर ग्रन्थों में भगवान ऋषभदेव के सौ[1] पुत्र होने का तो वर्णन मिलता है, किन्तु उन पुत्रों के नाम नहीं मिलते। केवल थोड़े से नामों का ही उल्लेख मिलता है। जैसे भरत, बाहुबली, वृषभसैन, अनन्त विजय, अनन्त वीर्य, अच्युत, वीर, वरवीर।

किन्तु अभिधान राजेन्द्र कोष (उसभ-प्रकरण, पृष्ठ ११२९) में इन सौ पुत्रों के नाम मिलते हैं। जो इस

१. आचार्य जिनसेन कृत आदि पुराण १६।२८, में एक सौ एक पुत्र बताये हैं।

प्रकार हैं—

१. भरत २. बाहुबली ३. शंख ४. विश्वकर्मा ५. विमल ६. सुभक्षण ७. अमल ८. चित्रांग ९. ख्याति कीर्ति १०. वरदत्त ११. सागर १२. यशोधर १३. अमर १४. रथवर १५. कामदेव १६. ध्रुव १७. वच्छ १८. नन्द १९. सुर २०. सुनन्द २१. कुरु २२. अंग २३. वंग २४. कोशल २५. वीर २६. कलिंग २७. मागध २८ विदेह २९. संगम ३०. दशार्ण ३१. गम्भीर ३२. वसुचर्मा ३३. सुवर्मा ३४. राष्ट्र ३५. सुराष्ट्र ३६. बुद्धिकर ३७. विविधकर ३८. सुयशा ३९. यशस्कीर्ति ४०. यशस्कर ४१. कीर्तिकर ४२. सूरण ४३. ब्रह्मसेन ४४. विक्रान्त ४५. नरोत्तम ४६. पुरुषोत्तम ४७. चन्द्रसेन ४८. महासेन ४९. नभसेन ५०. भानु ५१. सुकान्त ५२. पुष्पयुत ५३. श्रीधर ५४. दुर्धर्ष ५५. सुसुमार ५६. दुर्जय ५७. अजेयमान ५८. सुधर्मा ५९. धर्मसेन ६०. आनन्दन ६१. आनन्द ६२. नन्द ६३. अपराजित ६४. विश्वसेन ६५. हरिषेण ६६. जय ६७. विजय ६८. विजयन्त ६९. प्रभाकर ७०. अरिदमनः ७१ मान ७२. महाबाहु ७३. दीर्घबाहु ७४. मेघ ७५. सुघोष ७६. विश्व ७७. वराह ७८. सुसेन ७९. सेनापति ८०. कपिल ८१. शैलविचारी ८२. अरिंजय ८३. कुंजरबल ८४. जयदेव ८५. नागदत्त ८६. काश्यप ८७. बल ८८. धीर ८९. शुभमति ९०. सुमति ९१. पद्मनाभ ९२. सिंह ९३. सुजाति ९४. संजय ९५. सुनाम ९६. नरदेव ९७. चित्तहर ९८. सुरवर ९९. दृढ़रथ १००. प्रभंजन।

श्रीमद्भागवत[1] में भी यह स्वीकार किया है कि ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। उनमें भरत सबसे बड़े थे। उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट ये नौ राजकुमार शेष नव्वे भाइयों में बड़े एवं श्रेष्ठ थे। उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ये नौ राजकुमार बड़े भगवद्भक्त थे। इस प्रकार श्रीमद्भागवत में केवल १९ पुत्रों के ही नाम दिये गये हैं।

लिपि और अंक विद्या का आविष्कार

एक दिन भगवान ऋषभदेव सिंहासन पर सुखासन से बैठे हुए थे। वे अपने पुत्र-पुत्रियों को कला और विनय का शिक्षण देने के बारे में विचार कर रहे थे। तभी ब्राह्मी और सुन्दरी नामक उनकी पुत्रियाँ मांगलिक वेष-भूषा धारण कर उनके निकट आईं। वे दोनों ऐसी लगती थीं मानो लक्ष्मी और सरस्वती ही अवतरित हुई हों। उन दोनों ने भगवान के निकट जाकर नियम के साथ उन्हें प्रणाम किया। भगवान ने प्रेमपूर्वक दोनों पुत्रियों को अपनी गोद में बैठाया, उन पर हाथ फेरा, उनका मस्तक सूंघा। फिर कुछ देर तक उनके साथ विनोद करते रहे। पश्चात् वे बोले कि—तुम दोनों का यह सुन्दर शरीर, अवस्था और अनुपम शील यदि विद्या से विभूषित किया जाय तो तुम्हारा यह जन्म सफल हो सकता है। यह कहकर उन्होंने दोनों को आशीर्वाद दिया और स्वर्ण के पट्टे पर श्रुत देवता का पूजन कर स्थापन किया। फिर 'सिद्धं नमः' कहकर दायें हाथ से ब्राह्मी को लिपि विद्या अर्थात् वर्णमाला लिखना सिखाया और बायें हाथ से सुन्दरी को अंक विद्या अर्थात् संख्या लिखना सिखाया। इस प्रकार इस युग में भगवान ने अपनी पुत्रियों के माध्यम से सर्व प्रथम वाङ्मय का उपदेश दिया। केवल उपदेश ही नहीं दिया, भगवान ने वाङ्मय के तीनों अंगों—व्याकरण शास्त्र, छन्द शास्त्र और अलंकार शास्त्र के सम्बन्ध में शास्त्र-रचना भी की। दोनों पुत्रियां भगवान से वाङ्मय का अध्ययन करके महान् विदुषी और ज्ञानवती बन गईं।

इस प्रकार इस काल में लिपि विद्या और अंक विद्या के आद्य आविष्कर्ता भगवान ऋषभदेव थे। इन विद्याओं का सर्वप्रथम शिक्षण ब्राह्मी और सुन्दरी के रूप में नारी जाति को प्राप्त हुआ। ब्राह्मी पुत्री ने जिस लिपि का अध्ययन किया था, पश्चाद्वर्ती काल में वह लिपि ब्राह्मी लिपि कहलाने लगी। आज भी विश्व में ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम मानी जाती है। एशिया महाद्वीप की लिपियों में प्रायः जो समानता दिखाई पड़ती है, उसका कारण यही है कि वे सब ब्राह्मी लिपि से निकली हैं।

---

१. श्रीमद्भागवत ५।४।९-१२।

पुत्रियों के समान पुत्रों को भी अनेक कलाओं का ज्ञान दिया। जिस पुत्र को जिस कला का ज्ञान दिया उसके लिये उस कला से सम्बन्धित शास्त्र की विस्तृत रचना की। अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को विस्तृत अध्यायों से युक्त अर्थशास्त्र और प्रकरण सहित नृत्य शास्त्र पढ़ाया। वृषभसेन पुत्र के लिये सौ से अधिक अध्यायों वाले गन्धर्व शास्त्र का व्याख्यान किया। अनन्तविजय पुत्र के लिये सैकड़ों अध्यायों वाली चित्रकला सम्बन्धी विद्या का उपदेश दिया। इसके अतिरिक्त इस पुत्र को सूत्रधार तथा स्थापत्य कला का भी उपदेश दिया। पुत्र बाहुबली को कामशास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, अश्व-विद्या, गज-विद्या, रत्न-परीक्षा आदि के शास्त्र पढ़ाये। इसी प्रकार शेष पुत्रों को द्यूतविद्या, वार्तालाप करने की कला, नगर-संरक्षण, पासा फेंकना, मिट्टी के बर्तन, अन्नोत्पादन, जल-शुद्धि, वस्त्र-निर्माण, शय्या निर्माण, संस्कृत कविता-रचना, प्रहेलिका-निर्माण, छन्द-निर्माण, प्राकृत गाथा-रचना, श्लोक रचना, सुगन्धित पदार्थ-निर्माण, षट्‌रस-व्यंजन-निर्माण, अलंकार-निर्माण और उनके धारण करने की विधि, स्त्री-शिक्षा की विधि, स्त्रियों के लक्षण, पुरुष लक्षण जानने की विद्या, गाय वृषभ-लक्षण जानने की विद्या, कुक्कुट-लक्षण जानने की विद्या, मेढ़े के लक्षण जानने की विद्या, चक्र-लक्षण जानने की विद्या, छत्र लक्षण जानने की विद्या, दण्ड-लक्षण, तलवार लक्षण, मणि-लक्षण, काकिणी-लक्षण, चर्म-लक्षण, चन्द्र-लक्षण, सूर्य-लक्षण जानने की विद्या, राहु-गति, ग्रह-गति की कला, सौभाग्य और दुर्भाग्य-लक्षण, रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि विद्या सम्बन्धी ज्ञान, मन्त्र-साधन विधि; गुप्त वस्तु को जानने की विद्या, प्रत्येक वस्तु का ज्ञान, सैन्य-ज्ञान, व्यूह-रचना, सेना को रण क्षेत्र में उतारने की कला, सेना का पड़ाव, नगर का प्रमाण जानने की कला, वस्तु का प्रमाण जानने की कला, प्रत्येक वस्तु के रखने की कला, नगर-निर्माण, थोड़े को बहुत करने की कला, तलवार आदि की मूठ बनाने की कला, हिरण्य-पाक, सुवर्ण-पाक, मणि-पाक, धातु-पाक, बाहु युद्ध, दण्ड युद्ध, मुष्टियुद्ध, यष्टि युद्ध, युद्ध-नियुद्ध-युद्धाति-युद्ध करने की कला, सूत बनाने, नली बनाने, गेंद खेलने वस्तु-स्वभाव जानने, चमड़ा बनाने की कला, पत्र छेदन, कड़ग छेदन की कला, संजीवन-निर्जीवन कला, पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने की कला की शिक्षा दी।

पुत्रों को विविध कलाओं का प्रशिक्षण

इस प्रकार पुत्र-पुत्रियों को विविध कलाओं और विद्याओं की शिक्षा देकर एक प्रकार से उन्हें जन-जन में प्रचार करने के लिये तैयार किया। भोग-युग से कर्म युग की ओर जन-मानस को तैयार करने और जन-जन का जीवन कर्म-स्फूर्त करने के लिये सर्वप्रथम शिक्षकों और कार्यकर्ताओं को तैयार करने की आवश्यकता थी। भगवान ने इस कार्य के लिये अपने परिवार को ही प्रशिक्षित किया। यह असाधारण ज्ञान, विवेक, धैर्य और अध्यवसाय का कार्य था। सम्पूर्ण जन-जीवन को एकबारगी ही बदल देना सरल नहीं था, किन्तु ऋषभदेव ने भोग-युग की सम्पूर्ण व्यवस्था और बिना कार्य किये ही जीवन-यापन का स्वभाव बदल कर कर्म-युग की व्यवस्था चालू करने में कितना श्रम, पुरुषार्थ और समय लगाया होगा, यह आज हम नहीं आँक सकते।

५. ऋषभदेव द्वारा लोक-व्यवस्था

प्रकृति में तेजी से परिवर्तन हो रहे थे। भोग-युग के समय दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते थे। उनसे मनुष्य अपनी- जीवन-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेते थे। किन्तु अब काल के प्रभाव से कल्प वृक्ष, महौषधि, दीप्तौषधि तथा सब प्रकार की औषधियां शक्तिहीन हो गई थीं। बिना बोये हुए धान्य पहले खूब फलते थे, किन्तु वे भी अब बहुत कम उगते थे और उतने नहीं फलते थे। कल्पवृक्ष रस, वीर्य और विपाक से रहित हो गये। मनुष्य इस समय कच्चा अन्न खाते थे अथवा कोई कोई कल्पवृक्ष कहीं रह भी गया था, उसके फल खाते थे। उससे उन्हें नाना प्रकार के रोग होने

वन्य संस्कृति से कृषि-संस्कृति तक

लगे थे। अब शीत, आतप, वर्षा और महावायु आदि की भी बाधायें सताने लगी थीं।

ऐसे संकट के समय सब लोग मिलकर अपने कुलकर नाभिराज के पास गये और उन्हें अपनी कष्ट-गाथा सुनाकर जीवनोपाय पूछा। नाभिराज ने प्रजा को अपने ज्ञानी पुत्र ऋषभदेव के पास भेज दिया। सारी प्रजा ऋषभदेव के पास पहुंची और उन्हें अपनी सारी कठिनाइयाँ बताई और प्रार्थना की—हे देव ! हम भूख प्यास से व्याकुल हैं। हम लोगों की आजीविका निरुपद्रव हो सके, आप कृपा करके हमें ऐसा उपाय बताइये।

प्रजा के ऐसे दीन वचन सुनकर भगवान् दयार्द्र हो गये। उन्होंने मन में विचार किया—अब कल्पवृक्ष नष्ट हो गये हैं, भोगभूमि समाप्त हो गई है, कर्म भूमि प्रगट हुई है। वर्तमान में पूर्व और पश्चिम विदेह क्षेत्र में जो व्यवस्था प्रचलित है, यहाँ पर भी उसी व्यवस्था का प्रचलन श्रेयस्कर होगा और उसी व्यवस्था से यहाँ के मनुष्यों की आजीविका चल सकती है। ऐसा विचार कर भगवान ने प्रजा को आश्वासन दिया। उन्हें समझाया कि 'अब भोग-भूमि समाप्त हो गई है, कर्म-भूमि प्रारम्भ हो गई है। अतः अब तुम लोगों को आजीविका के लिए कर्म करना पड़ेगा, तभी तुम लोगों का निर्वाह हो सकेगा।'

दिगम्बर परम्परा के 'आदिपुराण' आदि ग्रन्थों में संक्षेप में बताया है कि भगवान ने प्रजा को असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प इन छह कर्मों का उपदेश दिया। तलवार आदि शस्त्र धारण कर सेवा करना असिकर्म कहलाता है। लिख पढ़ कर आजीविका करना मसि कर्म कहलाता है। जमीन को जोतना बोना कृषि कर्म कहलाता है। विभिन्न विद्याओं द्वारा आजीविका करना विद्या कर्म कहलाता है। व्यापार करना वाणिज्य है। और हस्त की कुशलता से जीविका करना शिल्प-कर्म कहलाता है।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के 'आवश्यक चूर्णि आदि ग्रन्थों में आजीविका के तात्कालिक उपाय का विस्तृत विवरण मिलता है जो भगवान ने उस समय प्रजा को बताया था। उन्होंने बिना बोये हुए धान्य को हाथ से मसल कर खाने का परामर्ष दिया। लोगों ने वैसे ही किया। किन्तु उससे अपच होने लगा। तब भगवान ने उन्हें जल में भिगोकर मुट्ठी तथा बगल में रख कर गर्म करके खाने की सलाह दी। किन्तु इससे भी अपच हो गया। तब भगवान ने लकड़ियों को रगड़कर अग्नि उत्पन्न की और अन्न को पकाने की विधि बताई।

एक दिन संयोगवश बांसों आदि की स्वतः रगड़ से जंगल में आग लग गई। हवा के संयोग से वह आग बढ़ने लगी। तब लोग ऋषभदेव के पास आये और उनसे इस नये संकट की बात बताई। सुनकर भगवान ने बताया कि आसपास की घास साफ कर दो तो आग नहीं बढ़ेगी। लोगों ने घास, पत्ते साफ कर दिये। इससे आग का बढ़ना रुक गया।

भगवान ने कहा कि इस आग में अन्न को पकाकर खाया जाता है। लोगों ने आग में अन्न डाल दिया। वह जल कर राख हो गया। वे पुनः भगवान के पास आये और बोले—आग हमारे अन्न को खा गई, हम क्या खावें। तब भगवान ने आग के ऊपर मिट्टी के पात्र में अन्न रखकर पकाने की विधि बताई।

इसके पश्चात् भगवान ने धान्य बोना, पानी देना, नराना और पकने पर काटकर अन्न निकालना, पीसना, गूंथना और पकाना यह सारी विधि सिखाई। इस प्रकार वन्य जीवन से नागरिक सभ्यता तक आने के लिए भगवान ने कृषि कर्म को प्राथमिक उपाय बताया। इसका अर्थ यह है कि आदि मानव ने नागरिक जीवन में दीक्षा लेने के लिए सर्व प्रथम कृषि को अपने जीवनोपाय के रूप में स्वीकार किया और आज सभ्यता का कितना ही विकास क्यों न हो गया हो, आज भी कृषि ही उदर-पूर्ति का एक मात्र साधन है।

ऋषभदेव ने प्रजा के जीवन-धारण की सर्व प्रमुख समस्या का समाधान किया था, इसलिए कृतज्ञ प्रजा उन्हें प्रजापति कहने लगी। इसी सम्बन्ध में आचार्य समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में कहा है—

प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषूः शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।

भगवान ने उक्त छह कर्मों के आधार पर तीन वर्णों की स्थापना की। इन तीन वर्णों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे। उन्होंने इन वर्णों का विभाजन कर्म और व्यवसाय के आधार पर किया था, जिससे सब मनुष्यों को अपनी-अपनी योग्यतानुसार काम और व्यवसाय मिल सके और सभी उन कर्मों के आधार पर अपनी जीविका उपार्जन कर सकें। अपने वर्ण की निश्चित आजीविका को छोड़कर कोई दूसरी

वर्ण व्यवस्था

आजीविका नहीं करता था, इसलिए वर्ण और कार्य दोनों में संकरता नहीं आने पाती थी। उस समय संसार में जितने पापरहित आजीविका के उपाय थे, वे सब भगवान ऋषभदेव की सम्मति से ही प्रवृत्त हुए थे।

जो शस्त्र धारण कर आजीविका करते थे, जो क्षतत्राण अर्थात् विपत्ति से रक्षा करते थे, वे क्षत्रिय कहलाये। जो खेती, व्यापार तथा पशुपालन के द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे, वे वैश्य कहलाते थे। जो शिल्प द्वारा आजीविका करते थे तथा दूसरों की सेवा करते थे, वे शूद्र कहे जाते थे।

इन तीनों वर्ण-धर्मों में क्षात्र धर्म सर्व प्रथम बताया था। इसीलिए महाभारत के शान्ति पर्व (१२।६४।२०) में ऋषभदेव को, जिन्हें आदिदेव भी कहा जाता है, क्षात्रधर्म का आदि प्रवर्तक स्वीकार किया है—

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्तः।
पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥

अर्थात् आदिदेव से क्षात्र धर्म प्रवृत्त हुआ और अन्य शेष धर्म बाद में प्रवृत्त हुए।

वायुपुराण, पूर्वार्ध, ३३।५०-५१ में ऋषभदेव को नरेशों में श्रेष्ठ और सम्पूर्ण क्षत्रियों का पूर्वज कहा है—

"ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥"

इसी बात को ब्रह्माण्ड पुराण २।१४ में स्वीकार किया गया है।

युगलिया काल में लोग छुट पुट रूप में इधर उधर बनों में रहा करते थे। अशन वसन भूषण व्यंजन सब कुछ उन्हें वृक्षों से ही प्राप्त होता था। फिर ऐसा काल आया कि वृक्षों की संख्या घटने लगी।

कबीलों से नागर सभ्यता की ओर

जहां वृक्ष शेष रह गये, वहां लोग कबीले बनाकर रहने लगे। वृक्षों की अल्पता के कारण जब वृक्षों के लिए सीमांकन किया गया, तब पुरुष और स्त्रियों ने अपने अपने परिकर बना लिए। भविष्य के कबीलों का यह आदिम रूप था।

भगवान ने विचार करके इन्द्र की सहायता से ग्राम, नगर, खेट, खर्वट, मडम्ब, पत्तन, द्रोणमुख, संवाह आदि की रचना की। उन्होंने ५२ जनपदों की रचना की। उनके नाम इस प्रकार हैं—

सुकोशल, अवन्ती, पुण्ड्र, उण्ड्र, अश्मक, रम्यक, कुरु, काशी, कलिंग, अंग, वंग, सुह्य, समुद्रक, काश्मीर, उशीनर, आनर्त, वत्स, पंचाल, मालव, दशार्ण, कच्छ, मगध, विदर्भ, कुरुजांगल, करहाट, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, आभीर, कोंकण, वनवास, आंध्र, कर्णाट, कोशल, चोल, केरल, दारु, अभिसार, सौवीर, शूरसेन, अपरान्तक, विदेह, सिन्धु, गान्धार, यवन, चेदि, पल्लव, काम्बोज, आरट्ट, वाल्हीक, तुरुष्क, शक और केकय।

इन जनपदों का नगरों, ग्रामों आदि में विभाग किया। उनकी परिभाषायें निश्चित की। जिसमें घरों के चारों ओर बाड़ हों, जिसमें बगीचे और तालाब हों तथा जिसमें अधिकतर शूद्र और किसान रहते हों; वह गांव कहलाता था। जिसमें सौ घर हों वह छोटा गांव कहलाता था। छोटे गांवों की सीमा एक कोस की होती थी। जिसमें पांच सौ घर हों और किसान धन संपन्न हों, वह बड़ा गांव कहलाता था। ऐसे गांवों की सीमा दो कोस की रक्खी गई थी। नदी, पहाड़, गुफा, श्मशान अथवा पेड़, वन, पुल आदि से गांवों की सीमा निर्धारित की जाती थी।

जिसमें परिखा, गोपुर, अटारी, कोट, और प्राकार हों, जिसमें अनेक भवन बने हुए हों, जिसमें प्रधान पुरुष रहते हों, वह पुर या नगर कहलाता था।

जो नगर नदी और पर्वत से घिरा हुआ हो, उसे खेट कहते थे।

जो केवल पर्वत से घिरा हुआ हो, उसे खर्वट कहा जाता था।

जो पांच सौ गांवों से घिरा हुआ हो, उसे मडम्ब पुकारा जाता था।

जो समुद्र के किनारे बसा हुआ हो अथवा जहाँ नावों से आवागमन होता हो, उसे पत्तन कहा जाता था।

जो किसी नदी के किनारे बसा हुआ हो, उसे द्रोणमुख कहते थे।

जहां मस्तक के बराबर ऊंचे धान्य के ढेर लगे हों, उसे संवाह कहते थे।

एक राजधानी में आठ सौ गांव होते थे। एक द्रोणमुख में चार सौ गांव होते थे। एक खर्वट में दो सौ गांव

होते थे। दस गांवों के बीच एक बड़ा गांव होता था। वहां मण्डी होती थी। जहां अधिकतर अहीर रहते थे, उसे घोष कहते थे। जहां सोने, चांदी आदि की खानें होती थी, वह आकर कहलाता था।

इन्द्र ने भगवान की आज्ञा से इधर उधर विखरे हुए लोगों को इन गांवों आदि में लाकर बसाया। इन गांवों आदि की संरचना में इन्द्र का बड़ा भारी योगदान था, अतः तभी से उसका नाम पुरन्दर पड़ गया।

वृक्षों का आवास छोड़ कर मानव ने प्रथम बार भवनों में अपने चरण रक्खे थे। यह काल वन्य जीवन की समाप्ति और नागरिक सभ्यता का प्रारम्भिक काल था। आदिब्रह्मा ऋषभदेव ने यह नवीन सृष्टि की रचना की थी। इसे ही कृतयुग कहा गया है। इस कृतयुग का प्रारम्भ आषाढ़ कृष्णा प्रतिपदा को हुआ था। तब से भगवान वृषभदेव को लोग ब्रह्मा, प्रजापति आदि नामों से पुकारने लगे।

विवाह व्यवस्था

युगलिया काल में प्रकृति में एक अद्भुत बात देखी जाती थी कि स्त्री के युगल सन्तान उत्पन्न होती थी। इस युगल में एक कन्या होती थी और दूसरा पुत्र होता था। ये सहजात भाई-बहन ही बड़े होने पर पति-पत्नी के रूप में आचरण करने लगते थे। उस समय समाज में विवाह नाम की कोई प्रथा नहीं थी। विवाह का प्रारम्भ तो ऋषभदेव का नन्दा- सुनन्दा के साथ हुए विवाह से हुआ था। किन्तु साधारण लोगों ने इसे अपने श्रद्धास्पद कुमार ऋषभदेव का एक असाधारण कार्य समझा। उनके कार्यों की नकल या अनुकरण करने की भावना तक तत्कालीन समाज में जागृत नहीं हुई थी। उसका कारण यह था कि तत्कालीन मनुष्य समाज अपने हर सुख-दुःख, हर समस्या में ऋषभदेव की मुखापेक्षी था। जब तक ऋषभदेव न कहें,तब तक परम्परा विरुद्ध कोई कार्य करने का साहस और बुद्धि किसी में नहीं थी। उन्हे यह विश्वास अवश्य था कि हमारे हित में जो भी बात होगी, ऋषभदेव उसे अवश्य बतायेंगे।

जब कुमार ऋषभदेव ने षट् कर्मों का प्रचलन कर दिया, उन कर्मों के आधार पर समाज-रचना और वर्ण-व्यवस्था की स्थापना कर दी और नगरों-गांवों का निर्माण कर नागर जीवन का प्रारम्भ कर दिया, तब उन्होंने समाज-व्यवस्था और विवाह-व्यवस्था की ओर अपना ध्यान दिया। उन्होंने विवाह सम्बन्धी नियम इस दृष्टिकोण से बनाये, जिससे वर्ण-व्यवस्था में संकरता न आजाय और एक अनुशासित समाज की व्यवस्था की जा सके। वर्ण व्यवस्था का उद्देश्य समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिये कार्य सुलभ करना और उन्नति के समुचित अवसर प्रदान करना था तथा समाज की सभी आवश्यकतायें जुटाना था। यदि लोग अपना कार्य छोड़कर दूसरे वर्ण का कार्य करने लगें तो उसे दण्डनीय अपराध घोषित किया गया क्योंकि इससे समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में बाधा आती और इस प्रकार वस्तुओं की कमी हो सकती थी। तत्कालीन समाज की संरचना को सुस्थिर रखने के लिये अपने अपने वर्ण के दायित्वों को पूर्ण करना आवश्यक था। इससे अधिकार की अपेक्षा कर्तव्य को महत्व दिया गया था।

वर्ण व्यवस्था को सुरक्षित रखने के लिये भगवान ने विवाह की व्यवस्था की और उसके लिये आवश्यक नियम निर्धारित किये। इन नियमों के अनुसार शूद्र शूद्र-कन्या के साथ ही विवाह कर सकता था। वह क्षत्रिय और वैश्य कन्या के साथ विवाह नहीं कर सकता था। इसी प्रकार वैश्य वैश्य-कन्या तथा शूद्र-कन्या के साथ विवाह करने का अधिकारी घोषित किया गया। क्षत्रिय क्षत्रिय-कन्या, वैश्य-कन्या और शूद्र-कन्या के साथ विवाह कर सकता था। बाद में जब चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की, तब उसके लिये विवाह सम्बन्धी यह नियम बनाया कि ब्राह्मण ब्राह्मण कन्या के साथ ही विवाह करे, परन्तु कभी किसी देश में वह क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कन्या के साथ भी विवाह कर सकता है। उच्च वर्ण वालों को अपने से निम्न वर्ण की कन्या के साथ विवाह करने का तो अधिकार दिया गया, किन्तु निम्न वर्ण वालों को उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करने की अनुमति नहीं दी गई।

इन विवाह सम्बन्धी नियमों की भाषा और उनकी भावना को यदि हम गहराई से समझने का प्रयत्न करें तो हमें यह स्वीकार करना होगा कि विवाह के विषय में पुरुष और स्त्री को समान अधिकार नहीं दिये गये थे। इन नियमों की रचना के कुछ काल पश्चात् ही पुरुषों के बहु विवाह प्रचलित हो गये थे, किन्तु स्त्रियों को बहु विवाह करने की न कभी अनुमति मिल सकी और न कभी आर्य लोगों में इसका प्रचलन ही हुआ। वस्तुतः इस प्रश्न को आर्य लोगों ने कभी स्त्री-पुरुषों के समानाधिकार का प्रश्न नहीं बनाया, किन्तु इसके मूल में पिण्डशुद्धि अर्थात् रक्त-शुद्धि की दृष्टि प्रधान रही। यदि एक पुरुष के अनेक स्त्रियाँ हों तो उनकी सन्तानों की रक्त-शुद्धि में

कोई बाधा नहीं ग्रा सकती। इसके विपरीत यदि एक स्त्री के अनेक पति हों तो पिण्डशुद्धि नहीं हो सकती, बल्कि जो सन्तान होगी, वह संकर रक्त की होगी। इसी प्रकार पर स्त्री-त्याग की अपनी धार्मिक महत्ता तो है ही, किन्तु उसकी अपनी सामाजिक उपयोगिता भी है। और वह उपयोगिता है रक्त-शुद्धि की। विवाह सामाजिक संरचना को अनुशासित, नियमित और संयमित रखने का महत्वपूर्ण उपाय है। विवाह एक नैतिक बन्धन है। इस बन्धन को स्वीकार कर लेने पर पुरुष-स्त्री, पति-पत्नी समाज के स्वरूप और शुद्धि को अक्षुण्ण रखने के दायित्व को स्वेच्छा से ओढ़ लेते हैं। संभवतः इसी उद्देश्य से भगवान ने विवाह प्रथा का आविष्कार किया था।

भोगभूमि के मनुष्यों की आवश्यकतायें सीमित थीं, सब समान थे। आवश्यकता पूर्ति के साधन प्रचुर थे। अतः आवश्यकताओं की पूर्ति सुगमता से हो जाती थी। किसी के मन में कोई महत्वाकांक्षा नहीं थी। इसलिये मनुष्यों में अपराध-वृत्ति ने जन्म नहीं लिया था। कर्म-भूमि प्रारम्भ होने पर आवश्यकता-पूर्ति के साधन सुलभ नहीं रहे, बल्कि अपनी बुद्धि और पुरुषार्थ के द्वारा उन साधनों को जुटाना पड़ता था। बुद्धि और पुरुषार्थ सबके समान नहीं थे। अतः स्वभावतः असमानता बढ़ने लगी। एक के पास आवश्यकता के साधन प्रचुर परिमाण में संग्रह होने लगे और दूसरे को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई अनुभव होती थी। इस सामाजिक असमानता ने जहां परस्पर ईर्ष्या को जन्म दिया, वहां महत्वाकांक्षा भी जागृत हुई। इससे मनुष्यों में अपराध वृत्ति भी जागृत हुई। कुलकरों ने 'हा मा, धिक् रूप जिस दण्ड व्यवस्था को स्थापित करके समाज को प्रभावशाली ढग से नियन्त्रित रखा था, वह व्यवस्था कर्म भूमि में आकर प्रभावहीन सिद्ध होने लगी।

दण्ड-व्यवस्था

भगवान ने विचार किया कि यदि अपराध-वृत्ति को नियन्त्रित रखने के लिये दण्ड-व्यवस्था स्थापित नहीं की गई तो समाज में मत्स्य न्याय चल पड़ेगा अर्थात् जिस प्रकार बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है, उसी प्रकार दुष्ट बलवान पुरुष निर्बल पुरुष को निगल जायगा। ऐसी दशा में समाज में जिसकी लाठी में जोर होगा, वही भैंस हांक ले जायगा। इससे समाज में अव्यवस्था, कलह, शोषण और अत्याचार पनपेंगे। अतः दण्ड-व्यवस्था आवश्यक है। दण्ड के भय से लोग कुमार्ग की ओर नहीं दौड़ेंगे। किन्तु दण्ड देने का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को तो नहीं दिया जा सकता, दण्ड केवल राजा ही दे सकता है। अतः राजा की नियुक्ति करनी चाहिये।

इधर भगवान का यह चिन्तन चल रहा था, उधर प्रजा अपराध बढ़ते जाने से परेशान थी। तब एक दिन प्रजाजन इकट्ठे होकर भगवान के पास आये और उन्हें अपनी कष्ट-गाथा सुनाई। भगवान ने कहा—अपराध दण्ड व्यवस्था से ही नियन्त्रित हो सकते हैं और दण्ड देने का अधिकार केवल राजा को ही है।

प्रजाजन बोले—देव! हम तो आपको ही अपना राजा मानते हैं। आप यह पद स्वीकार कर लीजिये।

भगवान सुनकर मौन हो गये। पिता नाभिराज के होते हुए वे स्वयं कैसे राजपद स्वीकार कर सकते थे। उन्होंने अपनी कठिनाई प्रजाजनों को बताई तो वे लोग नाभिराज के पास गये और उनकी स्वीकृति लेकर फिर भगवान के पास आये। तब भगवान ने भी अपनी स्वीकृति दे दी।

उस शुभ अवसर के अनुकूल अयोध्यावासियों ने महान उत्सव किया। अयोध्या पुरी खूब सजाई गई। मकानों पर पताकायें बांधी गईं। राजमन्दिर में आनन्द भेरियां बज रही थीं। वारांगनायें मंगल-गान गा रही थीं। मिट्टी की एक बहुत बड़ी वेदी बनाई गई। उसके ऊपर आनन्द-मण्डप बनाया गया। उसमें रत्न-चूर्ण से विचित्र चौक पूरे गये। पुष्प विकीर्ण किये गये। मण्डप में रेशमी वस्त्रों के चन्दोवे ताने गये। उनमें मोतियों की झालरें टांगी गई। सधवा स्त्रियाँ मंगल द्रव्य लिये हुए मार्ग में खड़ी थीं। सेवक स्नान और प्रसाधन की सामग्री लिये हुए खड़े थे। वेदी में एक सिंहासन के ऊपर पूर्वदिशा की ओर मुख करके भगवान को बैठाया। उस समय इन्द्र भी देवताओं के साथ इस आनन्दोत्सव में सम्मिलित होने आया। गन्धर्व, किन्नर और देवियां भगवान की स्तुति में मधुर गान कर रहे थे। मनुष्य अनेक नदियों का जल लाये। देवलोग भी पद्म सरोवर, नन्दोत्तरा वापिका, लवण समुद्र, क्षीर समुद्र, नन्दीश्वर समुद्र, और स्वयंभूरमण समुद्र का पवित्र जल लाये। मनुष्यों ने भगवान का अभिषेक किया। इन्द्रों और देवों ने भी उनका

भगवान का राज्याभिषेक

भगवान ने दीक्षा ग्रहण करने से पहले अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक किया और उन्हें अयोध्या का राज्य प्रदान किया। और युवराज पद पर राजकुमार बाहुबली को अभिषिक्त किया। इन दोनों पुत्रों के अतिरिक्त शेष पुत्रों को विभिन्न देशों के राज्य दिये। प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के उल्लेख देखने में नहीं आये कि किस राजकुमार को किस देश का राज्य दिया गया। संभवतः प्राचीन साहित्य लेखकों ने इस बात को विशेष महत्व नहीं दिया हो। किन्तु जिन देशों के राज्य उन राजकुमारों को दिये गये, उनके नाम अवश्य उपलब्ध होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

पुत्रों को राज्य-विभाजन

कुरुजांगल, पंचाल, सूरसेन, पटच्चर, तुलिंग, काशी, कोशल, मद्रकार, वृकार्थक, सोल्व, आवृष्ट, त्रिगर्त, कुशाग्र, मत्स्य, कुणीयान, कौशल्य और मोक ये मध्य देश थे।

वाल्हीक, आत्रेय, काम्बोज, यवन, आभीर, मद्रक, क्वाथतोय, शूर, वालवान, कैकय, गान्धार, सिन्धु, सौवीर, भारद्वाज, दशेरुक, प्रास्थाल और तीर्णकर्ण ये देश उत्तर की ओर स्थित थे।

खड्ग, अंगारक, पौण्ड्र, मल्ल, प्रवक, मस्तक, प्राद्योतिष, वंग, मगध, मानवर्तिक, मलद और भार्गव ये देश पूर्व दिशा में स्थित थे।

वाणमुक्त, वैदर्भ, माणव, सककापिर, मूलक, अश्मक, दाण्डीक, कलिंग, आंसिक, कुन्तल, नवराष्ट्र, माहिषक, पुरुष और भोगवर्धन ये दक्षिण दिशा के देश थे।

माल्य, कल्लीवनोपान्त, दुर्ग, सुर्पार, कर्बुक, काक्षि, नासारिक, अगर्त, सारस्वत, तापस, महिम, भरुकच्छ,

सुराष्ट्र और नर्मद ये सब पश्चिम दिशा में स्थित थे।

दशार्णक, किष्कन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन और विनिहात्र ये देश विन्ध्याचल के ऊपर स्थित थे।

भद्र, वत्स, विदेह, कुश, भंग, सैतव, और वज्रखण्डिक ये देश मध्य देश के आश्रित थे।

भगवान का अभिनिष्क्रमण

भगवान ने पुत्रों को राज्य देकर अभिनिष्क्रमण की तैयारी की। देवों ने क्षीरसागर का जल लाकर भगवान का अभिषेक किया, उत्तम गन्ध से लेपन किया, दिव्य वस्त्राभूषण और मालाओं से भगवान का शृंगार किया। उस समय अयोध्या नगरी में दो महान हर्षोत्सव हो रहे थे—भगवान का दीक्षा कल्याणक और भरत-बाहुबली का राज्याभिषेक। एक ओर देवशिल्पी भगवान को वन में ले जाने के लिए सुदर्शना पालकी का निर्माण कर रहे थे, इन्द्राणी स्वयं रत्नचूर्ण से चौक पूर रही थी। दिक्कुमारियाँ मंगल द्रव्य सजाए खड़ी थीं, देव लोग भगवान के चरणो में पुष्पांजलि क्षेपण कर रहे थे, अप्सराएं नृत्य कर रही थीं, देव नाना प्रकार के बाजे बजा रहे थे। दूसरी ओर शिल्पी मण्डप बनाने में जुटे हुए थे, माता नन्दा, सुनन्दा स्वयं सुन्दर चौक पूर रही थीं, सौभाग्यवती स्त्रियाँ मंगल कलश और मंगल द्रव्य लिए हुए खड़ी थीं, पुरवासी आशीर्वाद और मंगल कामना के शेषाक्षत फेंक रहे थे, वारांगनायें नृत्य कर रही थीं, अन्तःपुर की स्त्रियाँ मंगलगान कर रही थीं। पौरजन दोनों ही उत्सवों में हर्ष और मोद से भाग लेरहे थे।

भगवान पुत्रों को राज्य सौंपकर निराकुल हो गए थे। अतः अपने माता-पिता मरुदेवी और नाभिराज तथा अन्य परिवारीजनों से पूछ कर सुदर्शना पालकी की ओर बढ़े। पालकी में चढ़ते समय भगवान को इन्द्र ने हाथ का सहारा दिया। भगवान जब शिविका में आरूढ़ हो गए, तब उसे उठाने के लिए इन्द्र आगे बढ़े। उधर मनुष्यों ने भी पालकी को उठाना चाहा। इस विषय पर देव और मनुष्यों में एक रोचक विवाद उत्पन्न हो गया। विवाद था अधिकार के प्रश्न पर। पालकी को कौन पहले उठावे—देव या मनुष्य ? देवों का पक्ष था—भगवान जब गर्भ में आए, उससे भी छह माह पूर्व से हम लोग भगवान की सेवा में तत्पर हैं। जन्म के समय हम भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले गए। वहां हमने भगवान का अभिषेक किया। भगवान के अशन, वसन, अलंकार हम ही जुटाते रहे। तब इस अवसर पर भगवान की सेवा का प्रथम अवसर पाने का अधिकार हमारा है। मनुष्यों का तर्क था कि तुम लोगों को हमने भगवान की सेवा का सदा अवसर दिया, किन्तु आखिर भगवान हमारी ही जाति मनुष्य-जाति के हैं ! उनकी सेवा के इस अवसर को हम तुम्हें नहीं दे सकते।

बात भगवान तक पहुँची। देव और मनुष्यों ने भगवान के पास जाकर फरियाद की और भगवान से निर्णय मांगा। सुनकर तीन ज्ञान के धारी भगवान मुस्कराए और बोले—'तुम दोनों ही अपने-अपने स्थान पर सही कह रहे हो, किन्तु मेरी पालकी को उठाने का प्रथम अधिकार उनको है जो मेरे समान संयम धारण कर सकें।'

भगवान के न्याय में किसी को सन्देह नहीं था। दोनों ने सिर झुकाकर भगवान का निर्णय मान्य किया। देव लोग एक ओर हट गए। राजा लोगों ने संयम धारण करने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने ही सर्व प्रथम पालकी को उठाया और सात पग ले गए। फिर विद्याधर लोगों ने सात पग तक पालकी उठाई। इसके पश्चात् इन्द्रों और देवों ने पालकी को उठाया और आनन्दपूर्वक ले चले।

इस मंगल अवसर पर सुगन्धित शीतल पवन बह रहा था। देव लोग आकाश से सुगन्धित पुष्पों की वर्षा कर रहे थे और दुन्दुभी नाद कर रहे थे। इन्द्र दोनों ओर खड़े होकर चमर ढोल रहे थे। इन्द्र की आज्ञा से देव लोग घोषणा करते चल रहे थे—'जगद्गुरु भगवान ऋषभनाथ कर्म-शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने अभिनिष्क्रमण कर रहे हैं।' अप्सरायें नृत्य कर रही थीं। किन्नरियां गीत गारही थीं। जयजयकार और वाद्योंसे तुमुल कोलाहल होरहा था।

भगवान की दीक्षा

भगवान की पालकी के पीछे यशस्वती और सुनन्दा आदि रानियाँ राजसी परिवेश को छोड़कर सादा वेष में चल रही थीं। महाराज नाभिराज मरुदेवी के साथ भगवान का तप कल्याणक उत्सव देखने के लिए चल रहे थे। भरत आदि राजा और भाई, परिजन और पुरजन भी पूजा की सामग्री लेकर भगवान के पीछे-पीछे चल रहे थे। कुछ दूर जाकर वृद्ध जनों ने रानियों और स्त्रियों को आगे जाने से रोक दिया और वे शोकाकुल हृदय से वहाँ से नगर को लौट गई। किन्तु यशस्वती, सुनन्दा और

मरुदेवी भगवान के पीछे-पीछे चलती रही।

भगवान इस प्रकार सिद्धार्थक वन में पहुँचे। देवों ने उस वन में एक वृक्ष के नीचे चन्द्रकान्त मणि की एक शिला पहले से स्थापित कर रक्खी थी। उस शिला के ऊपर वस्त्रों का मण्डप बनाया गया था। इन्द्राणी ने रत्नों के चूर्ण से चौक पूरा था। घिसे हुए चन्दन के छींटे लगे थे। मण्डप के ऊपर बहुरंगी पताकायें फहरा रही थीं। वृक्षों की झुकी हुई डालियों से सुगन्धित पुष्प विकीर्ण हो रहे थे। शिला के चारों ओर सुगन्धित धूप का धूम्र उड़ रहा था।

भगवान वहां आकर पालकी से उतरे और शिला पर विराजमान हो गए। तब भगवान ने प्रजाजनों से कहा—'भव्यजनो ! तुम लोग शोक का परित्याग करो। प्रत्येक संयोग का वियोग होता है। जब इस शरीर का भी एक दिन वियोग होना है तो अन्य वस्तुओं की तो बात ही क्या है। मैंने आप लोगों की रक्षा के लिए अत्यन्त चतुर भरत को नियुक्त किया है। आप लोग निरन्तर अपने धर्म का पालन करते हुए उनकी सेवा करना।'

यह कहकर भगवान ने माता-पिता, बन्धुजन तथा समागत जनों से पूछकर अन्तरंग, बहिरंग, दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग किया। उन्होंने वस्त्राभूषण आदि उतारकर एक ओर फेंक दिए। फिर पूर्व दिशा की ओर मुख करके पद्मासन से विराजमान होकर 'नमः सिद्धेभ्यः' कहा और पंच मुष्टियों से केश लुंचन किया। इस प्रकार भगवान ने चैत्र कृष्णा नवमी के सायंकाल के समय उत्तराषाढ़ नक्षत्र में जिन दीक्षा धारण करली। दीक्षा लेते ही भगवान को मनःपर्ययज्ञान की प्राप्ति हो गई।

'ये केश भगवान के सिर पर चिरकाल तक रहे हैं अतः पवित्र हैं' यह विचार कर इन्द्र ने एक रत्न मंजूषा में उन केशों को रख लिया और उस मंजूषा को एक श्वेत वस्त्र में बांध लिया। 'ये केश भगवान के मस्तक के स्पर्श से श्रेष्ठ हैं अतः इन्हे ऐसे स्थान पर रखना चाहिए, जहां इनके सम्मान में कोई बाधा न आवे' यह विचार कर इन्द्र बड़े आदर से उन्हे ले गया और पवित्र क्षीरसागर में उन्हें प्रवाहित कर दिया। भगवान ने जिन वस्त्रों, आभरणों और माला आदि का त्याग किया था, वे सब वस्तुएं भी भगवान के स्पर्श से पवित्र थीं, अतः देवों ने उनकी भी पूजा की।

इस कल्प काल में यह सर्व प्रथम जिन दीक्षा थी।

भगवान ने जिन-दीक्षा ली, वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो गये। उस समय मुनि-धर्म के सम्बन्ध में लोगों को कोई ज्ञान नहीं था। किन्तु स्वामी ने दीक्षा ली है, अतः हमें भी उनका अनुकरण करना चाहिए, यह विचार कर इक्ष्वाकु, कुरु, उग्र और भोजवंशी चार हजार स्वामिभक्त राजाओं ने भी नग्न दीक्षा ले ली। वे लोग भगवान के उच्च आदर्श और उद्देश्य से अनभिज्ञ थे, अतः उनमें से कुछ भगवान के स्नेह से, कुछ मोह से और कुछ लोग भय से भगवान को दीक्षित हुआ देखकर दीक्षित हो गये।

इन्द्रों और देवों ने भगवान की स्तुति की। इन्द्र भगवान के उस वीतराग रूप को देखता रह गया। तब उसने सहस्र नेत्र धारण कर देखना प्रारम्भ किया। किन्तु क्या उस त्रिलोक सुन्दर कमनीय रूप को देखकर किसी की तृप्ति हुई है ! इसीलिए तो आचार्य मानतुंग ने कहा है—'दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीयं। नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षुः ।।' आचार्य ने यह बात केवल भक्तिवश ही नही कही है कि 'प्रभो ! जिन शान्तिस्वभावी परमाणुओं से आपका शरीर निर्मित हुआ है, संसार में ऐसे परमाणु बस इतने ही थे क्योंकि आपके समान रूप अन्यत्र नहीं मिलता।' आचार्य ने जो कहा, वह यथार्थ का ही कथन है।

इसके पश्चात् इन्द्र और देव अपने-अपने स्थान को चले गये। तब महाराज भरत ने अष्ट-द्रव्यों से भगवान का पूजन किया, भगवान की स्तुति की। और सूर्यास्त होने पर भी अन्य जनों के साथ अपने स्थान को लौट गये।

प्रयाग तीर्थ

भगवान ने जहां दीक्षा ली थी, वह स्थान 'प्रयाग' नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस नामकरण का हेतु देते हुए आचार्य जिनसेन ने बताया है कि—

एवमुक्त्वा प्रजा यत्र प्रजापतिमपूजयन्।
प्रदेशः स प्रजागाख्यो यतः पूजार्थ योगतः ।। हरिवंश पुराण ९।९६

अर्थात् भगवान ने जब भरत को प्रजा का रक्षक नियुक्त करने की बात कही तो प्रजा ने भगवान की पूजा की। प्रजा ने जिस स्थान पर भगवान की पूजा की, वह स्थान पूजा के कारण 'प्रजाग' इस नाम को प्राप्त हुआ।

इसी प्रकार आचार्य रविषेण ने भी 'प्रयाग' नाम की प्रसिद्धि का कारण बताते हुए निम्न भांति कहा है—

प्रजाग इति देशोऽसौ प्रजाभ्योऽस्मिन् गतो यतः ।
प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तितः ॥ पद्मपुराण ३।२८१

—भगवान ऋषभ देव प्रजा अर्थात् जन समूह से दूर हो उस उद्यान में पहुंचे थे, इसलिए उस स्थान का नाम 'प्रजाग' प्रसिद्ध हो गया अथवा भगवान ने उस स्थान पर बहुत बड़ा याग अर्थात् त्याग किया था, इसलिए उस स्थान का नाम प्रयाग भी प्रसिद्ध हो गया।

इस प्रकार भगवान के महान त्याग का स्थान होने से जनता उस स्थान को प्रयाग कह कर पूजने लगी और वह एक परम पावन तीर्थ क्षेत्र बन गया।

तपोभ्रष्ट मुनिवेशी मरीचि का विद्रोह

भगवान शरीर से भी ममत्व का परित्याग करके और मन-वचन-काय को एकाग्र करके छह माह के उपवास की प्रतिज्ञा लेकर कायोत्सर्ग आसन से विराजमान हो गए। उस आसन से खड़े हुए भगवान का तेज-पुंज चारों ओर विकीर्ण हो रहा था। खड़े हुए, हाथ नीचे को लटके हुए, अर्धोन्मीलित नासाग्र दृष्टि, दोनों पैरों के अग्रभाग में बारह अंगुल का तथा एड़ियों में चार अंगुल का अंतर था। भगवान की देखा देखी वे मुनिवेषी चार हजार राजा कायोत्सर्ग आसन में खड़े हो गए।

भगवान तो निश्चल, निष्पन्द और अनासक्त भाव से ध्यानलीन थे। किन्तु वे कच्छ, महाकच्छ आदि राजा लोग एक-दो दिन बाद ही भूख प्यास से व्याकुल होने लगे। उन्हें खड़े रहने में भी कष्ट होने लगा। व्याकुल होकर वे बार बार इधर उधर इस आशा में देखने लगे कि हमारे स्त्री-पुत्र या सेवक भोजन लेकर आने वाले होंगे। किन्तु कोई भी भोजन लेकर नहीं आया। उन्हें यह भी आशा थी कि भगवान २-४ दिन बाद स्वयं भी भोजन करेंगे और हमें भी भोजन करायेंगे। किन्तु यह आशा भी पूर्ण नहीं हुई। न जाने किस कार्य के उद्देश्य से भगवान इस प्रकार खड़े हुए हैं। राजाओं के जो सन्धि विग्रह आदि छह गुण होते हैं, उनमें खड़े रहना भी कोई गुण है, ऐसा तो हमने कभी नहीं पढ़ा। ऐसा लगता है, भगवान तो निराहार रहकर प्राण छोड़ने के लिए उत्सुक हैं, किन्तु हम तो इस प्राणघाती तप से आजिज आ गये। इसलिए भगवान जब तक अपना यह ध्यान समाप्त नहीं करते, तब तक हम लोग इस वन में ही उत्पन्न होने वाले कन्द मूल फल खाकर अपने प्राण धारण करेंगे।

इस प्रकार तथाकथित मुनियों में अनेक लोग भगवान के चारों ओर एकत्रित हो गये और यह आशा करने लगे कि भगवान हमारी दशा को देखकर हम पर दया करेंगे। अगर हम अभी भगवान को छोड़कर अपने घर जाते हैं तो महाराज भरत हम पर कुपित होंगे। अगर हम भगवान के समान निराहार रहते हैं तो हमारे प्राण चले जायेंगे। बेचारे बड़े संकट में थे, क्या करें, कुछ समझ नहीं पड़ता था।

ऐसी स्थिति में कुछ लोग भगवान से कहकर और कुछ लोग बिना कहे ही वहाँ से अन्यत्र चले गये और तालाबों का जल पीने लगे, कन्द मूल फल खाने लगे। ऐसा करते हुए देखकर वन देवता ने उन्हें समझाया—यह दिगम्बर मुनि-वेष अत्यन्त पवित्र है। इस वेष को लांछित मत करो। अपने हाथों से फल मत तोड़ो, नदी-सरोवर में से जल मत पीओ।

वनदेवता के द्वारा इस प्रकार भर्त्सना करने पर उन्हें दिगम्बर वेष में रहते हुए मुनि धर्म के विरुद्ध कोई कार्य करने का साहस नहीं हुआ। अतः कुछ लोग वल्कल पहनने लगे, किन्हीं ने लंगोटी धारण करके भस्म लगा ली, कोई जटाधारी बन गये, कुछ एकदण्डी और त्रिदण्डी बन गये। और झोंपड़ी बनाकर वहीं वन में रहने लगे। वे ऋषभदेव को ही अपना भगवान मानते थे और जल, फल-फूलों से उनकी पूजा करते थे।

इन भ्रष्ट मुनियों में कच्छ, महाकच्छ और मरीचि (भरत के पुत्र) ने सबसे अधिक विद्रोह का झण्डा उठाया। मरीचि ने तो एक स्वतन्त्र धर्म की ही घोषणा कर दी। उसने भगवान के विरोध में नाना मिथ्या मान्यताओं की कल्पना की और उनका प्रचार किया।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि भगवान ने सत्य धर्म की देशना भी नहीं दी, उससे पूर्व ही उनके ही पौत्र ने संसार में मिथ्या धर्म का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। उन भ्रष्ट तपस्वियों में से अनेक लोग मरीचि के परिकर में आजुड़े। सबके मन में भगवान ऋषभदेव के प्रति हार्दिक श्रद्धा थी, किन्तु सब अनजाने ही, परिस्थितियों से बाध्य होकर भगवान के विरुद्ध विद्रोह में सम्मिलित हो गये।

७. भगवान मुनि-दशा में

मुनि अवस्था में भगवान ने कठोर साधना का अवलम्बन लिया। उनका अधिकांश समय ध्यान में व्यतीत होता था। वे अट्ठाईस मूल गुणों का दृढ़तापूर्वक पालन करते थे। अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत, अपरिग्रह महाव्रत ये पंच महाव्रत, ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, उत्सर्ग समिति ये पांच समितियां, स्पर्शनेन्द्रिय निरोध, रसनेन्द्रिय निरोध घ्राणेन्द्रिय निरोध, चक्षु इन्द्रिय निरोध, कर्णेन्द्रिय निरोध ये पंचेन्द्रिय निरोध, सामायिक, स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक, केशलोंच, भूमिशयन, अदन्तधावन, नग्नत्व, अस्नान, खड़े होकर भोजन करना और एक बार ही दिन में भोजन करना ये साधु के अट्ठाईस मूल गुण बताये हैं।

भगवान की कठोर साधना

भगवान ने छह माह तक निराहार रहकर अनशन तप का आचरण किया। किन्तु इसका भगवान के शरीर पर किंचित् भी प्रभाव नहीं पड़ा। बल्कि इससे उनका तेज और ओज अधिक उज्ज्वल हो गया। उनके अतिशय तेज के कारण सारा वन-प्रान्त प्रकाशित रहता था। भगवान के तप और तेज का ही यह अतिशय था कि जाति विरोधी जीव भी भय और क्रूरता का त्याग करके बड़े प्रेम से वहां आकर बैठते और शान्ति का अनुभव करते थे। उस वन-प्रदेश में कैसा अद्भुत दृश्य दीख पड़ता था – सिंह, हरिण परस्पर किलोल करते थे। चमरी गाय की पूंछ के बाल कंटीली झाड़ियों में उलझ गये और बाघ ने आकर अपने पंजों से उन्हें छुड़ाया। अबोध हरिण-शिशु शेरनी का दूध पी रहे थे और सिंह-शावक हिरणी को अपनी माता समझकर उनके स्तनों से दुग्ध पान कर रहे थे।

मत्त गज सरोवरों पर जाते और सूंड़ में जल भर लेते तथा पुष्पित कमल लाते। कमल-पुष्प भगवान के चरणों में चढ़ा देते और सूंड़ में भरे हुए जल से भगवान के चरणों का अभिषेक करते। प्रकृति के सभी तत्त्व जैसे भगवान की सेवा के लिये होड़ कर रहे थे। सिद्धार्थक वन के सभी वृक्ष पुष्पों से झुके जा रहे थे। झुककर वृक्ष भगवान के ऊपर पुष्प-वर्षा कर रहे थे। पुष्पों का पराग लेकर भ्रमर उड़ते और आकर भगवान के ऊपर बिखेर जाते। वायु पुष्प-पराग को लेकर मचलता डोलता। वसन्त के भ्रम में कोयल और पपीहा मधुर गान गाते। पक्षी चहचहाते। बादल आकर भगवान के ऊपर शीतल छाया करते।

भगवान के दिव्य तेज के प्रभाव से वह वन एक आश्रम बन गया था।

भगवान छह माह तक एक ही स्थान पर ध्यानारूढ़ रहे। इतने समय में उनके बाल बढ़ गये और जटायें बन गईं। यद्यपि तीर्थंकरों के नख और केश नहीं बढ़ते। किन्तु ऋषभदेव के सम्बन्ध में सर्वत्र इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं कि उनकी जटायें बढ़ गईं। आचार्य जिनसेनकृत 'आदि पुराण' में इस प्रकार का उल्लेख इस सम्बन्ध में मिलता है—

भगवान की जटायें

'संस्कार विरहात् केशा जटीभूतास्तदा विभोः।
नूनं तेऽपि तपःक्लेशमनुसोढुं तथा स्थिताः॥
मुनेर्मूर्ध्नि जटा दूरं प्रसस्रुः पवनोद्धताः।
ध्यानाग्निनेव तप्तस्य जीवस्वर्णस्य कालिकाः॥१८। ७५-७६॥

अर्थात् उस समय भगवान के केश संस्कार रहित होने के कारण जटाओं के समान हो गये थे। और वे ऐसे मालूम पड़ते थे मानो तपस्या का क्लेश सहने के लिये ही वैसे कठोर हो गये हों। वे जटायें वायु से उड़कर महामुनि भगवान ऋषभदेव के मस्तक पर दूर तक फैल गई थीं। वे ऐसी जान पड़ती थीं मानो ध्यान रूपी अग्नि से तपाये हुए जीव रूपी स्वर्ण की कालिमा ही हो।

इसी प्रकार आचार्य रविषेण ने 'पद्म पुराण' में भगवान की जटाओं का वर्णन करते हुए लिखा है—

'वातोद्धूता जटास्तत्र रेजुराकुलमूर्जयः।
धूमाल्य इव सद्ध्यान वह्निसक्तस्य कर्मणः॥३। २८८॥

अर्थात् हवा से उड़ी हुई उनकी अस्त व्यस्त जटायें ऐसी जान पड़ती थीं मानो समीचीन ध्यान रूपी अग्नि से जलते हुए कर्म के धूम की पंक्तियां ही हों।

आचार्य जिनसेन ने इस वात की पुष्टि करते हुए 'हरिवंश पुराण' में इस सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

'सप्रलम्बजटाभारभ्राजिष्णुर्जिष्णुरावभौ।
रूढाप्रारोह शाखाग्रो यथा न्यग्रोधपादपः॥ ९। २०४॥

अर्थात् लम्बी-लम्बी जटाओं के भार से सुशोभित आदि जिनेन्द्र उस समय ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो वटवृक्ष से शाखाओं के पाये लटक रहे हों।

जटाओं सम्बन्धी इस प्रकार के वर्णन अन्य किसी तीर्थंकर के सम्बन्ध में किसी ग्रन्थ में नहीं मिलते। यही कारण है कि अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के सिर पर घुंघराले कुन्तल मिलते हैं, किन्तु भगवान ऋषभदेव की अनेक प्राचीन प्रतिमाओं पर विभिन्न शैलियों की जटायें और जटा-जूट मिलते हैं। इस विषय में देवगढ़ स्थित आदिनाथ-प्रतिमाओं का केश-विन्यास उल्लेखनीय है। वहां ऋषभदेव की प्रतिमाओं पर संभवतः मनुष्य की कल्पना में आसकने वाली जटाओं की विविध शैलियां उपलब्ध होती हैं। स्कन्धों पर लहराती जटायें, कटिभाग तक वल खाती जटायें, चरण चुम्बी जटायें, जटागुल्म, जटा-जूट, शिखराकार जटायें, जुल्फों वाली जटायें, पृष्ठ भाग विहारिणी जटायें। लगता है, कलाकारों की कल्पनाओं की उड़ान केश-विन्यास और केश-प्रसाधनों के सम्बन्ध में जितनी दूरी तक जा सकती थी, उनके अनुसार उन्होंने पाषाण पर अपनी छैनी-हथौड़ों की सहायता से उकेरी हैं। संभवतः इस क्षेत्र में स्त्रियों की आधुनिक केश-सज्जा भी उनसे स्पर्धा करने में सक्षम नहीं है। ऐसी प्रतिमाओं के लांछन (चिह्न) को देखे विना ही केवल जटाओं के कारण ऋषभदेव की प्रतिमाओं की पहचान की जा सकती है। किन्तु यहां आकर देवगढ़ के कलाकारों ने अपनी सीमाओं का भी उल्लंघन कर दिया है। उन्होंने केवल ऋषभदेव-प्रतिमाओं को ही जटाओं से अलंकृत नहीं किया, अपितु अन्य तीर्थंकर-प्रतिमाओं पर भी जटाओं का भार लाद दिया है। यदि उन प्रतिमाओं की चरण-चौकी पर उन तीर्थंकरों के लांछन अंकित न होते तो उन्हें ऋषभदेव की प्रतिमा ही मान लिया जाता। किन्तु यह तो स्वीकार करना ही होगा कि भारतीय मूर्ति-विज्ञान के क्षेत्र में जटाओं की इस परिकल्पना ने एक नये शिल्प-विधान और एक नये सौन्दर्य-वोध की सृष्टि की है। केश-कला के इस वैविध्य ने मूर्तियों के अलंकरण को एक नई दिशा प्रदान की है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

भगवान ऋषभदेव तपस्या में लीन थे। उन्होंने अन्तरंग और वहिरंग सभी प्रकार का परिग्रह और ममत्व का त्याग कर दिया था। ऐसी ही स्थिति में एक दिन कच्छ और महाकच्छ के पुत्र नमि और विनमि भगवान के निकट आये। वे वड़ी भक्ति से भगवान के चरणों में लिपट गये और वड़ी दीनतापूर्वक कहने लगे—'हे स्वामिन्! आपने अपना साम्राज्य अपने पुत्रों-पौत्रों को वाँट दिया, आपने हम दोनों को भुला ही दिया। हम भी तो आपके ही हैं। अव हमें भी कुछ दीजिये।'

विद्याधर जाति पर आधिपत्य

उस समय भगवान ने अपने मन को ध्यान में निश्चल कर लिया था। किन्तु भगवान के तप के प्रभाव से धरणेन्द्र (भवनवासी देवों की एक जाति नागकुमार के इन्द्र) का आसन कम्पित हुआ। उसने अवधिज्ञान से सव वातें जान लीं। वह उठा और पूजा की सामग्री लेकर भगवान के समीप पहुंचा। उसने आकर भगवान की प्रदक्षिणा दी, उन्हें प्रणाम किया और उनकी स्तुति की। फिर अपना वेश छिपाकर दोनों कुमारों से कहने लगा—'भद्र पुरुषो! तुम लोग भगवान से वह वस्तु मांग रहे हो जो उनके पास नहीं है। भगवान तो भोगों से निस्पृह हैं और तुम उनसे भोग मांग रहे हो। तुम पत्थर पर कमल उगाना चाहते हो। यदि तुम्हें भोगों की इच्छा है तो भरत के पास जाओ। वही तुम्हारी इच्छा पूर्ण कर सकता है। भगवान तो निस्पृह हैं उनके पास तुम व्यर्थ ही धरना देकर वैठे हो।'

धरणेन्द्र के वचन सुनकर दोनों कुमार उत्तेजित हो गये। वे क्षोभ में भरकर कहने लगे—'आप तो भद्र पुरुष प्रतीत होते हैं, फिर भी आप दूसरों के कार्य में वाधा डालने को तत्पर दिखाई देते हैं, यह वड़े आश्चर्य की वात है। क्या भगवान को प्रसन्न करने में भी आपको अनौचित्य दिखाई पड़ता है। भगवान के चरणों में आज भी

धरणेन्द्र उन्हें लेकर पर्वत पर उतरा और रथनूपुर चक्रवाल नामक नगर में प्रवेश किया। फिर धरणेन्द्र ने विद्याधरों को बुलाकर उनसे कहा—'जगद्गुरु भगवान ऋषभदेव ने इन कुमारों को यहाँ भेजा है। ये आज से तुम्हारे स्वामी हैं। यह कुमार नमि दक्षिण श्रेणी का अधिपति होगा और कुमार विनमि उत्तर श्रेणी पर राज्य करेगा।

विद्याधरों ने धरणेन्द्र की यह आज्ञा स्वीकार कर ली। तब धरणेन्द्र ने उन दोनों कुमारों का राज्याभिषेक किया और राज-सिंहासन पर बैठाया। उसने उन दोनों को गान्धारपदा और पन्नगपदा विद्यायें दीं। फिर अपना कार्य पूरा करके वह वहाँ से चला गया। विद्याधरों ने दोनों कुमारों को सिर झुकाकर नाना प्रकार की भेंटें दीं। यद्यपि वे कुमार जन्म से विद्याधर नहीं थे, किन्तु उन्होंने वहां रह कर अनेक विद्यायें सिद्ध कर लीं। इस प्रकार नमि दक्षिण श्रेणी के पचास नगरों का स्वामी हुआ और विनमि उत्तर श्रेणी के साठ नगरों का स्वामी हुआ। नमि अपने बन्धुजनों के साथ रथनूपुर में रहने लगा और विनमि नभस्तिलक नामक नगर में रह कर राज्य करने लगा।

भगवान् ने निराहार रह कर प्रतिमायोग धारण कर छह मास तक तपस्या करने का जो नियम लिया था वह पूर्ण हुआ। निराहार रहने से न तो भगवान का शरीर कृश हुआ और न उनके तेज में ही अन्तर पड़ा।

राजकुमार श्रेन्यास द्वारा दान तीर्थ की प्रवृत्ति

वे चाहते तो बिना आहार के ही आगे भी तपस्या करते और इसका उनके शरीर पर भी कोई प्रभाव न पड़ता, किन्तु उन्होंने विचार किया कि वर्तमान में अथवा भविष्य में मोक्ष-प्राप्ति के उद्देश्य से जो लोग तप करेंगे, यदि वे आहार नहीं करेंगे तो आहार के अभाव में उनकी शक्ति क्षीण हो जायेगी। मोक्ष, अर्थ और काम का साधन धर्म पुरुषार्थ है। धर्म का साधन शरीर है और शरीर अन्न पर निर्भर है। अत: परम्परा से अन्न भी धर्म का साधन है। अत: इस भरत क्षेत्र में शासन की स्थिरता और मनुष्यों की धर्म में आस्था बनाये रखने के लिये मनुष्यों को निर्दोष आहार ग्रहण करने की विधि दिखानी होगी। अत: परोपकार के लिए उन्होंने गोचर विधि से अन्न ग्रहण करने का विचार किया।

भगवान अपना ध्यान समाप्त करके आहार के लिए निकले। उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त होने तक मौन व्रत ले लिया था। वे चान्द्री चर्या से विचरण करते हुए मध्यान्ह के समय किसी नगर या ग्राम में चर्या के लिए जाते थे। प्रजाजन मुनिजनोचित आहार की विधि नहीं जानते थे, न उन्होंने कभी किसी को मुनि को आहार देते हुए देखा-सुना था। किन्तु भगवान में उनकी अपार श्रद्धा थी। भगवान का दर्शन पाकर वे हर्षित हो जाते थे और

भगवान की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए वे विविध प्रकार के उपायन—भेंट लाकर भगवान के चरणों में चढ़ा देते थे। कोई वस्त्राभूषण लाता, दूसरा कोई गन्ध, माल्य, विलेपन, रत्न, मुक्ता, गज, अश्व या रथ लाकर भगवान की भेंट चढ़ाता। किन्तु भगवान उन वस्तुओं की ओर देखे विना ही आगे बढ़ जाते थे। इससे लोग अपनी कोई कल्पित भूल या कमी का अनुभव करके बड़े खिन्न हो जाते। किन्तु उन्हें एक सन्तोष भी था कि आज हमें भगवान के दर्शन हो गये।

भगवान विहार करते हुए हस्तिनापुर नगर पहुंचे। भगवान को निराहार विहार करते हुए छह माह व्यतीत हो चुके थे। हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ थे और उनके लघु भ्राता राजकुमार श्रेयान्स थे। ये दोनों वाहुवली के यशस्वी पुत्र थे। कुमार श्रेयान्स ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में शुभ स्वप्न देखे। स्वप्न में उसने चन्द्रमा, इन्द्र की ध्वजा, सुमेरु पर्वत, विजली, कल्पवृक्ष, रत्नद्वीप, विमान और भगवान ऋषभदेव देखे।

हरिवंश पुराण के इस स्वप्न-वर्णन से आदि पुराण के स्वप्न-विवरण में कुछ अन्तर है। आदि पुराण के अनुसार श्रेयान्स ने स्वप्न में सुवर्णमय सुमेरु पर्वत, आभूषणों से सुशोभित कल्पवृक्ष, अयालों वाला सिंह, सूर्य, चन्द्र, समुद्र, और अष्टमंगल द्रव्य धारण किये हुए व्यन्तरों की मूर्तियां देखीं। एक अन्तर यह भी है कि आदिपुराण के अनुसार ये स्वप्न केवल श्रेयान्स ने देखे थे, जवकि हरिवंश पुराण के अनुसार ये स्वप्न दोनों भाइयों ने देखे थे।

श्रेयान्सकुमार प्रातःकाल उठे और वे अपने भाई के पास गये। उन्होंने उनसे अपने स्वप्नों की चर्चा की। राजपुरोहित ने स्वप्न सुन कर उनका यह फल वताया—सुमेरु देखने से यह प्रगट होता है कि सुमेरु के समान उन्नत और सुमेरु पर्वत पर जिसका अभिषेक हुआ है, ऐसा कोई देव आज अवश्य ही हमारे घर आवेगा। अन्य स्वप्न भी उसके गुणों को प्रगट करते हैं। आज हमें जगत में प्रशंसा और सम्पदा प्राप्त होगी।

ये लोग स्वप्न-चर्चा कर रहे थे, उसी समय भगवान ने हस्तिनापुर नगर में प्रवेश किया। नगरवासी भगवान के दर्शनों के लिए एकत्रित होने लगे। लोग आपस में कह रहे थे—हम लोग जगत के पालनकर्त्ता पितामह भगवान ऋषभदेव का नाम वहुत दिनों से सुनते आ रहे थे, आज वे हमारा पालन करने के लिए वन छोड़कर हमारे इस नगर में साक्षात् पधारे हैं। आज हमारा पुण्योदय हुआ है कि हम अपने नेत्रों से उन भगवान के दर्शन करेंगे।

कुछ लोग भक्तिवश, कुछ लोग उत्सुकतावश भगवान के दर्शनों के लिए एकत्रित हो गये। जनता की भीड़ के कारण राजमार्ग और राजमहल तक भर गये। किन्तु भगवान मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं का विचार करते हुये चार हाथ प्रमाण भूमि को देखते हुए मन्थर गति से जा रहे थे। इस प्रकार भगवान चर्या के लिये गृहस्थों के घरों में प्रवेश करते हुए राजभवन में पहुंचे।

सिद्धार्थ नामक द्वारपाल ने राजा सोमप्रभ और राजकुमार श्रेयान्स को राजभवन में भगवान के आने का समाचार दिया। सुनते ही वे दोनों अन्तःपुर की रानियों, मंत्रियों और राजपुरुषों के साथ आंगन में आये। उन्होंने भक्तिपूर्वक भगवान को नमस्कार किया। भगवान के चरणों को जल से धोकर अर्घ्य चढ़ाया और उनकी प्रदक्षिणा दी। उनके मन में भक्ति और हर्ष का अद्भुत उद्रेक हो रहा था।

तभी एक अद्भुत घटना हुई। भगवान का रूप देखते ही श्रेयान्सकुमार को जाति स्मरण ज्ञान हो गया तथा पूर्वजन्म में मुनियों को दिये हुये आहार की विधि का स्मरण हो आया। उसे श्रीमती और वज्रजंघ के भव सम्वन्धी उस घटना का भी स्मरण हो गया, जव चारण ऋद्धिधारी दो मुनियों को आहार दान दिया था। जाति स्मरण होते ही उसने श्रद्धा, शक्ति, भक्ति, विज्ञान, अक्षोभ, क्षमा और त्याग इन सात गुणों से युक्त होकर —जो एक दान देने वाले के लिये आवश्यक हैं—निदान आदि दोषों से रहित होकर 'भो स्वामिन्! अत्र तिष्ठ तिष्ठ, आहार जल शुद्ध है' इस प्रकार मुनिराज को पडगाह कर उन्हें उच्च आसन पर विराजमान किया। उनके चरणों का प्रक्षालन किया, उनकी पूजा की, उन्हें नमस्कार किया, अपने मन-वचन-काय की विशुद्धिपूर्वक आहार-शुद्धि का निवेदन किया। इस प्रकार नवधा भक्तिपूर्वक श्रेयान्स कुमार ने दान के विशिष्ट पात्र भगवान को प्रासुक आहार का दान दिया। अकिंचन भगवान ने खड़े रह कर हाथों में ही (पाणि पात्र होकर) आहार ग्रहण किया।

उस समय वहां पर इक्षु-रस से भरे हुये कलश रक्खे थे। श्रेयान्सकुमार ने राजा सोमप्रभ और रानी लक्ष्मीमती के साथ भगवान को उसी इक्षु-रस का आहार दिया। इधर भगवान की अञ्जलि में इक्षु-रस की धारा पड़ रही थी, उधर भगवान के आहार के उपलक्ष्य में देव लोग रत्नों की वर्षा कर रहे थे। कुछ देव पुष्प-वर्षा कर रहे थे। देव हर्ष से भेरी-ताड़न कर रहे थे। शीतल सुगन्धित मन्द पवन वहने लगा, और देव लोग आकाश में 'धन्य यह दान, धन्य यह पात्र और धन्य यह दाता' इस प्रकार कह कर दान की अनुमोदना कर रहे थे। तीर्थङ्करों के आहार के समय ये पांच बातें अवश्य होती हैं, जिन्हें पंचाश्चर्य कहते हैं।

दोनों भाइयों के मन में हर्ष का मानो सागर ही उमड़ पड़ रहा था। आज त्रिलोक पूज्य तीर्थङ्कर प्रभु ने उनके घर पर पधार कर और आहार लेकर घर द्वार को पवित्र किया था। अनेक लोगों ने इस दान का अनु-मोदन करके पुण्य-लाभ किया। आहार करके भगवान वन में लौट गये। दोनों भाई भी कुछ दूर तक भगवान के साथ गये। किन्तु जब लौटे तो वे रह रह कर भगवान को ही देखते जाते थे। उनकी दृष्टि और चित्तवृत्ति भगवान की ओर ही लगी रही। भगवान के चरण जहां पड़े थे, उस स्थान की धूल को उठाकर वे बार बार माथे से लगाते थे। मन में भगवान की मूर्ति और गुणों का अनुस्मरण करते जाते थे। वे जब लौटे तो सारा आंगन प्रजा-जनों से संकुलित था। सब लोग उन दोनों भाइयों के ही पुण्य की सराहना कर रहे थे।

राजकुमार श्रेन्यास के कारण ही संसार में दान देने की प्रथा प्रचलित हुई। दान देने की विधि भी श्रेन्यास ने ही सबसे पहले जानी। सम्राट् भरत को भी बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि श्रेन्यास कुमार ने भगवान के मन का अभिप्राय कैसे जान लिया। विशेष कर उस दशा में, जब कि भगवान मौन धारण करके विहार कर रहे थे। देवों ने आकर कुमार श्रेन्यास की पूजा की। महाराज भरत भी हस्तिनापुर पहुँचे। वे अपने कुतूहल को रोक नहीं पाये। उन्होंने श्रेन्यास से पूछा—'हे कुरुवंश शिरोमणि! मुझे यह जानने का कुतूहल हो रहा है कि तुमने मौनधारी भगवान का अभिप्राय कैसे जान लिया? दान की विधि को अब तक कोई नहीं जानता था, उसे तुमने कैसे जान लिया? तुमने दान-तीर्थ की प्रवृत्ति की है, तुम धन्य हो। हमारे लिए तुम भगवान के समान ही पूज्य हो। तुम महापुण्यवान हो।'

सम्राट् के सराहना भरे शब्दों को सुन कर श्रेन्यास कुमार प्रसन्न होता हुआ बोला—'जब मैंने भगवान का रूप देखा तो मेरे मन में अपार हर्ष हुआ। तभी मुझे जाति स्मरण हो गया जिससे मैंने भगवान का अभिप्राय जान लिया। जब भगवान विदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में वज्रजंघ की पर्याय में थे, तब मैं इनकी श्रीमती नामक स्त्री था। उस पर्याय में वज्रजंघ सहित मैंने दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों को आहार-दान दिया था। यह सब मुझे स्मरण हो आया था। इसलिए भगवान को मैंने आहार-दान दिया।

इसके पश्चात् श्रेन्यास कुमार ने भगवान के पिछले भवों का वर्णन किया। और दान देने की विधि विस्तारपूर्वक बताई। तब महाराज भरत ने दोनों भाइयों के प्रति बड़ा अनुराग प्रगट किया और उनका खूब सम्मान किया।

८. भगवान को कैवल्य की प्राप्ति

तीर्थङ्कर भगवान जिनकल्पी होते हैं। तीर्थङ्करों और साधारण मुनियों में एक मौलिक अन्तर यह भी है कि साधारण मुनियों को प्रारम्भिक अवस्था में स्थविरकल्पी होना पड़ता है और वे जिनकल्पी होने के लिए प्रयत्न करते रहते हैं। मुनि-पद के ये दो भेद हैं—स्थविरकल्प और जिनकल्प। त्रिशल्य रहित होकर पंच महाव्रतों और उनकी

भावनाओं का पालन करना, व्रतों के चौरासी लाख उत्तर गुणों का पालन करना, पाँच समितियों और तीन गुप्तियों का पालन करना, मुनियों के साथ रहना, उपदेश देना, शिष्यों को दीक्षा देना स्थाविर कल्प कहलाता है। और व्रतों का पालन करते हुये एकल विहार करना, सदा आत्म चिन्तन में लीन रहना यह जिनकल्प कहलाता है। तीर्थङ्कर भगवान के किसी प्रकार का दोष नहीं लगता। अतः उन्हें प्रतिक्रमण, छेदोपस्थापना चारित्र धारण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे केवल सामायिक चारित्र में ही रत रहते हैं।

कैवल्य प्राप्ति

भगवान ऋषभदेव छह प्रकार के बाह्य तप तथा छह प्रकार के आभ्यन्तर तपों का सदा अभ्यास करते रहते थे। यद्यपि भगवान चार ज्ञान के धारी थे, फिर भी वे घोर तप और साधना में निरत रहते थे। इससे उनका मन स्थिर हो गया था और वे संकल्प-विकल्प रहित होकर आत्म-ध्यान करते थे। भगवान को संसार में धर्म की प्रवृत्ति भी चलानी थी, अतः वे अन्य मुनियों में धर्म की प्रवृत्ति चलाने के लिए स्वयं भी कुछ ऐसे धर्माचरण करते थे जो उनके लिए आवश्यक न था। जैसे स्वाध्याय। भगवान द्वादशांग के वेत्ता थे, चार ज्ञान के धारी थे। उन्हें स्वाध्याय की आवश्यकता न थी। फिर भी वे स्वाध्याय करते रहते थे, जिससे अन्य मुनियों में स्वाध्याय की वृत्ति जागृत हो सके। वे नवीन कर्मों का संवर और पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करने के लिए गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्र को दृढ़ता से पालन करते थे। वे ध्यान की सिद्धि के लिए अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव का ही आश्रय लेते थे। वे पर्वत, वन, गुफा, सरितातट या शिलातल पर ध्यान लगाकर खड़े हो जाते थे। कभी महा भयकारी श्मशान भूमि में जाकर ध्यान लगाते थे।

इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था में एक हजार वर्ष तक अनेक देशों में विहार करते हुए भगवान पुरिमताल नगर के शकट या शकटास्य नामक उद्यान में पहुंचे। वे पूर्व दिशा की ओर मुख करके एक वट वृक्ष के नीचे पद्मासन लगाकर ध्यान में लीन हो गये। उन्होंने शुक्ल ध्यान द्वारा क्षपक श्रेणी में आरोहण किया। इससे उनकी आत्मा में परम विशुद्धि प्रगट होने लगी। उन्होंने सम्पूर्ण मोहनीय कर्म का विनाश कर दिया। मोहनीय कर्म के नष्ट होते ही ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और अन्तराय कर्म भी नष्ट हो गये। इन चारों घातिया कर्मों के नष्ट होते ही उनकी आत्मा केवलज्ञान से मण्डित हो गई। वे लोकालोक के देखने वाले सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। उन्हें अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, चारित्र, शुद्ध सम्यक्त्व, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग और अनन्त वीर्य ये नौ लब्धियाँ प्राप्त हो गई। फाल्गुन कृष्ण एकादशी को उत्तराषाढ़ नक्षत्र में भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

केवलज्ञान प्राप्त होते ही इन्द्र और देवों ने आकर भगवान को नमस्कार किया और उन्होंने केवलज्ञान महोत्सव मनाया। सम्पूर्ण आकाश देवताओं की जय ध्वनियों और वाद्यों के तुमुल घोष से व्याप्त हो गया। देव लोग पुष्प-वर्षा करने लगे। प्रकृति ने भी अपनी प्रसन्नता प्रगट करने में बड़ी उदारता दिखाई। शीतल सुगन्धित पवन बहने लगी। पवन में जल सीकरों ने मिलकर सम्पूर्ण जीवों को आल्हाद से भर दिया। आकाश से बिना बादलों के ही मन्द-मन्द वृष्टि होने लगी। तीनों लोकों में सभी जीवों को आनन्द का अनुभव हुआ।

अक्षय वट

भगवान को जिस वट वृक्ष के नीचे अक्षय ज्ञान की प्राप्ति हुई थी, न केवल वह ज्ञान ही पूज्य हो गया, बल्कि वह वट वृक्ष भी अक्षय वट कहलाने लगा। वह वट वृक्ष भगवान के केवलज्ञान का स्मरण कराता है, इसलिये भक्तजन वहाँ की यात्रा करने लगे।

अक्षय वट सदा से तीर्थ स्थान रहा है, इस बात का समर्थन अनेक प्रमाणों से होता है। नन्दिसंघ की गुर्वावली में अन्य तीर्थों के साथ अक्षयवट का भी उल्लेख मिलता है—'श्री सम्मेद गिरि-चम्पापुरी, ऊर्जयन्त गिरि—अक्षयवट—आदीश्वर दीक्षा सर्व सिद्धक्षेत्र कृत यात्राणां:' इसमें अक्षयवट को तीर्थ-स्थान माना है।

भगवान को केवल ज्ञान प्राप्त होते ही कुबेर के निर्देशन में देवों ने समवशरण की रचना की। बाहर रत्नचूर्ण से निर्मित बहुरंगी धूलिसाल प्राकार था। उसमें चारों दिशाओं में स्वर्ण के खम्भों पर चार तोरण द्वार बनाये थे। उन द्वारों पर मत्स्य बने थे तथा रत्नमालायें लटकी हुई थीं। धूलिसाल के अन्दर

समवसरण की रचना प्रवेश करने पर चारों दिशाओं में चार मानस्तम्भ बने थे। ये मानस्तम्भ एक जगती पर थे। उस जगती के चारों ओर तीन-तीन कोट थे और उनमें भी गोपुर द्वार बने हुए थे। उन कोटों के बीच में तीन कटनीदार एक-एक पीठिका बनी थी। इसी पीठिका पर ये मानस्तम्भ स्थित थे। इन पर घण्टा, चमर, ध्वजायें फहरा रही थी। मानस्तम्भों के मूल भाग में अर्हन्तों की स्वर्णमय प्रतिमायें विराजमान थीं। मानस्तंभ के शीर्ष पर तीन छत्र सुशोभित थे। इन्हें इन्द्रध्वज भी कहा जाता है। इन मानस्तम्भों को देखने मात्र से अभिमानी जनों का अभिमान गलित हो जाता है। इन मानस्तम्भों के निकट नन्दोत्तरा नाम की बावड़ियां बनी थीं। आगे जाने पर जल से भरी हुई परिखा बनी हुई थी। लतावन थे। उनमें लता मण्डप बने थे। उनमें चन्द्रकान्त मणि की शिलायें थी। इन्द्र यहाँ आकर इन पर विश्राम किया करते थे।

कुछ आगे बढ़ने पर एक स्वर्णकोट मिलता था जो समवसरण भूमि को घेरे हुए था। उस कोट में चार विशाल गोपुर द्वार बने हुए थे। इन द्वारों में एक सौ आठ मंगल द्रव्य रक्खे थे। गोपुर द्वारों के भीतर जाने वाले मार्ग पर दो-दो नाट्यशालायें बनी थी। मार्ग के दोनों ओर धूप घटों में सुगन्धित धूप का धूआं निकलता रहता था। कुछ दूर आगे अशोक, सप्तपर्ण, चम्पक और आम्र उद्यान बने थे। उनमें जाने के लिये वीथिकायें बनी थीं।

अशोक उद्यान के मध्य में एक विशाल अशोक वृक्ष था। यह तीन कटनीदार एक पीठिका पर स्थित था। उसके निकट मंगल द्रव्य रक्खे थे। यह एक चैत्य वृक्ष था। इस पर ध्वजायें फहरा रही थीं। उसके शीर्ष पर तीन छत्र थे, जिनमें मोतियों की झालरें लटक रही थीं। वृक्ष के मूल भाग में अष्ट प्रातिहार्ययुक्त जिनेन्द्र देव की चार प्रतिमायें विराजमान थीं। इस प्रकार चैत्य वृक्ष अन्य वनों में भी थे। इन वनों के अन्त में वनवेदिका बनी हुई थीं। यहां जो वापिकायें हैं, उनमें स्नान करने मात्र से एक भव दिखाई पड़ता है तथा वापिका के जल में देखने से भावी सात भव दीखते हैं।

वहाँ सिद्धार्थ वृक्ष, चैत्यवृक्ष, कोट, वन वेदिका, स्तूप, तोरण सहित मानस्तम्भ और ध्वज-स्तम्भथे। इनकी ऊंचाई तीर्थकरों के शरीर से बारह गुनी होती है। वहां जो ध्वजाएं होती है, उनमें माला, वस्त्र, मयूर, कमल, हंस गरुण, सिंह, बैल, हाथी और चक्र के चिन्ह होते हैं। हर दिशा में प्रत्येक चिन्ह वाली ध्वजाओं की संख्या एक सौ आठ होती है।

वहाँ कल्प वृक्षों का भी वन था। उन कल्प वृक्षों के मध्य भाग में सिद्धार्थ वृक्ष होते हैं। इन पर सिद्ध भगवान की प्रतिमायें विराजमान होती हैं। जो महावीथियां बनी हुई थीं, उनके मध्य में नौ-नौ स्तूप खड़े हुए थे। इन स्तूपों में अर्हन्तों और सिद्धों की प्रतिमायें विराजमान थीं। इन स्तूपों पर वन्दनमालायें लटकी हुई थीं, छत्र लगे हुए थे, पताकायें फहरा रही थीं, मंगल द्रव्य रक्खे थे। एक-एक स्तूप के बीच में मकर के आकार के सौ तोरण होते हैं। इन स्तूपों की ऊंचाई चैत्य वृक्षों के समान होती है।

सर्व प्रथम लोक स्तूप होते हैं। ये नीचे वेत्रासन के समान, मध्य में झालर के समान, उसके ऊपर मृदंग के समान और अन्त में तालवृक्ष के समान लम्बी नालिका से युक्त होते हैं। इन स्तूपों में लोक की रचना बनी होती है। इन लोक स्तूपों से आगे मध्यलोक स्तूप होते हैं। इनके भीतर मध्य लोक की रचना होती है। इनसे आगे मन्दर स्तूप होते हैं, जिन पर चारों दिशाओं में भगवान की प्रतिमायें विराजमान होती हैं। इनके आगे कल्पवास स्तूप होते हैं, जिनमें कल्पवासियों की रचना बनी होती है। उनके आगे ग्रैवेयकों के आकार वाले ग्रैवेयक स्तूप होते हैं। उनके आगे अनुदिश नामक नौ स्तूप होते हैं। आगे चलकर सर्वार्थ सिद्धि नामक स्तूप होते हैं। इनसे आगे भव्यकूट स्तूप होते हैं। इन्हें अभव्य जीव नहीं देख सकते, देखने पर वे अन्धे हो जाते हैं। इनसे आगे प्रमोह स्तूप होते हैं। इन्हें देखकर लोग विभ्रम में पड़ जाते हैं और चिरकाल से अभ्यस्त गृहीत वस्तु को भी भूल जाते हैं। आगे चलकर प्रबोध स्तूप होते हैं। इन्हें देखकर लोग प्रबोध को प्राप्त होते हैं और साधु बनकर संसार से छूट जाते हैं।

स्तूपों से आगे चलने पर चतुर्थकोट आता है। इसके गोपुरों पर रत्नदण्ड हाथ में लिये कल्पवासी देव द्वारपाल के समान पहरा देते हैं।

इनसे आगे रत्नस्तम्भों पर आधारित आठवीं श्रीमण्डप भूमि थी। इसी भूमि में सोलह दीवालों के बीच में बारह कक्ष होते हैं। ये सभा कक्ष होते हैं। इनमें पहले कक्ष में ऋद्धिधारी गणधर देव और मुनि बैठते हैं। इस कक्ष से आगे दीवाल होती है। फिर दूसरा कक्ष है, जिसमें कल्पवासिनी देवियाँ बैठती हैं। तीसरे कक्ष में आर्यिका और श्राविकायें बैठती हैं। चौथे कक्ष में ज्योतिष्क देवों की देवियां, पांचवें कोठे में व्यन्तर देवियां, छटवें कक्ष में भवनवासी देवियां, सातवें कक्ष में भवनवासी देव, आठवें कक्ष में व्यन्तर देव, नौवें कक्ष में ज्योतिष्क देव, दसवें कक्ष में अच्युत स्वर्ग तक के देव और इन्द्र, ग्यारहवें कक्ष में चक्रवर्ती राजा और मनुष्य बैठते हैं और बारहवें कक्ष में पशु-पक्षी वैर और भय त्यागकर बैठते हैं।

इन कोठों में मिथ्यादृष्टि, अभव्य और असंज्ञी जीव कदापि नहीं होते तथा अनध्यवसाय, सन्देह और विविध विपरीतता से युक्त जीव भी नहीं होते। समवसरण में जिनेन्द्र देव के माहात्म्य से आतंक, रोग, मरण, उत्पत्ति, वैर, कामबाधा तथा क्षुधा-तृषा की पीड़ायें नहीं होतीं।

चारों दिशाओं में चार वीथियां बनी हुई थीं। इन वीथियों के सामने तथा बारह कक्षों के द्वार के सामने सीढ़ियां बनी होती हैं। ये सीढ़ियां तीन पीठिकाओं के लिये होती हैं, जो एक दूसरे के ऊपर बनी होती हैं। पहली पीठिका पर अष्ट मंगल द्रव्य होते हैं और यक्ष धर्मचक्रों को अपने सिर पर उठाये हुए खड़े रहते हैं। इन धर्मचक्रों में एक-एक हजार आरे होते हैं। इन धर्मचक्रों की कुल संख्या चार हजार होती है। दूसरी पीठिका पर मयूर और हंसों के चिन्ह वाली ध्वजाओं के अतिरिक्त आठ ध्वजायें रहती हैं। तीसरी पीठिका पर गन्धकुटी होती है। उसमें रत्नमय सिंहासन होता है। उस पर जिनेन्द्र प्रभु विराजमान होते हैं। यह तीसरी पीठिका तीन कटनी वाली होती है। गन्धकुटी के ऊपर शिखर होते हैं। उन शिखरों पर ध्वजायें फहराती रहती हैं। उनमें मोतियों की झालर लटकती रहती हैं।

भगवान ऋषभदेव उस सिंहासन पर विराजमान थे। वे सिंहासन से चार अंगुल ऊंचे अधर विराजमान थे। भगवान के पीछे रत्न निर्मित अशोक वृक्ष था। देव लोग पुष्प-वर्षा कर रहे थे। देव दुन्दुभि-घोष कर रहे थे। भगवान का आसन अनर्घ्य, बहुमूल्य रत्न निर्मित था। भगवान के मुख-कमल से बादलों की गर्जना के समान दिव्य-ध्वनि निकल रही थी। भगवान के सिर पर तीन छत्र थे। यक्ष भगवान के चारों ओर चोंसठ चमर ढोल रहे थे। और भगवान के शरीर से निकलती हुई प्रभा का एक मण्डल सा बन गया था जो भामण्डल या प्रभा मण्डल कहा जाता है। इस प्रकार ये अष्ट प्रातिहार्य थे, जो भगवान के लोकोत्तर व्यक्तित्व को प्रगट कर रहे थे।

समवसरण और देवालय

देवालय अथवा जिनालय समवसरण की प्रतिकृति होते हैं। समवसरण की रचना कुबेर करता है। समवसरण भूमि भूमि-तल से एक हाथ ऊंची होती है। उससे एक हाथ ऊंची कल्प भूमि होती है। यह भूमि कमलाकार होती है। इसमें गन्धकुटी कर्णिका के समान होती है और शेष रचना कमल-दल के समान होती है। गन्धकुटी के चारों ओर मानांगण नाम की भूमि होती है। यहीं खड़े होकर इन्द्रादि भगवान की पूजा करते हैं। इसमें चार वीथियां होती हैं। इन वीथियों के मध्य में चार मानस्तम्भ होते हैं। इनमें मूर्तियां विराजमान होती हैं। जहां खड़े होकर मनुष्य और देव मानस्तम्भों की पूजा करते हैं, वह आस्थानांगण भूमि कहलाती है। ये मानस्तम्भ बारह योजन दूर से दिखाई देते हैं। ये मानस्तम्भ दो हजार पहलू के होते हैं। इनके शीर्ष पर चारों दिशाओं में सिद्ध प्रतिमा विराजमान रहती हैं। इनकी पालिकाओं पर स्वर्णघट रक्खे रहते हैं।

समवसरण में कोट, वापिका, नृत्यशालायें, तोरण, गोपुर, एक सौ आठ मंगल द्रव्य, वन, चैत्यवृक्ष, पताकायें, घण्टे, मंगल कलश, सिद्धार्थ वृक्ष, स्तूप, अन्तर्वेदिका, भवन, इन्द्रध्वज, महोदयमण्डप, श्रीमण्डप, गन्धकुटी, सिंहासन, अष्ट प्रातिहार्य आदि की रचना रहती है।

जिनालय में भी कुछेक रचनाओं को छोड़कर प्राय: सभी रचना किसी न किसी रूप में रहती है। बृहत्सं-

हिता (अध्याय ५६ श्लोक १७-१८) में मन्दिरों के २० भेद गिनाये हैं। इन भेदों में चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशात्री, सर्वतोभद्र भी परिगणित हैं। अग्निपुराण (अध्याय १०४ श्लोक १३-२०) में ४५ प्रकार के मन्दिर गिनाये हैं। इनमें चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशभद्र और पूर्णभद्र मन्दिर भी हैं। अधिकांश जिनालय चतुष्कोण मिलते हैं। किन्तु कुछ अष्टकोण, षोडशभद्र और पूर्णभद्र या सर्वतोभद्र भी मिलते हैं।

साधारणतः प्रत्येक मन्दिर के आठ अंग होते हैं—अधिष्ठान, वेदिबन्ध, अन्तरपत्र, जंघा, वरण्डिका, शुकनासिका, कण्ठ और शिखर। शिखर के तीन भाग होते हैं—आमलक, आमलिका और कलश। पंचायतन शैली का मन्दिर ही पूर्ण मन्दिर कहलाता है। इस शैली में गर्भगृह, प्रदक्षिणा पथ, अन्तराल, महामण्डप और अर्धमण्डप ये पांच प्रकार की रचनायें होती हैं। अधिकांश मंदिरों पर शिखर की संयोजना होती है। वस्तुतः शिखर कैलाश और सुमेरु पर्वत की ही अनुकृति है। वेदी गन्धकुटी की प्रतिरूप है। वेदी में सिंहासन होता है, जिस पर प्रतिमा विराजमान होती है। प्राचीन प्रतिमाओं में अष्ट प्रातिहार्य अवश्य अंकित किये जाते थे। क्योंकि अरहन्त और तीर्थंकर-प्रतिमाओं की पहचान अष्ट प्रातिहार्य से ही की जाती है। अष्ट प्रातिहार्य रहित प्रतिमा सिद्धों की बतलाई है। प्राचीन काल में अष्ट प्रातिहार्यों का अंकन प्रतिमा के साथ ही होता था। किन्तु आधुनिक काल में प्रतिमायें अलग निर्मित होती हैं और अष्ट प्रातिहार्यों में भामण्डल, छत्र, चमर और आसन पृथक्-पृथक् रहते हैं। शेष चार प्रातिहार्यों की रचना मूर्ति के पीछे दीवाल पर किसी न किसी रूप में कर दी जाती हैं। वर्तमान मूर्ति-विज्ञान में सौंदर्य का विशेष ध्यान रक्खा जाता है, किन्तु मूर्ति-शिल्प के शास्त्रीय पक्ष और भावना की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। इसको समझने के लिये हमें मूर्ति-विज्ञान के क्रमिक विकास पर एक दृष्टि डालनी होगी। (इसका सविस्तर वर्णन प्रथम परिच्छेद में किया गया है।

वेदी पर लघु शिखर, मन्दिर के ऊपर शिखर, ध्वजा, वेदी अथवा सिंहासन पीठ पर धर्मचक्र की संरचना समवसरण की रचना का स्मरण कराती है। सिंहासनासीन प्रतिमा तीर्थंकर की प्रतीक है। पद्मासन या खड्गासन में ध्यानस्थ, अर्धोन्मीलित नयन, नासाग्र दृष्टि, घुंघराले कुन्तल, छाती पर श्रीवृक्ष के आकार का श्रीवत्स लांछन, हथेलियों और पैरों के तलवों में मांगलिक चिह्न ये सब चिह्न तीर्थंकरों के स्मारक चिह्न हैं। जिनालय मनुष्यों की दृष्टि से निर्मित किये जाते हैं। इसलिए जिनालयों में द्वादश सभा-मण्डप नहीं बनाये जाते, केवल एक सभा-मण्डप बनाया जाता है। प्राचीन काल में जिनालयों के आगे मानस्तम्भ-निर्माण की परम्परा रही है। किन्तु जबसे नगर अधिक जन-संकुल होने लगे और नगरों के बीच में स्थान की कठिनाई आने लगी, जिनालयों के आगे मानस्तम्भ निर्माण की परम्परा कम होती गई। यही कारण है कि नगरों के मध्य बने हुए प्रायः अधिकांश जिनालयों में मानस्तम्भ नहीं मिलते। कुछ भी हो, मन्दिरों और मूर्तियों के रूप में प्राचीन काल की अपेक्षा अब कितना ही परि-वर्तन क्यों न आगया हो, किन्तु उनमें समवसरण का मूलरूप अब भी सुरक्षित है।

केवल ज्ञान प्राप्त होते ही कुबेर ने इन्द्र की आज्ञा से समवसरण की रचना की, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। त्रिलोकीनाथ भगवान सिंहासन पर विराजमान थे। वे अष्ट प्रातिहार्य विभूति से सम्पन्न थे। उस समय

भगवान का वैभव

भगवान पूर्व दिशा की ओर मुख करके विराजमान थे। किन्तु दर्शकों को ऐसा प्रतीत होता था कि भगवान का मुख उनकी ओर है। चारों दिशाओं में दर्शक श्रोता बैठे हुए थे और भगवान के मुख चारों दिशाओं में दीख रहे थे। उनके नेत्र टिमकार रहित थे। उनके शरीर से प्रभा की अजस्र किरणें फूट रही थीं। उन्हें अब किसी इन्द्रिय पर निर्भर नहीं रहना था। स्पर्श, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र पांचों इन्द्रियों ने अपना व्यापार बन्द कर दिया था। जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो, अनन्त वीर्य और अनन्त शक्ति से सम्पन्न हो, उसे सीमित इन्द्रिय-व्यापार से क्या प्रयोजन रह गया था। सूर्य का प्रकाश होने पर टिमटिमाते दीपक का कोई काम नहीं रह जाता। उनको अनन्त सुख प्राप्त था, इसलिये क्षुधा तृषा आदि की बाधा और अन्न-निर्भरता दूर हो गई थी। वे आत्मिक स्वतंत्रता के उस विहान में पहुंच चुके थे, जहाँ सम्पूर्ण पौद्गलिक आधीनतायें और अपेक्षायें छूट चुकी थीं।

चारों जाति के देव और इन्द्र भगवान का केवल ज्ञान कल्याणक उत्सव मनाने आये। सर्व प्रथम सौधर्मेन्द्र

ने जमीन पर घुटने टेककर भगवान को प्रणाम किया। उस समय का दृश्य अद्‌भुत था। संसार की भौतिक विभूति से सम्पन्न इन्द्र आत्मा की सम्पूर्ण आध्यात्मिक विभूति से सम्पन्न भगवान के चरणों में झुक रहा था, मानो भौतिक सम्पदा आत्मिक सम्पदा की महानता के प्रति सिर झुका रही थी और यह स्वीकार कर रही थी कि आत्मिक वैभव के समक्ष संसार का सारा वैभव तुच्छ है, नगण्य है। इन्द्र के मुकुट के अग्रभाग में जो देदीप्यमान मणि लगी हुई थी, क्या उसकी समानता चक्रवर्ती की अशेष सम्पदा कर सकती है। किन्तु जब इन्द्र ने भगवान के चरणों में नमस्कार किया, उस समय समस्त चराचर को अपनी प्रभा से प्रकाशित करने वाली इन्द्र की वह मुकुट-मणि भगवान के चरण के अंगूठे के नाखून की प्रभा के समक्ष मन्द पड़ गई। इतना ही नहीं, उस नाखून की प्रभा से वह मणि चमकने लगी। इसी आशय को व्यक्त करते हुए भक्तामर स्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुङ्ग कहते हैं—

'भक्तामरप्रणतमौलिमणिप्रभाणामुद्योतकं दलित पापतमो वितानम्।
सम्यक् प्रणम्य जिनपाद युगं युगादावालम्बनं भवजले पततां जनानाम्॥

आचार्य के ये भक्तिनिर्भर उद्‌गार तथ्य को ही प्रगट करते हैं। जिस शरीर के भीतर अनन्त ज्ञान से प्रकाशमान आत्मा विराजमान है, उस शरीर की आभा भी असाधारण होती है।

तदनन्तर इन्द्रों ने और देवों ने खड़े होकर अपने हाथों से गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, अक्षत और अमृत पिण्डों द्वारा भगवान के चरणों की पूजा की। इन्द्राणी ने भगवान के आगे रत्न चूर्ण से विविध रंगी मण्डल पूरा। फिर उसने रत्नों की भृंगार की नाल से भगवान के समीप जल धारा छोड़ी और दैवी सुगन्ध से भगवान के पादपीठ की पूजा की। इसी प्रकार उसने मोतियों से, कल्पवृक्ष के पुष्पों की मालाओं से, रत्नदीपों से, थाल में धूप और दीपक रखकर अमृतपिण्ड से, फलों से, जिनेन्द्र प्रभु की पूजा की। फिर इन्द्र ने भगवान की स्तुति की।

केवल ज्ञान प्राप्त होते ही भगवान की आत्मा निष्कलंक, निर्लेप, निरावरण और शुद्ध हो गई थी। उनकी पवित्रता सर्वाङ्गसम्पूर्ण थी। उनकी आत्मा की शक्ति और प्रभाव अनन्त था। इसलिये कुछ अद्‌भुत चमत्कारपूर्ण घटनायें हुई, जिन्हें अतिशय कहा जाता है। ऐसे अतिशय-जो केवल ज्ञान जन्य थे दस हुए। धवलाकार उनकी संख्या ग्यारह बताते हैं, जो इस प्रकार हैं—

सौ योजन तक चारों ओर सुभिक्ष होना, आकाशगमन, हिंसा का अभाव, भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव, चारों ओर मुख, छाया रहितता, निर्निमेष दृष्टि, विद्याओं की ईशता, नख और रोमों का न बढ़ना, अठारह महाभाषा, सात सौ क्षुद्र भाषा तथा अन्य अक्षरानक्षरात्मक भाषाओं में दिव्य ध्वनि।

इसी प्रकार देव कृत चौदह और धवलाकार के मत से तेरह अतिशय होते हैं, जो निम्न प्रकार हैं –

संख्यात योजनों तक वन का फल फूलों से युक्त होना, सुगन्धित वायु, जाति विरोधी जीवों का सह अस्तित्व, भूमि की निर्मलता, सुगन्धित जल की वर्षा, फल भार से नम्रीभूत शस्य, सब जीवों को आनन्द, शीतल पवन, निर्मल जल से परिपूर्ण तड़ाग, निर्मल आकाश, रोगादि न होना, यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर चार धर्मचक्र, चारों दिशाओं में छप्पन स्वर्ण-कमल की रचना।

श्वेताम्वर परम्पराओं में मान्य चौंतीस अतिशय—समवायांग सूत्र में तीर्थकरों के ३४ अतिशय इस प्रकार बताये हैं—

१. केशरोम और श्मश्रु का न बढ़ना, २. शरीर का रोग रहित और निर्लेप होना, ३. रक्त-मांस का गोदुग्ध के समान सफेद होना, ४. श्वासोछ्‌वास का उत्पल कमल के समान सुगन्धित होना, ५. आहार-नीहार का अदृश्य होना, ६. आकाशगत चक्र का होना, ७. आकाशगत छत्र का होना, ८. आकाशगत श्वेत चामर होना, ९. आकाशस्थ स्फटिक सिंहासन का होना, १०. हजार पताका वाले इन्द्रध्वज का आकाश में आगे चलना, ११. तीर्थकर भगवान जहां ठहरें, वहाँ फल फूल युक्त अशोक वृक्ष का होना, १२. मुकुट के स्थान मे थोड़ा पीछे की ओर तेजो मण्डल का सव दिशाओं को प्रकाशित करना, १३. भूमि का रमणीक होना, १४. कांटों का अधोमुख होना, १५. ऋतुओं का सुखदायी होना, १६. शीतल सुखद मन्द पवन से चार-चार कोस तक स्वच्छता का होना, १७. जल विन्दुओं से भूमि की धूल का शमन होना, १८. पांच प्रकार के अचित्त फूलों का जानु प्रमाण ढेर लगना, १९.

भगवान ऋषभदेव के संघ में कुल ऋषियों की संख्या चौरासी हजार थी, जिनमें पूर्वधर ४७५०, शिक्षक ४१५०, अवधिज्ञानी ९०००, केवली २००००, विक्रियाधारी २०६००, विपुलमति १२७५० और वादियों की कुल संख्या १२७५० थी। तथा मुनियों की संख्या ८४०८४ थी।

ऋषभदेव के तीर्थ में आर्यिकाओं की कुल संख्या साढ़े तीन लाख थी। श्रावकों की संख्या तीन लाख और श्राविकाओं की कुल संख्या पांच लाख थी।

भगवान के संघ में साधुओं की कुल संख्या ८४०८४ थी। प्रत्येक तीर्थंकर के संघस्थ साधुओं के गण होते हैं। उन गणों में कुछ निश्चित संख्या में साधु रहते हैं। उन गणों में से प्रत्येक गण के ऊपर एक गणधर होता है, जो साधुओं का सम्यक् नियमन करता है, उनमें अनुशासन बनाये रखता है। भगवान ऋषभ-

भगवान के गणधर

देव के साधुओं के चौरासी गण थे और उन गणों के नियामक चौरासी[1] गणधर थे, जिनके नाम इस प्रकार थे—

. १. वृषभसैन, २. कुम्भ, ३. दृढ़रथ, ४. शत्रुदमन, ५. देवशर्मा, ६. धनदेव, ७. नन्दन, ८. सोमदत्त, ९. सुरदत्त, १०. वायुशर्मा, ११. सुबाहु, १२. देवाग्नि, १३. अग्निदेव, १४. अग्निभूति, १५. तेजस्वी, १६. अग्नि-मित्र, १७. हलधर, १८. महीधर, १९. माहेन्द्र, २०. वसुदेव, २१. वसुन्धर, २२. अचल, २३. मेरु, २४. भूति, २५. सर्वसह, २६. यज्ञ, २७. सर्वगुप्त, २८. सर्वप्रिय, २९. सर्वदेव, ३०. विजय, ३१. विजयगुप्त, ३२. विजयमित्र, ३३. विजयश्री, ३४. परारव्य, ३५. अपराजित, ३६. वसुमित्र, ३७. वसुसेन, ३८. साधुसेन, ३९. सत्यदेव, ४०. सत्य-वेद, ४१. सर्वगुप्त, ४२. मित्र, ४३. सत्यवान, ४४. विनीत, ४५. संवर, ४६. ऋषिगुप्त, ४७. ऋषिदत्त, ४८. यज्ञदेव, ४९. यज्ञगुप्त, ५०. यज्ञमित्र, ५१. यज्ञदत्त, ५२. स्वायंभुव, ५३. भागदत्त, ५४, भागफल्गु, ५५. गुप्त, ५६. गुप्त फल्गु, ५७. मित्रफल्गु, ५८. प्रजापति, ५९. सत्ययश, ६०. वरुण, ६१. धनवाहिक, ६२. महेन्द्रदत्त ६३. तेजोराशि, ६४. महारथ; ६५. विजयश्रुति, ६६. महाबल, ६७. सुविशाल, ६८. वज्र, ६९. वैर, ७०. चन्द्रचूड़, ७१. मेघेश्वर, ७२. कच्छ, ७३. महाकच्छ, ७४. सुकच्छ, ७५. अतिबल, ७६. भद्राबलि, ७७. नमि, ७८. विनमि, ७९. भद्रबल, ८०. नन्दी, ८१ महानुभाव, ८२. नन्दिमित्र, ८३. कामदेव, ८४. अनुपम।

९. भगवान द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन

भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि पुरिमताल में खिरी थी। यही भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन कहलाया। भगवान यदि चाहते तो शेष सारा जीवन मौनपूर्वक व्यतीत कर सकते थे, जिस प्रकार उन्होंने अपने छद्मस्थ काल के एक हजार वर्ष मौनपूर्वक बिताये थे। किन्तु उन्हें धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन करके भव्य

प्रयाग में भगवान द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन

जीवों का कल्याण करना था। जब तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया था, उस समय उन्होंने सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करते हुए मार्ग प्रभावना की भी भावना की थी, अन्यथा तीर्थंकर प्रकृति का भोग पूरा नहीं होता।

भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन केवल मनुष्यों के हित और सुख के लिये ही नहीं था, बलिक यह तो देव, पशु, पक्षी सबके हित और सुख के लिये था। भगवान का धर्म-चक्र-प्रवर्तन फागुन सुदी एकादशी को हुआ था। भगवान ने धर्म-तीर्थ का उस दिन प्रवर्तन किया था। इसलिये यह कहना चाहिये कि इस युग में धर्म की व्यवस्थित

---

१. हरिवंश पुराण १२।५५-७०।

व्याख्या सर्व प्रथम फागुन सुदी एकादशी को हुई थी, धर्म की स्थापना का यह प्रथम दिवस था। इसलिये यह तिथि पवित्र तिथि मानी गई, यह स्थान पवित्र तीर्थक्षेत्र माना गया, यह वट वृक्ष अक्षय वट कहलाने लगा।

दिव्य ध्वनि—तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि का क्या रूप होता है, इस सम्बन्ध में निम्न गाथायें ध्यान देने योग्य हैं—

> अट्ठरस महाभासा खुल्लयभासाय सयाइं सत्त तहा।
> अक्खर अणक्खरप्पय सण्णीजीवाण सयलभासाओ॥
> एदासुं भासासुं तालु वदंतोट्ठकंठ वावारे।
> परिहरिय एक्ककालं भव्वजणे दिव्वभासित्तं॥
> पगदीए अक्खलिओ संभत्ति दयम्मि णवमुहुत्ताणि।
> णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वभुणी जाव जोयणमं॥
> अवसेस काल समये गणहर देविंद चक्कवट्टीणं।
> पण्हाण रुवमत्थं दिव्वभुणी अ सत्तभंगी हिं॥

अर्थात् अठारह महाभाषा, सात सौ छोटी भाषा तथा संज्ञीजीवों की और भी जो अक्षरात्मक-अनक्षरात्मक—भाषायें हैं, उन सभी भाषाओं में तालु, दांत, ओठ, कंठ को बिना हिलाये चलाये भगवान की वाणी भव्य जीवों के लिये प्रगट होती है। भगवान की वह दिव्य ध्वनि स्वभाव से (तीर्थंकर प्रकृति के उदय से वचन योग से, विना इच्छा के) स्पष्ट अनुपम तीनों सन्ध्या कालों में ९ मुहूर्त निकलती है और एक योजन तक जाती है। शेष समय में गणधर, इन्द्र तथा चक्रवर्ती के प्रश्न करने पर भी सात भंगमय दिव्यध्वनि खिरती है।

आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण में दिव्य ध्वनि की विशेषतायें बताते हुए कहा है—

> तत्प्रश्नानन्तरं धातुश्चतुर्मुख विनिर्गता।
> चतुर्मुखकला सार्था चतुर्वर्णाश्रमाश्रया॥५८।३
> चतुरस्त्रानुयोगानां चतुर्णामिकमातृका।
> चतुर्विध कथावृत्तिश्चतुर्गति निवारिणी॥ ५८।४
> समन्ततः शिवस्थानाद्योजनाधिक मण्डले।
> अत्रैवात्रैव वृत्तेति तत्र तत्रास्ति तादृशी॥५८।८
> मधुर स्निग्धगंभीर दिव्योदात्त स्फुटाक्षरम्।
> वर्ततेऽनन्य वृत्तैका तत्र साध्वी सरस्वती॥५८।९
> अनानात्मापि तद्वृत्तं नाना पात्र गुणाश्रयम्।
> सभायां दृश्यते नाना दिव्यमम्बु यथावनौ॥५८।१५
> सावधान सभास्थं ध्वान्तं सावरणं ध्वनिः।
> जैनोत्यर्कोभिनद्दिव्यो विश्वात्मेत्यादि भासनः॥५८।१६

अर्थात् गणधर के प्रश्न करने पर भगवान की दिव्यध्वनि खिरने लगी। भगवान की वह दिव्य ध्वनि चारों दिशाओं में दिखने वाले चार मुखों से निकलती थी, चार पुरुषार्थ रूप चार फलों को देने वाली थी, सार्थक थी, चार वर्ण और चार आश्रमों को आश्रय देने वाली थी, चारों ओर सुनाई पड़ती थी, चार अनुयोगों की माता थी, आक्षेपिणी-विक्षेपिणी-संवेगिनी और निर्वेदिनी इन चार कथाओं को वर्णन करने वाली थी, चार गतियों का निवारण करने वाली थी। जहाँ भगवान विराजते थे, वहाँ से चारों ओर एक योजन तक इतनी स्पष्ट सुनाई देती थी जैसे यहीं उत्पन्न होरही हो। वह दिव्य ध्वनि जैसी उत्पत्ति स्थान में सुनाई पड़ती थी वैसी ही एक योजन के घेरे में सुनाई पड़ती थी। वह मधुर, स्निग्ध, गम्भीर, दिव्य, उदात्त और स्पष्ट अक्षरों से युक्त थी, अनन्य रूप थी, एक थी और अत्यन्त निष्कलंक थी। जिस प्रकार आकाश से बरसा पानी एक रूप होता है परन्तु पृथ्वी पर पड़ते ही नाना रूप दिखाई देने लगता है, उसी प्रकार भगवान की वह वाणी यद्यपि एक रूप थी तथापि सभा में पात्र के

गुणों के अनुसार वह नानारूप दिखाई दे रही थी। संसार के समस्त पदार्थों को प्रकाशित करने वाली भगवान की वह दिव्यध्वनि सूर्य को पराजित करने वाली थी तथा सावधान होकर बैठी हुई सभा के अन्तःकरण में स्थित आवरण सहित अज्ञानान्धकार को खण्ड-खण्ड कर रही थी।

इसी प्रकार भगवज्जिनसेनाचार्य ने दिव्यध्वनि का स्वरूप विस्तार पूर्वक बताया है—

'दिव्यमहाध्वनिएरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत्।
भव्यमनोगतमोहतमोऽन्घन् अद्युवदेष यथैव तमोरि० आदि पु० २३।६९
'एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोन्तर नेष्ट वहूश्च कुभाषाः।
अप्रतिपत्तिमपास्य च तत्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना ॥ आदि पु० २३।७०
एकतयोऽपि तथैव जलौघश्चित्ररसो भवति द्रुमभेदात्।
पात्र विशेष वशाच्च तथायं सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वम् ॥२३।७१
एकतयोऽपि यथा स्फटिकाश्मा यद्यदुपाहितमस्य विभासन्।
स्वच्छतया स्वयमप्यनुधत्ते विश्ववुधोऽपि तथा ध्वनिरुच्चैः ॥२३।७२
देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतत् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थगतिर्जगति स्यात् ॥२३।७३

अर्थात् भगवान के मुखकमल से बादलों की गर्जना का अनुकरण करने वाली अतिशय युक्त महा दिव्य ध्वनि निकल रही थी और वह भव्यजीवों के मन में स्थित मोह रूपी अन्धकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी। यद्यपि वह दिव्यध्वनि एक प्रकार की थी तथापि भगवान के माहात्म्य से समस्त मनुष्यों की भाषाओं और अनेक कुभाषाओं को लेकर सर्वभाषारुप परिणमन कर रही थी और लोगों का अज्ञान दूर कर उन्हें तत्वों का बोध करा रही थी। जिस प्रकार एक ही प्रकार का जल का प्रवाह वृक्षों के भेद से अनेक रस वाला हो जाता है, उसी प्रकार सर्वज्ञ देव की वह दिव्य ध्वनि भी पात्रों के भेद से अनेक प्रकार की हो जाती थी। अथवा जिस प्रकार स्फटिक मणि एक ही प्रकार की होती है तथापि उसके पास जो जो रंगदार पदार्थ रख दिये जाते हैं, वह अपनी स्वच्छता से अपने आप उन उन पदार्थों के रंग को धारण कर लेती है, उसी प्रकार सर्वज्ञ भगवान की उत्कृष्ट दिव्य ध्वनि भी यद्यपि एक प्रकार की होती है तथापि श्रोताओं के भेद से वह अनेक रूप धारण कर लेती है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि वह दिव्य ध्वनि देवों के द्वारा की जाती है परन्तु उनका यह कहना मिथ्या है क्योंकि ऐसा मानने पर वह भगवान का गुण नहीं कहलायगा, देवकृत होने से देवों का कहलायगा। इसके सिवाय वह दिव्यध्वनि अक्षर रूप ही है क्योंकि अक्षरों के समूह के विना लोक में अर्थ का परिज्ञान नहीं होता।

इस प्रकार भगवान की वाणी और उपदेश को दिव्य ध्वनि कहा जाता है। भगवान की सभी बातें अलौकिक और दिव्य होती हैं, उनकी वाणी भी दिव्य होती है और वह संसार का कल्याण करने वाली होती है।

धर्मचक्र

धर्मचक्र जैन धर्म का एक आवश्यक चिन्ह है। जैन मन्दिरों की रचना समवसरण की अनुकृति होती है। समवसरण में तीर्थंकर भगवान स्वयं विराजमान होते हैं। मन्दिर में उन तीर्थंकरों की प्रतिमायें विराजमान की जाती हैं। समवसरण की रचना देवों द्वारा की जाती है, जबकि मंदिरों की रचना मनुष्यों द्वारा होती है। किन्तु समवसरण के आवश्यक अंगों की रचना मंदिरों में लघु रूप में यथा-संभव की जाती है। समवसरण में धर्मचक्रों की रचना होती है, देव और मनुष्य उनकी पूजा करते हैं। समवसरण के द्वार पर, श्रीमण्डप की पीठिकाओं पर, यक्षेन्द्रों के मस्तकों पर धर्म-चक्र सुशोभित रहते हैं। तीर्थंकर भगवान का जब धर्म-विहार होता हे तो धर्म-चक्र आगे आगे चलता है, सर्वाण्ह यक्ष धर्म-चक्र को मस्तक पर धारण कर भगवान की ओर पीठ किये बिना आगे चलता है। इतना ही नहीं; तीर्थंकर देव तीर्थ की स्थापना और उद्भावना करते हैं तथा उनका सर्वप्रथम जो, केवलज्ञान के अनन्तर, प्रथम धर्मोपदेश होता है और लोक कल्याणी दिव्य ध्वनि प्रगट होती है, उसे 'धर्म-चक्र प्रवर्तन' कहा जाता है।

मन्दिरों में भी धर्म-चक्रों का अंकन रहता है। वेदी पर, भगवान के सिंहासन पर धर्म-चक्र उत्कीर्ण किये

जाते हैं। कहीं कहीं स्वतन्त्र रूप से धर्मचक्र की रचना मिलती है। पाषाण-स्तम्भों, द्वार के तोरण और चैत्यों पर धर्मचक्र अंकित मिलते हैं। इससे प्रतीत होता है कि जैन धर्म में धर्म-चक्र को कितना महत्व दिया गया है। यद्यपि चक्र चक्र का प्रचलन प्राचीन भारत में युद्ध के एक अमोघ शस्त्र के रूप में रहा है। चक्रवर्ती और नारायण के आयुधों में को प्रमुख स्थान प्राप्त था, किन्तु आध्यात्मिक जगत में शत्रु का संहार करने वाले और हिंसा, विजय और अधिकार के प्रतीक उस चक्र को मान्यता नहीं दी गई है। किन्तु विश्व मैत्री, अहिंसा और जगत्कल्याण के प्रतीक धर्मचक्र को तीर्थंकरों की आध्यात्मिक विजय का भौतिक रूप माना गया है। धर्म-चक्र भी संसार से पाप—विजय और कषायों के विनाश के लिये तीर्थंकर के आगे-आगे चलता है। इसका आशय और प्रयोजन यह है कि तीर्थंकर का जहां भी धर्म-विहार होता है, वहां तीर्थंकर के पहुंचने से पूर्व ही ऐसा आध्यात्मिक वातावरण निर्मित हो जाता है, जिससे वहां के मनुष्यों, यहां तक कि तिर्यंचों तक के मन से विद्वेष, हिंसा और अनाचार के भाव दूर होने लगते हैं, उन्हें अन्तर में शान्ति का अनुभव होने लगता है और बाह्य प्रकृति में सब प्रकार की अनुकूलताएं परिलक्षित होने लगती हैं। प्राणियों की भावनाओं और प्रकृति के बाह्य रूप में यह परिवर्तन तीर्थंकर के आध्यात्मिक प्रभाव का अनिवार्य परिणाम है।

समवसरण के द्वार पर अथवा गन्धकुटी के चारों ओर, तीर्थंकर के आसपास धर्म-चक्रों की उपस्थिति का आशय यह है कि तीर्थंकर के चारों ओर का वातावरण इतना धर्ममय होता है कि जो प्राणी समवसरण में प्रवेश करता है, उसके विचारों और भावनाओं पर ऐसा प्रभाव स्वतः ही पड़ने लगता है कि उसके मन में धर्म के अंकुर प्रस्फुटित होने लगते हैं। उसके विचारों में से हिंसा, विद्वेष और अन्य कुत्सित भावनायें तिरोहित हो जाती हैं और जब वह तीर्थंकर के समीप पहुंचता है तो वहां और धर्म की बहती हुई पावन गंगा में अवगाहन करने लगता है। उसके जन्म-जन्मान्तरों के विकृत संस्कारों में एक अद्भुत क्रान्ति होने लगती है। तीर्थंकर धर्म के साकार, सजीव रूप हैं। वे मूर्तिमान धर्म हैं। वे उपदेश देते हैं, तभी धर्म जागृत होता है, ऐसी बात नहीं है। बल्कि जब वे मौन विराजमान हों, तब भी वे ही धार्मिक किरणें विकीर्ण होती रहती हैं, जिनमें ऐसी अद्भुत शक्ति होती है कि प्राणियों के अन्तकरण शुद्ध, पावन हो जाते हैं। समवसरण के द्वार पर चारों दिशाओं में मानस्तम्भ होते हैं, जिन्हें देखते ही प्राणी के मन से स्तम्भ की तरह ऊंचा और कठोर अभिमान भी गलित हो जाता है। इसका भी आशय यही है कि कोई प्राणी मन में अभिमान संजो कर समवसरण में प्रवेश नहीं कर सकता, उसके मन पर वहां के धर्ममय वातावरण का ऐसा प्रभाव पड़ता, है कि उसके मन से अभिमान के दाग-धब्बे स्वतः ही धुल पुंछ जाते हैं, मन में कोमलता जाग उठती है और अत्यन्त विनय और भक्ति तरंगित होने लगती है।

धर्म-चक्रों के सम्बन्ध में भगवज्जिनसेनाचार्य ने विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। आदि पुराण में अनेक स्थलों पर ऐसा वर्णन मिलता है—

तां पीठिकामलञ्चक्रुः अष्ट मंगलसंपदः।
धर्म चक्राणि चोढानि प्रांशुभिर्यक्षमूर्धभिः॥ २२।२९२

—उस पीठिका को अष्टमंगल द्रव्य रूपी संपदाएं और यक्षों के ऊँचे-ऊँचे मस्तकों पर रक्खे हुए धर्म चक्र अलंकृत कर रहे थे।

सहस्राराणि तान्युद्रत्नरश्मीनि रेजिरे।
भानुबिम्बानिवोद्यन्ति पीठिकोदय पर्वतात्। २२।२९३

—जिनमें लगे हुए रत्नों की किरणें ऊपर की ओर उठ रही हैं, ऐसे हजार-हजार आरों वाले वे धर्मचक्र ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पीठिका रूपी उदयाचल से उदय होते हुए सूर्य के बिम्ब ही हों।

सहस्रारस्फुद्धर्मचक्ररत्नपुरः सरः॥ २५।२५६

—भगवान जब विहार करते हैं, उस समय हजार आरों वाला धर्मचक्र भगवान के आगे-आगे चलता है।

इसी प्रकार आचार्य जिनसेन ने हरिवंशपुराण में इन धर्मचक्रों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है—

महा प्रभाव सम्पन्नास्तत्र शासन देवताः ।
नेमुश्चाप्रचिक्राद्या वृषभं धर्मचक्रिणं ।। ६।२२२

—उस समवसरण में महाप्रभाव से सम्पन्न अप्रतिचक्र आदि शासन देवता धर्मचक्र के धारक भगवान वृषभदेव को निरन्तर नमस्कार करते रहते थे ।

पीठानि त्रीणि भास्वन्ति चतुर्दिक्षु भवन्ति तु ।
चत्वारि च सहस्राणि धर्मचक्राणि पूर्व के ।। ५७।१४०

—समवसरण में चारों दिशाओं में तीन पीठ होते हैं, उनमें पहले पीठ पर चार हजार धर्मचक्र सुशोभित हैं।

सहस्रारं हसद्दीप्त्या सहस्रकिरणद्युति ।
धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानऽस्थानयोरभात् ।। ३।२९

—भगवान चाहे विहार करते हों, चाहे खड़े हों, प्रत्येक दशा में उनके आगे सूर्य के समान कान्तिवाला तथा अपनी दीप्ति से हजार आरे वाले चक्रवर्ती के चक्ररत्न की हँसी उड़ाता हुआ धर्मचक्र शोभायमान रहता था।

धर्मचक्र १२,२४ या १००० आरे वाले होते हैं ।

भगवान के प्रचारक

भगवान की धर्म-सभा और धर्मोपदेश की विज्ञप्ति और कनवैसिंग देवलोग करते हैं। वे लोगों को समवसरण में चलने की आग्रहपूर्वक प्रेरणा करते हैं। देवों की प्रेरणा पाकर असंख्य मनुष्य और स्त्रियाँ समवसरण में जाकर भगवान का उपदेश सुनते हैं और आत्म-कल्याण करते हैं। इस रहस्य पर आचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण में प्रकाश डाला है।

धर्मदानं जिनेन्द्रस्य घोषयन्तः समन्ततः ।
आह्वानं चक्रिरेऽन्येषां देवा देवेन्द्र शासनात् ।। ३।२८

—इन्द्र की आज्ञा से देव लोग चारों ओर जिनेन्द्र देव के धर्मदान की घोषणा करते हुये अन्य लोगों को बुलाते थे।

भगवान का धर्म-बिहार

भगवान कुछ दिन पुरिमताल नगर के शकटास्य वन में धर्म की मन्दाकिनी बहाते रहे। एक दिन सौ-धर्म इन्द्र ने सहस्र नामों द्वारा भगवान की स्तुति की जो बाद में सहस्र नाम स्तोत्र के रूप में जगत में प्रसिद्ध हुआ। स्तुति करने के बाद इन्द्र ने प्रार्थना की—'हे भगवन्! विभिन्न क्षेत्रों के भव्य जीव रूपी चातक आपकी धर्मामृत-वर्षा के लिये उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे हैं।

प्रभो! अब मोक्षमार्ग का उपदेश देने का समय आ गया है। भव्य जीव आपकी शरण हैं। आप उन्हें कल्याण का मार्ग बताने की दया कीजिये। आप ही चराचर के स्वामी हैं। धर्म का अवरुद्ध मार्ग खोलने का यह उपयुक्त समय आया है। संसार के दुखी प्राणियों का आप उद्धार कीजिये।'

उस समय भगवान स्वयं ही विहार करना चाहते थे। तभी इन्द्र ने विहार करने की प्रार्थना करके मानों भव्य जीवों की इच्छा का ही प्रतिनिधित्व किया। तब तीनों लोगों के स्वामी और धर्म के अधिपति भगवान ऋषभ-देव ने धर्म-विहार करना आरम्भ किया। इन्द्रदेव और असंख्य जनसमूह भगवान के साथ चल रहे थे। भगवान जहां भी जाते, तीनों सन्ध्याओं को उनका दिव्य उपदेश होता था। वे जब विहार करते थे, शीतल सुगन्धित वायु चलने लगती थी, वृक्ष फल फूलों से भर जाते थे, एक योजन तक की भूमि को पवनकुमार देव झाड़ बुहार देते, पृथ्वी दर्पण के समान निर्मल हो जाती। मेघकुमार देव सुगन्धित जल की वर्षा करके पृथ्वी को धूल रहित बना देते थे। जहां भगवान के चरण पड़ते, वहीं २२५ स्वर्ण कमलों की रचना हो जाती। किन्तु भगवान तो भूमि से चार अंगुल ऊपर ही चलते थे, कमलों पर उनके चरण नहीं पड़ते थे। भगवान के आगे हजार आरों वाला धर्म चक्र, अष्ट मंगल द्रव्य और धर्म-ध्वज चलते थे। देव दुन्दुभि-नाद और पुष्प वर्षा कर रहे थे। भेरी-ताड़न हो रहा था। देवांगनाएँ आकाश में भक्ति नृत्य करती चल रही थीं। किन्नर गा रहे थे, गन्धर्व और विद्याधर वीणा बजाते चल रहे थे। भगवान के अचिंत्य प्रभाव के कारण चारों ओर सुभिक्ष हो गया था, समस्त प्रकार का आनन्द,

कल्याण और आरोग्य व्याप्त था। इस प्रकार भगवान ने समस्त देशों में आनन्द और कल्याण की वर्षा करते हुए धर्म-विहार किया। इस विहार की बदौलत असंख्य प्राणियों ने अपना कल्याण किया।

भगवान ने जिन देशों में विहार किया, उनके नाम इस प्रकार हैं—काशी, अवन्ति, कुरु, कोशल, सुह्म, पुण्ड्र, चेदि, अंग, वंग, मगध, आन्ध्र, कलिंग, मद्र, पंचाल, मालव, दशार्ण, विदर्भ आदि।

१० भगवान का अष्टापद पर निर्वाण

कैलाश में निर्वाण

भगवान ने सम्पूर्ण देश में एक हजार वर्ष और चौदह दिन कम एक लाख पूर्व वर्षों तक धर्म-विहार किया। जब उनकी आयु के चौदह दिन शेष रह गये, तब वे श्रीशिखर और सिद्धशिखर के बीच में कैलाश पर्वत पर पहुंचे और पौष शुक्ला पूर्णमासी के दिन योगों का निरोध करने के लिए ध्यानारूढ़ हो गये।

उसी दिन सम्राट् भरत ने स्वप्न में देखा कि महामेरु पर्वत लम्बा होते होते सिद्ध क्षेत्र तक जा पहुंचा है। युवराज अर्ककीर्ति ने स्वप्न देखा कि एक महौषधि वृक्ष लोगों के रोगों का नाश करके स्वर्ग को जा रहा है। गृहपति ने स्वप्न देखा कि एक कल्पवृक्ष लोगों की कामनायें पूरी करने के बाद स्वर्ग को जा रहा है। प्रधानमन्त्री को स्वप्न हुआ कि एक रत्नद्वीप लोगों को नाना प्रकार के रत्न देकर आकाश की ओर जाने के लिए तैयार है। जयकुमार के पुत्र अनन्तवीर्य ने देखा कि चन्द्रमा तीनों लोकों को प्रकाशित करके तारों सहित जा रहा है। सम्राज्ञी सुभद्रा ने स्वप्न में देखा कि यशस्वती और सुनन्दा के पास बैठकर इन्द्राणी शोकाकुल हो रही है। वाराणसी नरेश चित्रांगद ने स्वप्न देखा कि सूर्य पृथिवी को प्रकाशित करके आकाश की ओर उड़ा जा रहा है। इस प्रकार और भी अनेक लोगों ने इसी प्रकार के नाना स्वप्न देखे।

प्रातःकाल होने पर सबने राजपुरोहित तथा निमित्त शास्त्र के ज्ञाता पुरुषों से अपने-अपने स्वप्न बता कर उनका फल पूछा। उन निमित्त ज्ञानियों ने विचार कर उत्तर दिया—भगवान ऋषभदेव सम्पूर्ण शेष कर्मो को नष्ट करके अनेक मुनियों के साथ मुक्त होनेवाले हैं। पुरोहित स्वप्नों का फल बता ही रहे थे, तभी आनन्द नामक एक व्यक्ति राज्य-सभा में आया। उसने महाराज भरत को यथोचित नमस्कार करके भगवान का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाया और कहा कि भगवान ने अपनी दिव्य ध्वनि का संकोच कर लिया है और सम्पूर्ण सभा हाथ जोड़कर मौन पूर्वक बैठी है।

यह सुनते ही सम्राट् भरत सब लोगों के साथ अविलम्ब कैलाश पर्वत पर जा पहुंचे। उन्होंने जाकर भगवान के दर्शन किये, तीन प्रदक्षिणा दीं, उनकी स्तुति की और महामह नामक पूजा की। इस प्रकार चक्रवर्ती चौदह दिन तक भगवान की सेवा करते रहे।

उस दिन माघ कृष्णा चतुर्दशी के सूर्योदय का शुभ मुहूर्त था। अभिजित नक्षत्र था। भगवान इस पुण्य-वेला में पूर्व दिशा की ओर मुख करके पर्यंकासन से विराजमान हो गये। उनके साथ के एक हजार मुनियों ने भी आत्म-विजय की अन्तिम तैयारी की। भगवान ने सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नामक तृतीय शुक्ल ध्यान के द्वारा मन, वचन, काय इन तीनों योगों का निरोध किया और फिर अन्तिम गुणस्थान में ठहरकर अ-इ-उ-ऋ-लृ इन ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण में जितना काल लगता है, उतने काल में व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चौथे शुक्ल ध्यान के द्वारा शेष अघातिया कर्मों का नाश कर दिया। वे सिद्धत्व पर्याय को प्राप्त हो गये। आत्मा की अनन्त विभूति को प्रगट करने वाले आत्मा के आठ गुण उनमें प्रगट हो गये—सम्यक्त्व, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अगुरुलघु

अवगाहन, सूक्ष्मत्व और अव्यावाध। ये गुण आठ कर्मो के विनाश द्वारा उत्पन्न हुये थे। वे इस शरीर को छोड़ कर तनु वात वलय में जा विराजे। वे लोक के अग्रभाग पर स्थित हो गये। वे निर्मल, निरावरण, निष्कलंक शुद्ध आत्म रूप में स्थित हो गये। वे जन्म-मरण से रहित हो गये, कृतकृत्य हो गये। सिद्ध परमात्मा हो गये। उनके साथ १००० मुनि भी मुक्त हुये।

भगवान का निर्वाण हो गया, यह जान कर सब देव और इन्द्र वहाँ आये। भगवान का शरीर पारे के समान बिखर गया था। तीर्थङ्कर के शरीर के परमाणु अन्तिम समय बिजली के समान क्षणभर में स्कन्ध पर्याय को छोड़ देते हैं। इन्द्र ने सब देवों के साथ भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

भगवान का निर्वाण कल्याणक

फिर भगवान के कृत्रिम शरीर को पालकी में विराजमान किया। फिर इन्द्र ने तीन अग्नि कुण्ड स्थापित किये। एक अग्निकुण्ड भगवान के लिये, दूसरा अग्निकुण्ड गणधरों के लिये दायीं ओर तथा तीसरा अग्नि कुण्ड गणधरों के अतिरिक्त अन्य सामान्य केवलियों के लिये बायीं ओर स्थापित किया। फिर उन कुण्डों में अग्नि स्थापित की, गन्ध-पुष्प आदि से पूजा करके चन्दन, अगुरु, कपूर, केशर आदि सुगन्धित पदार्थो और घी, दूध आदि द्वारा उस अग्नि को प्रज्वलित किया और उस शरीर को उसमें रख दिया। अग्नि ने थोड़े ही समय में शरीर का वर्तमान आकार नष्ट कर दिया। उन्होंने शेष मुनियों के शरीर का भी इसी प्रकार संस्कार किया।

फिर इन्द्रों ने पंच कल्याणकों को प्राप्त होने वाले भगवान वृषभदेव के शरीर की भस्म उठाकर 'हम लोग भी ऐसे ही हों' यह सोचकर बड़ी भक्ति से अपने ललाट पर, दोनों भुजाओं में, गले में और ललाट पर लगाई। फिर सबने मिलकर आनन्द नाटक किया और अपने-अपने स्थानों को चले गये।

भगवान का निर्वाण होने पर भेद विज्ञानी भरत चक्रवर्ती को मोह उत्पन्न हुआ और वे शोक सन्तप्त हो गये। उस समय वृषभसेन गणधर ने उन्हें संसार का स्वरूप बताते हुये समझाया, जिससे चक्रवर्ती का मोह भंग हो गया और गणधर देव के चरणों में नमस्कार करके वे अयोध्या नगरी को वापिस लौट गये।

सिद्धक्षेत्र कैलाश (अष्टापद)—भगवान ऋषभदेव का निर्वाण अष्टापद पर्वत से हुआ। अष्टापद को ही अनेक स्थानों पर कैलाश पर्वत भी कहा गया है। इसलिए कैलाश और अष्टापद दोनों स्थान भिन्न-भिन्न न होकर एक ही हैं।

कैलाश पर्वत सिद्ध क्षेत्र है। यहां से अनेक मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया है। भगवान ऋषभदेव के अतिरिक्त भरत आदि भाइयों ने, भगवान अजितनाथ के पितामह त्रिदशंजय, व्याल, महाव्याल, अच्छेद्य, अभेद्य, नागकुमार, हरिवाहन, भगीरथ आदि असंख्य मुनियों ने कैलाश पर्वत पर आकर तपस्या की और कर्मों को नष्ट करके यहीं से मुक्त हुए।

भगवान ऋषभदेव की स्मृति में भरत चक्रवर्ती ने ७२ जिनालय बनवाये और उनमें रत्नों की प्रतिमायें विराजमान करायीं। ये प्रतिमायें और जिनालय सहस्रों वर्षो तक वहां विद्यमान रहे। सगर चक्रवर्ती के आदेश से उनके साठ हजार पुत्रों ने उन मन्दिरों की रक्षा के लिये उस पर्वत के चारों ओर परिखा खोद कर गंगा को वहां बहाया। बाली मुनि यहीं तपस्या कर रहे थे। रावण उन्हें देखकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और जिस पर्वत पर खड़े वे तपस्या कर रहे थे, उस पर्वत को ही उलट देना चाहा। तब बाली मुनि ने सोचा—चक्रवर्ती भरत ने यहां जो जिन मन्दिर बनवाये थे, वे इस पर्वत के विचलित होने से कहीं नष्ट न हो जायें, यह विचार कर उस पर्वत को उन्होंने अपने पैर के अंगूठे से दबा दिया, जिससे रावण उस पर्वत के नीचे दबकर रोने लगा। इन घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि भरत द्वारा निर्मित ये मन्दिर और मूर्तियाँ रावण के समय तक तो अवश्य ही थीं।

कैलाश की आकृति—कैलाश की आकृति ऐसे लिंगाकार की है जो षोडश दल कमल के मध्य खड़ा हो। इन सोलह दल वाले शिखरों में सामने के दो शिखर झुक कर लम्बे हो गये हैं। इसी भाग से कैलाश का जल गौरी-कुण्ड में गिरता है। कैलाश इन पर्वतों में सबसे ऊंचा है। उसका रंग कसौटी के ठोस पत्थर जैसा है। किन्तु बर्फ

से ढके रहने के कारण वह रजतवर्ण दिखायी पड़ता है। दूसरे शृंग काले लाल मटमैले पत्थर के हैं। मानसरोवर की ओर से इसकी चढ़ाई डेढ़ मील की है जो बहुत कठिन है। कैलाश के शिखर के चारों कोनों में ऐसी मन्दिराकृतियां स्वतः बनी हुई हैं जैसे बहुत से मन्दिरों के शिखरों पर चारों ओर बनी होती है।

तिब्बत की ओर से यह पर्वत ढलान वाला है। उधर तिब्बतियों के बहुत मन्दिर बने हुये हैं। तिब्बत के लोगों में कैलाश के प्रति बड़ी श्रद्धा है। अनेक तिब्बती तो इसकी बत्तीस मील की परिक्रमा दण्डवत प्रणिपात द्वारा लगाते हैं। लिंग-पूजा इस शब्द का प्रचलन तिब्बत से ही प्रारम्भ हुआ। तिब्बती भाषा में लिंग का अर्थ क्षेत्र या तीर्थ है। अतः लिंग-पूजा का अर्थ तिब्बती भाषा में तीर्थ[1] पूजा है।

कैलाश और अष्टापद—प्राकृत निर्वाण भक्ति में 'अट्ठावयम्मि उसहो' अर्थात् ऋषभदेव की निर्वाण भूमि अष्टापद बतायी है। किन्तु संस्कृत निर्वाण भक्ति में अष्टापद के स्थान में कैलाश को ऋषभदेव की निर्वाण भूमि माना है—कैलाश शैल शिखरे परिनिर्वृतो ऽसौ, शैलेशिभावमुपपद्य वृषो महात्मा।' संस्कृत निर्वाण काण्ड में एक श्लोक में निर्वाण क्षेत्रों का उल्लेख करते हुए कहा है—"सह्याचले च हिमवत्यपि सुप्रतिष्ठे।' इसमें सम्पूर्ण हिमालय को ही निर्वाण क्षेत्र माना है।

एक ही स्थान के लिये आचार्य ने तीन नाम दिये हैं। इससे लगता है, ये तीनों नाम समानार्थक और पर्यायवाची हैं। कहीं-कहीं हिमवान के स्थान पर धवलगिरि शब्द का भी प्रयोग मिलता है। यदि यह मान्यता सही है कि ये सब नाम पर्यायवाची हैं तो कैलाश या अष्टापद कहने पर हिमालय में भागीरथी, अलकनन्दा और गंगा तटवर्ती बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, यमुनोत्री से लेकर नर-नारायण, द्रोणगिरि, गौरीशंकर, नन्दा, त्रिशूली, और मुख्य कैलाश यह सम्पूर्ण प्रदेश ही निर्वाण क्षेत्र हो जाता है।

हिमालय में स्थित तीर्थों को ध्यानपूर्वक देखने से इस मान्यता का समर्थन होता है। भगवान ऋषभदेव के पिता नाभिराय ने बद्रीनाथ मन्दिर के पीछे वाले पर्वत पर तपस्या की थी। वहां उनके चरण विद्यमान हैं। भगीरथ ने कैलाश पर्वत पर जाकर शिवगुप्त नामक मुनि से दीक्षा ली थी और उन्होंने गंगा-तट पर तपस्या की थी। इन्द्र ने क्षीरसागर के जल से भगीरथ मुनि के चरणों का अभिषेक किया था। उस चरणोदक का प्रवाह गंगा में जाकर मिल गया। तभी से गंगा नदी लोक में तीर्थ मानी जाने लगी। उन महामुनि भगीरथ ने गंगा तट पर जिस शिला पर खड़े होकर तपस्या की थी, वह शिला भगीरथ-शिला कहलाने लगी। वह अब भी विद्यमान है। भगीरथ की तपस्या का यह वर्णन जैन[2] शास्त्रों में मिलता है।

बद्रीनाथ मन्दिर की मूर्ति भगवान ऋषभदेव की है। इससे इस तथ्य पर प्रकाश पड़ता है कि चक्रवर्ती भरत ने जिन ७२ जिन-मन्दिरों का निर्माण कराया था, वह केवल कैलाश में नहीं, अपितु सारे हिमालय में विभिन्न स्थानों पर कराया था।

1. It may be mentioned that Linga is a Tibetan word for Land. The northern most district of Bengal is called Darji-Ling, which means Thunder's land.
S.K. Roy, Pre-historic India and Ancient Egypt., p. 28

२. उत्तर पुराण ४८।१३८-१४१

११. नाभिराय और मरुदेवी

जैन पुराणों में नाभिराय का जो वर्णन मिलता है, उसके अनुसार वे अन्तिम मनु थे। वे तेरहवें मनु प्रसेनजित के पुत्र थे। वे भरतक्षेत्र में विजयार्ध पर्वत से दक्षिण की ओर मध्यम आर्य खण्ड में उत्पन्न हुये थे। उनका विवाह अत्यन्त सुन्दरी मरुदेवी से हुआ था। उस समय कल्पवृक्ष रूप प्रासाद उस क्षेत्र में नष्ट हो गये थे किन्तु केवल नाभिराय का ही कल्पवृक्ष प्रासाद बाकी बचा था जो ८१ खण्ड का था। इसका नाम सर्वतोभद्र प्रासाद था। इन्द्र ने उनके लिये अयोध्यानगरी की रचना की। उसमें उनके लिये और त्रिलोकीनाथ तीर्थङ्कर भगवान के उपयुक्त प्रासाद की रचना की और आदर सहित उनको उस प्रासाद में पहुंचा दिया। उनके यहां आदि तीर्थकर ऋषभदेव का जन्म हुआ।

जैन पुराणों में नाभिराय और मरुदेवी

जब ऋषभदेव राज्यभार का दायित्व संभालने योग्य हुए तो महाराज नाभिराज ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। यथा—

'नृपा मूर्धाभिषिक्ता ये नाभिराजपुरस्सरा।
राजवद् राजसिंहोऽयमभ्यसिच्यत तैः समम्।। —आदि पुराण १६।२२४

अर्थात् सब राजाओं में श्रेष्ठ यह ऋषभदेव वास्तव में राजपद के योग्य है, ऐसा मानकर नाभिराज आदि राजाओं ने उनका एक साथ अभिषेक किया।

इसके पश्चात् जब तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने दीक्षा ली, उस समय भी महाराज नाभिराज और महारानी मरुदेवी अन्य लोगों के साथ तपकल्याणक का उत्सव देखने के लिये पालकी के पीछे चल रहे थे।

मरुदेव्या समं नाभिराजो राजशतैर्वृतः।
अनूत्तस्थौ तदा दृष्टुं विभोर्निष्क्रमणोत्सवम्।।

—आदिपुराण १७।१७८

अर्थात् उस समय महाराजा नाभिराज भी मरुदेवी तथा सैकड़ों राजाओं से परिवृत्त होकर प्रभु ऋषभदेव के तप कल्याणक का उत्सव देखने के लिये उनके पीछे जा रहे थे।

उस समय का दृश्य बड़ा विचित्र था। एक ही समय में विविध रसों का परिपाक हो रहा था।

ऊर्ध्वं नवरसा जाता नृत्यदप्सरसां स्फुटाः।
नाभेयेन विमुक्तानामधः शोक रसोऽभवत्।।

—हरिवंश पुराण ९।९१

—ऊपर तो अप्सराओं के नृत्य से नौ रस प्रगट हो रहे थे और नीचे पृथिवी पर तीर्थङ्कर ऋषभदेव द्वारा छोड़े हुए जन शोक रस से अभिभूत हो रहे थे।

आचार्य रविषेण के अनुसार ऋषभदेव ने वन में पहुंचकर 'माता-पिता' और बन्धुजनों से आज्ञा लेकर 'णमो सिद्धाणं' कहकर पंच मुष्टि लोच करते हुए श्रमण दिगम्बर दीक्षा लेली। यथा—

'आपृच्छणं ततः कृत्वा पित्रोर्बन्धु जनस्य च।
'नमः सिद्धेभ्य' इत्युक्त्वा श्रामण्यं प्रत्यपद्यत।। —पद्मपुराण ३।२८२

उपर्युक्त अवतरणों से यह तो स्पष्ट ही है कि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के दीक्षा कल्याणक के समय उनके माता-पिता विद्यमान थे। किन्तु इसके बाद वे दोनों कितने दिन जीवित रहे अथवा उन्होंने अपना शेष जीवन किस प्रकार और कहां व्यतीत किया, इसके सम्बन्ध में जैन साहित्य में अभी तक कोई स्पष्ट उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। किन्तु इस विषय में हिन्दू पुराण 'श्रीमद्भागवत' में महर्षि शुकदेव ने जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके लिये हम महर्षि शुकदेव के चिर ऋणी हैं। महर्षि लिखते हैं—

श्री मद्भागवत में नाभिराज और मरुदेवी

विदितानुरागमापौर प्रकृति-जनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतुरक्षायामभिषिच्य सह मरुदेव्या विशा-लायां प्रसन्ननिपुणेन तपसा समाधियोगेन......महिमानमवाप ।

— श्रीमद्भागवत ५।४।५

(टीका) आपौर प्रकृति पौरान्प्रकृतीश्चाभिव्याप्य विदितोऽनुरागो यस्मिन् । कर्मभूतो नाभिः । जनपदः जनाः पौरादयः पदं प्रमाणं यस्य सः । आत्मजं धर्ममर्यादा-रक्षणार्थमभिषिच्य ।... विशालायां बदरिकाश्रमे । प्रसन्नं परानुद्वेजकं निपुणं च तीव्रं तेन उपासीनः सेवमानः कालेन नरमहिमानं जीवन्मुक्तिमवाप ।

१२. ऋषभदेव का लोकव्यापी प्रभाव

ऋषभदेव की मान्यता सारे लोकमानस में छा गई थी। देश की समस्त जनता उन्हें अत्यन्त श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। उनके हर कार्यकलाप में उसे नवीनता और अपूर्वता प्रतीत होती थी। वह उनकी प्रत्येक गतिविधि को बड़े विस्मय और भक्ति से देखती थी। जो कार्य उसे अद्भुत प्रतीत होता था, उसकी स्मृति सुरक्षित रखने के लिये उस स्थान और तिथि को मान्यता देकर उस कार्य का स्मरण करती थी। यही कारण था कि उनकी गतिविधि से सम्बन्धित प्रत्येक स्थान तीर्थ बन गया और प्रत्येक तिथि पर्व बन गई। वह परम्परा किसी न किसी रूप में आज तक सुरक्षित है।

ऋषभदेव से सम्बन्धित तीर्थ और पर्व

भगवान का जन्म अयोध्या में हुआ था। भगवान के रहने के लिये इन्द्र ने उसकी रचना सर्वप्रथम की थी। कर्मयुग के पूर्वकाल में निर्मित यह सर्वप्रथम नगरी थी। इसी में भगवान ने जन्म लिया, इसी में बचपन,

किशोरावस्था और यौवन बिताया। इसी में रहकर उन्होंने सृष्टि में कर्म का प्रचलन किया, इसी में रहकर संसार की सम्पूर्ण व्यवस्थायें प्रचलित कीं। भगवान का सम्पर्क पाकर अयोध्या पावन तीर्थ वन गई। लोग यहाँ आते और श्रद्धा से उसकी रज उठाकर माथे से लगाते। संभव है, उस रज में भगवान की चरण रज मिली हो। लोक के लिये अयोध्या का कण-कण पवित्र और वन्दनीय था। जगत्पति भगवान का सम्पर्क पाकर अयोध्या तीर्थभूमि वन गई। लोहा पारस का स्पर्श पाकर सोना वन जाता है। महत्व पारस का है, लोहे का नहीं। ऋषभदेव के कारण अयोध्या तीर्थ वन गई। और जन्म-तिथि महान् पर्व हो गई। महत्व ऋषभदेव का है। लोग अयोध्या जाते हैं तो भक्ति की शान पर चढ़कर उनकी कल्पना तेज हो उठती है और अयोध्या के गली कूंचों और खण्डहरों में भगवान के जन्म-काल की नाना लीलाओं के दर्शन होने लगते हैं। उनकी कल्पित छवि मानस चक्षुओं के आगे आकार ग्रहण करके नाचने लगती है और श्रद्धा से मस्तक उनके चरणों में स्वतः झुक जाता है। संसार के प्रपंच और व्यामोह में फंसा व्यक्ति अपने आपको भूल जाता है, उन प्रपंचों को भूल जाता है और भगवान के चरणों में स्वयं को समर्पित पाता है।

प्रभु ऋषभदेव ने एक दिन अयोध्या का त्याग कर दिया, अयोध्या के मोह का त्याग कर दिया। वे संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गये और दीक्षा लेली। छह माह के उपवास का नियम ले लिया। उसके बाद वे आहार के लिये निकले। उनके प्रति लोगों में अपार श्रद्धा-भक्ति तो थी किन्तु आहार दान की विधि का थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं था। छह माह तक वे घूमते रहे। रत्न, कन्यायें, हाथी, घोड़े, वस्त्र, अलंकार तो ले-लेकर लोग आये, किन्तु आहार कोई नहीं दे सका। यह सौभाग्य मिला राजकुमार श्रेयान्स को। हस्तिनापुर के पुण्य जागे, श्रेयान्स के पुण्य जागे। भगवान विहार करते हुए हस्तिनापुर पधारे। भगवान को देखते ही कुमार श्रेयान्स को पहले जन्म की वह घटना स्मरण हो आई, जब उसने मुनि को आहार-दान दिया था। आदर से वह उठा, भक्ति से उसने भगवान को यथाविधि पड़गाहा और श्रद्धा से उसने आहार दिया। उस समय इक्षु-रस के कलश भरे हुए रक्खे थे वहाँ। आत्मविभोर होकर उसने भगवान को आहार में वही इक्षु-रस दिया। भगवान ने अनासक्त भाव से वही लिया। तीर्थंकर भगवान का यह प्रथम आहार था। कर्मभूमि में एक मुनि को दिया गया यह प्रथम आहार था। कुमार श्रेयान्स प्रथम दाता था, भगवान इस दान के प्रथम पात्र थे। हस्तिनापुर भगवान को दिये आहार-दान का प्रथम स्थान था। देवताओं ने इस प्रथम दान की सराहना की, राजकुमार श्रेयान्स का जय-जयकार किया, भगवान की स्तुति की। किन्तु जनता ने इस घटना की स्मृति को अमिट बना दिया—हस्तिनापुर को महान् तीर्थ मानकर और आहार-दान की उस तिथि को—आषाढ़ कृष्णा तृतीया को पर्व मानकर। तृतीया तो वर्ष में चौवीस आती हैं, किन्तु यह तृतीया तो असाधारण थी, अपूर्व थी, अदृष्टपूर्व थी, अश्रुतपूर्व थी। इस तृतीया को तो भगवान का निमित्त पाकर श्रेयान्स कुमार ने, सोमप्रभ ने, लक्ष्मीमती ने और समस्त दर्शकों ने अक्षय पुण्य-संचय किया था। इसलिये इस तिथि को पर्व मानकर ही जनता को सन्तोष नहीं हुआ। इस तृतीया को अक्षय तृतीया मानकर उसको विशेष गौरव प्रदान किया। किस बुद्धिसागर महामानव ने यह नाम दिया इस तिथि को आज से लाखों करोड़ों वर्ष पहले। उस अज्ञात मनीषी को हमारे प्रणाम हैं। 'अक्षय' इस एक शब्द में ही उसने पर्व का सारा इतिहास लिख दिया।

भगवान तो निरीह थे, वीतराग थे। आहार लिया और चल दिये। मौन धारण किये एक हजार वर्ष तक ध्यान और विहार करते रहे। तब वे एक दिन पुरिमताल नगर के बाहर उद्यान में पहुंचे। एक वटवृक्ष के नीचे एक शिला पर पद्मासन लगाकर ध्यानस्थ हो गये। उनकी सारी इन्द्रियाँ सिमट कर मन में समा गईं। मन आत्मा में तिरोहित हो गया। उन्हें विमल केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। वे समस्त लोकालोक के ज्ञाता-दृष्टा बन गये। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। भगवान ऋषभदेव के जीवन का यह ज्वलन्त अवसर था। सही मायनों में वे अभी भगवान बने थे। इससे भी बड़ी और महत्वपूर्ण एक घटना और घटी यहाँ पर। देवों ने इसी स्थान पर समवसरण की रचना की। भगवान का उसमें प्रथम धर्मोपदेश हुआ। एक हजार वर्ष से स्वेच्छा से लिया मौन प्रथम बार भंग हुआ। भगवान ने यहां पर ही धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान को जिस स्थान पर केवलज्ञान हुआ और प्रथम दिव्य-ध्वनि खिरी, उस पुरिमताल को लोग

'प्रयाग' कहने लगे और उसे तीर्थभूमि मान लिया। जिस वट वृक्ष के नीचे बैठकर भगवान ने तपस्या की, केवल ज्ञान हुआ और धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया, जनता ने उस वट वृक्ष को प्रणाम किया और उसके सम्मान को सुरक्षित रखने के लिये उसे अक्षय वट कहने लगे। महान् प्रभु के अल्पकालिक सम्पर्क ने उस वट वृक्ष को भी महान् बना दिया। और फागुन सुदी एकादशी का दिन पर्व बन गया, जिस दिन भगवान को केवलज्ञान हुआ था।

केवल ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् भगवान ने सम्पूर्ण देश में विहार किया। गृहस्थ दशा में उन्होंने लोक को बदला था, लोक-व्यवस्था को बदला था। अब वे लोकमानस को बदलने के लिये उपदेश देने लगे। गृहस्थ थे तो जनता का आहार-विहार बदला था, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये, तब जनता का आचार-विचार बदल दिया, सोचने की दृष्टि बदल दी। पहले शरीर के लिये सब कुछ किया, अब आत्मा के लिये सब कुछ करने लगे। पहले कर्म-व्यवस्था बनाई, अब धर्म-व्यवस्था बनाने लगे। कौन सा देश था, जहाँ वे नहीं गये। कौन सा क्षेत्र था, जहाँ उनकी दिव्य गिरा में लोगों ने अवगाहन नहीं किया। धर्म की उस पावन मन्दाकिनी में आलोडन करके जन-जन के मन में शुद्धि प्रस्फुटित हो उठी। हिमालय के उत्तु ग शिखर उनके गम्भीर नाद से गू ज उठे। मैदानों में उनके उपदेशों की शीतल बयार बहने लगी। वे आर्य देशों में गये, अनार्य देशों में गये। उनके समवसरण में गरीब आते थे, अमीर आते थे। रंक आते थे, सम्राट् आते थे। गाय भी आती थी और शेर भी आते थे; चूहे भी आते थे, बिल्ली भी आती थी। उनका समवसरण समाजवाद का सच्चा केन्द्र था; विभिन्न मतों और विरोधी जीवों के सह अस्तित्व का अद्भुत स्थान था। विभिन्नता में एकता और विरोधों में समन्वय का एक अलौकिक मंच था। अशान्त मन वहाँ जाकर शान्ति पाता था, क्रूरता की आग पर सौहार्द का शीतल जल बरस कर उसे शान्त कर देता था। भगवान की आत्मा आनन्द और शान्ति की निधान थी। उनके चारों ओर का वातावरण उसी आनन्द और शान्ति से व्याप्त हो जाता था। उनके सान्निध्य में पहुंचकर अनुभव होने लगता था कि मानो जीवन में अशान्ति और दुःख के सारे दाग धुल पुंछ गये है। वे मुख से नहीं बोलते थे, उनके रोम-रोम से शान्ति और प्रेम बोलता था। उनका व्यक्तित्व अलौकिक था, उनका उपदेश अलौकिक था और उनका प्रभाव अलौकिक था।

भगवान विहार और उपदेश करते हुए एक दिन कैलाश पर्वत पर जा पहुँचे। वे कैलाश के उत्तुंग शिखर पर खड़े होकर ध्यानलीन हो गये। उनके निकट एक हजार मुनि भी ध्यान लगाकर खड़े हो गये। चक्रवर्ती भरत और असंख्य जनमेदिनी हाथ जोड़े हुए भगवान के दिव्य रूप का दर्शन कर रही थी। कैलाश के निर्झरणों का कल-कल करता हुआ शीतल जल बहकर गौरीकुण्ड में गिर रहा था। सारा पर्वत हिम के कारण रजत के समान श्वेत धवल हो रहा था। भगवान के मुख की दीप्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी। यह दीप्ति बढ़ते-बढ़ते सूर्य-प्रभा जैसी हो गई, किन्तु शीतल और स्निग्ध। कुछ काल के बाद करोड़ों सूर्य मानों एक स्थान पर आ गये। फिर वह तेज-पुंज जल-थल को, आकाश-पाताल को, लोक-अलोक को प्रकाशित करता हुआ अदृश्य हो गया। भगवान का निर्वाण हो गया।

कैलाश धन्य हो गया, जो भी वहां थे वे धन्य हो गये, सारा लोक धन्य हो गया। देव और देवेन्द्रों ने मिलकर आनन्दोत्सव किया। चक्रवर्ती भरत ने वहाँ स्वर्ण मन्दिर और स्तूप निर्मित कराये। लोक ने कैलाश को महान् तीर्थ घोषित किया और उस तिथि को-माघ कृष्णा चतुर्दशी को महान् पर्व स्वीकार किया।

भगवान का पार्थिव रूप नहीं रहा, किन्तु उनकी स्मृति संजोये ये तीर्थ और पर्व लाखौं करोड़ों वर्ष के अन्तराल को पारकर आज तक जन-जन के मन में भगवान को जीवित रक्खे हुए हैं। भगवान का भौतिक शरीर नहीं रहा, किन्तु उनका यशः शरीर तब तक रहेगा, जब तक ये चांद सितारे आकाश में चमकते रहेंगे।

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव

श्रीमद्भागवत पुराण भक्ति का अमर ग्रन्थ माना जाता है। वैष्णव सम्प्रदाय में जितने परम वैष्णव और महाभागवत हुए हैं, उनको विष्णु-भक्ति की प्रेरणा इसी ग्रन्थ से मिली थी। रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि की भक्ति-साधना का मूलाधार श्रीमद्भागवत ही था। इस ग्रन्थ में भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के अनु-सार चौबीस अवतारों के नाम इस प्रकार हैं—नाभि सरोवर में से एक कमल उत्पन्न हुआ।

उस कमल से प्रजापतियों के अधिपति ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। इन्हीं से सारे अवतार प्रगट हुए। कुल अवतारों की संख्या चौवीस थी—१. सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार ये चार ब्राह्मण २. शूकरावतार ३. नारद ४. नर-नारायण ५. कपिल ६. दत्तात्रेय ७. यज्ञावतार ८. ऋषभदेव ९. पृथु १०. मत्स्यावतार ११. कच्छपावतार १२. धन्वन्तरि १३. मोहिनी १४. नरसिंह १५. वामन १६. परशुराम १७. व्यास १८. राम १९. वलराम २०. श्रीकृष्ण २१. बुद्ध २२. कल्कि

श्रीमद्भागवत में चौवीस अवतार स्वीकार किये हैं, किन्तु नाम उपर्युक्त वाईस अवतारों के ही दिये हैं। कुछ विद्वान् हंस और हयग्रीव नामक दो अवतार और मानते हैं और इस प्रकार अवतारों की चौवीस संख्या की पूर्ति करते हैं। कुछ अन्य विद्वान् चौवीस की संख्या पूर्ति इस प्रकार करते हैं—रामकृष्ण के अतिरिक्त वीस अवतार तो उपर्युक्त हैं ही। शेष चार अवतार श्रीकृष्ण के ही अंश हैं। स्वयं श्रीकृष्ण तो पूर्ण पुरुष हैं। वे अवतार नहीं, अवतारी हैं। अतः श्रीकृष्ण को अवतारों में नहीं गिनते। उनके चार अंश इस प्रकार हैं—१. केश का अवतार २. सुतपा तथा पृश्नि पर कृपा करने वाला अवतार ३. संकर्षण वलराम ४. परब्रह्म।

इस महापुराण में भगवान ऋषभदेव का वर्णन कई स्थलों पर किया है। यहां उन स्थलों से लेकर ऋषभदेव-चरित्र ज्यों का त्यों (हिन्दी भाषा में) दिया जा रहा है। इससे ऋषभदेव के चरित्र पर तो प्रकाश पड़ता ही है, उनकी महानता के भी दर्शन होते हैं। इससे कुछ नये तथ्यों का उद्घाटन भी होता है—

"राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान ने आठवां अवतार ग्रहण किया। इस रूप में उन्होंने परमहंसों का वह मार्ग दिखाया जो सव आश्रमों के लिये वन्दनीय हैं।"

—श्रीमद्भागवत १।३।१३

"राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से भगवान ने ऋषभदेव के रूप में जन्म लिया। इस अवतार में समस्त आसक्तियों से रहित रहकर, अपनी इन्द्रियों और मन को अत्यन्त शान्त करके एवं अपने स्वरूप में स्थित होकर समदर्शी के रूप में उन्होंने जड़ों की भांति योगचर्या का आचरण किया। इस स्थिति को महर्षि लोग परमहंस पद अर्थात् अवधूतचर्या कहते हैं।

—श्रीमद्भागवत २।७।१०

स्वायम्भुव मनु के पुत्र प्रियव्रत थे। उन्हें परमार्थ तत्व का वोध हो गया था। वे निरन्तर ब्रह्माभ्यास में लीन रहते थे। पिता ने उन्हें राज्य-भार सौंपना चाहा, किन्तु उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। तव ब्रह्माजी द्वारा समझाने पर उन्होंने राज्य स्वीकार किया। राज्य शासन करते हुए भी देहादि उपाधि की निवृत्ति हो जाने से उनकी आत्मा की सम्पूर्ण जीवों के आत्मभूत प्रत्यगात्मा में एकीभाव से स्थिति हो गई।

उन्होंने अपने रथ पर चढ़कर पृथ्वी की सात परिक्रमायें दीं। उस समय उनके रथ के पहियों से जो लीकें वनी वे ही सात समुद्र हुए। उनसे पृथ्वी में सात द्वीप वन गये। उनके नाम क्रमशः जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर द्वीप हैं। इनमें से पहले-पहले की अपेक्षा आगे-आगे के द्वीप का परिमाण दूना है और ये समुद्र के बाहरी भाग में पृथ्वी के चारों ओर फैले हुए हैं। सात समुद्र क्रमशः खारे जल, ईख के रस, मदिरा, घी, दूध, मट्ठे और मीठे जल से भरे हुए हैं।

प्रियव्रत के सात पुत्र थे—अग्नीध्र, इध्मजिह्व, यज्ञवाहु, हिरण्यरेता, घृतपृष्ठ, मेधातिथि और वीतिहोत्र। इन पुत्रों को एक-एक द्वीप का राज्य दे दिया। आग्नीध्र जम्बूद्वीप के राजा वने। उनके नौ पुत्र हुए—नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्यक, हिरण्मय, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। आग्नीध्र ने जम्बूद्वीप के विभाग करके उन्हीं के समान नाम वाले नौ वर्ष (भूखण्ड) वनाये और उन्हें एक-एक पुत्र को सौंप दिया।

पिता के परलोक गमन करने पर नौ भाइयों ने मेरु की नौ कन्याओं से विवाह कर लिया। नाभि ने मेरु-देवी से विवाह किया। वहुत समय तक नाभि के कोई सन्तान नहीं हुई। तव दम्पति ने श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भाव से भगवान की आराधना की। तव भगवान ने प्रसन्न होकर वरदान दिया—'मैं स्वयं ही अपनी अंशकला से अग्नीध्र-नन्दन नाभि के यहां अवतार लूंगा क्योंकि अपने समान मुझे कोई और दिखाई नहीं देता।'

महारानी मेरुदेवी के सुनते हुए उसके पति से इस प्रकार कहकर भगवान अन्तर्धान हो गये। उस यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर श्रीभगवान महाराज नाभि का प्रिय करने के लिये उनके रनिवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर संन्यासी और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रगट करने के लिये शुद्ध सत्वमय विग्रह से प्रगट हुए।

—पञ्चम स्कन्ध तृतीय अध्याय

'राजन्! नाभिनन्दन के अंग जन्म से ही भगवान विष्णु के वज्र-अंकुश आदि चिह्नों से युक्त थे। समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियों के कारण उनका प्रभाव दिनों दिन बढ़ता जाता था। यह देखकर मन्त्री आदि प्रकृति वर्ग प्रजा, ब्राह्मण और देवताओं की यह उत्कट अभिलाषा होने लगी कि ये ही पृथ्वी का शासन करें। उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम 'ऋषभ' (श्रेष्ठ) रक्खा।

एक बार भगवान इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य में वर्षा नहीं की। तब योगेश्वर भगवान ऋषभ ने इन्द्र की मूर्खता पर हंसते हुए अपनी योग माया के प्रभाव से अपने वर्ष अजनाभखण्ड में खूब जल बरसाया। महाराज नाभि अपनी इच्छानुकूल श्रेष्ठ पुत्र पाकर अत्यन्त आनन्दमग्न हो गये। और अपनी ही इच्छा से मनुष्य शरीर धारण करने वाले पुराण पुरुष श्रीहरि का सप्रेम लालन करते हुए, उन्हीं के लीला विलास से मुग्ध होकर 'वत्स! तात!' ऐसा गद्‌गद् वाणी से कहते हुए बड़ा सुख मानने लगे।

जब उन्होंने देखा कि मन्त्रिमण्डल, नागरिक और राष्ट्र की जनता ऋषभदेव से बहुत प्रेम करती है तो उन्होंने उन्हें धर्म मर्यादा की रक्षा के लिये राज्याभिषेक करके ब्राह्मणों की देखरेख में छोड़ दिया। आप अपनी पत्नी मेरुदेवी के सहित बदरिकाश्रम को चले गये। वहां अहिंसा वृत्ति से, जिससे किसी को उद्वेग न हो, ऐसी कौशलपूर्ण तपस्या और समाधियों के द्वारा भगवान वासुदेव के नर-नारायण रूप की आराधना करते हुए समय आने पर उन्ही के स्वरूप में लीन हो गये।

भगवान ऋषभदेव ने अपने देश अजनाभखण्ड को कर्म भूमि मानकर लोकसंग्रह के लिये कुछ काल गुरुकुल में वास किया। गुरुदेव को यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थ में प्रवेश करने के लिये उनकी आज्ञा ली। फिर लोगों को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के लिये देवराज इन्द्र की दी हुई उनकी कन्या जयन्ती से विवाह किया तथा श्रौत-स्मार्त दोनों प्रकार के शास्त्रोपदिष्ट कर्मों का आचरण करते हुए उसके गर्भ से अपने ही समान गुण वाले सौ पुत्र उत्पन्न किये। उनमें महायोगी भरतजी सबसे बड़े और सबसे अधिक गुणवान् थे। उन्हीं के नाम से लोग इस अजनाभखण्ड को भारतवर्ष कहने लगे। उनसे छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ, और कीकट ये नौ राजकुमार शेष नव्वे भाइयों से बड़े एवं श्रेष्ठ थे। उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन ये नौ राजकुमार भागवत धर्म का प्रचार करने वाले बड़े भगवद्‌भक्त थे। भगवान की महिमा से महिमान्वित और परम शान्ति से पूर्ण इनका पवित्र चरित्र हम नारद-वसुदेव संवाद के प्रसंग से आगे (एकादश स्कन्ध में) कहेंगे। इनसे छोटे जयन्ती के इक्यासी पुत्र पिता की आज्ञा का पालन करने वाले, अति विनीत, महान् वेदज्ञ, निरन्तर यज्ञ करने वाले थे। वे पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करने से शुद्ध होकर ब्राह्मण हो गये थे।

भगवान ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित, केवल आनन्दानुभव स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे तो भी अज्ञानियों के समान कार्य करते हुए उन्होंने काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्व न जानने वाले लोगों को उसकी शिक्षा दी। साथ ही सम, शान्त, सुहृद् और कारुणिक रहकर धर्म, अर्थ, यश, सन्तान, भोग सुख और मोक्ष का संग्रह करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया। महापुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग उसी का अनुकरण करने लगते हैं। यद्यपि वे सभी धर्मों के सार रूप वेद के गूढ़ रहस्य को जानते थे। तो भी ब्राह्मणों की बतलाई हुई विधि से साम-दानादि नीति के अनुसार ही जनता का पालन करते थे। उन्होंने शास्त्र और ब्राह्मणों के उपदेशानुसार भिन्न-

भिन्न देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य, देश, काल, आयु, श्रद्धा और ऋत्विज आदि से सुसम्पन्न सभी प्रकार के सौ-सौ यज्ञ किये। भगवान ऋषभदेव के शासन काल में इस देश का कोई भी पुरुष अपने लिये किसी से भी अपने प्रभु के प्रति दिन-दिन बढ़ने वाले अनुराग के सिवा और कभी किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता था। यही नहीं; आकाश कुसुमादि अविद्यमान वस्तु की भांति कोई किसी की वस्तु की ओर दृष्टिपात भी नहीं करता था।

—श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय

ऋषभदेवजी के सौ पुत्रों में भरत सबसे बड़े थे। वे भगवान के परम भक्त और भगवद्भक्तों के परायण थे। ऋषभदेव जी ने पृथ्वी का पालन करने के लिए उन्हें राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वयं उपशमशील निवृत्ति परायण महामुनियों के भक्ति, ज्ञान और वैराग्य रूप परमहंसोचित धर्मों की शिक्षा देने के लिए बिलकुल विरक्त हो गए। केवल शरीर मात्र का परिग्रह रक्खा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड़ दिया। अब वे वस्त्रों का भी त्याग करके सर्वथा दिगम्बर हो गये, उस समय उनके बाल बिखरे हुए थे। उन्मत्त का सा वेष था। इस स्थिति में वे आहवनीय (अग्निहोत्र की) अग्नियों को अपने में ही लीन करके सन्यासी हो गये। और ब्रह्मावर्त देश से बाहर निकल गये। वे सर्वथा मौन हो गये थे। कोई बात करना चाहता तो बोलते नहीं थे। जड़, अन्धे, बहरे, गूंगे, पिशाच और पागलों की सी चेष्टा करते हुए वे अवधूत बने जहाँ-तहाँ विचरने लगे। कभी नगरों और ग्रामों में चले जाते, कभी खानों, किसानों की बस्तियों, बगीचों, पहाड़ों, गांवों, सेना की छावनियों, गोशालाओं, अहीरों की बस्तियों और यात्रियों के टिकने के स्थानों में रहते। कभी पहाड़ों, जंगलों और आश्रमों में विचरते। वे किसी भी रास्ते से निकलते तो जिस प्रकार वन में विचरने वाले हाथी को मक्खियाँ सताती हैं, उसी प्रकार मूर्ख और दुष्ट लोग उनके पीछे हो जाते और उन्हें तंग करते। कोई धमकी देते, कोई मारते, कोई पेशाब करते, कोई थूक देते, कोई ढेला मारते, कोई विष्ठा और धूल फेंकते, कोई अधोवायु छोड़ते और कोई खोटी-खरी सुना कर उनका तिरस्कार करते। किन्तु वे इन सब बातों पर ध्यान नहीं देते। इसका कारण यह था कि भ्रम से सत्य कहे जाने वाले इस मिथ्या शरीर में उनकी अहंता-ममता तनिक भी नहीं थी। वे कार्य-कारण रूप सम्पूर्ण प्रपञ्च के साक्षी होकर अपने परमात्म स्वरूप में ही स्थित थे। इसलिए अखण्ड चित्त वृत्ति से अकेले ही पृथ्वी पर विचरते रहते थे। यद्यपि उनके हाथ, पैर, छाती, लम्बी-लम्बी बाहें, कन्धे, गले, और मुख आदि अंगों की बनावट बड़ी सुकुमार थी। उनका स्वभाव से ही सुन्दर मुख स्वाभाविक मधुर मुस्कान से और भी मनोहर जान पड़ता था। नेत्र नवीन कमल-दल के समान बड़े ही सुहावने, विशाल एवं कुछ लाली लिये हुए थे। उनकी पुतलियाँ शीतल एवं सन्तापहारिणी थीं। उन नेत्रों के कारण वे बड़े मनोहर जान पड़ते थे। कपोल, कान और नासिका छोटे-बड़े न होकर समान एवं सुन्दर थे तथा उनके अस्फुट हास्ययुक्त मनोहर मुखारविन्द की शोभा को देखकर पुर-नारियों के चित्त में कामदेव का संचार हो जाता था तथापि उनके मुख के आगे जो भूरे रंग की लम्बी-लम्बी घुंघराली लटें लटकी रहती थीं, उनके महान् भार और अवधूतों के समान धूलि धूसरित देह के कारण वे ग्रहग्रस्त मनुष्य के समान जान पड़ते थे।

जब भगवान ऋषभदेव ने देखा कि यह जनता योग साधन में विघ्न रूप है और इससे बचने का उपाय वीभत्स वृत्ति से रहना ही है, तब उन्होंने अजगर वृत्ति धारण कर ली। वे लेटे ही लेटे खाने-पीने, चबाने और मल मूत्र त्याग करने लगे। वे अपने त्यागे हुए मल में लोट-लोट कर शरीर को इससे सान लेते। किन्तु उनके मल में दुर्गन्ध नहीं थी, बड़ी सुगन्ध थी और वायु उस सुगन्ध को लेकर उनके चारों ओर दस योजन तक सारे देश को सुगन्धित कर देती थी। इसी प्रकार गौ, मृग और काकादि की वृत्तियों को स्वीकार करके उन्हीं के समान कभी चलते हुए, कभी खड़े-खड़े, कभी बैठे हुए और कभी लेटे-लेटे ही खाने-पीने और मल-मूत्र का त्याग करने लगते थे।

परीक्षित ! परमहंसों को त्याग के आदर्श की शिक्षा देने के लिये इस प्रकार मोक्षपति भगवान ऋषभदेव ने कई तरह की योगचर्याओं का आचरण किया। वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् आनन्द का अनुभव करते रहते थे। उनकी दृष्टि में निरुपाधिक रूप से सम्पूर्ण प्राणियों के आत्मा में अपने आतमस्वरूप भगवान वासुदेव से किसी प्रकार का भेद नहीं था। इसलिये उनके सभी पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे। उनके पास आकाश गमन, मनोजवित्व (मन की गति के समान शरीर का भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुंच जाना) अन्तर्धान, परकाय प्रवेश, दूर की बातें सुन लेना

और दूर के दृश्य देख लेना आदि सब प्रकार की सिद्धियां अपने आपही सेवा करने को आईं; परन्तु उन्होंने उनका मन से आदर या ग्रहण नहीं किया।

— श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध पंचम अध्याय

'भगवान ऋषभदेव यद्यपि इन्द्रादि सभी लोकपालों के भी भूपणस्वरूप थे, तो भी वे जड़ पुरुषों की भांति अवधूतों के से विविध वेष, भाषा और आचरण से अपने ईश्वरीय प्रभाव को छिपाये रहते थे। अन्त में उन्होंने योगियों को देहत्याग की विधि सिखाने के लिये अपना शरीर छोड़ना चाहा। वे अपने अन्तःकरण में अभेदरूप से स्थित परमात्मा को अभिन्न रूप से देखते हुए वासनाओं की अनुवृत्ति से छूटकर लिंगदेह के अभिमान से भी मुक्त होकर उपराम हो गये। इस प्रकार लिंगदेह के अभिमान से मुक्त भगवान ऋषभदेव जी का शरीर योगमाया की वासना से केवल अभिमानाभास के आश्रय ही इस पृथ्वी तल पर विचरता रहा। वह दैववश कोंक, वेंक और दक्षिण आदि कुटक कर्णाटक के देशों में गया और मुंह में पत्थर का टुकड़ा डाले तथा बाल बिखेरे उन्मत्त के समान दिगम्बर रूप से कुटकाचल के वन में घूमने लगा। इसी समय झंझावात से झकझोरे हुए वांसों के घर्षण से प्रवल दावाग्नि धधक उठी और उसने सारे वन को अपनी लाल लाल लपटों में लेकर ऋषभदेव जी के सहित भस्म कर दिया। ....भगवान का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को मोक्ष मार्ग की शिक्षा देने के लिये ही हुआ था। इसके गुणों का वर्णन करते हुए लोग इन वाक्यों को कहा करते हैं—अहो! सात समुद्रों वाली पृथ्वी के समस्त द्वीप और वर्षों में यह भारतवर्ष बड़ी ही पुण्यभूमि है क्योंकि यहां के लोग श्रीहरि के मंगलमय अवतार-चरित्रों का गान करते हैं। अहो! महाराज प्रियव्रत का वंश बड़ा ही उज्ज्वल एवं सुयशपूर्ण है जिसमें पुराण पुरुष श्री आदि-नारायण ने ऋषभावतार लेकर मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले पारमहंस्य धर्म का आचरण किया। इन जन्मरहित भगवान ऋषभदेव के मार्ग पर कोई दूसरा योगी मन से भी कैसे चल सकता है। क्योंकि योगी लोग जिन योग-सिद्धियों के लिये लालायित होकर निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हें उन्होंने अपने आप प्राप्त होने पर भी असत् समझकर त्याग दिया था।

— श्रीमद्भागवत पंचम स्कंध षष्ठ अध्याय

'हमारे पिता ऋषभ के रूप में अवतीर्ण होकर उन्होंने आत्मसाक्षात्कार के साधनों का उपदेश दिया है।

—श्रीमद्भागवत एकादश स्कंध चतुर्थ अध्याय

भगवान ऋषभदेद और प्रमुख वैदिक देवता

भगवान ऋषभदेव और कुछ वैदिक देवताओं के रूप में आश्चर्यजनक रूप से समानता दिखाई षड़ती है। उससे यह सन्देह होता है कि भगवान ऋषभदेव और उन देवताओं का व्यक्तित्व विभिन्न नहीं, अपितु एक ही है अर्थात् ऋषभदेव और वे देवता एक हैं, भिन्न नहीं है, केवव नाम-रूप का ही अन्तर है और वह नाम रूप का अन्तर भी आलंकारिक वर्णन के कारण है। यदि उन आलंकारिक वर्णनों के मूल तथ्य को हम हृदयंगम कर सकें तो उससे कुछ नये रहस्य उद्घाटित किये जा सकते हैं। तब भारत के प्राचीन धर्मों और मान्यताओं की विभिन्नता में भी एकता के कुज वीजों और सूत्रों का अनुसन्धान किया जा सकता है। हमारा ऐसी विश्वास है कि यदि विश्व के धर्मों की मौलिक एकता का अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया जाय तो भगवान ऋषभदेव का रूप उसमें अत्यन्त सहायक हो सकता है।

अनेकता में एकता और विभिन्नताओं में समन्वय ये दो सूत्र ही मतभेदों को दूर कर सकते हैं और नानात्मक अन्तर्द्वन्द्वों की कटुता को कम कर सकते हैं। ऋषभदेव जैन और वैदिक इन दोनों भारतीय धर्मों के आराध्य रहे हैं। जैनों ने उन्हें प्रथम तीर्थंकर माना है और वैदिक पुराणों में उन्हें भगवान के अवतारों में आठवां अवतार स्वीकार किया है। इस प्रकार ऋषभदेव प्राचीन भारत में, प्रागैतिहासिग्र काल में सम्पूर्ण जनता के समान रूप से पूज्य रहे हैं। आज भी जैन और वैदिकों के वीच सौहार्द और समन्वय का कोई सामान्य आधार वन सकता है तो वह ऋषभदेव ही हो सकते हैं।

यहां हम ऋषभदेव और कुछ वैदिक देवताओं के पुराणवर्णित रूप का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत

करना चाहेंगे। उससे प्रगट होगा कि दोनों चरित्रों में कितनी अद्भुत समानता है।

अधिकांश इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं, कि शिवजी वैदिक आर्यों के देवता[1] नहीं थे। जब वैदिक आर्य भारत में आये थे, उस समय शिव जी के उपासकों की संख्या नगण्य नहीं थी। सिन्धु उपत्यका और मोहनजोदड़ो-हड़प्पा शाखा की खुदाई में शिवजी की मूर्तियों की उपलब्धि से भी इस बात की पुष्टि होती है कि प्राचीन काल में शिवजी की मान्यता बहुत प्रचलित थी। उन्हें शिव, महादेव, रुद्र आदि विविध नामों से पूजा जाता था।

ऋषभदेव और शिवजी

ऋषभदेव किस प्रकार शिव बन गये, इसका उल्लेख कई ग्रन्थों में मिलता है। ईशान संहिता में उल्लेख है कि माघ कृष्ण चतुर्दशी की महानिशा में आदिदेव करोड़ों सूर्य की प्रभावाले शिवलिंग के रूप में प्रगट हुये।

माघ कृष्ण चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंगतयोद्भूतः कोटि सूर्य सम प्रभः॥

शिवपुराण में तो स्पष्ट उल्लेख है कि मुझ शकर का ऋषभावतार होगा। वह सज्जन लोगों की शरण और दीनबन्धु होगा। और उनका अवतार नौवां होगा।

इत्थं प्रभावः ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तु नः॥ शिवपुराण ४।४७

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ऋषभदेव और शिवजी एक ही व्यक्ति थे। अब यह विचार करना शेष रह जाता है कि शिवजी का जो रूप विकसित हुआ, उसका मूल क्या था। इसके लिये दोनों के समान रूप पर तुलनात्मक विचार करना रुचिकर होगा—

दिगम्बर रूप—भगवान ऋषभदेव ने राजपाट छोड़ कर मुनिदीक्षा लेली। अर्थात् वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन गये। श्रीमद्भागवत के अनुसार उनके शरीर मात्र परिग्रह बच रहा था। वे मलिन शरीर सहित ऐसे दिखाई देते थे, मानो उन्हें भूत लगा हो।

शिवजी को भी नग्न माना है और उनके मलिन शरीर को प्रदर्शित करने के लिये देह पर भभूत दिखाई जाती है। वेदों में जिस शिश्नदेव का उल्लेख मिलता है, उसका रहस्य भी दिगम्बरत्व में ही निहित है।

जटायें—ऋषभदेव ने जब छह माह तक कायोत्सर्गासन से निश्चल खड़े होकर तपस्या की, उस काल में उनके केश बढ़कर जटा[2] के रूप में हो गये थे। ऋषभदेव की अनेक प्राचीन प्रतिमायें जटाजूटयुक्त मिलती हैं। शिवजी भी जटाजूटधारी हैं।

नन्दी—जैन तीर्थंकरों के चौबीस प्रतीक चिह्न माने गये हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं पर वे चिह्न अंकित रहते हैं। उन चिह्नों से ही तीर्थंकर-प्रतिमा की पहचान होती है, ऋषभदेव का प्रतीक चिह्न वृषभ (बैल है। शिवजी का वाहन भी वृषभ है।

कैलाश—ऋषभदेव ने कैलाश पर जाकर तपस्या की और अन्त में वहीं से उन्होंने निर्वाण (शिव पद) प्राप्त किया। शिवजी का धाम भी कैलाशपर्वत माना गया है।

शिवरात्रि—ऋषभदेव ने माघ कृष्णा चतुर्दशी को कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया था। यही तिथि शिवजी के लिंग-उदय की तिथि मानी जाती है। कहीं कहीं शिवरात्रि माघ कृष्णा चतुर्दशी को न मान कर फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को मानी जाती है। यह अन्तर उत्तर और दक्षिण भारत के पञ्चाङ्गों के अन्तर के कारण है। 'काल माधवीय नागर खण्ड' में इस अन्तर पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है, जो इस प्रकार है—

---

१. In fact, Shiv and the worship of Linga and other features of popular Hinduism were well established in India long-long before the Aryans came.

—K. M. Pannikkar, a survey of Indian history p. 4

२. पद्मपुराण ३।२८७-२८८। आदिपुराण १८।७५। हरिवंशपुराण ९।२०४

और दूर के दृश्य देख लेना आदि सब प्रकार की सिद्धियां अपने आपही सेवा करने को आईं; परन्तु उन्होंने उनका मन से आदर या ग्रहण नहीं किया।

—श्रीमद्भागवत पंचम स्कन्ध पंचम अध्याय

'भगवान ऋषभदेव यद्यपि इन्द्रादि सभी लोकपालों के भी भूषणस्वरूप थे, तो भी वे जड़ पुरुषों की भांति अवधूतों के से विविध वेष, भाषा और आचरण से अपने ईश्वरीय प्रभाव को छिपाये रहते थे। अन्त में उन्होंने योगियों को देहत्याग की विधि सिखाने के लिये अपना शरीर छोड़ना चाहा। वे अपने अन्त:करण में अभेदरूप से स्थित परमात्मा को अभिन्न रूप से देखते हुए वासनाओं की अनुवृत्ति से छूटकर लिंगदेह के अभिमान से भी मुक्त होकर उपराम हो गये। इस प्रकार लिंगदेह के अभिमान से मुक्त भगवान ऋषभदेव जी का शरीर योगमाया की वासना से केवल अभिमानाभास के आश्रय ही इस पृथ्वी तल पर विचरता रहा। वह दैववश कोंक, वेंक और दक्षिण आदि कुटक कर्णाटक के देशों में गया और मुंह में पत्थर का टुकड़ा डाले तथा बाल बिखेरे उन्मत्त के समान दिगम्बर रूप से कुटकाचल के वन में घूमने लगा। इसी समय झंझावात से झकझोरे हुए बांसों के घर्षण से प्रवल दावाग्नि धधक उठी और उसने सारे वन को अपनी लाल लाल लपटों में लेकर ऋषभदेव जी के सहित भस्म कर दिया। ....भगवान का यह अवतार रजोगुण से भरे हुए लोगों को मोक्ष मार्ग की शिक्षा देने के लिये ही हुआ था। इसके गुणों का वर्णन करते हुए लोग इन वाक्यों को कहा करते हैं—अहो ! सात समुद्रों वाली पृथ्वी के समस्त द्वीप और वर्षों में यह भारतवर्ष बड़ी ही पुण्यभूमि है क्योंकि यहां के लोग श्रीहरि के मंगलमय अवतार-चरित्रों का गान करते हैं। अहो ! महाराज प्रियव्रत का वंश बड़ा ही उज्ज्वल एवं सुयशपूर्ण है जिसमें पुराण पुरुष श्री आदि-नारायण ने ऋषभावतार लेकर मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले पारमहंस्य धर्म का आचरण किया। इन जन्मरहित भगवान ऋषभदेव के मार्ग पर कोई दूसरा योगी मन से भी कैसे चल सकता है। क्योंकि योगी लोग जिन योग-सिद्धियों के लिये लालायित होकर निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं, उन्हें उन्होंने अपने आप प्राप्त होने पर भी असत् समझकर त्याग दिया था।

—श्रीमद्भागवत पंचम स्कंध षष्ठ अध्याय

'हमारे पिता ऋषभ के रूप में अवतीर्ण होकर उन्होंने आत्मसाक्षात्कार के साधनों का उपदेश दिया है।

—श्रीमद्भागवत एकादश स्कंध चतुर्थ अध्याय

भगवान ऋषभदेव और कुछ वैदिक देवताओं के रूप में आश्चर्यजनक रूप से समानता दिखाई पड़ती है। उससे यह सन्देह होता है कि भगवान ऋषभदेव और उन देवताओं का व्यक्तित्व विभिन्न नहीं, अपितु एक ही है अर्थात् ऋषभदेव और वे देवता एक हैं, भिन्न नहीं है, केवव नाम-रूप का ही अन्तर है और वह नाम रूप का अन्तर भो आलंकारिक वर्णन के कारण है। यदि उन आलंकारिक वर्णनों के मूल तथ्य को हम हृदयंगम कर सकें तो उससे कुछ नये रहस्य उद्घाटित किये जा सकते हैं। तव भारत के प्राचीन धर्मों और मान्यताओं की विभिन्नता में भी एकता के कुज वीजों और सूत्रों का अनुसन्धान किया जा सकता है। हमारा ऐसी विश्वास है कि यदि विश्व के धर्मों की मौलिक एकता का अनुसन्धान करने का प्रयत्न किया जाय तो भगवान ऋषभदेव का रूप उसमें अत्यन्त सहायक हो सकता है।

भगवान ऋषभदेद और प्रमुख वैदिक देवता

अनेकता में एकता और विभिन्नताओं में समन्वय ये दो सूत्र ही मतभेदों को दूर कर सकते हैं और नानात्मक अन्तर्द्वन्द्वों की कटुता को कम कर सकते हैं। ऋषभदेव जैन और वैदिक इन दोनों भारतीय धर्मों के आराध्य रहे हैं। जैनों ने उन्हें प्रथम तीर्थकर माना है और वैदिक पुराणों में उन्हें भगवान के अवतारों में आठवां अवतार स्वीकार किया है। इस प्रकार ऋषभदेव प्राचीन भारत में, प्रागैतिहासिअ काल में सम्पूर्ण जनता के समान रूप से पूज्य रहे हैं। आज भी जैन और वैदिकों के वीच सौहार्द और समन्वय का कोई सामान्य आधार वन सकता है तो वह ऋषभदेव ही हो सकते हैं।

[illegible] भदेव और कुछ वैदिक देवताओं के पुराणवर्णित रूप का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत

करना चाहेंगे। उससे प्रगट होगा कि दोनों चरित्रों में कितनी अद्भुत समानता है।

अधिकांश इतिहासकार यह स्वीकार करते हैं, कि शिवजी वैदिक आर्यों के देवता[1] नहीं थे। जब वैदिक आर्य भारत में आये थे, उस समय शिव जी के उपासकों की संख्या नगण्य नहीं थी। सिन्धु उपत्यका और मोहनजोदड़ो-हड़प्पा शाखा की खुदाई में शिवजी की मूर्तियों की उपलब्धि से भी इस बात की पुष्टि होती है कि प्राचीन काल में शिवजी की मान्यता बहुत प्रचलित थी। इन्हें शिव, महादेव, रुद्र आदि विविध नामों से पूजा जाता था।

ऋषभदेव और शिवजी

ऋषभदेव किस प्रकार शिव बन गये, इसका उल्लेख कई ग्रन्थों में मिलता है। ईशान संहिता में उल्लेख है कि माघ कृष्ण चतुर्दशी की महानिशा में आदिदेव करोड़ों सूर्य की प्रभावाले शिवलिंग के रूप में प्रगट हुये।

माघ कृष्ण चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंगतयोद्भूतः कोटि सूर्य सम प्रभः॥

शिवपुराण में तो स्पष्ट उल्लेख है कि मुझ शंकर का ऋषभावतार होगा। वह सज्जन लोगों की शरण और दीनबन्धु होगा। और उनका अवतार नौवां होगा।

इत्थं प्रभावः ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तु नः॥ शिवपुराण ४।४७

इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि ऋषभदेव और शिवजी एक ही व्यक्ति थे। अब यह विचार करना शेष रह जाता है कि शिवजी का जो रूप विकसित हुआ, उसका मूल क्या था। इसके लिये दोनों के समान रूप पर तुलनात्मक विचार करना रुचिकर होगा—

दिगम्बर रूप—भगवान ऋषभदेव ने राजपाट छोड़ कर मुनिदीक्षा लेली। अर्थात् वे निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन गये। श्रीमद्भागवत के अनुसार उनके शरीर मात्र परिग्रह बच रहा था। वे मलिन शरीर सहित ऐसे दिखाई देते थे, मानो उन्हें भूत लगा हो।

शिवजी को भी नग्न माना है और उनके मलिन शरीर को प्रदर्शित करने के लिये देह पर भभूत दिखाई जाती है। वेदों में जिस शिश्नदेव का उल्लेख मिलता है, उसका रहस्य भी दिगम्बरत्व में ही निहित है।

जटायें—ऋषभदेव ने जब छह माह तक कायोत्सर्गासन से निश्चल खड़े होकर तपस्या की, उस काल में उनके केश बढ़कर जटा[2] के रूप में हो गये थे। ऋषभदेव की अनेक प्राचीन प्रतिमायें जटाजूटयुक्त मिलती हैं। शिवजी भी जटाजूटधारी हैं।

नन्दी—जैन तीर्थंकरों के चौबीस प्रतीक चिह्न माने गये हैं। तीर्थंकर प्रतिमाओं पर वे चिह्न अंकित रहते हैं। उन चिह्नों से ही तीर्थंकर-प्रतिमा की पहचान होती है, ऋषभदेव का प्रतीक चिह्न वृषभ (बैल है। शिवजी का वाहन भी वृषभ है।

कैलाश—ऋषभदेव ने कैलाश पर जाकर तपस्या की और अन्त में वहीं से उन्होंने निर्वाण (शिव पद) प्राप्त किया। शिवजी का धाम भी कैलाशपर्वत माना गया है।

शिवरात्रि—ऋषभदेव ने माघ कृष्णा चतुर्दशी को कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया था। यही तिथि शिवजी के लिंग-उदय की तिथि मानी जाती है। कहीं कहीं शिवरात्रि माघ कृष्णा चतुर्दशी को न मान कर फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को मानी जाती है। यह अन्तर उत्तर और दक्षिण भारत के पञ्चाङ्गों के अन्तर के कारण है। 'काल माधवीय नागर खण्ड' में इस अन्तर पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला गया है, जो इस प्रकार है—

---

१. In fact, Shiv and the worship of Linga and other features of popular Hinduism were well established in India long-long before the Aryans came.

—K. M. Pannikkar, a survey of Indian history. p. 4

२. पद्मपुराण ३।२८७-२८८। आदिपुराण १८।७५। हरिवंशपुराण ९।२०४

माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च ।
कृष्ण चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता ।।

अर्थात् दक्षिण वालों के माघ मास के उत्तर पक्ष की तथा उत्तर वालों के फाल्गुन मास के प्रथम पक्ष की कृष्णा चतुर्दशी शिवरात्रि कही गई है ।

उत्तर भारत वाले मास का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष से मानते हैं और दक्षिण वाले शुक्ल पक्ष से मानते हैं। वस्तुतः दक्षिण भारत वालों का जो माघ कृष्णा चतुर्दशी है, वही उत्तर भारत वालों की फाल्गुण कृष्णा चतुर्दशी है । ईशान संहिता में शिवलिंग के उदय की तिथि स्पष्ट शब्दों में माघ कृष्णा चतुर्दशी बताई है, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है ।

गंगावतरण—जैन मान्यता है कि गंगानदी हिमवान पर्वत के पद्म सरोवर से निकल कर पहले पूर्व की ओर और फिर दक्षिण की ओर बहती है । वहां गंगाकूट नामक एक चबूतरे पर जटाजूट मुकुट से सुशोभित ऋषभदेव की प्रतिमा है । उस पर गंगा की धारा पड़ती है । मानो गंगा उनका अभिषेक ही कर[1] रही हो । इसी प्रकार शिवजी के बारे में मान्यता है कि गंगा जब आकाश से अवतीर्ण हुई तो शिवजी की जटाओं में आकर गिरी और वहीं बहुत समय तक विलीन रही ।

त्रिशूल और अन्धकासुर—जैन शास्त्रों में ऋषभदेव के केवल ज्ञान-प्राप्ति के सिलसिले में अनेक स्थानों पर आलंकारिक वर्णन मिलता है कि उन्होंने त्रिरत्न (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र) रूप त्रिशूल से मोहनीय या मोहासुर का नाश किया अथवा शुद्ध लेश्या के त्रिशूल से मोह रूप अन्धकासुर[2] का वध किया ।

इसी प्रकार शिवजी त्रिशूलधारी और अन्धकासुर के संहारक माने गये हैं । इसीलिए शिव-मूर्तियों के साथ त्रिशूल और नरकपाल बनाये जाते हैं ।

लिंग पूजा – तीर्थंकरों के गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवल ज्ञान और निर्वाण कल्याणक जहां होते हैं, वे स्थान क्षेत्र मंगल और कल्याणक भूमियाँ मानी जाती हैं । ऋषभदेव ने कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया । कैलाश का आकार लिंग जैसा है । चक्रवर्ती भरत ने कैलाश के आकार के घण्टे बनवाये थे और उन पर ऋषभदेव की प्रतिमा उत्कीर्ण कराई थी । तिब्बती भाषा में लिंग-पूजा का अर्थ क्षेत्र-पूजा होता है । कैलाश तिब्बती क्षेत्र में है । तिब्बती कैलाश क्षेत्र को पवित्र मानते थे । जिसे वे लिंग-पूजा कहते थे । शिव-भक्त भी लिंग-पूजा करते हैं । प्राचीन काल में लिंग-पूजा से कैलाश पर्वत की पूजा का ही आशय था । किन्तु जब शैव धर्म तान्त्रिकों के हाथों में पड़ गया, तब लिंग क्षेत्र के अर्थ में न रहकर पुरुष की जननेन्द्रिय के अर्थ में लिया जाने लगा । इतना ही नहीं, उन्होंने पर्वत पर तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त हुई आत्म-सिद्धि को पार्वती नाम से एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व दे दिया और पुरुष लिंग के साथ स्त्री की भग-पूजा की कल्पना कर डाली ।

---

१. आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जड मउड सेहरिल्लाओ ।
पडिमोवरिम्म गंगा अभिसित्तुमणा व सा पडदि ।।
तिलोय पण्णत्ति ४।२३०
सिरिगिह सीसट्ठियं बुजकरिणय सिंहासणं जडामंडलं ।
जिणमभिसित्तुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा ।।
त्रिलोकसार ५९०

२. तिरयण-तिसूल धारिय मोहंधासुर कबंध विंदहरा ।
सिद्ध सयलप्परुवा अरिहंता हुण्णय कयंता ।
—धवतल सिद्धान्त ग्रन्थ, वीर सेनाचार्य
शुद्ध लेश्या त्रिशूलेन मोहनीय रिपुर्हतः ।
—हरिवंशपुराण

इस प्रकार ऋषभदेव और शिवजी के रूप में जो अद्भुत समानता दिखायी पड़ती है, वह संयोग मात्र अथवा आकस्मिक नहीं है। बल्कि लगता है, दोनों व्यक्तित्व पृथक्-पृथक नहीं हैं, एक ही हैं। इन्दौर आदि कई म्यूजियमों में योगलीन शिव मूर्तियों और ऋषभदेव की ध्यानलीन मूर्तियों को देखने पर कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता। ऐसा प्रतीत होता है कि शिव जी के चरित्र का जो कवित्व की भाषा में आलंकारिक वर्णन किया गया है, यदि उस परत को हटा कर चरित्र की तह में झांकें तो वे ऋषभदेव दिखाई देने लगेंगे। ऋषभदेव ने तपस्या करते हुए कामदेव पर पूर्ण विजय प्राप्त की थी, शिवजी ने कामदेव का संहार किया था। क्या अन्तर है दोनों में? शिवजी के जिस तृतीय नेत्र और उनके संहारक रूप की कल्पना की गई है, वही ऋषभदेव का आत्मज्ञान रूप तृतीय नेत्र है, जिसके द्वारा उन्होंने राग-द्वेष-मोह का संहार किया।

अतः यह असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि ऋषभदेव और शिवजी नाम से ही भिन्न हैं, वस्तुतः भिन्न नहीं हैं। इसीलिए शिवपुराण ७।२।९ में ऋषभदेव को शिव के अट्ठाईस योगावतारों में नौवां अवतार स्वीकार किया गया है।

ऋषभदेव और ब्रह्मा

विष्णुपुराण हिन्दू पुराणों में विशिष्ट स्थान रखता है। इसके रचयिता श्री पराशरजी हैं। इसके प्रथम अंश अध्याय चार से छह में ब्रह्माजी की उत्पत्ति और लोक-रचना का विशद वर्णन किया गया है। इसमें बताया है कि ब्रह्माजी नाभिज हैं। उनकी पुत्री सरस्वती है। वे चतुर्मुख हैं अर्थात् उनके चार मुख हैं। उन्होंने इस सृष्टि की रचना की, सृष्टि की रचना में भगवान तो केवल निमित्त मात्र ही हैं। क्योंकि उसकी प्रधान कारण तो सृज्य पदार्थों की शक्तियां ही हैं। वस्तुओं की रचना में निमित्त मात्र को छोड़कर और किसी बात की आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि वस्तु तो अपनी ही शक्ति से वस्तुता को प्राप्त हो जाती है।

ब्रह्माजी ने चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की। उन्होंने कृत्रिम दुर्ग, पुर तथा खर्वट आदि स्थापित किये। कृषि आदि जीविका के साधनों के निश्चित हो जाने पर प्रजापति ब्रह्मा जी ने प्रजा के स्थान और गुणों के अनुसार मर्यादा, वर्ण और आश्रमों के धर्म तथा अपने धर्म का भली प्रकार पालन करने वाले समस्त वर्णों के लोक आदि की स्थापना की।

जैन पुराणों के अनुसार ऋषभदेव भी नाभिज अर्थात् नाभिराज से उत्पन्न हुये थे। उनकी पुत्री का नाम ब्राह्मी था। ब्राह्मी और सरस्वती पर्यायवाची शब्द हैं। ऋषभदेव जब समवसरण में विराजमान होते थे तो उनके चारों दिशाओं में मुख दिखाई देते थे। उन्होंने कृषि आदि षट्कर्मों का उपदेश दिया, ग्राम-नगर, खेट आदि की स्थापना की, वर्ण-व्यवस्था स्थापित की।

एक उल्लेख योग्य बात यह है कि आदि ब्रह्मा के अनेकों नाम पुराणों और कोशों में मिलते हैं—जैसे हिरण्यगर्भ, प्रजापति, चतुरानन, स्वयम्भू, आत्मभू, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, लोकेश, अज आदि। जैन पुराणों में ऋषभदेव के लिये भी इन नामों का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है। ब्रह्मा के नामों में परमेष्ठी शब्द हमारा ध्यान सबसे अधिक आकर्षित करता है। जैन परम्परा का तो यह पारिभाषिक शब्द है, जो अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनियों के लिये प्रयुक्त होता है और जो इस युग की आदि में सर्व प्रथम ऋषभदेव के लिये ही प्रयुक्त हुआ था।

उपर्युक्त विवरण के अनुसार ब्रह्मा और ऋषभदेव के नामों और कामों की समानता देख कर यह विश्वास करना पड़ता है कि ब्रह्मा और ऋषभदेव एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं।

वैदिक साहित्य के वातरशना तथा केशी और भगवान ऋषभदेव—श्रीमद्भागवत में ऋषभावतार के उद्देश्य के सम्बन्ध में जो स्पष्ट विवरण दिया है—जैसा कि पूर्व में निवेदन किया जा चुका है, वह विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है। उसमें बताया है—

बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार।। ५।३।२०

अर्थात् हे विष्णुदत्त परीक्षित ! यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर श्री भगवान महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके रनिवास में महारानी मेरुदेवी के गर्भ से वातरशना (दिगम्बर) श्रमण ऋषियों और ऊर्ध्वरेता मुनियों का धर्म प्रगट करने के लिए शुद्ध सत्त्वमय विग्रह से प्रगट हुए।

इस उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि ऋषभदेव की मान्यता और पूज्यता के सम्बन्ध में जैनों और हिन्दुओं में कोई मतभेद नहीं है। जैसे वे जैनियों के प्रथम तीर्थंकर हैं, उसी प्रकार वे हिन्दुओं के लिए साक्षात् विष्णु भगवान के अवतार हैं। दूसरी बात यह है कि प्राचीनता की दृष्टि से ऋषभदेव का अवतार राम और कृष्ण से भी प्राचीन माना गया है। और इस अवतार का उद्देश्य वातरशना श्रमण मुनियों के धर्म को प्रगट करना बतलाया गया है। भागवत पुराण में यह भी बताया गया है कि

'अयमवतारो रजसोपप्लुतकैवल्योपशिक्षणार्थः ॥ ५।६।१२ ॥

अर्थात् भगवान का यह अवतार रजोगुण से भरे हुये लोगों को कैवल्य की शिक्षा देने के लिये हुआ था।

जिन वातरशना और ऊर्ध्वरेता श्रमण मुनियों के धर्म को प्रगट करने और कैवल्य की शिक्षा देने के लिये ऋषभदेव का अवतार हुआ वे वातरशना मुनि यहाँ अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान थे। उनका उल्लेख भारत के प्राचीनतम माने जाने वाले ग्रन्थ वेदों में भी मिलता है। एक सूक्त में वातरशना मुनियों की कठोर साधना का इस प्रकार वर्णन किया गया है।

'मुनयो वातरशनाः पिशंगा वसते मला।
वातस्यानु ध्राजि यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥
उन्मदिता मौनेयेन वाता आतास्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ ॥

—ऋग्वेद १०।१३६।२-३

अर्थात् अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मल धारण करते हैं जिससे वे पिंगल वर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपनी तप की महिमा से दीप्यमान होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। सर्व लौकिक व्यवहार को छोड़ करके हम मौन वृत्ति से उन्मत्तवत् वायु भाव को प्राप्त होते हैं और तुम साधारण मनुष्य हमारे बाह्य शरीरमात्र को देख पाते हो, हमारे सच्चे आभ्यंतर स्वरूप को नहीं (ऐसा वे वातरशना मुनि प्रगट करते हैं।

ऋग्वेद ने इन ऋचाओं के साथ केशी की स्तुति की गई हैं—

'केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥

—ऋग्वेद १०।१३६।१

अर्थात् केशी अग्नि, जल, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण करता है। केशी समस्त विश्व के तत्त्वों का दर्शन करता है। केशी ही प्रकाशमान ज्योति कहलाता है।

जहाँ वातरशना मुनियों की स्तुति की गई है, वहीं केशी की यह स्तुति की गई है। ऐसा लगता है कि केशी इन वातरशना मुनियों के प्रधान थे। ऋग्वेद के वातरशना मुनि और भागवत के वातरशना श्रमण ऋषि एक ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। और यह भी असंदिग्ध तथ्य है कि ऋग्वेद के वातरशना मुनियों में श्रेष्ठ केशी और भागवत के सब ओर लटकते हुये कुटिल, जटिल, कपिश केशों[1] वाले ऋषभदेव भी एक ही व्यक्ति हैं। ऋग्वेद में उन्हें केशी कहा है और उससे उनकी जटाओं की ओर संकेत किया है। भागवत में ऋषभदेव के कुटिल, जटिल, कपिश केशों का भार बताया है। और जैन पुराणों में उन्हें लम्बी जटाओं के भार से सुशोभित बताया है।

१. श्रीमद्भागवत ५।६।३१

२. पद्मपुराण ३।२८८, हरिवंश पुराण ६।२०४

ऋग्वेद के केशी ऋषभ देव ही थे, इसका समर्थन भी ऋग्वेद की निम्न ऋचा से होता है—

'ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥ ऋग्वेद १०।१०२।६

अर्थात् मुद्गल ऋषि के सारथी (नेता) केशी वृषभ, जो शत्रु का विनाश करने के लिये नियुक्त थे, उन की वाणी निकली अर्थात् उन्होंने उपदेश किया। जिसके फलस्वरूप मुद्गल ऋषि की जो गायें (इन्द्रियों) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ रही थीं; वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं।

इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक साहित्य में जिन वातरशना मुनियों का वर्णन मिलता है, वे दिगम्बर जैन श्रमण मुनि हैं और जहां केशी का वर्णन आया है, वह केशी अन्य कोई नहीं, ऋषभदेव ही हैं।

भगवान ऋषभदेव का व्यक्तित्व अत्यन्त सशक्त और तेजस्वी था। उनकी मान्यता देश और काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके देश-देशान्तरों में फैल गई। वे किसी एक सम्प्रदाय, जाति और धर्म के नेता नहीं थे।

जैनेतर ग्रन्थों में ऋषभदेव

वे तो कर्म और धर्म दोनों के ही आद्य प्रस्तोता थे। सांस्कृतिक चेतना और बौद्धिक जागरण के आद्य प्रेरक वे ही थे। मानव की आद्य सभ्यता को एक दिशा देने का महान् कार्य उन्होंने किया था। सारा मानव समाज उनके अनुग्रहों और उपकारों के लिये चिर ऋणी था। वर्ग, जाति और वर्ण के भेदभाव के विना सारी मानव जाति उन्हें अपना उपास्य मानती थी। उनके विविध कार्यकलापों और रूपों को लेकर विभिन्न देशों और कालों में उनके विविध नाम प्रचलित हो गये। शिव महापुराण में उन्हें अट्ठाईस योगावतारों में एक अवतार माना। श्रीमद्भागवत में उन्हें विष्णु का आठवां अवतार स्वीकार किया। वेदों में ऋषभदेव की स्तुति विविध रूपों में विभिन्न नामों से की गई है। अनेक ऋचाओं में उनकी स्तुति अग्नि, मित्र, यम आदि नामों से की गई है। ताण्ड्य,[1] तैत्तिरीय[2] और शतपथ[3] ब्राह्मण में अग्नि के नाम से उन्हें आद्य (आदि पुरुष) मिथुनकर्त्ता (विवाह प्रथा के प्रचलन कर्त्ता, ब्रह्म, पृथ्वीपति, धाता, ब्रह्मा, सर्वविद् (सर्वज्ञ) कहा गया है। वेदों में उन्हें जातवेदस (जन्म से ज्ञान सम्पन्न) रत्नधाता, विश्ववेदस (विश्व को जानने वाला) मोक्षनेता और ऋत्विज (धर्म संस्थापक) बताया गया है। वेदों में अनेक स्थानों पर वृषभदेव की स्तुति की गई है। यहां उनमें से कुछ मन्त्र दिये जा रहे हैं, जिनका देवता ऋषभ है—

त्वं रथं प्रभसे योधमृष्वमावो युध्यन्तं वृषभं दशद्युम्।
त्वं तुग्रं वेतसवे स चाहन्त्वं तुजिं गृणन्तमिन्द्र तू तो॥

—ऋग्वेद ४। ६। २६। ४

इसका आशय यह है कि युद्ध करते हुए ऋषभ को इन्द्र ने युद्ध सामग्री और रथ प्रदान किया।

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः

—अथर्ववेद १६ वां काण्ड, प्रजापति सूक्त।

इन्द्र द्वारा राज्य में वर्षा नहीं होने दी। तब वृषभदेव ने खूब जल बरसाया।

इसी ऋचा का आशय लेकर महाकवि सूरदास ने सूरसागर में लिखा हैं—

इन्द्र देखि ईरषा मन लायो। करिके क्रोध न जल बरसायो।
ऋषभदेव तब ही यह जानी। कह्यो इन्द्र यह कहा मन आनी॥
निज बल जोग नीर बरसायो। प्रजा लोग अति ही सुख पायो॥
ऋषभदेव की स्तुति परक अनेक मन्त्र भी वेदों में मिलते हैं—

---

१. ताण्ड्य ब्राह्मण २५।६।३
२. तैत्तिरीय ब्राह्मण १।७।२।३, ३।११।४।१, ३।३।१०।२
३. शतपथ ब्राह्मण १०।४।१।५, ६।२।१।८

अहो मुचं वृषभ याज्ञिमानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम् ।
अपां न पातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियंदत्तभोजः ।।

अथर्ववेद १९।४२।४

सम्पूर्ण पापों से मुक्त तथा अहिंसक व्रतियों के प्रथम राजा, आदित्य स्वरूप श्री ऋषभदेव का मैं आवाहन करता हूं। वे मुझे बुद्धि एवं इन्द्रियों के साथ बल प्रदान करें।

अनर्वाणं वृषभं मन्द्र जिह्व वृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्के ।

ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १९० मन्त्र १०

मिष्ट भाषी, ज्ञानी, स्तुतियोग्य ऋषभ की पूजा साधक मन्त्रों द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नहीं छोड़ते।

एव वभ्रो ृषभ चेकितान यथा हेव न हृणीषे न हंति ।।

ऋग्वेद २।३३।१५

हे शुद्ध दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ ! हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों।

इसी प्रकार प्रायः सभी हिन्दू पुराणों में ऋषभदेव का चरित्र वर्णन किया गया है और उन्हें भगवान का अवतार माना है।

ब्रह्माण्ड पुराण २।१४ में उन्हें राजाओं में श्रेष्ठ और सब क्षत्रियों का पूर्वज कहा है—

'ऋषभं पार्थिव श्रेष्ठं सर्व क्षत्रस्य पूर्वजम् ।'

महाभारत (शान्ति पर्व १२।६४।२०) में उन्हें क्षात्रधर्म का आद्य प्रवर्तक बताया है—

'क्षात्रो धर्मो ह्यादि देवात् प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ।'

श्रीमद्भागवत्र में एक स्थान पर परीक्षित ने कहा है—

धर्मं ब्रबीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक् ।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत् ।।

श्रीमद्भागवत १।१७।२२

अर्थात् हे धर्मज्ञ ऋषभदेव ! आप धर्म का उपदेश करते हैं। आप निश्चय से वृषभ रूप से स्वयं धर्म हैं। अधर्म करने वाले जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं, वे ही स्थान आपकी निन्दा करने वाले को मिलते हैं।

इसी शास्त्र में ऋषभदेव एक स्थान पर अपने नाम की सार्थकता बताते हुए कहते हैं—

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं सत्वं हि मे हृदयं यत्र धर्मः ।
पृष्ठे वृतो मे यदधर्मआराद् अतो हि मामृषभं प्राहुरार्याः ।। ५।५।१९

अर्थात् मेरे इस अवतार शरीर का रहस्य साधारण जनों के लिये बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे की ओर धकेल दिया है। इसी से सत्यपुरुष मुझे 'ऋषभ' कहते हैं।

वौद्ध साहित्य में भी ऋषभदेव की चर्चा बड़े आदरसूचक शब्दों में की गई है—

'प्रजापतेः सुतो नाभिः तस्यापि सुतमुच्यते । नाभिनो ऋषभ पुत्रो वै,
सिद्धकर्म-दृढव्रतः ।। तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धो हेमवते गिरौ ।
ऋषभस्य भरतः पुत्रः ।

आर्यमन्जु श्री मूल श्लोक ३९०-९२

अर्थात् प्रजापति के पुत्र नाभि हुए। उनके पुत्र ऋषभ थे जो कृतकृत्य और दृढ़व्रती थे। मणिचर उनका यक्ष था। हिमवान् पर्वत पर वे सिद्ध हुए. उनके पुत्र का नाम भरत था।

इसी प्रकार 'धम्मपद' ४२२ में ऋषभदेव को 'उसभं पवरं वीरं' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वीर कहा है।

भावनात्मक एकता के प्रतीक ऋषभदेव

वास्तविकता यह है कि ऋषभदेव का व्यक्तित्व सार्वभौम रहा है। उनकी इस सार्वभौम ख्याति और मान्यता के कारण भारत के सभी प्राचीन धर्मों ने उन्हें समान रूप से अपना उपास्य माना है। ऋषभदेव को जो स्थान और महत्त्व जैन धर्म में प्राप्त है, वही स्थान और महत्त्व उन्हें वैदिक धर्म में भी प्राप्त है। एक में उन्हे आद्य तीर्थंकर मानकर मोक्ष-मार्ग के प्रणेता स्वीकार किया है तो दूसरे में उन्हें भगवान का अवतार मानकर मोक्ष-मार्ग के आद्य प्रणेता माना गया है। जैनों ने उनका वर्णन आलंकारिक शैली में किया गया है तो हिन्दू पुराणों में उनके चरित्र में कुछ अतिरंजना करदी। इन दोनों ही बातों की परत उघाड़ कर हम झांकें तो इनमें भी वही चरित्र मिलेगा जो जैन पुराणों में है। इसलिये हमारा विश्वास है कि जैन और वैदिक धर्मों की दूरी को कम करने के लिये भगवान ऋषभदेव की मान्यता एक सुदृढ़ सेतु बन सकती है।

भरत-बाहुबली-खण्ड

१३. भरत की धर्म-रुचि

पुत्रोत्पत्ति, चक्रोत्पत्ति और भगवान को केवलज्ञान-प्राप्ति के तीन समाचार एक समय में—एक दिन भरत महाराज राजदरबार में बैठे हुए थे। तभी धर्माधिकारी पुरुष ने आकर समाचार दिया—'परम भट्टारक महाराज की जय हो। तीन लोक के स्वामी भगवान ऋषभ देव को केवलज्ञान की उत्पत्ति हुई है। पुरिमताल नगर के उद्यान में इन्द्र और देव भगवान का केवलज्ञान कल्याणक मनाने के लिये एकत्रित हुए हैं।'. इसी समय आयुध-शाला की रक्षा करने वाले अधिकारी पुरुष ने सम्राट् का अभिवादन करते हुए उच्च स्वर से निवेदन किया—'सम्राट् का यश-वैभव दिगन्त व्यापी हो। आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ है।' अभी सैनिक अधिकारी निवेदन समाप्त भी नहीं कर पाया था कि अन्त:पुर के कञ्चुकी ने सम्राट् के चरणों में झुककर एक और हर्ष समाचार सुनाया—'देव के कुल और वैभव की वृद्धि हो। देव के पुत्र-रत्न को उत्पत्ति हुई है।'

तीनों कार्य एक साथ हुए। तीनों के समाचार एक साथ आये। सुनकर सम्राट् एक क्षण के लिये विचार मग्न होगये—तीनों ही हर्ष समाचार हैं। फिर इनमें से किसका उत्सव पहले करना चाहिये। ये तीनों समाचार क्रमश: धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ के फल हैं। भगवान के केवल ज्ञान की प्राप्ति का समाचार धर्म का परिणाम है। चक्ररत्न की प्राप्ति अर्थ-पुरुषार्थ का फल है क्योंकि चक्र से ही अर्थ-प्राप्ति होगी। इसी प्रकार पुत्रोत्पत्ति का समाचार काम पुरुषार्थ का फल है। किन्तु वस्तुत: तो ये तीनों ही धर्म के साक्षात् फल हैं। इन सबका मूल धर्म है। अत: सबसे प्रथम धर्म-कार्य करना चाहिये।

प्रथम कैवल्य-पूजा, सांसारिक कार्य बाद में—सम्राट् ने तीनों कार्यों में धर्म को प्रमुखता दी। अत: उन्होंने भगवान के केवलज्ञान की पूजा करने का निश्चय किया। वे अपने आसन से उठे और सात पग चलकर वहीं से भगवान की भाव वन्दना की। फिर उन्होंने नगर में घोषणा कराई कि भगवान ऋषभदेव को लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है। महाराज भरत बन्धु बान्धवों सहित भगवान के दर्शनों के लिये प्रस्थान कर रहे हैं। सब नगरवासी भी महाराज के साथ जाकर भगवान के दर्शनों का पुण्य-लाभ लें।'

राजकीय घोषणा को सुनकर परिजन और पुरजन सभी एकत्रित हो गये। तब महाराज भरत अपने बन्धुओं, अन्त:पुर की स्त्रियों और नागरिकों के साथ सेना लेकर और पूजा की बड़ी भारी सामग्री लेकर रवाना हुए। लोग विविध वाहनों पर चल रहे थे। सेना में विविध प्रकार के वाद्य बज रहे थे। विविध प्रकार की ध्वजायें फहरा रही थीं। जब भरत पुरिमताल नगर के बाहर पहुंचे तो सबने एक अदृष्टपूर्व दृश्य देखा; समवसरण लगा हुआ था; त्रैलोकेश्वर भगवान अशोक वृक्ष के नीचे गन्ध कुटी में विराजमान हैं। भरत ने सर्व प्रथम समवसरण की प्रदक्षिणा दी। फिर वे द्वार से भीतर प्रविष्ट हुए। वहाँ उन्होंने मानस्तम्भों की पूजा की। फिर वे समवसरण की

शोभा देखते हुए आगे बढ़े। वे जैसे जैसे आगे बढ़ते जा रहे थे, उनका आश्चर्य भी उसी क्रम से बढ़ रहा था। एक अद्भुत संसार की सृष्टि निमिष मात्र में हो गई, जहां संसार का सम्पूर्ण वैभव विद्यमान है किन्तु उस वैभव को देखकर वैभव प्राप्ति की मन में कोई ललक नहीं; अपितु सम्पूर्ण वातावरण में धर्म की सुरभि व्याप्त है। सांसारिक कामनायें मानो समवसरण के द्वार में ही लौट गई हों क्योंकि समवसरण के भीतर उनका प्रवेश वर्जित है।

जब भरत आश्चर्य विमुग्ध होकर परिखा, वन, स्तूप आदि को देख रहे थे, तब द्वारपाल देव आये और वे भरत को मार्ग दिखाते हुए समवसरण में ले गये। वहां भरत ने श्रीमण्डप की विभूति को देखा। वे प्रथम पीठिका पर चढ़े और प्रदक्षिणा दी। वहां उन्होंने धर्म चक्रों की पूजा की। फिर उन्होंने द्वितीय पीठ पर स्थित धर्म-ध्वजाओं की पूजा की। फिर उन्होंने गन्धकुटी में विराजमान और अष्ट प्रातिहार्यो से विभूषित देवाधिदेव भगवान ऋषभ-देव की भक्ति भावपूर्वक पूजा की। भगवान अशोक वृक्ष के नीचे विराजमान थे। उनके ऊपर तीन छत्र सुशोभित थे। उनके ऊपर निरन्तर पुष्पवृष्टि हो रही थी। आकाश में देव-दुन्दुभियों का मधुर नाद हो रहा था। भगवान की अतिशय गम्भीर दिव्य ध्वनि खिर रही थी। भगवान के शरीर से दिव्य स्निग्ध प्रभा विकीर्ण होरही थी। भगवान के दोनों ओर चमर ढुर रहे थे। और वे महार्घ्य आसन पर विराजमान थे। भगवान के इस दिव्य रूप को देखकर भरत भक्ति विह्वल हो गए। उनके हृदय में भक्ति की उत्ताल तरंगें प्रवाहित होने लगीं। भक्ति का आवेग शब्दों में फूट पड़ा और वे भगवान की स्तुति करने लगे। समस्त देव आश्चर्यपूर्वक भरत को देखने लगे।

जब भरत स्तुति कर चुके, तब वे पीठिका से उतर कर मनुष्यों के कक्ष में जाकर बैठ गए। सारी सभा स्तब्ध होकर भगवान के मुख की ओर देख रही थी। उस समय भरत ने हाथ जोड़कर भगवान से धर्म का स्वरूप पूछा। तब भगवान की दिव्य ध्वनि प्रगट हुई। उन्होंने धर्म का स्वरूप, धर्म के साधन, मार्ग और उसका फल विस्तारपूर्वक बताया। भगवान का उपदेश सुनकर भरत महाराज ने सम्यग्दर्शन की शुद्धि और अणुव्रतों की परम विशुद्धि को प्राप्त किया। अर्थात् उन्होंने श्रावक के पांच अणुव्रत और सप्तशील धारण किए। अन्य अनेक लोगों ने मुनि-दीक्षा धारण की। कुछ ने श्रावक के व्रत लिए। भरत के लघु भ्राता पुरिमताल नगर के स्वामी वृषभसैन ने मुनि-दीक्षा ले ली और वह भगवान का मुख्य गणधर बना।

समवसरण से लौटने पर भरत ने पुत्र जन्मोत्सव मनाया और चक्ररत्न की पूजा की।

१४. भरत की दिग्विजय

भगवान ऋषभदेव को फाल्गुन कृष्णा एकादशी को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। उसके कुछ दिनों के पश्चात् भरत भगवान के दर्शनों के लिए गया था। और वहाँ से आकर पुत्र जन्म का उत्सव मनाया था तथा चक्ररत्न की पूजा की थी। इसी प्रकार राज कार्य करते हुए शरद ऋतु आ गई। भरत का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाता था। उन्होंने अनेक उद्धत और प्रतापी राजाओं को अपने वश में कर लिया था। तभी उन्होंने निश्चय किया कि इस विस्तृत अजनाभ वर्ष को विजय करके सम्पूर्ण देश की राजनैतिक एकता स्थापित की जाय।

दिग्विजय द्वारा चक्रवर्ती पद

यह निश्चय करके उन्होंने दिग्विजय के लिए प्रयाण किया। उन्होंने उत्तरीय और अधोवस्त्र धारण किया। सिर पर मुकुट धारण किया। वक्षस्थल पर कौस्तुभ मणि और कानों में कुण्डल पहने। उनके ऊपर रत्न निर्मित छत्र सुशोभित था। उनके दोनों ओर वाराङ्गनायें चमर ढोर रही थीं। वे स्वर्ण निर्मित और रत्नखचित रथ में जाकर विराजमान हो गए। उनके आगे पीछे चारों ओर मुकुटबद्ध राजा लोग थे। उनके साथ एक विशाल

सेना थी। सबसे आगे पदाति सेना चल रही थी। उसके पीछे क्रमशः अश्व, रथ और हाथियों पर आरूढ़ सेना थी। सेना की प्रत्येक टुकड़ी की अपनी अलग ध्वजा थी। जब महाराज भरत नगर में होकर निकले, उस समय मकानों के गवाक्षों से सुन्दरियों ने उन पर पुष्प और लाजा की वर्षा की। चारों ओर महाराज का जय जयकार हो रहा था। सेना के आगे आगे सूर्य मण्डल के समान देदीप्यमान और देवों द्वारा रक्षित चक्ररत्न चल रहा था। सारी सेना चक्ररत्न के पीछे पीछे चल रही थी। चक्ररत्न और दण्डरत्न दोनों ही एक-एक हजार देवों से रक्षित दिव्य अस्त्र होते हैं।

सबसे पहले वे पूर्व दिशा की ओर गये। सेना के आगे-आगे सेनापति दण्ड रत्न की सहायता से मार्ग को सुगम और समतल बनाता जा रहा था। उन्होंने गंगा नदी के तट पर पड़ाव डाला। मार्ग में जितने राजा मिले, वे रत्नों का उपहार और यौवनवती कन्याओं को लेकर सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुए।

दूसरे दिन महाराज भरत विजय पर्वत नामक हाथी पर सवार होकर चले। सेनापतियों ने राजमुद्राङ्कित आदेश सारी सेना में प्रचारित किया कि आज समुद्र-तट पर चलकर ही विश्राम करना है, इसलिए सेना को शीघ्रता-पूर्वक प्रयाण करना है।' इस आदेश के प्रचारित होते ही सेना ने त्वरित गति से प्रयाण किया। मार्ग में अनेक भयभीत राजाओं ने आकर भरत महाराज को प्रणाम किया और उनकी अधीनता स्वीकार की। कोई राजा महाराज भरत से युद्ध करने का साहस नहीं करता था, इसलिए इन्हें किसी से सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय नहीं करने पड़ते थे। भरत ने न तो कभी तलवार पर अपना हाथ लगाया और न कभी धनुष पर प्रत्यंचा ही चढ़ाई। अनेक म्लेच्छ राजाओं ने उन्हें हाथी दांत, गज मुक्ता, चमरी गाय के बाल और कस्तूरी भेंट की। मार्ग में सेनापति ने महाराज की आज्ञा से अन्तपालों के सहस्रों किलों को अपने अधिकार में किया। अन्तपालों ने रत्न, सुवर्ण आदि भेंटकर भरत की आज्ञा स्वीकार की। इस प्रकार मार्ग के सभी राजाओं को अपने वशवर्ती बनाते हुए गंगासागर के तट पर पहुंचे। वहां गंगा के उपवन की वेदिका के उत्तर द्वार से प्रवेश करके वन में पहुंच कर सेना ने विश्राम किया।

भरत महाराज सेना को सेनापति के सुपुर्द करके अकेले ही, दिव्य अस्त्रों से सुसज्जित होकर अजितंजय रथ में बैठकर समुद्र विजय के लिये चल दिए। उनका रथ स्थल और जल सर्वत्र समान रूप से चल सकता था। उन्होंने सारथी को जल में रथ को चलाने का आदेश दिया। उनके आदेशानुसार सारथी ने समुद्र में रथ बढ़ाया। रथ बारह योजन तक समुद्र में चला गया। तब भरत ने एक दिव्य बाण धनुष पर सन्धान किया, जिस पर लिखा हुआ था कि 'मैं वृषभदेव तीर्थंकर का पुत्र भरत चक्रवर्ती हूं। इसलिए मेरे उपभोग के योग्य क्षेत्र में रहने वाले सब व्यंतर देव मेरे अधीन हों।' वह बाण सनसनाता हुआ मागध देव के महल के आंगन में जाकर गिरा। उसे देखते ही सम्पूर्ण व्यन्तरों मे आतक व्याप्त होगया। भयभीत मागध देव व्यन्तरों के परिकर सहित उस बाण को रत्न मंजूषा में रखकर भागा हुआ भरत के निकट आया और उन्हें अनर्घ्य रत्न भेंटकर उनकी आधीनता स्वीकार की। इसके पश्चात् भरत पुनः अपने स्कन्धावार में लौटे।

अगले दिन सेना ने प्रस्थान किया। सेना महाराज के आदेशानुसार समुद्र के किनारे-किनारे चली। चक्रवर्ती का आगमन सुनकर राजा लोग छत्र-मुकुट त्याग कर चक्रवर्ती का स्वागत करने अपने राज्य को सीमा पर भेंट लिए उपस्थित हो जाते। जो भोगी विलासी राजा थे, भरत ने उन्हें सत्ताच्युत करके उनके स्थान पर कुलीन पुरुषों को राज्य शासन सोंपा। अनेक राजा भय के कारण राज्य छोड़कर भाग गए। जिसने तनिक भी शत्रुता प्रदर्शित की, भरत ने उनके राज्य, धन, संपत्ति छीन ली। कोई अन्यायी राजा बच नहीं सका। अनुकूल राजाओं को अभय देकर भरत ने सम्मानित किया।

सेनापति ने बिना किसी प्रतिरोध के अंग, वंग, कलिंग, कुरु, अवन्ती, पाँचाल, काशी, कोशल, विदर्भ, कच्छ, चेदि,वत्स, सुह्म, पुण्ड्र, ओण्ड्र, गौड़, दशार्ण, कामरूप, कश्मीर, उशीनर, और मध्यदेश के राजाओं को अपने वश में कर लिया। उसने कालिन्द, कालकूट, भिल्ल देश और मल्लदेश में पहुंच कर उनसे अपनी आज्ञा मनवाई। उसकी सेना के हाथियों ने हिमवान पर्वत के निचले भाग से लेकर वैभार और गोरथगिरि पर स्वच्छन्द विचरण

किया। वे हाथी सुमागधी, गंगा, गोमती, कपीवती, रथास्फा, गम्भीरा, कालतोया, कौशिकी, कालमही, ताम्रा, अरुणा और निचुरा नदियों तथा लौहित्य समुद्र और कम्बुक नामक सरोवरों में घूमे थे। इन हाथियों ने उदुम्बरी, पनसा, तमसा, प्रमृशा, शुक्तिमती और यमुना नदी के जल का निर्बाध पान किया था। इन विजयी हाथियों ने ऋष्यमूक, कोलाहल, माल्य और नागप्रिय पर्वतों को रोंद डाला। इन्होंने चेदि और ककूश देश के हाथियों को परास्त कर दिया।

भरत की सेना के तीव्रगामी घोड़े शोण नदी के दक्षिण और नर्मदा नदी के उत्तर ओर बीजा नदी के दोनों ओर और मेखला नदी के चारों ओर घूमे थे।

भरत ने पूर्वदिशा के सब राजाओं को जीतकर दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया। दक्षिण में भरत ने त्रिकलिंग, ओड़, कच्छ, प्रातर, केरल, चेर और पुन्नाग देश के राजाओं पर विजय प्राप्त की। उन्होंने कूट, ओलिक, महिष, कमेकुर, पांड्य और अन्तर पाड्य देश के राजाओं के मस्तक अपने चरणों में नवाये। चक्रवर्ती की आज्ञानुसार उनका सेनापति जयकुमार तेला, इक्षुमती, नक्रवा, वंगा, श्वसना, वैतरणी, मापवती, महेन्द्रका, गोदावरी, सुप्रयोगा, कृष्णवेणा सन्नीरा, प्रवेणी, कुब्जा, धैर्या, चूर्णी, वेणा, सूकरिका, और अम्बर्णा नदियों को पार कर उनके तटवर्ती राजाओं को आज्ञानुवर्ती बनाता हुआ कर्णाटक, आन्ध्र, चोल, पाण्ड्य आदि देशों को अपने आधीन करने में सफल हुआ। चक्रवर्ती ने समुद्र में जाकर वरतनु नामक देव को जीता।

सम्पूर्ण दक्षिण देश को जीतकर महाराज भरत ने पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया। वे सह्याद्रि को लांघकर समुद्र तट पर पहुंचे। भीमरथी, दारुवेणा, नीरा, मूला, बाणा, केतवा, करीरी, प्रहरा, मुररा, पारा, मदना, गोदावरी, तापी, लांगलखातिका आदि नदियों को उनकी सेनाओं ने आननफानन में पार कर लिया। किसी का साहस नहीं हुआ जो उनका विरोध करता। सह्याद्रि को पाकर सेना विन्ध्याचल पर्वत पर पहुंची। फिर वहां से बढ़ती हुई वह सेना सिन्धु नदी के तट पर जा पहुँची और सम्पूर्ण पश्चिम दिशा के राजाओं को जीता।

इसके बाद भरत ने उत्तर दिशा की ओर अभियान किया। वे विजयार्ध पर्वत पर जा पहुँचे। वहाँ विजयार्धदेव चक्रवर्ती के दर्शनों के लिये आया और बहुमूल्य भेंट देकर चक्रवर्ती को प्रसन्न किया तथा उनका अभिषेक किया। फिर विजयार्ध की वेदी पारकर म्लेच्छ देश में पहुँचे। वहाँ अनेक म्लेच्छ राजाओं ने चक्रवर्ती का प्रतिरोध किया। किन्तु सेनापति जयकुमार ने उन्हें आननफानन में पराजित कर दिया। फिर सेना तमिस्रा नामक विशाल गुफा को पारकर मध्यम म्लेच्छ देश में पहुँची। वहाँ चिलात और आवर्त देश के राजाओं ने चक्रवर्ती की सेना का संयुक्त होकर सामना किया। उन राजाओं के सहायक नागमुख और मेघमुख नामक दो देवों ने बड़ा उपद्रव किया। किन्तु जयकुमार सेनापति ने उन दोनों को युद्ध में परास्त कर दिया। तभी से उनका नाम मेघेश्वर पड़ गया। तब दोनों राजाओं ने भी आकर भरत की अधीनता स्वीकार करली। फिर चक्रवर्ती ने हिमवत कूट पर पहुँच कर हिमवान् पर्वत के राजाओं पर विजय प्राप्त की। फिर वे वृषभाचल पर्वत पर पहुँचे। वहाँ भरत ने काकिणी रत्न से पर्वत की एक सपाट शिला पर अपना नाम अंकित करना चाहा। उन्होंने सोचा था कि समस्त पृथ्वी को जीतने वाला मैं ही प्रथम चक्रवर्ती हूँ। किन्तु जब उन्होंने अपना नाम उस शिला पर लिखना चाहा तो उन्हें यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि वहाँ नाम लिखने के लिये कोई स्थान नहीं है। वहाँ शिला पर असंख्य चक्रवर्तियों के नाम उत्कीर्ण हैं। तब भरत का अभिमान नष्ट हो गया और उन्होंने स्वीकार किया कि इस भरत क्षेत्र पर मेरे समान शासन और विजय करने वाले असंख्य सम्राट् मुझसे पहले हो चुके हैं। तब उन्होंने एक चक्रवर्ती की प्रशस्ति को अपने हाथ से मिटाया और अपनी प्रशस्ति अंकित की।

इसके पश्चात् विजयार्ध पर्वत की उत्तर और दक्षिण श्रेणी के विद्याधर राजा भेंट लेकर भरत की सेवा में उपस्थित हुए। ये दोनों राजा नमि और विनमि चक्रवर्ती के लिये उपहार में सुन्दर कन्यायें भी लाये थे। भरत ने राजा नमि की बहन सुभद्रा के साथ विद्याधरों की परम्परानुसार विवाह किया। यही सुभद्रा चक्रवर्ती के पटरानी पद पर प्रतिष्ठित हुई।

इस प्रकार चारों दिशाओं के सम्पूर्ण राजाओं पर विजय प्राप्त कर और सम्पूर्ण भरत क्षेत्र का चक्रवर्तित्व स्थापित कर विजय आनन्द का रसपान करते हुए चक्रवर्ती भरत अपनी विजयिनी सेना के साथ अयोध्या की ओर लौटे। इन्हें नव निधियों और चौदह रत्नों का लाभ प्राप्त हुआ था। सम्पूर्ण खण्ड को विजय करने में भरत को साठ हजार वर्ष लगे। प्रयाण करते हुए भरत जब कैलाश पर्वत के समीप पहुँचे तो उनका हृदय जिनेन्द्रदेव की भक्ति से भर गया। वे जिनेन्द्रदेव की पूजा के उद्देश्य से कैलाश पर्वत पर पहुँचे। उनके साथ अनेक मुकुटवद्ध राजा चल रहे थे। कैलाश पर्वत पर पहुँच कर वे सवारी छोड़ कर पैदल ही चले। उन्होंने दूर से ही जगद्गुरु ऋषभदेव का समवसरण देखा। वे वहाँ पहुँचकर धूलिसाल से आगे वढ़े और मानस्तम्भ की पूजा की। फिर वापिका, कोट, अष्ट मंगल द्रव्य, नाट्यशालाओं, वनों, चैत्य वृक्षों, ध्वजाओं, सिद्धार्थ वृक्षों, स्तूपों आदि का अवलोकन-पूजन करते हुए श्रीमण्डप में विराजमान भगवान के दर्शन किये। उन्होंने जमीन पर घुटने टेक कर भगवान को नमस्कार किया। फिर अष्ट द्रव्यों से भगवान की पूजा की। उनकी स्तुति की। फिर यथास्थान वैठकर भगवान के मुख से धर्म का स्वरूप सुना। फिर भक्तिपूर्वक भगवान को तथा वहां विराजमान समस्त मुनियों को नमस्कार कर उन्होंने समवसरण से प्रस्थान किया और अपनी सेना के साथ चलते हुए वे यथासमय अयोध्या के निकट पहुँचे।

१५. भरत के भाई-बहनों का वैराग्य

भगवान ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ थीं—ब्राह्मी और सुन्दरी। ब्राह्मी भरत की वहन और नन्दा माता की पुत्री थी तथा सुन्दरी वाहुवली की वहन और सुनन्दा माता की पुत्री थी। इनकी दीक्षा के सम्वन्ध में दिगम्बर परम्परा में मान्य भगवज्जिनसेन कृत आदिपुराण में केवल इतना उल्लेख मिलता है कि भगवान का उपदेश सुनकर पुरिमताल नगर में दोनों ने भगवान के समीप दीक्षा धारण करली। आदिपुराण २४।१७५-१७७ के शब्दों में 'भरत की छोटी बहन ब्राह्मी भी गुरुदेव की कृपा से दीक्षित होकर आर्याओं के वीच में गणिनी के पद को प्राप्त हुई थी। वह ब्राह्मी सव देवों के द्वारा पूजित हुई थी। उस समय वह राजकन्या ब्राह्मी दीक्षारूपी शरदऋतु की नदी के शीलरूपी किनारे पर बैठी हुई और मधुर शब्द करती हुई हंसी के समान सुशोभित हो रही थी। वृषभदेव की दूसरी पुत्री सुन्दरी को भी उस समय वैराग्य उत्पन्न हो गया था, जिससे उसने भी ब्राह्मी के वाद दीक्षा धारण करली थी।' इस विवरण के अतिरिक्त और कोई विवाह या ब्रह्मचर्य सम्बन्धी विवरण इनके सम्वन्ध में इस पुराण में नहीं मिलता।

ब्राह्मी और सुन्दरी का दीक्षा-ग्रहण

किन्तु श्वेताम्वर परम्परा[1] में ब्राह्मी का वाहुवली के साथ और सुन्दरी का भरत के साथ सम्वन्ध हुआ था। ब्राह्मी ने तो भगवान को केवलज्ञान होते ही दीक्षा ले ली किन्तु सुन्दरी इस समय दीक्षा नहीं ले सकी क्योंकि भरत ने उसे इसकी अनुमति नहीं दी। भरत चाहता था कि षट्खण्ड पृथ्वी पर विजय प्राप्त करके जब मैं चक्रवर्ती वन जाऊँ, तव सुन्दरी को पटरानी पद प्रदान किया जाय। किन्तु सुन्दरी के मन में प्रवल वैराग्य भावना थी। जव भरत दिग्विजय के लिये गया तव उसने आचाम्ल तप करना आरम्भ कर दिया। साठ हज़ार वर्ष व्यतीत होने पर जव भरत सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को जीतकर वापिस आया तो वारह वर्ष महाराज्याभिषेक समारोह में लग गये।

१. आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि तथा मलयगिरि वृत्ति

इससे निवृत्त होने पर एक दिन वह सुन्दरी के महलों में पहुँचा तो उसे अत्यन्त कृशकाय देखकर भरत को अत्यन्त दुःख हुआ। सेवकों से उसे इसका कारण ज्ञात हुआ तो उसने पूछा—सुन्दरी ! तुम गृहस्थ जीवन में रहना चाहती हो अथवा दीक्षा लेना चाहती हो। सुन्दरी ने दीक्षा लेने की अपनी हार्दिक इच्छा प्रगट की। तब भरत ने उसे ब्राह्मी के निकट दीक्षा लेने की अनुमति प्रदान कर दी। इस प्रकार उसने भी दीक्षा लेली।

इस कथा के बावजूद श्वेताम्बर परम्परा ने भी दोनों को बाल ब्रह्मचारिणी माना है।

भाइयों का वैराग्य

चक्रवर्ती भरत अपनी विशाल वाहिनी के साथ अयोध्यापुरी के निकट पहुँचा। नगरवासियों ने चिरकाल बाद वापिस लौटे अपने हृदयसम्राट् के स्वागत के लिए अयोध्यापुरी को खूब सजाया था। सारे राजमार्ग और वीथियाँ हाट और निगम तोरणों और बन्दनवारों से सजाये थे। राजमार्गों पर सुगन्धित चन्दन के जल का छिड़काव किया गया था। सौभाग्यवती स्त्रियों ने मंगलकलश रखकर रत्नचूर्ण से चौक पूरे थे। सारा नगर चक्रवर्ती के स्वागत के लिए पलक पांवड़े बिछाये हुए अधीरता से प्रतीक्षा कर रहा था। किन्तु समस्त शत्रुदल का विध्वंस करने वाले चक्रवर्ती का चक्ररत्न गोपुर द्वार के बाहर ही ठहर गया। उस समय चक्ररत्न की रक्षा करने वाले देव इस अप्रत्याशित घटना से आश्चर्य-चकित रह गये।

सेनापति आदि प्रमुख लोगों ने इस घटना की सूचना चक्रवर्ती को दी। चक्रवर्ती भी इसका कुछ कारण नहीं खोज पाये। तब उन्होंने पुरोहित को बुलाया और उससे पूछने लगे—'आर्य ! समस्त शत्रुदल का संहार करने वाला यह चक्ररत्न मेरे ही नगर के द्वार पर क्यों रुक गया है ? यह अन्दर प्रवेश क्यों नहीं करता ? जो समुद्र में, विजयार्ध की गुफाओं में, पर्वतों और वनों में कहीं नहीं रुका, वह अव्याहतगति यह चक्र मेरे ही घर के आंगन में क्यों रुक गया है ? आप दिव्य नेत्र हैं। चक्र के रुकने का कोई साधारण कारण नहीं हो सकता। आप विचार कर बताइये। आप ही इसके रुकने का कारण बता सकते हैं।

भरत के ऐसा कहने पर पुरोहित कुछ समय के लिए विचारमग्न हो गये। तब निमित्त-ज्ञान से इसका कारण जानकर बोले—'देव ! हम लोगों ने निमित्त-ज्ञानियों से सुना है कि जबतक दिग्विजय करना कुछ भी शेष रहता है, तब तक चक्ररत्न विश्राम नहीं लेता। व्यवहार में न आपका कोई मित्र है और न शत्रु है। सब आपके सेवक हैं। तथापि अब भी कोई आपके जीतने योग्य रह गया है। आपने बाहरी राजाओं को जीत लिया है किन्तु आपके घर के लोग अब भी आपके अनुकूल नहीं हैं। आपने समस्त शत्रु-पक्ष को जीत लिया है किन्तु आपके भाई आपके प्रति नम्र नहीं हैं। उन्होंने आपको नमस्कार नहीं किया है। आपके भाई आपके विरुद्ध खड़े हुए हैं और सजातीय होने से वे वध्य भी नहीं हैं। अतः आप उनके पास दूत भेजिये जो बातचीत द्वारा उन्हें आपके अनुकूल बनावें।

पुरोहित के कथन को चक्रवर्ती बड़े ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। उन्हें पुरोहित का यह परामर्श युक्तियुक्त लगा। उन्होंने सोचा—बाहुबली महाबलवान है। उसे छोड़कर शेष भाइयों के पास मैं दूत भेजूँगा, यह विचार कर उन्होंने योग्य निःसृष्टार्थ सब भाइयों के पास भेजे। सब भाइयों ने दूतों के सन्देश सुने। फिर वे परस्पर परामर्श करने के लिए एक स्थान पर एकत्रित हुए। उन्होंने कहा—'भरत हमारे अग्रज हैं। वे पिता के समान पूज्य हैं। किन्तु पिता जी तो अभी विद्यमान हैं। यह वैभव भी उन्हीं का दिया हुआ है। इसलिए हम लोग इस विषय में पिताजी की आज्ञा के आधीन हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं।' इस प्रकार राजजनोचित नीतिमत्तापूर्ण उत्तर देकर दूतों का यथोचित सम्मान किया और भरत के पत्र का उत्तर देकर और उनके लिए उपहार देकर दूतों को विदा किया।

तब सब भाई भगवान ऋषभदेव के पास कैलाश पर्वत पर पहुँचे। उन्होंने भगवान के दर्शन किये, उनकी पूजा की। फिर निवेदन किया—हे देव ? आपने हमें जन्म दिया। आपसे हमें संसार के समस्त वैभव मिले। हम केवल आपकी प्रसन्नता के इच्छुक हैं। हम आपको छोड़कर और किसी की उपासना नहीं करना चाहते। भरत हमें प्रणाम करने के लिए बुलाते हैं। किन्तु जो सिर आपके चरणों में झुका है, वह अन्य किसी के चरणों में नहीं झुक सकता। जिसमें किसी अन्य को प्रणाम नहीं करना पड़ता, ऐसी वीर दीक्षा धारण करने के लिए हम आपके चरणों में उपस्थित हुए हैं।

भगवान ने उन राजकुमारों को अविनाशी मोक्षसुख प्राप्त करने का उपाय वताते हुए उपदेश दिया। भगवान के हितकारी वचन सुनकर उन राजकुमारों को वैराग्य हो गया। उन्होंने भगवान के चरणों में दीक्षा धारण करली और वे निर्ग्रन्थ दिगम्वर मुनि वन गये। वे घोर तप करने में प्रवृत्त हो गये। उन्होंने द्वादशाङ्ग वाणी का अध्ययन किया। उन्होंने ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया।

१६. भरत-वाहुवली-युद्ध

भरत और बाहुबली का निर्णायक युद्ध

चक्रवर्ती विचार करने लगे कि मेरे अन्य भाइयों और वाहुवली में वहुत अन्तर है। वाहुवली महा वलवान, मानधन से युक्त और युद्ध में शत्रुओं के लिए महा भयंकर है। वह दाम, दंड और भेद से वश में आने वाला नहीं है। इसलिए उस पर साम नीति का ही प्रयोग करना उचित है। यदि वह फिर भी वश में नहीं आया, तव उस परिस्थिति पर पुनः विचार कर जो उचित होगा, वह किया जायगा। यह विचार कर चक्रवर्ती ने नीति विचक्षण एक चतुर दूत को वाहुवली के पास भेजा।

वह दूत शीघ्रतापूर्वक मार्ग तय करता हुआ वाहुवली के पोदनपुर नामक नगर में पहुँचा। उसने राजद्वार पर जाकर द्वारपाल से अपना परिचय और उद्देश्य वाहुवली के पास भिजवा दिया। वाहुवली ने दूत को तत्काल अन्दर वुला भेजा। दूत ने अप्रतिम सौन्दर्य और वीरदर्प की राशि कुमार वाहुवली को देखा। उसने कुमार वाहुवली के समक्ष जाकर उनके चरणों में नमस्कार किया। कुमार ने उसका यथोचित सम्मान करके अपने पास ही वैठाया। कुमार ने मन्द स्मित द्वारा अपने भाई चक्रवर्ती की कुशल मंगल पूछी।

तव दूत ने अत्यन्त विनयपूर्वक उत्तर दिया—हे प्रभो ! हम तो अपने स्वामी के सेवक हैं। उनका सन्देश पहुँचाना ही हमारा कर्तव्य है। भरत इक्ष्वाकुवंशी हैं, भगवान् ऋषभदेव के पुत्र हैं, आपके वड़े भ्राता हैं। उन्होंने भरत क्षेत्र के समस्त राजाओं, देवों और विद्याधरों को जीत लिया है। समुद्र, गंगा और सिन्धु के अधिष्ठाता देवों ने उनकी आरती उतारी है। उन्होंने वृषभाचल पर दण्डरत्न से अपना नाम उत्कीर्ण किया है। समस्त रत्न और निधियाँ उन्हें प्राप्त हैं। उन्होंने आपको आशीर्वाद दिया है और आज्ञा दी है कि समस्त द्वीप और समुद्रों तक फैला हुआ हमारा राज्य हमारे प्रिय भाई वाहुवली के विना शोभा नहीं देता। दूसरी वात यह है कि यदि आप उन्हें प्रणाम नहीं करते तो उनका चक्रवर्ती पद भी सुशोभित नहीं होता। इसलिये आप उन्हें जाकर नमस्कार करिये। उनकी आज्ञा कभी व्यर्थ नहीं जाती। जो उनकी आज्ञा की अवहेलना करते हैं, उनके नियमन के लिये उनका चक्ररत्न है। इसलिये आप चलकर उनके मनोरथ पूर्ण कीजिये। आप दोनों भाइयों के मिलाप से संसार मिलकर रहेगा।

दूत के निवेदन करने पर कुमार वाहुवली मन्दमन्द मुस्कराते हुए वोले—हे दूत ! तू बहुत चतुर है। तूने साम नीति की वात करते हुए भेद और दण्ड की भी वातें चतुराई से कह दीं। किन्तु तूने इनका अयोग्य स्थान में प्रयोग किया है। वड़ा भाई वन्दनीय है किन्तु सिर पर तलवार रखकर प्रणाम कराना तो अयुक्त है। आदि ब्रह्मा भगवान ऋषभदेव ने राजा शब्द मेरे और भरत के दोनों के लिये दिया है। भरत राजराज वन जाय, हम अपने धर्मराज्य में रहकर राजा ही वने रहेंगे। भरत हम लोगों को वच्चों की तरह वुलाकर और प्रणाम कराकर पृथ्वी का कुछ टुकड़ा देना चाहता है। किन्तु मनस्वी पुरुष अपने भुजवल से भोग अर्जित करना पसन्द करता है, दूसरे के अनुग्रह से मिला हुआ दान उसके लिये तुच्छ होता है। वन में निवास करना अच्छा है, प्राण विसर्जन करना अच्छा है, किन्तु कुलाभिमानी पुरुष कभी दूसरे की आज्ञा के अधीन रहना या परतन्त्र रहना स्वीकार नहीं करेगा। हे दूत !

भगवान ऋषभदेव द्वारा दी हुई हमारी पृथ्वी को भरत छीनना चाहता है। अतः उसका विरोध करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। मुझे पराजित किये विना भरत इस पृथ्वी का भोग नहीं कर पायगी। तू भरत से जाकर कह देना कि अब तो हम दोनों का निर्णय युद्ध-भूमि में ही होगा।

इस प्रकार कहकर उस स्वाभिमानी कुमार वाहुवली ने दूत को विदा कर दिया। वाहुवली युद्ध की तैयारी करने लगे।

उधर जव दूत ने जाकर चक्रवर्ती भरत को सव समाचार सुनाये तो चक्रवर्ती की आज्ञा से समस्त सेना ने युद्ध के लिये प्रयाण कर दिया। दोनों ओर की सेनायें युद्ध-भूमि में आमने-सामने आ डटीं। सेनापति लोग व्यूह-रचना करने लगे। तभी दोनों ओर के बुद्धिमान मंत्री लोग आपस में मिलकर परामर्श करने लगे—दोनों भाई चरम शरीरी हैं। युद्ध में इनमें से किसी की क्षति होने वाली नहीं हे, केवल दोनों पक्ष के सैनिकों का ही संहार होगा। अतः इस अकारण युद्ध में जन-संहार से कोई लाभ नहीं है। इसलिये दोनों भाइयों का ही परस्पर तीन प्रकार का युद्ध हो। इन युद्धों में जो जीते, उसकी विजय स्वीकार कर लेनी चाहिए।

यह निर्णय दोनों भाइयों के समक्ष रक्खा गया और दोनों ने ही इसे स्वीकार कर लिया। दोनों ने जल-युद्ध, दृष्टियुद्ध और वाहुयुद्ध (मल्लयुद्ध) करने में अपनी सहमति प्रदान कर दी।

श्वेताम्बर परम्परा में दृष्टि युद्ध, वाग्युद्ध, वाहु युद्ध और मुष्टि युद्ध इस प्रकार चार प्रकार के युद्ध माने हैं।

परस्पर युद्ध की इच्छा से एकत्रित हुई सेना अव मूक दर्शक वन कर खड़ी थी। यह संसार का अभूतपूर्व और अदृष्टपूर्व युद्ध था, जिसमें अहिंसात्मक रीति से जय-पराजय का निर्णय होना था। यह हिंसा पर अहिंसा की विजय थी, जिसमें शस्त्रास्त्रों का प्रयोग नहीं हुआ, रक्त की एक बूंद नहीं गिरी। ऐसा अद्‌भुत युद्ध संसार ने न कभी देखा था, न सुना था। सम्पूर्ण पृथ्वी का साम्राज्य दो व्यक्तियों की शक्ति पर दांव पर लगा हुआ था।

भरत पाँच सौ धनुष ऊँचा था। वाहुवली की ऊँचाई सवा पाँच सौ धनुप थी। शारीरिक वल में भी वाहुवली भरत की अपेक्षा कुछ अधिक ही था। इन दोनों वातों का लाभ वाहुवली को मिला। सर्वप्रथम दृष्टि युद्ध हुआ। किन्तु भरत के पलक झपक गये। सवने इस युद्ध में भरत की पराजय स्वीकार कर ली। फिर दोनों भाइ जल-युद्ध करने के लिए सरोवर में प्रविष्ट हुए। दोनों एक दूसरे पर पानी उछालने लगे। भरत वाहुवली के ऊपर जल उछालते तो वह उनकी छाती तक ही जाता, जवकि वाहुवली द्वारा उछाला हुआ जल भरत के मुह और आखों में भर जाता था। शीघ्र ही वाहुवली इस युद्ध में भी विजयी रहे। अव अन्तिम मल्ल युद्ध होना था। दोनों वीरों में जमकर मल्ल युद्ध हुआ। दोनों ही असाधारण वीर पुरुप थे। किन्तु दाव लगते ही वाहुवली ने भरत को ऊपर हाथों में उठाकर चक्र के समान घुमा दिया। वाहुवली ने यह विचार कर भरत को जमीन पर नहीं पटका कि ये वड़े हैं, वलिक उन्होंने भरत को उठाकर कन्धे पर वैठा लिया।

वाहुवली तीनों युद्धों में निर्विवाद विजय प्राप्त कर चुके थे। भरत-पक्ष के लोग लज्जा से सिर नीचा किये वैठे थे, तभी एक भयानक घटना घटित हो गई। भरत अपनी पराजय की लज्जा से क्रोधान्ध हो गये। उन्होंने चक्र-रत्न का स्मरण किया। चक्ररत्न स्मरण करते ही उनके पास आया। उन्होंने विवेकशून्य होकर वाहुवली के ऊपर चक्र चला दिया। किन्तु चक्र देवरक्षित होता है। वह सगोत्रज और चरम शरीरी का वध नहीं कर सकता। वह वाहुवली की ओर चला और उनकी प्रदक्षिणा देकर लौट गया। राजाओं ने इस कृत्य के लिये भरत को धिक्कारा।

वाहुवली ने केवल इतना ही कहा—'आपने खूव पराक्रम दिखाया! और यह कहकर भरत को कन्धे से उतार कर जमीन पर रख दिया। सवने वाहुवली की विजय स्वीकार की और उनकी वड़ी प्रशंसा की।

यद्यपि वाहुवली की यह विजय निर्विवाद थी, अनेक राजाओं ने उनकी इस विजय की प्रशंसा की, उन्होंने वाहुवली का सत्कार भी किया। किन्तु भरत द्वारा चक्र चलाये जाने से वाहुवली के मन पर उसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई। वे विचार करने लगे—हमारे वड़े भाई ने इस नश्वर राज्य के लिये यह कैसा लज्जाजनक कार्य किया है। धिक्कार है इस साम्राज्य-लिप्सा को। यह राज्य प्राणी को छोड़ देता है किन्तु प्राणी इसे नहीं छोड़ना चाहता। मनुप्य का अहंभाव और विपयलालसा मनुप्य मे न जाने

वाहुवली का वैराग्य

कितने अकृत्य कराते हैं। किन्तु क्षणभंगुर जीवन का व्यय केवल अहंकार और विषयों के लिये करना क्या बुद्धिमत्ता है ? इस मानव-जीवन का प्रयोजन इससे कहीं महान् है।

इसके पश्चात् उन्होंने भरत की भर्त्सना करते हुए कहा—हे राजाओं में श्रेष्ठ ! लज्जा को छोड़कर तुम सुनो। मेरे अभेद्य शरीर पर तुमने चक्र चलाकर बड़े दुस्साहस का कार्य किया है। तुम अपने भाइयों से इस राज्य को छीनकर अकेले ही उसका भोग करना चाहते हो। अब यह राज्य तुम्हें ही मुबारिक हो। मैं अब इस राज्य-लक्ष्मी का परित्याग करके तप-लक्ष्मी का वरण करना चाहता हूँ। मैंने आपकी विनय नहीं की थी, उसे आप क्षमा करें।

बाहुबली के वचन सुनकर भरत को भी अपने कार्य पर बहुत अनुताप हुआ और वे अपने कृत्य की निन्दा करने लगे। बाहुबली ने अपने पुत्र महाबली को राज्य सोंप कर भगवान वृषभदेव के चरणों का ध्यान करते हुए मुनि-दीक्षा ले ली। वे वहाँ से विहार करते हुए कुछ समय भगवान के निकट रहे। फिर वे कैलाश पर्वत पर पहुंचे और एक वर्ष का प्रतिमा योग लेकर निश्चल खड़े होकर तपस्या करने लगे। वे कभी आहार के लिये नहीं गये। एक स्थान पर खड़े हुए उनके शरीर पर माधवी लतायें चढ़ गईं। बामी के छिद्रों से भयानक सर्प निकल कर उनके चरणों पर फण फैलाकर बैठ जाते। सर्प के बच्चे उनके शरीर से किलोल करते। उनके केश बढ़कर कन्धों तक लटकने लगे। विद्याधरियाँ आकर उन वासन्ती लताओं को हटातीं; उनके पत्ते तोड़ देतीं। तीव्र तपस्या करते हुए उनका शरीर ज्यों ज्यों कृश होता जा रहा था, उनके कर्म भी उसी प्रकार कृश हो रहे थे। उन्होंने आहार, मैथुन, भय और परिग्रह इन चारों संज्ञाओं पर विजय प्राप्त कर ली। उन्होंने अपनी आत्मा द्वारा आत्मा को जीत लिया था। उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई थीं। जाति विरोधी जीव उनके निकट निर्भय होकर विचरण करते थे।

जिस दिन उनका एक वर्ष का नियम पूरा होने वाला था, उसी दिन चक्रवर्ती भरत आये। उन्होंने आकर महामुनि बाहुबली की पूजा की। इससे पहले बाहुबली के मन में यह विकल्प रहता था कि भरत को मेरे कारण संक्लेश पहुँचा है। किन्तु भरत द्वारा पूजा करने पर वह विकल्प भी दूर हो गया और तत्काल केवलज्ञान प्रगट हो गया। उसके पश्चात् चक्रवर्ती ने पुनः महापूजा की। भगवज्जिनसेन आचार्य कहते हैं कि केवलज्ञान से पहले भरतेश्वर ने जो पूजा की थी, वह अपना अपराध नष्ट करने के लिये की थी और केवलज्ञान होने के पश्चात् जो पूजा की, वह केवलज्ञान का अनुभव करने के लिये की थी।

चक्रवर्ती की पूजा की कल्पना करना भी कठिन है। उन्होंने रत्नों का अर्घ बनाया था। गंगा के जल की जल धारा दी थी। रत्नों की ज्योति के दीपक चढ़ाये थे। अक्षत के स्थान पर मोती चढ़ाये थे। अमृत के पिण्ड से नैवेद्य अर्पित किया था। कल्पवृक्ष के चूर्ण की धूप बनाई थी। पारिजात के पुष्पों से पुष्पों की पूजा की थी। और फलों के स्थान पर रत्न और निधियाँ चढ़ाई थीं।

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर इन्द्र और देवों ने आकर महामुनि बाहुबली की पूजा की। उस समय सुगन्धित वायु बह रहा था। आकाश में देव दुन्दुभि बज रही थी। पुष्प-वर्षा हो रही थी। मुनिराज के ऊपर तीन छत्र और उनके नीचे दिव्य सिंहासन सुशोभित हो रहा था। उनके दोनों ओर चमर ढोले जा रहे थे। देवों ने उनके लिये गन्धकुटी की रचना की। अब वे अरहन्त परमेष्ठी बन गए थे।

भगवान बाहुबली ने समस्त पृथ्वी पर विहार किया और संसार को कल्याण-मार्ग का उपदेश दिया। अन्त में वे भगवान वृषभदेव के समीप कैलाश पर्वत पर पहुंचे और वहीं से मुक्त हुए।

आदिपुराण में भरत के भेजे हुए दूत का जो वर्णन आया है, उसमें पोदनपुर के मार्ग तथा पोदनपुर के निकटवर्ती प्रदेश का वर्णन आया है, उससे पोदनपुर के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश पड़ता है। यद्यपि उससे यह निर्णय कर सकना कठिन है कि पोदनपुर कहाँ था। किन्तु उससे इस बात पर प्रकाश अवश्य पड़ता है कि पोदनपुर के आसपास कौन कौन सी फसलें होती थीं। उसमें पर्व ३५ श्लोक २८-२९ में वर्णन है कि नगर से बाहर धानों से युक्त मनोहर पृथ्वी को पाकर और पके हुए चावलों के खेतों को देखता हुआ वह दूत बहुत ही आनन्द को प्राप्त हुआ। जो बहुत से फलों से शोभायमान है

पोदनपुर-निर्णय

और किसानों के द्वारा वड़े यत्न से जिनकी रक्षा की जा रही है ऐसे धान के गुच्छों को देखते हुए दूत ने मनुष्यों को वड़ा स्वार्थी समझा था।' इस विवरण से प्रतीत होता है कि पोदनपुर के निकट धान की खेती वहुलता से होती थी।

आगे इसी पर्व के श्लोक ३७ में ईख का वर्णन मिलता है। स्त्रियों के वर्णन में कवि ने उनकी श्रृंगार-सज्जा पर भी कुछ प्रकाश डाला है। इसमें वताया है कि वहाँ की कृषक-वालाओं ने धान की वालों से अपने कान के आभूपण वनाए थे। नील कमलों की मालाओं से अपनी चोटियाँ वांध रक्खी थीं। उन्होंने तोते के रंग वाली हरी चोलियाँ पहन रक्खी थीं (श्लोक ३२-३६)

उपर्युक्त विवरण से पोदनपुर की फसलों, स्त्रियों के श्रृंगार प्रसाधनों और वेष भूषा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। हरिवंश पुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन वाहुवली को पोदनपुर नरेश तो स्वीकार करते हैं किन्तु दोनों पक्षों की सेनाओं की मुठभेड वितता नदी के पश्चिम दिग्भाग में मानते हैं। संभवत: वितता से उनका आशय वितस्ता (झेलम) नदी से है। किन्तु झेलम के पश्चिम दिग्भाग में न तो धान की खेती होती है, न ईख होती है और न स्त्रियों का परिधान और श्रृंगार वैसा होता है जैसा कि आदि पुराण में वताया गया है। इससे लगता है कि दोनों पुराणों में पोदनपुर की स्थिति के सम्वन्ध में ऐकमत्य नहीं था।

हरिषेण कथाकोष कथा २३ में पोदनपुर की अवस्थिति पर कुछ प्रकाश डाला गया है—'अथोत्तरापथे देशे पुरे पोदननामनि' अर्थात् पोदनपुर नामक नगर उत्तरापथ देश में था। इसी प्रकार कथा २५ में इसी के समर्थन में कहा गया है—'अथोत्तरापथे देशे पोदनाख्ये पुरेऽभवत्।' उत्तरापथ से आशय तक्षशिला से है।

किन्तु इसके विरुद्ध वाहुवली की मान्यता दक्षिण भारत में सर्वाधिक रही है और भरत ने वाहुवली की जिस स्वर्ण-प्रतिमा का निर्माण कराया था, वह दक्षिण भारत में थी तथा उसकी पूजा रामचन्द्र, रावण और मन्दोदरी ने की थी, इसका समर्थन राजावलि कथे और मुनिवंशाभ्युदय काव्य से भी होता है तथा आदिपुराण में धान और ईख की फसलों और कृषक वालाओं के परिधान आदि का जो वर्णन किया है, वह भी दक्षिण भारत की परम्परा से मिलता है।

उत्तर पुराणकार आचार्य गुणभद्र ने स्पष्ट शब्दों में पोदनपुर को दक्षिण भारत में स्वीकार किया है। यथा—

जम्बू विशेषणे द्वीपे भरते दक्षिणे महान्।
सुरम्यो विषयस्तत्र विस्तीर्ण पोदनं पुरम्॥७३।६

अर्थात् जम्बूद्वीप के दक्षिण भरत क्षेत्र में एक सुरम्य नामक वड़ा भारी देश है और वहाँ वड़ा विस्तृत पोदनपुर नगर है।

श्री वादिराज सूरि ने भी पार्श्वनाथ चरित सर्ग १ श्लोक ३७-३८ में और सर्ग २ श्लोक ६५ में पोदनपुर को सुरम्य देश में वताया है। इस काव्य ग्रन्थ में सुरम्य देश को शालि चावलों के खेतों से भरा हुआ वताया है। यह कथन आदिपुराण के कथन से मेल खाता है।

सोमदेव विरचित यशस्तिलक चम्पू (उपासकाध्ययन) में 'रम्यक देश में विस्तृत पोदनपुर के निवासी' ऐसा कथन मिलता है—'रम्यक देश निवेशोपेत पोदनपुर निवेशिनो'

पुण्यास्रव कथाकोष कथा २ में 'सुरम्य देशस्य पोदनेश' ऐसा वाक्य है।

जैन साहित्य के अतिरिक्त जैनेतर साहित्य में भी पोदनपुर का उल्लेख पोटलि (पोत्तलि), पोदन, पोनन आदि नामों से मिलता है। वौद्ध ग्रन्थ चुल्लकलिंग अस्सक जातक में पोटलि को अस्सक जनपद की राजधानी वताया है और अस्सक देश को गोदावरी नदी के निकट सव्य पर्वत पश्चिमी घाट और गोदावरी के निकट वताया है। सुत्तनिपात ९७७ में अस्मक को गोदावरी के निकट वताया है। पाणिनि १।३७३ अश्मक को दक्षिण प्रान्त में वताते हैं। महाभारत (द्रोण पर्व) में अश्मक पुत्र का वर्णन है। उसकी राजधानी पोतन या पातनि थी। इसमें पोदन नाम भी दिया है।

हेमचन्द राय चौधरी ने महाभारत के पोदन्य और वौद्ध ग्रन्थों के पोतन की पहचान आधुनिक वोधन से

की है। वह आन्ध्र प्रदेश के मंजिरा और गोदावरी नदियों के संगम से दक्षिण में स्थित है। इसका समर्थन 'वसुदेव हिण्डि' से भी होता है। उसके २४ वें पद्मावती लम्ब पृ० ३५४।२४० और पंचम लम्ब पृ० १८७।२४१ में बताया है कि गोदावरी नदी को पार कर वह पोदनपुर पहुंच गया।

उपर्युक्त प्रमाणों से पोदनपुर अश्मक, सुरम्य अथवा रम्यक देश में गोदावरी के निकट था जो आधुनिक आन्ध्र प्रदेश का बोधन प्रतीत होता है।

श्वेताम्बर परम्परा में बाहुबली की राजधानी का नाम पोदनपुर के स्थान पर तक्षशिला दिया गया है। वहाँ सर्वत्र बहली देश (बाल्हीक) और तक्षशिला नगर का ही उल्लेख मिलता है। कल्पसूत्र, कुमारपाल प्रतिबोध, परिशिष्ट पर्व, विविध तीर्थकल्प इन ग्रन्थों में तथा विमलसूरिकृत पउम चरिउ में तक्षशिला को ही बाहुबली की राजधानी माना है।

इस पोदनपुर को दिगम्बर परम्परा की निर्वाण भक्ति में सिद्ध क्षेत्र या निर्वाण क्षेत्र माना है।

१७. चक्रवर्ती का वैभव

भरत ने चारों दिशाओं के राजाओं को जीत लिया था। अब उनका कोई शत्रु शेष न था। भारत जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में स्थित है। इसके उत्तर में हिमवान् पर्वत है। और मध्य में विजयार्ध पर्वत पड़ा हुआ है। पश्चिम में हिमवान् से निकली हुई सिन्धु नदी बहती है और पूर्व में गंगा नदी, जिससे उत्तर भारत के तीन विभाग हो जाते हैं। दक्षिण के भी पूर्व, मध्य और पश्चिम दिशाओं में तीन विभाग हैं। ये ही भारत के छह खण्ड हैं। इन छह खण्डों को भरत ने जीत लिया था और चक्रवर्ती पद धारण किया था। वह भारत का प्रथम चक्रवर्ती था।

चक्रवर्ती का राज्याभिषेक

दिग्विजय करके जब भरत अयोध्या नगरी में वैभव के साथ प्रविष्ट हुए तो समस्त राजाओं और नागरिकों ने अपने चक्रवर्ती सम्राट् का अभूतपूर्व स्वागत किया। तब शुभ मुहूर्त में राजाओं ने और प्रजा ने भगवान ऋषभदेव के समान उनका राज्याभिषेक किया। राजाओं के साथ देवों ने प्रथम चक्रवर्ती का अभिषेक किया। उन्हें दिव्य वस्त्र और अलंकार पहनाये। उनकी जय घोषणा की। दुन्दुभि और मांगलिक भेरियों का नगर में मधुर निनाद गूँजता रहा। गंगा और सिन्धु नदियों की अधिष्ठात्री देवियों ने आकर तीर्थ जल से अभिषेक किया। फिर अनेक देवों, विद्याधरों, नरेशों और प्रजा ने सिंहासनासीन चक्रवर्ती भरत के चरणों में भेंट समर्पित करके नमस्कार किया। फिर भरत ने समागत राजाओं का समुचित सत्कार किया।

महाराज भरत को चक्रवर्ती पद पाकर अभिमान नहीं हुआ, बल्कि उनके मन में दुःख था कि मैंने अपने भाइयों को यह विभूति नहीं बाँट पाई। सारी प्रजा ऐसे न्यायवत्सल स्वामी को पाकर अपने आपको सनाथ अनुभव करने लगी थी।

चारों ओर उनका जय जयकार हो रहा था—यह सोलहवां मनु है। यह प्रथम चक्रवर्ती है। राजराजेश्वर हैं।

भरत का वैभव

षट् खण्ड का स्वामी चक्रवर्ती अपार वैभव के स्वामी थे। उनके पास चौरासी लाख हाथी, चौरासी लाख रत्न निर्मित रथ, अठारह करोड़ घोड़े, चौरासी करोड़ पदाति थे। वे वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी थे। उनका समचतुरस्र संस्थान था। उनके शरीर में चौंसठ शुभ लक्षण थे। सम्पूर्ण राजाओं के सम्मिलित बल के बराबर उनके शरीर में बल था। उनके दरबार में बत्तीस

हजार मुकुटबद्ध राजा थे। उनके आधीन बत्तीस हजार देश थे। उनके अन्त: पुर में बत्तीस हजार आर्य कुल की स्त्रियाँ थीं; बत्तीस हजार म्लेच्छ (अनार्य) राजाओं द्वारा दी हुई अति रूपवती कन्यायें थीं; इनके अतिरिक्त उपहार स्वरूप दी गयीं बत्तीस हजार और रानियाँ थीं। इस प्रकार वे छियानवे हजार अनुपम सुन्दरी रानियों के स्वामी थे।

उनके अधिकार में बत्तीस हजार रंगशालायें थीं। उनके राज्यमें बहत्तर हजार नगर, छियानवै करोड़ गाँव थे। निन्यानवै हजार द्रोणमुख, अड़तालीस हजार पत्तन, सोलह हजार खेट, छप्पन अन्तर्द्वीप, चौदह हजार संवाह थे। एक करोड़ हल, तीन करोड़ व्रज (गोशालायें), सात सौ कुक्षिवास और अट्ठाईस हज़ार सघन वन थे। उनके आधीन अठारह हजार म्लेच्छ राजा थे। काल, महाकाल, नैस्सर्प्य, पाण्डुक, पद्म, माणव, पिंग, शंख और सर्वरत्न ये नौ निधियाँ थीं। उनके जड़ और चेतन चौदह रत्न थे। चक्र, छत्र, दण्ड, असि, मणि, चर्म और काकिणी ये सात अजीव रत्न थे। सेनापति, गृहपति, हाथी, घोड़ा, स्त्री, सिलावट और पुरोहित ये सात सजीव रत्न थे। चक्र, दण्ड, असि, और छत्र ये चार रत्न आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे तथा मणि, चर्म और काकिणी ये रत्न श्रीगृह में प्रगट हुए थे। स्त्री, हाथी और घोड़ा की उत्पत्ति विजयार्ध पर्वत पर हुई थी। शेष रत्न निधियों के साथ अयोध्या में ही उत्पन्न हुए थे। उनकी पटरानी का नाम सुभद्रा था। उसके अनिन्द्य सौन्दर्य का वर्णन करने में कविजन भी समर्थ नहीं हो सकते।

सोलह हजार देव उनकी निधियों, रत्नों और उनकी रक्षा करने में सदा तत्पर रहते थे। उनके प्रासाद के चारों ओर क्षितिसार नामक कोट था। सर्वतोभद्र नामक गोपुर था। उनकी सेनाओं के पड़ाव का स्थान नन्द्यावर्त कहलाता था। उनके प्रासाद का नाम वैजयन्त था। दिकस्वस्तिका नामक उनकी सभाभूमि थी। भ्रमण में जिस छड़ी को वे ले जाते थे, वह रत्न निर्मित थी। उसका नाम सुविधि था। गिरिकूटक नामक महल में बैठकर वे नगर का निरीक्षण किया करते थे। वर्धमानक नामक नृत्यशाला में बैठकर वे नृत्य का आनन्द लिया करते थे। विभिन्न ऋतुओं के योग्य उनके अलग-अलग महल थे। गरमी के लिए धारागृह, वर्षा-ऋतु के लिये गृहकूटक था। पुष्करावर्त नामक उनका विशेष महल था। उनके भण्डारगृह का नाम कुबेरकान्त था। अवतंसिका नाम की उनकी रत्नमाला थी। उनका अजितंजय नामक रथ, वज्रकाण्ड धनुष, वज्रतुण्डा नाम की शक्ति सिंहाटक भाला, सुदर्शन चक्र, चण्डवेग दण्ड आदि अमोघ शस्त्र थे। उनका विजयपर्वत हाथी, पवनंजय घोड़ा संसार में अद्भुत थे। उनका भोजन इतना गरिष्ठ होता था, जिन्हें कोई दूसरा नहीं पचा सकता था।

इस प्रकार चक्रवर्ती की विभूति का वर्णन सीमित शब्दों में सीमित स्थान में करना अत्यन्त कठिन है।

८. भरत द्वारा वर्णव्यवस्था में सुधार

ब्राह्मण वर्ण की स्थापना

एक दिन भरत चक्रवर्ती के मन में विचार आया—मेरे पास अगाध सम्पदा है, अपार वैभव है। मैं इससे दूसरे का उपकार कैसे कर सकता हूं। मुनिजन तो धन लेते नहीं। किन्तु गृहस्थों में ऐसे कौन हैं जो धन-धान्य, सम्पत्ति आदि के द्वारा पूजा के योग्य हों। जो अणुव्रतधारी हों, श्रावकों में श्रेष्ठ हों, ऐसे व्यक्ति ही पूजा के अधिकारी हैं। तब ऐसे व्यक्तियों की परीक्षा करनी चाहिए।

यह विचार कर उन्होंने समस्त राजाओं के पास खबर भेज दी कि आप लोग अपने यहाँ के सदाचारी पुरुषों और सेवकों के साथ हमारे उत्सव में पधारें। इधर चक्रवर्ती ने अपने घर के आँगन में घास, फूलों के पौधे लगवा दिये। यथासमय सब लोग उत्सव में पधारे। जो अव्रती थे, वे तो बिना सोच-विचार के हरी घास

पर चलते हुए आ गये। किन्तु जो व्रती लोग थे, वे हरी घास के कारण नहीं आ सके और वापिस लौटने लगे। तब चक्रवर्ती ने बहुत आग्रह करके उन्हें दूसरे स्थल-मार्ग से बुलाया।

चक्रवर्ती ने उनसे प्रेमपूर्वक पूछा—'आपलोग पहले क्यों नहीं आ रहे थे और अब किस कारण आ गये हैं? तब उन लोगों ने उत्तर दिया—'देव! आज पर्व का दिन है। पर्व के दिनों में घास, कोंपल आदि का विघात नहीं किया जाता क्योंकि उनमें असंख्य जीव होते हैं।

यह उत्तर सुनकर भरत बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें दान-मान देकर सम्मानित किया। ब्रह्मसूत्र नामक व्रतसूत्र पहनाकर उन्हें चिन्ह दिया। प्रतिमाओं के अनुसार उन्हें यज्ञोपवीत धारण कराये। इसके बाद भरत ने उन लोगों को श्रावक के योग्य षडावश्यक कर्मो का उपदेश दिया और उनका ब्राह्मण वर्ण स्थिर किया। वे लोग अपने तप और शास्त्रज्ञान के कारण संसार में पूज्य हुए।

एक दिन चक्रवर्ती के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि मैंने ब्राह्मण वर्ण की स्थापना करके कुछ अनुचित तो नहीं किया। इसका समाधान भगवान के चरणों में जाकर कर लेना उचित होगा। यह विचार कर वे एक दिन भगवान के समवसरण में पहुँचे, भगवान की वन्दना और स्तुति की। फिर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक निवेदन किया—'प्रभो! मैंने श्रावकाचार में कुशल और व्रतों के पालन करने वाले त्यागियों को ब्राह्मण संज्ञा देकर नवीन ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की है, और उन्हें प्रतिमाओं के अनुसार एक से लेकर ग्यारह तक यज्ञोपवीत व्रतों के चिन्ह स्वरूप प्रदान किये हैं। आपके रहते हुए मैंने मूर्खतावश यह कार्य किया है। हे देव! मेरी यह जानने की इच्छा है कि ब्राह्मण वर्ण की स्थापना करके मैंने कुछ अनुचित तो नहीं किया।

चक्रवर्ती का प्रश्न सुनकर भगवान ऋषभदेव की दिव्य वाणी प्रगट हुई—हे वत्स! तुमने धर्मात्मा द्विजों की पूजा की, उनका सम्मान किया, यह कार्य तुमने उचित किया। किन्तु इसमें जो दोष है, वह सुन। जब तक कृत युग अर्थात् चतुर्थ काल रहेगा, तब तक ये द्विज ब्राह्मण उचित आचार का पालन करते रहेंगे। किन्तु ज्यों-ज्यों कलि युग अर्थात् पंचम काल निकट आता जाएगा, इनमें जातिमद बढ़ता जाएगा। ये सदाचार से भ्रष्ट होकर मोक्षमार्ग के विरोधी हो जायेंगे। आज इन्हें जो यह सम्मान मिल रहा है, पंचम काल में इस सम्मान का मद इन्हें विवेकहीन बना देगा। वे अपने आपको और अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ मानकर मोक्षमार्ग विरोधी शास्त्रों की रचना करेंगे। ये मिथ्यात्व में फंसकर धर्मद्रोही बन जायेंगे। ये एक दिन हिंसा को भी धर्म मानने लगेंगे, स्वयं माँस भक्षण करने लगेंगे और प्राणी हिंसा द्वारा मुक्ति के मिथ्यामार्ग का प्रचार करेंगे। इसलिए यद्यपि वर्तमान में ब्राह्मण वर्ण की स्थापना में कोई अनौचित्य नहीं है, किन्तु भविष्य में ये ब्राह्मण ही जैनधर्म के कट्टर शत्रु बन जायेंगे।

भगवान के मुखारविन्द से ब्राह्मण वर्ण की स्थापना सम्बन्धी अपने कार्य का ऐसा भयंकर परिणाम सुनकर चक्रवर्ती को बड़ा पश्चाताप हुआ।

९. भरत के सोलह स्वप्न

एक रात्रि को चक्रवर्ती भरत सुख-निद्रा में निमग्न थे। रात्रि के अन्तिम प्रहर में उन्होंने कुछ स्वप्न देखे। अचानक उनकी निद्रा भंग हो गई। उनके मन पर उन स्वप्नों का प्रभाव गहरा पड़ा। जागकर वे उन स्वप्नों के सम्बन्ध में विचार करने लगे। उन्हें यह निश्चय हो गया कि ये स्वप्न भविष्य के सूचक हैं। जब तक इस भरतखण्ड में तीर्थंकरों का पुण्य-विहार रहेगा, तब तक किसी अनिष्ट की संभावना नहीं है। किन्तु पंचम काल में इन स्वप्नों का फल दृष्टिगोचर होगा। इन स्वप्नों का स्पष्ट फल राजा और प्रजा में विप्लव के रूप में दिखाई पड़ेगा। ये स्वप्न

अनिष्ट के सूचक हैं। मैं तो स्थूल दृष्टि से ही इन स्वप्नों के फल का मूल्यांकन कर सकता हूँ। अतः सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान ऋषभदेव से इन स्वप्नों का फल पूछना उचित होगा।

यह विचार कर वे प्रातः की क्रियाओं से निवट कर परिजनों-पुरजनों के साथ जहाँ भगवान विराजमान थे, वहाँ पहुँचे। वहाँ त्रिलोकीनाथ भगवान को देखकर उनके मन में आन्तरिक आल्हाद हुआ। उनके हृदय में भगवान के प्रति निश्छल निष्काम भक्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित होने लगी। जिस समय वे भक्ति से गद्‌गद होकर भगवान की वन्दना करने लगे, उनके परिणामों में इतनी विशुद्धि और निर्मलता आई कि तत्काल उन्हें अवधिज्ञान की प्राप्ति हो गई। उन्होंने कोमल भावों से भगवान के कल्याणकारी उपदेशामृत का पान किया। फिर दोनों हाथ जोड़कर बड़ी विनय और भक्तिपूर्वक बोले—

'प्रभो ! आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में मैंने सोलह सपने देखे हैं। मुझे लगता है, ये स्वप्न अनिष्ट फल देने वाले हैं। मैंने स्वप्न में (१) सिंह (२) सिंह का बच्चा (३) हाथी के भार को धारण करने वाला घोड़ा (४) वृक्ष, झाड़ियों के सूखे पत्ते खाने वाले बकरे (५) हाथी के स्कन्ध पर बैठा हुआ बन्दर (६) कौओं आदि के द्वारा उपद्रव किया हुआ उलूक (७) आनन्द करते हुए भूत (८) मध्य में सूखा और किनारों पर जल से भरा हुआ सरोवर (९) धूलि धूसरित रत्नराशि (१०) लोगों से पूजित और नैवेद्यभक्षी कुत्ता (११) जवान बैल (१२) मण्डल से युक्त चन्द्रमा (१३) शोभारहित और मिलते हुए दो बैल (१४) मेघों से आच्छादित सूर्य (१५) छायाहीन सूखा वृक्ष और (१६) पुराने पत्तों का ढेर देखे हैं। भगवन् ! इनका क्या फल होगा, आप दया करके मेरे सन्देह को दूर कीजिये।

चक्रवर्ती का प्रश्न सुनकर भगवान ने उत्तर दिया—'वत्स ! तूने जो स्वप्न देखे हैं, भविष्य में उनका फल अनिष्टकारक होगा। अब तू अपने स्वप्नों का फल सुन। प्रथम स्वप्न में तूने पृथ्वी पर अकेले विहार कर पर्वत के शिखर पर आरूढ़ तेईस सिंह देखे हैं। इस स्वप्न का फल यह होगा कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर को छोड़कर शेष तेईस तीर्थंकरों के समय में दुष्ट नयों की उत्पत्ति नहीं होगी। दूसरे स्वप्न में अकेले सिंह के बच्चे के पीछे हरिणों का झुण्ड चलते हुए देखा है। उसका फल यह है कि महावीर स्वामी के तीर्थ में परिग्रह को धारण करने वाले बहुत से कुलिंगी हो जायेंगे। तीसरे स्वप्न में बड़े हाथी के उठाने योग्य बोझ के भार से दबा हुआ घोड़ा देखा है, उससे मालूम होता है कि पंचम काल में साधु अपने मूल गुणों और उत्तर गुणों में असावधान हो जायेंगे। स्वप्न में सूखे पत्ते खाने वाले बकरों के समूह को देखने से प्रतीत होता है कि आगामी काल में मनुष्य सदाचार छोड़कर दुराचारी बन जायेंगे। पांचवें स्वप्न में गजेन्द्र के कन्धे पर वानर के देखने का फल यह होगा कि प्राचीन क्षत्रिय कुल नष्ट हो जायेंगे और नीच कुल वाले पृथ्वी का पालन करेंगे। छटवें स्वप्न में कौओं के द्वारा उलूक को त्रास दिये जाने से मनुष्य धर्म की इच्छा से जैन मुनियों को छोड़कर अन्य मतवाले साधुओं के पास जायेंगे। सातवें स्वप्न में नाचते हुए बहुत से भूतों को देखने से मालूम होता है कि प्रजाजन व्यन्तरों को सच्चे देव मानकर उनकी उपासना करने लगेंगे। आठवें स्वप्न में मध्य में शुष्क और किनारों पर जल से भरे हुए सरोवर के देखने का फल यह है कि धर्म आर्य खण्ड से हटकर प्रत्यन्तवासी-म्लेच्छ खण्डों में ही रह जायगा। नौवें स्वप्न में धूल धूसरित रत्नराशी देखने से प्रगट होता है कि पंचम काल में ऋद्धिधारी मुनि नहीं होंगे। दसवें स्वप्न में सत्कार किये हुए कुत्ते को नैवेद्य खाते देखने का फल यह होगा कि व्रतहीन ब्राह्मण गुणी पात्रों के समान सत्कार पायेंगे। ग्यारहवें स्वप्न में उच्च स्वर से शब्द करने वाले तरुण बैल का विहार देखने से सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्था में ही मुनि पद में ठहर सकेंगे, अन्य अवस्था में नहीं। बारहवें स्वप्न में मण्डलयुक्त चन्द्रमा देखने का यह फल होगा कि पंचम काल के मुनियों में अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान नहीं होगा। तेरहवें स्वप्न में परस्पर मिलकर जाते हुए दो बैलों के देखने से पंचम काल में मुनिजन साथ-साथ रहेंगे, अकेले विहार करने वाले नहीं होंगे। चौदहवें स्वप्न में मेघाच्छन्न सूर्य के देखने का फल यह होगा कि पंचमकाल में केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होगा। पन्द्रहवें स्वप्न में सूखा वृक्ष देखने से स्त्री-पुरुषों का चरित्र भ्रष्ट हो जायगा। और सोलहवें स्वप्न में जीर्ण पत्तों के देखने से महा औषधियों का रस नष्ट हो जायगा। ये स्वप्न दूर

विपाकी अर्थात् सुदूर भविष्य में फल देने वाले हैं। इस समय इन स्वप्नों का कोई प्रभाव नहीं होगा, पंचम काल में इनका फल प्रगट होगा। तू इन स्वप्नों का फल समझकर विघ्नविनाशी धर्म में अपनी बुद्धि लगा।

भरत भगवान से स्वप्नों का फल सुनकर उन्हें नमस्कार करके वहाँ से लौटे।

२०. भरत की विदेह वृत्ति

भरत चक्रवर्ती थे। अतुल सम्पदा थी। उनकी देवांगनाओं को लज्जित करने वाली छियानवै हजार रानियाँ थीं। उनका शरीर नीरोग था। उनका बल मनुष्य लोक में सबसे अधिक था। अर्थात् सांसारिक भोगों में निमग्न और लिप्त रहने के उनके पास सभी साधन थे। किन्तु विपुल भोग-सामग्री उपलब्ध होने पर भी वे कर्मोदयजनित भोगों को अनिच्छापूर्वक भोगते थे। उनके मन में इन भोगों से मुक्त होने की भावना सदा जागृत रहती थी। जरा अवकाश मिलते ही वे आत्म-स्वरूप के चिन्तन में लीन हो जाते थे। उन्हें आत्मानुभव में जो रस आता था, जिस आनन्द की अनुभूति होती थी, वैसी अनुभूति भोगों में नहीं आती थी। वे भोगों को खुजली का रोग समझते थे। जब तक खुजाया, तब तक थोड़ा सुख प्रतीत हुआ। किन्तु वह रोग पापमूलक है, पाप परिणामी है, दुःख ही उसका अन्त है। इसी प्रकार वे भी सोचते थे—इस नश्वर शरीर के सुख के लिये नश्वर साधन जुटाते हैं, उनसे सुख भी नश्वर मिलता है और फिर उसका परिणाम दुःख होता है। आत्मा शाश्वत है। अतः उसका सुख भी शाश्वत है। वह सुख निरालम्ब दशा में ही मिल सकता है। शरीर का आलम्बन करके शरीर का क्षणिक सुख तो मिल सकता है, आत्मा का सुख उससे कैसे मिलेगा। आत्मा का सुख तो आत्मा के आलम्बन से ही मिल सकेगा। जिन्हें वह आत्म-सुख पूर्ण रूप से प्राप्त हो चुका है, उनके स्मरण से आत्मोन्मुखता की प्रेरणा मिल सकती है।

राजप्रासाद में बन्दनमालाएं

यह विचार कर भरत सदा आत्मोन्मुखता का अभ्यास करते रहते थे। जब उनका उपयोग आत्मोन्मुख न होकर बहिर्मुख होता था तो तीर्थकरों का स्मरण करने लगते थे। वे भगवान का स्मरण करने में असावधान न हो जाँय, इसके लिए उन्होंने कुछ ऐसे उपाय किए थे, जिससे उन्हें भगवान का ध्यान, स्मरण और वन्दन करने का स्मरण बना रहे। उन्होंने अपने महलों के द्वार पर, कक्षों और प्रकोष्ठों के द्वार पर रत्न निर्मित चौवीस घण्टियों की वन्दनमालाएं बनवाई थीं। जब वे उन द्वारों में से निकलते थे, तब उनके मुकुट से टकराकर वे घण्टियाँ शब्द करती थीं। घण्टियों की आवाज सुनकर भरत को चौवीस तीर्थकरों का स्मरण हो आता था, जिससे वे उन्हें तत्काल परोक्ष नमस्कार करते थे।

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने भरत की इन वन्दनमालाओं का वर्णन बड़े भक्तिपूरित शब्दों में किया है। वे लिखते हैं—

'चतुर्विंशति तीर्थेशवन्दनार्थं शिरःस्पृशम्।
अचीकरदसौ वेश्मद्वारे बन्दनमालिकाम् ॥१२।२

अर्थात् उन्होंने चौवीस तीर्थकरों की वन्दना के लिए अपने महलों के द्वार पर सिर का स्पर्श करने वाली वन्दनमालायें बंधवाई थीं।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने 'आदिपुराण' में वन्दनमालाओं के सम्बन्ध में कुछ विस्तार से प्रकाश डाला है। उन्हीं के शब्दों में—

निर्मापितास्ततो घण्टा जिनविंवैरलंकृताः ।
परार्घ्यरत्ननिर्माणाः सम्बद्धा हेमरज्जुभिः ।। ४१।८७
लम्बिताश्च पुरद्वारि ताश्चतुर्विंशति प्रभाः ।
राजवेश्ममहाद्वार—गोपुरेष्वप्यनुक्रमात् ।।४१।८८
यदा किल विनिर्यति प्रविशत्यप्ययं प्रभुः ।
तदा मौल्यप्रलग्नाभिरस्य स्यादर्हतां स्मृतिः ।।४१।८९
स्मृत्वा ततोऽर्हदर्चानां भक्त्या कृत्वाभिनन्दनाम् ।
पूजयत्यभिनिष्क्रामन् प्रविशंश्च स पुण्यधीः ।। ४१।९०

अर्थात् उन्होंने बहुमूल्य रत्नों से वने हुए, सुवर्ण रस्सियों से वन्धे हुए और जिनेन्द्रदेव की प्रतिमाओं से सजे हुए वहुत से घण्टे वनवाये तथा ऐसे-ऐसे चौवीस घण्टे वाहर के दरवाजे पर, राजभवन के महा द्वार पर और गोपुर दरवाजों पर अनुक्रम से टंगवा दिये। जव वे चक्रवर्ती उन दरवाजों से वाहर निकलते अथवा भीतर प्रवेश करते, तव मुकुट के अग्रभाग पर लगे हुए घण्टों से उन्हें चौवीस तीर्थंकरों का स्मरण हो आता था। तदनन्तर स्मरण कर उन अरहन्त देव की प्रतिमाओं को वे नमस्कार करते थे। इस प्रकार पुण्य रूप वुद्धि को धारण करने वाले महाराज भरत निकलते और प्रवेश करते समय अरहन्तदेव की पूजा करते थे।

लोक में बन्दनमाला की परम्परा

राजा का अनुकरण प्रजा करती है। यदि राजा लोकप्रिय और धर्मातमा हो तो प्रजा उसके आचार व्यवहार का अनुकरण वहुत जल्दी करने लगती है। सम्राट् धर्मातमा और लोक प्रिय थे, वे प्रजा के हृदय-सम्राट् थे। प्रजा उन्हें प्राणों से भी अधिक चाहती थी। प्रजा भी उस काल में धर्मातमा थी। अतः उनका सम्राट् जो करता था, उसका अनुगमन प्रजा वहुत शीघ्र करने लगती थी। भरत ने अपने प्रासाद के तोरणों पर, द्वारों पर और गोपुरों पर अर्हन्त प्रतिमाओं से युक्त घण्टों की वन्दनमाला लटकाई थी। उनके इस कृत्य का अनुकरण प्रजा भी करने लगी। विना किसी प्रयत्न के भरत के इस कार्य का जनता में प्रचार हो गया। प्रजा में एक दूसरे के अनुकरण द्वारा यह रिवाज और परम्परा वन गई और प्रत्येक घर के द्वार पर वन्दनमाला टंगने लगी। आदिपुराणकार ने इस परम्परा का वर्णन वड़े सुन्दर शब्दों में किया है। आप लिखते हैं—

'रत्नतोरणविन्यासे स्थापितास्ता निधीशिना ।
दृष्ट्वार्हद्वन्दनार्हेतोर्लोकोऽप्यासीत्तदादरः ।। ४१।९३
पौरैर्जनैरतः स्वेषु वेश्मतोरणदामसु ।
यथाविभवमावद्धा घण्टास्ता सपरिच्छदाः ।।४१।९४

अर्थात् निधियों के स्वामी भरत ने अर्हन्त देव की वन्दना के लिये जो घण्टा रत्नों के तोरणों की रचना में स्थापित किये थे, उन्हें देखकर अन्य लोग भी उनका आदर करने लगे। उसी समय से नगरवासी लोगों ने भी अपने-अपने घरकी तोरणमालाओं में अपने-अपने वैभव के अनुसार जिन-प्रतिमा आदि से युक्त घण्टे वांधने शुरू कर दिये।

भरत के इस कार्य का अनुकरण तत्कालीन समाज ने ही नहीं किया था, उस परम्परा का निर्वाह अव तक हो रहा है। यद्यपि उसका मूल रूप वह नहीं रहा। शायद रह भी नहीं सकता था। काल के विशाल अन्तराल में उद्देश्य तो तिरोहित होगया, इसलिए घण्टों का और वन्दनमालाओं का वह रूप भी नहीं रह पाया। किन्तु फिर भी वन्दनमाला अव भी हर शुभ कार्य में वांधी जाती है और समाज उसे मांगलिक चिह्न मानता है। इसी आशय को प्रगट करते हुए आदिपुराण कर्ता लिखते हैं—

आदिराजकृतां सृष्टिं प्रजास्तां वहुमेनिरे ।
प्रत्यगारं यतोऽद्यापि लक्ष्या वन्दनमालिका ।।४१।९५
वन्दनार्थं कृता माला यतस्ता भरतेशिना ।
ततो वन्दनमालाख्यां प्राप्य रूढिं गताः क्षितौ ।। ४१।९६

अर्थात् उस समय प्रथम राजा भरत की बनाई हुई इस सृष्टि को प्रजा के लोगों ने बहुत माना था। यही कारण है कि आज भी प्रत्येक घर पर वन्दनमालायें दिखाई देती हैं। चूंकि भरतेश्वर ने वे मालाऐं अरहन्त देव की वन्दना के लिए बनवाई थीं, इसलिये ही वे वन्दनमाला नाम पाकर पृथ्वी पर प्रसिद्धि को प्राप्त हुई हैं।

वन्दनमाला के इस रहस्य को लोक में प्रचारित करने की आवश्यकता है। यदि लोग वन्दनमाला का मूल रूप और उद्देश्य समझ जायें तो वन्दनमाला पुनः अपने वास्तविक रूप को पा सकती है।

चक्रवर्ती भरत को अनेक राज-काज रहते थे। उन्हें सम्पूर्ण भरत क्षेत्र पर शासन करना पड़ता था। अनेकों राजाओं के विद्रोह को दबाना पड़ता था। विदेशी नरेशों से सन्धि और मैत्री के कूटनैतिक दांव चलाने पड़ते थे। प्रजा की बहुविध शिकायतों और समस्याओं को सुलझाना पड़ता था। फिर अन्तःपुर और परिवार की समस्यायें नाना रूप लेकर आती और उन्हें हल करना होता था। जिनकी छियानवे हजार रानियां हों, उनकी समस्याओं का क्या कोई अन्त हो सकता है। कोई रानी रूठ रही है, कोई सौतिया डाह से शिकायतें पेश कर रही है। माना कि सभी रानियों में परस्पर बहनापा था। किन्तु मानव-स्वभाव कहाँ चला जायगा। जलन और कुढ़न, षड्यन्त्र और अभाव अभियोग! इन सब टेढ़ी-मेढ़ी गलियां को पारकर सबकी सन्तुष्टि का राजमार्ग पाना क्या सरल होता है। किन्तु चक्रवर्ती कुशल तैराक थे। समस्याओं की भीषण प्रवाह वाली नदी में तैरना ही जैसे उनका नित्य का व्यापार था। कभी कहीं कोई अड़ास नहीं। राजा हों या प्रजा, पत्नी हों या परिजन, राज्य हो या अन्तःपुर, चक्रवर्ती के व्यवहार से सभी सन्तुष्ट थे। सब यही समझते, मानो महाराज एकमात्र उन्हें ही चाहते हैं। महाराज की सर्वप्रियता का रहस्य उनके कोमल स्वभाव, उनका व्यवहार-चातुर्य और सर्वजन-समभाव में निहित था।

भरत की मुनि-भक्ति

सब उन्हें चाहते थे, सभी उन पर अपनी जान न्यौछावर करते थे, वे सबके थे। किन्तु भरत केवल अपने थे, वे सदा अपने में रहते थे। सारा लोक-व्यवहार करते थे, किन्तु वे इस सबसे जैसे पृथक् थे। संसार में रहते थे, किन्तु कभी उन्होंने अपने भीतर संसार नहीं बसाया। संसार के समुद्र में वे कमल बनकर रहते थे। वे श्रावकोचित आवश्यक धार्मिक कृत्यों के करने में कभी प्रमाद नहीं करते थे और लौकिक या धार्मिक कृत्य करते हुए भी आत्म-स्वरूप के चिन्तन की ओर सदा सावधान रहते थे। ऐसा था बहुधन्धी और व्यस्त चक्रवर्ती का अद्भुत जीवन।

भरत समय के बड़े पाबन्द थे। उनके प्रत्येक कार्य का समय सुनिश्चित था। मुनि-चर्या के समय वे अन्य कार्य छोड़कर मुनिजनों को आहार-दान के लिये तैयार हो जाते। वे समस्त राजचिह्नों को उतार कर शुद्ध धोती व दुपट्टा पहनते और एक रेशमी दुकूल कमर से बांध लेते। इस समय वे सम्राट् भरत नहीं, बल्कि पात्र-दान की प्रतीक्षा करने वाले सामान्य श्रावक थे। पात्र-दान के लिये द्वारापेक्षण करते समय उनके बांये हाथ में अष्ट द्रव्य और दांये हाथ में जल का कलश रहता था। माण्डलिक और महामाण्डलिक सदा जिनके ऊपर छत्र-चमर लिये ढोरते थे, वे ही भरत चक्रवर्ती विनय भाव से गुरुओं की सेवा के लिये प्रतीक्षारत हैं। वे अपने भृत्यों को समझा रहे हैं—जब मुनि महाराज पधारें, उस समय तुम लोगों को मेरे लिये महाराज आदि नहीं कहना चाहिये और न मेरे प्रति हाथ जोड़ कर खड़ा रहना चाहिये।

वे राजप्रासाद से बाहर राजद्वार के बगल में बने हुये चबूतरे के पास पहुँचे। उन्होंने अष्ट द्रव्य की थाली और जलपूर्ण कलश चबूतरे पर रक्खी हुई एक चौकी पर रख दिये और वे मुनियों की प्रतीक्षा करने लगे। वे उस समय अकेले ही खड़े थे। उनकी स्त्रियाँ तथा नरेश गण उनसे दूर खड़े हुये थे।

सामान्य जनों के केवल दो आँखें होती हैं, जिन्हें चर्म चक्षु कहा जाता है। किन्तु विवेकी जनों के एक आँख और होती है, जिसे ज्ञान चक्षु कहते हैं। भरत अपने दोनों चर्म चक्षुओं से मुनियों के मार्ग का अवलोकन कर रहे थे, किन्तु वे अपनी भीतर की आँखों से—ज्ञान चक्षुओं से अन्तरात्मा का निरीक्षण कर रहे थे। उन्हें भीतर अपनी आत्मा का साक्षात्कार हो रहा था। उन्हें आश्चर्य हो रहा था कि सरसों के दाने में जैसे समुद्र अटक गया हो, ऐसे ही यह त्रैलोक्यवेत्ता ज्ञानशरीरी आत्मा इस क्षुद्र शरीर में क्यों कर अटक रहा है?

सब उन्हें देख रहे थे, किन्तु वे किसी को नहीं देख रहे थे। वे तो सबसे निर्लिप्त केवल अपने आपको देख रहे थे। उनके मन में यकायक एक भाव आया और मानो वही सब विचारों को ठेल कर जम गया —मेरे पास अपार सम्पत्ति है, किन्तु उसकी सार्थकता तभी है, जब कोई निर्ग्रन्थ योगी मेरे हाथ से आहार ग्रहण कर ले तब यह सम्पत्ति भी सार्थक हो जाय और मैं भी धन्य हो जाऊँ।

नगर में उस दिन अनेक मुनिराज चर्या के लिये पधारे, किन्तु मार्ग में अन्य श्रावकों ने उनका प्रतिग्रहण कर लिया। अतः राजमहल तक कोई मुनिराज नहीं आ पाये। इसलिए भरत चिन्तामग्न हो गये। वे बार-बार विचार करने लगे—क्या आज कोई पर्व तिथि है? क्या जंगल से आते समय हाथी घोड़ों से मार्ग अवरुद्ध तो नहीं हो गया? अथवा दुष्ट जनों ने कोई दुर्व्यवहार तो नहीं किया? आज कोई मुनिराज क्यों नहीं पधारे यहाँ? अथवा अतिथि को दान देने का क्या मेरा सौभाग्य नहीं है। इस विचार के आते ही उनके अन्तर में एक कसक होने लगी।

तभी उन्हें आकाश में गतिशील प्रभा-पुंज दिखायी पड़ा। भरत आश्चर्यचकित होकर उधर देखने लगे। धीरे-धीरे उस प्रभा-पुंज ने आकार ग्रहण करना प्रारम्भ किया। फिर वह पुंज दो भागों में विभक्त हो गया। जब तक भरत किसी निश्चय पर पहुँचे, दो तेज-पुंज आकाश से नीचे आते हुये भरत के समीप उतरे। वे दो चारण ऋद्धिधारी मुनि थे। भरत उन्हें देखकर अत्यन्त आनन्दित हुए। शरीर और आत्मा के भेदविज्ञानी दो योगिराज आज पधारे हैं, यह सोचकर भरत का रोम-रोम हर्ष से नृत्य करने लगा। उन्होंने पूजा की थाली और जलपूर्ण कलश उठाया और मुनिराजों के सामने जाकर 'भो मुनिवर्यः! अत्र तिष्ठ तिष्ठ' इस प्रकार शब्दोच्चारण करके मुनियों को ठहराया, फिर अष्ट द्रव्यों से उन्हें दर्शनाञ्जलि देते हुये भाव शुद्धि से जल-धारा दी। तदनन्तर उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर गुरु-चरणों में साष्टाँग नमस्कार किया। फिर खड़े होकर भरत ने कहा—मन शुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि आहार जल शुद्ध है, प्रभु मेरे घर पधारिये। इस प्रकार कहने पर मुनिराज भरत के पीछे पीछे आहार मुद्रा में ईर्यापथपूर्वक भूमि को देखते हुए धीरे धीरे चले। भरत मन में सोचते जा रहे थे कि इन कुटिल और लम्बे मार्ग पर चलने से इन योगियों को मेरे कारण कितना कष्ट हो रहा है।

भरत मुनियों को लेकर अपने महल में पहुंचे। वहाँ सब रानियाँ भी आ गयीं। वे जलपूर्ण कलश, दर्पण और आरती लिये हुये थीं। उन्होंने मुनियों की आरती उतार कर प्रणाम किया। वे सब मिलकर मंगल गान करने लगीं। भरत ने मुनियों को उच्चासन पर बैठाया, उनके चरणों का प्रक्षालन करके अष्ट द्रव्यों से पूजन की। फिर नवधा भक्तिपूर्वक उनको आहार दिया। रानियाँ भरत को भक्ष्य पदार्थ देती जाती थीं और भरत मुनियों के हाथों में एक एक ग्रास रखते जाते थे। उन ऋद्धिधारी मुनियों के हाथों में जाकर नीरस भोजन भी सरस बन जाता था। किन्तु आत्म-विहारी मुनियों की आसक्ति आहार में नहीं थी। राजा भरत ने अपनी भक्ति से मुनियों को तृप्त किया और सुभुक्ति से उनकी जठराग्नि को तृप्त किया। तृप्त होने पर मुनियों ने नीचे बैठ कर मुख-शुद्धिपूर्वक हाथ-शुद्धि की और कुछ देर ध्यान किया। दोनों ने ध्यान पूर्ण होने पर भरत को आशीर्वाद दिया।

तभी राजमहल के प्राँगण में रत्न और स्वर्ण की वर्षा हुई। आकाश में देवों ने वाद्य-ध्वनि के साथ जय-जयकार किया। फिर मुनिराज वहाँ से विहार कर गये। भरत उनके कमण्डलु लिये कुछ दूर तक मुनियों को पहुँचाने गये। उनके बार-बार कहने पर इच्छा न रहते हुए भी भरत वापिस आये और तब उन्होंने भोजन किया। प्राँगण में जो रत्न और स्वर्ण राशि पड़ी थी, वह निर्धनों में बंटवा दी।

सम्राट भरत के जीवन का यह दैनिक कार्यक्रम था।

भोग में भी विराग-वृत्ति

महाराज भरत की सभी रानियाँ यौवनवती थीं, मदवती थीं, रसवती थीं। उनके अंग प्रत्यंगों का लावण्य अद्भुत था, माधुर्य नित नवीन था और सौन्दर्य अनिन्द्य था। उनके गदराये यौवन में से रस चूता था। रति को लज्जित करने वाली उनकी सुषमा थी। उन मोहनियों का मोहन-राग अच्छेद्य था। देवाँगनायें और नाग-कन्यायें उनको देखकर लज्जित हो जायें, ऐसा उनका रूप था।

किन्तु भरत रूप और रूपसियों के इस मेले में जाकर कभी मोहान्ध नहीं हुए। वे आत्मचेता थे, आत्मजयी

थे। वे एक साथ सबका भोग भी करते थे, किन्तु भोग के समय भी उनकी भावना योग की रहती थी। वे भोग देह का करते और उनको रस आता था देहातीत। इसका कारण था। भोग करते हुए भी वे आत्मानन्द को भूलते नहीं थे। कभी-कभी तो भोग करते समय जब उन्हें आत्म-चिन्तन की सुधि आ जाती थी तो वे भोग को भूलकर आत्मा में लीन हो जाते थे। एक दिन पट्टमहिषी सुभद्रा के महलों में चक्रवर्ती पधारे। सुभद्रा ने उनकी अभ्यर्थना की। रात्रि-शयन भी वहीं हुआ। भुवनमोहिनी अनिंद्यसुन्दरी सुभद्रा ने अपने पति को मुक्त भाव से रस-दान किया। किन्तु जब रसानुभूति अपनी चरम सीमा पर पहुँची, भरत के अन्तर्मन के किवाड़ खुल गये। वे चिन्तन में डूब गये—'अनन्त काल बीत गया शरीर और इन्द्रियों की तृप्ति का प्रयत्न करते करते, किन्तु क्या कभी ये तृप्त हो सकीं। नित नवीन शरीर मिले और इन्द्रिय-भोगों में ही सारा जीवन गला दिया। जीवन भर अतृप्ति से जूझता रहा किन्तु भोगों की प्यास कभी बुझी नहीं। कभी आत्म-रस का स्वाद नहीं लिया। यदि एक बार भी आत्मानुभव हो जाता तो अनन्त जीवनों की अतृप्ति एक क्षण भर में मिट जाती।' यों चिन्तन करते करते वे आत्म-रस का पान करने में बेसुध हो गये। शरीर निश्चेष्ट हो गया। पट्टमहिषी इस स्थिति का कारण न समझ सकी।

कैसी अकल्पनीय परिणति थी भरत की। इसीलिए तो घर में रहते हुए भी भरत वैरागी कहलाते हैं। वस्तुतः वे राजर्षि थे, विदेह थे। श्रीमद्भागवत में उन्हें भगवत्परायण माना है और उन्हें जड़ भरत बताया है। जड़ अर्थात् सांसारिक भोगों के प्रति अनासक्त।

उनके पास भोग और वैभव का विशाल स्तूप था। यह जितना ऊँचा था, उससे भी ऊँचा इनके प्रति उनका विराग था। राग के सभी साधन उन्हें उपलब्ध थे, उनका भोग भी खूब किया उन्होंने किन्तु भावना सदा इनसे मुक्ति की रही। इसलिए राग हारा और विराग की सदा जय हुई। अद्भुत व्यक्तित्व था उनका। अनुपम भी था। ऐसा व्यक्तित्व संसार में दूसरा कोई न हुआ, न होगा।

२१. भरत का निष्पक्ष न्याय

भरत चक्रवर्ती सम्राट् थे। जब वे राज-सिंहासन पर बैठते थे, उस समय वे केवल राजा थे। उनके समक्ष अनेक अभियोग उपस्थित होते थे। उन्हें सुनकर वे उनका उचित न्याय करते थे। उनके न्याय में कभी कोई सम्बन्ध आड़े नहीं आता था, कोई सम्बन्ध उनके न्याय को प्रभावित नहीं कर सकता था। भले ही अभियोग उनके युवराज के ही विरुद्ध क्यों न हो, किन्तु न्याय की तुला पर सामान्य जन और युवराज में कोई अन्तर नहीं आता था। एक बार अभियोगकर्त्ता थे स्वयं युवराज अर्ककीर्ति। अभियोग था चक्रवर्ती के प्रमुख सेनापति जयकुमार के विरुद्ध। राज दरबार स्तब्ध था कि देखें, न्याय किसके पक्ष में जाता है। अभियोग उपस्थित किया गया, सुनवाई हुई। दोनों पक्षों ने अपना पक्ष उपस्थित किया। सम्राट् ने पाया—दोष युवराज का है। उन्होंने मर्यादा का भंग किया है। युवराज दोषी घोषित हुए और सबके समक्ष सम्राट् ने उनकी भर्त्सना की। न्याय की यह कहानी जितनी अद्भुत है, उतनी रोचक भी है। सुनिये उसे।

काशी नरेश अकम्पन की स्त्री सुप्रभा थी। उन दोनों के सुलोचना नाम की एक पुत्री थी जो सुलक्षणा थी और सर्वगुण-सम्पन्न थी। जब वह विवाह योग्य हुई तो राजा को उसके विवाह की चिन्ता हुई। तब राजा ने मंत्रियों से परामर्श करके उसके स्वयम्बर का निश्चय किया। उन्होंने दूतों द्वारा राजाओं को इसकी सूचना दी। इसके लिये नगर के बाहर सर्वतोभद्र नामक विवाह-मण्डप की रचना की गई। निश्चित तिथि को अनेक देशों के राजा और राजकुमार अपनी सेनाओं के साथ वहाँ

सुलोचना स्वयम्बर

आये। राजा अकंपन ने उनकी अभ्यर्थना की, उनके निवास आदि की समुचित व्यवस्था की।

इस स्वयंवर में सम्मिलित होने अथवा भाग लेने के लिये चक्रवर्ती भरत के पुत्र युवराज अर्ककीर्ति, चक्रवर्ती के सेनापति-रत्न राजकुमार जयकुमार, नमि-विनमि के पुत्र सुनमि और सुविनमि आदि अनेक भूमिगोचरी और विद्याधर राजा आये। शुभ लग्न के समय स्वयम्वर मण्डप में सभी समागत राजा और राजकुमार अपने योग्य आसनों पर बैठ गए। कुमारी सुलोचना को भी स्नान कराकर और वस्त्राभूषणों से अलंकृत करके उसकी माता सुप्रभा ने तैयार किया। सुलोचना सर्वप्रथम जिनेन्द्रदेव के मन्दिर में गई। वहाँ उसने भक्तिपूर्वक पूजन किया। पूजन समाप्त होने पर उसके पिता ने आशीर्वाद के रूप में शेषाक्षत उसके सिर पर रखे। तब सुलोचना महेन्द्रदत्त कंचुकी के साथ विवाह-मण्डप में प्रविष्ट हुई। वह जब वहाँ पहुँची तो सभी राजा बड़ी उत्सुकता से उसे देखने लगे। उसकी रूपछटा देखकर सब विमुग्ध होकर सोचने लगे—यह देवकन्या अवतरित हुई है अथवा स्वयं शची ही विनोद करने यहाँ पधारी है। ऐसा मोहक रूप तो आज तक देखने में नहीं आया।

सभी उद्ग्रीव होकर बड़ी उत्कण्ठा से मन में कामना करने लगे—काश ! सौन्दर्य की यह खान मुझे प्राप्त हो जाय तो मानव-जन्म सफल हो जाय। सभी आशान्वित थे, सभी को अपने पुण्य पर विश्वास था। कंचुकी क्रम क्रम से राजकुमार प्रत्याशियों का परिचय देता जाता था। कुमारी सुलोचना एक दृष्टिपात करके आगे बढ़ जाती। वह जिस ओर जाती, वही राजकुमार आशा से मधुर सपने सजोने लगता, किन्तु जब वह आगे बढ़ जाती तो वे दिवा-स्वप्न एक आघात से टूट जाते।

जब सुलोचना अर्ककीर्ति आदि राजकुमारों को छोड़कर जयकुमार के सामने पहुँची तो कंचुकी ने जयकुमार के गुण वर्णन करना प्रारम्भ किया—यह हस्तिनापुर नरेश सोमप्रभ का यशस्वी पुत्र है। इसका रूप कामदेव को लज्जित करने वाला है। इसने उत्तर भरतक्षेत्र में मेघकुमार नामक देवों को जीतकर बादलों की गर्जना को जीतने वाला सिंहनाद किया था। उस समय निधियों के स्वामी महाराज भरत ने हर्षित होकर अपनी भुजाओं पर धारण किया जाने वाला वीरपट्ट इसके बाँधा था तथा प्रेम से इसका नाम मेघेश्वर रक्खा था।

कंचुकी जब यह विरुदावली बोल रहा था, उस समय वस्तुतः सुलोचना वह सब सुन नहीं रही थी। वह तो हृदय से जयकुमार के लिये आत्म-समर्पण कर चुकी थी और आसक्त भाव से उसे निहार रही थी। उधर जयकुमार भी मुग्ध भाव से उसे देख रहा था। दोनों ही एक दूसरे में खोये हुए थे। दोनों के शरीर कंटकित हो रहे थे। जयकुमार के सामने खड़ी हुई सुलोचना ऐसी प्रतीत हो रही थी, मानो कामदेव के सामने विह्वल रति खड़ी हो। उसने कंचुकी के हाथों में से रत्नमाला लेकर जयकुमार के गले में डालदी। जब सुलोचना ने दोनों बाहें उठाकर वरमाला जयकुमार के गले में डाली, उस समय ऐसा लगता था, मानो बिछुड़े हुए अपने पति कामदेव को पाकर अधीर रति ने दोनों भुजायें पसार कर आलिंगन किया हो। शेष राजकुमारों की मुख की कान्ति उचट कर मानों जयकुमार के मुखकमल पर आ जमी।

तभी मंगल वाद्यों की मधुर ध्वनि से सारा मण्डप और वन प्रान्त एकबारगी ही प्रतिध्वनित हो उठा। नाथ वंश के अधिपति अकंपन आगे आये और अपनी पुत्री को साथ में लेकर और जयकुमार को आगे करके नगर की ओर चले। साथ में बन्धु-बान्धव और अनेक राजा थे। इस युग का यह प्रथम स्वयम्वर था और जयकुमार इस मुहिम का प्रथक विजेता था।

किन्तु इस हर्षोत्सव में असूयारसिकों की भी कमी नहीं थी। युवराज अर्ककीर्ति का एक दुष्ट सेवक था। नाम था दुर्मर्षण। उसने जयकुमार की इस उपलब्धि को सहज भाव से ग्रहण नहीं किया। वह द्वेष से दग्ध होकर

युवराज का अन्याय

अपने स्वामी के पास पहुँचा और बोला—'देव ! यह घोर अन्याय है। अभिमानी अकंपन ने आपको यहाँ बुलाकर आपका घोर अपमान किया है। अकंपन की तो जयकुमार के गले में वरमाला डलवाने की पहले से ही योजना थी। उसे तो केवल आपका अपमान करना था। कहाँ तो आप षट्खण्ड भरत क्षेत्र के भावी अधिपति और कहाँ आपका अकिंचन सेवक जयकुमार। यदि आपने इसे सहन कर लिया दो आपका आतंक पृथ्वी पर से उठ जायगा और जयकुमार महाराज भरत के बाद में इस पृथ्वी का

भोग करेगा। न्याय से संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तु के भोग करने का अधिकार महामान्य चक्रवर्ती महाराज का है या फिर आपका। आपके रहते संसार के सर्वश्रेष्ठ कन्यारत्न का भोग आपका एक सेवक करे, इससे बड़ी अनीति संसार में कोई दूसरी हो नहीं सकती।

सेवक की यह सलाह सुनकर युवराज अर्ककीर्ति को भी इस घटनाचक्र में अपना अपमान और अनीति दिखाई देने लगी। वह क्रोध से लाल आंखें किये और नथुने फुलाता हुआ गरज उठा—जिस मूर्ख ने मेरा अपमान किया है, उसने विना जाने ही अपने काल को निमन्त्रण दिया है। इन अकंपन और जयकुमार ने राज्यद्रोह किया है, उसका प्रतिकार आज युद्ध में ही होगा।

उसके क्रोध की छाया में स्वयम्वर में निराश हुए अनेक राजा भी एकत्रित हो गये।

उस समय अर्ककीर्ति को मंत्री ने वहुत समझाया—पहले आपके पितामह भगवान ऋषभदेव ने राज्य शासन करके एक मर्यादा स्थिर की थी। उसके पश्चात् आपके पिता महाराज भरत ने उस मर्यादा को दृढ़तापूर्वक रक्षा की। उसके पश्चात् आप राज्य-शासन का भार संभालेंगे। यदि आप ही उस मर्यादा का उलंघन करेंगे तो पृथ्वी मर्यादाहीन हो जायगी आप न्याय के रक्षक हैं। स्वयम्वर में वर का निर्वाचन कन्या की इच्छा पर निर्भर है। उसने जिसे भी चुना, उसके प्रति अन्य लोगों को ईर्ष्या नहीं करनी चाहिए, यही न्यायमार्ग है। यदि कोई इस मार्ग का उल्लंघन करता है तो आपको तो न्याय-मार्ग की रक्षा करनी चाहिए। आपको स्वयं उस न्याय-मार्ग का उल्लंघन नहीं करना चाहिए। फिर ये महाराज अकंपन सव क्षत्रियों में पूज्य हैं, महाराज भरत तो इनका सम्मान अपने पिता के समान करते हैं। और यह सोमवंश भी नाथ वंश के समान ही है। आपके वंश ने धर्म-तीर्थ की प्रवृत्ति की तो सोमवंश को भी दान-तीर्थ की प्रवृत्ति करने का गौरव प्राप्त है। और फिर महाराज भरत की दिग्विजय के अवसर पर संसार ने जयकुमार की वीरता देखी ही है। यह तो तुम्हारे लिए सहायक ही सिद्ध होगा। आपकी यह अनीति सुनकर चक्रवर्ती भी आप पर असन्तुष्ट होंगे। एक सुलोचना ही तो संसार में कन्या-रत्न नहीं है। और भी कन्यारत्न हैं। आप चाहें तो मैं अनेक कन्या-रत्न आपके लिये ला दूंगा।

किन्तु दुराग्रह और क्रोध में ग्रस्त अर्ककीर्ति ने किसी की एक नहीं सुनी और सेनापति को बुलाकर युद्ध की भेरी वजवा दी। भेरी का शब्द सुनते ही रथ, हाथी और अश्वसेना तथा पदाति सेना के असंख्य सैनिक वहां एकत्रित होने लगे। अर्ककीर्ति गजारूढ़ होकर अनेक राजाओं और सेना से घिरा हुआ युद्ध के लिए चल दिया।

महाराज अकंपन ने ज्यों ही यह समाचार सुना, वे सहसा इस अतर्क्य और असंभव वात पर विश्वास नहीं कर सके। इन्होंने मंत्रियों तथा जयकुमार आदि से परामर्श करके एक चतुर दूत अर्ककीर्ति के पास दौड़ाया।

युवराज की पराजय

उसने जाकर युवराज को समझाया किन्तु वह असफल होकर लौट आया। जयकुमार ने चिन्तित अकंपन से कहा—आप निश्चिन्त रहें और यहीं रहकर सुलोचना की रक्षा करें। मैं अभी इस अनीतिमार्गी को वांध कर लाता हूँ। फिर उन्होंने अपनी मेघ घोषा भेरी वजाई। भेरी की आवाज सुनते ही उनके असंख्य सैनिक और उनके पक्ष के अनेक राजा लोग शस्त्रसज्जित होकर एकत्रित हो गए। उन्होंने भी शत्रु सेना की ओर कूच कर दिया। इधर महाराज अकंपन भी अपने पुत्रों और सैनिकों को साथ लेकर चल पड़े। सोमवंश और नाथ वंश के आश्रित राजाओं के अतिरिक्त पांच राजा भी अपनी सेना के साथ जयकुमार से आ मिले। विद्याधर राजाओं में से आधे राजा भी अन्याय का पक्ष छोड़कर इस सेना में आकर मिल गए।

दोनों ओर से मकर व्यूह, गरुड़ व्यूह आदि व्यूहों की रचना की गई। युद्ध के वाजे तुमुल घोष के साथ वजने लगे। युद्ध प्रारम्भ हो गया। वाणों की वर्षा से आकाश ढक गया। मनुष्य, हाथी, घोड़े कट-कटकर भूमि पर गिरने लगे। सारी रणभूमि में जयकुमार ही दिखाई पड़ रहा था। उसके वाणों ने अर्ककीर्ति की सेना को निश्चेष्ट वना दिया। तव अर्ककीर्ति ने अपना हाथी आगे वढ़ाया। जयकुमार भी विजयार्ध हाथी पर आरूढ़ होकर आगे वढ़ा। तभी उसका एक मित्र देव आया और उसे नागपाश तथा अर्धचन्द्र नामक वाण दिया जो अमोघ था। जयकुमार ने अपने वज्रकाण्ड धनुष पर वह वाण चढ़ाया और सन्धान कर दिया। उस एक ही वाण ने अर्ककीर्ति और

उसके आठों रक्षक विद्याधरों के रथ, सारथी तथा धनुप-वाण नष्ट कर दिये। अर्ककीर्ति निरुपाय हो गया। जयकुमार ने क्षण भर का विलम्ब किये बिना अर्ककीर्ति को पकड़ लिया और नागपाश से सम्पूर्ण विद्याधर राजाओं को वांध लिया।

युद्ध समाप्त हो गया। जयकुमार ने अर्ककीर्ति और वंधे हुए राजाओं को महाराज अकंपन के सुपुर्द कर दिया। हताहतों की समुचित व्यवस्था करके सवने वाराणसी नगरी में प्रवेश किया। वे सर्वप्रथम नित्यमनोहर नामक चैत्यालय में गये और जिनेन्द्र प्रभु के दर्शन किये, जिनकी अनुकम्पा से अनिष्ट की शान्ति हुई। फिर अपनी महारानी सुप्रभा के निकट कायोत्सर्ग से खड़ी हुई पुत्री सुलोचना के पास गये। उसने संकट निवारण तक चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दिया था। महाराज अकंपन ने उसे विजय का हर्ष-समाचार सुनाया तथा कहा—बेटी ! तेरे पुण्ययोग से सब विघ्न टल गए हैं। अव तुम अपने महलों में जाओ।' यह कहकर पुत्री को उसकी माता तथा भाइयों के साथ राजभवन में भेज दिया।

महाराज अकंपन ने मंत्रियों से परामर्श किया और फिर विद्याधर राजाओं का सत्कार करके छोड़ दिया। फिर वे कुमार अर्ककीर्ति के पास पहुँचे और उनको नाना प्रकार के मीठे वचनों से प्रसन्न किया। उन्होंने जयकुमार को भी बुलाकर दोनों में सन्धि करादी। फिर उन्होंने अपनी द्वितीय पुत्री अक्षमाला का विवाह अर्ककीर्ति के साथ वड़े वैभव के साथ कर दिया और वड़े मान-सन्मान के साथ अर्ककीर्ति तथा अन्य राजाओं को विदा कर दिया।

तव उपर्युक्त देव ने जयकुमार के साथ सुलोचना का विवाह कर दिया और उन्हें नाना प्रकार के अनर्घ्य उपहार दिये।

महाराज अंकपन वड़े अनुभवी और दूर-दृष्टि थे। उन्होंने परामर्श करके एक चतुर दूत को वहुमूल्य रत्न आदि की भेंट देकर चक्रवर्ती के पास भेजा। उसने चक्रवर्ती के दरवार में जाकर उनके चरणों में भेंट चढ़ाई, साष्टांग प्रणाम किया और महाराज अकंपन एवं जयकुमार की ओर से लघुता प्रगट करते हुए इस घटना का सारा दोष अपने ऊपर ले लिया और अपराध का दण्ड देने की प्रार्थना की।

चक्रवर्ती का न्याय

चक्रवर्ती ने दूत को वीच में ही रोककर उन दोनों की प्रशंसा की। उन्होंने कहा—महाराज अकंपन तो मेरे पूज्य हैं। मैं यदि कोई अन्याय करूँ तो उन्हें मुझे रोकने का अधिकार है। और जयकुमार ! उसी की वदौलत मेरा यह चक्रवर्ती-पद है। अपराध अर्ककीर्ति का है। उसने मेरी कीर्ति में कलंक लगा दिया है। मैं उसे अवश्य दण्ड दूँगा।

जयकुमार कुछ दिनों तक वाराणसी में ही रहा और सुलोचना के साथ उसने यथेच्छ भोग किया। एक दिन अपने मन्त्री का पत्र पाकर और उसका गूढ़ अर्थ समझकर अपने श्वसुर महाराज अंकपन से जाने की अनुमति माँगी। महाराज ने विचार कर 'तथास्तु' कहा। और अनेक प्रकार की वहुमूल्य भेंट देकर दोनों को सम्मानपूर्वक विदा किया। जयकुमार भी सुलोचना को लेकर अपने भाइयों और सेना के साथ वहाँ से चल दिया। मार्ग में एक स्थान पर सेना का पड़ाव पड़ा। वहाँ समझा-वुझाकर सुलोचना को छोड़ा और अपने भाइयों को उसकी रक्षा में नियुक्त कर स्वयं अयोध्या की ओर प्रस्थान किया। अयोध्या पहुँचने पर अनेक मान्य पुरुषों ने उसका स्वागत किया। वह युवराज अर्ककीर्ति से वड़े प्रेम से मिला। वह सीधा राजदरवार में पहुँचा और महाराज भरत के समक्ष जाकर अष्टांग प्रणिपात किया। महाराज भरत वोले—क्यों जयकुमार तुम वहू को क्यों नहीं लाये ? हम तो उसे देखने के लिये उत्सुक थे। तुमने हमें अपने विवाह में भी नहीं वुलाया। महाराज अकंपन ने भी हमें भुलाकर वन्धु-वान्धवों से हमें अलग कर दिया।

इस प्रकार कहकर उन्होंने जयकुमार का समुचित आदर-सत्कार किया और वहू के लिये वहुमूल्य वस्त्रालंकार प्रदान करके उसे विदा किया। जयकुमार भी हाथी पर आरूढ़ होकर अपनी प्रिया से मिलने चल दिया।

चक्रवर्ती ने युवराज को राज-सभा में ही वुलाकर उसके कृत्य की समुचित भर्त्सना की।

सेनापति जयकुमार हाथी पर आरूढ़ होकर अपने शिविर की ओर जा रहे थे। भूल से उसने हाथी को गहरे जल में उतार दिया। हाथी अपनी सूँड ऊपर उठाकर गंगा में आगे बढ़ने लगा। सूँड का केवल अग्रभाग पानी में नहीं डूब पाया था, शेष सारा शरीर पानी में डूबा हुआ था। वह अचानक एक गड्ढे में पहुँच गया। तभी एक मगर ने हाथी को जकड़ लिया। तट पर खड़े हुए लोगों ने हाथी को डूबते हुए देखा तो सभी घबड़ा उठे। सुलोचना के भाई हेमाङ्गद तथा अन्य अनेक व्यक्ति गंगा में कूद पड़े। सुलोचना ने अपने पति पर आये हुए इस भयानक संकट को देखा तो उसने उपसर्ग दूर होने तक आहार-जल का त्याग करके जिनेन्द्र प्रभु का स्मरण करना प्रारम्भ कर दिया और साहस करके अपनी सखियों के साथ गंगा में कूद पड़ी। तभी गंगा देवी का आसन कम्पित हुआ। वह शीघ्र वहाँ उपस्थित हुई और मगर रूप धारिणी कालिका देवी को डाँटकर उपसर्ग दूर किया। वह सबको किनारे पर लाई। वहाँ तट पर उसने एक भव्य भवन का निर्माण किया तथा एक मणिजटित सिंहासन पर सुलोचना को बैठाकर उसकी पूजा की। पूर्व जन्म में विन्ध्यश्री नामक एक राजकुमारी सुलोचना की सखी थी। एक दिन उसे साँप ने काट लिया। मरते समय सुलोचना ने उसे णमोकार मन्त्र सुनाया, जिसके प्रभाव से वह मरकर गंगा नदी की अधिष्ठात्री देवी हुई।

णमोकार मन्त्र का प्रभाव

जयकुमार सुलोचना के साथ अपने बन्धु-बान्धवों और सैनिकों को लेकर हस्तिनापुर पहुँचा। वहाँ जनता ने अपने महाराज को बहुत दिनों के पश्चात् अपने बीच पाकर उनका हार्दिक स्वागत किया। महाराज जयकुमार ने एक दिन शुभ दिन शुभ लग्न में उत्सव किया। उसमें सुलोचना को पट्टमहिषी का पट्टबन्ध बाँधकर सम्मानित किया तथा हेमाङ्गद आदि को बहुमूल्य उपहार भेंट कर विदा किया। तथा अपने भाइयों तथा अन्य लोगों को भी नाना प्रकार के उपहार प्रदान कर सन्तुष्ट किया।

जयकुमार का दीक्षा ग्रहण

जयकुमार और सुलोचना में कई भवों से प्रीति चली आ रही थी और कई भवों से पति-पत्नी के रूप में उत्पन्न होते आ रहे थे। एक दिन एक विद्याधर दम्पति आकाश मार्ग से जा रहा था। उसे देखते ही जयकुमार को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया और वह 'हा प्रभावती' कहकर मूर्छित हो गया। इतने में कबूतरों का एक जोड़ा देखकर सुलोचना भी 'हा रतिवर' कहकर संज्ञाहीन हो गई। दासियों के शीतलोपचार से दोनों की मूर्छा भंग हुई। तभी उन दोनों को अवधिज्ञान प्राप्त हो गया। जयकुमार के पूछने पर सुलोचना ने अपने मूर्च्छित होने का कारण बताते हुए कबूतर-कबूतरी के पर्याय की कथा सुनाई। फिर प्रभावती और हिरण्यवर्मा के भव की कथा सुनाई।

जयकुमार और सुलोचना में परस्पर में बड़ा प्रेम था। बहुत समय तक इन दोनों ने साँसारिक सुखों का भोग किया। एक दिन जयकुमार भगवान वृषभदेव के दर्शनों को गया और उनके उपदेश को सुनकर उसके मन में संसार से वैराग्य हो गया। उसने आकर अपने पुत्र अनन्तवीर्य का राज्याभिषेक करके अपने भाइयों और चक्रवर्ती के पुत्रों के साथ भगवान के समीप दीक्षा धारण कर ली। वह चार ज्ञान का धारी, सम्पूर्ण श्रुत का ज्ञाता और सात ऋद्धियों का स्वामी बना और भगवान का इकहत्तरवाँ गणधर बना। सुलोचना ने भी ब्राह्मी गणिनी के पास दीक्षा ले ली और तप करके अन्त में अच्युत स्वर्ग में अहमिन्द्र हुई।

२२. भरत का निर्वाण

एक दिन चक्रवर्ती भरत अपने कक्ष में खड़े हुए दर्पण में मुख देख रहे थे। तभी उन्हें अपने केशों में एक सफेद बाल दीखा। उसे देखते ही उनके मन में शरीर और भोगों की असारता को देखकर निर्वेद भर गया। उन्होंने तत्काल अपने ज्येष्ठ पुत्र अर्ककीर्ति का राज्याभिषेक किया और वन में जाकर सकल संयम धारण कर लिया। उन्हें उसी समय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया और उसके बाद ही केवलज्ञान प्रगट हो गया।

पहले चक्रवर्ती भरत राजाओं द्वारा पूजित थे। अब भगवान भरत इन्द्रों और देवों द्वारा पूजित हो गये। भगवान भरत ने चिरकाल तक विहार किया और अपने उपदेशों से असंख्य प्राणियों का कल्याण किया। आयु का अन्त निकट जानकर वे कैलाश पर्वत पर पहुँचे और वहाँ योग निरोध करके जन्म-जरा-मरण से सदा के लिए मुक्त हो गये। वे सिद्ध परमात्मा हो गये।

भगवान के वृषभसैन आदि गणधर, भगवान के पुत्र तथा अन्य अनेक मुनि भी कर्मों का उच्छेद करके मुक्त हो गये।

२३. भरत और भारत

भारत का प्राचीन नाम

हमारा देश भारतवर्ष कहलाता है। इससे पहले इस देश का नाम महाराज नाभिराज के नाम पर अजनाभवर्ष कहलाता था। कहीं कहीं इसके स्थान पर अजनाभ खण्ड भी आता है। जब ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने इस देश के छह खण्डों को जीतकर चक्रवर्ती पद धारण किया, तब उन्होंने अपने नाम पर इसका नाम भारतवर्ष कर दिया।

जैन साहित्य और भारत—जैन साहित्य में इस सम्बन्ध में असंदिग्ध शब्दों में उल्लेख मिलते हैं। भगवज्जिनसेनाचार्य ने 'आदिपुराण' पर्व १५ श्लोक १५९ में बताया है।

तन्नाम्ना भारतं वर्षमितिहासीज्जनास्पदम्।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदम्॥

अर्थात् इतिहास के जानने वालों का कहना है कि जहाँ अनेक आर्य पुरुष रहते हैं ऐसा यह हिमवान् पर्वत से लेकर समुद्र पर्यन्त का चक्रवर्तियों का क्षेत्र भरत के नाम के कारण भारतवर्ष रूप से प्रसिद्ध हुआ। (यही श्लोक पुरुदेव चम्पू ६।३२ में भी इसी प्रकार मिलता है)।

इसी प्रकार एक स्थान पर उक्त आचार्य कहते हैं—

यन्नाम्ना भरतावनित्वमगमत् षट्खण्ड भूषा मही॥३७।२०३॥

अर्थात् जिसके नाम से षट्खण्डों से विभूषित पृथ्वी भरत भूमि नाम को प्राप्त हुई।

और भी—

ततोऽभिषिच्य साम्राज्ये भरतं सूनुमग्रिमम्।
भगवान् भारतं वर्षं तत्सनाथं व्यधादिदम्॥१७।७६॥

अर्थात् भगवान ऋषभनाथ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके यह घोषणा की कि भरत से शासित देश भारतवर्ष कहलाये।

इसी तथ्य को पद्मपुराण के कर्त्ता आचार्य रविषेण ने कई स्थलों पर स्वीकार किया है। यथा—

ऋषभेण यशोवत्यां जातो भरतकीर्तितः।
यस्य नाम्ना गतं ख्यातिमेतद्वास्यं :जगत्त्रये ॥२०।१२४॥
चक्रवर्तिश्रियं तावत्प्राप्तो भरत भूपतिः।
यस्य क्षेत्रमिदं नाम्ना जगत्प्रगटतां गतम् ॥४।५६

अर्थात् भगवान ऋषभदेव की यशस्वती रानी से भरत नामक प्रथम चक्रवर्ती हुआ। इस चक्रवर्ती के नाम से ही यह क्षेत्र तीनों जगत में भरत क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान ऋषभदेव का पुत्र राजा भरत चक्रवर्ती की लक्ष्मी को प्राप्त हुआ था और उसी के नाम से यह क्षेत्र संसार में भरत क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

इसी प्रकार वसुदेव हिण्डि प्रथम खण्ड पृ० १८६ में बताया है कि—

'तत्थ भरहो भरहवास चूड़ामणि, तस्सेव नामेण इहं भारहवासं ति पव्वुच्चति।

भारतवर्ष के चूड़ामणि भरत हुए। उन्हीं के नाम से यह भारतवर्ष कहलाता है।

भारतवर्ष का नामकरण किस प्रकार हुआ, इस सम्बन्ध में जैन और हिन्दू पुराण दोनों एकमत हैं। जिस प्रकार जैन पुराणों में स्पष्ट शब्दों में ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर भारत का नामकरण माना है, उसी प्रकार हिन्दू पुराणों में भी ऋषभदेव-पुत्र भरत से ही इस देश का नामकरण स्वीकार किया है। हिन्दू और जैन परम्पराओं में इस सम्बन्धी ऐकमत्य से इस सम्बन्ध में सन्देह करने अथवा अन्यथा कल्पना करने का कोई अवकाश नहीं रहता। यहाँ हिन्दू पुराणों के कुछ उद्धरण देना हम आवश्यक समझते हैं, जिससे इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश पड़ सके।

अग्नि पुराण हिन्दुओं का प्राचीन ग्रन्थ है। कहते हैं, इसमें सभी विषयों और विद्याओं का समावेश है। इसमें भरत और भारत के सम्बन्ध में एक स्थान पर इस प्रकार उल्लेख मिलता है—

'जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम्।
नाधर्मं मध्यमं तुल्या हिमाद्देशात्तु नाभितः॥
ऋषभो मरुदेव्यां च ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
ऋषभोऽदात् श्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरिं गतः।
भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत्। अध्याय १० श्लोक १०-१२

उस हिमवत् प्रदेश में जरा और मृत्यु का भय नहीं था, धर्म और अधर्म भी नहीं थे। उनमें समभाव था। वहाँ नाभिराज से मरुदेवी में ऋषभ का जन्म हुआ। ऋषभ से भरत हुए। ऋषभ ने राज्यश्री भरत को प्रदान कर सन्यास ले लिया। भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। भरत के पुत्र का नाम सुमति था।

आग्नीध्रसूनोर्नाभिस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महा प्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंश्रयः॥
हिमाव्हं दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना महात्मनः॥

मार्कण्डेय पुराण अ० ५०, श्लोक ३९-४२

आग्नीध्र के पुत्र नाभि से ऋषभ उत्पन्न हुए जो अपने सौ भाइयों में अग्रज थे। ऋषभदेव ने पुत्र का राज्याभिषेक करके महाप्रव्रज्या धारण कर ली। इस महाभाग ने पुलह आश्रम में रहकर तप किया।

ऋषभदेव ने भरत को हिमवत् नामक दक्षिण प्रदेश दिया था। उसी भरत महात्मा के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ।

'नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥५०॥

ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिञ्च्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ।।५१।।
हिमाव्हयं दक्षिणं वर्ष, भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।।५२।।

—वायु महापुराण पूर्वार्ध अध्याय ३३

(प्रायः सभी पुराणों में समान पाठ हैं। अतः सबके अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। अर्थ सुस्पष्ट है।

'नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिम् ।।५९।।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः ।।६०।।
सोऽभिषिञ्च्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
हिमाव्हं दक्षिणं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।।६१।।

नाम्ना ब्राह्माण्ड पुराण पूर्वार्ध, अनुषंगपाद, अध्याय १४

'नाभेर्मेरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च तावदग्रजः। तस्य भरतस्य पिता ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष महद् भारतं नाम शशास।

—वाराह पुराण, अध्याय ७४

'नाभेर्विसर्गं वक्ष्यामि हिमाकेस्मिन्निबोधत।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां महामतिः ।।१९।।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्र शताग्रजः ।।२०।।
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः।
ज्ञान-वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान् ।।२१।।
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम्।
नग्नो जटो निराहारोऽचीरी ध्वांतगतो हि सः ।।२२।।
निराशस्त्यक्तसन्देहः शैवमाप परं पदम् ।।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत् ।।२३।।
तस्मात्तु भारतं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।

—लिंग पुराण, अध्याय ४७

'हिमाव्हयं तु वै वर्ष नाभेरासीन्महात्मनः।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्यां महाद्युतिः ।।२७।।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः।
कृत्वा राज्यं स्वधर्मेण तथेष्ट्वा विविधान्मखान् ।।२८।।
अभिषिच्य सुतं वीरं भरतं पृथिवीपतिः।
तपसे स महाभागः पुलहस्याश्रमं ययौ ।।२९।।
ततश्च भारतं वर्षमेतल्लोकेषु गीयते।
भरताय यतः पित्रा दत्तं प्रातिष्ठता वनम् ।।३२।।
सुमतिर्भरतस्याभूत्पुत्रः परम धार्मिकः।

—विष्णु पुराण, द्वितीय अंश, अध्याय १

'नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्ष भारतं चेति कीर्त्यते ।।५७।।

— स्कन्धपुराण, माहेश्वर खण्ड का कौमार खण्ड, अ० ३७

'आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठः भरतो नाम भूपतिः ।
आर्षभो यस्य नाम्नेदं भरतखण्डमुच्यते ॥५॥

—नारद पुराण, पूर्व खण्ड, अ० ४८

'येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुण आसीद्येनेदं वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति ।

—श्रीमद्भागवत ५।४।९

'अजनाभं नामैतद् वर्षं भारतमिति यत आरभ्य व्यपदिशन्ति ।

श्रीमद्भागवत ५।६।३

तस्य पुत्रश्च वृषभो वृषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्य नाम्नात्विदं वर्णं भारतं चेति कीर्त्यते ॥

—शिवपुराण ३७।५७

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन और हिन्दू सभी पुराण ऋषभदेव के पुत्र भरत से अजनाभवर्ष अथवा हिमवत् क्षेत्र का नाम भारतवर्ष पड़ा, इस बात में एकमत हैं ।

कुछ हिन्दू इतिहासकार इस सर्वमान्य तथ्य की उपेक्षा करके दौष्यन्ति भरत से भारतवर्ष के नामकरण का सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा करते हैं । वे केवल आग्रहवश ही ऐसा करते हैं, उनके पास इसके लिये कोई पौराणिक या दूसरे प्रकार का साक्ष्य नहीं है । इतिहास के तथ्य आग्रहों से सिद्ध नहीं किये जा सकते । दुष्यन्त-पुत्र भरत के चरित्र का वर्णन श्रीमद्भागवत नवम स्कन्ध में विस्तार से दिया गया है । उसमें बताया है कि 'भरत ने ममता के पुत्र दीर्घतमा मुनि को पुरोहित बनाकर गंगातट पर गंगासागर से लेकर गंगोत्री पर्यन्त पचपन पवित्र अश्वमेघ यज्ञ किये । इसी प्रकार यमुना तट पर भी प्रयाग से लेकर यमुनोत्री तक अठहत्तर अश्वमेध यज्ञ किये......भरत ने सत्ताईस हजार वर्ष तक समस्त दिशाओं का एकछत्र शासन किया ।' अन्त में वे संसार से उदासीन हो गये । इस सारे चरित्र में कहीं पर ऐसा एक भी शब्द नहीं आया, जिससे यह ध्वनित होता हो कि उनके नाम पर इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा । जो लोग इतने स्पष्ट साक्ष्यों के बावजूद दुष्यन्त-पुत्र भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष बताने का साहस करते हैं, उन्हें एक बात का उत्तर देना होगा । दुष्यन्त-पुत्र भरत चन्द्र वंश के शिरोमणि थे । उनसे पूर्व इक्ष्वाकु वंश, सूर्य वंश और चन्द्रवंश के हजारों राजाओं ने यहाँ शासन किया था । उन राजाओं के काल में इस देश का नाम क्या था और क्या ऋषभ-पुत्र भरत से भारतवर्ष के नामकरण का सम्बन्ध जोड़ने वाले ये सारे पुराण मिथ्या सिद्ध नहीं हो जायेंगे ? किन्तु यह तो किसी को भी अभीष्ट न होगा । अतः इस निर्विवाद तथ्य को स्वीकार करना ही होगा कि इस देश का नाम ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर ही भारतवर्ष पड़ा, न कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम पर ।

तृतीय परिच्छेद

भगवान अजितनाथ

तीर्थंकर नामकर्म सातिशय पुण्य प्रकृति है। यह प्रकृति उसी महाभाग के वंधती है, जिसने किसी पूर्व जन्म में दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया हो, तदनुकूल अपना जीवन-व्यवहार बनाया हो और जिसके मन में सदाकाल यह भावना जागृत रहती हो—'संसार में दुःख ही दुःख है। प्रत्येक प्राणी यहाँ दुःखों से व्याकुल है। मैं इन प्राणियों का दुःख किस प्रकार दूर करूँ, जिससे ये सुखी हो सकें।' सम्पूर्ण प्राणियों के सुख की निरन्तर कामना करने वाले महामना मानव को तीर्थंकर प्रकृति का वंध होता है अर्थात् आगामी काल में तीर्थंकर वनता है। द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ ने भी पहले एक जन्म में इसी प्रकार की भावना की थी। उसकी कथा इस प्रकार है :—

पूर्व भव

वत्स देश में सुसीमा नाम की एक नगरी थी। वहाँ का नरेश विमलवाहन वड़ा तेजस्वी और गुणवान था। उसमें उत्साह शक्ति, मंत्रशक्ति और फलशक्ति थी। वह उत्साह सिद्धि, मंत्रसिद्धि और फलसिद्धि से युक्त था। वह पुत्र के समान अपनी प्रजा का पालन करता था। उसके पास भोगों के सभी साधन थे, किन्तु उसका मन कभी भोगों में आसक्त नहीं होता था। वह सदा जीवन की वास्तविकता के वारे में विचार किया करता—जिस जीवन के प्रति हमारी इतनी आसक्ति है, इतना अहंकार है, वह सीमित है। क्षण-प्रतिक्षण वह छीज रहा है और एक दिन वह समाप्त हो जायगा। इसलिए भोगों में इसका व्यय न करके आत्म-कल्याण के लिये इसका उपयोग करना चाहिए।

यह विचार कर उसने एक क्षण भी व्यर्थ नष्ट करना उचित नहीं समझा और अपने पुत्र को राज्य-शासन सौंपकर अनेक राजाओं के साथ उसने दैगम्वरी दीक्षा धारण कर ली। उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया, दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तवन किया। फलतः उसे तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध हो गया। आयु के अन्त में पंच परमेष्ठियों में मन स्थिर कर समाधिमरण कर वह विजय नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ।

भगवान के जन्म लेने से छह माह पूर्व से इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने साकेत नगरी के अधिपति इक्ष्वाकु वंशी और काश्यपगोत्री राजा जितशत्रु के भवनों में रत्नवर्षा की। ज्येष्ठ कृष्णा अमावस्या को महाराज जितशत्रु की रानी विजयसेना के गर्भ में विमलवाहन का जीव स्वर्ग से आयु पूर्ण होने पर अवतरित हुआ। उस रात्रि के अन्तिम प्रहर में महारानी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। स्वप्न दर्शन के पश्चात् उन्होंने देखा कि मुख में एक मदोन्मत्त हाथी प्रवेश कर रहा है। प्रातःकाल होने पर महारानी ने अपने पति के पास जाकर स्वप्नों की चर्चा की और उनका फल जानना चाहा। महाराज ने अपने अवधिज्ञान से जानकर हर्षपूर्वक वताया कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर अवतीर्ण हुए हैं।

भगवान अजितनाथ का गर्भकल्याणक

नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला दशमी के दिन प्रजेश योग में तीर्थंकर भगवान का जन्म हुआ। जन्म होते ही इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान का जन्म-कल्याणक मनाया और सुमेरु पर्वत पर ले जाकर पाण्डुक शिला पर उनका जन्माभिषेक किया। उनका वर्ण तप्त स्वर्ण के समान था। आपका चिन्ह हाथी था।

भगवान का जन्म महोत्सव

जब भगवान को यौवन दशा प्राप्त हुई तो उनका अनेक सुन्दरी राजकन्याओं के साथ विवाह हो गया और वे संसार के भोग भोगने लगे। राजा जितशत्रु अब वृद्ध हो चुके थे। उन्होंने अपने पुत्र को बुलाकर स्वयं मुनि-दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की और राज्य-भार उन्हें सौंपकर वन में जाकर दीक्षा लेली। अब भगवान अजितनाथ प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा उनके न्याय और व्यवहार के कारण उन्हें प्राणों से भी अधिक प्रेम करती थी।

यद्यपि अजितनाथ भगवान राज्य कर रहे थे और स्त्रियों का भोग भी करते थे, किन्तु उनके मन में सदा विराग की ही भावना रहती थी। वे भोगों में कभी आसक्त नहीं हुए। वे अनासक्त वृत्ति से ही संसार के सब कार्य किया करते थे। एक दिन वे महल की छत पर बैठे हुए प्रकृति की शोभा देख रहे थे कि उन्हें बादलों में एक क्षण को उल्का दिखाई पड़ी और तत्क्षण वह विलीन हो गई। भगवान को इस चंचल और अस्थिर उल्का को देखकर बोध हुआ—संसार के भोग और यह लक्ष्मी भी इसी प्रकार चंचल और अस्थिर है। उन्होंने इन भोगों और इस विनश्वर लक्ष्मी का त्याग करने का तत्काल मन में संकल्प कर लिया। तभी लौकान्तिक देवों ने ब्रह्म स्वर्ग से आकर भगवान के संकल्प की सराहना की। भगवान ने अपने पुत्र अजितसेन का राज्याभिषेक किया और दीक्षा लेने चल दिए। इन्द्रों और देवों ने उनका निष्क्रमण महोत्सव मनाया। भगवान ने माघ शुक्ला ९ को रोहिणी नक्षत्र का उदय रहते सहेतुक वन में सप्तपर्ण वृक्ष के नीचे सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हें तत्काल मन:पर्यय ज्ञान हो गया।

भगवान का दीक्षा-ग्रहण

उन्होंने दूसरे दिन साकेत नगरी में ब्रह्मा नामक राजा के घर आहार लिया। वे फिर वनों में जाकर घोर तप करने लगे। बारह वर्ष तपस्या करने के पश्चात् उन्हें पौष शुक्ला एकादशी की सन्ध्या के समय रोहिणी नक्षत्र में लोकालोक प्रकाशक निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रों और देवों ने आकर केवलज्ञान की पूजा की। समवसरण की रचना हुई और भगवान ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान को केवल ज्ञान

उनके परिकर में ९० गणधर, ३७५० पूर्वधारी, २१६०० शिक्षक, ९४०० अवधिज्ञानी, २०००० केवल ज्ञानी, २०४०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १२४५० मन: पर्ययज्ञानी और १२४०० अनुत्तरवादी थे। कुल एक लाख मुनि, तीन लाख बीस हजार आर्यिकायें, तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्राविकायें थीं।

भगवान का परिवार

उन्होने समस्त आर्य क्षेत्र में विहार किया। उनके उपदेशों को सुनकर असंख्य प्राणियों ने आत्म-कल्याण किया। अन्त में सम्मेदाचल पर पहुँचकर एक माह का योग-निरोध करके समस्त अवशिष्ट कर्मों का क्षय कर दिया और चैत्र शुक्ला पंचमी को प्रात:काल के समय भगवान को निर्वाण प्राप्त हो गया।

भगवान का निर्वाण कल्याणक

भगवान अजितनाथ भगवान ऋषभदेव के काफी समय पश्चात् उत्पन्न हुए थे। भगवान अजितनाथ को जब केवलज्ञान उत्पन्न हुआ, तब तक भगवान ऋषभदेव का तीर्थ प्रचलित था। केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान अजितनाथ का तीर्थ प्रवृत्त हुआ और वह तीसरे तीर्थंकर संभवनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने तक चला। आपके समय में दूसरा रुद्र हुआ।

भगवान अजितनाथ का तीर्थ

यक्ष-यक्षिणी—आपका सेवक महायक्ष और सेविका रोहिणी यक्षिणी थी।

सगर चक्रवर्ती

वत्स देश के पृथ्वी नगर का अधिपति जयसेन नामक राजा राज्य करता था। जयसेना उसकी रानी थी और रतिषेण एवं धृतिषेण नामक उसके दो पुत्र थे। दोनों ही पुत्र पिता को प्राणों के समान प्रिय थे। दुर्भाग्यवश रतिषेण की मृत्यु हो गयी। इस असह्य आघात से जयसेन बहुत शोकाकुल हो गया। इस अवस्था में वह धर्म की ओर अधिक ध्यान देने लगा, जिससे शोक का भार कम होकर शान्ति मिल सके। एक दिन विचार करते करते उसे संसार के इस भयानक रूप को देख कर वैराग्य हो गया और उसने धृतिषेण नामक पुत्र को राज्य-भार सौंप कर अनेक राजाओं और महारुत नामक अपने साले के साथ यशोधर मुनिराज के पास सकल संयम धारण कर लिया अर्थात् वह मुनि बन गया। जयसेन और महारुत ने घोर तप किया। अन्त में समाधिमरण किया और वे दोनों अच्युत नामक देव हुए। दोनों के नाम क्रमशः महाबल और मणिकेतु हुए। स्वर्ग में भी दोनो में बड़ी प्रीति थी। उन दोनों देवों ने एक दिन प्रतिज्ञा की कि हम लोगों में जो पहले पृथ्वी पर अवतीर्ण होकर मनुष्य बनेगा, उसे दूसरा देव समझाने जावेगा और दीक्षा लेने की प्रेरणा करेगा।

षट् खण्ड का अधिपति सगर चक्रवर्ती

महाबल देव अपनी आयु पूर्ण होने पर अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवंशी नरेश समुद्रविजय और रानी सुबाला के सगर नाम का पुत्र हुआ। एक दिन उसकी आयुधशाला में चक्र रत्न उत्पन्न हुआ। उसने चक्र रत्न की सहायता से भरत क्षेत्र के षट्खण्डों पर विजय प्राप्त की और वह चक्रवर्ती पद से विभूषित हुआ। चक्रवर्ती भरत के समान ही उसकी विभूति थी। उसके महा प्रतापी साठ हजार पुत्र हुए।

एक समय सिद्धिवन में चतुर्मुख नामक एक मुनिराज को केवलज्ञान प्रगट हुआ। उसके ज्ञान की पूजा करने के लिए इन्द्र और देव आये। मणिकेतु देव भी उनके साथ आया। वहाँ उसे अवधिज्ञान से ज्ञात हुआ कि हमारा मित्र महाबल यहाँ सगर नामक चक्रवर्ती हुआ और भोगों में आसक्त है। वह अपने मित्र के पास आया। वह सगर से मिला और अपना परिचय देकर तथा दोनों में हुई प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाकर उसे मुनि-दीक्षा लेने की प्रेरणा की। किन्तु सगर के ऊपर इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा।

मणिकेतु द्वारा सगर को समझाने का यत्न

कुछ समय पश्चात् मणिकेतु देव चारणऋद्धिधारी मुनि का रूप धारण करके सगर के चैत्यालय में आकर ठहरा। सगर ने मुनिराज को देखकर उनकी पाद वन्दना की और उनके सुकुमार रूप को देखकर पूछा—'आपने इस अल्प वय में क्यों मुनि-दीक्षा ली है? वह देव बोला-'संसार में दुःख ही दुःख हैं। यहाँ सदा इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोग होते रहते हैं। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि यह सब कर्मों के कारण है। मैं तप के द्वारा इन कर्मों का ही विनाश करना चाहता हूँ। चक्रवर्ती ने सुना किन्तु पुत्रों के मोह के कारण उसने देव के इस कथन की भी उपेक्षा कर दी। वह देव पुनः निराश होकर वापिस चला गया।

किसी समय चक्रवर्ती राज्य सभा में सिंहासन पर विराजमान थे। तभी उसके साठ हजार पुत्र आये और पिता से कहने लगे 'हम लोग क्षत्रिय-पुत्र हैं। निठल्ले बैठना हमें अच्छा नहीं लगता। आप हमें कोई कार्य दीजिये, अन्यथा भोजन भी नहीं करेंगे। चक्रवर्ती पुत्रों की बात सुनकर चिन्ता में पड़ गये। फिर विचार कर बोले-'पुत्रो! भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर रत्नमय चौबीस जिनालय बनवाये थे। तुम लोग उस पर्वत के चारों ओर गंगा

नदी की परिखा बनादो।' पुत्र यह काम पाकर बड़े प्रसन्न हुए और पिता की आज्ञानुसार दण्डरत्न लेकर उसके द्वारा उन मन्दिरों के चारों ओर परिखा खोद दी।

मणिकेतु देव अपने मित्र का हित-संपादन करने के सद्भाव से पुनः स्वर्ग से आया और जहाँ वे साठ हजार राजपुत्र परिखा खोद रहे थे, वहाँ भयंकर नाग का रूप धारण कर वह पहुँचा। उसकी विषमयी फुंकार के द्वारा सभी राजकुमार भस्म हो गये।

इसके पश्चात् मणिकेतु ब्राह्मण का रूप धारण कर चक्रवर्ती के पास पहुँचा और बड़े शोकपूरित स्वर में बोला—देव! आपके शासन की छाया में रहते हुए हमें कोई दुःख नहीं है। किन्तु असमय में ही यमराज मेरे एक मात्र पुत्र को मुझसे छीन ले गया है। यदि आप उसे जीवित नहीं करेंगे तो मेरा भी मरण निश्चित समझें।

चक्रवर्ती ने सान्त्वना देते हुए कहा—विप्रवर्य! जो संसार में आया है, यमराज उसे नहीं छोड़ता। तुम यदि यमराज को पराजित करना चाहते हो तो तुम घरवार का मोह छोड़ कर मुनि-दीक्षा ले लो।

तब देव मन में प्रसन्न होता हुआ बोला—देव सत्य कहते हैं। यमराज को जीतने का एकमात्र उपाय है मुनि-दीक्षा। किन्तु देव मेरी एक बात सुनें। आपके साठ हजार पुत्र कैलाश पर्वत पर परिखा खोदने गये थे, उन्हें यमराज हर ले गया। अब आपको भी यमराज को जीतने के लिए मुनि-दीक्षा ले लेनी चाहिये।

ब्राह्मण के ये वचन सुनते ही चक्रवर्ती मूर्छित होकर गिर पड़े। कुछ समय पश्चात् उपचार से वे सचेत हुए और विचार करने लगे—धिक्कार है इस मोह को, जिसके कारण मैं अभी तक संसार का वास्तविक रूप नहीं समझ पाया।

सगर द्वारा मुनि दीक्षा

उन्होंने तत्काल भगलि देश के राजा सिंहविक्रम की पुत्री विदर्भा के पुत्र भगीरथ को राज्य-भार सौंप दिया और दृढ़धर्मा केवली के समीप जाकर दीक्षा धारण कर ली। मणिकेतु देव ने कैलाश पर्वत पर जाकर उन राजकुमारों को सचेत किया और कहा—आपके पिता को किसी ने आपके मरण का दुस्संवाद सुना दिया था, जिसे सुनकर वे भगीरथ को राज्य देकर मुनि बन गये हैं।

ब्राह्मण वेषधारी देव के ये वचन सुनकर उन राजकुमारों को भी वैराग्य हो गया और वे भी मुनि बन गये और तप करने लगे। फिर वह देव सगर मुनि के पास गया और उनसे सब वृत्तान्त सुनाकर क्षमा मागी।

सगर का निर्वाण

सगर तथा साठ हजार मुनियों ने घोर तप किया और सम्मेदगिरि पर जाकर मुक्त हो गये। भगीरथ ने जब यह समाचार सुना तो उसे बड़ा वैराग्य हुआ और उसने वरदत्त पुत्र को राज्य देकर कैलाश पर्वत पर शिवगुप्त मुनिराज से दीक्षा ले ली।

तीर्थ के रूप में गंगा की प्रसिद्धि का कारण

उन्होंने गंगा-तट पर प्रतिमा योग धारण करके घोर तप किया। उनके तप की कीर्ति दिग्दिगन्तों में फैल गयी। इन्द्र ने क्षीर सागर के जल से महामुनि भगीरथ के चरणों का अभिषेक किया। वह पवित्र जल बह कर गंगा में जा मिला। तभी से गंगा नदी को पवित्र तीर्थ मानने की मान्यता लोक में प्रचलित हो गई। भगीरथ गंगा नदी के तट पर उत्कृष्ट तप कर वहीं से निर्वाण को प्राप्त हुए।

चतुर्थ परिच्छेद

भगवान सम्भवनाथ

विदेह क्षेत्र में सीता नदी के उत्तरी तट पर कच्छ नामक देश था। वहाँ का राजा विमलवाहन था। वह राज्य के विपुल भोगों के मध्य रहकर भी अनासक्त जीवन व्यतीत करता था। एक दिन उसने भोगों पर विजय प्राप्त करने की इच्छा से राजपाट अपने पुत्र विमलकीर्ति को सौंपकर भगवान स्वयंप्रभ तीर्थकर के चरणों में मुनि-दीक्षा ले ली। उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर तीर्थकर के चरण मूल में सोलह कारण भावनाएँ भाई। इससे उन्होंने तीर्थकर प्रकृति का बन्ध कर लिया। आयु के अन्त में सन्यास मरण करके प्रथम[1] ग्रैवेयक के सुदर्शन विमान में अहमिन्द्र देव हुए। वहाँ भी उनकी भावना और आचरण धर्ममय था और सदा धार्मिक चर्चा में ही समय व्यतीत होता था। वहाँ का विपुल वैभव और भोग की सामग्री भी उन्हें लुभा न सकी।

पूर्व भव

श्रावस्ती नगरी के अधिपति दृढ़राज्य[2] बड़े प्रभावशाली नरेश थे। उनकी धर्म-प्राण महारानी का नाम सुषेणा था। सुषेणा माता के गर्भ में तीर्थकर प्रभु अवतार लेने वाले हैं, इस बात की सूचना देने के लिये ही मानो गर्भावतरण से छह माह पूर्व से ही रत्नवृष्टि होना प्रारम्भ होगई। फाल्गुन शुक्ला अष्टमी के प्रातःकाल माता सुषेणा ने सोलह स्वप्न देखे। इन स्वप्नों के बाद में उन्होंने स्वप्न में देखा कि एक विशालकाय हाथी उनके मुख में प्रवेश कर रहा है। उन्होंने पति देव से स्वप्नों की चर्चा की। महाराज हर्षित होकर स्वप्न-फल बताते हुए बोले—देवी! त्रिलोकीनाथ तीर्थकर भगवान हमारे पुण्योदय से हमारे घर में जन्म लेने वाले हैं। महारानी को सुनकर बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। उसी रात्रि को उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव उनके गर्भ में आया।

गर्भकल्याणक

नौ माह व्यतीत होने पर कार्तिक शुक्ला पूर्णमासी[3] के दिन मृगशिरा नक्षत्र और सौम्य योग में मति-श्रुत-अवधि ज्ञानधारी पुत्र का जन्म हुआ। इन्द्रों और देवों ने भगवान का जन्म-महोत्सव मनाया, उन्हें सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया। फिर बाल प्रभु को श्रावस्ती के राज प्रासादों में लाकर सौधर्म इन्द्र ने उनका नाम 'संभव' रक्खा और वहाँ आनन्द नाटक करके देवों के साथ स्वर्ग चला गया। आपका घोड़े का चिन्ह था।

जन्म कल्याणक

कुमार संभव दिव्य सुखों का भोग करते थे। दिव्य वस्त्रालंकार धारण करते थे। युवावस्था में पिता ने उनका राज्याभिषेक करके दीक्षा धारण कर ली। अब महाराज संभवकुमार प्रजा का पालन करने लगे। उनकी पत्नी अत्यन्त सुन्दर और सुशील थी। उन्हें मनवांछित सुख प्राप्त थे।

---

१. श्वेताम्बर मान्यतानुसार सप्तम ग्रैवेयक

२. तिलोयपण्णत्ती के अनुसार पिता का नाम जितारि और माता का नाम सुसेना, श्वेताम्बर मान्यतानुसार पिता जितारि और माता का नाम सेनादेवी था।

३. उत्तर पुराण के अनुसार। तिलोयपण्णत्ती के अनुसार मंगसिर शुक्ला १५।
श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार मंगसिर शुक्ला १४।

प्रभु एक दिन अपने प्रासाद की छत पर बैठे हुए थे। सुहावना मौसम था। शीतल पवन बह रहा था। आकाश में मेघ आँखमिचौनी करते डोल रहे थे। तभी यकायक मेघ न जाने, कहाँ विलीन होगये। भगवान के मन में विचार आया-जीवन और वैभव, भोग और संसार के सम्पूर्ण पदार्थ इन चंचल बादलों के समान क्षणभंगुर हैं। जीवन के अमोल क्षण इन भोगों में ही बीते जा रहे हैं, अब मुझे आत्म-कल्याण करना है और इस जन्म-मरण के पाश को सदा के लिये काटना है।

निष्क्रमण कल्याणक

तभी पांचवें स्वर्ग की आठों दिशाओं में रहने वाले लौकान्तिक देव आये और उन्होंने भगवान के वैराग्य की सराहना की और भगवान की स्तुति करके लौट गये।

भगवान ने अपने पुत्र को राज्य देकर दीक्षा के लिये देवों द्वारा लाई हुई सिद्धार्थ पालकी में प्रस्थान किया और नगर के बाहर सहेतुक वन में शालमली वृक्ष के नीचे एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। वे दीक्षा लेकर ध्यानारूढ़ हो गये। दूसरे दिन आहार के लिये वे श्रावस्ती नगरी में पधारे और सुरेन्द्रदत्त नामक राजा ने उन्हें पड़गाह कर आहार दिया। भगवान के प्रताप से देवों ने पंचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान संभवनाथ चौदह वर्ष तक विभिन्न स्थानों पर विहार करके तप करते रहे। तदनन्तर वे दीक्षा वन में पहुँचे और कार्तिक कृष्णा चतुर्थी के दिन मृगशिर नक्षत्र में चार घातिया कर्मों का नाश करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त हुए, चारों प्रकार के देवों ने आकर भगवान का कैवल्य महोत्सव किया और केवलज्ञान की पूजा की। भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि समवसरण में इसी दिन खिरी।

भगवान के मुख्य गणधर का नाम चारुषेण था। उनके गणधरों की कुल संख्या १०५ थी। उनके संघ में २१५० पूर्वधारी, १२९३०० उपाध्याय, ९६०० अवधिज्ञानी, १५००० केवल ज्ञानी, १९८०० विक्रिया-ऋद्धिधारी, १२१५० मनःपर्ययज्ञानी, १२००० वादी मुनि थे। इस प्रकार मुनियों की कुल संख्या दो लाख थी, आर्यिकायें तीन लाख बीस हजार थीं। उनके अनुयायी श्रावकों की संख्या तीन लाख तथा श्राविकायें पांच लाख थीं। भगवान ने आर्य देशों में विहार करके धर्म की देशना दी। अनेक जीवों ने उनका उपदेश सुनकर कल्याण किया।

भगवान का परिकर

निर्वाण महोत्सव—आयु का जब एक माह अवशिष्ट रह गया, तब भगवान ने एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर प्रतिमायोग धारण कर लिया और चैत्र शुक्ला षष्ठी को सम्पूर्ण अवशिष्ट अघातिया कर्मों का नाश करके निर्वाण प्राप्त किया। मनुष्यों और देवों ने वहाँ आकर भगवान का निर्वाण महोत्सव मनाया।

यक्ष यक्षिणी—आपका श्रीमुख यक्ष और प्रज्ञप्ति यक्षिणी थी।

श्रावस्ती—यह उत्तर प्रदेश में बलरामपुर-बहराइच रोड के किनारे है। बलरामपुर से बस, टैक्सी और जीप भी मिलती हैं। अयोध्या से गोंडा होते हुए यह ६८ मील है।

प्राचीन भारत में कोशल जनपद था। कोशल के दक्षिणी भाग की राजधानी अयोध्या थी और उत्तर कोशल की राजधानी श्रावस्ती थी। महावीर के काल में यहाँ का राजा प्रसेनजित था। जब महावीर बाईस वर्ष के थे, उस समय यहाँ भयंकर बाढ़ आई। अचिरावती (ताप्ती) के किनारे अनाथपिण्डद सेठ सुदत्त की अठारह करोड़ मुद्रायें गढ़ी थीं। बाढ़ में वे सब बह गयीं।

यहाँ जितशत्रु नरेश के पुत्र मृगध्वज ने मुनि-दीक्षा ली और यहीं पर उनका निर्वाण हुआ। (हरिवंश पुराण २८।२९)

सेठ नागदत्त ने स्त्री-चरित्र से खिन्न होकर मुनि-व्रत धारण किये और यहीं से मुक्त हुए। (करकण्डु चरिउ)

इस प्रकार यह सिद्धक्षेत्र भी है।

यह उस समय व्यापारिक केन्द्र था और बड़ा समृद्ध नगर कहलाता था। इसकी यह समृद्धि १२-१३ वीं शताब्दी तक ही रही। महमूद गजनवी भारत के अनेक नगरों को लूटता और जलाता हुआ जब गजनी लौट गया

तो वह अपने पीछे अपने भानजे सैयद सालार मसऊद गाजी को वहुत बड़ी सेना देकर अवध-विजय के लिये छोड़ गया। वह अवध को जीतता हुआ वहराइच तक पहुँच गया। उस समय श्रावस्ती का राजा सुहलदेव अथवा सुहृद्ध्वज था। वह जैन था। जैन युद्ध में कभी पीछे नहीं हटे। सुहलदेव भी सेना सजाकर कौड़ियाला के मैदान में पहुँचा। गाजी और सुहलदेव का वहाँ डटकर मोर्चा हुआ। इस युद्ध में सन् १०३४ में सैयद सालार और उसकी सारी फौज सुहलदेव के हाथों मारी गई। जैन राजा जितने अहिंसक होते थे, उतने देशभक्त और वीर भी होते थे। किसी जैन राजा ने कभी देश के प्रति विश्वासघात किया हो अथवा युद्ध से मुह मोड़ कर भागा हो, ऐसा एक भी उदाहरण इतिहास में नहीं मिलता।

कभी यह नगरी अत्यन्त समृद्ध थी। किन्तु आततताइयों ने या प्रकृति ने इसे खण्डहर के रूप में परिवर्तित कर दिया। ये खण्डहर सहेट महेट नाम से मीलों में विखरे पड़े हैं। यहाँ पुरातत्व विभाग की ओर से कई वार खुदाई हो चुकी है। फलत: यहाँ महत्त्वपूर्ण पुरातत्व सामग्री निकली है। इस सामग्री में जैन स्तूपों और

पुरातत्त्व

मन्दिरों के अवशेष, मूर्तियाँ, ताम्रपत्र आदि भी निकले हैं। सहेट भाग में प्राय: वौद्ध सामग्री मिली है और महेट भाग में प्राय: जैन सामग्री। यह सामग्री ईसा पूर्व चौथी शताव्दी से लेकर वारहवीं शताव्दी तक की है। इमलिया दरवाजे के निकट भगवान सम्भवनाथ का जीर्ण शीर्ण मन्दिर खड़ा है। यह अव सोभनाथ का मन्दिर कहलाता है, जो संभवनाथ का ही विकृत रूप है। खुदाई के समय यहाँ अनेक जैन मूर्तियाँ मिली थीं। इनके अतिरिक्त चैत्यवृक्ष, शासन देवताओं की मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई थी। ये सव प्राय: ११-१२ वीं शताव्दी की हैं। पुरातत्त्ववेत्ताओं की मान्यता है कि यहाँ आसपास अठारह जैन मन्दिर थे, जिनके अवशेषों पर अव झाड़ियाँ और पेड़ उग आये हैं। कुछ लोगों की मान्यता है कि चन्द्रप्रभ भगवान का जन्म स्थान यहीं पर था।

यहाँ वौद्धों के तीन नवीन मन्दिर वन चुके हैं और वैशाखी पूर्णिमा को उनका मेला लगता है, जिसमें अनेक देशों के बौद्ध आते हैं।

पंचम परिच्छेद

भगवान अभिनंदननाथ

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर मंगलावली नाम का एक देश था। उसमें रत्न-संचय नामक नगर में महाबल नाम का एक राजा था। वह कीर्ति, सरस्वती और लक्ष्मी तीनों का ही स्वामी था।

पूर्व भव

एक दिन उसने आत्म-कल्याण की भावना से राजपाट अपने पुत्र धनपाल को सौंपकर विमल-वाहन नामक मुनिराज के पास संयम धारण कर लिया। कुछ ही काल में वह ग्यारह अंगों का पाठी हो गया। उसने सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको अपने जीवन में मूर्त रूप दिया। अतः उसे तीर्थकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में उसने समाधिमरण किया और विजय नामक पहले अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ।

अयोध्या नगरी का इक्ष्वाकु वंशी काश्यपगोत्री स्वयंवर नामक एक राजा था। उसकी पटरानी का नाम सिद्धार्था था। भगवान के गर्भावतरण से छह माह पूर्व से देवों ने रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। वैशाख शुक्ला

गर्भावतरण

षष्ठी को पुनर्वसु नक्षत्र में महारानी को सोलह स्वप्न दिखाई दिए। स्वप्नों के पश्चात् उसने अपने मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। उसी समय विजय विमान से वह अहमिन्द्र अपनी आयु पूर्ण करके उसके गर्भ में आया। पति से स्वप्नों का फल सुनकर महारानी अत्यन्त सन्तुष्ट हुई।

नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला द्वादशी को अदिति योग में माता ने पुत्र उत्पन्न किया। इन्द्रों और देवों ने आकर सुमेरु पर्वत पर ले जाकर एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने बाल प्रभ का

जन्म कल्याणक

शृंगार किया। उनकी भुवनमोहिनी छवि को हजार नेत्र बनाकर सौधर्मेन्द्र देखता रहा और भक्ति में विह्वल होकर उसने तांडव नृत्य किया। फिर वहाँ से लौटकर देव भगवान को अयोध्या लाये। इन्द्र ने बाल प्रभु को माता-पिता को सौंपकर आनन्द मनाया और बालक का नाम 'अभिनन्दननाथ' रखकर सब देवों के साथ वह स्वर्ग को वापिस चला गया। उनका जन्म लांछन बन्दर था।

यौवन प्राप्त होने पर उनका विवाह पिता ने सुन्दर राजकन्याओं के साथ कर दिया और उनका राज्याभिषेक करके मुनि-दीक्षा लेली। महाराज अभिनन्दन नाथ राज्य-कार्य करने लगे। एक दिन वे आकाश में मेघों की

दीक्षा कल्याणक

शोभा देख रहे थे। मेघों में गन्धर्व नगर का आकार बना हुआ दीख पड़ा। थोड़ी देर में वह आकार नष्ट हो गया। मेघ भी विलीन हो गये। प्रकृति की इस चंचलता का प्रभाव भगवान के मन पर पड़ा। वे चिन्तन में डूब गये—संसार के भोगों की यही दशा है। ये शाश्वत नहीं है, क्षणिक हैं। इनमें सुख नहीं, सुख की कल्पना मात्र है। आत्मा का सुख ही शाश्वत है, वही वास्तविक है। मुझे उसी शाश्वत के लिये प्रयत्न करना है।

तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की पूजा की और उनके संकल्प की सराहना की। देवों ने भगवान का निष्क्रमण कल्याणक मनाया। भगवान हस्तचित्रा नामक पालकी में विराजमान होकर नगर के बाहर अग्र उद्यान में पधारे। वहाँ उन्होंने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन अपने जन्म-नक्षत्र के समय एक हजार राजाओं के साथ शालमली वृक्ष के नीचे जिन-दीक्षा धारण कर ली और ध्यान लगाकर बैठ गये। दूसरे दिन वे पारणा के निमित्त

अयोध्या नगरी में पधारे। वहाँ इन्द्रदत्त ने आहार-दान देकर पुण्योपार्जन किया। देवों ने पंचाश्चर्य किये।

भगवान ने अठारह वर्ष तक मौन रहकर विभिन्न स्थानों में विहार किया। वे नाना प्रकार के तप करते रहे। एक दिन भगवान दीक्षा-वन में असन वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हो गये। तभी पौष शुक्ला चतुर्दशी के दिन शाम के समय पुनर्वसु नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तभी देवों और इन्द्रों ने आकर उनकी पूजा की। समवसरण की रचना हुई। उसमें गन्धकुटी में बैठकर भगवान की दिव्य देशना प्रगट हुई।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान का परिकर—भगवान के परिकर में वज्रनाभि आदि १०३ गणधर थे। २५०० पूर्वधारी, २३००५० शिक्षक, ९८०० अवधिज्ञानी, १६००० केवलज्ञानी, १९००० विक्रियाऋद्धिधारी, ११६५० मनःपर्ययज्ञानी और ११००० प्रचण्ड वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या तीन लाख थी। इनके अतिरिक्त ३३०६०० अर्जिकायें, ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायें थीं।

दीर्घ काल तक भगवान ने समस्त देशों में विहार करके उपदेश दिया और असंख्य जीवों का कल्याण किया। जब आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेदशिखर पर पधारे। वे एक माह तक ध्यानारूढ़ रहे। अन्त में उन्होंने वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन प्रातःकाल के समय पुनर्वसु नक्षत्र में अनेक मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

निर्वाण कल्याणक

भगवान संभवनाथ का तीर्थ भगवान अभिनन्दननाथ की केवलज्ञान-प्राप्ति तक रहा। जब भगवान अभिनन्दननाथ की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी, तबसे उनका तीर्थ प्रवृत्त हुआ। तीर्थंकर का धर्म-चक्र-प्रवर्तन ही तीर्थ प्रवर्तन कहलाता है।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक यक्ष का नाम यक्षेश्वर और यक्षिणी का नाम वज्रशृंखला था।

पंचम परिच्छेद

भगवान अभिनंदननाथ

जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर मंगलावली नाम का एक देश था। उसमें रत्न-संचय नामक नगर में महावल नाम का एक राजा था। वह कीर्ति, सरस्वती और लक्ष्मी तीनों का ही स्वामी था।

पूर्व भव

एक दिन उसने आत्म-कल्याण की भावना से राजपाट अपने पुत्र धनपाल को सौंपकर विमल-वाहन नामक मुनिराज के पास संयम धारण कर लिया। कुछ ही काल में वह ग्यारह अंगों का पाठी हो गया। उसने सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करते हुए उनको अपने जीवन में मूर्त रूप दिया। अतः उसे तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में उसने समाधिमरण किया और विजय नामक पहले अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ।

अयोध्या नगरी का इक्ष्वाकु वंशी काश्यपगोत्री स्वयंवर नामक एक राजा था। उसकी पटरानी का नाम सिद्धार्था था। भगवान के गर्भावतरण से छह माह पूर्व से देवों ने रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। वैशाख शुक्ला

गर्भावतरण

षष्ठी को पुनर्वसु नक्षत्र में महारानी को सोलह स्वप्न दिखाई दिए। स्वप्नों के पश्चात् उसने अपने मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। उसी समय विजय विमान से वह अहमिन्द्र अपनी आयु पूर्ण करके उसके गर्भ में आया। पति से स्वप्नों का फल सुनकर महारानी अत्यन्त सन्तुष्ट हुई।

नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला द्वादशी को अदिति योग में माता ने पुत्र उत्पन्न किया। इन्द्रों और देवों ने आकर सुमेरु पर्वत पर ले जाकर एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने बाल प्रभ का

जन्म कल्याणक

शृंगार किया। उनकी भुवनमोहिनी छवि को हजार नेत्र वनाकर सौधर्मेन्द्र देखता रहा और भक्ति में विह्वल होकर उसने तांडव नृत्य किया। फिर वहाँ से लौटकर देव भगवान को अयोध्या लाये। इन्द्र ने वाल प्रभु को माता-पिता को सौंपकर आनन्द मनाया और बालक का नाम 'अभिनन्दननाथ' रखकर सब देवों के साथ वह स्वर्ग को वापिस चला गया। उनका जन्म लांछन वन्दर था।

यौवन प्राप्त होने पर उनका विवाह पिता ने सुन्दर राजकन्याओं के साथ कर दिया और उनका राज्या-भिषेक करके मुनि-दीक्षा लेली। महाराज अभिनन्दन नाथ राज्य-कार्य करने लगे। एक दिन वे आकाश में मेघों की

दीक्षा कल्याणक

शोभा देख रहे थे। मेघों में गन्धर्व नगर का आकार बना हुआ दीख पड़ा। थोड़ी देर में वह आकार नष्ट हो गया। मेघ भी विलीन हो गये। प्रकृति की इस चंचलता का प्रभाव भगवान के मन पर पड़ा। वे चिन्तन में डूब गये—संसार के भोगों की यही दशा है। ये शाश्वत नहीं है, क्षणिक हैं। इनमें सुख नहीं, सुख की कल्पना मात्र है। आत्मा का सुख ही शाश्वत है, वही वास्तविक है। मुझे उसी शाश्वत के लिये प्रयत्न करना है।

तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की पूजा की और उनके संकल्प की सराहना की। देवों ने भगवान का निष्क्रमण कल्याणक मनाया। भगवान हस्तचित्रा नामक पालकी में विराजमान होकर नगर के वाहर अग्र उद्यान में पधारे। वहाँ उन्होंने माघ शुक्ला द्वादशी के दिन अपने जन्म-नक्षत्र के समय एक हजार राजाओं के साथ शालमली वृक्ष के नीचे जिन-दीक्षा धारण कर ली और ध्यान लगाकर वैठ गये। दूसरे दिन वे पारणा के निमित्त

अयोध्या नगरी में पधारे। वहाँ इन्द्रदत्त ने आहार-दान देकर पुण्योपार्जन किया। देवों ने पंचाश्चर्य किये।

भगवान ने अठारह वर्ष तक मौन रहकर विभिन्न स्थानों में विहार किया। वे नाना प्रकार के तप करते रहे। एक दिन भगवान दीक्षा-वन में असन वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हो गये। तभी पौष शुक्ला चतुर्दशी के दिन शाम के समय पुनर्वसु नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तभी देवों और इन्द्रों ने आकर उनकी पूजा की। समवसरण की रचना हुई। उसमें गन्धकुटी में बैठकर भगवान की दिव्य देशना प्रगट हुई।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान का परिकर—भगवान के परिकर में वज्रनाभि आदि १०३ गणधर थे। २५०० पूर्वधारी, २३००५० शिक्षक, ९८०० अवधिज्ञानी, १६००० केवलज्ञानी, १९००० विक्रियाऋद्धिधारी, ११६५० मनः पर्यय-ज्ञानी और ११००० प्रचण्ड वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या तीन लाख थी। इनके अतिरिक्त ३३०६०० अर्जिकायें, ३००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायें थीं।

दीर्घ काल तक भगवान ने समस्त देशों में विहार करके उपदेश दिया और असंख्य जीवों का कल्याण किया। जब आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेदशिखर पर पधारे। वे एक माह तक ध्यानारूढ़ रहे। अन्त में उन्होंने वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन प्रातःकाल के समय पुनर्वसु नक्षत्र में अनेक मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

निर्वाण कल्याणक

भगवान संभवनाथ का तीर्थ भगवान अभिनन्दननाथ की केवलज्ञान-प्राप्ति तक रहा। जब भगवान अभिनन्दननाथ की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी, तबसे उनका तीर्थ प्रवृत्त हुआ। तीर्थंकर का धर्म-चक्र-प्रवर्तन ही तीर्थ प्रवर्तन कहलाता है।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक यक्ष का नाम यक्षेश्वर और यक्षिणी का नाम वज्रशृंखला था।

षष्ठ परिच्छेद

भगवान सुमतिनाथ

धातकी खण्ड द्वीप में पूर्व मेरु पर्वत से पूर्व की ओर स्थित विदेह क्षेत्र में सीतानदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नामक एक देश था। उसमें पुण्डरीकिणी नाम की एक नगरी थी, जिसमें रतिषेण नाम का राजा राज्य करता था। उसने खूब धन अर्जित किया और खूब धर्म करता था। एक दिन उसने विचार किया—अर्थ और काम से तो सुख मिल नहीं सकता। सुख केवल धर्म से ही प्राप्त हो सकता है। अतः उसने अपने पुत्र अतिरथ को राज्य सौंपकर मुनि-दीक्षा लेली और भगवान अभिनन्दन के चरण मूल में उसने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया तथा सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन और व्यवहार करने से तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। आयु के अन्त में समाधिमरण करके वैजयन्त विमान में वह अहमिन्द्र बना।

पूर्व भव

अयोध्या नगरी के राजा का नाम मेघरथ[1] था। वह भगवान ऋषभदेव के वंश और गोत्र का था। उसकी पटरानी मंगला थी। भगवान के गर्भावतार से छह माह पहले से उनके प्रासाद में रत्नवर्षा हुई जो पन्द्रह माह तक होती रही। एक दिन रानी ने श्रावण शुक्ला द्वितीया को मघा नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे। तदनन्तर उन्होंने अपने मुख में एक विशालकाय हाथी प्रवेश करते हुए देखा। महाराज ने महारानी के मुख से स्वप्नों की बात सुनकर हर्षपूर्वक कहा—देवि! तुम्हारी कुक्षि में तीर्थंकर प्रभु ने अवतार लिया है। स्वप्न का फल सुनकर महारानी को बड़ी प्रसन्नता हुई। वह अहमिन्द्र ही उनके गर्भ में आया था।

गर्भ कल्याणक

नौ माह पूर्ण होने पर चैत्र शुक्ला एकादशी को मघा नक्षत्र में महारानी मंगला ने तीन ज्ञान के धारी त्रिभुवनपति को जन्म दिया। चारों निकाय के देव और इन्द्र वहाँ आये। उन्होंने भगवान के दर्शन करके अपना जन्म सफल माना। वे बालक प्रभु को ऐरावत हाथी पर विराजमान करके सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ उन्होंने पाण्डुक शिला पर विराजमान करके क्षीर सागर के जल से भगवान का अभिषेक किया। इन्द्र ने भगवान की भक्ति करके उनका नाम सुमतिनाथ रखा। चक्रवाक पक्षी इनका चिन्ह था।

जन्म कल्याणक

भगवान धीरे-धीरे दूज के चन्द्रमा की भाँति बढ़ने लगे। वे रूप में कामदेव को लज्जित करते थे। इस प्रकार क्रमशः वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए। पिता मेघरथ ने आत्मकल्याण के लिये अपने त्रिलोक के गुरु पुत्र को राज्य देकर मुनि-दीक्षा ले ली। भगवान ने न्यायपूर्वक राज्य चलाया। अनेक स्त्रियों के साथ सांसारिक भोग भोगे। वे इन्द्र द्वारा भेजे गये अशन वसन आदि का भोग करते थे। इस प्रकार राज्य भोग करते हुए बहुत समय बीत गया।

एक दिन भगवान बैठे हुए चिन्तन में लीन थे। उन्होंने अपने पूर्व जन्मों का स्मरण किया—मैं पूर्वजन्म में

---

१. तिलोयपण्णत्ती के अनुसार मेघप्रभ नाम था।

सप्तम परिच्छेद

भगवान पद्मप्रभ

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स देश था। उसमें सुसीमा नामक एक नगर था। उसके अधिपति महाराज अपराजित थे। उनके राज्य में प्रजा खूब सुखी और समृद्ध थी। उन्होंने वहुत समय तक सांसारिक भोग भोगे। एक दिन उनके मन में विचार आया कि संसार में समस्त पर्याय क्षणभंगुर हैं। सुख पर्यायों द्वारा भोगे जाते हैं। पर्याय नष्ट होने पर वह सुख भी नष्ट हो जाता है। अतः संसार के सम्पूर्ण सुख क्षणभंगुर हैं। यह विचार कर उन्होंने अपने पुत्र सुमित्र को राज्य देकर पिहितास्रव जिनेन्द्र के पास जाकर जिन-दीक्षा ले ली। उनके चरणों में उन्होंने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, और षोडश कारण भावनाओं का चिन्तन करके तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध कर लिया। आयु के अन्त में समाधिमरण करके ऊर्ध्वग्रैवेयक के प्रीतिकर विमान में अहमिन्द्र हुए।

पूर्व भव

कौशाम्वी नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्री धरण नामक राजा राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम सुसीमा था। जव उपर्युक्त अहमिन्द्र का जीव उनके गर्भ में आने वाला था, तव उसके पुण्य प्रभाव से गर्भावतरण से छह माह पूर्व से देवों ने महाराज धरण के नगर में रत्न-वृष्टि करना आरम्भ किया जो भगवान के जन्म लेने तक वरावर होती रही। माघ कृष्णा षष्ठी के दिन ब्राह्म मुहूर्त में, जव चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमा का योग हो रहा था, महारानी ने सोलह स्वप्न देखकर मुख में एक हाथी को प्रवेश करते देखा। पति से स्वप्नों का फल जानकर वह वड़ी हर्षित हुई।

गर्भावतरण

गर्भ-काल पूरा होने पर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन त्वष्ट्र योग में लाल कमल की कलिका के समान कान्ति वाले पुत्र को महारानी सुसीमा ने जन्म दिया। पुत्र असाधारण था, लोकोत्तर कान्ति थी, उसका अद्भुत प्रभाव था। इस पुत्र के उत्पन्न होते ही क्षणभर के लिये तीनों लोकों के जीवों को सुख का अनुभव हुआ। उसी समय सौधर्म इन्द्र अन्य इन्द्रों और देवों के साथ आया और वाल भगवान को लेकर सुमेरु पर्वत पर पहुँचा। वहाँ क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और उनका नाम पद्मप्रभ रक्खा। फिर वापिस लाकर माता को सौंपकर आनन्दमग्न होकर नृत्य किया। इनका चिन्ह कमल था।

जन्म कल्याणक

जव उनकी आयु का चतुर्थांश व्यतीत हो गया, तव उन्हें राज्य-शासन प्राप्त हुआ। उनके राज्य में कोई दुखी नहीं था। कोई दरिद्र नहीं था। सव निर्भय और निश्चिन्त थे। सभी लोग सम्पन्न थे।

एक दिन उनके हाथी की मृत्यु हो गई। घटना साधारण थी, किन्तु इस घटना की उनके मन पर जो प्रतिक्रिया हुई, वह भिन्न थी। उन्होंने अवधिज्ञान से हाथी के पिछले भव पर विचार किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है। किन्तु इस जन्म-मरण की श्रृंखला का अन्त क्यों नहीं होता? प्रत्येक जीव सुख चाहता है। किन्तु मृत्यु के पश्चात् जन्म न हो, इसका प्रयत्न विरल ही करते हैं। जो मृत्यु को जीत लेते हैं, उनका पुनः जन्म नहीं होता। मैं अव मृत्युंजय वनने का प्रयत्न करूँगा और अनादिकाल की इस जन्म-मरण की श्रृंखला का उच्छेद करूँगा।

दीक्षा-कल्याणक

वे ये विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की स्तुति की, उनके संकल्प की

सराहना की तथा निवेदन किया-प्रभो ! संसार के प्राणी अज्ञान और मोह में भटक रहे हैं। अब आपकी तीर्थ-प्रवृत्ति का समय आ पहुँचा है। आप उन जीवों को मार्ग दिखलाइये।

भगवान निवृत्ति नामक पालकी में आरूढ़ होकर पभौसा गिरि के मनोहर वन में पहुँचे और वहाँ वेला का नियम लेकर कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी को सन्ध्या समय चित्रा नक्षत्र में दीक्षा ले ली। उनके साथ में एक हजार राजाओं ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। भगवान को संयम ग्रहण करते ही मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन भगवान वर्धमान नगर में चर्या के लिये पहुँचे। वहाँ राजा सोमदत्त ने उन्हें आहार-दान देकर अक्षय पुण्य उपार्जित किया। देवों ने भगवान के आहार-दान के उपलक्ष्य में पंचाश्चर्य किये।

भगवान छह माह तक मौन धारण करके विविध प्रकार के तप करते रहे।

केवलज्ञान कल्याणक—उन्होंने चैत्र शुक्ला पूर्णमासी के दिन अपराण्ह में चित्रा नक्षत्र में शिरीष वृक्ष के नीचे चार घातिया कर्मों का क्षय कर दिया। तभी उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान की पूजा की। कुवेर ने समवसरण की रचना की। भगवान ने पभौसा गिरि पर प्रथम उपदेश देकर तीर्थ-प्रवर्तन किया।

भगवान का संघ

उनके संघ में वज्रचामर आदि ११० गणधर थे। इनके अतिरिक्त २३०० पूर्वधारी, २६९००० शिक्षक, १०००० अवधिज्ञानी, १२००० केवलज्ञानी, १६८०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १०३०० मनःपर्यय ज्ञानी, तथा ९६०० श्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार कुल ३२०००० मुनि उनके संघ में थे। मुनियों के अतिरिक्त रात्रिषेणा आदि ४२०००० अर्जिकायें थीं। उनके श्रावकों की संख्या ३००००० तथा श्राविकाओं की संख्या ५००००० थी।

निर्वाण कल्याणक

भगवान वहुत समय तक विहार करके जीवों को सन्मार्ग का उपदेश देकर उन्हें सन्मार्ग में लगाते रहे। जव आयु में एक माह शेष रह गया, तव भगवान सम्मेद शिखर पहुँचे और उन्होंने योग-निरोध कर प्रतिमा योग धारण कर लिया। अन्त में फाल्गुन कृष्णा चतुर्थी की संध्या को चित्रा नक्षत्र में जन्म-मरण की परम्परा सर्वदा के लिए नष्ट कर दी और वे संसार से मुक्त हो गये। उनके साथ एक हजार मुनि भी मुक्ति पधारे। देवों और इन्द्रों ने आकर निर्वाण महोत्सव मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान पद्मप्रभ के यक्ष का नाम कुसुम और यक्षिणी का नाम मनोवेगा है।

कौशाम्बी

कौशाम्बी नगरी का वर्तमान नाम कोसम है। कोसम नामक दो गांव पास पास हैं—कोसम इनाम और कोसम खिराज। इस गांव का एक नाम कौशाम्वी गढ़ भी है। यहाँ एक पुराना किला यमुना के तट पर वना हुआ है जो प्रायः धराशायी होकर खण्डहर वन चुका है। किन्तु कहीं-कहीं पर अभी तक दीवालें और बुर्ज वने हुए हैं। इसके अवशेष लगभग चार मील में विखरे हुए हैं।

कोसम इलाहावाद से लगभग इकत्तीस मील दूर है। इलाहावाद से यहाँ के लिए अकिलसराय होती हुई वस जाती हैं। वस कोसम के रैस्ट हाउस तक जाती हैं। वहाँ से मन्दिर कच्चे मार्ग से लगभग डेढ़ मील है। रैस्ट हाउस के पांस एक प्राचीन कुआ है जिसका सम्वन्ध अर्जुन के पौत्र परीक्षित और प्रसिद्ध वैद्य धन्वन्तरि से जोड़ा जाता है।

कौशाम्वी का मन्दिर छोटा ही है। इसमें दो गर्भगृह हैं, जिनमें दो सर्वतोभद्रिका प्रतिमायें तथा भगवान पद्मप्रभु के चरण चिन्ह विराजमान हैं। मन्दिर के वाहर धर्मशाला वनी हुई है। मन्दिर के चारों ओर प्राचीन नगर के अवशेष विखरे पड़े हैं। मन्दिर के पीछे एक पाषाण-स्तम्भ है, जिसे अशोक निर्मित कहा जाता है।

यहाँ प्रयाग विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग की ओर से कई वर्ष तक खुदाई हुई थी, जिसमें वहुमूल्य पुरातत्व सामग्री मिली है। चार अखण्डित जैन मूर्तियाँ भी मिली हैं। यहाँ मृण्मूर्तियाँ और मनके वहुत वड़ी संख्या में मिले हैं। यह सव सामग्री प्रयाग संग्रहालय में सुरक्षित है। खुदाई के फलस्वरूप आजीवक सम्प्रदाय का विहार भी निकला है। कहा जाता है, इसमें गोशालक के अनुयायी पांच हजार साधु रहते थे।

कौशाम्वी भारत की प्राचीन नगरियों में मानी जाती है तथा यह वत्स देश की राजधानी थी। यहाँ अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक घटनायें हुई हैं। भगवान नेमिनाथ ने जव जरत्कुमार के हाथों से नारायण कृष्ण की मृत्यु और द्वैपायन ऋषि के शाप से द्वारका के भस्म होने की भविष्यवाणी की तो दुर्निवार भवितव्य को टालने के लिये

जरत्कुमार और द्वैपायन ऋषि दोनों ही द्वारका से दूर चले गये। एक वार वलभद्र वलराम और नारायण कृष्ण भ्रमण करते हुए इसी वन में आये। यहाँ आकर नारायण को प्यास लगी। वलभद्र जल की तलाश में दूर चले गये, नारायण को नींद आ गई और एक वृक्ष के नीचे सो गये। भील का वेष वनाये हुए जरत्कुमार घूमते हुए उधर ही आ निकला। उसने नारायण के चमकते हुए अंगूठे को दूर से हिरण की आंख समझा। उसने उसको लक्ष्य करके वाण संधान किया। वाण नारायण के लगा, जिससे उनकी मृत्यु हो गई। जव वलभद्र जल लेकर वहाँ आये तो उन्हें अपने प्रिय अनुज की यह दशा देखकर भारी सन्ताप हुआ। वे प्रेम में इतने अधीर हो गये कि वे छह माह तक मृत शरीर को कन्धे से लगाये शोक संतप्त होकर घूमते रहे। अन्त में मागीतुंगी पर जाकर देव द्वारा समझाने पर उस देह का संस्कार किया और वहीं दीक्षा लेकर तप करने लगे।

भगवान महावीर के काल में वैशाली गणतन्त्र के अधिपति चेटक की छोटी पुत्री चन्दनवाला अपहृत होकर यहाँ विकने आई और वात्सल्यवश एक धर्मात्मा सेठ ने उसे खरीद लिया। जव सेठ व्यापार के कार्य से वाहर गये हुए थे, तव सेठानी ने सापत्न्य के झूठे संदेह में पड़कर चन्दना को जंजीरों से वाँध दिया, उसके वाल काट दिये और खाने को सूप में वाकले दे दिये। तभी भगवान महावीर आहार के निमित्त उधर पधारे और चन्दना ने भक्तिवश वे ही वाकले भगवान को आहार में दिये। तीर्थंकर के पुण्य प्रभाव से चन्दना के वन्धन कट गये। देवताओं ने रत्न-वर्षा की। भगवान आहार लेकर चले गये। कुछ समय पश्चात् चन्दना ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ले ली और उनके आर्यिका-संघ की मुख्य गणिनी वनी।

इसी काल में कौशाम्वी पर उदयन शासन कर रहा था, जो अर्जुन की अठारहवीं पीढ़ी में कहलाता है। उदयन के कई विवाह हुए। उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता के साथ उसका प्रेम-विवाह हुआ, जिसको लेकर संस्कृत भाषा में अनेक काव्यों की रचना हुई है। उदयन जितना वीर था, उतना कला-मर्मज्ञ भी था। वह अपनी मंजुघोषा वीणा पर जव उंगली चलाता था तो उसकी ध्वनि पर पशु-पक्षी तक खिंचे चले आते थे। वह महावीर भगवान का भक्त था और अन्त में जैन विधि से उसने सन्यास मरण किया।

उसके काल में कौशाम्वी धन धान्य से अत्यन्त समृद्ध था और व्यापारिक केन्द्र था। जल और स्थल मार्गों द्वारा इसका व्यापार सुदूर देशों से होता था। इतिहासकार इस काल की कौशाम्वी को भारत का मांचेस्टर कहते हैं।

काल ने इस समृद्ध नगरी को एक दिन खण्डहर वना दिया।

पभौसा

पभौसा का दूसरा नाम प्रभासगिरि भी था। प्राचीन काल में यह कौशाम्वी नगरी का वन था। इसी में भगवान पद्मप्रभु ने दीक्षा ली थी और इसी वन में उन्हें केवल-ज्ञान हुआ था। यह जमुना के किनारे अवस्थित है। यह एक छोटी सी पहाड़ी है। यह कौशाम्वी से जमुना के रास्ते छह मील दूर है। यहाँ जाने के लिये कोसम से नाव मिलती हैं।

प्राचीन काल में यह जैन धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। यहाँ प्राचीन जैन मन्दिर पहाड़ी के ऊपर था। कहते हैं, उसके सामने एक मान स्तम्भ भी था। वहीं भट्टारक ललितकीर्ति की गद्दी थी। पहाड़ी की तलहटी में कई दिगम्वर जैन मन्दिर थे। कहते हैं, संवत् १८२५ में विजली गिर जाने से मन्दिर आदि को काफी क्षति हुई थी। फिर भट्टारक वाले स्थान पर संवत् १८८१ में पंच कल्याणक प्रतिष्ठापूर्वक पद्मप्रभ की प्रतिमा विराजमान की गई। इस सम्वन्ध में जो शिलालेख मिलता है, उसका आशय निम्न प्रकार है—

संवत् १८८१ मिती मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी शुक्रवार को भट्टारक श्री जगतकीर्ति उनके पट्टधर भट्टारक श्री ललितकीर्ति जी उनके आम्नाय में गोयल गोत्री प्रयाग नगरवासी साधु श्री रावजीमल के लघुभ्राता फेरुमल उनके पुत्र साधु श्री माणिकचन्द्र उनके पुत्र साधु श्री हीरामल ने कौशाम्वी नगर के वाहर प्रभास पर्वत पर जो पद्मप्रभ भगवान का दीक्षा कल्याणक क्षेत्र है, जिन विम्व प्रतिष्ठा कराई—अंग्रेज वहादुर के राज्य में।

किन्तु इसके वाद फिर यहाँ एक भयानक दुर्घटना होगई। वीर संवत् २४५७ भाद्रपद कृष्णा ६ को रात्रि में इस मन्दिर पर पहाड़ के तीन वजनी टुकड़े गिर पड़े। इससे मन्दिर और मानस्तम्भ दोनों नष्ट हो गये और जो

भवन यहाँ पर थे, वे भी नष्ट हो गये। किन्तु इसे एक चमत्कार ही कहना चाहिए कि प्रतिमायें सुरक्षित रहीं।

अब पहाड़ पर एक कमरे में प्रतिमायें विराजमान हैं तथा पहाड़ की तलहटी में एक कम्पाउण्ड के भीतर धर्मशाला (जीर्ण शीर्ण दशा में) तथा कुआ है। धर्मशाला के ऊपर एक छोटा मन्दिर है, जिसमें प्राचीन प्रतिमायें हैं। धर्मशाला के एक कमरे में इधर उधर खेतों आदि में मिली कुछ प्राचीन खण्डित अखण्डित प्रतिमायें रक्खी हुई हैं।

पहाड़ के ऊपर-मन्दिर से काफी ऊंचाई पर, एक शिला में चार खड्गासन प्रतिमायें उकेरी हुई हैं जो सिद्ध-प्रतिमा कही जाती हैं। दाई ओर ऊपर को देखने पर एक गुफा दिखाई पड़ती है। प्राचीन काल में यह गुफा दिगम्बर जैन साधुओं के ध्यान और तपस्या के काम में आती थी। इस गुफा में शिलालेख भी उपलब्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त यहाँ आयागपट्ट भी मिला था जो अभिलिखित है। अभिलेख के अनुसार राजा शिवमित्र के १२ वें संवत् में शिवनन्दि की स्त्री शिष्या स्थविरा बलदासा के कहने से शिवपालित ने अर्हन्तों की पूजा के लिए यह आयागपट्ट[1] स्थापित किया।

गुफा के बाहर जो लेख पढ़ा गया है, उसका आशय यह है

'काश्यपी अर्हन्तों के संवत्सर १० में आषाढ़सेन ने यह गुफा बनवाई, यह गोपाली और वैहिदरी का पुत्र था व गोपाली के पुत्र बहसतिमित्र राजा का मामा था। यह काश्यप गोत्र महावीर स्वामी का था।

गुफा के भीतर भी एक अभिलेख है, जिसका भाव इस प्रकार है—

'अहिच्छत्रा के राजा शौनकायन के पुत्र वंगपाल, उसकी रानी त्रिवेणी, उसके पुत्र भागवत, उसकी स्त्री वैहिदरी, उसके पुत्र आषाढ़सेन ने बनवाई।

उपर्युक्त आषाढ़सेन ई० सन् के प्रारम्भ में उत्तर पांचाल का राजा था। उक्त लेख में आषाढ़सेन को बहसतिमित्र (बृहस्पतिमित्र) का मामा बतलाया है।

यहाँ शुंग काल में स्थापत्य और मूर्तिकला की बड़ी उन्नति हुई थी। जिन शुंगकालीन शासकों के सिक्के इस प्रदेश में मिले हैं, उनके नाम अग्निमित्र, भानुमित्र, भद्रघोष, जेठमित्र, भूमिमित्र आदि हैं।

शुंगों के बाद यहाँ मघवंशीय स्थानीय शासकों का अधिकार रहा। इन राजाओं के लेख और सिक्के यहाँ बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं।

शुंगवंश की प्रधान शाखा का अन्त ई० पू० १०० के लगभग हो गया। किन्तु उसकी अन्य कई शाखायें शासन करती रहीं। उनके केन्द्र थे अहिच्छत्रा, विदिशा, मथुरा, अयोध्या और पभौसा।

मथुरा में अनेक मित्रवंशीय राजाओं के सिक्के मिले हैं, जैसे गोमित्र, ब्रह्ममित्र, दृढ़मित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र।

---

१. सिद्धम् राज्ञो शिवमित्रस्य संवच्छरे १०-२ खम
थाविरस बलदास स निवर्तन साए शिवनंदिस अंतेवासिस
शिवपालितन आयागपट्टो थापयति अरहन पूजायै

अष्टम परिच्छेद

भगवान सुपार्श्वनाथ

धातकी खण्ड द्वीप में सीता नदी के उत्तर तट पर सुकच्छ नाम का देश था। उसके क्षेमपुर नगर में नन्दिषेण नामक राजा राज्य करता था। वह बड़ा नीतिनिपुण, प्रतापी और न्यायवान राजा था। जब भोग भोगते हुए उसे बहुत समय बीत गया तो एक दिन वह भोगों से विरक्त हो गया। उसने अपने पुत्र धनपति को राजसिंहासन पर प्रतिष्ठित करके अनेक राजाओं के साथ अर्हन्नन्दन मुनि से दीक्षा ले ली। फिर ग्यारह अंग का धारी होकर दर्शन विशुद्धि आदि सोलह भावनाओं द्वारा तीर्थङ्कर नाम कर्म का बन्ध किया और आयु के अन्त में सन्यास मरण कर मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र विमान में अहमिन्द्र हुआ।

पूर्व भव

काशी देश में वाराणसी नामक एक नगरी थी। उसमें सुप्रतिष्ठ महाराज राज्य करते थे। वे इक्ष्वाकुवंशी थे। उनकी महारानी पृथ्वीषेणा थी। उनके आंगन में देवों ने गर्भावतरण से पूर्व छह माह तक रत्नवर्षा की। महारानी ने भाद्रपद शुक्ला षष्ठी को विशाखा नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह शुभ स्वप्न देखे। उसके बाद उन्होंने मुख में एक हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय वह अहमिन्द्र अपनी आयु पूर्ण कर महारानी के गर्भ में आया। पति के मुख से स्वप्नों [का फल जानकर रानी बड़ी हर्षित हुई। देवों ने गर्भावस्था के पूरे समय उनके आंगन में रत्न वृष्टि की और भगवान का गर्भ कल्याणक मनाया।

गर्भ कल्याणक

ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन अग्निमित्र नामक शुभयोग में महारानी ने तीनों लोकों के गुरु महान् पुत्र को जन्म दिया। इन्द्रों और देवों ने सुमेरु पर्वत के शिखर पर उनका जन्माभिषेक किया, सबने भगवान के चरणों में अपने मस्तक झुकाये और उनका नाम सौधर्मेन्द्र ने 'सुपार्श्व' रक्खा। उनका चिन्ह स्वस्तिक था। शरीर का वर्ण हरित था।

जन्म कल्याणक

जब कुमार काल व्यतीत हो गया तो पिता ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। इन्द्र उनके मनोरंजन के लिये नाना प्रकार के उपाय करता था। उन्हें सभी प्रकार का सुख प्राप्त था। सुख के साधन तो सभी थे, किन्तु तीर्थंकरों को आठ वर्ष की आयु में देशसंयम हो जाता है। इसलिए भगवान की वृत्ति संयमित थी। उनके तीन ज्ञान थे।

एक दिन भगवान को ऋतु-परिवर्तन देखकर मन में विचार उठा-संसार की यही दशा है। सब क्षण-स्थायी है। राज्यलक्ष्मी भी इसी प्रकार एक दिन नष्ट हो जाने वाली है। मैं अब तक व्यर्थ ही इनके मोह में अटका रहा। मैंने आत्म-कल्याण में व्यर्थ ही विलम्ब किया। लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की स्तुति की। भगवान अपने पुत्र को राज्य सौंपकर देवों द्वारा उठाई हुई मनोगति नामक पालकी में चढ़ कर सहेतुक वन में जा पहुँचे और वहाँ ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को सन्ध्या समय विशाखा नक्षत्र में वेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ संयम ग्रहण कर लिया। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

दीक्षा-कल्याणक

दूसरे दिन चर्या के लिए वे सोमखेट नगर में पहुँचे। वहाँ महेन्द्रदत्त राजा ने आहार देकर महान पुण्य-लाभ किया।

भगवान नौ वर्ष तक तप करते रहे। तदनन्तर उसी सहेतुक वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर शिरीष वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हो गये और फाल्गुन शुक्ला सप्तमी को विशाखा नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की। वहीं पर समवसरण में भगवान की प्रथम देशना हुई।

केवलज्ञान कल्याणक

उनके वल आदि ९५ गणधर, मीनार्या आदि ३३०४०० अर्जिकायें, २०३० पूर्वज्ञान के धारी, २४४९२० शिक्षक, ९००० अवधिज्ञानी, ११०० केवलज्ञानी, १५३०० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ९१५० मन:पर्ययज्ञान के धारी और ८६०० वादी थे। कुल २००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायें थीं।

भगवान का परिकर

भगवान बहुत काल तक पृथिवी पर विहार करके भव्य जीवों को कल्याण-मार्ग का उपदेश देते रहे। जब उनकी आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेद शिखर पर पहुँचे। उन्होंने प्रतिमा-योग धारण कर लिया और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को विशाखा नक्षत्र में एक हजार मुनियों के साथ निर्वाण प्राप्त किया। देवों ने भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाया।

निर्वाण कल्याणक

यक्ष-यक्षिणी—भगवान के सेवक यक्ष का नाम परनन्दी और यक्षिणी का नाम काली है।

मथुरा के कंकाली टीले पर एक स्तूप के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए हैं। आचार्य जिनप्रभसूरि ने इस स्तूप के सम्बन्ध में 'विविध तीर्थकल्प' में लिखा है कि इस स्तूप को कुवेरा देवी ने सुपार्श्वनाथ के काल में सोने का वनाया था और उस पर सुपार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की थी। फिर पार्श्वनाथ के काल में इसे ईंटों से ढक दिया। आठवीं शताब्दी में वप्पभट्ट सूरि ने इसका जीर्णोद्धार किया था। किन्तु सोमदेव सूरि ने 'यशस्तिलक चम्पू ६।१७-१८ में एवं हरिषेण कथाकोष में वज्र कुमार की कथा के अन्तर्गत इस स्तूप को वज्रकुमार के निमित्त विद्याधरों द्वारा निर्मित बताया है। आचार्य सोमदेव ने तो उस स्तूप के दर्शन भी किये थे और उसे 'देवनिर्मित लिखा है। इस स्तूप का जीर्णोद्धार साहू टोडर ने भी किया था, इस प्रकार की सूचना कवि राजमल्ल ने 'जम्बूस्वामी चरित्र' में दी है। उन्होंने भी इस स्तूप के दर्शन किये थे। उस समय वहाँ पाँच सौ चौदह स्तूप थे।

सुपार्श्वनाथ कालीन स्तूप

कुषाणकाल का (सन् ७९) का एक आयागपट्ट मिला है, उसमें भी इस स्तूप को देव निर्मित लिखा है। सर विंसेण्ट स्मिथ ने इसे भारत की ज्ञात इमारतों में सर्व प्राचीन लिखा है।

इस साक्ष्य से यह प्रगट होता है कि ईस्वी सन् से हजारों वर्ष पूर्व भगवान सुपार्श्वनाथ की मान्यता जनता में प्रचलित हो चुकी थी और जनता उन्हें अपना आराध्य देव मानती थी।

सुपार्श्वनाथ इक्ष्वाकुवंशी थे। किन्तु उनकी मूर्तियों के ऊपर सर्प-फण-मण्डल मिलता है। पार्श्वनाथ की सर्पफणावलीयुक्त मूर्तियों से सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों में भिन्नता प्रकट करने के लिये सुपार्श्वनाथ के ऊपर पंच फणावली वनाई जाती है और पार्श्वनाथ के ऊपर सात फणावली। किसी किसी मूर्ति में पार्श्वनाथ के ऊपर नौ और ग्यारह फणावली भी मिलती हैं। कुछ मूर्तियाँ सहस्र फणावली वाली भी उपलब्ध होती हैं। पार्श्वनाथ के ऊपर सर्प-फण-मण्डल का तो एक तर्कसंगत कारण रहा है। वह है संगम देव द्वारा उपसर्ग करने पर धरणेन्द्र द्वारा भगवान के ऊपर सर्प-फण का छत्र लगाना। इसके अतिरिक्त उनका चिन्ह भी सर्प है। किन्तु सुपार्श्वनाथ के ऊपर सर्प-फण-मण्डल किस कारण से वनाया जाता है, इसका कारण खोजने की आवश्यकता है। दिगम्बर शास्त्रों में इस वात का कोई युक्तियुक्त कारण हमारे देखने में नहीं आया। हाँ, श्वेताम्बर परम्परामान्य आचार्य हेमचन्द्र द्वारा विरचित 'त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित में लिखा है कि जब भगवान सुपार्श्व को केवलज्ञान हो गया और जब इन्द्र द्वारा विरचित समवसरण में वे सिंहासन पर विराजे, तब इन्द्र ने उनके मस्तक पर सर्प-फण का छत्र लगाया

सुपार्श्वनाथ की मूर्तियाँ और सर्प-फण-मण्डल

था। आचार्य ने इस प्रकार करने का कोई कारण तो नहीं दिया। संभव है, इन्द्र ने जो छत्र लगाया था, उसका आकार सर्प-फण-मण्डल जैसा रहा हो।

इस सम्बन्ध में हमारी विनम्र मान्यता है कि सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ दोनों ही वाराणसी में उत्पन्न हुए थे। पार्श्वनाथ का प्रभाव अपने काल में पूर्व और पूर्वोत्तर भारत में अत्यधिक था। यही कारण है कि उनकी मूर्तियाँ अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक मिलती हैं। उनके इस प्रभाव के कारण और दोनों का नाम प्रायः समान होने के कारण पार्श्वनाथ-मूर्तियों की अनुकृति पर सुपार्श्वनाथ की भी मूर्तियाँ बनने लगीं और उनके ऊपर भी सर्प-फण बनाये जाने लगे। इसके सिवाय दूसरा कोई युक्तियुक्त उत्तर बन नहीं सकता।

भगवान सुपार्श्वनाथ की लोक-प्रसिद्धि के कारण स्वस्तिक का मंगल चिन्ह भी लोकविश्रुत हो गया। अतः स्वस्तिक का लोक-प्रचलन इतिहासातीत काल से रहा है। मोहन जो दड़ो, लायल, रोपड़ आदि के प्राचीनतम पुरातत्त्व में कई मुद्राओं में स्वस्तिक अंकित पाया गया है। एक मुद्रा मोहन जो दड़ो में ऐसी भी उपलब्ध हुई है, जिसमें स्वस्तिक अंकित है और उसके आगे एक हाथी नतमस्तक खड़ा है। भारतीय पुरातत्त्ववेत्ता अभी तक इस प्रतीक का रहस्योद्घाटन करने में असमर्थ रहे हैं। किन्तु जैन प्रतीक-योजना के छात्र को इसके समाधान में कुछ भी कठिनाई नहीं होगी। प्रतीकात्मक रूप से स्वस्तिक सुपार्श्वनाथ का चिन्ह है और हाथी उनके यक्ष मातंग[1] के वाहन का द्योतक है। सुपार्श्वनाथ की द्योतक एक मुद्रा और मिली है। एक दिगम्बर योगो पद्मासन मुद्रा में विराजमान है। उसके दोनों ओर दो सर्प बने हुए हैं और दो व्यक्ति भक्ति में वीणा-वादन कर रहे हैं। निश्चय ही यह योगी सुपार्श्वनाथ हैं और सर्प उनके चिन्ह हैं।

स्वस्तिक

खण्डगिरि-उदयगिरि की रानी गुफा में स्वस्तिक का चिन्ह है। यह गुफा ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की है। एक गुफा में सर्प का चिन्ह अंकित है। मथुरा के कंकाली टीला से प्राप्त कुषाणकालीन आयागपट्ट में भी स्वस्तिक या नन्द्यावर्त बना हुआ है। कौशाम्बी, राजगृह, श्रावस्ती आदि में ऐसे शिलापट्ट मिले हैं, जिन पर स्वस्तिक और सर्प बने हुए हैं। जैन मन्दिरों में सर्वत्र स्वस्तिक मंगल चिन्ह के रूप में सदा से प्रयुक्त होता आया है। जैनों की पूजा-विधि में स्वस्तिक एक आवश्यक अंग है। विधान, प्रतिष्ठा, मंगल कार्यों आदि में स्वस्तिक की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है।

स्वस्तिक में बड़ा रहस्य निहित है। यह चतुर्गति रूप संसार का द्योतक है। इसके ऊपर तीन बिन्दु रत्नत्रय के और अर्धचन्द्र रत्नत्रय द्वारा प्राप्त मुक्ति (सिद्धशिला) का प्रतीक है।

धीरे धीरे स्वस्तिक की ख्याति से प्रभावित होकर संसार की सभी सभ्यताओं और अधिकांश धर्मों ने इसे अपना लिया।

वाराणसी

काशी देश में वाराणसी नगरी थी। काशी जनपद की यह राजधानी थी। यहाँ के वर्तमान भदैनी घाट को भगवान सुपार्श्वनाथ का जन्म-स्थान माना जाता है। स्याद्वाद विद्यालय के ऊपर मन्दिर बना हुआ है। कहते हैं, भगवान का जन्म-कल्याणक यहीं हुआ था। कुछ लोग मानते हैं कि छेदीलाल जी का जैन मन्दिर—जो इस मन्दिर के निकट है—भगवान का वास्तविक जन्म-स्थान है। यहाँ भगवान के प्राचीन चरण-चिन्ह भी हैं।

काशी में अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक घटनायें हुई हैं। कर्म युग के प्रारम्भ में महाराज अकंपन यहाँ के राजा थे। उन्होंने अपनी पुत्री सुलोचना का स्वयंवर यहीं किया था। यह कर्मभूमि का प्रथम स्वयंवर था।

भगवान पार्श्वनाथ का जन्म यहीं हुआ था और उन्होंने यहीं पर कमठ तपस्वी के अविवेकपूर्ण तप की निस्सारता बताते हुए जलते हुए सर्प-युगल को णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से वे नागकुमार जाति के इन्द्र-इन्द्राणी धरणेन्द्र और पद्मावती बने थे और यहीं भगवान पार्श्वनाथ का उपदेश सुनकर अश्वसेन और वामा देवी ने दीक्षा ली थी।

---

१. मेरुविजय गणिकृत चतुर्विंशति जिन-स्तुति

कुछ विद्वानों का अभिमत हैं कि स्वामी समन्तभद्र भस्मक व्याधि के काल में यहाँ के शिवालय में रहे थे और जव उनके छद्म रूप का रहस्य फूट गया, तव राजा के द्वारा वाध्य किये जाने पर उन्होंने शिवपिण्डी के समक्ष जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा की कल्पना करके स्वयम्भू स्तोत्र का पाठ करना आरम्भ किया और जव वे चन्द्रप्रभ की स्तुति करने लगे, तभी शिवपिण्डी फटकर उसके वीच में से भगवान चन्द्रप्रभ की दिव्य मूर्ति प्रगट हुई। उन्होंने उसे नमस्कार किया। इस घटना की सत्यता वताने वाला फटे महादेव का मन्दिर अव तक विद्यमान है। कुछ वर्ष पूर्व तक इस मन्दिर का नाम समन्तभद्रेश्वर मंदिर था। यह पहले वहुत वड़ा मंदिर था। किन्तु जव यहाँ से सड़क निकली, तव सड़क मार्ग में वाधक इसका वहुत सा भाग गिरा दिया गया था।

इस प्रकार यहाँ अनेक महत्त्वपूर्ण घटनायें घटित हुई हैं।

भगवान सुपार्श्वनाथ के नाग चिन्ह का प्रभाव यहाँ व्यापक रूप से पड़ा और जनता नाग-पूजा करने लगी।

काशी में नाग पूजा

यहाँ यक्ष-पूजा का भी वहुत प्रचलन रहा है। लगता है, इन दोनों पूजाओं का सम्वन्ध सुपार्श्वनाथ से था।

पुरातत्त्व—यहाँ राजघाट से उत्खनन में महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्व सामग्री मिली है, जिसमें कुषाण और गुप्त युग की अनेक जैन मूर्तियाँ भी हैं जो यहाँ के भारत कला भवन में सुरक्षित हैं।

नवम परिच्छेद

भगवान चन्द्रप्रभ

भगवान चन्द्रप्रभ का जीव एक जन्म में श्रीपुर के राजा श्रीषेण और रानी श्रीकान्ता का पुत्र श्रीवर्मा हुआ। एक दिन उल्कापात देखकर उसे भोगों से विरक्ति हो गई और उसने श्रीप्रभ जिनेन्द्र के निकट मुनि-दीक्षा ले ली। आयु पूरी होने पर प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। उस देव का जीव आयु समाप्त होने पर धातकी खण्ड की अयोध्या के राजा अजितजय और अजितसेना का अजितसैन नामक पुत्र हुआ। राज्य प्राप्त होने पर उसकी आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। उसने दिग्विजय करके चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। यद्यपि पुण्योदय से भोग की सम्पूर्ण सामग्री उसके निकट थी किन्तु उसकी भोगों में तनिक भी आसक्ति नहीं थी। वह बड़ा न्यायपरायण और धर्मनिष्ठ था। लोग उसे राजर्षि कहते थे। पुण्य कर्म के उदय से उसे चौदह रत्न और नौ निधियां प्राप्त थीं। भाजन. भोजन, शय्या, सेना, सवारी, आसन, निधि रत्न, नगर और नाट्य इन दशविध भोगों का भोग करता था। एक दिन चक्रवर्ती ने अरिन्दम नामक मुनि को आहार-दान किया। फलस्वरूप रत्न-वर्षा आदि पंचाश्चर्य प्राप्त किये। दूसरे दिन वह गुणप्रभ जिनेन्द्र की वन्दना करने गया और उनका उपदेश सुनकर वहुत से राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। अन्त में समाधिमरण करके वह सोलहवें स्वर्ग में अच्युतेन्द्र हुआ।

पूर्व भव

आयु पूर्ण होने पर अच्युतेन्द्र धातकी खण्ड के रत्नसंचयपुर के नरेश कनकप्रभ और उसकी रानी कनक माला का पद्मनाभ नामक पुत्र हुआ। यौवन अवस्था में राज्य प्राप्त कर सुखपूर्वक रहने लगा। फिर एक दिन उसे वैराग्य हो गया और दीक्षा ले ली। वह मुनि अवस्था में चारों आराधनाओं का आराधन करने लगा। उसने ग्यारह अंगों का पारगामी बन कर सोलह कारण भावनाओं का चिंतन किया और तीर्थंकर नाम कर्म का वन्ध किया। वह नाना प्रकार के तपों द्वारा कर्मों का क्षय करता रहा। अन्त में समाधिमरण करके वह वैजयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ। तेतीस सागर की आयु उसने प्राप्त की।

भरतक्षेत्र में चन्द्रपुर नामक नगर के अधिपति इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्री महासेन राजा थे। उनकी रानी का नाम लक्ष्मणा था। उनके प्रासाद के प्रांगण में छह माह तक देवों ने रत्न-वर्षा की। श्री ह्री आदि देवियाँ महारानी की सेवा करती थीं। देवोपनीत वस्त्र, माला, लेप तथा शय्या आदि सुखों का भोग करती थी। उन्होंने चैत्र कृष्णा पंचमी को पिछली रात्रि में सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होने पर उन्होंने वस्त्राभरण धारण किये और सिंहासन पर आसीन अपने पति के निकट जाकर उन्होंने उनसे अपने स्वप्नों की चर्चा की। महाराज ने अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल जानकर रानी से कहा—देवी ! तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर प्रभु पधारे हैं। फल सुनकर रानी अत्यन्त हर्षित हुई। देवों ने गर्भ के नौ माह तक रत्न-वर्षा की। श्री, ह्री, धृति, कीर्ति बुद्धि और लक्ष्मी देवियाँ उनकी कान्ति, लज्जा धैर्य, कीर्ति, बुद्धि और सौभाग्य सम्पत्ति को सदा वढ़ाती रहती थीं तथा माता का मनोरंजन नाना प्रकार से किया करती थीं।

गर्भ कल्याणक

गर्भ-काल व्यतीत होने पर रानी ने पौष कृष्णा एकादशी को शक्र योग में देवपूजित, अलौकिक प्रभा के धारक पुत्र को जन्म दिया। उसी समय इन्द्र और देव आये। सौधर्मेन्द्र ने अपनी शची के द्वारा बाल प्रभू को मगाकर, सुमेरु पर्वत पर लेजाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया। उन्हें दिव्य वस्त्रालंकारों से विभूषित किया, तीन लोक के राज्य की कण्ठी बांधी और उनकी रूप छटा को हजार नेत्र बना

जन्म-कल्याणक

कर विमुग्ध भाव से उन्हें निहारता रहा। उनके उत्पन्न होते ही कुवलय समूह विकसित हो गया था। अत: इन्द्र ने उनका नाम 'चन्द्रप्रभ रक्खा। फिर इन्द्र ने भगवान के समक्ष आनन्द नामक भक्तिपूर्ण नाटक और नृत्य किया। फिर लाकर उन्हें माता-पिता को सौंपकर कुबेर को आज्ञा दी—तुम भोगोपभोग की योग्य वस्तुओं के द्वारा भगवान की सेवा करो' और फिर वह देवों के साथ स्वर्ग को चला गया। भगवान का लांछन चन्द्रमा है।

भगवान ज्यों-ज्यों बढ़ने लगे, उनका रूप, कान्ति, लावण्य सभी कुछ बढ़ने लगे, वे प्रियदर्शन थे। लोग उनके दर्शनों के लिए व्याकुल रहते थे और दर्शन मिलने पर उन्हें अपूर्व तृप्ति अनुभव होती थी।

मा र अवस्था बीतने पर उनके पिता ने राज्याभिषेक कर दिया। उनकी स्त्रियाँ उनकी आज्ञानुवर्ती थीं, समस्त राजा उनके वशवर्ती थे और भृत्यगण, पुरजन और परिजन उनके संकेतानुवर्ती थे।

साम्राज्य-सम्पदा का भोग करते हुए जब उन्हें काफी समय हो गया, तब एक दिन वे अपने शृंगार-कोष्ठक में दर्पण में अपना मुख देख रहे थे। उन्हें अन्तःस्फुरणा हुई—एक दिन था जब यह मुख मधुर कान्ति से उमगता था।

भगवान को स्वयं स्फूर्त प्रेरणा

वे कौमार्य के दिन थे। उन दिनों कितना भोलापन था इसके ऊपर। कौमार्य बीता, किशोरावस्था आई, कान्ति और ओज फूटे पड़ते थे। यौवन आया तो संसार के भोगों की ओर आकर्षण संग में लाया। अब आयु निरन्तर छीजती जा रही है। आयु का चतुर्थ पाद आ गया है, तीन पाद बीत चुके हैं। आयु का इतना लम्बा काल मैंने केवल सांसारिकता में ही खो दिये। अपना हित नहीं किया। अब तक मैंने संसार की सम्पदा का भोग किया, किन्तु अब मुझे आत्मिक सम्पदा का भोग करना है। संसार का यह रूप, यह सम्पदा क्षणिक है, अस्थिर है। किन्तु आत्मा का रूप अलौकिक है, आत्मा की संपदा अनन्त अक्षय है। मैं अब इसी का पुरुषार्थ जगाऊँगा।

इस प्रकार जब चन्द्रप्रभ अपने आत्मा को जागृत कर रहे थे, तभी लौकान्तिक देव आये और भगवान की स्तुति करते हुए उनके विचारों की सराहना की। भगवान अपने पुत्र वरचन्द्र को राज्य-भार सौंप कर देवों द्वारा

दीक्षा कल्याणक

लाई हुई विमला नामक पालकी में नगर के बाहर सर्वर्तुक वन में पधारे। वहाँ उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनुराधा नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ जैनेन्द्री दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। दो दिन बाद वे नलिन नामक नगर में आहार के निमित्त पधारे। वहाँ सोमदत्त राजा ने उन्हें नवधा भक्तिपूर्वक आहार-दान दिया। इससे प्रभावित होकर देवों ने रत्नवृष्टि आदि पंचाश्चर्य किये।

भगवान मुनिजनोचित पंच महाव्रत, पंच समिति, पंचेन्द्रिय निग्रह, दशधर्म आदि में सावधान रहते हुए कर्म शत्रुओं से युद्ध करने में संलग्न रहने लगे। उन्हें घातिया कर्मों को निर्मूल करने में तीन माह लग गये। अन्त में दीक्षा

केवलज्ञान कल्याणक

वन में नाग वृक्ष के नीचे वेला का नियम लेकर प्रभु ध्यानलीन हो गये और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को सायंकाल अनुराधा नक्षत्र में वे अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण रूप तीन परिणामों के संयोग से क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके प्रथम शुक्ल ध्यान के बल से मोहनीय कर्म का नाश करने में सफल हो गये। फिर बारहवें गुणस्थान के अन्त में द्वितीय शुक्ल ध्यान के प्रभाव से शेष तीन घातिया कर्मों का भी क्षय कर दिया। जीव के उपयोग गुण का घात करने वाले घातिया कर्मों का नाश होते ही वे सयोग केवली हो गये। उनकी आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य से सम्पन्न हो गई। उन्हें परमावगाढ़ सम्यग्दर्शन, यथाख्यात चारित्र, क्षायिक ज्ञान आदि पांच लब्धियों की उपलब्धि हो गई। अब वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गए।

इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की। उन्होंने समवसरण की रचना की और उसमें भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी। भगवान के धर्म-चक्र का प्रवर्तन हुआ।

उनके दत्त आदि तिरानवे गणधर थे। दो हजार पूर्वधारी थे। आठ हजार अवधिज्ञानी, दो लाख चार सौ शिक्षक, दस हजार केवलज्ञानी, चौदह हजार विक्रिया ऋद्धिधारी, आठ हजार मनःपर्ययज्ञानी और चार हजार

भगवान का परिवार

छह सौ वादी थे। इस प्रकार सब मुनियों की संख्या ढाई लाख थी। वरुणा आदि तीन लाख

अस्सी हजार अर्जिकायें थीं। तीन लाख श्रावक और पांच लाख श्रविकायें थीं।

भगवान चन्द्रप्रभ समस्त देशों में विहार करते हुए सम्मेद शिखर पर पहुँचे और वहाँ एक हजार मुनियों के साथ एक माह तक प्रतिमा योग धारण करके आरूढ़ हो गये। अन्त में फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के दिन ज्येष्ठा नक्षत्र में सायंकाल के समय योग-निरोध कर समस्त अघातिया कर्मों का नाश करके परम पद निर्वाण को प्राप्त हुए। उसी समय देवों ने आकर भगवान का निर्वाण कल्याणक मनाया।

मोक्ष कल्याणक

यक्ष-यक्षिणी—भगवान चन्द्रप्रभ के सेवक विजय यक्ष और ज्वालामालिनी यक्षिणी थे।

भगवान चन्द्रप्रभ की जन्मनगरी चन्द्रपुरी है जो वाराणसी से आगे कादीपुर स्टेशन से ५ किलोमीटर दूर गंगा के तट पर अवस्थित है। टैक्सी और मोटर के द्वारा वाराणसी से गोरखपुर रोड पर २४ किलोमीटर है। मुख्य सड़क से २ किलोमीटर कच्चा मार्ग है। यह सिंहपुरी (सारनाथ) से १७ किलोमीटर है। इस गांव का वर्तमान नाम चन्द्रावती है।

चन्द्रपुरी

यहाँ दिगम्बर जैनों का जो प्राचीन मन्दिर था, उस पर श्वेताम्बरों ने अधिकार कर लिया था। तब आरा निवासी लाला प्रभुदास ने गंगा के किनारे सन् १९१३ में नवीन मन्दिर का निर्माण कराया तथा मूर्तियों की पंच कल्याणक प्रतिष्ठा बा० देवकुमार जी ने कराई। मन्दिर में भगवान चन्द्रप्रभ की श्वेत वर्ण १४ इंच अवगाहना वाली प्रतिमा विराजमान है। इसके आगे पार्श्वनाथ की श्याम वर्ण प्रतिमा विराजमान है। मन्दिर दूसरी मंजिल पर है। मन्दिर के चारों ओर धर्मशाला बनी हुई है।

यहाँ चैत्र कृष्णा पंचमी को वार्षिक मेला भरता है।

दशम परिच्छेद

भगवान पुष्पदन्त

पुष्करार्ध द्वीप, पूर्व विदेह क्षेत्र, सीता नदी, उसके उत्तरी तट पर पुष्कलावती देश था। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी थी। वहाँ का राजा महापद्म था। वह वड़ा पराक्रमी था। उसने शत्रुदल को अपने वश में कर लिया था।

पूर्व भव

जनता पर उसका इतना प्रभाव था कि वह जो नई परम्परा डालता था, जनता में वह रिवाज वन जाती थी। जनता उसके गुणों पर मुग्ध थी। वह वड़ा पुण्यात्मा था। उसे कभी किसी वस्तु का अभाव नहीं खटकता था।

एक दिन वनपाल ने आकर राजा को समाचार दिया कि वन में महान् विभूतिसम्पन्न भूतहित नामक जिनराज विराजमान हैं। समाचार सुनते ही वह पुरजनों-परिजनों के साथ वन में गया। वहाँ जाकर उसने जिनराज की वन्दना की, पूजा की और जाकर अपने स्थान पर वैठ गया। उनका कल्याणकारी उपदेश सुनकर राजा को संसार के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो गया। सत्यज्ञान होने पर क्या कोई संसार के भोगों और ममता के वन्धनों में वना रह सकता है। उसने तत्काल अपने पुत्र धनद को राज्य-भार सौंप दिया और अनेक राजाओं के साथ वह मुनि वन गया। क्रमशः वह द्वादशांग का वेत्ता हो गया और वह सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करने लगा जिससे उसे तीर्थंकर नाम कर्म का वन्ध हो गया। अन्त में उसने समाधिमरण ले लिया। आयु पूर्ण होने पर वह प्राणत स्वर्ग का इन्द्र हुआ।

भरत क्षेत्र में काकन्दी नगरी के अधिपति महाराज सुग्रीव थे जो इक्ष्वाकु वंशी काश्यप गोत्री थे। उनकी पटरानी का नाम जयरामा था। भगवान जव गर्भ में आये, उससे छह माह पूर्व से गर्भकाल के नौ माह पर्यन्त देवों ने रत्नवृष्टि की। एक दिन महारानी सो रही थीं। उस दिन फाल्गुन कृष्णा नौमी और मूल

गर्भ कल्याणक

नक्षत्र था। ब्राह्म मुहूर्त का समय था। उस समय महारानी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। जव महारानी जागीं तो उन्होंने अपने पति से उन स्वप्नों का फल पूछा—महाराज ने अवधिज्ञान से स्वप्नों का फल महारानी से कहा। महारानी फल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। उस शुभ मुहूर्त में प्राणत स्वर्ग का वह इन्द्र आयु पूर्ण होने पर महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ।

नौ माह पूर्ण होने पर महारानी ने मार्गशीर्ष शुक्ला प्रतिपदा के दिन जैत्रयोग में एक लोकोत्तर पुत्र को

जन्म कल्याणक

जन्म दिया। उसी समय चारों प्रकार के देवों और इन्द्रों ने आकर वाल भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से उनका अभिषेक किया और उनका सव देवों ने मिलकर जन्म कल्याणक महोत्सव वड़े समारोह के साथ मनाया। इन्द्र ने कुन्द के पुष्प के समान कांति वाले उस वालक का नाम पुष्पदन्त रक्खा। उनका लांछन मगर था।

वालक पुष्पदन्त जन्म काल से ही मति, श्रुत और अवधिज्ञान का धारक था। वह अपनी वाल-क्रीड़ाओं

निष्क्रमण कल्याणक

से सव मनुष्यों को प्रसन्न करता था। उसके वस्त्राभूषण, भोजन-पान सभी कुछ देवोपनीत थे। उसके वालसाथी देव थे।

जव वालक कुमार अवस्था पार करके यौवन को प्राप्त हुआ, पिता ने अपना राजपाट उसे सौंप दिया और वे मुनि दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण के लिये वनों में चले गये। राज्य-शासन करते हुए महाराज पुष्पदन्त ने संसार

के सभी सुखों का अनुभव किया। भगवान तो असीम पुण्य के स्वामी थे ही, किन्तु जो स्त्रियाँ भगवान को सुख देती थीं, वे भी असाधारण पुण्याधिकारिणी थीं।

एक दिन भगवान बैठे हुए प्रकृति के सौन्दर्य का रस पान कर रहे थे, तभी अकस्मात् उल्कापात हुआ। संसार में रहकर भी जो संसार से पृथक् थे, उनके लिए यह साधारण लगने वाली घटना ही प्रेरक सिद्ध हुई। वे उल्कापात देखकर विचारमग्न हो गये। वे विचार करने लगे—यह उल्का नहीं है, अपितु मेरे अनादिकाल के महा मोह रूपी अन्धकार को दूर करने वाली दीपिका है। इससे उन्हें बोधि प्राप्त हुई और उन्हें यह दृढ़ आत्म प्रतीति हुई—मेरा आत्मा ही मेरा है, यह राज्य, स्त्री-पुत्र आदि सभी पर हैं, कर्मकृत संयोग मात्र हैं। अब मुझे आत्मा के लिये ही निज का पुरुषार्थ जगाना है।

तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की पूजा की और उनके विचारों को सराहना की। भगवान भी अपने पुत्र सुमति का राज्याभिषेक करके सूर्यप्रभा पालकी में बैठकर नगर के बाहर उद्यान में पहुंचे। वहाँ बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। इन्द्रों और देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक मनाया।

दूसरे दिन वे आहार के लिये शैलपुर नगर में पहुँचे। वहाँ पुष्पमित्र राजा ने उन्हें आहार देकर असीम पुण्य का उपार्जन किया। देवों ने वहां पंचाश्चर्य किये।

केवल ज्ञान कल्याणक—भगवान निरन्तर तपस्या करते रहे। उन्हें इस प्रकार तपस्या करते हुए चार वर्ष व्यतीत हो गये। तब वे कार्तिक शुक्ला द्वितीया के दिन सायंकाल के समय मूल नक्षत्र में दो दिन का उपवास लेकर नाग वृक्ष के नीचे बैठ गये और उसी दीक्षा वन में घातिया कर्मों को निर्मूल करके अनन्त चतुष्टय को प्राप्त किया।

इन्द्रों ने आकर भगवान के केवलज्ञान की पूजा की और समवसरण की रचना की। उस दिन सर्व पदार्थों का निरूपण करने वाली भगवान की दिव्य ध्वनि प्रगट हुई।

भगवान का संघ—भगवान पुष्पदन्त के सात ऋद्धियों के धारक विधर्भ आदि अठासी गणधर थे। १५०० श्रुतकेवली, १५५५०० शिक्षक, ८४०० अवधिज्ञानी, ७००० केवलज्ञानी, १३००० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ७५०० मनःपर्ययज्ञानी और ६६०० वादी मुनि थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या २००००० थी। इनके अतिरिक्त घोषार्या आदि ३८०००० आर्यिकायें, २००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—भगवान ने समस्त आर्य देशों में विहार करके सद्धर्म का उपदेश दिया, जिससे असंख्य प्राणियों ने आत्म-हित किया। अन्त में वे सम्मेदशिखर पहुँचे और योग-निरोध करके भाद्रपद शुक्ला अष्टमी के दिन मूल नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष को प्राप्त हो गये। देव और इन्द्र आये और उनका निर्वाण कल्याणक मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

अपर नाम—भगवान पुष्पदन्त का दूसरा नाम सुविधिनाथ भी है।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान पुष्पदन्त के सेवक यक्ष का नाम अजित यक्ष और सेविका यक्षिणी का नाम महा-काली था।

इन्हीं के समय में रुद्र नामक तीसरा रुद्र हुआ।

पूर्वी उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में खुखन्दू नामक एक कस्बा है। यह सड़क मार्ग से देवरिया-सलेमपुर सड़क से एक मील है। मार्ग कच्चा है। पश्चिम से आने वालों को देवरिया और पूर्व से आने वालों को सलेमपुर उतरना चाहिए। दोनों ही स्थानों से यह १४-१४ कि० मी० है। यहाँ पुराने भवनों के भग्नावशेष लगभग एक मील में बिखरे पड़े हैं। यहाँ प्राचीन तालाब हैं और तीस टीले हैं। यहीं पर प्राचीन काल में काकन्दी थी। काकन्दी का नाम बदलते बदलते किष्किन्धापुर और फिर खुखन्दू हो गया।

काकन्दी

इस नगर में पुष्पदन्त भगवान का जन्म हुआ था।

यहीं पर काकन्दी नरेश अभयघोष हुए थे। उन्होंने एक कछुए की टांगें तलवार से काट दी थीं। कछुए का वह जीव उनके घर में ही पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। अभयघोष नरेश यथासमय पुत्र को राज्य देकर मुनि वन गये। एक बार मुनि अभयघोष विहार करते हुए काकन्दी आये और नगर के बाहर उद्यान में ध्यान लगाकर खड़े हो गये। उनका पुत्र चण्डवेग घूमता हुआ उधर से निकला। पूर्व जन्म के वैर के कारण चण्डवेग ने मुनि अभयघोष को देखते ही उन पर उपसर्ग करना प्रारम्भ कर दिया। उसने तीक्ष्ण धार वाले हथियार से उनके अंग काटना प्रारम्भ कर दिया। जब अन्तिम अंग कट रहा था, तभी मुनिराज को केवलज्ञान हो गया और वहीं से निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकार यह स्थान सिद्ध क्षेत्र भी है।

यहाँ के टीलों को लोग 'देउरा' कहते हैं। देउरा का अर्थ है देवालय। यहाँ भारत सरकार की ओर से जो खुदाई हुई थी, उसके फलस्वरूप यहाँ तीर्थंकर मूर्तियाँ, चैत्य वृक्ष और स्तूपों के भग्न भाग निकले थे। यहाँ खुदाई में ईंटों का एक फर्श भी मिला था, जिसे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने जैन मन्दिर माना है।

यहाँ के मन्दिर में भगवान नेमिनाथ की श्यामवर्ण वाली सवा दो फुट की पद्मासन प्रतिमा मूलनायक है। इसके अतिरिक्त भगवान पुष्पदन्त, भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमायें हैं। एक चौबीसी है। अम्बिका देवी की एक पाषाण प्रतिमा भूगर्भ से निकली हुई यहाँ रक्खी है। नेमिनाथ और अम्बिका की मूर्तियाँ गुप्त काल या उससे भी पूर्व की हैं।

ककुभग्राम—आजकल इसका नाम 'कहाऊँ' है। यहीं भगवान पुष्पदन्त की दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुआ था। यह काकन्दी से १६ कि० मी० है। प्राचीन काल में यह काकन्दी का बाहरी उद्यान या वन था।

यहाँ भी चारों ओर भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं। यहाँ एक टूटे मकान में पाँच फुट ऊँची सिलेटी वर्ण की एक तीर्थंकर प्रतिमा रक्खी हुई है। यह बीच से खण्डित है। ग्रामीण लोग तेल-पानी से इसका अभिषेक करते हैं।

इस कमरे के सामने एक और ऐसी ही प्रतिमा चबूतरे पर पड़ी हुई है। यह काफी शीर्ण है। इसका मुख तक घिस गया है।

इनसे कुछ आगे एक मानस्तम्भ खड़ा है। यह २४ फुट ऊँचा है। इसमें एक ओर भगवान पार्श्वनाथ की सवा दो फुटी खड्गासन प्रतिमा उत्कीर्ण है। स्तम्भ के ऊपरी भाग में पाँच तीर्थंकर प्रतिमायें विराजमान हैं। ग्रामीण लोग पार्श्वनाथ की पूजा दही-सिन्दूर से करते हैं और इस स्तम्भ को 'भीमसेन की लाट' कहते हैं।

स्तम्भ पर ब्राह्मी लिपि में बारह पंक्तियों का एक लेख खुदा हुआ है। उसके अनुसार इस स्तम्भ का निर्माण एवं प्रतिष्ठा मद्र नामक एक ब्राह्मण ने गुप्त संवत् १४१ (ई० सन् ४६०) में सम्राट् समुद्रगुप्त के काल में कराई थी। यह ज्ञात मान स्तम्भों में सबसे प्राचीन है।

एकादश परिच्छेद

भगवान शीतलनाथ

पूर्व भव

पुष्करवर द्वीप के विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्स नामक देश था। उसके सुसीमा नगर में पद्मगुल्म नामक राजा राज्य करता था। वह साम, दाम, दण्ड और भेद का ज्ञाता था। सहाय, साधनोपाय, देश विभाग, काल विभाग और विनिपात प्रतीकार इन पांच अंगों से युक्त सन्धि-विग्रह का सम्यक् विनियोग करने वाला था। उसने अपने बुद्धि-कौशल से स्वामी, मंत्री, कोट, कोष, मित्र, देश और सेना का खूब प्रभाव-विस्तार किया था। वह दैव, बुद्धि और पुरुषार्थ द्वारा लक्ष्मी की निरन्तर वृद्धि करता रहता था। बसन्त ऋतु के आगमन होने पर वह प्रतिदिन अपनी रानियों के संग विविध क्रीड़ायें किया करता था। जब वसन्त ऋतु समाप्त हो गई तो उसे संसार की इस क्षणभंगुरता से वैराग्य हो गया और चन्दन नामक अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंपकर आनन्द नामक मुनिराज के पास जाकर उसने जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली। उसने निरन्तर तपश्चर्या करते हुए ग्यारह अंग का अध्ययन किया और षोडश कारण भावनाओं का चिन्तन करते हुए तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कर लिया। वह चारों आराधनाओं का आराधन करता हुआ आयु के अन्त में समाधिमरण धारण करके आरण नामक पन्द्रहवें स्वर्ग का इन्द्र बना।

गर्भ कल्याणक

भरत क्षेत्र में मलय नामक देश था। उसमें भद्रपुर नगर के स्वामी इक्ष्वाकु कुल के भूषण राजा दृढ़रथ राज्य करते थे। उनकी प्राणवल्लभा का नाम महारानी सुनन्दा था। कुबेर की आज्ञा से यक्ष देवों ने भगवान के गर्भावतरण से छह मास पहले से महाराज दृढ़रथ के प्रासाद में रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ कर दिया। एक दिन महारानी सुनन्दा ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे और उसके बाद एक विशालकाय हाथी को मुख में प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में वह आरणेन्द्र का जीव रानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ।

प्रातःकाल होने पर महारानी ने महाराज के पास जाकर अपने स्वप्नों की चर्चा की। महाराज ने ज्ञान से जानकर उनके फल बताते हुए कहा—देवि! तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर देव अवतरित हुए हैं। सुनकर महारानी अत्यन्त प्रसन्न हुई। देवों ने आकर गर्भकल्याणक की पूजा की।

जन्म कल्याणक—गर्भ-काल पूर्ण होने पर माघ कृष्णा द्वादशी के दिन विश्वयोग में महारानी ने पुत्र-प्रसव किया। उसी समय चारों जाति के देव और इन्द्र आकर बड़े समारोह के साथ बाल भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ उन्होंने क्षीरसागर के जल से भगवान का अभिषेक किया। सौधर्म इन्द्र ने भगवान की भक्ति से विह्वल होकर ताण्डव नृत्य किया और बालक का नाम शीतलनाथ रक्खा। उनका लांछन श्रीवृक्ष था।

दीक्षा कल्याणक—बालक शीतलनाथ दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। जब किशोरवय पार कर वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, उनके पिता ने उन्हें राज्याभिषेक करके राज्य सौंप दिया और स्वयं मुनि बन गये। भगवान राज्य पाकर न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगे। प्रजा उनके सुशासन से इतनी सन्तुष्ट थी कि वे प्रजा के हृदय-सम्राट् कहलाते थे।

एक दिन वे वन-विहार के लिए गये। वे जब वन में पहुँचे, उस समय कोहरा छाया हुआ था। किन्तु सूर्यो-

दय होते ही कोहरे का पता भी न चला। सर्वसाधारण के लिए घटना साधारण थी, किन्तु आत्मदृष्टा शीतलनाथ के लिये यही साधारण घटना असाधारण बन गई। वे चिन्तन में डूब गये—कोहरा नष्ट हो गया, यह सारा संसार ही नाशवान् है। अब मुझे दुःख, दुखी और दुःख का निमित्त इन तीनों का यथार्थ बोध हो गया। मोह के निमित्त से मैं समझता रहा—मैं सुखी हूँ, इन्द्रिय-सुख ही वास्तविक सुख है और यह सुख पुण्योदय से मुझे फिर भी मिलेगा। अतः अब मुझे इस मोह का ही नाश करना है।

भगवान ऐसा विचार कर रहे थे, तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की वन्दना की और उनके विचारों की सराहना की। भगवान ने तत्काल अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया और शुक्रप्रभा नाम की पालकी पर सवार होकर नगर के बाहर सहेतुक वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने माघ कृष्णा द्वादशी के दिन सायंकाल के समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में दो उपवास का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया।

दीक्षा लेते ही भगवान को मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया। दो दिन के पश्चात् चर्या के लिए वे अरिष्ट नगर में पहुँचे। वहाँ पुनर्वसु राजा ने नवधा भक्तिपूर्वक भगवान को आहार-दान देने का सौभाग्य प्राप्त किया। देवों ने रत्नवर्षा आदि पंचाश्चर्य किये। भगवान आहार करके विहार कर गये। वे घोर तपस्या करने लगे। इस प्रकार छद्मस्थ अवस्था के तीन वर्ष तक उन्होंने नानाविध तप किये। तदनन्तर वे एक दिन बेल के वृक्ष के नीचे दो दिन का उपवास करके ध्यानलीन हो गये।

केवलज्ञान कल्याणक

तभी पौष कृष्णा चतुर्दशी के दिन पूर्वाषाढ़ नक्षत्र में सायंकाल के समय भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। उसी समय देवों ने आकर भगवान के ज्ञान कल्याणक की पूजा की तथा समवसरण की रचना की। उसमें देव, मनुष्य और तिर्यंचों के समक्ष भगवान की कल्याणी दिव्यध्वनि खिरी। यह भगवान का प्रथम धर्म-चक्र-प्रवर्तन था।

भगवान का संघ—भगवान के संघ में अनगार आदि ८१ गणधर थे। १४०० पूर्वधारी, ५९२०० शिक्षक, ७२०० अवधिज्ञानी, ७००० केवली, १२००० विक्रियाऋद्धिधारी मुनि, ७५०० मनःपर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार उनके मुनियों की कुल संख्या एक लाख थी। धरणा आदि ३८०००० आर्यिकायें थीं। दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—वे चिरकाल तक अनेक देशों में विहार करके भव्य जीवों को कल्याण का मार्ग बताते रहे। अन्त में वे सम्मेदशिखर जा पहुँचे और वहाँ एक माह का योग-निरोध करके उन्होंने प्रतिमा योग धारण कर लिया और आश्विन शुक्ला अष्टमी को सायंकाल के समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में समस्त कर्मों का नाश करके एक हजार मुनियों के साथ मोक्ष प्राप्त किया। देवों ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान शीतलनाथ के सेवक यक्ष का नाम ब्रह्म यक्ष और मानवी यक्षिणी थी।

भगवान शीतलनाथ के समय विश्वानल नाम का चौथा रुद्र हुआ था।

भगवान शीतलनाथ का जन्म भद्रिकापुरी या भद्दिलपुर में हुआ था और उन्होंने अपनी जन्म-नगरी के

सन् १८९९ में प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता श्री नन्दलाल डे ने यहाँ का निरीक्षण करके इस पर्वत को मंकुल पर्वत माना था, जहाँ भ० बुद्ध ने अपना छठवाँ चातुर्मास किया था तथा इस मन्दिर पर स्थित मन्दिरों और मूर्तियों को बौद्ध लिखा था। किन्तु सन् १९०१ में डा० एम० ए० स्टन ने एक लेख लिखकर यह सिद्ध किया था कि यहाँ के सारे मन्दिर और मूर्तियाँ वस्तुतः जैन हैं और यह पर्वत जैन तीर्थंकर शीतलनाथ की पवित्र जन्म-भूमि है। तभी से यह स्थान प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ। यहीं नहीं, इसके आस-पास में सतगवां, कुन्दविला, बलरामपुर, ओरम, दारिका, छर्रा, डलमा, कतरासगढ़, पवनपुर, पाकवीर, तेलकुपी आदि में अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। भोंदलगांव के निकट तो श्रावक गांव और श्रावक पहाड़ भी है। इस सबसे यह सहज ही अनुमान होता है कि यह स्थान कभी जैन धर्म का महान् केन्द्र था और इसके निकट का सारा प्रदेश जैन धर्मानुयायी था।

कोल्हुआ पहाड़ पर जाने के दो मार्ग हैं—पश्चिम की ओर से हटवारिया होकर तथा पूर्व की ओर से घाटी में होकर। हटवारिया की ओर से चढ़ने पर लगभग एक किलोमीटर चलने पर भगवान पार्श्वनाथ की पौने दो फुट अवगाहना वाली एक प्रतिमा मिलती है। हिन्दू जनता इसे 'द्वारपाल' कहती है। इससे दो कि० मी० आगे चलने पर एक भग्न कोट मिलता है। फिर एक तालाव ३००×७०० गज का मिलता है। सरकार की ओर से इसकी खुदाई कराई गई थी। फलतः एक सहस्रकूट चैत्यालय मिला। इसमें ढाई इंच वाली पचास प्रतिमायें हैं। सरोवर के किनारे अनेक खण्डित अखण्डित जैन प्रतिमायें और जैन मन्दिरों के अवशेष विखरे पड़े हैं।

कोट द्वार के दक्षिण पूर्व की ओर कुलेश्वरी देवी का मन्दिर है, जो मूलतः जैन मन्दिर था। मन्दिर के दक्षिण की ओर एक गुफा में पार्श्वनाथ प्रतिमा है जो प्रायः एक गज ऊँची है। इसके निकट दूसरी गुफा में एक पद्मासन तीर्थंकर-मूर्ति है।

सरोवर के उत्तर में एक छोटा-सा प्राचीन जैन मन्दिर है, जिसके ऊपर पांच शिखर हैं। इसे सर्वे सैटिलमेण्ट के नकशे में पार्श्वनाथ मन्दिर माना है। मन्दिर के वाहर जो चबूतरा है, उसे पार्श्वनाथ चबूतरा लिखा है। आगे जाकर आकाश लोचन कूट है। उस पर आठ इंच लंवे चरण वने हुए हैं। इससे कुछ आगे एक गुफा में एक फुट अवगाहना वाली दस प्रतिमायें एक चट्टान में उकेरी हुई हैं। इससे आगे एक चट्टान में पांच पद्मासन और पांच खड्गासन प्रतिमायें उत्कीर्ण हैं। भूल से लोग इन्हें पांच पाण्डवों और दशावतार की प्रतिमायें कहने लगे हैं।

भोंदलगांव छोटा-सा गांव है। अनुसन्धान किया जाय तो यहाँ भी जैन मन्दिर और मूर्तियाँ मिल सकती हैं।

मिथ्यादान का इतिहास

भगवान शीतलनाथ के तीर्थ का अन्तिम चरण था। उस समय वक्ता, श्रोता और धर्माचरण करने वाले व्यक्तियों का अभाव हो गया। उस समय भद्रिलपुर में मलय देश का राजा मेघरथ था। एक दिन राजा ने राज्य-सभा में प्रश्न किया—सवसे अधिक फल देने वाला दान कौन सा है ? इसके उत्तर में सत्यकीर्ति नामक मंत्री, जो दान के तत्त्व को जानने वाला था—कहा—'आचार्यों ने तीन दान सर्वश्रेष्ठ वताये हैं—शास्त्रदान, अभयदान और अन्नदान। अन्नदान की अपेक्षा अभयदान श्रेष्ठ है और अभयदान की अपेक्षा शास्त्रदान उत्तम है। आप्त द्वारा कहा हुआ और पूर्वापर अविरोधी एवं प्रत्यक्ष-परोक्ष से वाधित न होने वाला शास्त्र ही सच्चा शास्त्र कहलाता है। ऐसे शास्त्र का व्याख्यान करने से संसार के दुःखों से त्रस्त व्यक्तियों का कल्याण होता है। अतः शास्त्र-दान ही सर्वोत्तम फल देने वाला है। इस दान के द्वारा ही हेय और उपादेय तत्व का वोध होता है। किन्तु राजा को यह रुचिकर प्रतीत नहीं हुआ। अपनी कलुपित भावनाओं के कारण वह कुछ और ही दान देना चाहता था।

उसी नगर में भूतिशर्मा नामक एक व्राह्मण रहता था। वह खोटे शास्त्र वनाकर राजा को प्रसन्न किया करता था। उसके मरने पर उसका पुत्र मुण्डशालायन भी यही काम करता रहा। वह भी उस समय राज्य-सभा में बैठा हुआ था। वह वोला—'महाराज ! ये सव दान तो साधुओं और दरिद्रों के लिये हैं। किन्तु महत्त्वाकांक्षी राजाओं के लिये तो शाप और अनुग्रह करने की शक्ति से सम्पन्न व्राह्मणों के लिये सुवर्ण, भूमि आदि का दान अनन्त

काल तक यश देने वाला है।' यह कहकर उसने अपने बनाये हुए शास्त्र को खोलकर उसे सबको सुना दिया। राजा उसकी बातों से बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने मुण्डलायन को पृथ्वी और सुवर्ण का दान देकर सम्मानित किया।

इसके बाद उत्साहित होकर मुण्डलायन ने दस प्रकार के दानों का विधान किया (१) कन्यादान (२) सुवर्णदान (३) हस्तिदान (४) अश्वदान (५) गोदान (६) दासीदान (७) तिलदान (८) रथदान (६) भूमिदान और (१०) गृहदान।

तबसे पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत दानों के स्थान पर इन दानों की परम्परा चल पड़ी।

द्वादश परिच्छेद

भगवान श्रेयान्सनाथ

पुष्करार्ध द्वीप में पूर्व विदेह क्षेत्र स्थित सुकच्छ देश के क्षेमपुर नगर में नलिनप्रभ नामक राजा राज्य करता था। वह न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करता था। वह धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थों का सन्तुलित रूप से उपयोग करता था। एक दिन वनपाल ने हर्ष-समाचार सुनाया कि सहस्राम्र वन में अनन्त जिनेन्द्र पधारे हैं। यह समाचार सुनकर वह अपने परिजन और पुरजनों से युक्त उस वन में पहुँचा। वहाँ उसने जिनेन्द्रदेव की पूजा की, स्तुति की और फिर वह अपने योग्य आसन पर बैठ गया। तब जिनेन्द्रदेव का धर्मोपदेश हुआ। उपदेश सुनकर उसे एक प्रकाश मिला। वह विचार करने लगा-मैंने मोहवश, अनादिकाल के संस्कारवश यह परिग्रह एकत्रित किया है। इसका त्याग किये बिना कल्याण संभव नहीं है। तब समय नष्ट करने से क्या लाभ है। यह सोचकर उसने अपने पुत्र सुपुत्र का राज्याभिषेक कर दिया और अनेक राजाओं के साथ उसने संयम ग्रहण कर लिया। उसने कठिन तप का आचरण किया, ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, षोडश कारण भावनाओं का सतत चिन्तन किया। फलतः उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। आयु के अन्त में समाधिमरण करके वह अच्युत नामक सोलहवें स्वर्ग का इन्द्र बना।

पूर्व भव

भरत क्षेत्र में सिंहपुर नगर के अधिपति महाराज विष्णु नामक राजा थे, जो इक्ष्वाकुवंशी थे। उनकी महारानी का नाम नन्दा था। देवों ने गर्भावतरण से छह माह पूर्व से पन्द्रह माह तक रत्नवर्षा की। एक दिन महारानी ने ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्रके योग में प्रातःकाल के समय सोलह स्वप्न देखे और अपने मुख में एक हाथी को प्रवेश करते हुए देखा। उसी समय अच्युतेन्द्र का जीव अपनी आयु पूरी करके महारानी नन्दा के गर्भ में अवतरित हुआ। प्रातःकाल उठने पर महारानी ने अपने पति के पास जाकर उन्हें अपने देखे हुए स्वप्न सुनाये और उनका फल पूछा। महाराज ने स्वप्न सुनकर बड़ा हर्ष प्रगट किया और स्वप्नों का फल बताया कि तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर ने अवतार लिया है। इन्द्रों और देवों ने आकर तीर्थंकर के गर्भ कल्याणक का महोत्सव किया।

गर्भावतरण

देवियाँ माता की सेवा करती थीं। वे उनका मनोरंजन करने से लेकर स्नान आदि सब काम करती थीं। माता को गर्भ का काल कब व्यतीत हो गया, यह पता ही नहीं चला और फागुन कृष्णा एकादशी के दिन विष्णुयोग में तीन ज्ञान के धारक तीन लोक के प्रभु को जन्म दिया। पुत्र का जन्म होते ही तीनों लोकों के जीवों का मन हर्ष से भर गया। रोगियों के रोग शान्त हो गये। शोक वाले शोक रहित हो गये। तभी चारों जाति के देव अपने इन्द्रों के साथ विविध वाहनों पर आये। चारों ओर देव दुन्दुभि बजा रहे थे, देवांगनायें नृत्य कर रही थीं, गन्धर्व मधुर गान कर रहे थे। सारे लोक में हर्ष व्याप्त था। इन्द्राणी द्वारा लाये हुए बालक को सौधर्मेन्द्र ने गोद में लेकर सहस्र नेत्र बनाकर उस बाल-प्रभु के दर्शन किये और ऐरावत हाथी पर बैठाकर देवों के साथ सुमेरु पर्वत पर जा पहुँचा। वहाँ देवों ने क्षीरसागर के जल से परिपूर्ण एक हजार कलशों से भगवान का अभिषेक किया। इन्द्राणी ने उन्हें वस्त्राभूषणों से अलंकृत किया। सौधर्मेन्द्र ने उनकी लोकोत्तर छवि देखते हुए उनका नाम श्रेयान्स रक्खा। उनका चिन्ह गेंडा था।

जन्म कल्याणक

धीरे धीरे श्रेयान्स कुमार बढ़ने लगे। जब उनका कुमार काल व्यतीत हो गया और उन्होंने यौवन में पदार्पण किया, पिता ने अपना राज्य पुत्र को सौंप दिया। अब श्रेयान्सनाथ ने राज्य-भार संभाल लिया। उन्हें पूर्व पुण्य से सब प्रकार के भोग प्राप्त थे। प्रजा उनके पुण्य-प्रभाव और सुशासन से खूब सन्तुष्ट थी और निरन्तर समृद्धि की ओर बढ़ रही थी। उनका शासन कल्याणकारी था।

दीक्षा कल्याणक

एक दिन वसन्त ऋतु का परिवर्तन देखकर उनके मन में विचार प्रस्फुटित हुआ—काल बड़ा बलवान है, ऐसा कहा जाता है। किन्तु काल भी छिन छिन में छीज रहा है। जब काल ही अस्थिर है, तब संसार में स्थिर क्या है ? केवल शुद्ध स्वरूप आत्मा के गुण ही अविनश्वर हैं। जब तक शुद्ध आत्मस्वरुप की प्राप्ति न हो जाय, तब तक निश्चिन्त नहीं हो सकता,

भगवान यह विचार कर रहे थे, तभी सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने आकर उनकी स्तुति की और उनके वैराग्य की सराहना की।

भगवान ने अपने पुत्र श्रेयस्कर को राज्य सौंप दिया और देवों द्वारा उठाई गई विमलप्रभा नामक पालकी में आरूढ़ होकर नगर के बाह्य अंचल में स्थित मनोहर उद्यान में पहुँचे। वहाँ पहुँच कर दो दिन के लिये आहार का त्याग कर फाल्गुन कृष्णा एकादशी को प्रातःकाल के समय श्रवण नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान प्रगट हो गया।

उन्होंने पारणा के लिये सिद्धार्थ नगर में प्रवेश किया। वहाँ नन्द राजा ने भगवान को भक्तिपूर्वक आहार दिया। देवों ने पंचाश्चर्य किये।

भगवान श्रेयान्सनाथ ने तप करते हुए दो वर्ष विभिन्न स्थानों पर विहार करते हुए बिताये। वे फिर विहार करते हुए अपने दीक्षा-वन में पधारे। वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे तुम्बुर वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ हो गये। वहीं पर उन्हें माघ कृष्णा अमावस्या के दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल के समय केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों और इन्द्रों ने आकर केवलज्ञान कल्याणक उत्सव मनाया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमें देव, मनुष्य और तिर्यंचों के पुण्य योग से भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी। इस प्रकार उन्होंने धर्मचक्र प्रवर्तन किया।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान के कुन्थु आदि सतत्तर गणधर थे। १३०० पूर्वधर, ४८२०० शिक्षक, ६००० अवधिज्ञानी, ६५०० केवलज्ञानी, ११००० विक्रियाऋद्धिधारी, ६००० मनःपर्ययज्ञानी और ५००० वादी मुनि थे। इस प्रकार कुल मिलाकर ८४००० मुनि थे। इनके अतिरिक्त धारणा आदि १२०००० अर्जिकायें थीं। २००००० श्रावक और ५००००० श्राविकायें थीं।

भगवान का परिवार

केवलज्ञान के पश्चात् भगवान विभिन्न देशों में विहार करके भव्य जीवों को उपदेश देते रहे। जब आयु कर्म का अन्त होने में एक माह शेष रह गया, तब वे सम्मेदशिखर पहुँचे। वहाँ एक माह तक योग निरोध कर एक हजार मुनियों के साथ श्रावण शुक्ला पूर्णमासी के दिन सायंकाल के समय धनिष्ठा नक्षत्र में अघातिया कर्मों का क्षय करके मुक्त हो गये।

निर्वाण कल्याणक

देवों ने आकर धूमधाम से उनका निर्वाण कल्याणक मनाया।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान श्रेयान्सनाथ के सेवक यक्ष का नाम यक्षेश्वर और सेविका यक्षिणी का नाम गौरी था।

सिंहपुरी

भगवान श्रेयान्सनाथ का जन्म सिंहपुरी में हुआ था। यह स्थान वाराणसी से सड़क मार्ग द्वारा छह किलोमीटर है। वाराणसी से टैक्सी और बस बराबर मिलती हैं। ट्रेन से जाना हो तो सारनाथ स्टेशन उतरना चाहिए। वहाँ से जैन मन्दिर तीन फर्लांग है। आजकल यह स्थान सारनाथ कहलाता है। यहां श्रेयान्सनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थ।

यहाँ एक शिखरवन्द दिगम्बर जैन मन्दिर है। मन्दिर में भगवान श्रेयान्सनाथ की ढाई फुट अवगाहना

वाली श्याम वर्ण मनोज्ञ प्रतिमा विराजमान है। इसकी प्रतिष्ठा सम्वत् १८८१ में मार्गशीर्ष शुक्ला षष्ठी शुक्रवार को पभौसा पर्वत पर हुई थी। यह भेलूपुरा के मन्दिर से लाकर यहाँ विराजमान की गई थी। इस प्रतिमा के आगे भगवान श्रेयान्सनाथ की एक श्वेत वर्ण तथा भगवान पार्श्वनाथ की श्यामवर्ण प्रतिमा विराजमान है। वेदी के पृष्ठ भाग में एक अलमारी में एक शिलाफलक में नन्दीश्वर चैत्यालय हैं, जिसमें ६० प्रतिमायें बनी हुई हैं। यह भूगर्भ से मिली थी।

मन्दिर के आगे सरकार की ओर से घास का लान और पुष्प-वाटिका बनी हुई है। यहीं पर अशोक द्वारा निर्मित्त स्तूप बना हुआ है जो १०३ फुट ऊँचा है। स्तूप के ठीक सामने सिंहद्वार बना हुआ है। द्वार बड़ा कला-पूर्ण है। दोनों स्तम्भों के शीर्ष पर सिंहचतुष्क बना हुआ है। सिंहों के नीचे धर्मचक्र और दाई-बाईं ओर बैल और घोड़े की मूर्तियाँ अंकित हैं। इसी स्तम्भ की सिंहत्रयी को भारत सरकार ने राजचिन्ह के रूप में मान्यता प्रदान की है और धर्म-चक्र को राज्य-ध्वज पर अंकित किया गया है। यह बौद्ध तीर्थ माना जाता है, जहाँ बुद्ध ने धर्म-चक्र प्रवर्तन किया था।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि यह स्तूप भगवान श्रेयान्सनाथ की स्मृति में सम्राट् अशोक के पौत्र सम्राट् सम्प्रति ने बनवाया था। सारनाथ नाम भी श्रेयान्सनाथ से बिगड़ कर बना है।

त्रिपृष्ठ नारायण

निदान बन्ध

राजगृह नगर के अधिपति विश्वभूति और उसकी पत्नी जैनी के एक ही पुत्र था, जिसका नाम विश्वनन्दी था। विश्वभूति का एक भाई था विशाखभूति। उसकी स्त्री का नाम लक्ष्मणा था। उनके पुत्र का नाम विशाखनन्द था। वह निपट मूर्ख था।

एक दिन शरद ऋतु के मेघ का नाश देखकर विश्वभूति नरेश को वैराग्य हो गया। उसने अपने छोटे भाई विशाखभूति को राज्य दे दिया और युवराज पद अपने पुत्र विश्वनन्दी को देकर मुनि-दीक्षा ले ली। विशाखभूति राज्य-शासन चलाने लगा।

उस नगर के बाहर नन्दन उद्यान था, जो लताओं, गुल्मों और पुष्पों से परिपूर्ण था। विश्वनन्दी को यह उद्यान बहुत पसन्द था। एक दिन वह अपनी स्त्रियों के साथ उस स्थान में विहार कर रहा था। विशाखनन्द ने उसे देखा और द्वेषवश वह उस उद्यान पर अधिकार करने का उपाय सोचने लगा। तभी वह अपने पिता विशाखभूति के पास पहुँचकर बोला—'यह नन्दन उद्यान मैं चाहता हूँ। इसे आप मुझे दे दीजिये, अन्यथा मैं राज्य छोड़कर अन्यत्र चला जाऊँगा।' विशाखभूति बोला—'यह क्या बड़ी बात है। वह उद्यान तुम्हें दे दूँगा।'

राजा ने युवराज विश्वनन्दी को बुलाया और कहने लगा—'पुत्र! मैं समीपवर्ती राजाओं पर आक्रमण करके उनके उपद्रव शान्त करने जा रहा हूँ। तब तक राज्य का भार तुम ग्रहण करो।' विश्वनन्दी यह सुनकर बोला—'पूज्यपाद! आप यहीं पर निश्चिन्त रहें। मैं जाकर अल्प काल में उन राजाओं को पराजित करके शीघ्र लौट आऊँगा।'

विश्वनन्दी चाचा की आज्ञा से सेना सजाकर चल दिया। तभी विशाखभूति ने नन्दन उद्यान अपने पुत्र विशाखनन्द को दे दिया। विश्वनन्दी को इस घटना का पता तत्काल चल गया। उसे चाचा के इस छल को देखकर बड़ा क्रोध आया। वह फौरन लौट आया और उद्यान पर अधिकार करने वाले विशाखनन्द को मारने को उद्यत हो गया। विशाखनन्द भयभीत होकर कैथ के वृक्ष पर चढ़ गया। विश्वनन्दी ने क्रोध में उस वृक्ष को जड़ समेत उखाड़ डाला और उसी से विशाखनन्द को मारने को झपटा। विशाखनन्द वहाँ से भागकर एक पाषाण-स्तम्भ के पीछे जा छिपा। विश्वनन्दी पीछा करता हुआ वहीं जा पहुँचा और मुष्टिका प्रहार से उस स्तम्भ को ही तोड़ दिया। विशाखनन्द वहाँ से भी भागा। तब विश्वनन्दी को उस पर दया आ गई और उसे अभय देते हुए वह उद्यान भी उसे ही दे दिया किन्तु मन में ऐसी खिन्नता भर गई कि वह तत्काल वहाँ से चलकर सम्भूत मुनि के पास पहुँचा और उनसे मुनि-दीक्षा ले ली। इस घटना से विशाखभूति को भी बड़ा पश्चाताप हुआ, उसे अपनी भूल पर दुःख हुआ और उसने भी राजपाट छोड़ कर संयम धारण कर लिया।

मुनि विश्वनन्दी घोर तपश्चर्या करने लगे। शरीर अत्यन्त कृश हो गया। विहार करते हुए वे मथुरा पहुँचे। वे आहार के निमित्त नगर में गये। शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था, पैर डगमगा रहे थे। विशाखनन्द व्यसनों के कारण राज्यभ्रष्ट होकर मथुरा आया हुआ था। उस समय वह एक वेश्या के मकान की छत पर बैठा हुआ था। तभी एक सद्यःप्रसूता गाय ने मुनि विश्वनन्दी को धक्का देकर गिरा दिया। उन्हें गिरते देखकर विशाखनन्दी उनका उपहास करता हुआ बोला—पत्थर का खम्भा तोड़ने वाला तुम्हारा पराक्रम क्या यही है?' बात मुनि के मन में चुभ गई। उन्होंने निदान किया कि मैं इस उपहास का बदला विशाखनन्दी से अवश्य लूंगा। इस प्रकार निदान-बन्ध कर

के उनका मरण हो गया। वे मरण कर महाशुक्र विमान में देव हुए। विशाखभूति मुनि भी मर कर इसी स्वर्ग में देव हुए।

त्रिपृष्ठ नारायण के रूप में—सुरम्य देश के पोदनपुर नगर के नरेश प्रजापति की दो रानियाँ थीं—जयावती और मृगावती। विशाखभूति का जीव स्वर्ग से आयु पूरी करके जयावती का पुत्र विजय हुआ और विश्वनन्दी का जीव मृगावती के त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुआ।

विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी के अलकापुर नगर में मयूरग्रीव नाम का विद्याधरों का राजा रहता था। उसकी रानी का नाम नीलांजना था। विशाखनन्द का जीव विभिन्न योनियों में भटकता हुआ उस विद्याधर नरेश के अश्वग्रीव नाम का पुत्र हुआ।

विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर चक्रवाल नामक एक प्रसिद्ध नगर था। ज्वलनजटी नामक विद्याधर उस नगर का स्वामी था। उसकी रानी का नाम वायुवेगा था। उनके अर्ककीर्ति नामक पुत्र और स्वयंप्रभा नामक पुत्री थी। स्वयंप्रभा अत्यन्त सुन्दरी थी। यौवन में पदार्पण करते ही उसका सौन्दर्य सम्पूर्ण कलाओं से सुशोभित हो उठा। उसे देखकर ज्वलनजटी विचार करने लगा कि मेरी पुत्री के उपयुक्त कौन पात्र है। उसने निमित्त शास्त्र में कुशल पुरोहित से इस सम्बन्ध में परामर्श किया। पुरोहित बोला—यह सर्व शुभ लक्षणों से सम्पन्न कन्या प्रथम नारायण की पट्टमहिषी बनेगी। प्रथम नारायण पोदनपुर में उत्पन्न हो चुका है।

ज्वलनजटी ने तत्काल नीतिकुशल इन्द्र नामक मन्त्री को बुलाया और उसे पत्र तथा भेंट देकर पोदनपुर को भेजा। मन्त्री रथ में आरुढ़ होकर पोदनपुर पहुँचा। वहाँ ज्ञात हुआ कि पोदनपुर नरेश पुष्पकरण्डक नामक वन में वन-विहार के लिये गये हुए हैं। वह उस वन में पहुँचा और राजा के समक्ष जाकर मन्त्री ने उन्हें प्रणाम किया तथा उनके चरणों में भेंट रखकर पत्र समर्पित किया। राजा ने पत्र खोलकर पढ़ा। पत्र में जो लिखा था, उसका आशय यह था—विद्याधरों का स्वामी, महाराज नमि के वंश रूपी आकाश का सूर्य मैं ज्वलनजटी रथनूपुर से पोदनपुर नगर के स्वामी, भगवान वृषभदेव के पुत्र बाहुबली के वंशावतंस महाराज प्रजापति को सिर से नमस्कार करके कुशल प्रश्न के अनन्तर निवेदन करता हूँ कि हमारा और आपका वैवाहिक सम्बन्ध अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। मेरी पुत्री स्वयंप्रभा जो सौन्दर्य और गुणों में लक्ष्मी सदृश है, आपके प्रतापी पुत्र त्रिपृष्ठ की अर्धाङ्गिनी बने, मेरी यह हार्दिक इच्छा है।

महाराज प्रजापति पत्र पढ़ कर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—भाई ज्वलनजटी को जो इष्ट है, वह मुझे भी इष्ट है। यह कहकर उन्होंने बड़े आदर के साथ मन्त्री को विदा किया। मन्त्री ने यह हर्ष-समाचार अपने स्वामी को दिया। ज्वलनजटी अपने पुत्र अर्ककीर्ति के साथ स्वयंप्रभा को लेकर पोदनपुर आया और बड़े वैभव के साथ अपनी पुत्री का विवाह त्रिपृष्ठ के साथ कर दिया। इसके अतिरिक्त उसने त्रिपृष्ठ के लिए सिंहवाहिनी और गरुड़वाहिनी नामक दो विद्याएं भी प्रदान कीं।

जब अश्वग्रीव को अपने चरों द्वारा इस विवाह के समाचार ज्ञात हुए तो वह ईर्ष्या और क्रोध से भड़क उठा। वह अनेक विद्याधर राजाओं, रणकुशल सैनिकों और अस्त्र-शस्त्रों से सज्जित होकर रथावर्त नामक पर्वत पर आ पहुँचा। अश्वग्रीव के अभियान की बात सुनकर राजकुमार त्रिपृष्ठ भी सेना को सज्जित कर युद्धक्षेत्र में आ डटा। दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। अश्वग्रीव से त्रिपृष्ठ जा भिड़ा। दोनों में भयानक युद्ध हुआ। अन्त में त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव को बुरी तरह पराजित कर दिया। किन्तु अश्वग्रीव पराजय स्वीकार करने वाला व्यक्ति नहीं था। उसने क्रुद्ध होकर त्रिपृष्ठ के ऊपर भयानक चक्र चला दिया। सारी सेना आतंक के मारे सिहर उठी। किन्तु वह चक्र त्रिपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उसकी दाहिनी भुजा पर ठहर गया। त्रिपृष्ठ ने चक्र लेकर शत्रु के ऊपर फेंका। उसने जाते ही शत्रु की गर्दन धड़ से अलग कर दी।

त्रिपृष्ठ अर्धचक्री अर्थात् नारायण बनकर भरत क्षेत्र के तीन खण्डों का अधीश्वर बन गया। प्रतिनारायण अश्वग्रीव पर विजय प्राप्त कर नारायण त्रिपृष्ठ अपने भाई विजय के साथ विजयार्ध पर्वत पर गया। वहाँ उसने दक्षिण और उत्तर दोनों श्रेणियों के राजाओं को एकत्रित करके ज्वलनजटी को दोनों श्रेणियों का सम्राट् बना दिया।

विजय और त्रिपृष्ठ दोनों प्रथम बलभद्र और नारायण थे। विजय का शरीर शंख के समान श्वेत तथा त्रिपृष्ठ का शरीर इन्द्रनील मणि के समान नील था। वे दोनों सोलह हजार मुकुटबद्ध राजाओं, विद्याधरों एवं व्यंतर देवों के अधिपति थे। त्रिपृष्ठ के देवरक्षित धनुष, शंख, चक्र, दण्ड, असि, शक्ति और गदा ये सात रत्न थे। उसकी सोलह हजार रानियाँ थी तथा बलभद्र के आठ हजार स्त्रियाँ थीं। उनके चार रत्न थे—हल, मूसल, गदा और भाला। त्रिपृष्ठ नारायण चिर काल तक भोग भोगकर अत्यधिक आरम्भ और परिग्रह के कारण मरकर सातवें नरक में गया। विजय ने भाई के वियोग से दुःखित होकर सुवर्णकुम्भ नामक मुनिराज के पास संयम धारण कर लिया। वह घोर तपस्या करके केवली हुआ। अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

(त्रिपृष्ठ का यह जीव ही आगे जाकर चौबीसवाँ तीर्थंकर महावीर बना।)

त्रयोदश परिच्छेद

भगवान वासुपूज्य

पुष्करार्ध द्वीप के पूर्व मेरु की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर वत्सकावती नाम का देश था। उसके रत्नपुर नगर का स्वामी पद्मोत्तर नाम का राजा था। उस राजा की कीर्ति चारों दिशाओं में व्याप्त थी। वह अनेक गुणों का पुंज और प्रजा-वत्सल था। एक दिन मनोहर पर्वत पर युगन्धर जिनराज पधारे।

पूर्व भव

राजा को उनके आगमन का समाचार मिलते ही वह उनके दर्शनों के लिए पहुँचा। उसने भक्ति-पूर्वक जिनराज की वन्दना और स्तुति की। भगवान का उपदेश सुनकर उसका मन वैराग्य के रंग में रंग गया। उसे संसार निःसार अनुभव होने लगा। उसने तभी आकर अपने पुत्र धनमित्र को राज्य सौंप दिया और अनेक राजाओं के साथ जिनदेव से मुनि-दीक्षा ले ली। उसने जिनराज के चरणों में ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया। फलतः उसे तीर्थंकर नाम कर्म का वन्ध हो गया। अन्त में सन्यास मरण करके वह महाशुक्र विमान में इन्द्र बना।

चम्पा नगरी अंग देश की राजधानी थी। वहाँ के अधिपति महाराज वसुपूज्य थे जो इक्ष्वाकु वंशी काश्यप गोत्री थे। उनकी पत्नी का नाम जयावती था। गर्भकल्याणक से छह माह पूर्व से देवों ने उनके यहाँ रत्नवर्षा करना प्रारम्भ किया। रानी ने आषाढ़ कृष्णा षष्ठी के दिन चौवीसवें शतमिषा नक्षत्र में रात्रि के

गर्भ कल्याणक

अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे। उन्होंने प्रातःकाल होने पर पति से स्वप्नों की चर्चा की और उनका फल पूछा। पतिदेव ने उनका फल वर्णन किया, सुनकर रानी वड़ी हर्षित हुई। उसी दिन महाशुक्रेन्द्र का जीव आयु पूरी करके उनके गर्भ में अवतरित हुआ। देवों ने आकर भगवान का गर्भ कल्याणक महोत्सव किया।

नौवें माह के पूरे होने पर फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन वारुण योग में सव प्राणियों का हित करने वाले पुत्र का जन्म हुआ। वह पुत्र असाधारण था, उसका जन्म-महोत्सव भी असाधारण ढंग से मनाया गया। चारों जाति के देव और इन्द्र चम्पापुरी में आये। सौधर्मेन्द्र शची द्वारा सौर गृह से लाये हुए वालक को

जन्म कल्याणक

ऐरावत गज पर आरूढ़ करके सब देवों के साथ सुमेरु पर्वत पर पहुँचे। वहाँ उन्होंने क्षीर-सागर के जल से प्रभु का जन्माभिषेक किया। शची ने प्रभु का श्रृंगार किया। फिर वालक को लेकर चंपापुरी लौटे। वालक को माता को सौंपा और इन्द्र ने वालक का नाम वासुपूज्य रक्खा। इनका शरीर लाल कमल के समान लाल था। पैर में भैंसे का चिन्ह था।

भगवान के पुण्य-प्रभाव से माता-पिता तथा प्रजा के धन-धान्य, सुख-ऐश्वर्य सभी प्रकार की वृद्धि होने लगी। वाल भगवान गुणों की खान थे। जव भगवान यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तव उन्होंने विवाह के वन्धन में वंधना स्वीकार नहीं किया और वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे। एक दिन वे एकान्त में वैठे चिन्तन

दीक्षा कल्याणक

में लीन थे, तभी अवधिज्ञान से उन्होंने अपने पिछले जन्म का ज्ञान किया। उनके गत जन्म में जो नाना घटनायें घटित हुई थीं, उन्हें जानकर मन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि यहाँ सब चंचल है, नाशवान है। जो है, सब राग रूप है, दुःख रूप है। फिर ऐसे संसार से मोह जोड़कर लाभ क्या? जिसका विछोह अनिवार्य है, उससे ममत्व का नाता क्यों?

भगवान इस प्रकार के चिन्तन में लीन थे, तभी लौकान्तिक देव वहाँ आये और उन्होंने भगवान की स्तुति करके उनके विचारों की प्रशंसा की। देवों ने दीक्षा कल्याणक के समय होने वाला अभिषेक किया, विविध वस्त्रा-भूषण पहनाये। भगवान देवों द्वारा लाई हुई पालकी पर आरूढ़ होकर मन्दारगिरि के वन में पहुँचे और एक दिन के उपवास का नियम लेकर फागुन कृष्णा चतुर्दशी को सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में सामायिक चारित्र धारण कर छह सौ छहत्तर राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा लेते ही उनकी परिणाम-विशुद्धि के कारण तत्काल मनः-पर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

वे पारणा के लिए जब नगर में पधारे तो सुन्दर नरेश ने उन्हें आहार-दान देकर पुण्य-बन्ध किया और पंचाश्चर्य का सम्मान प्राप्त किया।

भगवान तप करने लगे। छद्मस्थ अवस्था का एक वर्ष बीतने पर वे विहार करते हुए दीक्षा-वन में पधारे। वहाँ उन्होंने कदम्ब वृक्ष के नीचे बैठकर उपवास का नियम लिया और माघ शुक्ला द्वितीया के दिन सायंकाल के समय विशाखा नक्षत्र में चार घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्राप्त किया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। इन्द्रों और देवों ने आकर उनकी पूजा की। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमें श्रीमण्डप के बीच गन्धकुटी में अशोक वृक्ष के नीचे कमलासन पर विराजमान होकर भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी। इस प्रकार उन्होंने मन्दारगिरि पर धर्म-चक्र-प्रवर्तन करके धर्म की विच्छिन्न कड़ी को पुनः जोड़ा।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान का संघ—उनके धर्म आदि छियासठ गणधर थे। उनके संघ में १२०० पूर्वधर, ३९२०० शिक्षक, ५४०० अवधि ज्ञानी, ६००० केवल ज्ञानी, १०००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ६००० मनःपर्ययज्ञानी और ४२०० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या ७२००० थी। इनके अतिरिक्त सेना आदि १०६००० आर्यिकायें थीं। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—भगवान ने समस्त आर्य क्षेत्रों में विहार करके धर्म-वर्षा की और विहार करते हुए चम्पापुरी में एक हजार वर्ष तक रहे। जब आयु में एक मास शेष रह गया, तब योग निरोध कर रजतमालिका नदी के तट पर स्थित मन्दारगिरि के मनोहरोद्यान में पल्यंकासन से स्थित हुए तथा भाद्रपद[1] शुक्ला चतुर्दशी के दिन सायं काल के समय विशाखा नक्षत्र में चौरानवे मुनियों के साथ मुक्ति को प्राप्त हुए। देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—उनके सेवक यक्ष का नाम कुमार और यक्षिणी का नाम गान्धारी है।

चम्पापुरी

भगवान वासुपूज्य के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये पांचों कल्याणक चम्पानगरी में हुए थे। चम्पा के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसी नगरी नहीं है, जिसको किसी तीर्थंकर के पांचों कल्याणक मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। इस दृष्टि से चम्पा की विशेष स्थिति है। निर्वाण काण्ड, निर्वाण भक्ति, तिलोय-पण्णत्ति तथा सभी पुराण ग्रन्थों में चम्पा को वासुपूज्य भगवान की निर्वाण-भूमि माना है। केवल उत्तर पुराणकार ने पर्व ५८ श्लोक ५१-५३ में मन्दार पर्वत को वासुपूज्य भगवान की निर्वाण-स्थली लिखा है। किन्तु इससे चम्पा को उनकी निर्वाण-भूमि मानने में कोई असगति अथवा विरोध नहीं आता। चम्पापुरी उन दिनों काफी विस्तृत थी। पुराणों में उल्लेख है कि चम्पा का विस्तार अड़तालीस कोस में था। मन्दारगिरि तत्कालीन चम्पा का बाह्य उद्यान था और वह चम्पा में ही सम्मिलित था।

वर्तमान में मान्यता है कि चम्पा नाले में वासुपूज्य स्वामी के गर्भ और जन्म कल्याणक हुए थे, मन्दार-गिरि पर दीक्षा और केवल ज्ञान कल्याणक हुए तथा चम्पापुर में भगवान का निर्वाण हुआ।

---

१. यह उत्तर पुराण के अनुसार है।
तिलोयपण्णत्ति के अनुसार भगवान वासुपूज्य का निर्वाण फाल्गुन कृष्णा पंचमी, अपराह्न काल, अश्विनी नक्षत्र में ६०१ मुनियों के साथ चम्पापुर में हुआ।

यह नगरी अंग देश की राजधानी थी। ऋषभदेव भगवान ने जिन ५२ जनपदों की रचना की थी, उनमें अंग भी था। महावीर-काल में जिन छह महानगरियों की चर्चा आती है, उनमें चम्पा भी एक नगरी थी। हजारों वर्षों तक इक्ष्वाकु वंशी ही इसके शासक होते रहे।

यहाँ अनेकों धार्मिक घटनायें हुई थीं। यहाँ अनेक मुनि मोक्ष पधारे। यहाँ अनेक महापुरुष हुए।

—मिथिला नरेश पद्मरथ सुधर्म गणधर के दर्शनों को गये। उनका उपदेश सुनकर श्रावक के वारह व्रत धारण किये। उन्होंने गणधर भगवान से पूछा—'क्या संसार में कोई ऐसा भी व्यक्ति है जो आपके समान उपदेश दे सके।' गणधर बोले—हां, हैं। वे हैं भगवान वासुपूज्य जो संसार के गुरु हैं, त्रिलोक पूज्य हैं। वे इस समय चम्पा के उद्यान में विराजमान हैं।' राजा ने सुना तो वे तत्काल तीर्थंकर प्रभु के दर्शन करने चल दिये। मार्ग में गुप्तचर ने समाचार दिया कि अजातशत्रु की सेना आक्रमण के लिए आ रही है। पद्मरथ ने सेनापति को आज्ञा दी—सेना सज्जित करो, किन्तु शत्रु पक्ष का रक्त वहाये विना विजय प्राप्त करनी है। युद्ध हुआ, शत्रु पक्ष का एक भी सैनिक हताहत नहीं हुआ और विजय पद्मरथ की हुई। उन्होंने ऐसे शस्त्रों का प्रयोग किया, जिससे शत्रु वेहोश हो जाय, किन्तु मरे नहीं।

पद्मरथ फिर चलने को तैयार हुए, किन्तु तभी मिथिला नगरी में भयानक आग लग गई। इस आग में राजमहल भी जल गया, किन्तु राजा के मन में विकलता नाममात्र को भी न थी। मंत्रियों ने अपशकुन बताकर उन्हें रोकना चाहा, किन्तु दृढ़निश्चयी पद्मरथ ने कहा—वाधाओं को जीतना ही वीरों का काम है। और वह वीर तीर्थंकर प्रभु के दर्शनों को चल पड़ा। राह में देखा—कुछ कुष्ठ रोगी पीड़ा से कराह रहे हैं। राजा के मन में करुणा जागी और वे उनकी सेवा में जुट गये, उनके घाव साफ किये, मरहम पट्टी की। एक कोढ़ी ने उनके ऊपर वमन कर दिया, किन्तु उन्हें तनिक भी क्षोभ या ग्लानि नहीं आई, वल्कि वे अपनी सुधि भूलकर उस असहाय की सेवा करने लगे।

आगे वढ़े तो एक स्थान पर बलि देते हुए किसी को देखा। उसे प्रेम से समझाया। तभी विश्वानल और धन्वन्तरि देव आये और राजा की प्रशंसा करते हुए बोले—'राजन्! तुम धन्य हो। हमने ही तुम्हारी परीक्षा के लिए ये सव नाटक किये थे। किन्तु आप सम्यक्त्व में खरे उतरे।' फिर वे दोनों देव राजा को एक अद्भुत भेरी और व्याधिहर हार देकर चले गये।

राजा भेरी वजाते हुए चम्पा के उद्यान में पहुँचे और वहाँ वासुपूज्य स्वामी की वन्दना करके उनकी स्तुति की। भगवान का उपदेश हुआ। उपदेश सुनकर पद्मरथ को वैराग्य हो गया। उन्होंने वहीं भगवान के चरणों में दीक्षा ले ली। उन्होंने ऐसी साधना की कि उन्हें मनःपर्ययज्ञान हो गया। वे भगवान के गणधर वन गये और भगवान के ही साथ निर्वाण प्राप्त किया।

—चम्पा नरेश मघवा की पुत्री रोहिणी अत्यन्त सुन्दरी थी। सौन्दर्य में वह मानो रति ही थी। उसका स्वयंवर हुआ। उसने हस्तिनापुर नरेश वीतशोक के सुदर्शन पुत्र अशोक के गले में वरमाला डाल दी। दोनों आनन्द-पूर्वक रहने लगे। पिता के वाद अशोक राजा वना। एक बार दोनों भगवान वासुपूज्य के दर्शनों के लिए चम्पापुरी गये। भगवान का उपदेश सुनकर दोनों ने दीक्षा ले ली। मुनि अशोक भगवान के गणधर बने और अन्त में मोक्ष पधारे। रोहिणी अच्युत स्वर्ग में देव हुई।

—सेठ सुदर्शन यहीं उत्पन्न हुए थे और उन्हें पाटलिपुत्र में निर्वाण प्राप्त हुआ।

—चम्पानगर में धर्मघोष नामक एक श्रेष्ठी थे, वे मुनि हो गये। वे मासोपवासी थे। वे पारणा के निमित्त नगर को आ रहे थे, किन्तु मार्ग में घास होने के कारण गंगा- तट पर एक वट वृक्ष के नीचे वैठ गये। वे ध्यान में मग्न हो गये। तभी उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और वे वहीं से मुक्त हुए।

—राजा कर्ण यहीं के राजा थे, जिनकी दानवीरता की अनेक कथायें प्रचलित हैं।

सोमा सती, सती अनन्तमती, कोटिभट श्रीपाल आदि पुराणप्रसिद्ध महापुरुषों का जन्म इसी नगरी में हुआ था।

यहाँ भगवान महावीर, सुधर्म और केवली जम्बूस्वामी भी पधारे थे। जब केवली सुधर्मा स्वामी यहाँ पधारे थे, तब यहाँ का शासक अजातशत्रु, जो श्रेणिक विम्बसार का पुत्र था, नंगे पांव उनके दर्शनों के लिये गया था। अजातशत्रु ने राजगृही से हटाकर चम्पा को अपनी राजधानी बनाया था।

—यहाँ युधिष्ठिर सं० २५५६ (ई० पू० ५४१) में जयपुर के सरदार संघवी श्रीदत्त और उसकी पत्नी संघविन सुरजयी ने वासुपूज्य भगवान का एक मंदिर[1] बनवाया था। यह अनुश्रुति है कि नाथनगर में जो दिगम्बर जैन मन्दिर है वह वही पूर्वोक्त मन्दिर है।

यहाँ एक मन्दिर सेठ घनश्यामदास सरावगी द्वारा सवत् २००० में बनवाया गया। इसमें विराजमान प्रतिमाओं पर लेख नहीं है। लांछन है। जनश्रुति है कि ये प्रतिमायें ई० पू० ५४१ में निर्मित मन्दिर की हैं। किन्तु यह भी धारणा है कि पहले ये प्रतिमायें चम्पा नाले के मन्दिर में विराजमान थीं। भूकम्प आने से मन्दिर धराशायी हो गया, किन्तु प्रतिमायें सुरक्षित रहीं। वे प्रतिमायें यहाँ लाकर विराजमान कर दी गई। इनमें चार प्रतिमायें ऋषभदेव भगवान की हैं जिनके सिर पर विभिन्न शैली की जटायें या जटाजूट हैं और एक प्रतिमा महावीर भगवान की है। ये प्रतिमायें अत्यन्त प्राचीन हैं। संभव है, कुषाण काल की हों। किन्तु इसमें संदेह नहीं है कि ये प्रतिमायें जिस मन्दिर की थीं, वह मन्दिर चम्पापुरी का सबसे प्राचीन और मूल मन्दिर था।

नाथनगर के वर्तमान मन्दिर में पूर्व और दक्षिण की ओर दो मानस्तम्भ बने हुए हैं। इनमें ऊपर जाने के लिये सीढ़ियाँ भी थीं, किन्तु अब वन्द कर दी गई हैं। पहले यहाँ चारों दिशाओं में मानस्तम्भ बने हुए थे किन्तु दो शताब्दी पूर्व भूकम्प में दो मानस्तम्भ गिर गये। अवशिष्ट दोनों मानस्तम्भों का भी जीर्णोद्धार किया गया है। पूर्व वाले मानस्तम्भ के नीचे से एक सुरंग जाती थी जो १८० मील लम्बी थी और वह सम्मेदशिखर की चन्द्रप्रभ टोंक पर निकलती थी। किन्तु भूकम्प में जमीन धसक जाने से वह स्वतः वन्द हो गई।

सरकारी कागजातों के अनुसार यह मन्दिर ९०० वर्ष प्राचीन है। नाथनगर से चम्पानाला लगभग एक मील है। इस नाले के किनारे एक दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमें वासुपूज्य स्वामी की एक अन्य प्रतिमा और चरणयुगल अंकित हैं। यही स्थान प्राचीन चम्पा कहलाता है।

मन्दारगिरि—मन्दारगिरि भागलपुर से ३१ मील है। रेल और बस द्वारा जा सकते हैं। दि० जैन धर्मशाला बोंसी स्टेशन के सामने बनी हुई है। यहाँ से क्षेत्र दो मील दूर पड़ता है।

मन्दारगिरि पर चम्पापुर का मनोहर उद्यान था। यह चम्पापुर के बाह्य अंचल में था। इसी वन में भगवान वासुपुज्य ने दीक्षा ली तथा यहीं पर उन्हें केवलज्ञान हुआ। इस प्रकार यहाँ भगवान के दो कल्याणक हुए थे।

धर्मशाला से एक फर्लाग चलने पर वी० सं० २४६१ में निर्मित सेठ तलकचन्द्र कस्तूरचन्द जी बारामती वालों का मन्दिर है। वहाँ से लगभग डेढ़ मील चलने पर तालाब मिलता है, जिसे पापहारिणी कहते हैं। मकर संक्रान्ति में यहाँ वैष्णव लोगों का मेला भरता है। सब लोग स्नान करके पहाड़ पर वासुपूज्य स्वामी के दर्शन करने जाते हैं।

तालाब से आगे चलने पर कई कुण्ड मिलते हैं। पहाड़ की चढ़ाई एक मील से कुछ अधिक है। पहाड़ी के ऊपर बड़ा दिगम्बर जैन मन्दिर है। मन्दिर की दीवालें साढ़े तीन हाथ चौड़ी हैं। वेदी पर भगवान के चरण-चिन्ह बने हुए हैं। मन्दिर के ऊपर डबल शिखर है। बड़े मन्दिर के निकट छोटा शिखरबन्द दिगम्बर जैन मन्दिर है। इसमें तीन प्राचीन चरण-युगल बने हुए हैं। इस मन्दिर से आगे एक शिला के नीचे चरण बने हुए हैं।

हिन्दू जनता में यह विश्वास प्रचलित है कि इसी मन्दराचल के चारों ओर वासुकि नाग को लपेट कर उससे समुद्र मन्थन किया गया था। पहाड़ के चारों ओर वासुकि नाग की रगड़ के चिन्ह भी बड़े कौशल से बना दिये गये हैं।

किन्तु हिन्दू पुराणों—जैसे वाराह पुराण अ० १४३, वामन पुराण अ० ४४, महाभारत अनुशासन पर्व १६ और वन पर्व अ० १६२-१६४ के देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह मन्दराचल हिमालय में बदरिकाश्रम (बद्रीनाथ) के उत्तर में था। किन्तु पता नहीं, हिन्दू जनता में भागलपुर जिले के इस मन्दारगिरि को मन्दराचल मानने की गलत धारणा कबसे चल पड़ी।

द्विपृष्ठ नारायण, तारक प्रतिनारायण

भरत क्षेत्र में कनकपुर का नरेश सुषेण था। उसके राजदरबार में गुणमंजरी नामक एक नर्तकी थी जो अत्यन्त रूपवती और नृत्यकला में पारंगत थी। उसकी ख्याति दूर-दूर तक थी। कई राजा भी उसे चाहते थे। मलय देश के विन्ध्य नगर के राजा विन्ध्यशक्ति ने तो उसे प्राप्त करने के लिए रत्न आदि उपहार देकर एक दूत को राजा के पास भेजा। दूत ने जाकर राजा से अपने आने का प्रयोजन प्रगट किया—'महाराज! आपके यहाँ जो नर्तकीरत्न है, उसे महाराज विन्ध्यशक्ति देखना चाहते हैं। उसे मेरे साथ भेज दीजिये। उसे मैं वापस लाकर आपको सौंप दूँगा।' सुषेण दूत के ये वचन सुनकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और दूत का अपमान कर उसे निकाल दिया। दूत ने सारा समाचार अपने स्वामी से कह दिया। विन्ध्यशक्ति सुनकर क्रोधित हो गया और मंत्रियों से परामर्श करके सेना लेकर युद्ध के लिये चल दिया। दोनों राजाओं में घोर युद्ध हुआ। उसमें सुषेण पराजित हुआ। विन्ध्यशक्ति ने बलात् नर्तकी को छीन लिया। सुषेण अपनी पराजय से बड़ा खिन्न हुआ। उसने सुव्रत जिनेन्द्र के पास जाकर मुनि-दीक्षा लेली। उसने घोर तप किया और शत्रु से बदला लेने का निदान बन्ध करके सन्यासमरण द्वारा प्राणत स्वर्ग में देव हुआ।

पूर्वजन्म में निदान

महापुर नगर के नरेश वायुरथ ने चिरकाल तक राजलक्ष्मी का भोग किया, फिर उसने सुव्रत जिनेन्द्र के पास मुनि-दीक्षा लेली। अन्त में समाधिमरण कर वह उसी प्राणत स्वर्ग में इन्द्र बना।

द्वारावती नगरी के राजा ब्रह्म की रानी सुभद्रा के गर्भ में प्राणत स्वर्ग का इन्द्र आया। पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम अचलस्तोक रक्खा गया। उसका वर्ण कुन्द पुष्प के समान कान्ति वाला था। राजा ब्रह्म की दूसरी रानी उषा के गर्भ में प्राणत स्वर्ग का वह देव आया। पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका नाम द्विपृष्ठ रक्खा गया। उसके शरीर का वर्ण इन्द्रनील मणि के समान कान्ति वाला था। दोनों भाइयों में अगाध प्रेम था। दोनों राजकुमार आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करते थे।

नारायण और प्रतिनारायण

राजा विन्ध्यशक्ति संसार में विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करता हुआ भोगवर्धन नगर के राजा श्रीधर की महारानी से तारक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वह यौवनसम्पन्न हुआ तो उसके शस्त्रागार में देवों द्वारा रक्षित सुदर्शन चक्र उत्पन्न हुआ। चक्र पाकर तारक को बड़ा हर्ष हुआ। उसने चतुरंगिणी सेना सजाई और दिग्विजय के लिए निकला। अपनी शक्ति और चक्र के बल से उसने कुछ ही समय में आधे भरत खण्ड को जीत लिया। अपने साम्राज्य में उसके नाम से ही लोग आतंकित हो जाते थे। प्रकृति से वह उग्र था। वह कृष्ण वर्ण का था।

उधर अचल और द्विपृष्ठ दोनों भाइयों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। तारक को उनका यह प्रभाव सहन नहीं हुआ। उसने दोनों भाइयों का निग्रह करने के लिए उपाय सोचा और एक दूत को उनके पास भेजा। दूत अधिकार भरे स्वर में दोनों भाइयों से बोला—सम्पूर्ण शत्रुओं का मान भंग करने वाले चक्रवर्ती तारक महाराज ने आदेश दिया है कि तुम्हारे पास जो भीमकाय गन्धहस्ती है, उसे फौरन मेरी सेना में भेज दो, अन्यथा तुम्हारा सिर काट लिया जाएगा और हाथी को मंगा लिया जायगा।

दूत के ऐसे उद्धत और गर्वयुक्त वचन सुनकर धीर गम्भीर अचल बलभद्र बोले—'हाथी क्या, हम तुम्हारे तारक महाराज को बहुत सी भेंट देना चाहते हैं। वे अपनी सेना सहित आवें। वे चाहेंगे और वे जीवन से ऊब गये हों तो उनको जीवन के झंझटों से सदा के लिये छुटकारा दे देंगे।' दूत ने जाकर यह बात नमक मिर्च लगाकर महाराज तारक से कह दी। दूत द्वारा उन राजकुमारों के अपमानजनक उत्तर को सुनकर तारक अभिमानवश मंत्रियों से परामर्श किए बिना क्रोध में फुँकारता हुआ अपनी सेना लेकर उन राजकुमारों को दण्ड देने के लिये चल दिया और जाकर द्वारावती नगरी को घेर लिया। किन्तु अतिशय बलशाली अचल बलभद्र ने अपने पौरुष से शत्रु-सेना को रोक दिया और नारायण द्विपृष्ठ ने भयंकर वेग से शत्रु पर आक्रमण किया। तारक और द्विपृष्ठ का भयानक युद्ध हुआ। किन्तु अभिमानी तारक इस युवक को पराजित नहीं कर सका। तब अत्यन्त क्रोधित होकर तारक ने मृत्यु से भी भयंकर चक्र को द्विपृष्ठ के ऊपर फेंका। किन्तु सारी सेना यह देखकर विस्मयविमुग्ध रह गई कि वह चक्र नारायण द्विपृष्ठ की प्रदक्षिणा देकर उसकी भुजा पर स्थिर हो गया। द्विपृष्ठ ने उसी चक्र को तारक के ऊपर चला दिया। तारक का सिर गर्दन से कटकर अलग हो गया। उसी समय द्विपृष्ठ सात उत्तम रत्नों और तीन खण्ड पृथ्वी का स्वामी हो गया। वह नारायण मान लिया और अचल को सबने बलभद्र स्वीकार किया। अचल चार रत्नों का स्वामी हुआ। दोनों भाइयों ने दिग्विजय करके सब राजाओं को अपने आधीन किया। फिर वे वासुपूज्य स्वामी की वन्दना को गये। तब उन्होंने अपने नगर में जनता के हर्षोल्लास के बीच प्रवेश किया।

चिरकाल तक दोनों भाइयों ने राज्य का सुख भोगा। द्विपृष्ठ के मरने पर बड़े भाई अचल को भारी शोक हुआ। वह वासुपूज्य स्वामी के चरणों में पहुँचा और उसने मुनि-व्रत धारण कर लिया। घोर तप कर मुनि अचल को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। आयु के अन्त में अघातिया कर्मों का क्षय करके उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

———

चतुर्दश परिच्छेद

भगवान विमलनाथ

धातकीखण्ड द्वीप में मेरु पर्वत से पश्चिम की ओर सीता नदी के दक्षिण तट पर रम्यकावती नामक एक देश था। उसके महानगर में पद्मसेन नामक राजा राज्य करता था। नीति शास्त्र में स्वदेश और परदेश ये विभाग किये गये हैं। उनके अर्थ का निश्चय करने में वह अनुपम था। प्रजा न्याय का कभी उलंघन नहीं करती थी और राजा प्रजा का उलंघन नहीं करता था। धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग राजा का उलंघन नहीं करते थे और त्रिवर्ग परस्पर एक दूसरे को उलंघन नहीं करते थे।

पूर्व भव

एक दिन राजा पद्मसेन वन में गया। वहाँ सर्वगुप्त केवली विराजमान थे। राजा ने उनके दर्शन किये और उनका कल्याणकारी उपदेश सुना। इससे उसके मन में संसार से विराग हो गया। उसने अपने पुत्र पद्मनाभ को राज्य सौंप दिया और मुनि-दीक्षा लेकर तप करने लगा। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन करके उन पर दृढ़ प्रत्यय किया। एवं सोलह कारण भावनाओं का निरंतर चिन्तन करने से उसे तीर्थंकर प्रकृति का वन्ध हो गया। अन्त समय में चार आराधनाओं का आराधन करके सहस्रार स्वर्ग में इन्द्र पद प्राप्त किया।

भरत क्षेत्र में काम्पिल्य नगर के स्वामी कृतवर्मा राज्य करते थे जो ऋषभदेव भगवान के वंशज थे, इक्ष्वाकु वंशी थे। जयश्यामा उनकी पटरानी थी। सहस्रार स्वर्ग का वह इन्द्र जब आयु पूर्ण करके महारानी के गर्भ में आने वाला था, उससे छह माह पूर्व से भगवान के स्वागत में इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने काम्पिल्य नगर और राजप्रासाद में रत्न-वर्षा प्रारम्भ कर दी। महारानी एक रात को सुख-निद्रा का अनुभव कर रही थीं, तभी उन्होंने रात्रि के अंतिम प्रहर में सोलह स्वप्न देखे और बाद में मुखकमल में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। यह ज्येष्ठ कृष्णा दशमी का दिन था और उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र था, जब सहस्रार स्वर्ग के उस इन्द्र के जीव ने माता के गर्भ में प्रवेश किया।

गर्भ कल्याणक

प्रात:काल उठकर महारानी पतिदेव के पास पहुँची और उनसे रात्रि में देखे हुए स्वप्नों की चर्चा करके उनका फल जानना चाहा। महाराज ने विचार कर कहा-देवी! तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर प्रभु अवतरित हुए हैं। रानी स्वप्नों के फल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक की पूजा की तथा वे माता-पिता और भगवान को नमस्कार करके वापिस चले गये।

एक दिन कम्पिला के उद्यान में एक दम्पति ठहरे। लम्बा मार्ग तय करके आये थे। पति-पत्नी दोनों थके हुए थे। लेटते ही गहरी नींद आ गई। प्रात:काल होने पर पति की नींद खुली। उसने आँखें खोलकर देखा तो उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही, उसके निकट दो स्त्रियाँ थीं। दोनों का रूप-रंग, वस्त्र आभूषण सभी कुछ एक से थे। पति अपनी वास्तविक पत्नी को पहचानना चाहता था, किन्तु पहचानने का कोई उपाय नहीं था। वह एकपत्नी व्रती था। पर-स्त्री के संसर्ग से अपनी रक्षा चाहता था। किन्तु एक ही रंग रूप की दो स्त्रियों में से अपनी पत्नी को वह पहचाने कैसे ? आखिर उसने राजा से न्याय कराने का निश्चय किया।

महारानी जयश्यामा का न्याय

पथिक दोनों स्त्रियों को लेकर राजदरवार में पहुँचा। महाराज सुकृतवर्मा सिंहासन पर विराजमान थे। उनके वाम पार्श्व में उनकी प्राणवल्लभा जयश्यामा बैठी हुई थीं। महारानी के मुख पर अलौकिक कान्ति थी। दरवार

लगा हुआ था। पथिक ने महाराज को सविनय प्रणिपात करते हुए निवेदन किया—'महाराज ! आप न्यायावतार हैं। लोक में आपके निष्पक्ष न्याय की ख्याति फैल रही है। मुझे भी न्याय प्रदान करें।' महाराज ने पूछा-आयुष्मन् ! तुम्हें क्या कष्ट है ? पथिक हाथ जोड़कर बोला-प्रभु ! मैं परदेशी हूँ। मैं कल रात को कम्पिला के बाह्य उद्यान के मठ में ठहरा था। साथ में मेरी पत्नी थी। किन्तु प्रातःकाल उठने पर पत्नी जैसी ही रंग रूप वाली एक और स्त्री को देख कर मैं निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ कि मेरी वास्तविक पत्नी कौन सी है। राजन्! मेरा न्याय कीजिये और मेरी पत्नी मुझे दिला दीजिये। पर-स्त्री मेरे लिये भगिनी और सुता के समान है।

राजा ने दोनों स्त्रियों को देखा। दोनों में तिल मात्र भी अन्तर नहीं था। दरबारियों ने भी देखा। सभी हैरान थे। राजा भी कोई निर्णय नहीं कर पा रहे थे। महारानी जयश्यामा ने महाराज की मनःस्थिति को भांप लिया। वे बोलीं—'आर्यपुत्र ! यदि आप अनुमति दें तो मैं इन दोनों स्त्रियों का न्याय कर दूं।' महाराज सहर्ष बोले—'देवी ! न्याय करके अवश्य मेरी सहायता करिये।' रानी ने क्षणभर में परिस्थिति भाँप ली। वे समझ गईं कि इनमें एक देवी है अथवा विद्याधरी है, जो बहुरूपिणी विद्या जानती है। उसने अपने विद्या-बल से यह समान रूप बना लिया है। यह निश्चय होते ही वे बोलीं-अपने स्थान पर ही खड़ी रह कर तुम दोनों में से जो सिंहासन को छूलेगी, वही इस युवक की पत्नी मान ली जायगी।

असली पत्नी इस फैसले से भयभीत हो गयी। निराशा के कारण उसके नेत्रों में आंसू छलछला आये। किन्तु मायाविनी! उसने बिना विलम्ब किये अपना हाथ बढ़ाया और राजसिंहासन का स्पर्श कर लिया। महारानी ने निर्णय दिया—युवक! तुम्हारी पत्नी तुम्हारे निकट खड़ी है। सिंहासन का स्पर्श करनेवाली मायाविनी है'। मायाविनी सुनकर बड़ी लज्जित हुई। उपस्थित जनों ने महारानी के इस नीर-क्षीर-न्याय की तुमुल हर्ष के साथ सराहना की।

जन्म-कल्याणक—जबसे भगवान गर्भ में आये थे, परिवार और जनता में हर्ष की वृद्धि हो रही थी। नौ माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला चतुर्दशी के दिन अहिर्बुध्न योग में रानी जयश्यामा ने तीन ज्ञान के धारी, तीन लोक के स्वामी भगवान को जन्म दिया। देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान को सुमेरु पर्वत पर लेजाकर उनका जन्माभिषेक किया। इन्द्र ने उनका नाम विमलनाथ रक्खा। उनके शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनके पैर में सूअर का चिह्न था।

भगवान का कुमार काल व्यतीत होने पर उनका विवाह हुआ और राज्याभिषेक हुआ। उनके सुशासन से जनता की सुख-समृद्धि में निरन्तर अभिवृद्धि होती रही। एक दिन भगवान विमलनाथ हेमन्त ऋतु में प्रकृति की शोभा का आनन्द ले रहे थे। चारों ओर बर्फ पड़ रही थी। किन्तु तभी देखा कि सूर्य के ताप से बर्फ पिघलने लगी। बात साधारण थी। किन्तु प्रभु के मन में इस घटना की प्रतिक्रिया दूसरे ही रूप में हुई। वे विचार करने लगे-बर्फ जमी हुई थी, अब वह पिघल रही है। यह क्षणभंगुर है। सभी कुछ क्षणभंगुर है। इन्द्रिय-भोग भी क्षणभंगुर हैं और मैं मोहवश अब तक इनमें उलझा हुआ हूँ। मुझे तो स्थाई सुख पाना है। इन्द्रिय-सुख का त्याग करके ही वह मिल सकेगा।

दीक्षा-कल्याणक

भगवान इस प्रकार विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देवों ने आकर उनका स्तवन किया और उनके विचारों की सराहना की। देवों ने आकर भगवान के दीक्षा कल्याणक के समय होने वाले अभिषेक का उत्सव किया। फिर देवों द्वारा घिरे हुए भगवान देवदत्ता नाम की पालकी में आरूढ़ होकर सहेतुक वन में गये और वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन सायंकाल के समय छब्बीसवें उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली। भगवान को उसी समय मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होगया।

भगवान आहार के निमित्त नन्दनपुर नगर में पहुँचे। वहाँ राजा कनकप्रभ ने उन्हें आहार-दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये। भगवान आहार के पश्चात् विहार कर गये। वे घोर तपस्या करने लगे। इस प्रकार तपस्या करते हुए जब तीन वर्ष बीत गये, तब वे अपने दीक्षा-वन में दो दिन के उपवास का नियम लेकर एक जामुन के वृक्ष के नीचे ध्यानमग्न हो गये। तभी उन्हें माघ शुक्ला षष्ठी के दिन सायंकाल के समय अपने दीक्षा-ग्रहण के नक्षत्र में चार घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान

केवलज्ञान कल्याणक

प्राप्त हो गया। तभी इन्द्र और देव आये। देवों ने अष्ट प्रातिहार्यों का वैभव प्रगट किया। समवसरण की रचना की। भगवान गन्धकुटी में कमलासन पर विराजमान हुए। उसी समय उनकी दिव्य ध्वनि खिरी। यही उनका धर्म-चक्र-प्रवर्तन कहलाया।

भगवान का परिकर—भगवान के मन्दर आदि पचपन गणधर थे। ११०० पूर्वधारी, ३६५३० शिक्षक, ४८०० अवधिज्ञानी, ५५०० केवलज्ञानी, ९००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ५५०० मनःपर्ययज्ञानी, ३६०० वादी थे। इस प्रकार उनके संघ में कुल मुनि ६८००० थे। पद्मा आदि १०३००० अर्जिकायें थीं। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—भगवान ने आर्यक्षेत्रों में विहार करके धर्म का उपदेश दिया। जब एक माह की आयु अवशिष्ट थी, तब वे सम्मेदशिखर पहुँचे और एक माह का योग-निरोध किया। आठ हजार छह सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण किया। उन्होंने आषाढ़ कृष्णा अष्टमी के दिन उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में प्रातःकाल के समय मोक्ष प्राप्त किया। तभी सौधर्म आदि इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान का अन्त्येष्टि संस्कार किया और भगवान की स्तुति की।

उसी समय से भगवान की यह निर्वाण-तिथि-आषाढ़ कृष्णा अष्टमी लोक में कालाष्टमी के नाम से पूज्य हो गई।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान का सन्मुख यक्ष और वैरोटनी यक्षिणी है।

कम्पिला—भगवान विमलनाथ की जन्म-नगरी कम्पिला उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले में कायमगंज तहसील में एक छोटा-सा गांव है। यह उत्तर रेलवे की अछनेरा-कानपुर शाखा के कायमगंज स्टेशन से पांच मील दूर है। सड़क पक्की है। स्टेशन पर तांगे और बस्ती में बसें मिलती हैं।

इस नगरी में भगवान विमलनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे। जब सौधर्मेन्द्र ने सुमेरु पर्वत पर भगवान के चरण-तल में शूकर-चिह्न को देखा तो उनका चिह्न शूकर घोषित कर दिया। रूढ़िप्रिय लोगों ने इस चिह्न के कारण कम्पिला को शूकर क्षेत्र घोषित[1] कर दिया। भगवान की प्रथम कल्याणी वाणी इसी स्थान पर प्रगट हुई थी।

आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव, पार्श्वनाथ, महावीर तथा अन्य तीर्थंकरों का समवसरण यहाँ आया था।

कम्पिला भारत की प्राचीन सांस्कृतिक नगरी थी। भगवान ऋषभदेव ने जिन ५२ जनपदों की रचना की थी, उनमें एक पांचाल नाम का जनपद भी था, उसी पांचाल जनपद के दो भाग हो गये थे—अहिच्छत्र और कम्पिला। अहिच्छत्र उत्तर पांचाल की राजधानी थी और कम्पिला दक्षिण पांचाल की। महाभारत काल में उत्तर पांचाल के शासक द्रोण थे और दक्षिण पांचाल के शासक द्रुपद थे। यहीं पर पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने लक्ष्य-वेध कर द्रुपद सुता द्रौपदी के साथ विवाह किया था।

इस कम्पिला या काम्पिल्य के निकट पिप्पलगांव में रत्नप्रभ राजा ने एक विशाल सरोवर और जिनमन्दिर का निर्माण कराया था। आज कल वह पिप्पलगांव कम्पिला से १६-१७ मील दूरी पर अलीगंज तहसील में है।

श्रीमद्भागवत में विष्णु भगवान के २२ अवतारों का वर्णन मिलता है। उसमें द्वितीय अवतार का नाम वराहावतार अथवा शूकरावतार बताया गया है। हिन्दू जनता उस क्षेत्र को, जहाँ यज्ञ पुरुष अर्थात् विष्णु भगवान ने अवतार लिया था, शूकर क्षेत्र मानती है। शूकर क्षेत्र की पहचान आजकल सोरों से की जाती है। यह स्थान कासगंज (जिला एटा) से ९ मील है। विविध तीर्थकल्प के अनुसार जनता ने विमलनाथ के शूकर चिन्ह के कारण कम्पिला को शूकर क्षेत्र मान लिया था। किन्तु आजकल सोरों को शूकर क्षेत्र माना जाता है। ऐसा लगता है, विमलनाथ के शूकर चिन्ह और विष्णु के शूकरावतार में एकरूपता है। हिन्दू पुराणों में तथा श्रीमद्भागवत (तृतीय स्कन्ध अध्याय चौदह) में शूकरावतार की कथा में बताया गया है कि जब पृथ्वी रसातल को चली गई, तब विष्णु भगवान ने उसके उद्धार के लिए शूकरावतार लिया।

---

१. विविध तीर्थकल्प

जैन पुराण ग्रन्थों में विमलनाथ भगवान का चरित्र वर्णन करते हुए बताया है कि उस समय पाप की वृद्धि हो गई थी। भगवान विमलनाथ ने पापी पुरुषों का उद्धार किया।

उक्त दोनों कथाओं में गहराई से झाँक कर देखें तो कोई अन्तर प्रतीत नहीं होगा। हिन्दू पुराणों में आलंकारिक शैली द्वारा कथन किया गया है। यदि अलङ्कार योजना को निकाल दिया जाय तो हिन्दू और जैन पुराणों के कथनों में एकरूपता ही मिलेगी और तब हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होगी कि कम्पिला ही वास्तव में शूकर क्षेत्र है, भगवान विमलनाथ ही वस्तुतः वराहावतार है और उन्होंने ही पाप-पंक में डूबती हुई पृथ्वी अर्थात् पृथ्वी पर रहने वालों का उद्धार किया।

धर्म बलभद्र, स्वयंभू नारायण और मधु प्रतिनारायण

भरत क्षेत्र के पश्चिम विदेह में मित्रनन्दी नामक एक राजा राज्य करता था। वह राजा बड़ा प्रतापी था। उसने अपने बाहुबल द्वारा अनेक देश जीत लिए थे। उससे प्रजा अत्यन्त सन्तुष्ट थी। एक दिन सुव्रत नामक मुनिराज का उपदेश सुनकर राजा को वैराग्य हो गया। उसने मुनि-व्रत धारण कर लिए। उसने घोर तपस्या की। अन्त में समाधिमरण धारण कर लिया। मरकर वह अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुआ।

द्वारावती नगरी के राजा भद्र की रानी का नाम सुभद्रा था। वह अहमिन्द्र आयु पूर्ण करके सुभद्रा के गर्भ में अवतरित हुआ। उत्पन्न होने पर उसका नाम धर्म रक्खा गया।

कुणाल देश में श्रावस्ती नगर था। वहाँ के राजा का नाम सुकेतु था। कुसंगति के कारण वह कुव्यसनों में लिप्त रहने लगा। वह अत्यन्त कामी था। दिन रात वह जुआ खेलता रहता था। जुआ के कारण वह अपनी स्त्री और राज्य तक हार गया। जब उसका सब कुछ चला गया तो वह मन में अत्यन्त खिन्न होकर सुदर्शनाचार्य के पास पहुँचा। वहाँ उनका उपदेश सुनकर वह मुनि बन गया। किन्तु उसका मन निर्मल नहीं हो सका। वह शोक के कारण आहार का त्याग करके तप करने लगा। उसने बहुत समय तक तप किया। मृत्यु के समय उसने निदान किया कि इस तप के द्वारा मुझे कला, गुण, चतुराई और बल प्राप्त हो। मरकर वह लान्तव स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आयु पूरी होने पर द्वारावती के राजा भद्र की द्वितीय पत्नी पृथ्वी रानी के स्वयंभू नामक पुत्र हुआ। दोनों भाइयों में बड़ा प्रेम था।

राजा सुकेतु से जुआ में बलि नामक राजा ने राज्य जीता था। वह मरकर, रत्नपुर नगर में राजा मधु हुआ। यह पूर्व जन्म का संस्कार ही था कि राजा मधु के नाम से स्वयंभू को चिढ़ थी। एक बार किसी राजा ने राजा मधु के लिए कोई उपहार भेजा, किन्तु महाराज स्वयंभू ने उसे दूत को मारकर छीन लिया। नारद ने यह समाचार मधु को बता दिया। इस अपमानजनक समाचार को सुनते ही मधु को बड़ा क्रोध आया। स्वयम्भू को दण्ड देने के अभिप्राय से मधु विशाल सेना लेकर द्वारावती की ओर चल दिया। उधर दोनों भाई युद्ध के लिए पहले से ही तैयार बैठे थे। दोनों पक्षों में भयंकर युद्ध हुआ। मधु स्वयम्भू से युद्ध करने लगा। मधु ने कुपित होकर स्वयम्भू के ऊपर यमराज के समान भयंकर चक्र फेंका। मधु अब तक भरत क्षेत्र के आधे भाग का स्वामी था। चक्र, गदा, धनुष आदि दैवी अस्त्र उसके पास थे। किन्तु अब उसके पुण्य का कोष रीता हो चुका था। चक्र तीव्रगति से स्वयम्भू की ओर आया और प्रदक्षिणा देकर उसकी दाहिनी भुजा पर आकर टिक गया। राजा स्वयम्भू ने क्षुब्ध होकर उसी चक्र से मधु का सिर काट दिया। तब स्वयम्भू तीनों खण्डों का स्वामी बन गया। बलभद्र और नारायण दोनों भ्राता आनन्दपूर्वक राज्य करने लगे। आयु पूर्ण होने पर नारायण की मृत्यु हो गई। भ्रातृ-शोक से बलभद्र धर्म के हृदय को बड़ा आघात लगा। उसे संसार से ही वैराग्य हो गया। वह भगवान विमलनाथ की शरण में पहुँचा और मुनि-दीक्षा ले ली। उसने घोर तपस्या की और अन्त में कर्मों का क्षय करके वह मुक्त हो गया।

पंचदश परिच्छेद

भगवान अनन्तनाथ

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व मेरु से उत्तर की ओर अरिष्ट नामक एक नगर था। उस नगर के राजा का नाम पद्मरथ था। उसने दीर्घकाल तक सांसारिक भोग भोगे। एक दिन वह स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के चरणों में पहुँचा। वहाँ उसने जिनेन्द्र प्रभु का उपदेश सुना। उसके मन में वैराग्य की भावनायें उदित हुई, राज्य, परिवार और शरीर के प्रति उसकी आसक्ति जाती रही। उसने अपने पुत्र धनरथ को बुलाकर राज्य सौंप दिया और वह मुनि हो गया। उसने घोर तप किया, ग्यारह अङ्गों का अध्ययन किया और निरन्तर सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन किया। फलतः उसे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध हो गया। अन्त में सल्लेखना धारण करके शरीर छोड़ा और अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में इन्द्र पद प्राप्त किया।

पूर्व भव

अयोध्या में इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्रीय राजा सिंहसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। देवों ने उनके घर पर रत्नवृष्टि की। एक दिन महारानी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह शुभ स्वप्न देखे। प्रातः होने पर उन्होंने अपने पति से उन स्वप्नों का फल पूछा। पति ने विचार कर उत्तर दिया—देवी ! तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर अवतार लेंगे। उस दिन कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा और रेवती नक्षत्र था, जब अच्युत स्वर्ग से इन्द्र का जीव अपनी आयु पूर्ण करके उनके गर्भ में आया। उसी समय देवों ने गर्भ कल्याणक का अभिषेक करके वस्त्र, माला और आभूषणों से महाराज सिंहसेन और महारानी जयश्यामा की पूजा की।

गर्भ कल्याणक

जन्म कल्याणक—गर्भ सुख से बढ़ने लगा। नौ माह व्यतीत होने पर माता ने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन पूषा योग में पुण्यशाली पुत्र उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रों और देवों ने आकर पुत्र का सुमेरु पर्वत पर अभिषेक करके जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने पुत्र का नाम अनन्तनाथ रक्खा। उनका रंग देदीप्यमान सुवर्ण के समान था। उनके पैर में सेही का चिन्ह था।

बालक क्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ। जब भगवान यौवन अवस्था को प्राप्त हुये, तब पिता ने पुत्र का विवाह कर दिया और उसे राज्य-भार सौंप दिया। राज्य करते हुए जब बहुत काल बीत गया, तब एक दिन उल्कापात देखकर उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। वे संसार की अनित्य दशा को देखकर विचार करने लगे—इस अनित्य संसार में स्थिर केवल अपना आत्म-स्वरूप है। मैं अबतक अनित्य के पीछे भागता रहा, कभी आत्मस्वरूप की प्राप्ति का प्रयत्न नहीं किया। वे ऐसा विचार कर ही रहे थे, तभी लौकान्तिक देव आये। उन्होंने भगवान की वन्दना स्तुति की और उनके विचारों की सराहना की।

दीक्षा कल्याणक

भगवान ने अपने पुत्र अनन्तविजय को राज्य-भार सौंप दिया और देवोपनीत सागरदत्त। पालकी में विराजमान होकर सहेतुक वन में गये। वहाँ वेला का नियम लेकर ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया, उन्होंने सामायिक संयम धारण कर लिया और ध्यानलीन हो गये। दो दिन पश्चात् वे आहार के लिये साकेतपुरी में पधारे। वहाँ

स्वर्ण के समान कान्ति वाले विशाख नामक राजा ने भगवान को आहार देकर असीम पुण्य उपार्जन किया। देवों ने पंचाश्चर्य करके उसकी सराहना की। आहार लेकर भगवान विहार कर गये।

केवलज्ञान कल्याणक—आपने दो वर्ष तक तपश्चरण किया, तब आपको अश्वत्थ वृक्ष के नीचे उसी सहेतुक वन में चैत्र कृष्णा अमावस्या को सायंकाल के समय रेवती नक्षत्र में सकल ज्ञेय-ज्ञायक केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उसी समय देवों ने ज्ञान कल्याणक की पूजा की। इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने समवसरण की रचना की। उसमें सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान को दिव्य ध्वनि विखरी और भगवान ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का संघ—भगवान के संघ में जय आदि ५० गणधर थे। १००० पूर्वधारी, ३२०० वादी, ३९५०० शिक्षक, ४३०० अवधिज्ञानी, ५००० केवलज्ञानी, ८००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ५००० मनःपर्ययज्ञानी, इस प्रकार कुल ६६००० मुनि उनकी पूजा करते थे। सर्वश्री आदि १०८००० आर्यिकायें थी। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—भगवान अनन्तनाथ ने वहुत समय तक विभिन्न देशों में विहार करके भव्य जीवों को अपने उपदेश द्वारा सन्मार्ग पर लगाया। अन्त में सम्मेद शिखर पर जाकर उन्होंने विहार करना छोड़ दिया और एक माह का योग-निरोध कर छह हजार एक सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया तथा चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रात्रि के प्रथम भाग में निर्वाण प्राप्त किया। देवों ने आकर भगवान का अन्तिम संस्कार किया और पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान अनन्तनाथ के सेवक यक्ष का नाम पाताल और यक्षिणी का नाम अनन्तमती था।

———

अनन्त चतुर्दशी व्रत

सोमशर्मा ने गणधरदेव के कथनानुसार किया। मरकर वह चतुर्थ स्वर्ग में महा विभूतिवान् देव हुआ। आयु पूर्ण होने पर विजय नगर के सम्राट् मनोकुम्भ का पुत्र अरिजय हुआ। यह राजकुमार अत्यन्त रूपवान, गुणवान और बलवान था और यह विपुलाचल पर भगवान महावीर के दर्शनों के लिये भी गया था।

सुप्रभ बलभद्र, पुरुषोत्तम नारायण और मधुसूदन प्रतिनारायण

भगवान अनन्तनाथ के समय में चौथे बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण हुए।

निदान-बन्ध

पोदनपुर नरेश वसुषेण के पांच सौ रानियाँ थीं। उनमें नन्दा पटरानी थी। महाराज उसके प्रति अत्यन्त अनुरक्त थे। मलय देश का स्वामी चण्डशासन वसुषेण का मित्र था। वह अपने मित्र से मिलने के लिये पोदनपुर आया। एक दिन नन्दा के ऊपर उसकी दृष्टि पड़ गई। उसे देखते ही वह नन्दा के ऊपर मोहित हो गया और उसका अपहरण करके ले गया। वसुषेण चण्डशासन के मुकाबिले अपने आप को असमर्थ पाता था। अतः वह मन मसोस कर रह गया; किन्तु वह नन्दा को न भूल सका। तब उसे विवेक जागृत हुआ। वह श्रेय नामक गणधर के पास जाकर दीक्षित हो गया। उसने घोर तप किया और यह निदान किया कि यदि मेरी इस तपस्या का कुछ फल है तो मैं ऐसा राजा बनूं जिसकी आज्ञा का उल्लंघन कोई न कर सके। वह सन्यास मरण कर सहस्रार स्वर्ग में महा विभूतिसम्पन्न देव हुआ।

जम्बू द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में नन्दन नामक एक नगर था। उसका अधिपति महाबल अत्यन्त प्रतापी और प्रजावत्सल राजा था। वह बड़ा दानी और दीनवत्सल था। एक दिन उसे भोगों से अरुचि हो गई। उसने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर प्रजापाल नामक अर्हन्त के समीप संयम धारण कर लिया और तप करने लगा। अन्त में सन्यास धारण कर मरण को प्राप्त हुआ और सहस्रार स्वर्ग में देव हुआ।

बलभद्र, नारायण, और प्रतिनारायण—द्वारावती नगर के स्वामी राजा सोमप्रभ की रानी जयवन्ती के गर्भ में सहस्रार स्वर्ग से महाबल का जीव आयु पूर्ण होने पर आया। उत्पन्न होने पर उसका नाम सुप्रभ रक्खा गया। वह सर्वप्रिय था। उसका वर्ण गौर था।

उसी राजा की दूसरी रानी के गर्भ में वसुषेण का जीव आया। उत्पन्न होने पर उसका नाम पुरुषोत्तम रक्खा गया। इसका वर्ण कृष्ण था।

दोनों भाइयों में अत्यन्त स्नेह था। ज्योतिषियों ने बताया था कि ये दोनों भाई बलभद्र और नारायण हैं और ये भरत क्षेत्र के आधे भाग पर शासन करेंगे। सब राजा इनके आज्ञानुवर्ती होंगे।

चण्डशासन का जीव विभिन्न योनियों में भटकता हुआ काशी देश की वाराणसी नगरी का स्वामी मधुसूदन नाम का राजा हुआ। वह प्रचण्ड तेज का धारक था, शत्रु इसके नाम से ही भयभीत हो जाते थे। एक बार नारद घूमते हुए वाराणसी में उसके दरबार में पहुँचे। मधुसूदन ने उनकी अभ्यर्थना की और बैठने के लिये उच्चासन दिया। दोनों में इधर-उधर की बातचीत होने लगी। प्रसंगवश नारद ने सुप्रभ और पुरुषोत्तम के वैभव की चर्चा की। सुनते ही असहिष्णु मधुसूदन ईर्ष्या से जल उठा। उसने अहंकारपूर्वक उन दोनों राजकुमारों को आदेश भेजा कि तुम लोग मेरे लिये हाथी, रत्न आदि कर-स्वरूप भेजो।

मधुसूदन की यह अनधिकार चेष्टा देखकर दोनों भाइयों को अत्यन्त क्रोध आया और उन्होंने दूत को अपमानित कर निकाल दिया। जब मधुसूदन ने यह समाचार सुना तो वह कुपित होकर विशाल सेना के साथ दोनों राजकुमारों को दण्ड देने के अभिप्राय से चल दिया। दोनों भाई भी अपनी सेना लेकर चल पड़े। दोनों सेनाओं में भयंकर लड़ाई होने लगी। मधुसूदन के साथ पुरुषोत्तम का युद्ध होने लगा। जब मधुसूदन ने देखा कि शत्रु किसी प्रकार दब नहीं पा रहा है तो उसने प्रबल वेग से पुरुषोत्तम के ऊपर चक्र फेंका। जिस चक्र ने मधूसूदन को कभी धोखा नहीं दिया था, आज वह भी काम न आ सका। चक्र पुरुषोत्तम की प्रदक्षिणा देकर उनकी भुजा पर ठहर गया। पुरुषोत्तम ने उसी चक्र को मधुसूदन पर चला दिया, जिससे उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। दोनों भाई भरत क्षेत्र के तीन खण्ड के अधिपति हो गये और वे बलभद्र एवं नारायण कहलाये।

बहुत काल तक दोनों ने राज्य-सुख का अनुभव किया। एक दिन छोटे भाई पुरुषोत्तम की मृत्यु हो गई। इस घटना से सुप्रभ अति शोक संतप्त हो गये। वे एक बार सोमप्रभ जिनेन्द्र के दर्शनों को गये। उन्होंने बलभद्र को समझाया। फलतः बलभद्र ने उन्ही के चरणों में दीक्षा ले ली। उन्होंने घोर तपस्या करके कर्मों का क्षय कर दिया और मोक्ष प्राप्त कर लिया।

षोडस परिच्छेद

भगवान धर्मनाथ

धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में वत्स नामक एक देश था। उसमें सुसीमा नामक एक नगर था। वहाँ राजा दशरथ राज्य करता था। उसके पास बुद्धि और बल था, भाग्य उसके पक्ष में था। इसलिये उसने तमाम शत्रुओं को अपने वश में कर लिया था। अतः वह शान्तिपूर्वक राज्य करता था। एक बार

पूर्व भव

वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को सब लोग उत्सव मना रहे थे। तभी चन्द्रग्रहण पड़ा। उसे देखकर राजा का मन भोगों से एकदम उदास हो गया। उसने अपने पुत्र महारथ का राज्याभिषेक करके संयम धारण कर लिया। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया, सोलह कारण भावनाओं का सतत चिन्तन किया, जिससे उसे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होगया। अन्त में समाधिमरण करके वह सर्वार्थ सिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ उसने तेंतीस सागर तक सुख का भोग किया।

रत्नपुर नगर के अधिकारी महाराज भानु थे। वे कुरुवंशी और काश्यपगोत्री थे। उनकी महादेवी का नाम सुप्रभा था। देवों ने भगवान के गर्भावतार से छह माह पूर्व से रत्नवृष्टि आरम्भ की। महारानी ने वैशाख शुक्ला त्रयोदशी को रेवती नक्षत्र में प्रातःकाल के समय सोलह स्वप्न देखे और एक विशाल

गर्भ कल्याणक

हाथी मुख में प्रवेश करते हुए देखा। प्रातःकाल उठकर वे अपने पति के पास पहुँची। उन्होंने रात में देखे हुए स्वप्न सुनाकर उनसे इन स्वप्नों का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से देखकर बताया—देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर भगवान आने वाले हैं। सुनकर महारानी को बड़ा हर्ष हुआ। तभी सर्वार्थ सिद्धि का अहमिन्द्र आयु पूर्ण होने पर महारानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। इन्द्रों ने आकर गर्भ कल्याणक का उत्सव किया।

जन्म कल्याणक—नौ माह व्यतीत होने पर माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य नक्षत्र में महारानी ने तीन ज्ञान का धारक पुत्र प्रसव किया। उसी समय इन्द्रों और देवों ने आकर सद्यःजात बालक को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक किया और भगवान का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने बालक का नाम धर्मनाथ रक्खा। उनके पैर में वज्र का चिन्ह था।

जब भगवान यौवन दशा में पहुँचे, तब पिता ने उनका विवाह कर दिया और राज्याभिषेक कर दिया। बहुत समय तक उन्होंने राज्य-सुख भोगा। एक दिन उल्कापात देखकर उन्हें वैराग्य हो गया। उन्हें अब तक का जीवन भोगों में व्यतीत करने का बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब

दीक्षा कल्याणक

क्षणभर भी इस अमूल्य जीवन को सांसारिक भोगों में नष्ट न करके आत्म-कल्याण करूँगा। प्रभु का ऐसा निश्चय जानकर लौकान्तिक देव वहाँ आये और भगवान की वन्दना करके प्रभु के विचारों को सराहते हुए अपने स्थान को वापिस चले गये। भगवान ने अपने पुत्र सुधर्म को राज्य देकर नागदत्ता नामक पालकी में आरूढ़ होकर दीक्षा के लिये गमन किया। उन्होंने दो दिन के उपवास का नियम लेकर माघ शुक्ला त्रयोदशी के दिन सायंकाल के समय पुष्य नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया।

वे आहार के लिये पाटलिपुत्र नामक नगरी में गये। वहाँ धन्यषेण नामक राजा ने उत्तम पात्र के लिये आहार दान देकर पंचाश्चर्य प्राप्त किये।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान ने एक वर्ष तक तपस्या की। फिर वे विहार करते हुए दीक्षा वन में पधारे। वहाँ सप्तच्छद वृक्ष के नीचे बैठकर और दो दिन के उपवास का नियम लेकर योग धारण कर लिया और पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन सायंकाल के समय पुष्य नक्षत्र में उन्हे लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान प्रगट हुआ। देवों ने आकर केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की।

इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की। वहाँ गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी और इस तरह उन्होंने रतनपुरी में धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का परिकर—भगवान धर्मनाथ के संघ में अरिष्टसेन आदि ४३ गणधर थे। ९११ पूर्वधर, ४०७०० शिक्षक, ३६०३ अवधिज्ञानी, ४५०० केवलज्ञानी, ७००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ४५०० मनःपर्ययज्ञानी और २८०० वादी थे। इस प्रकार उनके संघ में मुनियों की कुल संख्या ६४००० थी। सुव्रता आदि ६२४०० आर्यिकायें थीं। २००००० श्रावक और ४००००० श्राविकायें थी।

निर्वाण कल्याणक— भगवान विभिन्न आर्य देशों में विहार करके धर्मोपदेश द्वारा भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। अन्त में वे विहार बन्द करके सम्मेद शिखर पहुँचे। वहाँ एक माह का योग निरोध करके आठ सौ नौ मुनियों के साथ ध्यानारूढ़ हुए तथा ज्येष्ठ शुक्ला चतुर्थी के दिन रात्रि के अन्तिम भाग में पुष्य नक्षत्र में निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान धर्मनाथ के यक्ष का नाम किन्नर और यक्षिणी का नाम परभृती था।

रतनपुरी—रतनपुरी कल्याणक क्षेत्र है। इस नगर में भगवान धर्मनाथ के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवल ज्ञान कल्याणक हुए थे। यह क्षेत्र जिला फैजाबाद में अयोध्या से बाराबंकी वाली सड़क पर १५ मील है। फैजाबाद से सिटी बस मिलती है। रौनाही के चौराहे पर उतरना चाहिए। सड़क से गाँव डेढ़ मील है। कच्चा मार्ग है। गाँव का नाम रौनाही है। सरयू नदी के तट पर दो दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। एक मन्दिर में मूर्तियाँ हैं। कहते हैं, यहाँ भगवान का जन्म कल्याणक हुआ था। दूसरे मन्दिर में चरण विराजमान हैं। कहा जाता है, यहाँ भगवान का गर्भ कल्याणक हुआ था।

———

सुदर्शन बलभद्र, नारायण पुरुषसिंह

हस्तिनापुर पहुँचे और प्रतिहार से चक्रवर्ती के रूप-दर्शन की आज्ञा लेकर स्नान-गृह में पहुँचे जहाँ चक्रवर्ती तेल की मालिश करवा रहे थे। उनका अनिंद्य रूप देखकर दोनों देव अत्यन्त विस्मित हो गये और बोले—राजन्! तुम्हारे तेज, यौवन और रूप की जैसी प्रशंसा सौधर्मेन्द्र ने की थी, यह उससे भी अधिक है। हम तुम्हारा यह रूप देखने ही स्वर्ग से यहाँ आये हैं।

चक्रवर्ती देवों द्वारा प्रशंसा सुनकर बोले—देवो! अभी तुमने क्या देखा है। आप लोग कुछ देर ठहरें। जब मैं स्नान करके वस्त्राभूषण पहनकर और इत्र फुलेल, ताम्बूल आदि का सेवन करके तैयार हो जाऊँ, उस समय मेरी रूप माधुरी देखना।'

दोनों देव सुनकर कौतुक मन में संजोये प्रतीक्षा करने लगे। जब चक्रवर्ती स्नान, विलेपन आदि करके सिंहासन पर विराजमान हो गये, तब उन्होंने दोनों देवों को बुलाया। देव अत्यन्त उत्कण्ठा लिए पहुँचे और चक्री के तेज और रूप को देखकर बड़े खिन्न हुए और बोले—राजन्! यह रूप, यौवन, बल, तेज और वैभव इन्द्र धनुष के समान क्षणभंगुर है। हमने वस्त्रालंकार रहित अवस्था में आपके रूप में जो सौन्दर्य, जो माधुर्यवर्ती देखा था, वह अब नहीं रहा। देवों का रूप जन्म से मृत्यु पर्यन्त एक-सा रहता है, किन्तु मनुष्यों का रूप यौवन तक बढ़ता है और यौवन के पश्चात् छीजने लगता है। इसलिए इस क्षणिक रूप का मोह और अहंकार व्यर्थ है।

देवों की बात सुनकर उपस्थित सभी लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। तब कुछ सभ्य जन बोले—'हमें तो महाराज के रूप में पहले से कुछ भी कमी नहीं दिखाई पड़ती। न जाने आप लोगों ने पहली सुन्दरता से क्यों कमी बताई है।' सुनकर देवों ने सबको प्रतीति कराने के लिए जल से पूर्ण एक घड़ा मंगवाया। उसे सबको दिखाया। फिर एक तृण द्वारा जल की एक बूंद निकाल ली। फिर सबको घड़ा दिखाकर बोले—'आप लोग बतलाइये, पहले घड़े में जैसे जल भरा था, अब भी वैसे ही भरा है। क्या इसमें तुम्हें कुछ विशेषता दिखाई पड़ती है?' सबने एक स्वर से कहा—'नहीं; कुछ विशेषता दिखाई नहीं पड़ती।' तब देव कहने लगे—'महाराज! भरे हुए घड़े में से एक बूँद निकाली गई, तब भी इन्हें जल उतना ही दिखाई पड़ता है। इसी तरह हमने आपका जो रूप पहले देखा था, वह अब नहीं रहा। वह कमी हमें दिखाई पड़ती है, किन्तु इन लोगों को दिखाई नहीं पड़ती।'

देव यों कह कर अपने स्वर्ग को चले गये, किन्तु चक्रवर्ती के अन्धेरे हृदय में एक प्रकाशमान ज्योति छोड़ गये। उनके मन में विचार-तरंगें उठने लगीं—ठीक ही तो कहते हैं ये देव। इस जगत में सब कुछ ही तो क्षणिक है, नाशवान है। मेरा यह शरीर भी तो नाशवान है, फिर इसके रूप का यह अहंकार क्यों? मैंने अब तक इस शरीर के लिए सब कुछ किया, अपने लिए कुछ नहीं किया। मैं अब आत्मा के लिए करूँगा।

मन में वैराग्य जागा तो उन्होंने तत्काल अपने पुत्र का राजतिलक किया और चारित्रगुप्त मुनिराज के पास जाकर जिन-दीक्षा ले ली। वे आत्म कल्याण के मार्ग में निरन्तर बढ़ते रहे। एक बार षष्ठोपवास के बाद वे आहार के लिए नगर में गये। वहाँ देवदत्त नामक राजा ने उन्हें आहार कराया। मुनि सनत्कुमार ने आहार लेकर फिर षष्ठोपवास ले लिया। किन्तु वह आहार इतना प्रकृति-विरुद्ध था कि उससे शरीर में अनेक भयंकर रोग उत्पन्न हो गये। यहाँ तक कि उनके शरीर में कुष्ठ हो गया। शरीर में दुर्गन्ध आने लगी। किन्तु मुनिराज का ध्यान एक क्षण के लिए कभी शरीर की ओर नहीं गया। उन्हें औषध ऋद्धि प्राप्त थी, किन्तु कभी रोग का प्रतीकार नहीं किया।

एक दिन पुनः इन्द्र सौधर्म सभा में धर्मप्रेमवश सनत्कुमार मुनिराज की प्रशंसा करते हुए कहने लगे—धन्य हैं सनत्कुमार मुनि, जिन्होंने षट् खण्ड पृथ्वी का साम्राज्य तृण के समान असार जानकर त्याग दिया और तप का आराधन करते हुए पांच प्रकार के चारित्र का दृढ़तापूर्वक पालन कर रहे हैं।'

इन्द्र द्वारा यह प्रशंसा सुनकर मदनकेतु नामक एक देव सनत्कुमार मुनिराज की परीक्षा लेने वैद्य का वेष धारण करके उस स्थान पर पहुँचा जहाँ मुनिराज तपस्या कर रहे थे। वहाँ आकर वह जोर जोर से कहने लगा—मैं प्रसिद्ध वैद्य हूँ, मृत्युंजय मेरा नाम है। प्रत्येक रोग की औषधि मेरे पास है। कोई उपचार करा लो।

मुनिराज बोले—'तुम वैद्य हो, यह तो बड़ा अच्छा है। मुझे बड़ा भयंकर रोग है। क्या तुम उसका भी उपचार कर सकते हो?'

देव बोला—'अवश्य ही मैं आपके रोग का उपचार कर सकता हूँ। वह रोग आपके शरीर में निरन्तर चूने वाला कोढ़ है।'

मुनिराज कहने लगे—'यह रोग तो साधारण है। मुझे तो इससे भी भयंकर रोग है। वह रोग है जन्म-मरण का। यदि तुम उसका उपचार कर सकते हो तो कर दो।'

सुनकर वैद्य वेषधारी देव लज्जित होकर बोला—'मुनिनाथ ! इस रोग को तो आप ही नष्ट कर सकते हैं।

तब मुनिराज मुस्कराकर कहने लगे—'भाई ! जब तुम इस रोग को नष्ट नहीं कर सकते तो फिर मुझे तुम्हारी आवश्यकता नहीं है। शरीर की व्याधि तो स्पर्श मात्र से ही दूर हो सकती है, उसके लिए वैद्य की क्या आवश्यकता है !' यों कह कर मुनिराज ने एक हाथ पर दूसरे हाथ को फेरा तो वह स्वर्ण जैसा निर्मल बन गया।

मुनिराज की इस अद्भुत शक्ति को देखकर अपने असली रूप को प्रगट कर देव हाथ जोड़कर बोला—'देव ! सौधर्मेन्द्र ने आपकी जैसी प्रशंसा की थी, मैंने आपको वैसा ही पाया।' और वह नमस्कार करके अपने स्थान को चला गया।

मुनिराज सनत्कुमार शुक्ल ध्यान के द्वारा कर्मों को नष्ट करके अनन्त सुख के धाम सिद्धालय में जा विराजे।

सनत्कुमार चक्रवर्ती भी भगवान धर्मनाथ के तीर्थ में और धर्मनाथ एवं शान्तिनाथ के अन्तराल में हुए थे।

सप्तदश परिच्छेद

भगवान शान्तिनाथ

पूर्व भव—यहाँ भगवान शान्तिनाथ के पूर्व के नौ भवों की कथा दी जा रही है।

भगवान महावीर का जीव जव त्रिपृष्ठ नामक प्रथम नारायण था, उस समय की यह कथा है। त्रिपृष्ठ ने अपनी पुत्री ज्योतिप्रभा का विवाह रथनूपुर के राजकुमार अमिततेज के साथ कर दिया और अमिततेज की वहन सुतारा त्रिपृष्ठ के पुत्र श्रीविजय के साथ विवाही गई। जव त्रिपृष्ठ नारायण का देहान्त हो गया और भाई के शोक में वलभद्र विजय ने दीक्षा लेली, तव श्रीविजय पोदनपुर का राजा वना। एक दिन एक निमित्तज्ञानी ने आकर कहा कि पोदनपुर के राजा के मस्तक पर आज से सातवें दिन वज्र गिरेगा। सुनकर सवको चिन्ता हुई। तव मंत्रियों ने उपाय सोचा—निमित्तज्ञानी ने किसी राजा का नाम तो लिया नहीं। जो सिंहासन पर वैठा होगा, उसी पर तो वज्र गिरेगा, यह विचार कर उन्होंने सिंहासन पर एक यक्ष-प्रतिमा रख दी। ठीक सातवें दिन यक्ष-मूर्ति पर भयंकर वज्र गिरा। राजा वच गया। राजा सुतारा को लेकर वन-विहार के लिये गया। वे दोनों वन में बैठे हुए थे, तभी आकाश मार्ग से चमरचंचपुर का राजकुमार अशनिघोष विद्याधर उधर से निकला। उसने सुतारा को देखा तो वह उस पर मोहित हो गया। तव वह हरिण का रूप वनाकर आया और छल से श्रीविजय को दूर ले गया। फिर वह श्रीविजय का रूप धारण करके आया और सुतारा से बोला—'प्रिये ! सूर्य अस्त हो रहा है, चलो लौट चलें।' सुतारा उसके साथ विमान में चल दी। मार्ग में अशनिघोष ने अपना रूप और उद्देश्य प्रगट किया। तब सुतारा जोर-जोर से विलाप करने लगी।

जव श्रीविजय वापिस आया और सुतारा वहाँ नहीं मिली तो वह अत्यन्त कातर हो उठा। तभी एक विद्याधर ने उसे सुतारा के अपहरण का समाचार दिया। सुनते ही वह सीधा रथनूपुर पहुँचा और अमिततेज से सव वातें वताई। अमिततेज सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और सेना लेकर अशनिघोष पर जा चढ़ा। भयानक युद्ध हुआ। उसमें हारकर अशनिघोष वहाँ से भागा और नाभेयसीम पर्वत पर विजय तीर्थंकर का समवसरण देखकर उसमें जा घुसा। अमिततेज और श्रीविजय भी उसका पीछा करते हुए समवसरण में जा पहुँचे। किन्तु वहाँ का यह अलौकिक प्रभाव था कि न अशनिघोष के मन में भय के भाव थे और न अमिततेज और श्रीविजय के मन में क्रोध के भाव रहे। तभी अशनिघोष की माता आसुरीदेवी ने सुतारा को लाकर उन दोनों को समर्पण किया और अपने पुत्र के अपराध की क्षमा मांगी।

सवने भगवान का उपदेश सुना और सवने यथायोग्य मुनिव्रत आर्यिका के व्रत अथवा श्रावक के व्रत लिये।

अमिततेज के प्रश्न करने पर भगवान ने सवके पूर्व भव वताते हुए कहा—तेरा जीव आगे होने वाले नौवें भव में पाँचवा चक्रवर्ती और सोलहवाँ तीर्थंकर शान्तिनाथ होगा।

सुनकर अमिततेज को वड़ा हर्ष हुआ। भगवान को नमस्कार कर वे लोग अपने-अपने स्थान को लौट गये। अव उसकी प्रवृत्ति धर्म की ओर हो गई। वह निरन्तर दान, पूजा, व्रत, उपवास करने लगा। यद्यपि उसे अनेक

विद्यायें सिद्ध थीं और वह विजयार्थ पर्वत की दोनों श्रेणियों का एकछत्र सम्राट् था, किन्तु धर्म-कार्यों में कभी प्रमाद नहीं करता था। किन्तु एक दिन उसने भोगों का निदान वन्ध किया।

जव दोनों की आयु एक मास शेप रह गई तो अपने-अपने पुत्रों को राज्य देकर वे नन्दन नामक मुनिराज के पास दीक्षा लेकर मुनि वन गये और अन्त में समाधिमरण करके तेरहवें स्वर्ग में अमित ऋद्धिधारी देव हुए।

आयु पूर्ण होने पर अमिततेज का जीव पूर्व विदेह क्षेत्र के वत्सकावती देश के राजा स्तिमितसागर की रानी वसुन्धरा के गर्भ से अपराजित नामक पुत्र हुआ और श्रीविजय का जीव उसी राजा की अनुमति नाम की रानी से अनन्तवीर्य नामक पुत्र हुआ। दोनों में परस्पर वड़ा प्रेम था। वे दोनों ही क्रमशः वलभद्र और नारायण थे। जव वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए तो पिता ने उनका विवाह कर दिया और वड़े भाई को राज्य-भार सौंपकर छोटे भाई को युवराज पद दे दिया। राज्य पाते ही उनका प्रभाव और तेज वढ़ने लगा।

उनकी राज्य-सभा में वर्वरी और चिलातिका नामक दो सुन्दर नर्तकियाँ थीं। नृत्यकला में उनकी प्रसिद्धि सम्पूर्ण देश में व्याप्त थी। एक दिन वे दोनों नर्तकियों का नृत्य देखने में मग्न थे, तभी नारद पधारे, किन्तु उनका ध्यान नारद की ओर नहीं गया, अतः वे उनका उचित आदर नहीं कर सके। इतने में नारद आगववूला हो गये और सभा से निकल गये। वे सीधे शिवमन्दिर नगर के राजा दमितारि के पास पहुँचे। राजा ने उठकर उनकी अभ्यर्थना की और वैठने के लिये उच्चासन दिया। इधर-उधर की वातचीत होने के अनन्तर नारद ने उन नृत्यकारिणियों का जिक्र छेड़ा और कहा—महाराज ! वे तो ऐसी रत्न हैं, जो केवल आपकी सभा में ही शोभा पा सकती हैं। उनके कारण आपकी सभा की भी शोभा वढ़ेगी।

नारद तो चिनगारी छोड़कर चले गये। दमितारि का प्रभाव आधे देश पर था। वह प्रतिनारायण का ऐश्वर्य भोग रहा था। उसने दूत भेजकर दोनों भाइयों को आदेश दिया—तुम लोग अपनी नर्तकियों को दूत के साथ हमारे पास भेज दो।

राजा अपराजित ने दूत को सम्मानपूर्वक ठहराया और मंत्रियों से परामर्श किया। फलतः वे दोनों भाई नर्तकियों का वेष धारण करके दूत के साथ दमितारि की सभा में पहुँचे। वहाँ उन्होंने जो कलापूर्ण नृत्य दिखाया तो दमितारि वोला—'तुम हमारी पुत्री को नृत्यकला सिखला दो।' उन्होंने यह भी स्वीकार कर लिया। वे राजपुत्री कनकश्री को नृत्यकला सिखाने लगे। वहीं कनकश्री और अनन्तवीर्य का प्रेम हो गया। एक दिन दोनों भाई राजपुत्री को लेकर आकाश-मार्ग से चल दिये। जव अन्तःपुर के कचुकी ने यह दुःसंवाद महाराज दमितारि को सुनाया तो वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर सेना लेकर युद्ध करने चल दिया। मार्ग में ही दमितारि का दोनों भाइयों के साथ भयानक युद्ध हुआ। अपराजित सेना के साथ युद्ध करने लगा और अनन्तवीर्य दमितारि के साथ। अनन्तवीर्य के प्रहारों से त्रस्त होकर दमितारि ने उस पर चक्र फेंका। किन्तु चक्र प्रदक्षिणा देकर उसके कन्धे पर ठहर गया। तव अनन्तवीर्य ने उसी चक्र से दमितारि का वध कर दिया। पश्चात् सभी विद्याधरों को जीतकर अपराजित ने वलभद्र पद धारण किया और अनन्तवीर्य ने नारायण पद। वे दोनों आनन्दपूर्वक वहुत काल तक राज्य-सुख का भोग करते रहे।

अनन्तवीर्य की मृत्यु होने पर अपराजित वहुत शोक करता रहा। फिर पुत्र को राज्य सौंपकर सम्पूर्ण आभ्यन्तर-वाह्य आरम्भ परिग्रह का त्याग कर सयम धारण कर लिया और समाधिमरण कर अच्युत स्वर्ग का इन्द्र हुआ। अनन्तवीर्य का जीव नरक और मनुष्यगति में जन्म लेकर अच्युत स्वर्ग का प्रतीन्द्र हुआ।

अच्युतेन्द्र आयु पूर्ण होने पर पूर्व विदेह क्षेत्र के रत्नसचयपुर में राजा क्षेमकर की कनकचित्रा नाम की रानी से वज्रायुध नामक पुत्र हुआ। उसके उत्पन्न होने पर सभी को महान् हर्ष हुआ। ज्यों ज्यों वह वड़ा होता गया, उसके गुणों का सौरभ और यश चारों ओर फैलने लगा। तरुण होने पर पिता ने उसको युवराज वना दिया। अव वज्रायुध राज्य-लक्ष्मी और लक्ष्मीमती नामक स्त्री का आनन्दपूर्वक भोग करने लगा। उन दोनों के प्रतीन्द्र का जीव सहस्रायुध नामक पुत्र हूआ।

वज्रायुध अष्टाँग सम्यग्दर्शन का निरतिचार पालन करता था। वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि था। एक दिन ऐशान स्वर्ग के इन्द्र ने धर्म-प्रेम के कारण वज्रायुध के सम्यग्दर्शन की निष्ठा की प्रशंसा की। इस प्रशंसा को विचित्र-

चूल नामक देव सहन नहीं कर सका और वह वज्रायुध की परीक्षा करने चल दिया। आकर उसने वज्रायुध से नाना भाँति के प्रश्न किये, किन्तु वज्रायुध ने आत्म-श्रद्धा के साथ देव को उत्तर दिये। उससे वह न केवल निरुत्तर ही हो गया, बल्कि उसे भी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया। उसने अपना वास्तविक रूप प्रगट कर राजा की पूजा की और अपने आने का उद्देश्य प्रगट कर उनकी बहुत प्रशंसा की।

वज्रायुध के पिता क्षेमंकर तीर्थंकर थे। उन्हें राज्य करते हुए बहुत समय बीत गया। तब वे वज्रायुध का राज्याभिषेक करके दीक्षित हो गये और तपस्या करते हुये उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्र और देव उनके ज्ञान कल्याणक के उत्सव में आये और उनकी पूजा की। वे चिरकाल तक विहार करके भव्य जीवों का कल्याण करते रहे।

एक बार वज्रायुध अपनी रानियों के साथ वन-विहार के लिये गये। वहाँ एक तालाब में वे रानियों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहे थे, तभी किसी दुष्ट विद्याधर ने एक शिला से सरोवर को ढक दिया और वज्रायुध को नागपाश से बाँध लिया। किन्तु वज्रायुध इससे जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने हाथ की हथेली से शिला पर प्रहार किया, जिससे उसके शत शत खण्ड हो गए। वे फिर रानियों के साथ अपने नगर वापिस आ गये।

इसके कुछ काल बाद ही नौ निधियाँ और चौदह रत्न प्रगट हुए। उन्होंने दिग्विजय के लिये अभियान किया और कुछ ही समय में षट् खण्ड पृथ्वी को जीतकर वे चक्रवर्ती बन गए। वे चिरकाल तक भोग भोगते रहे। एक दिन उनके पौत्र मुनिराज कनकशान्ति को केवलज्ञान हो गया। उन्होंने तभी अपने पुत्र सहस्रायुध का राज्याभिषेक करके क्षेमंकर भगवान के पास जाकर दीक्षा लेली। दीक्षा लेकर वे सिद्धिगिरि पर्वत पर एक वर्ष का प्रतिमायोग का नियम लेकर ध्यानलीन हो गये। धीरे-धीरे उनके चरणों के सहारे दीमकों ने बमीठे बना लिये और उनमें लताएँ उग आईं जो मुनिराज के शरीर पर चढ़ गईं। दो असुरों ने उनके ऊपर उपद्रव करने का प्रयत्न किया किन्तु रम्भा और तिलोत्तमा नामक दो देवियों ने उन्हें भगा दिया। फिर उन्होंने मुनिराज की पूजा की।

कुछ समय पश्चात् सहस्रायुध ने भी दीक्षा लेली और प्रतिमायोग का काल पूर्ण होने पर वे भी मुनिराज वज्रायुध के पास आ गये। दोनों ने वैभार पर्वत पर जाकर तपस्या की और सन्यासमरण कर वे दोनों ऊर्ध्व ग्रैवेयक के सौमनस विमान में अहमिंद्र हुए।

पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश था। उसमें पुण्डरीकिणी नगरी थी। उस नगरी के शासक धनरथ थे। वज्रायुध का जीव ग्रैवेयक में आयु पूर्ण होने पर महाराज धनरथ की बड़ी रानी मनोहरा से मेघरथ नामक पुत्र पैदा हुआ और सहस्रायुध का जीव महाराज की दूसरी रानी मनोहरा से दृढ़रथ नामक पुत्र हुआ। दोनों पुत्रों की ज्यों ज्यों आयु बढ़ती गई, त्यों त्यों उनके गुणों में भी वृद्धि होती गई। जब वे पूर्ण युवा हो गये, तब पिता ने दोनों के विवाह कर दिये। मेघरथ को जन्म से ही अवधिज्ञान था और पिता तीर्थंकर थे। एक दिन महाराज धनरथ को संसार के सुखों से विरक्ति हो गई। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर स्वर्गीय पुष्पों से उनकी पूजा की और उनके विचारों की सराहना करके देव-लोक को चले गये। तब महाराज धनरथ ने मेघरथ का राज्याभिषेक करके स्वय संयम धारण कर लिया। तपस्या करते हुए उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों ने आकर बड़े वैभव के साथ उनकी पूजा की। भगवान धनरथ विभिन्न देशों में विहार करते हुए उपदेश देने लगे।

एक दिन मेघरथ अपनी रानियों के साथ देवरमण उद्यान में विहार के लिये गये। वे वहाँ चन्द्रकांत मणि की शिला पर बैठे विश्राम कर रहे थे। तभी उनके ऊपर से एक विद्याधर विमान में जा रहा था। किन्तु विमान रुक गया। इससे विद्याधर बड़ा कुपित हुआ। वह नीचे उतर कर आया। वह क्रोध के मारे उस शिलातल को उठाने के लिये प्रयत्न करने लगा। मेघरथ ने यह देखकर अपने पैर के अंगूठे से उस शिला को दबा दिया। इससे विद्याधर बुरी तरह उसके नीचे दब गया और करुण स्वर में चिल्लाने लगा। तब उसकी स्त्री आकर दीनतापूर्वक पति के प्राणों की भिक्षा मांगने लगी। मेघरथ उसकी विनय से द्रवित हो गये और अपना पैर उठा लिया। तब उस विद्याधर राजा सिंहरथ ने मेघरथ की पूजा की।

एक दिन महाराज मेघरथ उपवास का नियम लेकर आष्टान्हिक पूजा के पश्चात् उपदेश दे रहे थे। तभी

एक भयाक्रान्त कबूतर उड़ता हुआ आया और उनकी गोद में बैठ गया। उसके पीछे एक गीध आया और खड़ा होकर बोला—महाराज मैं क्षुधा से पीड़ित हूँ। यह कबूतर मेरा भक्ष्य है। यह मुझे दे दीजिये, अन्यथा मेरी मृत्यु निश्चित है।

मेघरथ ने जान लिया कि गीध नहीं बोल रहा है, बल्कि यह ज्योतिष्क देव बोल रहा है। गीध को बोलता देखकर दृढ़रथ को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने पूछा—'आर्य ! यह गीध इस प्रकार कैसे बोल रहा हे ?' तब मेघरथ कहने लगे—वस्तुतः कबूतर और गीध तो पक्षी ही हैं किन्तु गीध के ऊपर एक देव स्थित है। वह बोल रहा है। यह एक ज्योतिष्क देव है। वह एक दिन ऐशान स्वर्ग में गया था। वहाँ सभासद देव कह रहे थे कि इस समय पृथ्वी पर मेघरथ से बढ़कर दूसरा दाता नहीं है। मेरी प्रशंसा सुनकर इस देव को सहन नहीं हुई, अतः वह मेरी परीक्षा करने आया है। किन्तु जो मोक्ष मार्ग में स्थित है, वही पात्र है, वही दाता है। माँस देने योग्य पदार्थ नहीं है और माँस की इच्छा करने वाला पात्र नहीं है और इसका देने वाला दाता नहीं है। इसलिये यह गीध दान का पात्र नही हैं और यह कबूतर शरणागत है, इसलिये यह देने योग्य नहीं है।

मेघरथ की यह धर्मयुक्त बात सुनकर वह ज्योतिष्क देव प्रसन्न हुआ और प्रगट होकर मेघरथ की प्रशंसा करके अपने स्थान को चला गया।

एक दिन मेघरथ अष्टान्हिका पर्व में पूजा करके उपवास धारण कर रात्रि में प्रतिमायोग से ध्यानारूढ़ थे। तभी ऐशान स्वर्ग में इन्द्र ने प्रशंसा की—राजा मेघरथ सम्यग्दृष्टियों में अग्रगण्य हैं। वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, धर्मवीर हैं। इन्द्र द्वारा मेघरथ की इस प्रकार प्रशंसा सुनकर अतिरूपा और सुरूपा नाम की दो देवियाँ उनकी परीक्षा के लिये आईं। उन्होंने नाना प्रकार के नृत्य, हावभाव, विलास आदि द्वारा मेघरथ को विचलित करना चाहा, किन्तु असफल रहीं और उनकी स्तुति कर चली गईं।

किसी दिन भगवान धनरथ नगर के बाहर मनोहर उद्यान में पधारे। मेघरथ उनके दर्शनों के लिये गये। भगवान का उपदेश सुनकर उन्होंने सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग करने का संकल्प किया और अपने छोटे भाई दृढ़रथ से बोले—मैं दीक्षा लेना चाहता हूं, तुम राज्य संभालो। दृढ़रथ बोला—आप जिस कारण से राज्य का परित्याग करना चाहते हैं, मैं उसी कारण से इसे ग्रहण नहीं करना चाहता। राज्य को ग्रहण कर एक दिन छोड़ना ही पड़ेगा तब उसे पहले ही ग्रहण करना अच्छा नहीं है। तब मेघरथ ने अपने पुत्र मेघसेन का राज्याभिषेक करके अपने छोटे भाई और सात हजार राजाओं के साथ भगवान धनरथ के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

वे क्रम से ग्यारह अंग के वेत्ता हो गये और उन्होंने सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया, जिससे उन्हें सातिशय पुण्य वाली तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध हो गया। वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप इन चारों आराधनाओं की निरन्तर विशुद्धि बढ़ाते जा रहे थे। अन्त में नभस्तिलक नामक पर्वत पर अपने छोटे भाई दृढ़रथ के साथ एक माह तक प्रायोपगमन नामक समाधि धारण कर ली। अन्त में शान्त भावों से शरीर छोड़कर अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए। दृढ़रथ भी अहमिन्द्र बने।

भगवान शान्तिनाथ

हस्तिनापुर नगरी में काश्यप गोत्री महाराज विश्वसेन राज्य करते थे। गान्धार नरेश राजा अजितंजय की पुत्री एरा उनकी महारानी थीं। उनकी सेवा इन्द्र द्वारा भेजी हुई श्री, ह्री, धृति आदि देवियाँ करती थीं।

गर्भ कल्याणक

भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को भरणी नक्षत्र में रात्रि के चतुर्थ भाग में उन्होंने शुभ सोलह स्वप्न देखे। स्वप्नों के बाद उन्होंने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। उसी समय मेघरथ का जीव अनुत्तर विमान से च्युत होकर महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ। प्रातःकाल को इन्द्रों

का शब्द सुनकर महारानी शय्या त्याग कर उठीं। उन्होंने मंगल स्नान करके वस्त्रालंकार धारण किये और राज-सभा में पहुँचीं। महाराज ने उनकी अभ्यर्थना की और अपने वाम पार्श्व में सिंहासन पर उन्हें स्थान दिया। महारानी ने रात को देखे हुए स्वप्नों का वर्णन करके महाराज से उन स्वप्नों का फल पूछा। अवधिज्ञान के धारक महाराज ने हर्षपूर्वक स्वप्नों का फल बताया और कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में विश्वोद्धारक तीर्थंकर देव का आगमन हुआ है। सुनकर महारानी को बड़ा हर्ष हुआ। उसी समय चारों निकाय के देव और इन्द्र वहाँ आये और गर्भावतार कल्याणक की पूजा की।

पन्द्रह माह तक देवों ने रत्नवृष्टि की। रानी के गर्भ में बालक बड़े अभ्युदय के साथ बढ़ने लगा। नौ माह पूरे होने पर ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन याम्य योग में प्रातःकाल के समय माता ने लोकोत्तर पुत्र को जन्म दिया।

जन्म कल्याणक

पुत्र इतना सुन्दर था, मानो साक्षात् कामदेव ही अवतरित हुआ हो। उसका ऐसा मोहन रूप था कि जो देखता, वह उसकी मोहनी में बंधा रह जाता। वह जन्म से ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञान का धारी था। उस पुत्र की पुण्य वर्गणाओं के कारण उसके उत्पन्न होते ही चारों प्रकार की देव जाति में स्वतः ही प्रत्येक देव-विमान और आवास में शंखनाद, भेरीनाद, सिंहनाद और घण्टानाद होने लगा। उस ध्वनि को सुनते ही प्रत्येक इन्द्र और देव ने जान लिया कि तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ है। सबके हृदय भक्ति और उल्लास से उमगने लगे। सब देव और इन्द्र विविध वाहनों पर आरुढ़ होकर बड़े आनन्द उत्सव के साथ हस्तिनापुर में आये और इन्द्राणी ने माता की बगल में मायामय शिशु बनाकर सुला दिया तथा भगवान को अपने अंक में उठा लिया। इन्द्राणी और देवियों के सन्तान नहीं होती, अतः वे नहीं जानतीं कि पुत्र-वात्सल्य क्या होता है। किन्तु त्रिलोकीनाथ को गोद में लेते ही इन्द्राणी के मनःप्राण जिस अलौकिक पुलक से भर उठे, उससे उसके मन का अणु-अणु प्रभु-भक्ति में डूब गया। वह उस दिव्य बालक को लेकर सम्पूर्ण बाह्य को भूल गई, वह यह भी भूल गई कि वह इन्द्राणी है। वह तो प्रभु की भक्ति में इतनी विभोर हो गई कि अपने आपको प्रभु रूप ही देखने लगी। उस समय की उसकी मनोदशा का अंकन क्या किसी लेखनी या तूलिका से हो सकता है?

जब उसे प्रतीक्षारत देवों का ध्यान आया, तब उसे चेत आया। वह बाल प्रभु को लेकर चली, किन्तु दृष्टि प्रभु की सौन्दर्य-वल्लरी का ही रस-पान कर रही थी। वह चल रही है, क्या इसका उसे कुछ पता था! जब सौधर्मेन्द्र ने उसके अंक से बालक को ले लिया, तब उसे लगा जैसे वह रीती हो गई है। किन्तु जो रसाच्छन्नता उसके मन को विमोहित किये हुए थी, वही विमोहित दशा बालक को अंक में लेते ही इन्द्र की भी हो गई। रूप ही मानो आकार धारण करके बाल रूप में आ गया था। किन्तु इन्द्र विजड़ित नहीं हुआ। वह तो सहस्र नेत्र बनाकर उस रूप-सुधा को अपने सारे जड़ चेतन प्राणों से पीने लगा। भक्ति का भी एक नशा होता है। जब यह नशा आता है तो वह सब कुछ भूल जाता है। तब केवल वह रहता है और उसका प्रभु रहता है। भक्त अपनी भक्ति से दोनों के अन्तर को मिटा डालता है। वहाँ द्वैध भाव समाप्त हो जाता है, अभेद भावना भर जाती है। इन्द्र भी तब ऐसी ही स्टेज पर पहुँच गया। मन में हुमक समाये न समायी, वह निकलने को मार्ग ढूंढ़ने लगी। राह मिली पदों में। मन नाच रहा था, पैर नाचने लगे। जगत्प्रभु अंक में और इन्द्र लोकातीत लोक में, जहाँ इन्द्र नहीं, प्रभु नहीं, देव नहीं, लोक भी नहीं, जहाँ भावना भी अतीत हो गई, जहाँ केवल शून्य है और शून्य में अधिष्ठित है केवल शुद्ध आत्मा, सिद्ध रूप आत्मा।

इन्द्राणी और इन्द्र भाव लोक की इस कुंवारी धारा में कितने समय बहते रहे, यह समय की पकड़ से परे थी। लेकिन इस धारा में उनके कितनी कर्म-वर्गणायें बह गईं, उसका अन्त नहीं, उसकी संख्या भी नहीं।

तब सब देव चले। इन्द्र ने भगवान को ऐरावत हाथी पर अपने अंक में ले रखा था। इन्द्र सोच रहा था—क्या भगवान का स्थान यह है। नहीं, उनका स्थान यह नहीं, यह लोक भी नहीं, उनका स्थान तो इस लोक के अग्र भाग पर है। वहीं तो बनाना है अपना स्थान इन भगवान को। और मुझे ही क्या इन भगवानों का भार सदा लादे फिरना है। मुझे भी तो यह निस्सार वैभव, इन्द्र का तुच्छ पद और स्वर्ग का कोलाहल त्याग कर मानव बनकर लोक शिखर पर पहुँचना है। वही तो है मेरा वास्तविक स्थान!

देवों का जलूस सुमेरु पर्वत पर जाकर रुका। कितने देव-देवियाँ थे इस शोभा यात्रा में, क्या उंगलियों की संख्या में वे बांधे जा सकते थे। किन्तु सभी प्रभु की भक्ति में डूबे हुए थे। सब अपनी भक्ति अपने ही ढंग से प्रगट कर रहे थे। वह भक्ति सब वन्धनों से, लौकिक शिष्टाचारों से अतीत थी। लेकिन उसमें एक व्यवस्था थी, अनुशासन था और कलात्मकता थी। प्रभु को पाण्डुक पर्वत की रत्नशिला पर विराजमान किया और देव यन्त्र-चालित से सुमेरु से क्षीरसागर तक पंक्तिबद्ध खड़े हो गये। जलपूरित स्वर्ण कलश एक हाथ से दूसरे हाथों में पहुँचते गये और इन्द्र भगवान का अभिषेक करने लगे। यों प्रभु का एक हजार कलशों से अभिषेक हुआ। इन्द्राणी ने न्हवन के अनन्तर रत्नकंवल से भगवान का शरीर पोंछा, इन्द्र के भण्डार से लाये हुए वस्त्राभूषणों से उनका शृंगार किया। तब प्रभु की उस काल की मोहक छवि से इन्द्र फिर एक वार भूल गया अपनी सुध-बुध को। उसके पैर स्वतः ही थिरकने लगे, गन्धर्वों ने वाद्य संभाले, देवियों ने इन्द्र के नृत्य की संगत साधी। भक्ति के इस पूर में सब कुछ भूल गये। सबके मन शान्ति, दिव्य शान्ति से भर गये। शान्ति का यह चमत्कारपूर्ण अनुभव था। सौधर्मेन्द्र ने नारा दिया—भगवान शान्तिनाथ की जय। सबने इस नारे को दुहराया। यही था बालक का नामकरण संस्कार। यही नाम फिर लोक-लोकान्तरों में विख्यात हो गया। बालक था त्रिलोकीनाथ, नामकरण करने वाला था स्वर्ग का इन्द्र और साक्षी था सम्पूर्ण देव समाज। नाम रक्खा गया था बालक के गुण के अनुसार।

देव समाज जिस उल्लास से बालक को ले गया था, उसी उल्लास से वापिस लौटा। आकर माता को इन्द्राणी ने उनकी अमूल्य धरोहर सौंपी। इन्द्र ने पिता को सारे समाचार सुनाये। सुनकर माता-पिता बड़े हर्षित हुए। कैसी विडम्बना है दुनिया वालों की। जो स्वयं तीनों लोक का शृंगार है, उसका शृंगार रत्नाभूषणों से करते हैं और जो स्वयं लोक का रक्षक है, उसकी रक्षा के लिये इन्द्र ने लोकपालों की नियुक्ति की। किन्तु सच बात तो यह है कि भगवान को न शृंगार की आवश्यकता है और न किसी रक्षक की। वह तो इन्द्राणी और इन्द्र की भक्ति थी।

चक्रवर्ती पद—भगवान शान्तिनाथ के शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनके शरीर में ध्वजा, तोरण, सूर्य, चन्द्र, शंख और चक्र आदि शुभ चिह्न थे।

महाराज विश्वसेन की दूसरी रानी यशस्वती के गर्भ से दृढ़रथ का जीव अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद का भोग करके उत्पन्न हुआ और उसका नाम चक्रायुध रक्खा गया।

बालक शान्तिनाथ ज्यों-ज्यों आयु में बढ़ते जाते थे, त्यों-त्यों उनकी लक्ष्मी, सरस्वती और कीर्ति भी बढ़ती जाती थी। जब वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब पिता ने सुन्दर, सुशील और गुणवती अनेक कन्याओं के साथ उनका विवाह कर दिया और पिता ने अपना राज्य सौंप दिया। राज्य करते हुए जब शान्तिनाथ को कुछ समय हो गया, तब चक्र आदि चौदह रत्न और नौ निधियाँ प्रगट हुईं। उन चौदह रत्नों में से चक्र, छत्र, तलवार और दण्ड ये चार आयुधशाला में उत्पन्न हुए थे। काकिणी, चर्म और चूड़ामणि श्रीगृह में प्रगट हुए थे। पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुर में मिले थे तथा कन्या, गज और अश्व विजयार्ध पर्वत पर प्राप्त हुए थे। नौ निधियाँ इन्द्रों ने नदी और सागर समागम पर लाकर दी थीं। चक्र के बल पर और सेनापति के द्वारा उन्होंने भरत क्षेत्र के छहों खंडों पर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण भरत में चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना की। चक्रवर्ती पद की समस्त विभूति उन्हें प्राप्त थी। बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उन्हें नमन करते थे। उनके अन्तःपुर में छियानवे हजार रानियाँ थीं। उन्हें दस प्रकार के भोग प्राप्त थे।

चक्रवर्ती पद का भोग करते हुए उन्हें बहुत काल बीत गया। एक दिन वे अलंकार गृह में अलंकार धारण कर रहे थे, तभी उन्हें दर्पण में अपने दो प्रतिबिम्ब दिखाई पड़े। वे विचार करने लगे—यह क्या है। तभी उन्हें अपने पूर्वजन्म की बातें स्मरण हो आईं। संसार का अस्थिर रूप देखकर उनके मन में आत्म-कल्याण की भावना जागृत हुई। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान को नमस्कार किया और उनके वैराग्य की सराहना करते हुए उनसे धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन करने की प्रार्थना की।

दीक्षा कल्याणक

भगवान ने नारायण नामक अपने पुत्र को राज्य-पट्ट बांध कर राज्य उसे सौंप दिया। इन्द्र ने आकर उनका दीक्षा

भिषेक किया। फिर वे देवनिर्मित सर्वार्थसिद्धि पालकी में बैठकर नगर के बाहर सहस्राम्र वन में पहुँचे। वहाँ शिलातल पर उत्तर की ओर मुख करके पर्यंकासन से बैठ गये। उसी समय ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन शाम के समय भरणी नक्षत्र में बेला का नियम लेकर सिद्ध भगवान को नमस्कार कर सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग किया, पंचमुष्टि लोंच किया और निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुद्रा धारण कर सामायिक चारित्र की विशुद्धता और मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त किया। इन्द्र ने उनके केशों को एक रत्नमंजूषा में रख कर क्षीरसागर में प्रवाहित कर दिया। उनके साथ चक्रायुध आदि एक हजार राजाओं ने भी सकल संयम धारण कर लिया। इन्द्र और देव ऐसे संयम की भावना करते हुए दीक्षा महोत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये।

पारणा के लिये भगवान मन्दिरपुर नगर में पहुँचे। वहाँ सुमित्र राजा नें भगवान को प्रासुक आहार दिया। देवों ने इस उपलक्ष्य में पंचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष तक भगवान विभिन्न स्थानों पर रहकर घोर तप करते रहे और निरन्तर कर्मों का क्षय करते गये। फिर भगवान चक्रायुध आदि मुनियों के साथ सहस्राम्र वन में पधारे और नन्द्यावर्त वृक्ष के नीचे बेला के उपवास का नियम लेकर ध्यानमग्न हो गये। उनका मुख पूर्व की ओर था। भगवान को पौष शुक्ला दशमी को भरणी नक्षत्र में सायंकाल के समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय कर्म नष्ट होने पर केवलज्ञान प्रगट हुआ। देव और इन्द्रों ने आकर भगवान का ज्ञान कल्याणक मनाया और समवसरण की रचना की। भगवान ने उसी दिन दिव्य ध्वनि द्वारा धर्मचक्र-प्रवर्तन किया।

भगवान का संघ—भगवान के संघ में चक्रायुध आदि छत्तीस गणधर थे। ८०० पूर्वधर, ४१८०० शिक्षक, ३००० अवधिज्ञानी, ४००० केवलज्ञानी, ६००० विक्रिया ऋद्धिधारी, ४००० मनःपर्ययज्ञानी, २४०० वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या ६२००० थी। हरिषेणा आदि ६०३०० आर्यिका थीं। सुरकीर्ति आदि २००००० श्रावक और अर्हद्दासी आदि ४००००० श्राविकायें थीं।

निर्वाण कल्याणक—भगवान बहुत समय तक विभिन्न देशों में विहार करके धर्म का प्रकाश संसार को देते रहे। जब एक माह की आयु शेष रह गई, तब वे सम्मेदशिखर पर आये और विहार बन्द कर वहाँ योगनिरोध करके विराजमान हो गये। उन्होंने अवशिष्ट वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मों का भी क्षय कर दिया और ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन रात्रि के पूर्व भाग में भरणी नक्षत्र में नौ हजार राजाओं के साथ निर्वाण प्राप्त किया। चार प्रकार के देव आये और निर्वाण कल्याणक की पूजा करके अपने-अपने स्थान को चले गये।

जन्म-चिन्ह—भगवान का चिन्ह हरिण था।

यक्ष-यक्षिणी—इनका गरुड़ यक्ष और महामानसी यक्षिणी थी।

हस्तिनापुर—भगवान की जन्म-नगरी हस्तिनापुर विख्यात जैन तीर्थ है। यहीं पर सोलहवें तीर्थकर शान्तिनाथ, सत्रहवें कुन्थुनाथ और अठारहवें भगवान अरनाथ का जन्म हुआ था। यहीं इन तीर्थकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए। ये तीनों तीर्थकर पांचवें, छटवे, सातवें चक्रवर्ती भी थे।

अयोध्या की तरह हस्तिनापुर की भी रचना देवों ने की थी। यहाँ ऋषभदेव, मल्लिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि कई तीर्थंकरों का पदार्पण हुआ था। यहीं पर भगवान ऋषभदेव ने दीक्षा के बाद राजकुमार श्रेयांस से प्रथम आहार लिया था। जिस दिन भगवान ने आहार लिया था, वह पावन तिथि वैशाख शुक्ला तृतीया थी। भगवान के आहार के कारण यह तिथि भी पवित्र हो गई और अक्षय तृतीया कहलाने लगी। राजकुमार श्रेयान्स का नाम दान-तीर्थ के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हो गया और संसार में दान देने की प्रथा का प्रारम्भ भी इसी घटना के कारण हुआ।

सती सुलोचना श्रेयान्स के बड़े भाई राजा सोमप्रभ के पुत्र मेघेश्वर जयकुमार की पत्नी थी, जिनके शील की चमत्कारपूर्ण घटनायें प्रसिद्ध हैं। सोमप्रभ से सोमवंश या चन्द्रवंश चला। जयकुमार प्रथम चक्रवर्ती भरत का प्रधान सेनापति था।

चौथा चक्रवर्ती सनत्कुमार यहीं हुआ था। इस प्रकार लगातार चार चक्रवर्ती और तीन तीर्थंकर यहाँ हुए।

यहीं पर वलि आदि मंत्रियों ने सात दिन का राज्य पाकर अकंपनाचार्य के संघ के सात सौ मुनियों की बलि देकर यज्ञ-विधान का ढोंग रचा था। तव मुनि विष्णुकुमार ने वामन ब्राह्मण का रूप धरकर वलि से तीन पग धरती की याचना की थी। वलि द्वारा संकल्प करने पर मुनिराज ने विक्रियाऋद्धि से अपना शरीर बढ़ाकर एक पग सुमेरु पर्वत पर रक्खा। दूसरा पग मानुषोत्तर पर्वत पर रक्खा। अव तीसरे पग लायक भूमि की मांग उन्होंने की। सारे लोक में आतंक छा गया। वलि आदि चारों मंत्री भय के मारे कांपने लगे। वे मुनि विष्णुकुमार के चरणों में गिरकर क्षमा मांगने लगे। तत्काल मुनियों के चारों ओर लगाई हुई आग बुझाई गई। सब लोगों ने मुनियों की पूजा की और साधर्मीवात्सल्य के नाते परस्पर में रक्षा-सूत्र बांधा। तवसे इस घटना की स्मृति में रक्षा-बन्धन का महान पर्व प्रचलित हो गया जो श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को उल्लासपूर्वक मनाया जाता है।

यहीं पर पाण्डव और कौरव हुए थे और राज्य के लिए दोनों पक्षों में महाभारत नामक प्रसिद्ध महायुद्ध हुआ था।

एक बार दमदत्त नामक मुनि उद्यान में विराजमान थे। कौरव उधर से निकले। मुनि को देखते ही वे उन पर पत्थर बरसाने लगे। थोड़ी देर वाद पाण्डव आये। उन्होंने मुनिराज की चरण-वन्दना की और पत्थर हटाये। मुनि तो ध्यानलीन थे। उन्हें उसी समय केवलज्ञान हो गया।

कवि वनारसीदास के 'अर्धकथानक' से ज्ञात होता है कि सन् १६०० में कविवर ने यहाँ की सकुटुम्ब यात्रा की थी। 'अर्धकथानक' से यह भी ज्ञात होता है कि उस काल में भी यहाँ जैन यात्री यात्रा के लिए वरावर आते रहते थे।

वर्तमान मन्दिर का भी वड़ा रोचक इतिहास है। यहाँ पर संवत् १८५८ में ज्येष्ठ वदी तेरस को मेला था। इसमें दिल्ली से राजा हरसुखराय, शाहपुर से लाला जयकुमारमल आदि समाजमान्य सज्जन आये थे। सभी लोग चाहते थे कि यहाँ जैन मन्दिर बनना चाहिये। प्राचीन मन्दिर टूट-फूट गये थे। नसियों की हालत खस्ता थी। लोगों ने राजा हरसुखराय से मन्दिर-निर्माण की प्रार्थना की। राजा साहव मुगल वादशाह शाह आलम के खजांची थे और उनका वड़ा प्रभाव था। राजा साहव ने मन्दिर बनाने की स्वीकृति दे दी। लेकिन मन्दिर वनने में कठिनाई यह थी कि शाहपुर के गूजर जैन मन्दिर बनाने का विरोध करते थे। यह इलाका वहसूमे के गूजर नरेश नैनसिंह के अधिकार में था। राजा नैनसिंह के मित्र लाला जयकुमारमल भी वहाँ मौजूद थे। राजा साहव ने उनसे प्रेरणा की कि आप नैनसिंह जी से कह कर काम करा दीजिये। लाला जी ने अवसर देखकर नैनसिंह से मन्दिर की चर्चा छेड़ दी। उसमें राजा साहव का भी जिक्र आया। नैनसिंह जी राजा साहव से कई मामलों में आभार से दवे हुए थे। अतः उन्होंने मंजूरी दे दी और मन्दिर का शिलान्यास करने की भी स्वीकृति दे दी।

दूसरे ही दिन सैकड़ों लोगों की उपस्थिति में राजा नैनसिंह ने मन्दिर की नीव में पाच ईंटे अपने हाथ मे रक्खीं। राजा हरसुखराय के धन थे लाला जयकुमारमल की देख-रेख में मन्दिर का निर्माण हुआ। जव मन्दिर का कार्य कुछ वाकी रह गया, तव राजा साहव ने जनता की उपस्थिति में समाज के पचों से हाथ जोड़कर निवेदन किया—सरदारो! जितनी मेरी शक्ति थी, उतना मैंने कर दिया। मन्दिर आप सवका है। इसलिये इसमें सवको मदद करनी चाहिये।' वहाँ एक घड़ा रख दिया गया। सवने उसमें अपनी शक्ति के अनुसार दान डाला। लेकिन जो धन उससे संग्रह हुआ, वह वहुत कम था। राजा साहव का उद्देश्य इतना ही था कि मन्दिर पचायती रहे और वे अहंकार में ग्रस्त न हो जायें।

संवत् १८६३ में राजा साहव ने कलशारोहण और वेदी प्रतिष्ठा का कार्य सम्पन्न कराया। सवत् १८६७ में लाला जयकुमारमल ने मन्दिर का विशाल द्वार वनवाया। मन्दिर के चारों ओर पास विशाल धर्मशालायें हैं।

सन् १८५७ में गदर के समय गूजरों ने इस मन्दिर को लूट लिया। वे लोग मूलनायक पार्श्वनाथ की प्रतिमा भी उठा ले गये। वाद में फिर एक वार मन्दिर को लूटा। नया मन्दिर दिल्ली में भगवान शान्तिनाथ की

प्रतिमा ले जाकर मूल नायक के रूप में विराजमान कर दी गई। उसके कारण यह शान्तिनाथ का मन्दिर कहा जाने लगा।

इस मन्दिर के पीछे एक मन्दिर और है। मन्दिर से तीन मील की दूरी पर नशियाँ वनी हुई हैं। तांगे मिलते हैं। रास्ता कच्चा है। सबसे पहले भगवान शान्तिनाथ की नशियाँ है। उसमें भगवान के चरण-चिन्ह हैं। फिर कुछ दूर जाने पर एक कम्पाउण्ड में अरनाथ और कुन्थुनाथ की नशियाँ हैं। इन दोनों में भी चरण-चिन्ह वने हुए हैं। इनसे आगे एक कम्पाउण्ड में भगवान मल्लिनाथ की टोंक है।

———

अष्टादश परिच्छेद

भगवान कुन्थुनाथ

पूर्व भव

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में सीता नदी के दक्षिणी तट पर वत्स नामक देश था। उसकी सुसीमा नगरी में राजा सिंहरथ राज्य करता था। उसने अपने पराक्रम से समस्त शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली थी और निष्कण्टक राज्य कर रहा था। एक दिन उसने उल्कापात होते हुए देखा। उसे देखकर उसके मन में संसार के भोगों की क्षणभंगुरता की ओर दृष्टि गई और उसने भोगों को निस्सार समझकर उन्हें छोड़ने का संकल्प कर लिया। वह राजपाट, परिवार का त्यागकर मुनि यतिवृषभ के समीप गया और उन्हें नमस्कार कर सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर दिया। उनके साथ अनेक राजाओं ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। मुनि सिंहरथ गुरु के समीप रहकर घोर तपस्या करने लगे। उन्होंने ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त किया और सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करने लगे। फलतः उन्हें तीर्थङ्कर नामकर्म की पुण्य प्रकृति का वन्ध हो गया। आयु के अन्त में समाधिमरण कर सर्वार्थ सिद्धि अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र हुए।

गर्भ कल्याणक

हस्तिनापुर नगर के कौरववंशी काश्यपगोत्री श्री महाराज सूरसेन थे। उनकी महारानी का नाम श्रीकांता था। महारानी ने श्रावण कृष्णा दसमी के दिन कृतिका नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब सर्वार्थसिद्धि के उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, सोलह शुभ स्वप्न देखे और वाद में मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। तभी अहमिन्द्र का वह जीव महारानी के गर्भ में अवतीर्ण हुआ। प्रातःकाल बन्दीजनों के मंगलगान से महारानी की नींद खुली। स्वप्नों के प्रभाव से महारानी के मन में वड़ा उल्लास था। उन्होंने नित्य कार्य कर स्नान किया, मांगलिक वस्त्राभूषण पहने और दासियों से परिवेष्टित होकर राजसभा में पधारी। उन्होंने महाराज की यथायोग्य विनय की। महाराज ने उन्हें वड़े आदरसहित वाम पार्श्व में स्थान दिया। महारानी ने महाराज से अपने स्वप्नों की चर्चा करके उनके फल पूछे। महाराज ने अवधिज्ञान से जानकर उनका फल वताया। फल सुनकर महारानी का मन हर्ष से भर गया। तभी देवों ने आकर महाराज सूरसेन और महारानी श्रीकांता का गर्भ कल्याणक सम्वन्धी अभिषेक किया और पूजा की।

जन्म कल्याणक

नौ मास व्यतीत होने पर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन आग्नेय योग में महारानी ने पुत्र प्रसव किया। उस समय इन्द्र और देव आये और बालक को लेकर सुमेरु पर्वत पर ले गये। वहाँ क्षीरसागर के जल से उस दिव्य बालक का अभिषेक किया, उसका दिव्य वस्त्रालंकारों से शृंगार किया। इन्द्र ने बालक का नाम कुन्थुनाथ रक्खा। उसके चरण में वकरे का चिन्ह था, जिस पर इन्द्र की सर्वप्रथम दृष्टि पड़ी। इसलिये उस बालक का सांकेतिक चिन्ह वकरा माना गया। फिर इन्द्र और देव बालक को वापिस लाये और उसे माता-पिता को सोंपकर आनन्दोत्सव किया। पिता ने भी नगरी में धूमधाम के साथ बालक का जन्मोत्सव मनाया। देव लोग उत्सव मनाकर अपने अपने स्थान पर चले गये।

शान्तिनाथ तीर्थङ्कर के मोक्ष जाने के वाद जब आधा पल्य बीत गया, तब कुन्थुनाथ भगवान का जन्म

के साथ उनका विवाह कर दिया। राज्य करते हुए इतना ही काल व्यतीत हो गया, तब उनकी आयुधशाला में चक्र आदि शस्त्र तथा चक्रवर्ती पद के योग्य अन्य रत्न और सामग्री प्राप्त हुई। उन्होंने विशाल सेना लेकर भरत क्षेत्र के छह खण्डों पर विजय प्राप्त कर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। सारे भरत क्षेत्र के बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजा उनके आज्ञानुवर्ती थे। उन्हें समस्त सांसारिक भोग उपलब्ध थे। भोग भोगते हुए और साम्राज्य लक्ष्मी का भोग करते हुए उन्हें तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष बीत गये। वे तीर्थंकर थे, चक्रवर्ती थे और कामदेव थे। उनका रूप, वैभव, और पुण्य असाधारण था। कोई ऐसा सांसारिक सुख नहीं था, जो उन्हें अप्राप्त था।

एक दिन वे वन विहार के लिये गये। मंत्री उनके साथ थे। उन्होंने देखा—एक निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि आतापन योग से स्थित हैं। उन्होंने उनकी ओर संकेत करके मंत्री से उनकी प्रशंसा की—'देखो मंत्रीवर ! ये मुनि कितना घोर तप कर रहे हैं।' मंत्री ने नतमस्तक होकर मुनिराज की वन्दना की और प्रभु से पूछा—'देव ! इतना कठिन तप करके इनको क्या फल मिलेगा ?' प्रभु बोले—ये मुनि कर्मों को नष्ट करके इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे। जो परिग्रह और आरम्भ का त्याग करते हैं, वे ही संसार के परिभ्रमण से मुक्ति प्राप्त करते हैं। संसार-भ्रमण का कारण यह आरम्भ-परिग्रह ही है।'

वस्तुतः भगवान ने मंत्री को जो कुछ कहा था, वह उपदेश मात्र नहीं था, अपितु भगवान के सतत चिन्तन की उस दिशा का संकेत था, जो सांसारिक भोग भोगते हुए भी वे सांसारिक भोगों की व्यर्थता, संसार के स्वरूप और आत्मा के त्रिकाली स्वभाव के सम्बन्ध में निरन्तर किया करते थे। वास्तव में वे भोगों में कभी लिप्त नहीं हुए। वे भोगों का नहीं, भोग्य कर्मों का भोग कर रहे थे और चिन्तन द्वारा भोग-काल को अल्प कर रहे थे। एक दिन इस चिन्तन के क्रम में उन्हें अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया। इससे उन्हें आत्मज्ञान हो गया। चिन्तन के फलस्वरूप उन्हें भोगों से अरुचि हो गई और उन्होंने दीक्षा लेने का निश्चय किया। लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की वन्दना की और निवेदन किया—'धन्य है प्रभु आपके निश्चय को। अब आप धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये। संसार के दुखी प्राणी आपकी ओर आशा भरी निगाहों से निहार रहे हैं।

भगवान ने अपने पुत्र को राज्य का भार सौंप दिया। देवताओं ने शिविका लाकर उपस्थित की और प्रभु उस विजया पालकी में बैठकर नगर के बाहर सहेतुक वन में पहुँचे और वहाँ अपने जन्म-दिन—वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन कृत्तिका नक्षत्र में सायंकाल के समय बेला का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ उन्होंने सम्पूर्ण पापों का परित्याग करके दीक्षा ग्रहण कर ली। उसी समय उन्हें मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु हस्तिनापुर नगर में पधारे। वहाँ राजा धर्ममित्र ने आहार देकर प्रभु का पारणा कराया। देवों ने पंचाश्चर्य किये।

विविध प्रकार के घोर तप करते हुए भगवान ने छद्मस्थ अवस्था के सोलह वर्ष बिताये। फिर विहार करते हुए वे दीक्षा-वन में पधारे। वहाँ तिलक वृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर विराजमान हो गये। वहीं चैत्र

केवलज्ञान

शुक्ला तृतीया के दिन सायंकाल के समय कृत्तिका नक्षत्र में मोह का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया। तभी हर्ष और भाव-भक्ति से युक्त देव और इन्द्र आये। कुबेर ने समवसरण की रचना की। उसमें गन्धकुटी में अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान ने धर्म का स्वरूप देवों, मनुष्यों और तिर्यंचों को सुनाकर धर्म-तीर्थ की स्थापना की और तीर्थंकर पद की सार्थकता की।

भगवान का संघ—भगवान ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। उस संघ में स्वयम्भू आदि पैंतीस गणधर थे। ७०० मुनि पूर्व के ज्ञाता थे। ४३१५० शिक्षक, २५०० अवधिज्ञानधारी, ३२०० केवलज्ञानी, ५१०० विक्रिया ऋद्धि के धारक, ३३०० मनःपर्ययज्ञानी और २०५० सर्वश्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार ६०००० मुनि उनके संघ में थे।

भाविता आदि ६०३५० आर्यिकायें थीं। ३००००० श्राविकायें थी और २००००० श्रावक थे। असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच थे।

परिनिर्वाण—भगवान धर्मोपदेश करते हुए अनेक देशों में धर्म विहार करते रहे। जब उनकी आयु में एक मास शेष रह गया तो भगवान सम्मेदशिखर पधारे। वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन रात्रि के पूर्व भाग में कृत्तिका नक्षत्र का उदय रहते हुए समस्त कर्मों का नाश कर सिद्ध बुद्ध मुक्त हो गये।

यक्ष-यक्षिणी—आपका सेवक गन्धर्व यक्ष और जया यक्षिणी थी।

एकोनविंशति परिच्छेद

भगवान अरनाथ

जम्वूद्वीप में सीतानदी के उत्तर तट पर कच्छ नामक देश था। उसमें क्षेमपुर नगर था, जिसका अधिपति धनपति नामक राजा था। वह प्रजा का रक्षक था, प्रजा उसे हृदय से प्रेम करती थी। उसके राज्य में राजा और प्रजा सब लोग अपनी-अपनी वृत्ति के अनुसार त्रिवर्ग का सेवन करते थे, अत: धर्म की परम्परा निर्वाध रूप से चल रही थी। एक दिन राजा भगवान अर्हन्नन्दन तीर्थंकर के दर्शनों के लिए गया और उनका उपदेश सुनकर उसके मन में आत्म-कल्याण की भावना जागृत हुई। उसने अपना राज्य अपने पुत्र को दे दिया और भगवान के निकट जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। वह भगवान के चरणों में रहकर तप करने लगा तथा शीघ्र ही ग्यारह अंग का पारगामी हो गया। वह निरन्तर सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन करता था। फलत: उसे तीर्थंकर नामक सातिशय पुण्य प्रकृति का वन्ध हो गया। अन्त में प्रायोपगमन मरण करके जयन्त नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र पद प्राप्त किया।

पूर्व भव

कुरुजांगल देश के हस्तिनापुर नगर में सोमवंश के भूषण काश्यप गोत्री महाराज सुदर्शन राज्य करते थे। उनकी महारानी मित्रसेना थी। जव उस अहमिन्द्र की आयु में छह माह शेष थे, तभी से महाराज के महलों में रत्न-वर्षा होने लगी। जव अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, तभी महारानी ने फाल्गुन शुक्ला तृतीया के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में तीर्थंकर जन्म के सूचक सोलह स्वप्न देखे तथा स्वप्नों के अन्त में उसने मुख में एक विशालकाय हाथी प्रवेश करते हुए देखा। तभी अहमिन्द्र का जीव स्वर्ग से चयकर महारानी के गर्भ में आया। प्रात:काल होने पर महारानी स्नानादि से निवृत्त होकर शृंगार करके महाराज के निकट पहुँची और महाराज के वाम पार्श्व में आसन ग्रहण करके उन्होंने रात में देखे हुए अपने स्वप्नों की चर्चा उनसे की तथा उनसे स्वप्नों का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से विचार कर कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में जगत का कल्याण करने वाले तीर्थंकर भगवान अवतरित हुए हैं। फल सुनकर माता को अपार हर्ष हुआ। तभी देवों ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक का उत्सव किया।

गर्भावतरण

नौ माह व्यतीत होने पर महारानी मित्रसेना ने मंगसिर शुक्ला चतुर्दशी के दिन पुष्य नक्षत्र में एक हजार आठ लक्षणों से सुशोभित और तीन ज्ञान का धारी पुत्र उत्पन्न किया। उनके जन्म से तीनों लोकों के जीवों को शान्ति का अनुभव हुआ था। उस असाधारण पुण्य के स्वामी पुत्र के जन्म लेते ही चारों प्रकार के देव और इन्द्र अपनी-अपनी देवियों और इन्द्राणियों के साथ तीर्थंकर वालक का जन्म कल्याणक महोत्सव मनाने वहाँ आये। वे पुत्र को सुमेरु पर्वत पर ले गये और वहाँ क्षीरसागर के जल से परिपूर्ण स्वर्ण कलशों से उन्होंने वालक का अभिषेक करके महान उत्सव किया। उत्सव मनाकर वे लोग पुन: हस्तिनापुर आये। इद्राणी ने वालक को माता को सोंपा। इन्द्र ने माता-पिता से देवों द्वारा मनाये गये उत्सव के समाचार सुनाये। सुनकर माता-पिता अत्यन्त हर्षित हुए। फिर उन्होंने पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया। सौधर्मेन्द्र ने वालक का नामकरण किया और उसका नाम अरनाथ रक्खा। वालक के एक हजार आठ लक्षणों में से पैर में वने हुए मीन चिन्ह पर अभिषेक के समय इन्द्र की दृष्टि सवसे पहले पड़ी थी। इसलिए अरनाथ का लाक्षणिक चिन्ह 'मीन' ही माना गया। भगवान के शरीर का वर्ण सुवर्ण के समान था।

जन्म कल्याणक

भगवान कुन्थुनाथ के मोक्ष जाने के बाद जब एक हजार करोड़ वर्ष कम पल्य का चतुर्थ भाग बीत गया, तब अरनाथ भगवान का जन्म हुआ था। उनकी आयु भी इसी काल में सम्मिलित थी। उनकी आयु चौरासी हजार वर्ष की थी। तीस धनुष ऊँचा उनका शरीर था। कामदेव के समान उनका रूप था। ऐसा लगता था, मानो सौन्दर्य की समग्र संचित निधि से ही उनके शरीर की रचना हुई हो।

प्रभु धीरे-धीरे यौवन की ओर बढ़ रहे थे। जब उनकी कुमार अवस्था के इक्कीस हजार वर्ष बीत गये, तब पिता ने उन्हें राज्य सौंप दिया। उनका विवाह अनेक सुलक्षणा सुन्दर कन्याओं के साथ कर दिया। वे इक्कीस हजार वर्ष तक मण्डलेश्वर राजा के रूप में शासन करते रहे। तब उन्हें नौ निधियाँ और चौदह रत्न मिले। उन्होंने सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया। उन्हें चक्रवर्ती-पद के योग्य सम्पूर्ण वैभव प्राप्त था। इस प्रकार भोग-भोगते हुए जब आयु का तीसरा भाग बाकी रह गया अर्थात् जब अट्ठाईस हजार वर्ष की आयु बाकी थी, तब उन्होंने एक दिन देखा—शरदऋतु के बादल आकाश में इधर-उधर तैरते डोल रहे हैं। वे प्रकृति के इस सलौने रूप को निहार रहे थे कि देखते-देखते बादलों का नाम तक न रहा, वे अकस्मात् ही अदृश्य हो गये। इस दृश्य का भगवान के मन पर गहरा प्रभाव पड़ा और इस दृश्य से उन्हें जीवन की वास्तविकता का अन्तर्बोध हुआ। उन्होंने तभी निश्चय कर लिया कि अब इस जीवन का एक भी अमूल्य क्षण भोगों में व्यय नहीं करना है, अभी तो आत्म-कल्याण करना है और जीवन क्षण पल बनकर छीजता जा रहा है। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर उनके सद्विचारों का समर्थन किया और जगत्कल्याण के लिए तीर्थ-प्रवर्तन का अनुरोध करके वे अपने स्वर्ग को लौट गये। भगवान ने फिर जरा भी विलम्ब नहीं लगाया। उन्होंने अपने पुत्र अरविन्द कुमार को राज्य सौंप दिया और देवों द्वारा उठायी हुई वैजयन्ती नामक पालकी में बैठकर सहेतुक वन में पहुँचे। वहाँ बेला का नियम लेकर मंगसिर शुक्ला दशमी के दिन रेवती नक्षत्र में सन्ध्या के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। दीक्षा धारण करते ही वे चार ज्ञान के धारी हो गये। देवों ने भगवान का दीक्षा कल्याणक उत्सव मनाया।

दीक्षा कल्याणक

भगवान पारणा के लिए चक्रपुर नगर में पधारे। वहाँ राजा अपराजित ने भगवान को प्रासुक आहार देकर अक्षय पुण्य संचय किया। देवों ने पंचाश्चर्य किये। आहार लेकर भगवान विहार कर गये और तपस्या करने लगे।

भगवान नाना प्रकार के कठिन तप करते हुए विहार करते हुए दीक्षा वन में पधारे और एक आम्रवृक्ष के नीचे बेला का नियम लेकर पद्मासन मुद्रा में ध्यानारूढ़ हो गये। वे शुक्लध्यान द्वारा घातिया कर्मों का उन्मूलन करने लगे। वे अप्रमत्त दशा में आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान में पहुँचकर क्षपक श्रेणी में आरोहण करके बारहवें गुणस्थान में पहुँचे। बारहवें गुणस्थान के प्रारम्भिक भाग में उन्होंने मोहनीय कर्म का नाश कर दिया और उसके उपान्त्य समय में उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का नाश किया। इस प्रकार उन्हें कार्तिक शुक्ला द्वादशी के दिन रेवती नक्षत्र में सायंकाल के समय अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य नामक चार क्षायिक गुण प्रगट हुए। वे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी बन गये। तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से उन्हें अष्ट प्रातिहार्य की प्राप्ति हुई। देवों ने आकर भगवान के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा की और देवों द्वारा निर्मित समवसरण सभा में देवों, मानवों और तिर्यंचों को उन्होंने अपना प्रथम उपदेश दिया, जिसे सुनकर अनेक मनुष्यों ने सकल संयम धारण किया, अनेक मनुष्यों और तिर्यंचों ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, अनेक जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान का परिकर—भगवान ने चतुर्विध संघ की पुनः स्थापना की। उनके संघ में कुम्भार्य आदि तीस गणधर थे, ६१० ग्यारह अंग चौदह पूर्व के वेत्ता थे, ३५८३५ सूक्ष्म बुद्धि के धारक शिक्षक थे, २८०० अवधिज्ञानी थे, २८०० केवलज्ञानी थे, ४३०० विक्रिया ऋद्धिधारी थे, २०५५ मनःपर्ययज्ञानी थे, १६०० श्रेष्ठ वादी थे। इस प्रकार कुल मुनियों की संख्या ५०००० थी। यक्षिला आदि ६०००० अर्जिकायें थीं। १६०००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें थीं। असंख्यात देव और संख्यात तिर्यंच उनके भक्त थे।

निर्वाण कल्याणक—भगवान बहुत समय तक अनेक देशों में विहार करते हुए धर्मोपदेश द्वारा अनेक जीवों का कल्याण करते रहे। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब उन्होंने सम्मेद शिखर पर जाकर एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया और योग निरोध करके चैत्र कृष्णा अमावस्या के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के पूर्व भाग में अघातिया कर्मों का नाश करके निर्वाण प्राप्त किया। उसी समय इन्द्रों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की और स्तुति की।

यक्ष-यक्षिणी—भगवान अरनाथ का सेवक महेन्द्र यक्ष और सेविका विजया यक्षी थी।

सुभौम चक्रवर्ती

भरत क्षेत्र में भूपाल नाम का एक राजा था। एक बार शत्रुओं ने राजा भूपाल के राज्य पर आक्रमण कर दिया। भयानक युद्ध हुआ। युद्ध में भूपाल हार गया। अपनी पराजय से वह इतना खिन्न हुआ कि उसने संसार से विरक्त होकर सम्भूत नामक मुनिराज के समीप मुनि-दीक्षा ले ली और घोर तप करने लगा। किन्तु उसके मन से पराजय की शल्य निकल नहीं सकी और उसने कषायवश यह निदान किया कि अगर मेरे तप का कुछ फल हो तो मैं आगामी भव में चक्रवर्ती बनूं। मिथ्यात्ववश उसने ऐसा निन्द्य विचार किया। वह तप करता रहा किन्तु उसका यह तप मिथ्या तप था। आयु के अन्त में वह समाधिमरण करके महाशुक्र स्वर्ग में ऋद्धिधारी देव बना। वह सोलह सागर तक स्वर्ग के सुखों का सानन्द भोग करता रहा।

पूर्व भव

परशुराम का जन्म—कोशल देश की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी राजा सहस्रबाहु राज्य करता था। उसकी महारानी का नाम चित्रमती था। चित्रमती कान्यकुब्ज नरेश पारत की पुत्री थी। रानी के एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कृतवीर रक्खा गया।

राजा सहस्रबाहु के काका शतबिन्दु की स्त्री का नाम श्रीमती था। श्रीमती राजा पारत की बहन थी। उनके जमदग्नि नामक एक पुत्र था। पुत्र उत्पन्न होने के कुछ समय बाद ही श्रीमती का देहान्त हो गया। जमदग्नि जब बड़ा हुआ तो उसे माँ का अभाव खटकने लगा। वह बहुत दुखी रहने लगा। इसलिये विरक्त होकर वह तापस बन गया और तप करने लगा। उसके सिर पर जटाओं का गुल्म बन गया और मुख दाढ़ी मूँछ से भर गया।

दो देव, जिनमें एक सम्यग्दृष्टि था और दूसरा मिथ्यादृष्टि, तापस जनों की परीक्षा लेने के लिये चिड़ा-चिड़िया का रूप बना कर आये। जमदग्नि ऋषि समाधि में लीन थे। अवसर देखकर चिड़ा-चिड़िया ने ऋषि की दाढ़ी में ही बसेरा कर लिया। कुछ समय बाद चिड़ा बना हुआ सम्यग्दृष्टि देव चिड़िया से बोला—'प्रिये! मैं दूसरे वन में जाता हूँ। जब तक मैं वापिस न आऊँ, तब तक तुम यहीं पर रहना।' चिड़िया बोली—मुझे तेरा विश्वास नहीं है। यदि तुझे जाना है तो सौगन्ध देजा।' चिड़ा बोला—'अच्छी बात है। लेकिन क्या सौगन्ध दूँ।' चिड़िया बोली—'तू यह सौगन्ध दे कि यदि मैं न आऊँ तो इस तापस की गति को प्राप्त होऊँ।'

ऋषि इस वार्तालाप को सुन कर अत्यन्त क्रुद्ध हो गये। उन्होंने चिड़ा-चिड़िया को हाथों में पकड़ लिया और बोले—'घोर तप के फलस्वरूप मुझे ब्रह्मलोक की प्राप्ति होने वाली है, तुमने उस लोक का तिरस्कार क्यों किया?' चिड़ा बोला—'हम क्षुद्र प्राणी हैं, आप हम पर क्रोध न करें। किन्तु आपने क्या कभी यह विचार भी किया है कि इतनी घोर तपस्या के पश्चात् भी आपको अच्छी गति मिलने वाली नहीं है। 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' यह ऋषि-वाक्य है अर्थात् पुत्रहीन को सद्गति नहीं मिलती। आप तो जन्म से ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहे हैं। आपके कोई सन्तान तो होगी नहीं, फिर आप सद्गति की आशा कैसे कर रहे हैं?

चिड़ा के वचन सुनकर जमदग्नि ऋषि सोच में पड़ गये—'निश्चय ही ये पक्षी ठीक कहते हैं। ये तो मेरे उपकारी हैं। मुझे विवाह करके सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिये।' यह विचार कर उन्होंने पक्षियों को मुक्त कर दिया और वे कान्यकुब्ज नरेश पारत के यहाँ पहुँचे। पारत ने अपने भानजे के लक्षण देखे तो उसे सन्देह हुआ। उसने ऋषि से आने का प्रयोजन पूछा। ऋषि ने स्पष्ट वता दिया कि मैं विवाह करना चाहता हूँ। राजा पारत बोले—मेरे सौ पुत्रियाँ हैं। उनमें से तुम्हें जो स्वीकार करे, उसका विवाह तुम्हारे साथ कर दूँगा।' जमदग्नि कन्याओं के पास गया। किन्तु उसकी तपोदग्ध भयंकर आकृति को देखकर कन्यायें या तो भाग गईं या फिर भय के मारे संज्ञाहीन हो गईं। केवल एक छोटी कन्या कुतूहलवश खड़ी देखती रही। जमदग्नि राजा की आज्ञा से उसे लेकर चल दिये और उसके साथ विवाह करके रहने लगे। उस कन्या का नाम रेणुका था।

यथासमय उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए—इन्द्र और श्वेतराम। दोनों ही सुलक्षण, रूपवान् और वीर थे।

एक दिन जमदग्नि के आश्रम में अरिंजय नामक मुनि आये। वे रेणुका के बड़े भाई थे। रेणुका ने मुनि की वन्दना की। मुनि ने उसे उपदेश दिया, जिससे रेणुका ने सम्यग्दर्शन धारण किया। मुनि ने चलते समय कामधेनु नामक विद्या और मंत्रपूत फरशा दिया और वहाँ से चले गये।

कुछ दिन पश्चात् अपने पुत्र कृतवीर के साथ राजा सहस्रबाहु जमदग्नि के आश्रम में आया। जमदग्नि ने अपने चचेरे भाई से भोजन का आग्रह किया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। जमदग्नि ने अभ्यागतों को सुस्वादु भोजन कराया। भोजन करके कृतवीर ने अपनी मौसी रेणुका से पूछा—'ऐसा सुस्वादु षट्रस व्यंजन तो राजाओं को भी दुर्लभ है। फिर वन में रहने वाले आप लोगों ने ऐसी दुर्लभ सामग्री कहाँ स प्राप्त की।' रेणुका ने सरलतावश कामधेनु विद्या की प्राप्ति का सव बात उसे बता दो। सुनकर कृतवीर बोला—'संसार में श्रेष्ठ वस्तु राजा की होती है।' यह कहकर वह जबर्दस्ती कामधेनु लेकर जाने लगा। तव जमदग्नि ऋषि उसे रोकने के लिये रास्ता रोक कर खड़े हो गये। कृतवीर ने क्रोध में भरकर जमदग्नि को मार दिया और अपने नगर की ओर चला गया।

पति की मृत्यु से रेणुका शोकाकुल होकर विलाप करने लगी।

परशुराम द्वारा सहस्रबाहु का संहार—जव दोनों पुत्र वन से कन्दमूल फल लेकर लौटे तो माता का रुदन सुनकर वे बड़े दुःखित हुए। पूछने पर उन्हें सारा वृत्तान्त ज्ञात हुआ। सव बात सुनकर उन्हें भयंकर क्रोध आया। माता को सान्त्वना देकर फरशा लेकर दोनों भाई मुनिकुमारों को साथ लेकर वहाँ से चल दिये और वे अयोध्या नगरी में पहुँचे। वहाँ उनका राजा के साथ भयानक युद्ध हुआ। युद्ध में इन्द्र राम ने फरशे के प्रहार से सहस्रबाहु का वध कर दिया तथा वह सहस्रबाहु की शेष सन्तानों को मारने में जुट गया।

चित्रमती महारानी के बड़े भाई शाण्डिल्य तापस को पता चल गया कि इन्द्र राम, जिन्हें परशु के कारण लोग परशुराम कहने लगे थे, सहस्रबाहु के वंश का उच्छेद करने के लिये दृढ़प्रतिज्ञ है। शाण्डिल्य राजप्रासाद में पहुँचा और रानी चित्रमती को लेकर गुप्तमार्ग से निकल गया और वन में सुबन्धु मुनिराज के समीप छोड़ आया।

सुभौम का जन्म

रानी चित्रमती उस समय गर्भवती थी। गर्भ-काल पूरा होने पर वन में उसने तेज से देदीप्यमान पुत्र को जन्म दिया। वह भूमि का आश्लेपण करता हुआ उत्पन्न हुआ था। बालक महान पुण्यवान था। वन देवता उसकी रक्षा करते और लालन-पालन करते थे। एक दिन रानी ने मुनिराज से बालक का भविष्य पूछा। अवधिज्ञानी मुनि बोले—'पुत्री! तेरा यह पुत्र समस्त भरत क्षेत्र का अधिपति चक्रवर्ती बनेगा। चक्रवर्ती होने की पहचान यह है कि यह सोलहवें वर्ष में जब कढ़ाई में उबलते हुए घी में सिकते हुए गरम पुओं को निकाल कर खा लेगा, तब समझना कि उसके चक्रवर्ती बनने का काल आ गया है। मुनि महाराज की यह भविष्यवाणी सुनकर माता को बड़ी सान्त्वना और शान्ति प्राप्त हुई।

सुभौम को चक्रवर्ती-पद की प्राप्ति—कुछ काल पश्चात् शाण्डिल्य तापस आकर अपनी बहन चित्रमती और बालक को अपने घर ले गया। चूंकि बालक पृथ्वी का आलिंगन करता हुआ उत्पन्न हुआ था, इसलिये उसका नाम सुभौम रक्खा गया। बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा। जब वह विद्या ग्रहण करने योग्य हुआ तो उसे शास्त्रों और शस्त्रों की शिक्षा देने की व्यवस्था कर दी। इस प्रकार बालक ने क्रमशः सोलहवें वर्ष में पदार्पण किया।

पिता के संहार से क्रुद्ध हुए रेणुका-पुत्रों ने प्रतिज्ञा की कि हम इस पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर देंगे और उन्होंने इक्कीस वार क्षत्रियों का समूल नाश किया। उन्होंने अपने हाथों से मारे हुए राजाओं के सिर काटकर खम्भों में लटका रक्खे थे। इस प्रकार दोनों भाई क्षत्रियों का विनाश करके राज्यलक्ष्मी का निर्विघ्न भोग कर रहे थे। एक दिन निमित्तज्ञानी ने परशुराम से कहा—आपका शत्रु उत्पन्न हो गया है, इसका प्रतीकार कीजिये। शत्रु के पहचानने का उपाय यह है कि आपने मारे हुए राजाओं के जो दाँत इकट्ठे किये हैं, वे जिसके लिये भोजन रूप परिणत हो जायेंगे, समझ लीजिये, वही आपका शत्रु है।

निमित्तज्ञानी के वचन सुनकर परशुराम को बड़ी चिन्ता उत्पन्न हो गई। उन्होंने अविलम्ब भोजनशाला खुलवा दी और घोषणा करवा दी कि कोई भी व्यक्ति इस भोजनशाला में निःशुल्क भोजन कर सकता है। तथा कर्मचारियों को आदेश दे दिया कि जो भोजन का इच्छुक आवे, उसे पात्र में रक्खे हुए दाँत दिखा कर भोजन कराया जाय। इस प्रकार प्रति दिन अनेक लोग भोजन के लिये आने लगे।

एक दिन सुभौम ने अपनी माता से अपने पिता के बारे में पूछा। माता ने बड़े दुःख के साथ उसके पिता के साथ परशुराम ने जो व्यवहार किया था, वह विस्तारपूर्वक सुना दिया तथा यह भी वता दिया कि हम लोग अज्ञात-वास कर रहे हैं। सुनकर सुभौम ने अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध लेने का संकल्प किया और तत्काल कुछ राज-कुमारों के साथ परिव्राजक वेश धारण करके अयोध्या की ओर चल दिया। अयोध्या में उसके पहुँचने से पहले ही नगर में नाना प्रकार के अपशकुन और अमंगल सूचक चिन्ह प्रगट होने लगे। नगर रक्षक देवता रुदन करने लगे, पृथ्वी कांप उठी, दिन में तारे दिखाई देने लगे। नगरवासी ही नहीं, परशुराम भी इन अमंगल चिन्हों के कारण चिन्ता में पड़ गये।

सुभौम कुमार जब परशुराम की दानशाला में पहुँचे तो कर्मचारियों ने उन्हें उच्च आसन पर बैठाया और नियमानुसार मृत राजाओं के दाँत उन्हें दिखाये। सुभौम के पुण्य-प्रभाव से वे दाँत शालि चावलों के भात बन गये। सेवकों ने तत्काल इस घटना की सूचना राजा परशुराम को दी। राजा ने कुछ हृष्ट-पुष्ट सैनिकों को उस व्यक्ति को गिरफ्तार करके लाने के लिये भेजा। सैनिकों ने भोजनशाला में पहुँचकर सुभौम से कहा—'तुम्हें राजा ने बुलाया है, तुम हमारे साथ चलो। अगर तुम नहीं चलोगे तो हम तुम्हें बलात् ले जायेंगे।' सुभौम ने उन क्षुद्र सैनिकों से विवाद करना उचित नहीं समझा, किन्तु उन्हें जोर से डपट दिया। इतने मात्र से ही वे सैनिक भय के मारे आतंकित हो गये और वापिस चले गये। यह वृत्तान्त सुनकर परशुराम को बहुत क्रोध आया और सेना लेकर भोजनशाला को घेर लिया। सुभौम यह देखकर वाहर निकल आये और परशुराम के सामने आ डटे। परशुराम ने सेना को सुभौम का वध करने का आदेश दिया। किन्तु सुभौम के प्रवल पुण्य का उदय था, उनके चक्रवर्ती बनने का योग आ पहुँचा था। फिर उनका कोई क्या बिगाड़ सकता था। सेना उनके सामने अधिक समय तक नहीं ठहर सकी। यह देखकर परशुराम ने अपना हाथी सुभौम की ओर बढ़ाया। सुभौम के पुण्य माहात्म्य से एक गन्धराज मदोन्मत्त हाथी आ गया। वे उस हाथी पर आरूढ़ हो गये। इतना ही नहीं, एक हजार देवों से रक्षित चक्ररत्न भी उनके पास स्वतः आ गया। वे चक्र-रत्न से सुशोभित होकर आगे बढ़े। परशुराम ने सुभौम का वध करने के लिये अपना अमोघ परशु फेंका। किन्तु उनका पुण्य क्षीण हो चुका था। उनके तो मृत्यु का योग था। सुभौम उस वार को बचा गये और उन्होंने चक्र द्वारा परशुराम का वध कर दिया। इक्कीस वार पृथ्वी को क्षत्रियहीन करने वाले परशुराम काल कवलित हो गये।

सुभौम भगवान अरनाथ के तीर्थ में उत्पन्न हुआ था। वह आठवाँ चक्रवर्ती था। उसकी आयु साठ हजार वर्ष की थी। उसकी अवगाहना अट्ठाईस धनुष थी। सुवर्ण के समान उसके शरीर की कान्ति थी।

परशुराम की मृत्यु के बाद सेना ने युद्ध बन्द कर दिया। सुभौम ने सबको अभय दान दिया। तभी उनके शेष तेरह रत्न और नौ निधियाँ प्रगट हो गईं। वे छह खण्ड का आधिपत्य पाकर चक्रवर्ती बन गये और चिरकाल तक दस प्रकार के भोग भोगते रहे। उनके पास चक्रवर्ती पद की सम्पूर्ण विभूति थी।

सुभौम का एक रसोइया था अमृत रसायन। एक दिन रसोइया ने चक्रवर्ती को रसायना नामक स्वादिष्ट कढ़ी परोसी। किन्तु चक्रवर्ती यह नाम सुनते ही रसोइया से कुपित हो गया। उसके आदेश से रसोइया को कठोर दण्ड

दिया गया, जिससे वह अधमरा हो गया। उसने भी क्रोध में निदान किया कि मैं इससे बदला लूँगा। वह मरकर अल्प पुण्य के कारण ज्योतिष्क देव बना। उसे अवधिज्ञान से अपने पूर्वभव के वैर का स्मरण हो आया। वह बदला लेने की इच्छा से व्यापारी का वेष धारण कर आया और बड़े स्वादिष्ट फल सम्राट् को भेंट किये। इस प्रकार वह प्रतिदिन आता और राजा को वे ही फल भेंट करता। राजा को वे फल बड़े स्वादिष्ट लगते थे। एक दिन वह फल नहीं लाया। राजा ने इसका कारण पूछा तो उस देव ने उत्तर दिया—'महाराज ! वे फल तो समाप्त हो गये। अब वे मिल भी नहीं सकते। जिस वन से मैं वे फल लाया था, उनकी रक्षा एक वनदेवी करती है। उसे प्रसन्न करके ही वे फल प्राप्त हो सकते हैं। यदि आपको वे फल प्रिय हैं तो आप मेरे साथ उस वन में चलिये और इच्छानुसार फल खाइये।'

चक्रवर्ती ने उसके साथ चलना स्वीकार कर लिया। मंत्रियों ने चक्रवर्ती को रोकना भी चाहा, किन्तु वह नहीं माना और उस छद्मवेषी देव के साथ जहाज द्वारा चल दिया। वास्तव में चक्रवर्ती का पुण्य समाप्त हो गया था। महलों से निकलते ही चक्रवर्ती के चक्र आदि रत्न भी चले गये। वह देव चक्रवर्ती के जहाज को गहरे समुद्र में ले गया। वहाँ उस देव ने पूर्वभव के रसोइया का रूप बनाकर चक्रवर्ती को अपने प्रतिशोध की योजना बताई और फिर चक्रवर्ती को भयंकर पीड़ा देकर मार डाला। चक्रवर्ती भयंकर रौद्र ध्यान के कारण नरक में गया।

सुभौम चक्रवर्ती आठवाँ चक्रवर्ती था।

पुण्डरीक नारायण, निशुम्भ प्रतिनारायण

पूर्व भव—भगवान अरनाथ के तीर्थ में नन्दिषेण बलभद्र, पुण्डरीक नारायण और निशुम्भ प्रतिनारायण हुए। ये छठे नारायण, प्रतिनारायण थे।

पुण्डरीक का जीव पहले तीसरे भव में राजकुमार था। सुकेतु नामक राजा से अपमानित होकर उसने अपने अपमान का बदला लेने का निदान बन्ध किया। अपने अपमान से दुखी होकर उसने दीक्षा ले ली। वह घोर तप करने लगा, किन्तु वह तपस्या करके भी मन से अपमान की शल्य दूर नही कर सका। वह मरकर पहले स्वर्ग में देव हुआ।

भरत क्षेत्र में चक्रपुर नामक नगर था। उस नगर का स्वामी इक्ष्वाकुवंशी राजा वरसेन था। उसकी रानी का नाम लक्ष्मीमती था। उस देव का जीव आयु के अन्त में लक्ष्मीमती रानी के गर्भ में आया और उत्पन्न होने पर उसका नाम पुण्डरीक रक्खा गया। इसी राजा की वैजयन्ती रानी से नन्दिषेण नामक पुत्र हुआ। इन दोनों की आयु छप्पन हजार वर्ष की थी, शरीर छब्बीस धनुष ऊँचा था। दोनों भाइयों में स्वभावतः बड़ा प्रेम था।

सुकेतु का जीव अनेक योनियों में भ्रमण करता हुआ निशुम्भ नाम का राजा बना। वह महा अभिमानी और बड़ी क्रूर प्रकृति का था। सम्पूर्ण राजाओं को उसने वश में कर लिया था और राजा लोग उसके नाम से ही कांपते थे। उन दिनों राजकुमार पुण्डरीक और नन्दिषेण का प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा था। इससे निशुम्भ पुण्डरीक का अकारण शत्रु बन गया और उसे दण्ड देने के लिये उचित अवसर की प्रतीक्षा में था। तभी एक घटना घटित हो गई। इन्द्रपुर के राजा उपेन्द्रसेन ने अपनी पुत्री पद्मावती का विवाह पुण्डरीक के साथ कर दिया। निशुम्भ तो कोई बहाना चाहता था। उसने एक चतुर दूत पुण्डरीक के पास भेजा और उसने पद्मावती को देने का आदेश दिया। दोनों भाइयो ने दूत का अपमान करके निकाल दिया। निशुम्भ ने जब यह सुना तो वह मारे क्रोध के आग बबूला हो गया और विशाल सेना सजाकर पुण्डरीक के साथ युद्ध करने चल दिया। दोनों भाई भी सेना लेकर रणभूमि में आ डटे। दोनों सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ। निशुम्भ की सेनायें दोनों भाइयों की मार के आगे नहीं ठहर सकीं। तब निशुम्भ स्वयं पुण्डरीक के साथ युद्ध करने आगे आया। दोनों वीरों में लोमहर्षक युद्ध होने लगा। तब क्रोध में

भरकर निशुम्भ ने पुण्डरीक के ऊपर देवाधिष्ठित चक्र फेंका। किन्तु चक्र प्रदक्षिणा देकर पुण्डरीक की दाईं भुजा पर आकर ठहर गया। तव पुण्डरीक ने चक्र लिया और उसे निशुम्भ के ऊपर चला दिया। निमिषमात्र में चक्र ने निशुम्भ का सिर उड़ा दिया।

उसी चक्र से पुण्डरीक ने अपने भाई नन्दिषेण के साथ भरत क्षेत्र के तीनों खंडों पर विजय प्राप्त की और नारायण कहलाया। नन्दिषेण वलभद्र कहलाया। दोनों भाइयों ने प्रेमपूर्वक चिरकाल तक प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मी का भोग किया। पुण्डरीक अत्यन्त आरम्भ परिग्रह का धारक और रौद्र परिणामी था। उसने नरकायु का वन्ध किया और मरकर वह नरक में गया।

नन्दिषेण को भ्रातृ-वियोग का गहरा शोक हुआ। इससे उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। उन्होंने शिवघोष नामक मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ले ली और तपश्चरण करने लगे। उनके परिणामों में निर्मलता और विशुद्धता आती गई। उन्होंने कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों का नाश करके परम पद मोक्ष प्राप्त किया।

वलभद्र नन्दिषेण, नारायण पुण्डरीक और प्रतिनारायण निशुम्भ नारायण-प्रतिनारायण परम्परा में छठे थे।

विंश परिच्छेद

भगवान मल्लिनाथ

मेरु पर्वत के पूर्व में कच्छकावती नामक देश में वीतशोक नगर था। वैश्रवण वहाँ का राजा था। एक दिन वह राजा वन का सौंदर्य देखने एवं वन-विहार के लिए गया। वन में एक विशाल वटवृक्ष था, जिसकी शाखाथ प्रशाखायें विस्तृत भूमिखण्ड के ऊपर फैली हुई थीं। राजा ने उस वटवृक्ष की विशालता की

पूर्व भव

बड़ी प्रशंसा की। राजा प्रशंसा करता हुआ आगे बढ़ गया। लौटते समय वह फिर उसी मार्ग से वापिस आया। किन्तु महान् आश्चर्य की बात थी कि उस विशाल वटवृक्ष का कहीं पता भी न था। बल्कि उसके स्थान पर एक जला हुआ ठूँठ खड़ा था। इतने ही काल में वज्र गिरने से वह वटवृक्ष जड़ तक जल गया था। उस दृश्य को देखकर राजा विचार करने लगा—जब इतने विशाल, उन्नत और बहुमूल्य वट वृक्ष की ऐसी दशा हो गई है तो इस निर्मूल मनुष्य-जीवन पर क्या विश्वास किया जा सकता है। उसे इस क्षणभंगुर जीवन से विराग हो गया। उसने अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया और श्रीनाग नामक मुनिराज के निकट प्रव्रज्या धारण कर ली। उसने नाना प्रकार के तपों द्वारा आत्मा को निर्मल किया, ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा निरन्तर सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन किया, जिससे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया। अन्त में समाधि-मरण करके चौथे अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र बना।

मिथिला नगरी के अधिपति इक्ष्वाकुवंशी, काश्यप गोत्री महाराज कुम्भ की महारानी का नाम प्रजावती था। जब उस अहमिन्द्र की आयु में छह माह शेप रह गये, तब देवों ने रत्नवृष्टि आदि द्वारा महाराज के नगर में अचिन्त्य वैभव प्रगट किया। जब उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, उस दिन चैत्र शुक्ला

गर्भ कल्याणक

प्रतिपदा को अश्विनी नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में शुभफल को सूचित करने वाले महारानी ने सोलह स्वप्न देखे। वन्दीजनों के मंगल गान से महारानी की निद्रा भंग हुई। वे शय्या त्यागकर उठीं और नित्य कर्म से निवृत्त होकर माँगलिक वस्त्रालंकार धारण करके महाराज के पास पहुँचीं। महाराज से स्वप्नों का फल सुनकर वे बड़ी हर्षित हुई। अहमिन्द्र का जीव महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ। देवों ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक का उत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की तथा गर्भस्थ भगवान को नमस्कार किया।

भरकर निशुम्भ ने पुण्डरीक के ऊपर देवाधिष्ठित चक्र फेंका। किन्तु चक्र प्रदक्षिणा देकर पुण्डरीक की दाईं भुजा पर आकर ठहर गया। तब पुण्डरीक ने चक्र लिया और उसे निशुम्भ के ऊपर चला दिया। निमिषमात्र में चक्र ने निशुम्भ का सिर उड़ा दिया।

उसी चक्र से पुण्डरीक ने अपने भाई नन्दिषेण के साथ भरत क्षेत्र के तीनों खंडों पर विजय प्राप्त की और नारायण कहलाया। नन्दिषेण बलभद्र कहलाया। दोनों भाइयों ने प्रेमपूर्वक चिरकाल तक प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मी का भोग किया। पुण्डरीक अत्यन्त आरम्भ परिग्रह का धारक और रौद्र परिणामी था। उसने नरकायु का बन्ध किया और मरकर वह नरक में गया।

नन्दिषेण को भ्रातृ-वियोग का गहरा शोक हुआ। इससे उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। उन्होंने शिवघोष नामक मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ले ली और तपश्चरण करने लगे। उनके परिणामों में निर्मलता और विशुद्धता आती गई। उन्होंने कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों का नाश करके परम पद मोक्ष प्राप्त किया।

बलभद्र नन्दिषेण, नारायण पुण्डरीक और प्रतिनारायण निशुम्भ नारायण-प्रतिनारायण परम्परा में छठे थे।

विंश परिच्छेद

भगवान मल्लिनाथ

पूर्व भव

मेरु पर्वत के पूर्व में कच्छकावती नामक देश में वीतशोक नगर था। वैश्रवण वहाँ का राजा था। एक दिन वह राजा वन का सौंदर्य देखने एवं वन-विहार के लिए गया। वन में एक विशाल वटवृक्ष था, जिसकी शाखाएं प्रशाखायें विस्तृत भूमिखण्ड के ऊपर फैली हुई थीं। राजा ने उस वटवृक्ष की विशालता की बड़ी प्रशंसा की। राजा प्रशसा करता हुआ आगे बढ़ गया। लौटते समय वह फिर उसी मार्ग से वापिस आया। किन्तु महान् आश्चर्य की बात थी कि उस विशाल वटवृक्ष का कहीं पता भी न था। बल्कि उसके स्थान पर एक जला हुआ ठूंठ खड़ा था। इतने ही काल में वज्र गिरने से वह वटवृक्ष जड़ तक जल गया था। उस दृश्य को देखकर राजा विचार करने लगा—जब इतने विशाल, उन्नत और बहुमूल्य वट वृक्ष की ऐसी दशा हो गई है तो इस निर्मूल मनुष्य-जीवन पर क्या विश्वास किया जा सकता है। उसे इस क्षणभंगुर जीवन से विराग हो गया। उसने अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया और श्रीनाग नामक मुनिराज के निकट प्रव्रज्या धारण कर ली। उसने नाना प्रकार के तपों द्वारा आत्मा को निर्मल किया, ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा निरन्तर सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन किया, जिससे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया। अन्त में समाधि-मरण करके चौथे अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र बना।

गर्भ कल्याणक

मिथिला नगरी के अधिपति इक्ष्वाकुवंशी, काश्यप गोत्री महाराज कुम्भ की महारानी का नाम प्रजावती था। जब उस अहमिन्द्र की आयु में छह माह शेष रह गये, तब देवों ने रत्नवृष्टि आदि द्वारा महाराज के नगर में अचिन्त्य वैभव प्रगट किया। जब उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, उस दिन चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को अश्विनी नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में शुभफल को सूचित करने वाले महारानी ने सोलह स्वप्न देखे। वन्दीजनों के मंगल गान से महारानी की निद्रा भंग हुई। वे शय्या त्यागकर उठीं और नित्य कर्म से निवृत्त होकर माँगलिक वस्त्रालंकार धारण करके महाराज के पास पहुँचीं। महाराज से स्वप्नों का फल सुनकर वे बड़ी हर्षित हुईं। अहमिन्द्र का जीव महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ। देवों ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक का उत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की तथा गर्भस्थ भगवान को नमस्कार किया।

भरकर निशुम्भ ने पुण्डरीक के ऊपर देवाधिष्ठित चक्र फेंका। किन्तु चक्र प्रदक्षिणा देकर पुण्डरीक की दाई भुजा पर आकर ठहर गया। तब पुण्डरीक ने चक्र लिया और उसे निशुम्भ के ऊपर चला दिया। निमिषमात्र में चक्र ने निशुम्भ का सिर उड़ा दिया।

उसी चक्र से पुण्डरीक ने अपने भाई नन्दिषेण के साथ भरत क्षेत्र के तीनों खंडों पर विजय प्राप्त की और नारायण कहलाया। नन्दिषेण बलभद्र कहलाया। दोनों भाइयों ने प्रेमपूर्वक चिरकाल तक प्राप्त हुई राज्यलक्ष्मी का भोग किया। पुण्डरीक अत्यन्त आरम्भ परिग्रह का धारक और रौद्र परिणामी था। उसने नरकायु का बन्ध किया और मरकर वह नरक में गया।

नन्दिषेण को भ्रातृ-वियोग का गहरा शोक हुआ। इससे उन्हें संसार से वैराग्य हो गया। उन्होंने शिवघोष नामक मुनिराज के पास जाकर दीक्षा ले ली और तपश्चरण करने लगे। उनके परिणामों में निर्मलता और विशुद्धता आती गई। उन्होंने कर्मों की मूल और उत्तर प्रकृतियों का नाश करके परम पद मोक्ष प्राप्त किया।

बलभद्र नन्दिषेण, नारायण पुण्डरीक और प्रतिनारायण निशुम्भ नारायण-प्रतिनारायण परम्परा में छठे थे।

विंश परिच्छेद

भगवान मल्लिनाथ

पूर्व भव

मेरु पर्वत के पूर्व में कच्छकावती नामक देश में वीतशोक नगर था। वैश्रवण वहाँ का राजा था। एक दिन वह राजा वन का सौंदर्य देखने एवं वन-विहार के लिए गया। वन में एक विशाल वटवृक्ष था, जिसकी शाखाप्रशाखायें विस्तृत भूमिखण्ड के ऊपर फैली हुई थीं। राजा ने उस वटवृक्ष की विशालता की बड़ी प्रशंसा की। राजा प्रशंसा करता हुआ आगे बढ़ गया। लौटते समय वह फिर उसी मार्ग से वापिस आया। किन्तु महान् आश्चर्य की बात थी कि उस विशाल वटवृक्ष का कहीं पता भी न था। बल्कि उसके स्थान पर एक जला हुआ ठूंठ खड़ा था। इतने ही काल में वज्र गिरने से वह वटवृक्ष जड़ तक जल गया था। उस दृश्य को देखकर राजा विचार करने लगा—जब इतने विशाल, उन्नत और बहुमूल्य वट वृक्ष की ऐसी दशा हो गई है तो इस निर्मूल मनुष्य-जीवन पर क्या विश्वास किया जा सकता है। उसे इस क्षणभंगुर जीवन से विराग हो गया। उसने अपने पुत्र को राज्य-भार सौंप दिया और श्रीनाग नामक मुनिराज के निकट प्रव्रज्या धारण कर ली। उसने नाना प्रकार के तपों द्वारा आत्मा को निर्मल किया, ग्यारह अंगों का अध्ययन किया तथा निरन्तर सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन किया, जिससे तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध किया। अन्त में समाधि-मरण करके चौथे अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अहमिन्द्र बना।

गर्भ कल्याणक

मिथिला नगरी के अधिपति इक्ष्वाकुवंशी, काश्यप गोत्री महाराज कुम्भ की महारानी का नाम प्रजावती था। जब उस अहमिन्द्र की आयु में छह माह शेष रह गये, तब देवों ने रत्नवृष्टि आदि द्वारा महाराज के नगर में अचिंत्य वैभव प्रगट किया। जब उस अहमिन्द्र की आयु समाप्त होने वाली थी, उस दिन चैत्र शुक्ला प्रतिपदा को अश्विनी नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में शुभफल को सूचित करने वाले महारानी ने सोलह स्वप्न देखे। वन्दीजनों के मंगल गान से महारानी की निद्रा भंग हुई। वे शय्या त्यागकर उठीं और नित्य कर्म से निवृत्त होकर माँगलिक वस्त्रालंकार धारण करके महाराज के पास पहुँची। महाराज से स्वप्नों का फल सुनकर वे बड़ी हर्षित हुई। अहमिन्द्र का जीव महारानी के गर्भ में अवतरित हुआ। देवों ने आकर भगवान के गर्भ कल्याणक का उत्सव मनाया और माता-पिता की पूजा की तथा गर्भस्थ भगवान को नमस्कार किया।

जन्म कल्याणक

माता गर्भ में भगवान को धारण करके अत्यन्त सुशोभित हो रही थीं। उनका सौन्दर्य, कान्ति और लावण्य दिनों-दिन बढ़ता जा रहा था। गर्भ के कारण उन्हें कोई कष्ट या असुविधा का अनुभव नहीं होता था। इस प्रकार सुख से नौ मास बीतने पर महारानी प्रजावती ने मंगसिर सुदी एकादशी को अश्विनी नक्षत्र में पूर्ण चन्द्र के समान देदीप्यमान तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। यह दिव्य बालक एक हजार आठ शुभ लक्षणों से युक्त था, तीन ज्ञान का धारक था। उसी समय समस्त देव और इन्द्रों ने आकर बाल भगवान को ऐरावत हाथी पर विराजमान किया और सुमेरु पर्वत पर ले जाकर क्षीरसागर के पवित्र जल से उसका अभिषेक किया। इन्द्राणी ने उसे वस्त्राभूषण पहनाये। सौधर्मेन्द्र ने बालक का नाम मल्लिनाथ रक्खा।

भगवान सुवर्ण वर्ण के थे, उनका शरीर पच्चीस धनुष ऊँचा था, पचपन हजार वर्ष की उनको आयु थी, दाहिने पैर में कलश का चिह्न था।

भगवान जब यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, तब पिता ने उनके विवाह का आयोजन किया। विवाह के हर्ष में पुरजनों ने सारा नगर सजाया। सफेद पताकाओं और वन्दनमालाओं से नगर दुलहिन की तरह सजाया गया।

दीक्षा कल्याणक

राजपथों और वीथिकाओं में सुगन्धित जल का सिंचन किया गया। किन्तु जिनके लिए यह सब आयोजन हो रहा था, वे इस सबसे निर्लिप्त थे। वे जीवन भर भोगों से उदासीन रहे। वह जीवनव्यापी साधना इन राग के क्षणों में भी चल रही थी। वे सोच रहे थे—वीतरागता का माहात्म्य अचिन्त्य है, राग में वह सुख कहाँ है। तभी उन्हें जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया और पूर्व जन्म में अपराजित विमान में भोगे हुए सुखों के बारे में सोचने लगे—जब स्वर्ग के वे भोग ही नहीं रहे तो इन नश्वर भोगों के सुख के लिए जीवन के अमूल्य समय का अपव्यय करने में कोई बुद्धिमता नहीं है। इस प्रकार भोगों से विरक्त होकर उन्होंने सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह के त्याग का संकल्प किया। तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान को नमस्कार कर उनके संकल्प की सराहना की तथा उनसे प्रार्थना की—'भगवन्! संसार के जीवों का कल्याण करने के लिए धर्म-तीर्थ के प्रवर्तन का अब काल आ पहुँचा है। भगवान दुखी प्राणियों पर करुणा करें।' इस प्रकार कह-कर वे देव अपने स्वर्ग में वापिस चले गये।

इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान का दीक्षा कल्याणक महाभिषेक किया। फिर भगवान जयन्त नामक देवोपनीत पालकी में आरूढ़ होकर श्वेत वन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने समस्त आरम्भ परिग्रह का त्याग करके सिद्ध भगवान को नमस्कार किया और केश लुंचन करके प्रव्रजित हो गए। उनके साथ में तीन सौ राजाओं ने भी सकल संयम धारण कर लिया। उस दिन अगहन सुदी एकादशी थी, अश्विनी नक्षत्र था और सायंकाल का समय था। यह सयोग की ही बात थी कि भगवान ने अपने जन्म दिन, मास, नक्षत्र और पक्ष को दीक्षा भी ग्रहण की थी। संयम के कारण भगवान को मनःपर्यय ज्ञान की भी प्राप्ति हो गई।

भगवान तीसरे दिन पारणा के लिये मिथिलापुरी में प्रविष्ट हुए। वहाँ नन्दिषेण नामक राजा ने भगवान को प्रासुक आहार देकर अक्षय पुण्य का संचय किया। देवों ने पंचाश्चर्य किये।

केवलज्ञान कल्याणक—दीक्षा लेने के पश्चात् भगवान मल्लिनाथ छद्मस्थ दशा में केवल छह दिन रहे। उन्होंने यह समय तपस्या में बिताया। फिर वे दीक्षा वन में पहुँचे और दो दिन के उपवास का नियम लेकर वे अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानारूढ़ हो गए। वहीं पर उन्हें पौष कृष्णा द्वितीया को पुनर्वसु नक्षत्र में लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान के केवलज्ञान का उत्सव मनाया, समवसरण की रचना की। उसमें बैठकर भगवान ने दिव्यध्वनि के द्वारा धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। अनेक मनुष्यों, देवों और तिर्यञ्चों ने भगवान का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन ग्रहण किया, अनेक मनुष्यों और तिर्यंचों ने मुनि और श्रावकों के योग्य संयम धारण किया।

भगवान का संघ—भगवान के मुनि-संघ में विशाख आदि २८ गणधर थे। इनके अतिरिक्त ५५० पूर्वधारी २९००० महाविद्वान् शिक्षक, २२०० अवधिज्ञानी, २२०० केवलज्ञानी, १४०० वादी, २९०० विक्रिया ऋद्धिधारी, और १७५० मनःपर्ययज्ञानी थे। इस प्रकार उनके मुनियों की कुल संख्या ४०००० थी। बन्धुषेणा आदि ५५००० आर्जिकायें थीं। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें थीं। असंख्यात देव और संख्यात तिर्यञ्च उनके भक्त थे।

निर्वाण कल्याणक—भगवान अनेक देशों में विहार कर अपने उपदेश से भव्य जीवों का कल्याण करते रहे। जब उनकी आयु एक माह शेष रह गई, तब वे सम्मेदाचल पर पहुँचे। वहाँ पांच हजार मुनियों के साथ उन्होंने प्रतिमा योग धारण किया और फाल्गुन शुक्ला पंचमी को भरणी नक्षत्र में संध्या के समय निर्वाण प्राप्त किया। देवों ने आकर भगवान के निर्वाण कल्याणक की पूजा की।

यक्ष-यक्षिणी—इनके सेवक कुबेर यक्ष और अपराजिता यक्षिणी थे।

भगवान मल्लिनाथ की जन्म नगरी मिथिला—मिथिला नगरी उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ और इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ की जन्म नगरी है। यहाँ दोनों तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक हुए थे। इसलिए यह भूमि तीर्थभूमि है।

यहाँ अनेक सांस्कृतिक और पौराणिक घटनायें घटित हुई हैं।

—मिथिला नरेश पद्मरथ भगवान वासुपूज्य के गणधर सुधर्म का उपदेश सुनकर संसार से विरक्त हो गया। वह वासुपूज्य भगवान के चरणों में पहुँचा। वहाँ मुनि दीक्षा ले ली। मुनि पद्मरथ भगवान के गणधर बने। उन्हें अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान हो गया। पश्चात् उन्हें केवलज्ञान प्रगट हो गया और अन्त में वे मुक्त हो गए।

—जब हस्तिनापुर में अकंपनाचार्य के संघ पर बलि आदि मंत्रियों ने घोर उपसर्ग किया, उस समय मुनि विष्णुकुमार के गुरु मिथिला में ही विराजमान थे। उन्होंने क्षुल्लक पुष्पदन्त को धरणीधर पर्वत पर मुनि विष्णु कुमार के पास उपसर्ग निवारण के लिए भेजा। गुरु के आदेशानुसार मुनि विष्णुकुमार ने हस्तिनापुर में जाकर मुनि संघ का उपसर्ग दूर किया।

—मिथिला का राजा नमि मुनि बन गया। किन्तु तीन बार भ्रष्ट हुआ। फिर वह शुद्ध मन से मुनि-व्रत पालने लगा। एक बार एक गाँव में तीन अन्य मुनियों के साथ एक अवा के पास ध्यान लगाकर खड़ा था। कुम्हार आया और उसने अवा में आग सुलगाई। आग धू-धू करके जल उठी। चारों मुनि उसी में जल गये। वे शुद्ध भावों से श्रेणी आरोहण करके मुक्त हो गए।

—इसी नगर में राजा जनक हुए। उनकी पुत्री सीता थीं जो संसार की सतियों में शिरोमणि मानी जाती हैं। जनक नाम नहीं, वह तो एक पदवी थी। सीता के पिता का नाम सीरध्वज जनक था।

इस वंश का अन्त कराल नामक जनक राजा के काल में हुआ। बौद्ध ग्रंथों और कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार उसने एक ब्राह्मण कन्या के साथ बलात्कार किया था। इससे प्रजा भड़क उठी। उसने राजा को मार डाला। उस समय इस राज्य में सोलह हजार गांव लगते थे। इसके पश्चात् वहाँ राजतन्त्र समाप्त हो गया। जनता ने स्वेच्छा से गणतन्त्र की स्थापना की, जिसे विदेह गणतन्त्र कहा जाता था। इसे वज्जी संघ भी कहा जाता था। कुछ काल के पश्चात् वैशाली का लिच्छवि संघ और मिथिला का वज्जी संघ पारस्परिक सन्धि द्वारा मिल गये और दोनों का सम्मिलित संघ वज्जी संघ कहलाने लगा। तथा वज्जी संघ के अधिपति राजा चेटक को संयुक्त संघ का अधिपति मान लिया। इस संघ की राजधानी मिथिला से उठकर वैशाली में आ गई। यह नया वैशाली गण अत्यन्त शक्तिशाली बन गया। इन्हीं राजा चेटक की पुत्री त्रिशला से भारत को लोकोत्तर विभूति भगवान महावीर का जन्म हुआ। वैशाली गणसंघ का धर्म जैन धर्म था। इस संघ का विनाश श्रेणिक बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने किया। अजातशत्रु महारानी चेलना का पुत्र था। चेलना चेटक की सबसे छोटी पुत्री थी। इस प्रकार वैशाली अजातशत्रु की ननसाल थी।

मिथिला क्षेत्र कहाँ था, आज इसका कोई पता नहीं है। वर्तमान जनकपुर प्राचीन मिथिला की राजधानी का दुर्ग है। पुरनैलिया कोठी से ५ मील दूर पर सिमराओ नामक स्थान पर प्राचीन मिथिला नगरी के चिह्न अब तक मिलते हैं। नन्दनगढ़ के टीले से चाँदी का एक सिक्का मिला था, जो ईसा से १००० वर्ष पूर्व का बनाया जाता है। लगता है, मिथिला तीर्थ यहीं कहीं आस पास में था।

यहाँ पहुँचने का मार्ग इस प्रकार है—सीतामढ़ी से जनकपुर रोड स्टेशन रेल द्वारा। वहाँ से जनकपुर २४ मील बस द्वारा। सीतामढ़ी या दरभंगा से नैपाल सरकार की रेलवे के जयनगर स्टेशन जा सकते हैं। वहाँ से उक्त रेलवे द्वारा जनकपुर १८ मील है।

पद्म चक्रवर्ती

भगवान मल्लिनाथ के तीर्थ में पद्म नामक नौवां चक्रवर्ती हुआ। चक्रवर्ती पर्याय से पहले तीसरे भव की यह कथा है। सुकच्छ देश के श्रीपुर नगर में प्रजापाल नामक एक राजा था। वह बड़ा वीर और न्यायी था। उसके राज्य में प्रजा बड़े आनन्दपूर्वक रहती थी। एक बार उल्कापात देखकर उसे जीवन की क्षणभंगुरता का ज्ञान हुआ। तत्काल उसने अपने पुत्र को राज्य सौंप दिया और वह शिवगुप्त भगवान के पास जाकर आत्म-कल्याण की अभिलाषा से सम्पूर्ण आभ्यन्तर और बाह्य आरम्भ और परिग्रह का त्याग कर प्रव्रजित हो गया। आठ प्रकार की शुद्धियों से उसका तप देदीप्यमान हो रहा था। अन्त में समाधि द्वारा मरण करके वह अच्युत स्वर्ग का इन्द्र बना।

पूर्व भव

काशी देश की वाराणसी नगरी में इक्ष्वाकु वंशी महापद्म नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी से पद्म आदि शुभ लक्षणों से सुशोभित पद्म नामक पुत्र हुआ। उसकी आयु तीस हजार वर्ष की थी। उसका शरीर बाईस धनुष उन्नत था। सुवर्ण के समान उसकी कान्ति थी। कुमार काल बीतने पर पिता ने उसे राज्य-भार सौंप दिया। उसके प्रबल पुण्य के योग से उसकी आयुधशाला में चक्र रत्न आदि शस्त्र उत्पन्न हुए। तब वह दिग्विजय के लिए निकला। उसने कुछ ही काल में सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के राजाओं को अपना माण्डलिक बनाकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। साथ ही उसको चौदह रत्न और नौ निधियों का लाभ हुआ। उसे दस प्रकार के भोग प्राप्त थे। समस्त सांसारिक भोग उसे उपलब्ध थे, किन्तु वह इनमें कभी आसक्त नहीं हुआ। उसके दस पुत्रियाँ थीं जो अत्यन्त सुन्दर और शीलवती थीं। उसने उन पुत्रियों का विवाह सुकेतु विद्याधर के पुत्रों के साथ कर दिया।

चक्रवर्ती पद्म का जन्म

एक बार चक्रवर्ती प्रकृति की शोभा निहार रहा था। आकाश में यत्र तत्र बादल के टुकड़े नदी में तैरते हुए राजहंसों के समान इधर उधर डोल रहे थे। थोड़े समय बाद आकाश निर्मल हो गया, बादल न जाने कहाँ अदृश्य हो गये। इस सहज घटना का चक्रवर्ती के मन पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ा। उसका चिन्तन एक नई दिशा की ओर मुड़ गया—बादल का कोई शत्रु नहीं; फिर भी वह नष्ट हो गया। फिर जिनके सभी शत्रु हैं, ऐसी सम्पत्तियों में विवेकी मनुष्य की श्रद्धा क्यों कर स्थिर रह सकती है। यह विचार कर चक्रवर्ती ने अनेक राजाओं के साथ जिन-दीक्षा लेली और तप द्वारा समस्त आस्रव का निरोध करके तथा संचित कर्मों की निर्जरा करके घातिया कर्मों का क्षय कर दिया। वे नौ केवल लब्धियों के स्वामी हो गये। अन्त में अघातिया कर्मो का नाश करके अजर, अमर, मुक्त हो गये।

नन्दिमित्र बलभद्र, दत्त नारायण और बलीन्द्र प्रतिनारायण

पूर्वभव—भगवान मल्लिनाथ के तीर्थ में सातवें बलभद्र नन्दिमित्र और नारायण दत्त हुए। इससे पूर्वातीसरे भव की यह कथा है—

अयोध्या नगरी में एक राजा राज्य करता था। उसके दो पुत्र थे। किन्तु पिता इन दोनों से ही बहुत असन्तुष्ट था। इसलिए उसने अपने छोटे भाई को युवराज पद दे दिया। दोनों भाइयों को इससे बड़ा परिताप

हुआ। किन्तु उन्होंने समझा कि पिता ने यह कार्य मंत्री के द्वारा वरगलाने के कारण किया है, इसलिए वे मंत्री पर कुपित हुए और अपना सारा क्रोध उसके ऊपर उतारा। तिरस्कृत होकर राज्य में रहना उन्होंने उचित नहीं समझा, अतः उन्होंने शिवगुप्त नामक मुनिराज के पास जाकर मुनि-दीक्षा ले ली। किन्तु छोटे भाई के मन से मंत्री के प्रति द्वेष भाव नहीं निकल सका। उसने मंत्री से बदला लेने का निदान बन्ध किया।

दोनों भाई दुर्धर तपश्चरण करने लगे। आयु के अन्त में समाधिमरण किया और सौधर्म स्वर्ग में देव हुए।

बलभद्र, नारायण और प्रतिनारायण

वाराणसी के राजा इक्ष्वाकुवंशी अग्निशिख थे। वे बड़े धार्मिक विचारों के थे। उनकी दो रानियाँ थीं—अपराजिता और केशवती। वे दोनों देव उन रानियों से क्रमशः नन्दिमित्र और दत्त नामक पुत्र हुए। नन्दिमित्र बड़ा था और दत्त छोटा। यद्यपि वे दोनों सौतेली माता के पुत्र थे किन्तु दोनों में प्रगाढ़ स्नेह था। उनकी आयु बत्तीस हजार वर्ष की थी। उनका शरीर बाईस धनुष ऊँचा था। नन्दिमित्र श्वेत कुन्द के समान श्वेत वर्ण तथा दत्त इन्द्रनील मणि के समान नील वर्ण था। बचपन से ही दोनों बड़े तेजस्वी और साहसी थे। नन्दिमित्र स्वभाव से शान्त और दत्त उद्धत प्रकृति का था।

उपर्युक्त मंत्री संसार भ्रमण करता हुआ विजयार्ध पर्वत के मन्दरपुर नगर के विद्याधरों का स्वामी बलीन्द्र हुआ। बलीन्द्र नाम से ही बलीन्द्र नहीं था, वास्तव में ही वह बलीन्द्र था। सम्पूर्ण राजा उससे भयभीत रहते थे। एक दिन उसने अपना दूत दोनों भाइयों के पास भेजा और कहा—महाराज बलीन्द्र ने आदेश दिया है कि तुम्हारे पास जो भद्रक्षीर गन्धगज है, उसे हमारे पास भेज दो। दोनों भाइयों ने दूत की बात सुनकर परिहास में कहा—अगर बलीन्द्र अपनी पुत्रियों का विवाह हमारे साथ कर दे तो हम उन्हें अपना गजराज दे देंगे। बिना ऐसा किये तो हम नहीं दे सकेंगे।' यह बात दूत ने जाकर जब बलीन्द्र से कही तो वह बड़ा कुपित हुआ। वह तो वास्तव में दोनों भाइयों के बढ़ते हुए प्रभाव से सशंकित था, इसलिए उन्हें मारने का कोई बहाना ढूंढ़ रहा था। अपने आदेश का उल्लंघन होता देखकर वह सेना लेकर लड़ने के लिए तैयार हो गया।

तभी दक्षिण श्रेणी के सुरकान्तार नगर के स्वामी केशरीविक्रम नामक विद्याधर राजा ने दोनों कुमारों को सिंहवाहिनी और गरुड़वाहिनी नामक दो विद्यायें सम्मेदशिखर पर बुलाकर प्रदान कीं। यह राजा दत्त की माता केशवती का बड़ा भाई था। इस राजा ने दोनों कुमारों को सब प्रकार की सहायता देने का भी वचन दिया।

दोनों ओर की सेनायें आमने-सामने आकर डट गईं। दोनों सेनाओं में लोमहर्षक युद्ध हुआ। बलीन्द्र का पुत्र शतबलि नन्दिमित्र से जा भिड़ा। किन्तु नन्दिमित्र ने आनन-फानन में शतबलि का वध कर दिया। पुत्र की मृत्यु देखकर बलीन्द्र नेत्रों से अग्नि ज्वाला बरसाता नन्दिमित्र की ओर लपका। बलीन्द्र को बढ़ते देखकर दत्त आगे आ गया। दोनों का उस समय जो भयानक युद्ध हुआ, वह अद्‌भुत था। बलीन्द्र को अपने बल का बड़ा अभिमान था। आयु में भी वह दत्त से बड़ा था। किन्तु दत्त के समक्ष उसकी एक नहीं चल पा रही थी। तब भयंकर क्रोध में भरकर बलीन्द्र ने अमोघ चक्र दत्त के ऊपर फेंका। देवाधिष्ठित चक्र प्रदक्षिणा देकर दत्त की दाहिनी भुजा पर आकर ठहर गया। तब दत्त ने वही चक्र बलीन्द्र के ऊपर चला दिया। मृत्यु को आते हुए देखकर बलीन्द्र भय के मारे घबड़ा गया। उसने प्रतिकार भी करना चाहा किन्तु चक्र के आगे उसकी एक नहीं चली और उसका सिर अलग जा पड़ा।

प्रतिनारायण बलीन्द्र को मारकर बलभद्र नन्दिमित्र और नारायण दत्त ने शत्रु सेना में अभय घोषणा कर दी। फिर बलभद्र, नारायण पुण्य से प्राप्त चक्र आदि की सहायता से भरत क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त कर अर्धचक्री बने। चिरकाल तक राज्य सुख भोगकर एक दिन अचानक नारायण की मृत्यु हो गई। भाई के शोक में नन्दिमित्र को वैराग्य हो गया। वे मुनि बनकर तप करने लगे। अन्त में केवली होकर उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

एकविंश परिच्छेद

भगवान मुनिसुव्रतनाथ

अंगदेश के चम्पापुर नगर में हरिवर्मा नामक एक राजा राज्य करते थे। एक दिन नगर के वाह्य उद्यान में अनन्तवीर्य नामक निर्ग्रन्थ मुनिराज पधारे। उनका आगमन सुनकर राजा अपने परिजनों-पुरजनों के साथ पूजा की सामग्री लेकर दर्शनों के लिए गये। वहाँ जाकर राजा ने मुनिराज की तीन प्रदक्षिणा दी; तीन बार वन्दना की और उनकी पूजा की। फिर हाथ जोड़कर विनयपूर्वक मुनिराज से धर्म के स्वरूप की जिज्ञासा की। मुनिराज ने विस्तारपूर्वक धर्म का स्वरूप समझाते हुए कल्याण का मार्ग वताया। उपदेश सुनकर महाराज हरिवर्मा को आत्म-कल्याण की अन्त:प्रेरणा हुई। उन्होंने बड़े पुत्र को राज्य सौंप कर वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करके जैनेन्द्री दीक्षा ले ली। उन्होंने गुरु के चरणों में रहकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध कर लिया। इस प्रकार चिरकाल तक नाना प्रकार के तप करके आत्म-विशुद्धि करते हुए अन्त में समाधिमरण करके प्राणत स्वर्ग के इन्द्र का पद प्राप्त किया।

पूर्व भव

जव उस इन्द्र की आयु छह माह शेष रह गई, तव राजगृह नगर के स्वामी हरिवंश शिरोमणि काश्यपगोत्री महाराज सुमित्र के घर में छह माह तक रत्नवर्षा हुई। जव इन्द्र की आयु पूर्ण होने वाली थी, तब महाराज सुमित्र की महारानी सोमा को श्रावण कृष्णा द्वितीया को श्रवण नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में तीर्थंकर प्रभु के गर्भावतरण के सूचक सोलह स्वप्न दिखाई दिये। स्वप्नों के अनन्तर उन्हें एक तेजस्वी गजराज मुख में प्रवेश करता हुआ दिखाई दिया। उस इन्द्र का जीव तभी महारानी सोमा के गर्भ में अवतरित हुआ।

गर्भ कल्याणक

प्रात: काल होने पर स्नानादि से निवृत्त होकर महारानी हर्षित होती हुई महाराज के पास पहुँची और उन्हें रात्रि में देखे हुए स्वप्न कह सुनाये तथा उनसे इन स्वप्नों का फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान से फल जानकर महारानी को वताया—देवी ! तुम्हारे तीन जगत के स्वामी तीर्थंकर प्रभु जन्म लेंगे। सुनकर महारानी को अपार हर्ष हुआ। तभी देवों ने आकर माता का अभिषेक किया और भगवान का गर्भकल्याणक मनाया। सौधर्मेन्द्र देवियों को माता की सेवा में नियुक्त करके देवों के साथ वापिस चला गया।

यथासमय तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ। चारों जाति के इन्द्र और देव, इन्द्राणी और देवियाँ आई और भगवान को सुमेरु पर्वत पर ले जाकर देवों ने उनका अभिषेक किया। सौधर्मेन्द्र ने उस समय वालक का नाम मुनिसुव्रतनाथ रक्खा। उनका जन्म चिन्ह कछुआ था।

जन्म कल्याणक

भगवान की आयु तीस हजार वर्ष थी। शरीर की ऊँचाई वीस धनुष की थी। उनके शरीर का वर्ण मयूर के कण्ठ के समान नील था। वे एक हजार आठ लक्षणों और तीन ज्ञानों से युक्त थे।

जव कुमार काल के साढ़े सात हजार वर्ष व्यतीत हो गये, तव पिता ने उनका विवाह कर दिया तथा राज्याभिषेक करके राज्य-भार सौंप दिया। उन्होंने सुखपूर्वक साढ़े सात हजार वर्ष तक राज्य किया। एक दिन

आकाश में घनघोर घटा छाई हुई थी। तभी उनकी गजशाला के अधिपति ने यह समाचार दिया कि प्रसिद्ध यागहस्ती ने आहार छोड़ दिया है। समाचार सुनकर भगवान चिन्तन में लीन हो गये। किन्तु उपस्थित सभासदों को इस समाचार से बड़ा कुतूहल हुआ। उन्होंने भगवान से इसका कारण जानना चाहा। भगवान बोले—पूर्वभव में यह हाथी तालपुर नगर का स्वामी नरपति नाम का राजा था। यह बड़ा अभिमानी था। यह पात्र-अपात्र का भेद नहीं जानता था। इसने किमिच्छक दान दिया। इस कुदान के प्रभाव से इसे तिर्यंच योनि प्राप्त हुई और यह हाथी बना।

दीक्षा कल्याणक

जब भगवान सभासदों को हाथी का पूर्वभव सुना रहे थे, उस समय हाथी वहाँ खड़ा हुआ यह सुन रहा था। सुनकर उसे जाति स्मरण ज्ञान हो गया। उसने उसी समय संयमासंयम धारण कर लिया अर्थात् श्रावक के व्रत धारण कर लिए। भगवान के मन में भी संसार से वैराग्य हो गया। उसी समय लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की वन्दना की और भगवान के विचारों की सराहना की। उन्होंने अपने पुत्र युवराज विजय को राज्य सौंप दिया। तभी देवों ने आकर भगवान का दीक्षाभिषेक किया। फिर वे मनुष्यों और देवताओं से उठाई हुई अपराजिता नामक पालकी में बैठकर विपुल नामक उद्यान में पहुँचे। वहाँ दो दिन के उपवास का नियम लेकर वैशाख कृष्णा दशमी के दिन श्रवण नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ समस्त सावद्य से विरत होकर और सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग करके जिन-दीक्षा धारण करली। भगवान ने जो केशलुंचन किया था, उन बालों को रत्न-मंजूषा में रखकर सौधर्म इन्द्र ने क्षीरसागर में प्रवाहित कर दिया। दीक्षा लेते ही संयम और भाव-विशुद्धि के प्रभाव से भगवान को मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हो गया। दीक्षा लेकर वे ध्यानमग्न होगये। उपवास समाप्त होने पर वे पारणा के लिए राजगृह नगर में पधारे और वहाँ वृषभदत्त राजा ने परमान्न भोजन से पारणा कराया। यद्यपि भगवान समभाव से तृप्त थे, उन्हें आहार की कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु जिनशासन में आचार की वृत्ति किस तरह है, यह बतलाने के लिए ही उन्होंने आहार ग्रहण किया था। आहार दान के प्रभाव से राजा वृषभदत्त देवकृत पंचातिशयों को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार तपश्चरण करते हुए छद्मस्थ अवस्था के जब ग्यारह माह व्यतीत हो गये, तब वे दीक्षा-वन में पहुँचे और एक चम्पक वृक्ष के नीचे स्थित होकर दो दिन के उपवास का नियम लिया। शुक्ल ध्यान में विराजमान भगवान को दीक्षा लेने के मास, पक्ष, नक्षत्र और तिथि में अर्थात् वैशाख कृष्णा नवमी के दिन श्रवण नक्षत्र में सन्ध्या के समय घातिया कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हो गये। तभी इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान के केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव किया और समवसरण की रचना की। उसमें विराजमान होकर भगवान ने गणधरों, देवों, मनुष्यों और तिर्यञ्चों को सागार और अनगार धर्म का उपदेश दिया, जिसे सुनकर अनेकों ने संयम धारण किया, बहुतों ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये और बहुत से भव्य प्राणियों ने सम्यग्दर्शन धारण किया, अनेकों ने सम्यग्दर्शन में निर्मलता प्राप्त की।

केवल ज्ञान कल्याणक

भगवान के संघ में मल्लि आदि अठारह गणधर थे जो अपने अपने गणों की धर्म-रक्षा करते थे। ५०० द्वादशांग के वेत्ता, २१००० शिक्षक, १८०० अवधिज्ञानी, १८०० केवलज्ञानी, २२०० विक्रिया ऋद्धिधारी, १५०० मनःपर्ययज्ञानी और १२०० वादी मुनि थे। इस प्रकार सब मिलाकर ३०००० मुनिराज उनके

भगवान मुनिसुव्रतनाथ की जन्म-नगरी—राजगृही

जैनधर्म में राजगृही नगरी का एक विशिष्ट स्थान है। वह कल्याणक नगरी है, निर्वाण-भूमि है और भगवान महावीर के धर्म-चक्र-प्रवर्तन की भूमि है। धर्म-भूमि होने के साथ-साथ वह युगों तक राजनीति का केन्द्र भी रही है और भारत के अधिकांश भाग पर उसने प्रभावशाली शासन भी किया है। इसलिये इस नगरी ने इतिहास में निर्णायक भूमिका अदा की है।

— इस नगरी में भगवान मुनिसुव्रतनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान ये चार कल्याणक हुए थे।

— इस नगर के पाँच पर्वतों में वैभार, ऋषिगिरि, विपुलगिरि और बलाहक ये चार पर्वत सिद्धक्षेत्र रहे हैं। यहाँ से अनेक मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया है, जैसा कि आचार्य पूज्यपाद ने संस्कृत निर्वाण भक्ति में बताया है।

—राजपुर नरेश जीवन्धर कुमार भगवान महावीर से दीक्षा लेकर मुनि हो गये। वे भगवान के साथ विहार करते हुए विपुलाचल पर पधारे। जव पावा में भगवान महावीर का निर्वाण हो गया, उसके कुछ काल पश्चात् मुनि जीवन्धर कुमार भी विपुलाचल से मुक्त होगये।

— भगवान महावीर के सभी गणधर विपुलाचल से ही मुक्त हुए।

—अन्तिम केवली जम्बू स्वामी का निर्वाण भी विपुलाचल से ही हुआ, ऐसी भी मान्यता है।

—उज्जयिनी नरेश धृतिषेण (मुनि अवस्था का नाम काल सन्दीव), पाटलिपुत्र नरेश वैशाख, विद्युच्चर, गन्धमादन आदि अनेक मुनियों ने राजगृह के इन्हीं पर्वतों से मुक्ति प्राप्त की थी।

—भगवान महावीर को ऋजुकूला नदी के तट पर वैशाख शुक्ला दसमी को केवलज्ञान हुआ था। देवों ने तत्काल समवसरण की रचना को। किन्तु गणधर न होने के कारण भगवान की दिव्य ध्वनि नहीं खिरी। तव इन्द्र वेष वदलकर इन्द्रभूति गौतम के पास पहुंचा और किसी उपाय से उन्हें भगवान के समवसरण में लेगया। गौतम भगवान के चरणों में पहुंच कर अभिमान रहित होकर मुनि वन गये। तभी विपुलाचल पर श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को भगवान की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी और धर्म-चक्र-प्रवर्तन हुआ। इस समय अन्तिम तीर्थंकर महावीर का धर्म-शासन प्रवर्त रहा है, इसलिये उनके शासन के अनुयायियों के लिए न केवल इस प्रथम दिव्य ध्वनि का, अपितु विपुलाचल का भी विशेप महत्त्व है। इस वात से विपुलाचल का महत्त्व जैन शासन में कितना हो गया, इसका मूल्याङ्कन करने के लिए यहाँ एक ही वात का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। पौराणिक साहित्य में किसी कथा के प्रारम्भ में कहा जाता है—'विपुलाचल पर भगवान महावीर का समवसरण आया हुआ था। मगध नरेश श्रेणिक विम्वसार भगवान के दर्शनों के लिए पहुँचे। उन्होंने भगवान की वन्दना की और अपने उचित स्थान पर वैठ गये। फिर उन्होंने गौतम गणधर से जिज्ञासा की। तव गौतम गणधर वोले।' इस प्रकार प्रत्येक प्रसंग का प्रारम्भ होता है। गौतम गणधर से प्रश्न अकेले श्रेणिक महाराज ने ही नहीं पूछे थे, और भी अनेक व्यक्तियों ने पूछे थे। उनसे केवल विपुलाचल पर ही प्रश्न नहीं पूछे गये थे, अन्य स्थानों पर भी पूछ गये थे। किन्तु दिगम्वर परम्परा में कथा कहने की एक अपनी शैली रही है और उस शैली में विपुलाचल को विशेप महत्ता दी गई है। संभवतः इसका कारण यही रहा है कि इन्द्रभूति गौतम जैसे प्रकाण्ड विद्वान् का गर्व यहीं आकर गलित हुआ, यहीं उन्होंने मुनि-दीक्षा ली और फिर यहीं भगवान की प्रथम धर्म-देशना हुई, जिससे धर्म का विच्छिन्न तीर्थ पुनः प्रवर्तित हुआ। यह कोई सामान्य घटना नहीं थी। किसी धर्म के इतिहास में यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है।

—मुनि सुकौशल और मुनि सिद्धार्थ (सुकौशल के पिता) को राजगृह के पर्वत से पारणा के लिए नगर को जाते हुए मार्ग में व्याघ्री (सुकौशल की पूर्व भव में माता जयावती) ने मार डाला। दोनों मुनि समता भाव से मरे और सर्वार्थसिद्धि विमान में अहमिन्द्र हुए।

राजगृह पर यद्यपि शताव्दियों तक हरिवंशी नरेशों का शासन रहा, किन्तु उसकी प्रसिद्धि सर्वप्रथम

मगध साम्राज्य की राजधानी के रूप में

जरासंघ के काल में हुई। वह वड़ा प्रतापी नरेश था। उसने वाहुवल द्वारा भरतक्षेत्र के आधे भाग पर अधिकार कर लिया था। मथुरा नरेश कंस उसका दामाद और माण्डलिक राजा था। वह वड़ा क्रूर और अहंकारी था। श्रीकृष्ण ने उसे मारकर प्रजा को उसके अन्याय-अत्याचारों से मुक्त किया।

किन्तु उससे यादव लोग सम्राट् जरासन्ध के कोप के शिकार हुए। उसने सत्रह वार मथुरा के यादवों पर आक्रमण किये। इन रोज-रोज के आक्रमणों से परेशान होकर और शक्ति संचित करने के लिए श्रीकृष्ण के नेतृत्व में यादवों ने मथुरा, शौर्यपुर और वीर्यपुर को छोड़ दिया और पश्चिम में जाकर समुद्र के मध्य में द्वारका वसाकर रहने लगे।

कुछ समय पश्चात् कुरुक्षेत्र के मैदान में जरासन्ध और यादवों का निर्णायक युद्ध हुआ। उसमें श्रीकृष्ण ने जरासन्ध को मार दिया और वे अर्धचक्री नारायण वने। नारायण श्रीकृष्ण ने अपनी राजधानी द्वारका को ही रक्खा। इससे राजगृह-जो उस समय गिरिव्रज कहलाती था—का महत्व कम हो गया।

इसके पश्चात् राजगृह का राजनैतिक महत्त्व शिशुनागवंशो सम्राट् श्रेणिक विम्वसार के काल में वढ़ा। श्रेणिक ने राजगृह को ही अपनी राजधानी वनाया। उसका शासन-काल ई० पू० ६०१ से ५५२ माना जाता है। श्रेणिक के शासन-काल में मगध साम्राज्य उत्तरी भारत का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य माना जाता था।

श्रेणिक प्रारम्भ में म० वुद्ध का अनुयायी था, किन्तु वाद में वह भगवान महावीर का अनुयायो वन गया।

श्रेणिक के पश्चात् अजातशत्रु राजगृही का शासक वन गया। उसने अपने वृद्ध पिता को कारागार में डालकर वलात् शासन हथिया लिया। उसने अनेक राज्यों को जीतकर उन्हें अपने राज्य में मिला लिया। वैशाली और मल्ल गणसंघों का विनाश उसी ने किया। उसके राज्य-काल के प्रारम्भ के वर्षों में राजगृह मगध साम्राज्य की राजधानी रही। किन्तु वाद में उसने चम्पा को अपनी राजधानी वना लिया। उसके वाद उसके पुत्र उदायि ने पाटलिपुत्र नगर वसाकर उसे अपनी राजधानी वनाया। इसके वाद राजगृह कभी अपने पूर्व गौरव को प्राप्त नहीं कर सका।

आजकल राजगृह नगर एक साधारण कस्वा है। उसका महत्व तीर्थ के रूप में है। जैन लोग राजगृह के विपुलाचल, रत्नागिरि, उदयगिरि, श्रवणगिरि और वैभारगिरि को अपना तीर्थ मानते हैं। उन्हें पंचपहाड़ी भी कहा

वर्तमान राजगृह

जाता है। वौद्ध लोग गृद्धकूट पर्वत को अपना तीर्थ मानते हैं तथा सप्तपर्णी गुफा में प्रथम वौद्ध संगीति हुई थी, ऐसा माना जाता है।

यहाँ सोनभण्डार गुफा, मनियारमठ, विम्वसार वन्दीगृह, जरासन्ध का अखाड़ा और प्राचीन किले के अवशेष दर्शनीय हैं। यहाँ गर्म जल के स्रोत हैं, जिनका जल अत्यन्त स्वास्थ्यकर है।

———

वलभद्र राम, नारायण लक्ष्मण और प्रतिनारायण रावण—

मलय देश में रत्नपुर नामक नगर था। उसमें प्रजापति राजा राज्य करते थे। उनकी पटरानी का नाम गुणकान्ता था। उनके चन्द्रचूल नामक एक पुत्र था। महाराज के मन्त्री के पुत्र का नाम विजय था। चन्द्रचूल

पूर्व भव में निदान बन्ध

और विजय दोनों में परस्पर में बड़ा प्रेम था। दोनों ही अत्यन्त लाड़प्यार में पले थे इसलिये वे दोनों दुराचारी हो गये। उस नगर के सेठ कुवेर ने अपनी कुवेरदत्ता पुत्री को वैश्रवण सेठ की गौतमा स्त्री से उत्पन्न कुमार श्रीदत्त के लिये देने का संकल्प किया। तभी किसी ने जाकर राजकुमार चन्द्रचूल से कुवेरदत्ता के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा की। सुनते ही चन्द्रचूल अपने साथी विजय को लेकर सेठ कुवेर के घर जा धमका और कुवेरदत्ता का बलात् अपहरण करने का प्रयत्न करने लगा। यह अनर्थ देखकर वैश्य लोग रोते चिल्लाते हुए महाराज के पास पहुँचे और उनसे जाकर फरियाद की। राजा को अपने पुत्र के इस अनाचार को देखकर वड़ा क्रोध आया। उन्होंने नगर रक्षक को बुलाकर उसे राजकुमार का वध करने की आज्ञा दी। नगर-रक्षक कुछ सैनिकों को लेकर राजकुमार को वन्दी बनाने गया और वन्दी दशा में उसे महाराज के समक्ष लाकर खड़ा कर दिया। उसे देखते ही राजा ने राजकुमार को शूली का दण्ड दे दिया। नगर रक्षक राजकुमार को शूली पर चढ़ाने के लिये ले चला। तभी प्रधान मन्त्री प्रमुख नागरिकों को आगे करके महाराज के निकट आया और हाथ जोड़कर निवेदन करने लगा—'देव ! राजकुमार को कार्य अकार्य का विवेक नहीं है। हम लोगों का प्रमाद रहा कि बाल्यकाल से इसकी ओर ध्यान नहीं दिया। यह आपका एकमात्र वंशधर और राज्य का भावी उत्तराधिकारी है। दण्ड का उद्देश्य तो व्यक्ति का सुधार है। यदि राज्य के इस एकमात्र कुमार को आपने शूली देदी तो उसका सुधार तो होगा नहीं, आपका वंश भी निर्मूल हो जायेगा। अतः आप इसे सुधारने का एक अवसर अवश्य दीजिये। किन्तु राजा ने उनकी एक नहीं सुनी। वे अपने निर्णय पर अटल रहे। तब प्रधान मन्त्री ने कहा—'देव की जैसी आज्ञा। किन्तु इसको मैं स्वयं दण्ड दूँगा। राजा ने इस बात की स्वीकृति दे दी।

प्रधानामात्य अपने पुत्र विजय और राजकुमार चन्द्रचूल को लेकर पर्वत पर पहुँचा और राजकुमार को यहाँ पर्वत पर लाने का उद्देश्य भी बता दिया। राजकुमार बड़ी निर्भयता से मृत्यु दण्ड पाने के लिये तैयार हो गया। तभी मन्त्री को पता चला कि यहाँ निकट ही महाबल नामक गणधर विराजमान हैं। मंत्री दोनों को लेकर मुनिराज के समीप पहुँचा; उनकी वन्दना की और उन दोनों का भविष्य पूछा। मुनिराज बोले-'ये दोनों ही तीसरे भव में इसी भरत क्षेत्र में नारायण और बलभद्र होंगे।' सुनकर मंत्री बड़ा प्रसन्न हुआ। उन दोनों कुमारों ने भी मुनिराज का उपदेश सुना तो उन्हें अपने कृत्यों पर भारी ग्लानि हुई और उन्होंने मुनि-दीक्षा ले ली।

मत्री ने महाराज के पास लौटकर पूरा वृत्तान्त सुना दिया और अन्त में निवेदन किया- 'महाराज ! वे दोनों सुधार के मार्ग पर लग गये हैं। उनके लिये दण्ड का उद्देश्य पूरा हो गया। राजा ने सब बात सुनकर मंत्री की बड़ी प्रशंसा की। किन्तु इस घटना से उसे भी राज्य से विरक्ति हो गई। वह अपने कुल के किसी योग्य पुत्र को राज्य सौंप कर इन्हीं गणधर महाराज के निकट पहुँचा। वहाँ दोनों नवदीक्षित कुमारों को मुनि अवस्था में देखकर उसने दोनों से क्षमा-याचना की। वे दोनों बोले-आपने हमारा बड़ा हित किया। यह संयम आपकी बदौलत ही हम लोगों ने ग्रहण किया है।

राजा ने भी अनेक व्यक्तियों के साथ सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर संयम अंगीकार कर लिया और कठोर आभ्यन्तर बाह्य तपों का आचरण कर कुछ काल में ही घातिया कर्मों का नाश कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये और अन्त में शेष अघातिया कर्मो का क्षय कर वे सिद्धालय में जा विराजे।

एक समय वे दोनों मुनिराज खड़गपुर नगर के बाहर आतापन योग धारण कर ध्यानारूढ़ थे। उस नगर के राजा सोमप्रभ की सुदर्शना और सीता नाम की दो रानियाँ थीं; जिनके क्रमशः सुप्रभ और पुरुषोत्तम नामक पुत्र थे। सुप्रभ बलभद्र थे और पुरुषोत्तम नारायण थे। जिस समय वे दोनों मुनि ध्यान लगाये हुए खड़े थे, उस समय पुरुषोत्तम नारायण मधुसूदन प्रतिनारायण का वध करके बड़े वैभव के साथ नगर में प्रवेश कर रहा था। उसकी विभूति को देखकर चन्द्रचूल मुनि ने अज्ञानवश वैसी ही विभूति का निदान कर लिया। अन्त में चारों प्रकार के आहार का त्याग कर दोनों ने चारों आराधनाओं का सेवन किया। वे मरकर सनत्कुमार स्वर्ग में विजय और मणिचूल नामक देव हुए।

ये ही दोनों देव महाराज दशरथ के पुत्र राम और लक्ष्मण हुए जोकि लोक विश्रुत बलभद्र और नारायण थे।

द्वाविंश परिच्छेद

जैन रामायण

कर्मभूमि के प्रारम्भ में संसार के आदि महापुरुष, आदि ब्रह्मा, आदि तीर्थंकर, आदिनाथ, आद्य भगवान ऋषभदेव हुए। उनके पिता का नाम नाभिराय था, जो चौदहवें कुलकर या मनु थे। माता का नाम मरुदेवी था।

इक्ष्वाकु वंश, सूर्यवंश, चन्द्रवंश

उनके सौ पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। बड़े पुत्र का नाम भरत था, जो भरत क्षेत्र के प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् थे। इन्हीं के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा। दूसरे पुत्र बाहुबली थे, जो प्रथम कामदेव थे। पुत्रियों के नाम ब्राह्मी और सुन्दरी थे। ब्राह्मी को भगवान ऋषभदेव ने लिपि विद्या सिखाई थी। उसके नाम पर ही आगे लिपि का नाम ब्राह्मी लिपि पड़ गया। भगवान ने अपनी दूसरी पुत्री सुन्दरी को अंक विद्या सिखाई थी।

भगवान जब गृहस्थाश्रम छोड़कर प्रव्रजित हो गये तो उन्होंने छह माह तक घोर तपस्या की। उसके पश्चात् वे नगर में आहार के लिये निकले। किन्तु उस समय लोग मुनिजनोचित आहार की विधि नहीं जानते थे। अतः भगवान अपने नियमानुसार आहार को निकलते और विधि के अनुकूल आहार न पाकर वन में लौट जाते। इस प्रकार छह माह बीत गये। तब विहार करते हुए भगवान हस्तिनापुर नगर में पधारे। वहाँ के राजा सोमप्रभ के लघु भ्राता श्रेयान्स को भगवान का दर्शन करते ही पूर्वजन्म में मुनि को दिये हुए आहार का स्मरण हो आया। उस समय महल में शुद्ध इक्षु रस (गन्ने का रस) रक्खा हुआ था। राजकुमार श्रेयान्स ने भगवान को आहार में वही इक्षु-रस दिया। राजा श्रेयान्स दान-तीर्थ के कर्ता और आद्य प्रवर्तक कहलाये।

यह घटना भगवान के मुनि-जीवन से सम्बन्धित प्रथम महत्त्वपूर्ण घटना थी। अतः भगवान का कुल इक्ष्वाकु वंश कहलाया। इसी वंश को इतिहासकारों ने ककुत्स्थ वंश भी कहा है क्योंकि भगवान ऋषभदेव का ध्वज-चिन्ह ककुत्स्थ (बैल) था।

इसी वंश से सूर्यवंश निकला। चक्रवर्ती भरत के ज्येष्ठ पुत्र अर्ककीर्ति थे। वे अत्यन्त तेजस्वी और प्रभावशाली थे। उनके नाम पर ही सूर्यवंश की उत्पत्ति हुई और उनके वंशजों को सूर्यवंशी कहा जाने लगा। इस वंश में अनेक प्रतापी सम्राट् हुए। राजकुमार श्रेयान्स के बड़े भ्राता सोमप्रभ ने सोमवंश अथवा चन्द्रवंश चला।

इक्ष्वाकु वंश में अनेक राजा हुए। भगवान मुनिसुव्रतनाथ के तीर्थकाल में विजय नाम का एक राजा हुआ। उसके वंश में सुन्दर, कीर्तिधर, सुकौशल, हिरण्य, काचनधुप, सौदास सिंहरथ आदि राजा हुए। इसी वंश में हिरण्य कश्यप हुआ। उसके पजन्यल, फिर ककुत्स्थ, और उससे रघु हुआ। रघु अत्यन्त प्रतापी

एक तो अपराजिता, जिसका दूसरा नाम कौशल्या था। यह दर्भपुर के राजा सुकोशल और उनकी रानी अमृतप्रभा की पुत्री थी। दूसरी सुमित्रा, जिसके माता-पिता पद्मपत्र नगर के राजा तिलकवन्धु और रानी मित्रा थी। तीसरी राजकुमारी का नाम सुप्रभा था जो रत्नपुर के राजा की पुत्री थी। इसी काल में राजा जनक मिथिलापुर में शासन कर रहे थे। वे हरिवंशी थे। उनके पूर्वजों में विजय, दक्ष, इलावर्धन, श्रीवर्धन, श्रीवृक्ष, संजयन्त, कुणिम, महारथ, पुलोमा आदि अनेक प्रतापी राजा हो चुके थे।

एक वार राजा दशरथ राजदरवार में बैठे हुए थे। तभी आकाशमार्ग से नारद आये। राजा ने उनकी यथोचित अभ्यर्थना की और कुशल-मंगल पूछने के बाद उनके आने का कारण पूछा। तब नारद ने वताया कि मैं लंका गया हुआ था। वहाँ का राजा महावलवान राक्षसवंशी रावण है। उसकी सभा में एक बड़ा दुःखदायक समाचार सुना। किसी ज्योतिषी ने रावण से यह कहा कि सीता के निमित्त से दशरथ के पुत्रों द्वारा तुम्हारी मृत्यु होगी। यह सुनकर विभीषण ने रावण से कहा कि दशरथ और जनक के जवतक सन्तान होगी, उससे पहले ही मैं उन दौनों राजाओं को मार डालूँगा। उसने अपने चर छद्मवेश में तुम्हें देखने भेजे थे। वे तुम्हें देख कर वापिस चले गये हैं और तुम्हारे वारे में सारे समाचार विभीषण को दिये हैं। अतः विभीषण तुम दोनों को मारने के लिए शीघ्र ही आने वाला है। अतः तुम्हें अपनी रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर लेना चाहिए।

नारद से यह समाचार सुनकर दशरथ अत्यन्त भयभीत हो गये। नारद वहाँ से राजा जनक के पास गये और उन्हें भी ये समाचार सुनाये। दोनों ने अपने मन्त्रियों से परामर्श किया। मंत्रियों ने कहा कि जव तक यह विघ्न टल नहीं जाता, आप प्रच्छन्न रूप में किसी दूसरे नगर में रहें। यह सुनकर दोनों राजा देशान्तर को चले गये और उनके स्थान पर दो नकली शरीर वनाये गये। उनमें लाख आदि का रस भरकर सिंहासन पर बैठा दिया। विभीषण ने आकर उन नकली राजाओं को मार डाला। विभीषण प्रसन्न होकर लंका वापिस चला गया।

उधर दशरथ जनक के साथ अनेक देशों में भ्रमण करते हुए कौतुकमंगल नगर मे पहुँचे। उस नगर का राजा शुभमति था। उसकी रानी का नाम पृथ्वीमही था। उसके दो पुत्र-कैकय और द्रोण थे और एक रूपगुणवती कन्या थी, जिसका नाम केकामती (कैकेयी) था। वह कन्या संगीत, शस्त्र और शास्त्र में अत्यन्त निपुण थी। राजा ने उसके विवाह के लिए स्वयंवर रचा, जिसमें अनेक राजा भाग लेने आये। वहाँ दशरथ और जनक भी बैठ गये। राजकुमारी कैकेयी वरमाला लेकर स्वयंवर मण्डप में आई। द्वारपाली सब राजाओं का परिचय देती गई। जब कैकेई दशरथ के सम्मुख पहुंची तो उसने दशरथ के गले में वरमाला डाल दी।

नारद की उत्पत्ति

नारद, जो वड़ा कलहप्रिय कहलाता है, उसका जन्म किन विचित्र परिस्थितियों में हुआ, यह जानना वड़ा रुचिकर है।

ब्रह्मरुचि नाम का एक ब्राह्मण था। उसकी पत्नी कूर्मी थी। दोनों सन्यासी थे। जंगल में एक मठ में रहते थे। एक वार कूर्मी को गर्भ रह गया। वहाँ एक वार एक दिगम्वर मुनि पधारे। दोनों सन्यासी आकर वैठ गये। वे मुनि ने पूछा—यह गर्भिणी स्त्री कौन है ? ब्राह्मण वोला—यह मेरी पत्नी है। मुनि वड़े आश्चर्य से वोले-तू तो सन्यासी है। तुझे स्त्री रखना उचित नहीं है।

ब्राह्मण मुनिराज के उपदेश से मुनि वन गया। ब्राह्मणी को वड़ा दुःख हुआ कि इस अवस्था में वह दीक्षा नहीं ले सकती। किन्तु जव वालक उत्पन्न हुआ और १६ दिन का हो गया तो ब्राह्मणी उसे एक सुरक्षित स्थान पर रखकर चली गई और तपस्विनी हो गई। वालक चुपचाप पड़ा था। संयोग की वात कि आकाश में जाते हुए जृम्भक नामक एक देव ने वालक को देखा और दयावश उसे उठाकर ले गया। उसका लालन-पालन किया और शास्त्रों का अध्ययन कराया।

जव वालक यौवन सम्पन्न हुआ तो उसने आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर ली, क्षुल्लक के व्रत भी ले लिए। साथ ही जटायें रखली, मुकुट भी पहनने लगा। इस तरह वह न गृहस्थ ही रहा, न मुनि ही। वह हास-विलास का प्रेमी था, अत्यन्त वाचाल था, कलह देखने का इच्छुक और संगीत का शौकीन था, वह ब्रह्मचारी था, राजघरानों में उसका वड़ा सम्मान था। देवों ने उसका पालन किया था और देवों के साथ उसकी क्रीड़ायें थीं। इसलिए वह देवर्षि कहलाता था।

राजा लोग एक अज्ञातकुलशील व्यक्ति के गले में वरमाला पड़ी देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और लड़ने के लिए तैयार हो गये। तब राजा शुभमति उनसे लड़ने के लिए तैयार हुआ, किन्तु दशरथ ने उसे रोक दिया और सेना लेकर स्वयं रणक्षेत्र में जा पहुँचा। राजा दशरथ के सारथी का दायित्व कैकेयी ने लिया। कैकेयी रथसंचालन में अत्यन्त निपुण थी। दोनों ओर से भयानक युद्ध हुआ। किन्तु दशरथ की रणचातुरी और कैकेई की रथ-संचालन की चातुरी के कारण विजयश्री दशरथ को मिली। राजा पराजित हो गये। दशरथ का कैकेयी के साथ समारोह-पूर्वक विवाह हो गया और वह अयोध्या लौट आये तथा जनक मिथिला चले गये।

एक दिन दशरथ रानियों के बीच बैठे हुए कैकेयी की प्रशंसा करते हुए बोले—प्रिये! तुमने जिस कौशल से रथ का सचालन किया था, उसी के कारण मेरी विजय संभव हो सकी थी। मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। तुम कोई वर मांगलो। कैकेयी पहले तो अपनी लघुता बताती हुई टालती रही। किन्तु जब राजा ने बार-बार आग्रह किया तो बोली—'नाथ! मेरा वर आप धरोहर के रूप में सुरक्षित रखलें। जब मुझे आवश्यकता होगी, तब मैं मांग लूँगी।' राजा ने भी कह दिया—तथास्तु।

भरत क्षेत्र के मध्य में विजयार्ध नामक एक विशाल पर्वत था, जिसकी दो श्रेणियाँ थीं—उत्तर श्रेणी और दक्षिण श्रेणी। इन दोनों श्रेणियों की राजधानी क्रमशः अलकावती और रथनूपुर थीं। इन श्रेणियों में विद्याधरों का निवास था। वे यद्यपि मनुष्य थे किन्तु वे विद्याओं की सिद्धि किया करते थे, (जिसे आधुनिक भाषा में कह सकते हैं कि वे वैज्ञानिक प्रयोग किया करते थे। इसलिए उनके पास विमान थे तथा अद्भुत शस्त्रास्त्र थे।) इन विद्याधरों में अनेक जातियाँ थी—राक्षस, वानर, ऋक्ष, गन्धर्व, किन्नर आदि। इन्हें जातीय अभिमान था और ये भूमि पर रहने वालों को भूमिगोचरी कहते थे तथा उन्हें हीनदृष्टि से देखते थे। यहाँ तक कि भूमिगोचरियों को अपना कन्या देना अपना अपमान समझते थे। यद्यपि भूमिगोचरी राजाओं ने अपने बाहुबल के द्वारा विद्याधरों की कन्याओं के साथ विवाह किया था, किन्तु फिर भी विद्याधरों में जातीय अभिमान बहुत काल तक बना रहा।

राक्षस वंश और वानर वंश

द्वितीय तीर्थंकर भगवान अजितनाथ के समय मेघवाहन नामक राजा को प्रसन्न होकर राक्षस जाति के देवों के इन्द्र भीम और सुभीम ने समुद्र के मध्य में बसे हुए राक्षस द्वीप की राजधानी लंका तथा पाताल लंका का राज्य दिया था तथा अद्भुत कान्ति वाला रत्नहार दिया था। फलतः राजा मेघवाहन अपने परिवार सहित राक्षस द्वीप में जा बसा और वहाँ आनन्दपूर्वक राज्य करने लगा।

राक्षस वंश

उसके वंश में आगे चलकर एक महाप्रतापी राजा हुआ, जिसका नाम राक्षस था। उसके नाम पर उस वंश का नाम राक्षस वंश पड़ गया।

विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी के मेघपुर नगर के अधिपति श्रीकण्ठ को लंका नरेश कीर्तिधवल ने, जो श्रीकंठ का बहनोई था, शत्रुओं के उत्पात से बचाने के लिए वानर द्वीप दिया था। श्रीकंठ ने वहाँ जाकर नगर बसाया और सुखपूर्वक रहने लगा। इस द्वीप में वानर बहुत थे। श्रीकण्ठ तथा उसके नगरवासी उन वानरों से अपना खूब मनोरंजन किया करते थे तथा उनको पालते भी थे। उसी के वंश में आगे चलकर अमरप्रभ राजा हुआ। उसने अपनी ध्वजा, मुकुट, छत्र, तोरण और द्वारों पर वानरों के चिन्ह खुदवा दिये। तबसे सारे नगरवासी वन्दरों को आदर की दृष्टि से देखने लगे। इसीलिए उनके वंश का नाम वानर वंश पड़ गया।

वानर वंश

राक्षस कुल में रावण का जन्म

राक्षस और वानर वंशियों में परस्पर बड़ा प्रेमभाव था। एक बार रथनूपुर के राजा अशनिवेग ने वानर नरेश और राक्षस नरेश सुकेश का युद्ध हुआ। उस युद्ध में दोनों वंश के राजा हार गये और युद्ध छोड़कर भागे तथा पाताल लंका में जाकर रहने लगे। अशनिवेग ने लंका की गद्दी पर निर्घात नामक राजा को बैठा दिया। कुछ काल पश्चात् वानर वंशी किष्कन्ध ने समुद्र के किनारे किष्कन्ध नामक नगर बसाया और वहीं रहने लगा।

राक्षस वंशी सुकेश के तीन पुत्र हुए—माली, सुमाली और माल्यवान। जब माली को अपने माता-पिता

से लंका की पराजय का समाचार मालूम हुआ तो उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर सेना लेकर लंका पर आक्रमण कर दिया और निघति को मारकर पुनः लंका का राज्य प्राप्त कर लिया तथा राक्षसवंशी पुनः आनन्द से लंका में रहने लगे।

उस समय रथनुपुर नगर का राजा सहस्रार था। उसकी रानी मानससुन्दरी को गर्भ के समय इन्द्र जैसी क्रीड़ा करने की इच्छा होती थी। अतः राजा रानी खूब क्रीड़ा किया करते थे। जब पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसका नाम इन्द्र रक्खा। इन्द्र बड़ा बलवान था। युवा होने पर उसने अपने वैभव आदि इन्द्र जैसे ही बनाने शुरू किये। अपने महल का नाम वैजयन्त रक्खा। अपने हाथी का नाम ऐरावत, सभा का नाम सुधर्मा, नर्तकियों का नाम उर्वशी, तिलोत्तमा रक्खा। नागरिकों को देव संज्ञा दी। मंत्री का नाम वृहस्पति, सेनापति का नाम हिरण्यकेश रक्खा। लोकपालों की चारों दिशाओं में नियुक्ति की, जिनके नाम उसने सोम, वरुण, कुवेर और यम रक्खे। अपनी रानी का नाम शची रक्खा। इसने विजयार्ध की दोनों श्रेणियाँ जीत लीं।

एक बार लंकापति माली विजयार्ध की दोनों श्रेणियों को जीतने के लिए विशाल सेना लेकर चला। उसके साथ में वानरवंशी राजा सूर्यरज और यक्षरज भी थे। इन्द्र से उनका भयानक युद्ध हुआ। इस युद्ध में माली मारा गया और राक्षस सेना युद्ध से भाग गई। तब इन्द्र के लोकपाल सोम ने लंका और किष्किन्धा पर अधिकार कर लिया। राक्षस और वानरवंशी पाताल लंका में जाकर रहने लगे।

सुमाली के रत्नश्रव नामक पुत्र हुआ। उसका विवाह केकसी से हो गया। केकसी ने एक रात को तीन स्वप्न देखे—एक तो क्रोध से उद्धत सिंह देखा, दूसरा उगता हुआ सूर्य देखा और तीसरा परिपूर्ण चन्द्रमा देखा। रानी ने अपने स्वप्नों का हाल पति से कहा। राजा ने विचार कर कहा—प्रिये! तुम्हारे तीन पुत्र होंगे—एक तो महान योद्धा और पाप कर्म में समर्थ होगा तथा दो कुटुम्ब को सुख देने वाले पुण्य पुरुष होंगे।

जब रावण गर्भ में आया तो रानी अहंकार में भर उठी। वह बात-बात में सिंहनी की तरह दहाड़ उठती थी। यथासमय रावण का जन्म हुआ। एक दिन बालक इन्द्र द्वारा प्रदत्त उस रत्नहार के पास पहुँच गया, जिसकी रक्षा हजार नागकुमार देव करते थे। उसने वह हार उठा लिया। सब लोग बालक की महान शक्ति पर आश्चर्य करने लगे। उस हार में नौ रत्न लगे थे। उनमें रावण के नौ मुख और दिखाई देने लगे। तब सब लोगों ने प्यार में बालक का नाम दशानन रख दिया।

कुछ समय के पश्चात् केकसी के कुम्भकर्ण नामक दूसरा पुत्र हुआ। बाद में पूर्ण चन्द्रमा के समान चन्द्रनखा नामक पुत्री हुई और फिर विभीषण नाम का पुत्र हुआ।

एक दिन माता केकसी अपने पुत्रों के साथ महल की छत पर बैठी हुई थी। तभी आकाश में पुष्पक विमान जाता दिखाई दिया। उसे देखकर रावण ने माता से पूछा-मां! यह महा विभूति वाला कौन जा रहा है। तब माता बोली-पुत्र! यह तेरी मौसी कौशिकी का पुत्र वैश्रवण (कुवेर) है। यह विजयार्थ के राजा इन्द्र का लोकपाल है। इन्द्र ने तेरे बाबा माली को मारकर लंका छीन ली थी और इस कुवेर को वहाँ का लोकपाल बना दिया है। जब से लंका गई है, तब से तेरे पिता और मुझे रात में नींद नहीं आती है। माता के वचन सुनकर रावण ने माता को धैर्य बंधाया और कहा—मां! मैं जल्दी ही विजयार्ध के विद्याधरों को हराकर लंका पर अधिकार करूँगा। तू शोक और चिन्ता छोड़ दे।

इसके पश्चात् तीनों भाई वहाँ से भीम नामक वन में जाकर घोर तपस्या करने लगे। कुछ ही समय में रावण को एक हजार विद्यायें सिद्ध हो गई, कुम्भकर्ण को पांच और विभीषण को चार विद्यायें सिद्ध हो गईं। इसके बाद रावण ने पुनः तपस्या की और चन्द्रहास नामक तलवार प्राप्त हुई। विद्या-सिद्धि के समाचार जानकर सारे कुटुम्बी वहाँ आ गये और बड़ा हर्ष मनाने लगे।

एक दिन असुरसंगीतनगर का दैत्य नरेश मय अपनी पुत्री मन्दोदरी को लेकर वहाँ आया। उसके साथ में मारीच आदि उसके मंत्री भी थे। मन्दोदरी अत्यन्त सुन्दरी गुणवती कन्या थी। राजा मय ने अपनी उस कन्या का विवाह रावण के साथ धूमधाम से कर दिया।

इसके बाद रावण ने पद्मश्री, अशोकलता, विद्युत्प्रभा आदि अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह किये

मन्दोदरी उन सव रानियों में मुख्य पटरानी रही। कुम्भकर्ण जिसका दूसरा नाम भानुकर्ण था-का विवाह तडिन्माला के साथ और विभीषण का विवाह राजीव सरसी नामक राजकन्या के साथ हो गया। यथासमय मन्दोदरी के दो पुत्र हुए—इन्द्रजीत और मेघवाहन।

रावण का इन्द्र के साथ युद्ध

अव रावण की कुवेर से छेड़खानी शुरू हो गई। कुम्भकर्ण ने कुवेर की प्रजा लूट ली। कुवेर ने सुमाली के पास दूत भेज कर कहलवाया कि पहले तुम्हारा भाई मारा गया था। यदि तुमने अपने नातियों की उद्दण्डता को नहीं रोका तो तुम सवका वध निश्चित है। यह सुनकर रावण ने दूत को फटकार कर और अपमानित कर निकाल दिया। दूत ने जाकर कुवेर को सारे समाचार वताये। अत: क्रुद्ध होकर कुवेर ने अपनी सेना सजाकर रणभेरी वजा दी। रावण भी राक्षसवंशी और वानरवंशी सेनाओं को लेकर जा डटा। मुंज नामक पर्वत पर दोनों सेनाओं का घोर युद्ध हुआ। इस युद्ध में रावण ने कुवेर पर वज्रदण्ड का प्रहार किया, जिससे वह मूर्छित हो गया और उसकी सेना भाग खड़ी हुई। रावण ने कुवेर के पुष्पक विमान पर अधिकार कर लिया।

अव रावण ने दक्षिण के राज्यों को जीतना प्रारम्भ किया। वह रुका नहीं; वढ़ता ही गया। तभी समाचार मिला कि वानरवंशी यक्षराज और सूर्यरज ने अपनी किष्कु नगरी लेने के उद्देश्य से वानर द्वीप लूट लिया। यह समाचार सुनकर इन्द्र का भयंकर लोकपाल यम उनसे युद्ध करने आया। उसने युद्ध में यक्षरज को वन्दी वना लिया और सूर्यरज को मूर्छित कर दिया है। सारी वानर सेना का यम ने निर्दयतापूर्वक विध्वंस करना प्रारम्भ कर दिया। वहुत से वानरवंशी मारे गये और वहुत से वानर वन्दी वना लिये गये।

'यम ने अपने यहाँ नरक जैसी व्यवस्था कर रक्खी है। वहाँ वह वन्दी वानरों को निर्मम पीड़ा दे रहा है। अव आप की ही शरण है।' यह सुनकर रावण सेना सहित किष्कुपुर पहुँचा। वहाँ उसका यम के साथ भयंकर युद्ध हुआ। यम पराजित होकर भाग गया और इन्द्र के पास रथनूपुर जा पहुँचा। रावण ने वन्दी वानरों को मुक्त किया और यक्षरज को किष्कुपुर का राज्य दिया तथा सूर्यरज को किष्किन्धापुर का राज्य दिया। अपना गया हुआ राज्य पाकर वानरवंशी वहुत प्रसन्न हुए और सुखपूर्वक रहने लगे। रावण तव राक्षसवंशियों को लेकर समुद्र तट पर पहुँचा और वड़े उल्लास और समारोह के साथ लंका में प्रवेश किया।

इसी वीच एक घटना और हो गई। रावण लंका से वाहर गया हुआ था। तभी अलंकारपुर के राजा खरदूषण ने—जो मेघप्रभ का पुत्र था, लंका में आकर रावण की वहन सुन्दरी चन्द्रनखा को हर लिया। कुम्भकर्ण और विभीषण ने उसका प्रतिरोध भी किया, किन्तु वे उसे छुड़ा नहीं सके। खरदूषण वड़ा वलवान था। जव रावण लौटा और उसने यह समाचार सुना तो वह वड़ा क्रोधित हुआ और खरदूषण से युद्ध करने को तैयार हो गया। तव उसकी पटरानी मन्दोदरी ने उसे समझाया—'कन्या तो पराये घर की होती है। खरदूषण ने चन्द्रनखा का अपहरण कर लिया तो क्या वात हो गई। अपहृत कन्या को एक तो कोई लेगा नहीं। दूसरे खरदूषण योग्य पात्र है। वह चौदह हजार विद्याधरों का राजा है। अनेक विद्यायें उसे सिद्ध हैं। वह समय पड़ने पर आपकी सहायता भी कर सकता है। फिर पता नहीं, युद्ध में किसकी जीत हो।" इस प्रकार समझाने से रावण भी युद्ध से विरत हो गया।

अव उसने इन्द्र को जीतने के लिये कूंच किया। चक्ररत्न उसके पास था, जिसकी रक्षा एक हजार देव करते थे। अनेक राजा और विशाल फौज उसके साथ थी। चलते चलते विन्ध्याचल पर नर्मदा के तट पर सेना ने पड़ाव डाला। प्रातःकाल नदी की वालू इकट्ठी करके उस पर जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा विराजमान करके रावण भक्ति से पूजा करने लगा। जहाँ रावण पूजा कर रहा था, उससे ऊपर की ओर नदी का जल वांधकर माहिष्मती का राजा सहस्त्ररश्मि अपनी स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था। जव क्रीड़ा कर चुका तो उसने वांध का पानी छोड़ दिया। पानी के पूर से रावण की पूजा में वड़ा विघ्न पड़ा। वह क्रोधित होकर वोला कि यह क्या गड़वड़ है। कुछ लोगों ने आगे जाकर पता लगाया और आकर रावण से निवेदन किया—'महाराज ! माहिष्मती नरेश सहस्त्ररश्मि अपनी रानियों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहा था। उसने यह पानी छोड़ा है। यह सुनकर

रावण ने क्रोध में भर कर उस पर आक्रमण करने का आदेश दे दिया। सहस्ररश्मि भी युद्ध के लिए तैयार हो गया। दोनों ओर से युद्ध हुआ। अन्त में रावण ने उसे कौशल से नागपाश से बाँध लिया। जब यह बात सहस्ररश्मि के पिता बाहुरथ को—जो चारण ऋद्धिधारी तपस्वी मुनि थे—ज्ञात हुई तो उन्होंने रावण को समझाया। फलतः रावण ने सहस्ररश्मि को सम्मानपूर्वक छोड़ दिया और उसके साथ बन्धुत्व भाव प्रगट किया। किन्तु सहस्ररश्मि अपमान से दुखित होकर दिगम्बर मुनि बन गया।

तत्पश्चात् रावण आगे बढ़ा। मार्ग में उसने अनेक मन्दिरों का निर्माण कराया, पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया। मार्ग में जो राजा पड़े, उन्हें जीतता हुआ उत्तर दिशा की ओर बढ़ा।

रावण अब इन्द्र के नगर की ओर बढ़ने लगा। किन्तु मार्ग में दुर्लंघ्यपुर नगर ने उसका अवरोध किया। इन्द्र ने विजयार्ध के मार्ग में रक्षा के लिए इस नगर में नलकुवेर को नियुक्त कर रखा था। नलकुवेर ने नगर के चारों ओर अभेद्य कोट बना रक्खा था तथा उसके द्वारों का पता नहीं चलता था। गुप्त द्वार बनाये हुए थे। कोट पर किसी शस्त्र का प्रभाव नहीं पड़ता था। रावण यह देखकर अत्यन्त चिन्तित हो गया। किन्तु नलकुवेर की स्त्री रम्भा ने ही कामासक्त होकर कोट को विजय करने की विद्या रावण को बता दी और रावण ने उसे सहज ही जीत लिया।

जब इन्द्र को ज्ञात हुआ कि रावण अत्यन्त निकट आ गया तो वह देव सेना लेकर मोर्चे पर आ डटा। दोनों ओर से भयानक युद्ध हुआ। वीर प्राणों का मोह छोड़कर युद्ध करने लगे। इस युद्ध में इन्द्र के पुत्र जयन्त ने राक्षसवंशी माल्यवान के पुत्र श्रीमाली को मार डाला। इन्द्र के लोकपालों को कुम्भकर्णादि वीरों ने नागपाश से बाँध लिया। तब इन्द्र और रावण में शस्त्रास्त्रों और विद्याओं से भयानक युद्ध हुआ। दोनों ही वीर थे। दोनों ने एक दूसरे के शस्त्रास्त्र और विद्यायें बेकार कर दिये। एक दिन युद्ध करते हुए रावण बड़ी फुर्ती से अपने त्रैलोक्य-मण्डन हाथी से उछलकर इन्द्र के ऐरावत हाथी पर पहुँच गया और इन्द्र जब तक सम्हले, तब तक रावण ने उसे नागपाश में बांध लिया। देव सेना पराजित होकर भाग गई। रावण की जय-जयकार होने लगी। रावण ने माली और श्रीमाली की मृत्यु का बदला चुका दिया।

रावण विजयार्ध की दोनों श्रेणियों को जीत कर मार्ग के सारे राजाओं को जीतता हुआ लंका लौटा। वहाँ आकर उसने इन्द्र, सोम, यम आदि को कारागार में डाल दिया। तब इन्द्र का पिता राजा सहस्रार प्रजा के अनुरोध को मानकर रावण के पास आया और इन्द्र को छोड़ देने का आग्रह किया। रावण ने सहस्रार का यथोचित सम्मान किया और हाथ जोड़कर बोला—आप जो आज्ञा देंगे वही होगा। और लोकपालों से विनोद में हँसते हुए बोला—इन्द्र जब मेरा दास बनकर गाँव के गधों की रखवाली करेगा, तब मैं उसे छोड़ दूँगा। इसके अतिरिक्त वायु मेरे यहाँ झाड़ू दे, यम पानी भरे, कुवेर मेरे हार की रक्षा करे, अग्नि रसोई बनावे तथा देवगण घड़ों में पानी भरकर लंका के बाजारों में छिड़काव करें तो मैं सबको छोड़ दूँगा, अन्यथा नहीं।

यह विनोद बड़ा मर्मभेदी था। लोकपाल सुनकर लज्जा से अवनत मुख हो गये। तब रावण ने सबको मुक्त कर दिया और स्नान भोजन कराके इन्द्र से बोला—आज से तुम मेरे चौथे भाई हो। तुम यहाँ लंका में रहकर राज्य करो और मैं रथनूपुर चला जाऊँगा। फिर सहस्रार से बोले—आप हमारे पिता तुल्य हैं। इन्द्र मेरा चौथा भाई है। इसका इन्द्र पद और लोकपालों का पद यथापूर्व रहेगा। दोनों श्रेणियों पर इसका ही अधिकार रहेगा। यदि यह और भी राज्य चाहे तो ले ले। आप चाहे यहाँ विराजें या रथनूपुर, दोनों आपकी ही हैं।

इन वचनों से सहस्रार अत्यन्त सन्तुष्ट हो इन्द्र आदि सहित वहां से चलकर रथनूपुर आये। किन्तु मान भंग के कारण इन्द्र और लोकपालों का मन व्यथा से भर गया था। उनका मन किसी काम में न लगता था। इन्द्र निरन्तर संसार के स्वरूप और संपत्ति की क्षणभंगुरता के चिन्तन में डूबा रहता। अन्त में एक दिन वह पुत्र को राज्य-भार देकर लोकपालों और अनेक राजाओं के साथ दिगम्वर मुनि बन गया और घोर तपस्या करके संसार से मुक्त हो गया।

रावण को चक्ररत्न तो पहले ही प्राप्त हो चुका था। अब उसने दिग्विजय करना प्रारम्भ किया। वह प्रभंजन के वेग से चला। राजा लोग उपहार देकर उसका स्वागत करते और उसकी आधीनता स्वीकार कर लेते थे। किन्तु जो उसकी आधीनता स्वीकार नहीं करते थे, उनको वह पराजित करके कठोर दण्ड देता था। इस प्रकार अठारह वर्ष में उसने भरत-क्षेत्र के तीनों खण्डों को जीत लिया और अर्धचक्री बनकर वह लंका में रहकर शासन करने लगा।

रावण के चरित्र का एक उज्ज्वल पहलू

रावण चरित्रनिष्ठ धार्मिक व्यक्ति था। वह परस्त्री की मन में भी कभी वाँछा नहीं करता था। जब वह इन्द्र को जीतने चला और इन्द्र द्वारा नियुक्त राजा नलकुवेर के नगर दुर्लंघ्यपुर पहुँचा तो वहाँ मायामय कोट को नहीं जीत पाया। उसने अनेक प्रयत्न किये, नाना उपाय किये। किन्तु नाम के अनुरूप दुर्लंघ्यपुर दुर्लंघ्य ही रहा। इस प्रकार उसे वहाँ पड़े पड़े छः माह हो गये। वह बड़ा चिन्तातुर हो गया —यों कब तक यहाँ पड़ा रहा जा सकता है और बिना इसे जीते आगे भी कैसे बढ़ा जा सकता है। पीछे लौटना रावण के स्वभाव के विरुद्ध था।

रावण की कीर्ति का सौरभ नलकुवेर की पटरानी रम्भा के कानों में भी पड़ा। वह अपने स्वयंवर के समय से ही रावण में अनुरक्त थी, किन्तु स्वयंवर के समय रावण पहुँच नहीं पाया था, अतः मजबूरन रम्भा ने नलकुवेर के गले में वरमाला डाल दी थी। किन्तु अब रावण को अपने निकट आया जानकर उसका सुप्त प्रेम पुनः जाग उठा। उसने अपने मन की बात अपनी सखी और दासी चित्रला से कही और उससे यह भी कह दिया कि अगर तू मुझे जीवित देखना चाहती है तो कोई उपाय कर, जिससे मैं रावण से मिल सकूँ। चित्रला उसे आश्वासन देकर गुप्त मार्ग से रावण के कटक में पहुँची और रावण से मिलकर उसने अपनी स्वामिनी का अभिप्राय निवेदन किया। रावण ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया—'भद्रे ! मैं परस्त्री से कभी समागम नहीं करता। यह बड़ा निंद्य कर्म है।' चित्रला निराश होकर वापिस जाने लगी तो रावण के लघु भ्राता विभीषण ने जो उसका मन्त्री भी था, रावण को समझाया—'आर्य ! आपको थोड़ा असत्य बोलकर भी इस समय दासी की बात स्वीकार कर लेनी चाहिये। इससे रम्भा आपको कोट की चाबी दे देगी। रावण ने बड़े अनमने भाव से दासी को बुलाकर कह दिया—तू अपनी स्वामिनी से जाकर कह देना कि मैं उनसे अवश्य मिलूँगा, किन्तु चोरों की तरह नहीं। जब मैं नगर में पहुँचूँगा, तब मिलूँगा।

दासी प्रसन्न होकर लौट गई और जाकर रम्भा को सब बातें बता दीं। रम्भा अत्यन्त कामासक्त हो उठी और उसने शालिका नाम की विद्या रावण के पास भेज दी, जिसके द्वारा रावण नगर के भीतर पहुँच गया और नलकुवेर को बन्दी बना लिया।

जब नलकुवेर को राजसभा में रावण के समक्ष उपस्थित किया गया तो रावण ने रम्भा को भी बुलाया। रम्भा पुलकित होकर आशा संजोये रावण के निकट पहुँची तो रावण ने कहा—'माता !' इस अप्रत्याशित सम्बोधन पर रम्भा चौंकी तो रावण बोला— तुमने मुझे विद्या दी है, अतः तुम मेरी गुरुआणी हो। और गुरुआणी माता के समान होती है। पर पुरुष की कामना करना महापाप है। तुम अपने पति नलकुवेर में अनुरक्त रहो। तुमने मुझे विद्या दी है, अतः मैं तुम्हारे लिये तुम्हारे पति को मुक्त करता हूँ।' यों कहकर उसने नलकुवेर को मुक्त कर दिया। रम्भा बड़ी लज्जित हुई।

यह रावण के महान् चरित्र का एक उज्वल पक्ष है, जिसको लोगों ने समझा नहीं या उपेक्षा की है।

बाली द्वारा रावण का पराभव

किष्किंधा नगर के वानरवंशी राजा सूर्यरज और उसकी रानी चन्द्रमालिनी के बाली नामक पुत्र हुआ। वह महा बलवान, धार्मिक था। उसके कुछ समय पश्चात् सुग्रीव नामक पुत्र और श्रीप्रभा नाम की कन्या उत्पन्न हुई। इसी प्रकार किष्कुपुर नगर के राजा ऋक्षरज और उसकी रानी हरिकान्ता के नल और नील नामक दो पुत्र हुए। सूर्यरज के पश्चात् बाली अपनी स्त्री ध्रुवा के साथ राज्य शासन करने लगा।

करूँगा। यह अभिमान की बात नहीं थी, बल्कि यह तो उसके धर्म का एक अनिवार्य अंग था। अतः वह रावण के राज्य दरबार में नहीं जाता था। क्योंकि वहाँ जाने पर रावण को नमस्कार करना पड़ता, न करता तो व्यर्थ में युद्ध होता। रावण ने समझा कि वाली मुझसे विमुख हो गया है। अतः उसने वाली के पास दूत भेजा। दूत ने आकर वाली से कहा--मेरे स्वामी रावण ने आपसे कहलवाया है कि हमने तुम्हारे पिता सूर्यरज को यम से छुड़ाकर किष्किधा का राज्य दिया था। तबसे हम दोनों में प्रेम चला आ रहा है। किन्तु तुम मुझसे विमुख हो गये हो। अतः तुम आकर मुझे नमस्कार करो और अपनी बहन श्रीप्रभा का विवाह मेरे साथ कर दो, जिससे हमारा प्रेम बना रहे, अन्यथा तुम युद्ध के लिए तैयार हो जाओ।

वाली ने दूत की बात स्वीकार नहीं की और युद्ध के लिए तैयार हो गया। किन्तु मंत्रियों ने उसे समझाया —'महाराज! व्यर्थ युद्ध करके क्यों हिंसा का पाप मोल लेते हो और फिर रावण बड़ा बलवान् है। वह अर्धचक्री है। उससे जीत पाना कठिन है।' किन्तु वाली बोला—'मैं रावण को चूर-चूर कर सकता हूँ।' फिर उसने सोचा—वास्तव में इस क्षणभंगुर राज्य के लिए युद्ध करना बुद्धिमानी नहीं है। और यों सोचकर वह राजपाट छोड़कर दिगम्बर मुनि हो गया और वनों में जाकर तपस्या करने लगा।

रावण को जब दूत ने आकर सब समाचार बताये तो वह क्रुद्ध हो उठा और चतुरंगिणी सेना सजाकर वाली का मानमर्दन करने किष्किधापुर आ पहुँचा। सुग्रीव ने—जो वाली के पश्चात् राजा हो गया था—रावण की अगवानी की और अपनी बहन श्रीप्रभा का विवाह रावण के साथ कर दिया तथा उसकी अनुमति से राज्य करने लगा।

एक बार रावण पुष्पक विमान में नित्यालोकपुर से लौटता हुआ लंका जा रहा था कि उसका विमान एकाएक रुक गया। तब उसने मारीच से कहा—देखो तो, मेरा विमान किसने रोक लिया है। मारीच ने नीचे जाकर देखा कि एक तपस्वी मुनिराज कैलाश पर्वत पर तपस्या कर रहे हैं। उन्हीं के प्रभाव से विमान रुक गया है। उसने यह बात रावण से जाकर कही। रावण मुनिराज के दर्शन करने नीचे उतरा किन्तु वहाँ वाली मुनि को तपस्या करते हुए देखकर उसका पुराना क्रोध उमड़ पड़ा और बोला—'अरे मुनि! तूने अब भी वैर नहीं छोड़ा जो मेरा विमान रोक लिया है। मैं तुझे अभी इसका दण्ड देता हूँ।' यों कहकर वह विद्या के बल से पर्वत के नीचे घुस गया और पर्वत को उठाने लगा। पर्वत पर रहने वाले पशु भयभीत होकर इधर-उधर भागने लगे। वृक्ष टूट-टूट कर गिरने लगे। देवपूजित जिन मन्दिर हिल उठे। तब मुनिराज ने अवधिज्ञान से जाना कि यह कुकृत्य दशानन का है। उसके इस कृत्य से भरत चक्रवर्ती द्वारा निर्मित विशाल मन्दिर भी नष्ट हो जायेंगे। मैं पुण्योपार्जन के कारणभूत इन मन्दिरों की रक्षा करूँगा।

यों सोचकर वाली मुनिराज ने पैर के अंगूठे से पर्वत को दबाया। उसके भार से दशानन पिचने लगा। उसके सारे अंग पीड़ा से सिकुड़ गये। वह भयानक पीड़ा के कारण इतना जोर से रोने लगा कि जगत में तबसे उसका नाम रावण विख्यात हो गया। उसके रोने का शब्द सुनकर उसकी रानियाँ आईं और मुनिराज के चरणों में गिरकर पति की प्राण-भिक्षा मांगने लगीं। तब मुनिराज ने दया करके अपना अंगूठा ढीला कर दिया। देवों ने पंचाश्चर्य की वर्षा की। रावण को भी बुद्धि आ गई और वह वाली के चरणों में गिर कर स्तुति करने लगा और क्षमा मांगने लगा।

इस काण्ड से लज्जित होकर रावण निकट के चैत्यालय में गया और भगवान की पूजा करने लगा। वह भगवान की भक्ति में इतना बेसुध हो गया कि अपनी भुजाओं से उसने आंतें निकालीं और उन्हें वीणा की तरह बजाकर भगवान की स्तुति पढ़ने लगा। रानियाँ नृत्य करने लगीं।

उसकी भक्ति से प्रभावित होकर नागकुमार देवों का इन्द्र धरणेन्द्र वहाँ आया और बोला—'मैं तेरी भक्ति से बड़ा प्रसन्न हूँ। तू कोई वर मांग।' रावण बोला—'नागेन्द्र! भगवान की भक्ति से बढ़कर और क्या चीज तुम्हारे पास है जो मैं मागूँ।' किन्तु धरणेन्द्र ने कहा—'मेरे दर्शन निष्फल न हों अतः मैं तुम्हें यह शक्ति देता हूँ। इससे देव और दानव तक पराजित हो जाते हैं।' यों कहकर उसने रावण को शक्ति प्रदान की। रावण एक महीने तक कैलाश पर्वत पर रहा। उसने अपने कृत्य का वहाँ रहकर प्रायश्चित्त किया और फिर लंका को लौट गया।

वाली मुनि ने कर्मों का नाश कर मुक्ति प्राप्त की।

ज्योतिपुर नरेश वह्निशिख की पुत्री सुतारा थी। वह बड़ी रूपवती थी। उसकी याचना चक्रपुर के राजकुमार साहसगति और सुग्रीव दोनों ने की थी। किन्तु वह्निशिख ने साहसगति को अल्पायु जानकर अपनी पुत्री का विवाह सुग्रीव के साथ कर दिया। उससे दो पुत्र उत्पन्न हुए—अंग और अंगद। किन्तु साहसगति के मन से सुतारा निकल नहीं सकी। वह उसे प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा करता रहा। इसके लिए वह रूप-परिवर्तिनी शेमुषी विद्या का साधन करने लगा।

एक बार रावण अपने परिवार के साथ सुमेरु पर्वत पर जिन मन्दिरों के दर्शनों के लिए गया हुआ था। वहाँ से लौटते हुए विभक्त पर्वत पर उसने अपार भीड़ देखी। पूछने पर मारीच से ज्ञात हुआ कि पर्वत पर अनन्त-वीर्य मुनि को आज ही केवलज्ञान हुआ है। यह सुनकर रावण बड़े भक्ति भाव से विमान से उतरा और केवली भगवान के दर्शन किये। भगवान का उपदेश सुनकर अनेक लोगों ने नियम व्रत लिए। उस समय किसी ने रावण से भी कहा कि आप भी इस समय कुछ व्रत लीजिये। रावण बोला—'मेरा मन सदा पापी रहता है अतः मैं कोई व्रत नहीं ले सकता। फिर भी मैं एक व्रत लेना चाहता हूँ कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी, मैं उसके साथ बलात्कार नहीं करूँगा।' यह कह कर उसने गुरु से यह व्रत ले लिया। कुम्भकर्ण और विभीषण ने गृहस्थ के व्रत लिए।

रावण द्वारा व्रत-ग्रहण

विजयार्ध की दक्षिण श्रेणी में आदित्यपुर नाम का एक नगर था। वहाँ के राजा प्रह्लाद और रानी केतुमती थी। उनके पवनकुमार नाम का एक पुत्र था। एक बार राजा प्रह्लाद अपने परिवार सहित कैलाश पर्वत पर तीर्थ-वन्दना को गये। उसी समय महेन्द्रपुर के राजा महेन्द्र अपनी रानी मनोवेगा के साथ तीर्थयात्रा को आये। दोनों राजाओं में परस्पर परिचय और मित्रता हो गई। राजा महेन्द्र ने प्रह्लाद से निवेदन किया कि मेरे अंजना नाम की एक कन्या है। मेरा विचार आपके पुत्र पवनकुमार के साथ उसका सम्बन्ध करने का है। राजा प्रह्लाद ने भी प्रसन्नतापूर्वक इस सम्बन्ध की स्वीकृति दे दी और सम्बन्ध पक्का कर दिया। दोनों ओर से विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

हनुमान का जन्म

इसी बीच पवनकुमार ने भी अंजना के रूप सौन्दर्य की प्रशंसा सुनी। वह उसे देखने को व्याकुल हो गया और अपने मित्र प्रहस्त से बोला—मित्र! यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहते हो तो मुझे अंजना को एक बार दिखा दो। प्रहस्त ने वाद-विवाद के बाद अंजना को उसी रात को दिखाना स्वीकार कर लिया।

रात्रि को विमान में बैठकर दोनों मित्र महेन्द्रपुर नगर में अंजना के महल पर उतरे और सातवीं मंजिल पर झरोखे में से उन्होंने अंजना को देखा। उसके अनिंद्य सौंदर्य को देखकर पवनकुमार प्रसन्न हो गया। उस समय अंजना सखियों से घिरी बैठी थी और सखियाँ उससे विनोद कर रही थीं। कोई पवनकुमार के रूप-गुणों की प्रशंसा कर रही थी, तभी मिश्रकेशी नाम की सखी ने पवनकुमार की निन्दा की। अंजना लज्जावश मौन बैठी रही। पवनकुमार ने अपनी निन्दा सुनी तो वह बड़ा क्रोधित होकर अंजना को मारने उठा—क्यों उसने मेरी निन्दा सुन ली। वह अवश्य पर पुरुष में आसक्त है। किन्तु प्रहस्त ने उसे समझा बुझाकर शान्त किया। किन्तु अंजना के प्रति दुर्भाव

लिया। तब रावण ने सब आधीन राजाओं को सेना लेकर आने का निमन्त्रण भेजा। प्रह्लाद के पास भी निमन्त्रण-पत्र आया। वह जब सेना लेकर जाने लगा तो पवनकुमार अपने पिता को रोककर बोला—युवक पुत्र के होते हुए वृद्ध पिता का युद्ध के लिए जाना उचित नहीं है। और सेना लेकर चल दिया। चलते समय अंजना द्वार पर खंभे के सहारे खड़ी थी। किन्तु पवनकुमार ने उसकी ओर देखा तक नहीं और वहाँ से चल दिया।

वहाँ से चल कर वह मानसरोवर पहुँचा और उसके तट पर ही पड़ाव डाल दिया। सन्ध्या के समय वह अपने मित्र के साथ तट पर बैठा हुआ था। उसने देखा कि एक चकवी अत्यन्त दुखी हो रही है। उसने मित्र से इसका कारण पूछा। मित्र बोला—यह रात्रि में पति-वियोग के कारण दुखी है। यह सुनते ही पवनकुमार सोचने लगा—एक पक्षी केवल रात्रि भर के लिए अपने पति के वियोग में इतनी दुखी है, तो अंजना मेरे वियोग में कितनी दुखी होगी जिसे मैंने बाईस वर्ष से त्याग दिया है।

यह विचार आते ही मित्र से बोला—मित्र ! मैं अंजना के वियोग को अब एक पल भर के लिए भी सह नहीं सकता। यदि तुम मेरा जीवन चाहते हो तो मुझे अंजना से मिला दो। मित्र ने उसे बहुत समझाया कि इस समय जाने से लोक में बड़ी हँसी होगी। किन्तु वह अपने आतुर स्वभाव के कारण जिद पर अड़ गया। आखिर प्रहस्त रात्रि होने पर गुप्त रूप से उसे विमान पर लेचला और वे शीघ्र ही अंजना के महल पर जा उतरे। प्रहस्त ने अन्दर जाकर अंजना को पवनकुमार के आने की सूचना दी। अंजना और पवनकुमार बड़े प्रेम से मिले। और पवनकुमार रातभर उसके पास रहे। प्रातः जब पवनकुमार जाने लगे तो अंजना हाथ जोड़ कर बोली—नाथ ! मैं अभी ऋतुमती होकर चुकी हूँ। संभव है, मुझे गर्भ रह जाय। अब तक आप मुझसे बोलते नहीं थे। ऐसी दशा में लोग मेरा अपवाद करेंगे। पवनकुमार बोला—'देवि ! चिन्ता मत करो। तुम्हारे गर्भ प्रकट होने से पहले ही मैं यहाँ लौट आऊँगा। फिर भी मैं अपने नाम की यह मुद्रिका दिये जाता हूँ। उससे अपवाद का अवसर नहीं आयेगा।' यों कहकर और मुद्रिका देकर वह अपने मित्र के साथ वहाँ से जैसे गुप्त रूप से आया था, वैसे ही गुप्त रूप से चला गया।

कुछ दिनों में अंजना के गर्भ प्रकट होने लगा। उधर युद्ध लम्बा खिंच जाने से पवनकुमार जल्दी नहीं लौट सका। अंजना के यह गर्भ देखकर उसकी सास केतुमती को संदेह हुआ। उसने अंजना से पूछा तो अंजना ने रात में पवनकुमार के आने की सारी घटना बतादी और उसके प्रमाण में उसने अपने पति द्वारा दी हुई मुद्रिका भी दिखाई। किन्तु केतुमती को विश्वास नहीं हुआ कि उसका पुत्र जिससे बाईस वर्षों तक बोला तक नहीं, उससे मिलने वह चोरी से रात में छिपकर क्यों आवेगा। अवश्य यह इस दुश्चरित्र स्त्री का पापाचार है। अंजना ने अपनी दासी वसन्तमाला की भी साक्षी दिलाई। किन्तु केतुमती का संदेह बढ़ता ही गया। उसने क्रोध में भर कर गर्भवती अंजना को कमर

बाईस घड़ी की भूल
बाईस वर्ष का दुःख

राजा सुकंठ के दो रानियाँ थीं—हेमोदरी और लक्ष्मी। लक्ष्मी भगवान की पूजा-उपासना में लगी रहती। एक दिन सौतिया डाह से हेमोदरी ने भगवान की प्रतिमा छुपा दी। लक्ष्मी दूसरे दिन प्रतिमा को न देखकर बड़ी दुखी हुई। उसने आहार-जल का त्याग कर दिया। संयोगवश संयमश्री नामक एक आर्यिका महल में पधारी और लक्ष्मी के मुख से भगवान की प्रतिमा की चोरी की बात सुनकर वे सीधी हेमोदरी के पास पहुँचीं। हेमोदरी ने आर्यिका को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और उत्तम आसन पर बैठाया। तब आर्यिका बोली—पूर्व पुण्य से तुझे राजसंपदा और वैभव मिला। तू इस जन्म में भी धर्म कर। तूने द्वेषवश भगवान की प्रतिमा छुपा दी है, वह दे दे। प्रतिमा चुराने जैसा पाप संसार में दूसरा नहीं है। इससे नरक गति में जाना पड़ता है। हेमोदरी यह सुनकर भयभीत हो गई और उसने प्रतिमा लाकर दे दी, बड़ा प्रायश्चित्त किया, पूजा और प्रभावना की।

हेमोदरी ने केवल बाईस घड़ी तक भगवान की प्रतिमा को छिपाये रखा था। उसका यह फल भोगना पड़ा कि उसे अंजना के जन्म में बाईस वर्ष तक पति का वियोग सहना पड़ा।

लिया। तब रावण ने सब आधीन राजाओं को सेना लेकर आने का निमन्त्रण भेजा। प्रह्लाद के पास भी निमन्त्रण-पत्र आया। वह जब सेना लेकर जाने लगा तो पवनकुमार अपने पिता को रोककर बोला—युवक पुत्र के होते हुए वृद्ध पिता का युद्ध के लिए जाना उचित नहीं है। और सेना लेकर चल दिया। चलते समय अंजना द्वार पर खंभे के सहारे खड़ी थी। किन्तु पवनकुमार ने उसकी ओर देखा तक नहीं और वहाँ से चल दिया।

वहाँ से चल कर वह मानसरोवर पहुँचा और उसके तट पर ही पड़ाव डाल दिया। सन्ध्या के समय वह अपने मित्र के साथ तट पर बैठा हुआ था। उसने देखा कि एक चकवी अत्यन्त दुखी हो रही है। उसने मित्र से इसका कारण पूछा। मित्र बोला—यह रात्रि में पति-वियोग के कारण दुखी है। यह सुनते ही पवनकुमार सोचने लगा—एक पक्षी केवल रात्रि भर के लिए अपने पति के वियोग में इतनी दुखी है, तो अंजना मेरे वियोग में कितनी दुखी होगी जिसे मैंने बाईस वर्ष से त्याग दिया है।

यह विचार आते ही मित्र से बोला—मित्र! मैं अंजना के वियोग को अब एक पल भर के लिए भी सह नहीं सकता। यदि तुम मेरा जीवन चाहते हो तो मुझे अंजना से मिला दो। मित्र ने उसे बहुत समझाया कि इस समय जाने से लोक में बड़ी हँसी होगी। किन्तु वह अपने आतुर स्वभाव के कारण जिद पर अड़ गया। आखिर प्रहस्त रात्रि होने पर गुप्त रूप से उसे विमान पर लेचला और वे शीघ्र ही अंजना के महल पर जा उतरे। प्रहस्त ने अन्दर जाकर अंजना को पवनकुमार के आने की सूचना दी। अंजना और पवनकुमार बड़े प्रेम से मिले। और पवनकुमार रातभर उसके पास रहे। प्रातः जब पवनकुमार जाने लगे तो अंजना हाथ जोड़ कर बोली—नाथ! मैं अभी ऋतुमती होकर चुकी हूँ। संभव है, मुझे गर्भ रह जाय। अब तक आप मुझसे बोलते नहीं थे। ऐसी दशा में लोग मेरा अपवाद करेंगे। पवनकुमार बोला—'देवि! चिन्ता मत करो। तुम्हारे गर्भ प्रकट होने से पहले ही मैं यहाँ लौट आऊँगा। फिर भी मैं अपने नाम की यह मुद्रिका दिये जाता हूँ। उससे अपवाद का अवसर नहीं आयेगा।' यों कहकर और मुद्रिका देकर वह अपने मित्र के साथ वहाँ से जैसे गुप्त रूप से आया था, वैसे ही गुप्त रूप से चला गया।

कुछ दिनों में अंजना के गर्भ प्रकट होने लगा। उधर युद्ध लम्बा खिच जाने से पवनकुमार जल्दी नहीं लौट सका। अंजना के यह गर्भ देखकर उसकी सास केतुमती को संदेह हुआ। उसने अंजना से पूछा तो अंजना ने रात में पवनकुमार के आने की सारी घटना बतादी और उसके प्रमाण में उसने अपने पति द्वारा दी हुई मुद्रिका भी दिखाई। किन्तु केतुमती को विश्वास नहीं हुआ कि उसका पुत्र जिससे बाईस वर्षों तक बोला तक नहीं, उससे मिलने वह चोरी से रात में छिपकर क्यों आवेगा। अवश्य यह इस दुश्चरित्र स्त्री का पापाचार है। अंजना ने अपनी दासी वसन्तमाला की भी साक्षी दिलाई। किन्तु केतुमती का संदेह बढ़ता ही गया। उसने क्रोध में भर कर गर्भवती अंजना को कमर

बाईस घड़ी की भूल
बाईस वर्ष का दुःख

राजा मुकंठ के दो रानियाँ थीं—हेमोदरी और लक्ष्मी। लक्ष्मी भगवान की पूजा-उपासना में लगी रहती। एक दिन सौतिया डाह से हेमोदरी ने भगवान की प्रतिमा छुपा दी। लक्ष्मी दूसरे दिन प्रतिमा को न देखकर बड़ी दुखी हुई। उसने आहार-जल का त्याग कर दिया। संयोगवश संयमश्री नामक एक आर्यिका महल में पधारी और लक्ष्मी के मुख से भगवान की प्रतिमा की चोरी की बात सुनकर वे सीधी हेमोदरी के पास पहुँचीं। हेमोदरी ने आर्यिका को भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और उत्तम आसन पर बैठाया। तब आर्यिका बोली—पूर्व पुण्य से तुझे राजसंपदा और वैभव मिला। तू इस जन्म में भी धर्म कर। तूने द्वेषवश भगवान की प्रतिमा छुपा दी है, वह दे दे। प्रतिमा चुराने जैसा पाप संसार में दूसरा नहीं है। इससे नरक गति में जाना पड़ता है। हेमोदरी यह सुनकर भयभीत हो गई और उसने प्रतिमा लाकर दे दी, बड़ा प्रायश्चित्त किया, पूजा और प्रभावना की।

हेमोदरी ने केवल बाईस घड़ी तक भगवान की प्रतिमा को छिपाये रखा था। उसका यह फल भोगना पड़ा कि उसे अंजना के जन्म में बाईस वर्ष तक पति का वियोग सहना पड़ा।

में जोर से लात मारी और क्रोध में भर कर उसे आदेश दिया कि तू इसी वक्त मेरे घर से निकल जा और अपना मुंह कहाँ जाकर काला कर। राजा प्रह्लाद ने अपनी स्त्री की इस राय से सहमति दिखाई। केतुमती ने अंजना के साथ बसन्तमाला को भी घर से निकाल दिया।

वहाँ से निकल कर दोनों निरपराधिनी अवलायें अपने कर्मों को दोष देती हुई और लोकनिन्दा और लोक-उपहास का भार ढोती हुई चल दीं। चलते-चलते उनकी दशा बुरी हो गई। वे अन्त में अपने पिता महेन्द्र के महलों पर पहुँचीं। द्वारपाल ने उनसे सारा समाचार ज्ञात कर महाराज को समाचार दिया। किन्तु जब राजा को यह ज्ञात हुआ कि कुकर्म के कारण अंजना को उसके घर से निकाल दिया है तो उन्होंने भी अपने घर में स्थान देने से इनकार कर दिया। वहाँ से निराश होकर अंजना अपने परिवारी और सम्बन्धियों के द्वार पर भी गई। किन्तु उसे किसी ने आश्रय नहीं दिया।

सब ओर से निराश होकर अंजना अपनी सखी के साथ वन को चलदी। राह में उसे अपार कष्ट हुए। वह दुःख से बार बार विलाप करने लगती, किन्तु सखी उसे धीरज बंधाती। यों चलते चलते वे एक पर्वत की गुफा के निकट पहुँचीं। वहाँ उन्होंने एक मुनि को ध्यान लगाये बैठे देखा। मुनि को देख कर दोनों को सन्तोष हुआ। उन्होंने मुनि को नमस्कार किया। मुनि महाराज ने उन्हें आशीर्वाद दिया और उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा 'पुत्री! तू दुःख मत कर। तेरा पुत्र लोकपूज्य होगा और पति से भी शीघ्र ही तेरा मिलन होगा।'

मुनि वहाँ से अन्यत्र चले गये और दोनों सखी उस गुफा में रहने लगीं तथा जंगल के फलों और झरने के जल से अपना निर्वाह करने लगीं। एक दिन एक भयानक सिंह आया और गुफा के द्वार पर भयंकर गर्जना करने लगा। अंजना उसे सुनकर अत्यन्त भयभीत हो गई। तब उसके शील और पुण्य के प्रभाव से एक देव ने अष्टापद का रूप धारण कर सिंह को भगा दिया।

नौ मास पूर्ण होने पर अंजना के पुत्र हुआ। पुत्र महनीय पुण्य का अधिकारी था। उसके तेज से गुफा में प्रकाश हो गया। अंजना पुत्र का मुख देख कर एक बार तो अपने सारे दुःखों को भूल गई। दोनों सखियां बड़े दुलार से उसका पालन करने लगीं। धीरे-धीरे वह लोकोत्तर पुत्र चन्द्रमा की तरह बढ़ने लगा।

एक दिन बसन्तमाला ने आकाश में एक विमान देखा। उसे देखकर अंजना भयभीत हो गई - कहीं कोई शत्रु मेरे पुत्र को मारने तो नहीं आया। इस आशंका से वह विलाप करने लगी। उसके विलाप का स्वर सुन कर विद्याधर ने विमान नीचे उतारा और अपनी स्त्रियों सहित वह दोनों सखियों के पास गया। वहाँ जाकर उसने उनका परिचय पूछा। वसन्तमाला ने सारी घटना सुनाकर परिचय दिया। परिचय सुनकर वह विद्याधर बोला— अरे यह अंजना तो मेरी भानजी है। बहुत दिन से इसे नहीं देखा था। अतः मैं इसे पहचान नहीं सका। मेरा नाम प्रतिसूर्य है। मैं हनुरुह द्वीप का रहने वाला हूँ। फिर अंजना को उसने उसके बचपन की अनेक घटनाएं सुनाकर सान्त्वना दी। और बालक के लग्न देखकर बोला—बालक का जन्म चैत्र कृष्णा अष्टमी को रात्रि के पिछले प्रहर में श्रवण नक्षत्र में हुआ है। अतः यह सुखी और पराक्रमी होगा।' फिर वह विमान में बैठा कर सबको ले चला।

नाम हनुमान रक्खा गया। वालक वहाँ रहकर धीरे धीरे वड़ा होने लगा।

उधर रावण के पास पवनकुमार अपनी सेना के साथ पहुँचा और वरुण से भयानक युद्ध हुआ। युद्ध में पवनकुमार ने वड़ी वीरता दिखाई। उसने वरुण को वन्दी कर लिया। वरुण को अन्त में खरदूषण को छोड़कर रावण के साथ सन्धि करनी पड़ी।

युद्ध समाप्त होने पर प्रशंसा और सम्मान पाकर पवनकुमार अपने नगर की ओर लौटा। अव उसे अपनी प्राणप्रिया की याद सताने लगी। नगर में पहुँचने पर अपने विजयी राजकुमार का नगरवासियों ने हार्दिक स्वागत किया। उसे तो अंजना से मिलने की शीघ्रता थी, वह स्वागत-सत्कार से निवट कर सीधा अंजना के महल में पहुँचा। किन्तु महल को सूना पाकर वह व्याकुल हो गया। वह सारे कक्षों में अंजना का नाम लेता हुआ फिरने लगा। उसने दास दासियों से अंजना के वारे में पूछा, किन्तु सव नीचा सिर किये चुप हो गये। उसके मित्र प्रहस्त ने अंजना के वारे में सब बातें पता लगाकर पवन से कहीं। तत्काल दोनों मित्र विमान से महेन्द्रपुर आये। वहाँ भी अंजना को न पाकर वह वहाँ से उसे ढूँढने चल दिया। प्रहस्त को उसने समाचार देने के लिए आदित्यपुर भेज दिया और स्वयं वनों में ढूँढने लगा। वह अंजना के वियोग में विलकुल विक्षिप्त हो गया, न उसे खाने की सुध रही, न जल की चिन्ता। वह अंजना-अंजना चिल्लाता फिरता था।

उसके पिता प्रल्हाद पुत्र के समाचार सुनकर अत्यन्त चिन्तित हो गये। उन्होंने चारों ओर अंजना और पवनकुमार को ढूँढने अपने आदमी भेज दिये और स्वयं भी महेन्द्रपुर जाकर और महेन्द्र को लेकर ढूँढने चल दिये। जव प्रतिसूर्य के पास पवनकुमार के वारे में समाचार पहुँचे तो अंजना अत्यन्त व्याकुल होकर रोने लगी। प्रतिसूर्य ने उसे धैर्य बंधाकर कहा—वेटी! चिन्ता मत कर, मैं पवनकुमार को ढूँढकर आज ही यहाँ ले आऊँगा। यों कहकर वह कुमार को ढूँढने चल दिया। वह और राजा प्रह्लाद आदि ढूँढते-ढूँढते उसी वन में पहुँचे और पवनकुमार को पाकर वड़े प्रसन्न हुए। किन्तु पवनकुमार ने किसी से कोई वात नहीं की। वह चुपचाप वैठा रहा। तव प्रतिसूर्य ने उसे अंजना के सव समाचार सुनाये। फलतः पवनकुमार अत्यन्त आह्लादित होकर प्रतिसूर्य से गले मिला। सव लोग प्रसन्नतापूर्वक हनुरुह द्वीप आये और अंजना को पाकर सब लोग बड़े हर्षित हए। कुछ समय पश्चात् सव लोग लौट गये किन्तु पवनकुमार वहीं रह गये।

धीरे-धीरे हनुमान यौवनसम्पन्न हुए और उन्होंने अनेक विद्याओं का साधन किया। एक वार पुनः रावण का वरुण के साथ युद्ध हुआ। रावण का निमन्त्रण पाकर सभी राजा अपनी सेनाये लेकर रावण के पास पहुँचे। पवनकुमार और हनुमान भी गये। हनुमान के रूप और यौवन को देखकर रावण वड़ा प्रसन्न हुआ और वड़े प्रेम से हनुमान से मिला।

दोनों पक्षों में भयानक युद्ध हुआ। इस युद्ध में हनुमान ने असाधारण वीरता दिखाई। उन्होंने वरुण के सौ पुत्रों को अपनी लांगूल विद्या से वांध लिया और रावण ने वरुण को नागपाश से वांध लिया। इस प्रकार हनुमान के असाधारण शौर्य के कारण रावण की विजय हुई।

रावण ने प्रसन्न होकर अपनी वहन चन्द्रनखा की पुत्री अनंगकुसुमा का विवाह हनुमान के साथ कर दिया और कुण्डलपुर का राज्य देकर सव विद्याधरों का प्रमुख वना दिया। वाद में सुग्रीव और किन्नरपुर के राजा ने भी अपनी कन्याओं का विवाह हनुमान के साथ कर दिया।

श्री रामचन्द्र आदि का जन्म

एक दिन राजा दशरथ की रानी अपराजिता (कौशल्या) रात्रि में सुखपूर्वक सो रही थी। उसने रात्रि के पिछले पहर में चार स्वप्न देखे। वह उठी और अपने पति के पास जाकर और उनके चरणों में नमस्कार करके वोली—नाथ! मैंने आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वप्न

कुछ दिनों के बाद सुमित्रा ने भी रात्रि के पिछले प्रहर में पाँच स्वप्न देखे—सिंह, पर्वत पर रक्खा हुआ सिंहासन, गम्भीर समुद्र, उगता हुआ सूर्य और मांगलिक चक्ररत्न। रानी ने उठकर पति से स्वप्नों का फल पूछा तो राजा ने बताया—देवि ! तुम्हारे गर्भ में चक्ररत्न से त्रिखण्ड को विजय करने वाला यशस्वी पुत्र उत्पन्न होगा। रानी स्वप्न का फल सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई।

नौ माह पूर्ण होने पर अपराजिता के फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को सूर्य के समान कान्ति वाला शुभलक्षण पुत्र उत्पन्न हुआ। पुत्र के वक्षस्थल पर पद्म चिन्ह था। अतः बालक का नाम पद्मनाभ (रामचन्द्र) रक्खा गया। सुमित्रा ने भी शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण पुत्र को जन्म दिया। उस समय शत्रुओं के घर में भयकारी अपशकुन हुए। सूर्य-चन्द्रमा के समान दोनों बालक क्रीड़ा करने लगे।

केकामती ने भरत नाम के पुत्र को जन्म दिया तथा सुप्रभा नें शत्रुघ्न को। चारों पुत्र इतनें शोभित होते थे, मानों संसार को सहारा देनें वाले चार स्तम्भ हों।

राजा ने ऐहिरूढ़ नामक एक विद्वान् ब्राह्मण को जो सब शस्त्र-शास्त्रों का ज्ञाता था, चारों राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा के लिये नियुक्त किया और अल्प समय में ही चारों पुत्र शस्त्र-शास्त्रों में निष्णात हो गये।

राजा जनक के भामण्डल और सीता का जन्म—मिथिला के राजा जनक की स्त्री विदेहा गर्भवती हुई। यथासमय विदेहा के युगल सन्तान उत्पन्न हुई-एक पुत्र और दूसरी पुत्री। पुत्र के उत्पन्न होते ही पूर्व जन्म के वैर के कारण एक देव उसे उठाकर ले गया और उसे आभूषण पहना कर तथा कानों में देदीप्यमान कुण्डल पहनाकर पृथ्वी पर लिटा गया।

चन्द्रगति नामक एक विद्याधर अपने विमान में आकाश मार्ग से जा रहा था। उसक दृष्टि देदीप्यमान आभूषण पहने बालक पर पड़ी। वह नीचे उतरा और तेजस्वी बालक को देखकर वह उसे उठाकर अपने महलों में वापिस गया। वहाँ उसकी रानी पुष्पवती अपनी शय्या पर सो रही थी। राजा ने उस बालक को रानो की जंघाओं के बीच में रखकर रानी को जगाया और रानी से बोला-रानी ! उठो, तुम्हारे बालक उत्पन्न हुआ है। रानी नें उठकर उस बालक को देखा तो वह विस्मय में भरकर पूछनें लगी-'यह सुन्दर बालक किसका है। मैं तो बांझ हूँ। आप क्यों मुझसे इस प्रकार हास्य करते हैं।' राजा बोला—'रानी! स्त्रियों के प्रच्छन्न गर्भ भी होता है। तुम्हारे भी ऐसा ही गर्भ था।' रानी को फिर भी पति के वाक्य पर विश्वास नहीं हुआ। वह पुनः पूछने लगी—'यदि यह बालक मेरे ही गर्भ से हुआ है तो इसके मनोहर कुण्डल कहाँ से आये।' अब राजा सत्य बात को छुपा नहीं सके और उन्होंने रानी को पुत्र मिलने की सारी घटना सुना दी और कहा—तुम अब इसे अपना ही पुत्र मानकर पालन करो और लोगों को भी यही बताना है कि तुम्हारे गूढ़ गर्भ था। तुमने ही इसको जन्म दिया है।

राजा की आज्ञा से रानी प्रसूतिगृह में गई। राजा ने सारे रथनूपुर नगर में पुत्र-जन्म के समाचार प्रचारित कर दिये और धूमधाम से पुत्र जन्मोत्सव मनाया। देदीप्यमान कुण्डल धारण करने के कारण बालक का नाम भामण्डल रक्खा गया। बालक धाय को सौंप दिया गया और अपने पुत्र की तरह ही उसका लालन-पालन होनें लगा।

उधर मिथिलापुरी में राजकुमार के अपहरण का समाचार जानकर सारी प्रजा में शोक छा गया। रानी विदेहा पुत्र-शोक से विलाप करने लगी। राजा जनक ने रानी को धैर्य बंधाया—तुम चिन्ता क्यों करती हो। तुम्हारा पुत्र किसी ने हर लिया है। वह अवश्य जीवित है और एक न एक दिन तुम्हें अवश्य मिलेगा।' इसके पश्चात् राजा जनक ने अपने मित्र राजा दशरथ को यह समाचार भेज दिया। दोनों ने ढंढने का बड़ा प्रयत्न किया किन्तु पुत्र नहीं मिला।

इधर जानकी धीरे धीरे बढ़ने लगी। उसकी बाल सुलभ लीलाओं को देखकर कुटुम्बी जन पुत्र-शोक को धीरे-धीरे भूलने लगे। जानकी के नेत्र कमल सदृश थे। वह अनिंद्य सौन्दर्य को लेकर अवतरित हुई थी। ऐसा लगता था, मानों कोई देवी ही पृथ्वी पर आ गई हो। आयु के साथ उसके गुण और सौन्दर्य भी बढ़ने लगा। वह अपने बचपन से ही पृथ्वी के समान क्षमाधारिणी थी। अतः लोग प्यार में उसे सीता (पृथ्वी) कहने लगे और बाद

में प्यार का यह नाम ही जगविख्यात हो गया। उसके अंग-प्रत्यंग इतने सुन्दर थे, मानो विधाता ने उसे सांचे में ही ढाला हो-चन्द्रमा के समान मुख, पल्लव के समान कोमल आरक्त हस्ततल, हंसिनी की सी चाल, मौलश्री के समान भीनी-भीनी मुख की सुगन्धि, कोमल पुष्पमाल सी भुजायें, केहरी के समान कटि, केले के स्तम्भ जैसी जंघायें; शची, रति और चक्रवर्ती की पटरानी का सौन्दर्य भी उसके समक्ष नगण्य लगता था। धीरे-धीरे वह सभी कलाओं और विद्याओं में पारगत हो गई।

एक बार वर्वर देश के एक म्लेच्छ राजा ने राजा जनक के राज्य पर चढ़ाई कर दी। अपने राज्य को नष्ट-भ्रष्ट होते देखकर जनक ने दशरथ के पास एक दूत भेजकर सहायता मांगी। दशरथ ने राम और लक्ष्मण को चतुरंगिणी के साथ मिथिला भेज दिया। म्लेच्छों ने जनक और कनक दोनों भाइयों को बन्दी बनाया ही था कि दोनों राजकुमार मिथिला में पहुँच गये और म्लेच्छों से युद्ध करके दोनों भाइयों को मुक्त किया तथा म्लेच्छों को मार भगाया। तथा जनक को राज्य सौंप कर दोनों भाई वापिस अयोध्या आगये। राजा जनक राम की वीरता, सुन्दरता और गुणों से बड़े प्रभावित हुए। साथ ही उनके द्वारा किये गए उपकार को चुकाने की भावना भी उनके मन में बनी रहती थी। अतः उन्होंने निश्चय किया कि मैं अपनी पुत्री सीता का विवाह राम के साथ कर दूंगा।

धनुःपरीक्षा और राम-सीता का विवाह

राम को सीता प्रदान करने का जनक का संकल्प नारद ने भी सुना। वे उत्सुकतावश सीता को देखने मिथिलापुरी आये और जनक की आज्ञा लेकर अन्तःपुर में पहुँचे। उस समय सीता दर्पण में अपना मुख देख रही थी। दर्पण में नारद की दाढ़ी जटाओं वाली भयानक आकृति के पड़ते ही सीता डरकर भीतर भाग गई। नारद भी उसके पीछे-पीछे जाने लगे। द्वारपाल नारद को जानते नहीं थे। उन्होंने नारद को रोका। दोनों ओर से कलह होने लगी। एक अपरिचित व्यक्ति को अन्तःपुर में प्रवेश करने से रोकने के लिये शोर सुनकर और सिपाही एकत्रित हो गये और नारद को मारने दौड़े। नारद शस्त्रधारी सिपाहियों को देखकर भयभीत हो गये और आकाश मार्ग से उड़कर कैलाशपर्वत पर ही दम ली। जरा आश्वस्त हुए तो उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि मैं सीता को देखने गया था। वहाँ मेरी यह दुर्गति हुई है। सीता ने ही मुझे पिटवाया है। इसके बदले में अगर सीता को दुःख न दिया तो मैं नारद ही काहेका।

मन में इस प्रकार सोचकर उन्होंने सीता का एक चित्रपट बनाया और रथनूपुर नगर में जाकर कुमार भामण्डल को वह चित्र दिखाया। चित्र देखते ही भामण्डल कामबाण से बिद्ध हो गया। उसकी दशा खराब हो गई। यह बात उसके पिता को ज्ञात हुई। पिता ने नारद से पूछा तो नारद ने कहा—'मिथिला के राजा जनक की सीता नाम की पुत्री है। वह अत्यन्त गुणवती, रूपवती और अनेक कलाओं में पारंगत है। वह तुम्हारे पुत्र के सर्वथा उपयुक्त है' राजा ने रानी से परामर्श किया और निश्चय किया कि यदि कन्या के पिता से कन्या की याचना करेंगे तो सम्भव है, वे न मानें। अतः किसी उपाय से जनक को यहाँ ले आना चाहिये। फलतः चन्द्रगति की आज्ञानुसार एक विद्याधर मिथिला गया और विद्या के वल से घोड़े का रूप धारण कर नगर में उपद्रव मचाने लगा। जब वह किसी प्रकार वश में नहीं आया तो राजा जनक स्वयं पहुँचे और घोड़े को वश में करके उस पर सवार हो गये घोड़ा जनक को लेउड़ा और रथनूपुर में आकर भूमि पर उतारा। वहाँ घोड़े से उतरकर जनक एक मन्दिर में जाकर वैठ गये।

विद्याधर ने राजा चन्द्रगति को समाचार दिया। चन्द्रगति वहाँ से सीधा मन्दिर में पहुँचा और जाकर जनक से परिचय किया और आदर सहित अपने महलों में ले आया। वहाँ आकर दोनों में बातचीत होने लगी। चन्द्रगति बोला—सुना है, आपके कोई कन्या है। मैं चाहता हूँ, आप उसका विवाह मेरे पुत्र के साथ कर दें। जनक बोले—मैंने अपनी कन्या तो अयोध्यापति दशरथ के पुत्र राम को देने का संकल्प कर लिया है। यों कह कर वे राम के गुणों और उनकी योग्यता की प्रशंसा करने लगे। इस पर चन्द्रगति जनक का हाथ पकड़ कर आयुधशाला में ले गया और बोला—आप राम की वीरता की बड़ी प्रशंसा कर रहे हैं। तो सुनिये। मेरे पूर्वज नमि विद्याधर को किसी समय धरणेन्द्र ने दो धनुष दिये थे—एक का नाम वज्रावर्त है और दूसरे का नाम सागरावर्त है। यदि राम

लगे कि राज्य-भार पुत्र को सौंपकर अब मुझे मुनि बन जाना चाहिये। एक दिन मंत्रियों को बुलाकर दशरथ ने कहा— मैं राम का राज्याभिषेक करके मुनि-दीक्षा लेना चाहता हूँ। अतः तुम लोग राज्याभिषेक की तैयारियाँ करो।' रानियों ने बहुत समझाया किन्तु दशरथ अपने निश्चय पर अडिग रहे। राज्याभिषेक की तैयारियाँ होने लगीं।

राम का वनवास

भरत का मन भी भोगों में नहीं लगता था। वह विरक्त रहता था। कभी-कभी वह मुनि-दीक्षा लेने की बात भी करता था। उसकी यह प्रवृत्ति देखकर उसकी माता कैकेयी को चिन्ता रहती कि पति तो मुनि बन ही रहे हैं, पुत्र भी यदि मुनि बन गया तो मैं कैसे जीवित रहूँगी। किस प्रकार भरत को दीक्षा लेने से रोकूँ। तभी उसे अपने वर का स्मरण हो आया। वह शीघ्र ही राजा के पास पहुँची और बोली—'महाराज ! आपने रानियों के समक्ष प्रसन्न होकर मुझे वर देने को कहा था, अब आप मेरा वर मुझे दे दीजिये।' दशरथ बोले—'देवि! बोलो, क्या मांगती हो। जो मांगोगी, वही दूँगा।' रानी अपना वर पहले ही निश्चित कर चुकी थी। वह बोली—'नाथ ! आप दीक्षा लेने से पहले मेरे पुत्र को अयोध्या का राज्य दे दीजिये।' दशरथ चिन्ता में पड़ गये। फिर कुछ देर सोचकर बोले—ठीक है, यही होगा। तुमने अपना वर माँगकर मुझे उऋण कर दिया।

इसके पश्चात् दशरथ ने राम को बुलाकर उनसे कहा—'बेटा! पहले एक युद्ध में तुम्हारी माता कैकेई ने बड़ी कुशलतापूर्वक मेरा रथ चलाया था। उसके कारण मुझे युद्ध में विजय मिली थी। उसके उपलक्ष्य में प्रसन्न होकर मैंने अन्य रानियों के समक्ष इन्हें इच्छित वर माँगने को कहा था। उस समय तो वह वर इन्होंने मेरे पास धरोहर रख दिया। अब ये अपना वर मांगकर अपने पुत्र भरत के लिए अयोध्या का राज्य मांग रही हैं। प्रतिज्ञा के अनुसार मुझे उनकी मांग पूरी करनी चाहिये। अन्यथा भरत दीक्षा ले लेगा और उसके वियोग में यह पुत्र-वियोग में प्राण दे देगी।

रामचन्द्र सुनकर बड़े विनय से बोले—देव ! अपने वचनों का पालन करें। अन्यथा आपका लोक में अपयश होगा। आपके अपयश के साथ तो मुझे इन्द्र की सम्पदा भी नहीं चाहिये।

दशरथ ने भरत को समझाया और राज्य स्वीकार करने का आग्रह किया—'पुत्र ! तुमने मेरी आज्ञा का कभी उलंघन नहीं किया। अब तुम्हें दीक्षा का विचार छोड़कर राज्य स्वीकार करना चाहिये।' किन्तु भरत बोले—पिता जी ! यदि संसार में ही सुख होता तो आप ही राज्य त्याग कर क्यों दीक्षा लेने का विचार करते। दशरथ इस उत्तर से निरुत्तर हो गये।

तब राम ने बड़े स्नेह से हाथ पकड़कर कहा—भाई ! तुमने जो बात कही है, वह तुम्हारे ही अनुरूप है। समुद्र में उत्पन्न होने वाला रत्न तालाब में नहीं होता। किन्तु अभी तुम्हारी वय तप करने की नहीं है। अतः पिता की निर्मल कीर्ति फैलाने के लिये तुम्हें राज्य स्वीकार कर लेना चाहिये।

इस प्रकार भरत को समझाकर राम अपनी माता के पास आज्ञा लेने पहुँचे। उनके जाते ही दशरथ वियोग विह्वल होकर मूर्च्छित हो गये। जब माता कौशल्या ने सुना तो वे भी मूर्च्छित हो गईं। जब मूर्च्छा भंग हो गई तो वे शोक करने लगीं। तब राम ने पिता द्वारा दिये हुए वचन की बात बताकर कहा कि माता के वरदान के कारण पिता ने भरत को राज्य दे दिया है। अतः मुझे यहाँ से जाना ही होगा। मेरे यहाँ रहने से भरत की आज्ञा का विस्तार नहीं होगा। इस तरह माता को सान्त्वना देकर पुनः पिता के पास आज्ञा लेने पहुँचे और आज्ञा लेकर अन्य माताओं के पास गये और उन्हें समझा बुझाकर नमस्कार कर उनसे आज्ञा मागी।

फिर वे सीता के पास गये और बोले—'प्रिये ! मैं पिता की आज्ञा से अन्यत्र जा रहा हूँ। तुम यहीं रहना। सीता बोली—'नाथ ! स्त्री पति की छाया होती है। जहाँ आप जायेंगे, मैं भी वहीं रहूँगी। राम ने उसे वन के कष्टों का भयानक वर्णन करके विरक्त करना चाहा, किन्तु सीता ने कहा—पति चरणों में ही सारे सुख हैं। वन के शूल भी आपके साथ रहकर मेरे लिये फूल हो जायेंगे।

जब सबसे विदा लेकर राम और सीता लक्ष्मण के पास पहुँचे तो उसे चलने को तैयार पाया। राम को बड़ा आश्चर्य हुआ और बोले—'भाई ! तुम यहाँ रहकर माता-पिता की सेवा करते रहना।' किन्तु लक्ष्मण बोले—

चातुर्मास के पश्चात् जब वे लोग रामपुर से चलने लगे तो यक्ष ने क्षमा-याचना करते हुए राम को स्वयंप्रभ नामक एक सुन्दर हार दिया। लक्ष्मण को कानों के देदीप्यमान कुण्डल दिये और सीता को सुकल्याण नाम का एक चूड़ामणि रत्न दिया और एक सुन्दर वीणा दी। वहाँ से विदा होकर वे भयानक वनों में से होते हुए विजयपुर नगर के बाहर उद्यान में ठहरे।

उस नगर के राजा पृथ्वीधर की सुन्दरी कन्या वनमाला बचपन में लक्ष्मण की प्रशंसा सुनकर उनके प्रति अनुरक्त हो गई थी और उन्हें मन में पति मान लिया था। जब राजा पृथ्वीधर ने सुना कि राजा दशरथ के दीक्षा लेने पर राम-लक्ष्मण और सीता कहीं वन में चले गये हैं तो उसने वनमाला का विवाह इन्द्रनगर के राजकुमार बालमित्र के साथ कर देना चाहा। जब वनमाला को यह ज्ञात हुआ तो उसने किसी परपुरुष के साथ विवाह न करने और पेड़ से लटककर गले में फांसी लगाकर मर जाने का निश्चय कर लिया। सूर्यास्त होने पर वह माता पिता से आज्ञा लेकर सखियों के साथ रथ में बैठकर वनदेवी की पूजा करने के लिए वन में चल दी। दैवयोग से जिस वन में जिस रात को राम-लक्ष्मण ने विश्राम किया था, उसी रात को उसी वन में वह पहुँची। उसने वनदेवी की पूजा की और सखियों से आंख बचाकर चुपचाप वहाँ से चल दी। आहट पाते ही लक्ष्मण उठ बैठे और किसी अनिष्ट की आशंका से वे उसका अनुसरण करने लगे कि देखें, यह क्या करती है। वे एक वृक्ष की ओट में खड़े हो गये। वनमाला चलती-चलती उसी वृक्ष के पास पहुँची और एक कपड़ा वृक्ष से बाँध कर बोली—इस वृक्ष पर रहने वाले हे देवताओ! यदि कभी इस वन में घूमते हुए कुमार लक्ष्मण आवें तो तुम उनसे कह देना कि वनमाला तुम्हारे विरह में मर गई। इस जन्म में तो तुम नहीं मिल पाये किन्तु अगले जन्म में तुम्हीं मेरे पति होना।' यों कहकर वह अपने गले में फन्दा बाँधने को तयार हुई त्योंही लक्ष्मण ने उसे रोककर कहा—'सुन्दरि! जिस गले में मेरी बांहें पड़नी चाहिये, उसमें तुम फाँसी क्यों डाल रही हो। मैं ही वह लक्ष्मण हूँ।' यह कहकर लक्ष्मण ने उसके हाथ से फाँसी छीन ली और उसे आलिंगन में भर लिया।

प्रभात होने पर जब रामचन्द्र जी उठे और लक्ष्मण को वहाँ नहीं देखा तो वे अधीर हो उठे और लक्ष्मण को आवाज देने लगे। लक्ष्मण फौरन वनमाला के साथ वहाँ आया। उन्हें नमस्कार किया और रात को सारी घटना कह सुनाई।

उधर जब सखियों ने वनमाला को न देखा तो वहाँ कोहराम मच गया। राजा के पास समाचार पहुँचा। राजा और रानी वहाँ आये जहाँ श्रीराम बैठे हुए थे। उन्हें नमस्कार कर वह बैठ गया। राजा ने उनसे राजमहलों में पधारने की प्रार्थना की। सब लोग हाथी पर आरूढ़ होकर राजप्रासाद पहुँचे। वहाँ धूमधाम के साथ वनमाला का विवाह लक्ष्मण के साथ कर दिया।

एक दिन राजा पृथ्वीधर राम-लक्ष्मण के साथ राजदरबार में बैठा हुआ था, तभी एक दूत वहाँ आया और राजा से निवेदन किया—'महाराज! नन्द्यावर्त के राजा अतिवीर्य ने सेना सहित आपको बुलाया है।' राजा ने उससे बुलाने का कारण पूछा तो दूत बोला—'महाराज अतिवीर्य ने अयोध्या के राजा भरत को सन्देश भेजा था कि या तो तुम मरी आधीनता स्वीकार करो अन्यथा युद्ध के लिये तैयार रहो। शत्रुघ्न ने दूत को अपमानित करके निकाल दिया। जब राजा अतिवीर्य ने यह सुना तो वे अंग, वंग, तिलंग देश के म्लेच्छ राजाओं को लेकर अयोध्या पर आक्रमण करने चल दिये। राजा भरत भी अवन्ती और मिथिला के राजाओं के साथ चलकर नर्मदा के तट पर आ डटा। रात में शत्रुघ्न ने हमारे चौंसठ हजार घोड़े चुपचाप खोल दिये। इस पर अतिवीर्य महाराज ने विभिन्न देशों के राजाओं को बुलाने के लिये दूत भेजे हैं। अतः आप भी वहाँ शीघ्र पहुंचें।

रामचन्द्र जी को यह सुनकर बड़ी चिन्ता हुई। वे लक्ष्मण से बोले—'वत्स! अतिवीर्य बड़ा बलवान और असख्य सेना का अधिपति है। भरत के पास सेना कम है। अतः भरत हार जायगा। हमें भरत की सहायता करनी है किन्तु छद्मवेश में रहकर जिससे किसी को हमारा पता न चले।' उन्होंने राजा पृथ्वीधर से भी अपना अभिप्राय प्रगट किया। पृथ्वीधर राम-लक्ष्मण और सीता सहित अपनी सेना लेकर चल दिया और जाकर अतिवीर्य से मिले। सीता को तो राम ने एक जिन मन्दिर में श्वेत वस्त्र पहनाकर आर्यिका के निकट ठहरा दिया और भगवान के दर्शन कर अतिवीर्य के पास पहुँचे। वहाँ कौशल से लक्ष्मण ने अतिवीर्य को वन्दी बना लिया। सब राजा भयभीत हो गये।

लक्ष्मण अतिवीर्य को लेकर रामचन्द्र जी के पास आये। रामचन्द्र जी बोले–भरत सारे भारत के राजा हैं। तुम उनकी आधीनता स्वीकार करो और आनन्दपूर्वक रहो।' यों कह कर उसके बन्धन खुलवा दिये। अतिवीर्य बोला—"मुझे अब भोगों की इच्छा नहीं है। मैं तो अब जिन दीक्षा लेकर आत्म कल्याण करूँगा।' यों कहकर वह मुनि बन गया। रामचन्द्र जी ने इसके पुत्र विजयरथ का राज तिलक कर दिया। विजयरथ ने अपनी बहन का विवाह लक्ष्मण के साथ कर दिया और भरत के साथ सन्धि कर ली। रामचन्द्रजी पृथ्वीधर के साथ विजयपुर लौट आये।

कुछ दिन वहाँ ठहरकर जब वे लोग वहाँ से चलने लगे तो लक्ष्मण वनमाला से विदा लेने पहुँचे और बोले—'प्रिये! तुम यहीं रहना। कुछ दिन बाद मैं तुम्हें लिवा ले जाऊँगा।' किन्तु वनमाला बोली—'नाथ! मैं भी आपके साथ चलूँगी।' तब लक्ष्मण बोले—'हे शुभे! यदि मैं तुम्हें लेने न आऊँ तो मुझे वह दोष लगे, जो रात्रि भोजन करने से या कन्द मूल खाने से अथवा अनछना जल पीने ने लगता है।' तब वनमाला आश्वस्त हो गई और वे तीनों वहाँ से चुपचाप चल दिये।

वहाँ से चलकर वे क्षेमांजलि नगर के बाहर उद्यान में ठहरे। राम की आज्ञा से लक्ष्मण शहर देखने गये और वहाँ के राजा की पुत्री जितपद्मा की प्रतिज्ञानुसार लक्ष्मण ने राजदरबार में जाकर देवाधिष्ठित पांच शक्तियों को झेला तथा रामचन्द्रजी की आज्ञा से जितपद्मा के साथ विवाह किया।

वे वहाँ कुछ दिन ठहर कर एक दिन चुपचाप दक्षिण समुद्र की ओर चल दिये। चलते-चलते वे वंशस्थल नगर पहुँचे। वहाँ के लोगों को भयभीत देखकर रामचन्द्रजी ने इसका कारण पूछा तो एक व्यक्ति ने बताया कि

राम का जटायु से मिलन

'रात में इस पर्वत के ऊपर कुछ दिनों से बिजली गिरने जैसा भयानक शब्द होता है और भूतप्रेतादिकों की डरावनी आकृतियाँ दिखाई देती हैं। रात को सब लोग बाहर भाग जाते हैं और सुबह फिर नगर में आ जाते हैं।' यह सुनकर रात को रामचन्द्र जी लक्ष्मण और सीता के साथ पर्वत पर पहुँचे। वहाँ जाकर क्या देखते हैं कि देशभूषण और कुलभूषण नामक दो मुनि तपस्या कर रहे हैं और उनके सारे शरीर पर सांप-बिच्छू आदि लगे हैं। सबने उन्हें नमस्कार किया और अपने धनुषों से साँप-बिच्छुओं को हटाया। मुनियों के चरण धोये और उनकी पूजा की।

कुछ देर बाद एक असुर ने उन मुनियों को नाना भांति के कष्ट देने आरम्भ किये। वह नाना प्रकार के डरावने रूप बनाकर भयानक आवाज करने लगा। सीता इससे डर गई। तब रामचन्द्र जी ने सीता को तो मुनि चरणों में बैठा दिया और दोनों भाई धनुष चढ़ा कर टंकारने लगे। असुर भयभीत होकर वहाँ से भाग गया। उपसर्ग दूर हो गया। उसी समय दोनों मुनियों को केवलज्ञान हो गया। चतुर्निकाय के देव भगवान का केवलज्ञान महोत्सव मनाने आये। भगवान का उपदेश हुआ। सबने उपदेश सुनकर आत्म कल्याण किया।

तभी गरुणेन्द्र वहाँ आया और प्रसन्न होकर रामचन्द्रजी से बोला—'तुमने दोनों मुनियों की जो सेवा की है, इससे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम जो चाहो सो मांग लो।' रामचन्द्रजी बोले—'जब आवश्यकता होगी, हम आप को स्मरण करेंगे। आप उस समय हमारी सहायता करना।' गरुणेन्द्र ने 'तथास्तु' कहा।

वंशपुर के राजा ने राम सीता और लक्ष्मण का बड़ा सम्मान किया। रामचन्द्रजी ने वहाँ कुछ दिन ठहर कर विशाल जिन मन्दिर बनवाये और उनकी प्रतिष्ठा करा दी तब से उस पर्वत का नाम रामगिरि हो गया।

वहाँ से वे चल दिये और वन के बीच बहने वाली कर्णरवा नदी के तट पर पहुँचे। सीता ने वहाँ भोजन बनाया। लक्ष्मण वन में वनहस्ती के साथ क्रीड़ा करते हुए कुछ दूर निकल गये। तभी सीता ने सुगुप्ति और गुप्ति नामक दो मुनियों को आते देखा। उसने रामचन्द्रजी को बताया। फौरन रामचन्द्रजी और सीता ने दोनों मुनियों को पड़गाया और विधिपूर्वक उनको आहार कराया। आहार होने पर देवों ने पंचाश्चर्य किये। मुनि आहार के पश्चात् वहीं शिला पर बैठ गये। मुनियों को देखकर उस समय एक गृद्ध पक्षी को जाति-स्मरण ज्ञान (पूर्व जन्म का ज्ञान) हो गया। वह भक्ति से प्रेरित होकर मुनियों के चरणों में गिर पड़ा और चरणोदक में लोट-लोट कर स्तुति करने लगा। चरणोदक के प्रभाव से उसका शरीर स्वर्ण जैसा हो गया, बाल रेशम जैसे हो गये। पंख वैडूर्य मणि के समान हो गये और पंजे पद्मराग मणि जैसे हो गये।

यह देखकर राम और सीता को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने मुनि महाराज से इसका कारण पूछा तो अवधिज्ञानी मुनि बोले— पहले इस वन के स्थान पर एक सुन्दर नगर था। उसका नाम था कार्यकुण्डल। वहाँ का राजा दण्डक था, उसकी रानी [illegible] थी। दोनों निपट कपटी और सद्धर्म के विरुद्ध थे। एक दिन राजा ने वन में एक मुनि को ध्यान करते हुए देखा। उसने उनके गले में एक मरा हुआ सर्प डाल दिया। कुछ दिनों के बाद एक मनुष्य उधर से निकला। उसने मुनि के गले से वह सर्प हटा दिया। सर्प के विष के कारण मुनि का शरीर काला और निर्जीव सा हो गया था। तभी वहाँ वह राजा आ निकला। उसने देखा कि मैंने मुनि के गले में जो सर्प डाला था, उसको मुनि ने स्वयं नहीं हटाया है। यह देखकर वह मुनिभक्त बन गया और उसने जैन धर्म अंगीकार कर लिया। उसकी रानी को बड़ा बुरा लगा। वह राजा को जैन धर्म से हटाने का उपाय सोचने लगी। एक दिन एक मुनि आहार के निमित्त राजद्वार पर आये। रानी ने उनके ऊपर झूठा अपवाद लगाकर राजा से शिकायत कर दी। राजा को बड़ा क्रोध आया। उसने सारे दिगम्बर मुनियों को घानी में पेरने की आज्ञा दे दी। राजाज्ञा से सारे दिगम्बर मुनि जो वहाँ थे, घानी में पेर दिये गये। एक मुनि बाहर गये हुए थे। जब वे नगर की ओर आ रहे थे तो मार्ग में एक श्रावक ने उनसे मुनियों के घानी में पेरने का समाचार सुनाया। सुनकर उन मुनि को बड़ा दुःख हुआ और अत्यन्त क्रोध भी आया। भयंकर क्रोध के कारण उनकी बाईं भुजा से कालाग्नि के समान एक अशुभ तैजस पुतला निकला। उसने सारे नगर को भस्म कर दिया। उससे कोई मनुष्य-पशु-पक्षी तक नहीं बचा। राजा भी उसी में भस्म हो गया। राजा नरक में गया, मुनि भी चिरकाल से उपार्जित धर्म को नष्ट करने के कारण नरक में गये। राजा अनेक योनियों में भ्रमण करते-करते अन्त में यह गृद्ध पक्षी बना है। इसे हमें देख कर अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया है और वह अपने किये हुए पापों का प्रायश्चित कर रहा है। धीरे-धीरे नगर के भस्म के स्थान पर यह वन लग गया। उस दण्डक राजा के नाम पर ही इस वन का नाम दण्डक-वन या दण्डकारण्य पड़ गया है।

इसके पश्चात् मुनिराज ने उस गृद्ध पक्षी को उपदेश दिया। फलतः उस पक्षी ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, जीव हिंसा का त्याग कर दिया। तब मुनियों ने उस पक्षी को सीता के हाथ में पालन-पोषण के लिये सौंप दिया और वे विहार कर गये।

तभी हाथी पर सवार होकर लक्ष्मण आये। उन्होंने पक्षी को देख कर उसके बारे में पूछा। राम ने मुनि के आहार-दान और पक्षी के बारे में सारी बातें बताईं। सबने बैठकर फिर भोजन किया और तीनों ने मिलकर उस पक्षी का नाम 'जटायु' रक्खा। वे लोग उस वन की शोभा देखकर वहीं कुटिया बनाकर रहने लगे।

अब रामचन्द्र जी विचार करने लगे कि यहाँ एक सुन्दर नगर बसा कर यहीं पर निवास किया जाय तथा माताओं को भी यहीं बुला लिया जाए। एक दिन वे लक्ष्मण से बोले—'वत्स ! देखो तो यहाँ नगर बसाने के लिये कौन-सा स्थान उपयुक्त रहेगा। लक्ष्मण धनुष-बाण लेकर स्थान की खोज में चल दिये। कुछ दूर जाने पर उन्हें सुगन्ध आई। आगे बढ़े तो बांसों के झुरमुट में एक लटकती हुई तलवार दिखाई दी। उन्होंने बड़े उत्साह से वह तलवार हाथ में ले ली और उसकी तीक्ष्णता की परीक्षा करने के लिये उन्होंने वह तलवार उसी बांसों के झुरमुट पर फिराकर मारी। बांसों के झुरमुट के साथ वहाँ किसी का सिर भी कट गया। उसे देखकर लक्ष्मण को बड़ा दुःख हुआ। वे तलवार हाथ में लेकर रामचंद्र जी के पास गये और बड़े दुःख भरे शब्दों में उनसे सारा वृत्तान्त निवेदन कर दिया। राम विचार कर बोले—यह किसी विद्याधर का सिर तूने काट दिया है। अतः यहाँ कुछ अनर्थ होने की संभावना है। अब सावधान रहना चाहिये।

सीता का अपहरण

अलंकारपुर के राजा खरदूषण और (रावण की बहन) चन्द्रनखा के दो पुत्र थे—संबूक और सुन्दर। एक दिन संबूक ने पिता के मना करने पर भी सूर्यहास तलवार सिद्ध करने के लिये दण्डक-वन में प्रवेश किया और बांसों के झुरमुट में बैठ कर ब्रह्मचर्य व्रत लेकर दिन में केवल एक बार भोजन और एक वस्त्र पहनकर धूप-दीप आदि से अर्चना करता हुआ सूर्यहास तलवार की सिद्धि के लिये बैठ गया। उसकी माता चन्द्रनखा प्रति दिन दोपहर को पुत्र

को भात दे जाती और उसे देख जाती। बारह वर्ष बाद एक दिन उसने खड्ग को देखा। वह बड़ी प्रसन्न हुई। उसने अपने पति से जाकर यह बात बताई कि आज से तीसरे दिन हमारा पुत्र खड्ग सिद्ध करके यहाँ आ जायगा। अतः उसके स्वागत की तैयारी करनी चाहिये।

जब अगले दिन चन्द्रनखा अपने पुत्र को देखने आई तो पुत्र का मस्तक कटा हुआ देखकर दुःख से रोने लगी। वह बार-बार मूर्च्छित हो जाती और होश में आने पर विलाप करने लगती। वह सोचने लगी कि जिसने मेरे पुत्र का बध करके खड्ग को चुराया है, उस पापी को अपने पति और भाई द्वारा मरवा डालूँगी ! यों सोचकर वह अपने पुत्र के हत्यारे को खोजने लगी। उसे कुछ दूर आगे जाने पर कामदेव जैसे दो देवकुमार दिखाई दिये। उन्हें देखते ही वह पुत्र-शोक भूल गई और काम से पीड़ित हो गई। वह विद्या से वनलक्ष्मी के समान सुन्दर कन्या का रूप बनाकर एक वृक्ष के नीचे बैठ कर रोने लगी। उसका करुण रुदन सुनकर सीता उसके पास आई और उसे सान्त्वना देती हुई रामचन्द्रजी के पास ले आई। राम ने उससे रुदन का कारण पूछा तो वह बोली—'नाथ ! बचपन में ही मेरे माता-पिता मर गये। मैं अनाथ होकर इस जंगल में मारी-मारी फिर रही हूँ। यदि आप दोनों में से मुझे कोई अपना ले तो मैं उन्हीं की शरण में पड़ी रहूँगी, अन्यथा मेरा मरण निश्चित है।' उसकी बात सुनकर समयज्ञ रामचन्द्रजी बोले—बाले ! हम दोनों में से तो तुम्हें कोई नहीं चाहता। अन्यत्र तुम चली जाओ। यों कहकर उसे वहाँ से निकाल दिया। वह क्रुद्ध होकर अपने नगर में लौट आई और बाल बखेर कर शरीर में खरोंचकर बुरी तरह रोने लगी। उसका रुदन सुनकर खरदूषण आया और उससे रोने का कारण पूछने लगा। उसने रो रो कर बताया—'नाथ ! हमारा पुत्र संबूक सूर्यहास तलवार को दण्डक-वन में साधन कर रहा था। कहीं से स्त्री सहित दो पुरुषों ने आकर हमारे पुत्र का बध कर दिया और तलवार छीन ली। मैं पुत्र को देखने गई तो वे दुष्ट मेरे साथ कुचेष्टा करने लगे। यही अच्छा हुआ कि मेरा शील खण्डित नहीं हुआ। मैं बड़ी कठिनाई से उनसे बच कर यहाँ आ सकी हूँ। आप उन पुत्रघातियों से अवश्य बदला लें।'

पुत्र-मरण का समाचार सुनकर खरदूषण मूर्च्छित हो गया और विलाप करने लगा। फिर उसे क्रोध आया-मैं अभी जाकर उन दुष्टों का सिर काट कर लाता हूँ।' जब वह चलने लगा तो मंत्रियों ने समझाया—'जिन्होंने सूर्यहास खड्ग छीन लिया और संबूक कुमार का बध किया है, वे अवश्य ही कोई वीर पुरुष होंगे। अतः महाराज रावण को समाचार भेजना ठीक होगा। मंत्रियों की बात सुनकर उसने एक दूत रावण के पास भेजा। दूत ने जाकर रावण को सब समाचार बताये। सुनकर रावण को बड़ा क्रोध आया और युद्ध की तैयारी करने लगा।

इधर खरदूषण पुत्र-शोक और क्रोध से अधीर हो रहा था। वह अपनी सेना लेकर दण्डक वन पहुँचा। जब सेना रामचन्द्र जी के निकट आगई, तब लक्ष्मण बोले—'देव! यह तो उस मरे हुए मनुष्य के पक्ष के लोग मालूम पड़ते हैं। उस कुलटा स्त्री ने ही ये भेजे मालूम पड़ते हैं।' रामचन्द्र जी बोले—'लक्ष्मण ! तू सीता की रक्षा कर, मैं इन्हें मारता हूँ।'किन्तु लक्ष्मण ने आग्रह किया—'देव ! मेरे रहते आपको युद्ध करना उचित नहीं है। आप राजपुत्री की रक्षा करें। मैं युद्ध के लिये जाता हूँ। यदि मुझ पर कोई विपत्ति आई तो मैं सिंहनाद कर आपको सूचना दूँगा।

यह कहकर सागरावर्त धनुष और सूर्यहास तलवार लेकर लक्ष्मण युद्ध के लिए शत्रु के सम्मुख आ डटे। दोनों ओर से युद्ध होने लगा। अकेले लक्ष्मण ने बाणों की वर्षा कर शत्रु-पक्ष को व्याकुल कर दिया। इसी बीच रावण भी सेना सहित दण्डक वन में आगया। वह 'संबूक को मारने वाला वह नराधम कहाँ है' इस प्रकार कहता हुआ सम्मुख आया और रूपलावण्यवती सीता को देख कर काम से पीड़ित हो गया। वह सोचने लगा—'मैं इस रूप सुन्दरी को कैसे प्राप्त करूँ। बलपूर्वक इसका अपहरण करूँ तो व्यर्थ युद्ध होगा और अपयश भी होगा। अतः इसके हरने का कोई ऐसा उपाय करूँ कि कोई जान न पाये।

इस प्रकार सोचकर उसने कर्ण पिशाचिनी विद्या को बुलाकर उस स्त्री का परिचय पूछा और उपाय भी पूछा। उसने सीता का परिचय देकर कहा कि लक्ष्मण जब सिंहनाद का शब्द करेगा तो राम भी युद्ध के लिए जायेगा।' विद्या के वचन सुनकर उस परस्त्री लम्पट ने सिंहनी विद्या को बुलाया और उसे सिखा-पढ़ा कर युद्ध में भेजा। उसने जाकर दोनों ओर की सेना में घोर अंधकार कर दिया और लक्ष्मण की आवाज में 'राम-राम' इस

प्रकार सिंहनाद किया। रामचन्द्र जी इस सिंहनाद को लक्ष्मण का समझ कर सीता को समझा-बुझा कर और जटायु से उसकी रक्षा करने को कहकर युद्ध के लिये चल दिये। रावण तो इस अवसर की ताक में ही था। उसने आकर सीता को उठाकर पुष्पक विमान में बैठा लिया। यह देखकर जटायु बड़ी जोर से रावण पर झपटा। उसने अपनी चोंच और नखों से रावण को क्षत-विक्षत कर दिया। रावण ने विघ्न आया देख कर जटायु पर प्रहार किया। बेचारा पक्षी उस प्रहार से मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। रावण पुष्पक विमान को लेकर अपने स्थान को चला गया।

सीता अपना अपहरण जानकर जोर-जोर से राम-राम चिल्लाती हुई विलाप करने लगी। रावण मन में विचार करता जा रहा था—'अभी यह अपने पति के लिये विलाप कर रही है। जब मेरे ठाठ-बाट देखेगी तो यह अपने पति को भूल जायगी और मुझसे प्रेम करने लगेगी। किन्तु मैंने तो गुरु से व्रत लिया है कि किसी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के बिना मैं बलात्कार नहीं करूँगा। अतः इसे एकान्त उद्यान में रखकर युक्ति से वश में करना ठीक होगा।' इस प्रकार सोचता हुआ वह लंका जा पहुँचा।

उधर रण-भूमि में राम को आया देखकर लक्ष्मण बोला 'देव! आप भयानक वन में सीता को अकेली छोड़ कर क्यों चले आये?' राम बोले—'तुम्हारा सिंहनाद सुनकर ही मैं यहाँ चला आया।' लक्ष्मण बड़े आश्चर्य में भरकर बोले—'मैंने तो कोई सिंहनाद नहीं किया था। आप शीघ्र चले जाइये।' राम लक्ष्मण को आशीर्वाद देकर शीघ्र वहाँ से अपने स्थान पर वापिस आये। वहाँ सीता को न पाकर 'सीता, सीता' पुकारने लगे और मूर्च्छित होकर गिर पड़े। जब सचेत हुए तो वे फिर विलाप करने लगे —'देवि! तुम क्यों हँसी कर रही हो। तुम जरूर वृक्षों के पीछे कहीं छिपी हुई हो, जल्द निकल आओ। क्या तुम मुझे अपने वियोग से मरा हुआ देखना चाहती हो।' इस तरह विलाप करते हुए वे इधर-उधर घूमकर सीता को देखने लगे। तब उन्हें मरणासन्न जटायु धीरे-धीरे कराहता हुआ दिखाई दिया। रामचन्द्र एक क्षण को सीता का वियोग भूल गये और जटायु के कान में धीरे-धीरे णमोकार मन्त्र सुनाने लगे। मरते समय जटायु के भाव शुभ हो गये और वह मर कर देवयोनि में उत्पन्न हुआ। जटायु के मर जाने से उनका शोक और प्रबल हो गया। वे फिर मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। चेत आने पर वे फिर विलाप करने लगे—हे वन्य पशुओ! यदि तुमने कहीं मेरी सीता को देखा हो तो तुम मुझे बता दो। हे वृक्षो! यदि तुम्हें सीता का कुछ पता हो तो तुम्हीं बता दो।' जब कहीं से कोई उत्तर नहीं मिला तो वे निरुद्देश्य ही वज्रावर्त धनुष को टंकारने लगे। वे बार बार मूर्च्छित होते और पुनः चेत आने पर निरर्थक प्रलाप करने लगते।

इधर रामचन्द्र जी की यह दशा थी, उधर लक्ष्मण खरदूषण के सैनिकों से अकेले युद्ध कर रहे थे। इतने में चन्द्रोदर का पुत्र विराधित वहाँ आया और लक्ष्मण से कहने लगा—'देव! हमारा अलंकारपुर नगर हमसे खरदूषण ने छीन लिया है। आपकी कृपा से अब वह हमें मिल जायगा। आप खरदूषण से युद्ध करें और मैं उसके दुष्ट सैनिकों से लड़ता हूँ। यों कह कर विराधित तो सैनिकों से युद्ध करने लगा और लक्ष्मण खरदूषण से युद्ध करने लगे। लक्ष्मण ने उसे सात बार रथविहीन कर दिया। वह हाथी पर चढ़ कर युद्ध करने लगा तो लक्ष्मण के बाण से उसका हाथी भी मारा गया। तब दोनों में आमने सामने पैदल ही युद्ध होने लगा। लक्ष्मण ने सूर्यहास तलवार से उसका सिर काट दिया। उधर खरदूषण का सेनापति सुभग दूषण विराधित से जूझ रहा था। लक्ष्मण ने उसके वक्षस्थल पर भिन्दमाल का करारा प्रहार किया और वह भी निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़ा। सेनापति के मरते ही सेना भाग खड़ी हुई। लक्ष्मण ने सबको अभयदान दिया और शत्रु सेना की सामग्री विराधित को सौंप कर लक्ष्मण शीघ्रता से राम के पास पहुँचे। वहाँ सीता के बिना राम को मूर्च्छित देखकर लक्ष्मण ने उन्हें सचेत किया और पूछा—'देव! सीता कहाँ है?' राम ने लक्ष्मण को बिना घाव के देखा तो वे प्रसन्न हुए। किन्तु फिर शोक की घटा उमड़ पड़ी और विह्वल होकर बोले—पता नहीं, सीता को कोई दुष्ट हर ले गया या पाताल खा गया या उसे आकाश निगल गया।' लक्ष्मण ने उन्हें बड़ी सान्त्वना दी—'देव! इस प्रकार शोक करने से क्या मिलेगा।' और उनके हाथ-मुँह धोए।

कुछ देर पश्चात् विराधित अपनी सेना सहित आकाश-मार्ग से वहाँ आया। लक्ष्मण ने राम से कहा—

यह राजा चन्द्रोदर का पुत्र विराधित है । इसने युद्ध में मेरी बड़ी सहायता की है ।' विराधित ने राम को नमस्कार किया और कहने लगा—'महाराज ! आप जैसे पुरुषोत्तम को पाकर मैं कृतार्थ हुआ । मुझे कुछ आज्ञा दीजिये ।' यह सुनकर लक्ष्मण बोले—'मित्र ! किसी ने मेरे भाई की पत्नी हर ली है । यदि वह न मिली तो भाई उसके वियोग में प्राण दे देंगे और इनके बिना मैं भी जीवित नहीं रहूँगा । इनके प्राणों के आधार पर ही मेरे प्राण हैं । अतः तुम कुछ प्रयत्न करो ।' विराधित सान्त्वना भरे शब्दों में बोला—'देव ! आप कुछ चिन्ता न करें । मैं आपकी पत्नी को अवश्य खोज लाऊँगा ।'

उसने तत्काल अपने योद्धाओं को सीता की खोजके लिए दसों दिशाओं में भेज दिया। उन्होंने सब कहीं छान मारा किन्तु सीता का कुछ पता न चला । वे कुछ काल के बाद लौट आये । तब राम निराश होकर बोले—'मेरे भाग्य में दुःख ही लिखे है । माता-पिता से बिछुड़ कर मैं इस जंगल में आया, किन्तु दुर्भाग्य ने यहाँ भी मेरा पीछा नहीं छोड़ा । सीता के बिना मै अब एक पल भी जीवित नहीं रहूँगा । आप लोग घर जाइये और सुखपूर्वक रहिये ।' इस प्रकार राम को विलाप करते देखकर लक्ष्मण भी रोने लगे ।

तब विराधित ने उन्हें आश्वासन दिया—'देव ! इस तरह शोक करने से तो सीता मिलेगी नहीं । आप धैर्य रख कर कुछ उपाय कीजिये । जीवन रहेगा तो सीता भी मिल जायगी । खरदूषण मारा गया है, अतः उसके पक्ष के रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण, मेघनाद, इन्द्रजीत आदि अभी चढ़कर आवेंगे । अतः आप अलंकारपुर चलिये । वहाँ मैं शीघ्र अपने योद्धाओं को सीता का पता लगाने भेजूँगा और भामण्डल के साथ मिल कर मै और वे दोनों पता लगायेंगे । यदि मैं सीता का पता न लगा पाया तो अपने प्राण त्याग दूँगा ।' इस प्रकार उसके वचनों से आश्वस्त होकर सब लोग अलंकारपुर चले । वहाँ जाकर नगर को घेर लिया और उस पर अधिकार कर लिया । चन्द्रनखा पश्चिम द्वार से अपने पुत्र के साथ निकल भागी । विराधित ने राम और लक्ष्मण को एक सुन्दर महल में ठहरा दिया । पुरजन अपने राजा को पुनः पाकर बड़े हर्षित हुए । सब लोग बैठकर सीता की खोज का उपाय सोचने लगे । किन्तु उस महल में भी राम को सीता के बिना सब कुछ सूना-सूना लगता था । उन्हें कुछ देर भगवान की पूजा करने से शान्ति मिलती थी ।

लंका के उद्यान में सीता

रावण विमान में ले जाते हुए सीता को समझाने लगा—'सुन्दरी ! तुम क्यों शोक करती हो । कहाँ वह दरिद्री राम और कहाँ त्रिखण्डपति मैं । मेरे पास संसार की सारी संपदायें हैं । तू राम का ध्यान छोड़कर मेरे साथ भोग कर और आनन्दपूर्वक शेष जीवन बिता । मैं तुझे अपनी अठारह हजार रानियों में पटरानी का पद दूँगा ।' यह कहकर उसने सीता की ओर ज्योंही हाथ बढ़ाया, सीता बड़े क्रोध में बोली—'पापी ! खबरदार जो मुझे स्पर्श किया । परस्त्री गमन से तू नरक में पड़ेगा । यदि तूने मुझे स्पर्श करने का प्रयत्न किया तो सती के शील से तू अभी भस्म हो जायगा ।' रावण भयभीत होकर पीछे हट गया और लंका में जाकर अपने महलों के पीछे अशोक उद्यान में सीता को ठहरा दिया ।

तभी चन्द्रनखा अपने पुत्र सहित बाल बिखेर कर विलाप करती हुई वहाँ आई । उसने अपने पुत्र और पति के वध का समाचार रावण को सुनाया । रावण के घर में हाहाकार मच गया । तब रावण ने उसे समझाते हुए कहा—'बहिन ! तू शोक मत कर । मै शीघ्र तेरे पति के हत्यारे का वध करके बदला लूँगा । तू यहाँ आनन्दपूर्वक रह ।' इस प्रकार चन्द्रनखा को सान्त्वना देकर रावण अन्तःपुर में जाकर खेदखिन्न होकर शय्या पर पड़ गया । तब उसकी रानी मन्दोदरी आकर कहने लगी—'नाथ ! आप इतने शोकग्रस्त क्यों हैं । खरदूषण मारा गया तो क्या हुआ ।' तब रावण कहने लगा—'देवि ! तुम शपथ खाओ कि मेरी बात सुनकर तुम क्रोध नहीं करोगी ।' तब मन्दोदरी ने शपथ खाई । तब रावण बोला-'एक भूमिगोचरी की स्त्री सीता को लाकर मैंने उद्यान में रक्खा है । अनेक उपाय करने पर भी वह मेरे अनुकूल नहीं होती । यदि तुम मुझे जीवित देखना चाहती हो तो तुम जाकर उसे अनुकूल करने का प्रयत्न करो ।' मन्दोदरी यह सुनकर बोली—'अच्छी बात है । मैं उसे वश में करके तुमसे मिलाऊँगी ।'

यह कहकर मन्दोदरी अशोक उद्यान में सीता के पास पहुँची और समझाने लगी—'लड़की ! तू यहाँ

आकर उदास क्यों है। जिसे रावण जैसा बली त्रिखण्डाधिपति पति प्राप्त हो रहा हो, उसे शोक करना उचित नहीं है। तेरे राम-लक्ष्मण रावण की तुलना में अति तुच्छ हैं। यदि तू महाराज रावण की बात स्वीकार नहीं करेगी तो रावण कुपित होकर क्षणभर में राम और लक्ष्मण को मार डालेंगे। यदि तूने समझ से काम लिया तो तू पटरानी बनकर जीवन का आनन्द उठायेगी।'

यह सुनकर अश्रुपूरित नयनों से मन्दोदरी को देखती हुई सीता बोली—'माता! सतियों के मुख से ऐसे वचन नहीं निकलने चाहिये। मेरा शरीर टुकड़े-टुकड़े कर दिया जाय, तब भी मैं राम को छोड़ अन्य पुरुष की इच्छा नही कर सकती। पर-पुरुष चाहे इन्द्र चक्रवर्ती ही क्यों न हो।'

इधर ये बातें हो ही रही थीं कि काम से व्याकुल रावण वहाँ आया और मुस्कराता हुआ सीता को समझाने लगा। किन्तु सीता ने फटकारते हुए करारा उत्तर दिया। तब रावण ने क्रोधित होकर विद्याबल से वहाँ घोर अंधकार कर दिया। नाना प्रकार के फुंकारते हुए विषधर और भयानक जन्तु सीता को डराने के लिये भेजे। किन्तु सीता राम के ध्यान में निमग्न रही, वह भयभीत नहीं हुई।

तब रावण वहाँ पर ही पर्दा डालकर मंत्रियों से मंत्रणा करने लगा। वहाँ सीता के रुदन के शब्द विभीषण के कानों में पड़े। वह पर्दा उठाकर सीता के पास पहुँचा और पूछने लगा—'बहिन! तू किसकी पुत्री है और यहाँ बैठी क्यों रुदन कर रही है।' तब सीता ने उत्तर दिया—'भाई! मैं मिथिलापति जनक की पुत्री और अयोध्यापति दशरथ की पुत्र-वधू हूँ। वन में जब मेरे पति राम और देवर लक्ष्मण युद्ध को गये थे तो मुझे अकेली पाकर पापी रावण मुझे हर लाया है। अतः आप मुझे यहाँ से छुड़ाकर मेरे पति राम के पास पहुँचाने का कोई उपाय करो।'

सीता के मुख से ये वचन सुनकर विभीषण को बड़ा क्रोध आया। वह रावण के पास आकर कहने लगा—'देव! आप ज्ञानवान हैं, फिर भी आपने परस्त्री हरण जैसा अपवादकारी निंद्य पाप क्यों किया? आप यह तो जानते ही हैं कि परस्त्री समागम से कुल की अपकीर्ति और नाश हो जाता है। अतः आप दया करके सीता को उसके पति के पास पहुँचा दें।' किन्तु यह सुनकर निर्लज्ज रावण बड़ी धृष्टता से बोला—'त्रिखण्ड में जितनी भी सुन्दर वस्तुयें हैं, सब मेरी हैं।' यह कहकर वह मारीच आदि से बात करने लगा। तब मारीच कहने लगा—नाथ! राजाओं को सदा न्याय-मार्ग पर चलना चाहिये। लोकनिंद्य काम करने से वंश का नाश हो जाता है।'

रावण को मारीच का उपदेश रुचिकर नहीं लगा और वह वहाँ से उठकर चल दिया। उसने अपना सारा वैभव सीता के आगे से निकाला, जिससे सीता प्रभावित हो किन्तु सीता पर इसका कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। वह तो सदा राम के ही चरणों का ध्यान करती थी। उसने मन में संकल्प कर लिया कि जब तक पुनः पति से समागम न होगा तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगी। रावण ने सीता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अनेक चतुर स्त्रियाँ सीता के पास रख दीं, जो रत्न, मुक्तक आदि के अनेक आभूषण और शृंगार की सामग्री सीता के पास लाकर रखतीं, उसे प्रेमभरी रसीली बातें सुनातीं, कोई उसे भयभीत करती, किन्तु सीता उनको न कुछ उत्तर देती और न ही बोलती। वे जाकर रावण को रिपोर्ट देती कि सीता पर हमारी बातों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। रावण काम विमूढ़ हुआ सीता का ही दिनरात ध्यान करता।

तब एक दिन विभीषण ने मंत्रि-परिषद बुलाई और कहने लगा—'देखो, रावण सीता को ले आया है। इससे बड़ा अनर्थ होगा। न्याय मार्ग पर चलने वाले हनुमान आदि राजा विरुद्ध हो जायेंगे। रावण का दाहिना हाथ खरदूषण मारा ही गया है। राम की सहायता पाकर विराधित बलवान हो गया है। वानरवंशी अपनी ही समस्याओं में उलझे हुए हैं। भगवान के मुख से आप लोग सुन ही चुके हैं कि दशरथ के पुत्रों के हाथ से रावण की मृत्यु होगी। अतः आप लोग कुछ उपाय करें कि यह अनर्थ टल सके।' तब मंत्रियों ने निश्चय किया कि लंका की सुरक्षा का पूर्ण प्रबन्ध करना चाहिये। प्रभावशाली पुरुषों को मधुर वाक्यों से अपने पक्ष में कर लेना चाहिये और दुष्ट जनों को धनादि से परितृप्त कर अपने अनुकूल करना चाहिये। रावण का जिसमें हित हो, हमें वही कार्य

करना चाहिये। सीता के विना राम जीवित नहीं रहेगा और राम के मरने पर लक्ष्मण स्वयं मर जायगा। अतः हमें तव तक धैर्य रखना चाहिये।

इस निर्णय के अनुसार विभीषण ने लंका के चारों ओर यंत्रों का एक दूसरा परकोट वनवाया, खाई खुदवादी। चारों ओर रक्षा के लिए सुभट और दिक्पाल नियुक्त कर दिये और युद्ध की सी तैयारी होने लगी।

सुग्रीव से राम की मित्रता

सुग्रीव की स्त्री सुतारा के प्रति आसक्त विद्याधर साहसगति पर्वत पर जाकर कामरूपिणी विद्या सिद्ध कर किष्किधापुरी आया। उस समय सुग्रीव कहीं बाहर गया हुआ था। अतः साहसगति सुग्रीव का रूप बनाकर महलों में गया और सुतारा को पकड़ने लगा। किन्तु रूप वना लेने पर भी साहसगति को सुग्रीव के समान वातें नहीं आती थीं, न वह वहाँ के शयनासन, द्वारपालों आदि से ही परिचित था। अतः सुतारा को सन्देह हो गया और वह उससे वचकर दूसरे कक्ष में चली गई। तभी असली सुग्रीव नगर में आया। उसे देखकर लोग आश्चर्य करने लगे—एक तो सुग्रीव पहले आया ही था, यह दूसरा कौन आ गया। लोगों के आश्चर्य को देखता हुआ असली सुग्रीव महलों में पहुँचा। वहाँ पहुँचते ही छद्मवेशी साहसगति उससे लड़ने आया। दोनों ओर की सेनायें भी आडटीं। तब मंत्रियों ने सोचा—'असली सुग्रीव कौन सा है, यह निर्णय करना कठिन है। फिर व्यर्थ ही इन गरीव सैनिकों का अकारण वव क्यों कराया जाय।' यह सोचकर उन्होंने दोनों सुग्रीवों को उत्तर और दक्षिण दिशा में ठहरा दिया। सुतारा ने वताया कि जो पहले आया था, वह नकली सुग्रीव है। जामवन्त ने भी उसका समर्थन किया। किन्तु मंत्रियों ने उनकी वात पर ध्यान नहीं दिया। वहाँ का शासन-सूत्र वाली के पुत्र चन्द्ररश्मि ने संभाल लिया तथा प्रतिज्ञा की कि जो भी सुग्रीव महलों में आवेगा, उसका ही वध कर दूँगा।

असली सुग्रीव बेचारा वड़ा दुखी हुआ। उसने रावण तथा अपने मित्र हनुमान से सहायता माँगी। हनुमान सेना लेकर आया तो नकली सुग्रीव ने उसका वड़ा स्वागत किया। तब हनुमान भी असली और नकली सुग्रीव की पहचान नहीं कर पाया और वह वापिस चला गया। तब सुग्रीव खरदूषण से सहायता लेने के लिए दण्डकारण्य पहुँचा। वहाँ हाथी, घोड़ों और मनुष्यों की लाशों को देखकर सोचने लगा कि यहाँ युद्ध किसका हुआ है। उसने एक मनुष्य से इस वारे में पूछा तो उसने खरदूषण की मृत्यु, सीता हरण आदि वृत्तान्त कह दिया। तव सुग्रीव ने सोचा कि जिन्होंने खरदूषण जैसे वीर को मार दिया, वे अवश्य लोकोत्तर वीर पुरुष हैं। उन्हीं से सहायता लेनी चाहिए। अतः उसने एक दूत राजा विराधित के पास दोस्ती के उद्देश्य से अलंकारपुर भेजा। दूत ने जाकर विराधित से सब बातें कहीं। विराधित सोचने लगा—राम के संसर्ग से न जाने क्या-क्या लाभ होंगे। देखो, सुग्रीव भी मेरी शरण में आ रहा है! यह विचार कर उसने दूत से कह दिया—सुग्रीव से कहना, वह राम की शरण में आ जाय। वे ही उसका दुःख दूर कर सकेंगे।

दूत ने सुग्रीव से जाकर सव वातें कह दीं। सुग्रीव अपनी सेना के साथ अलंकारपुर जिसे पाताल लंका भी कहते थे-आया। सेना का कोलाहल सुनकर लक्ष्मण ने विराधित से पूछा—'यह किसकी सेना आ रही है।' तव विराधित ने सुग्रीव का परिचय देते हुए कहा—वह वानर वंशी राजा राम की सहायता करने के लिए आ रहा है। तभी सुग्रीव अपने मंत्रियों सहित वहाँ आया। राम और लक्ष्मण उससे प्रेम से मिले। तव राम ने सुग्रीव के मंत्री जामवन्त से उसके आने का कारण पूछा। ज़ामवन्त वोला—'देव! यह चौदह अक्षौहिणी सेना का अधिपति वानर वंशी राजा सुग्रीव है। जब यह तीर्थ यात्रा को गया हुआ था तो कोई मायावी पुरुष सुग्रीव का रूप बनाकर किष्किधापुरी में आ गया और वहाँ रहने लगा। सुग्रीव इससे बड़ा दुखी है। इन्होंने हनुमान से सहायता मांगी, किन्तु उन्होंने इनकी कोई सहायता नहीं की। अतः ये आपकी शरण में आये हैं। आप ही इनका दुःख दूर कर सकते हैं।'

राम ने सोचा—यह भी मेरी तरह ही पत्नी-वियोग से दुखी है। यह मेरा कार्य अवश्य करेगा। यह सोचकर वे सुग्रीव से बोले—'यदि तू मेरी पत्नी सीता का पता लगाकर लावेगा तो मैं नकली सुग्रीव को निकाल कर तुझे तेरी सुतारा और तेरा राज्य दिला दूंगा।' यह सुनकर सुग्रीव वोला—'महाराज! मैं वचन देता हूँ कि यदि

है।' तब राम ने प्रसन्न होकर विद्याधर को सुन्दर मणियों का हार और वस्त्र पुरस्कार में दिये और कहा कि तेरा राज्य भी तुझे वापिस दिलाऊँगा।

इसके बाद राम ने क्रोध में भरकर विद्याधरों से पूछा कि लंका यहाँ से कितनी दूर है और दुष्ट रावण कौन है? यह सुनकर विद्याधर डर गये। कोई रावण के बारे में बताने का साहस नहीं कर सका। बड़ी कठिनाई से जामवंत ने रावण के पराक्रम का परिचय दिया और कहा—उससे लड़ने की सामर्थ्य संसार में किसी की नहीं है। आप सीता का विचार छोड़ दें।

तब लक्ष्मण बोले—'उस अधम रावण को हम देखेंगे। वह शक्तिशाली होता तो यों चोरों की तरह सीता को चुरा कर न ले जाता। आप लोग लंका का मार्ग बता दीजिये।' तब जामवन्त बोला—पुरुषोत्तम राम! आप यह हठ छोड़ दीजिये। एक बार रावण ने भगवान अनंतवीर्य से पूछा था कि मेरी मृत्यु किसके हाथ से होगी। उस समय भगवान ने उत्तर दिया था कि जो अपने पराक्रम से कोटिशिला उठा लेगा, वही चक्र द्वारा तेरा वध करेगा।

यह सुनकर लक्ष्मण बोले—'उस शिला को मैं उठाऊँगा।' लक्ष्मण की यह बात सुनकर सुग्रीव, नल, नील, विराधित राम-लक्ष्मण को विमान में बैठाकर कोटिशिला के निकट गये। यह शिला नाभिगिरि के ऊपर स्थित है। यहाँ से अनेक मुनि सिद्ध हुए हैं। उन्होंने जाकर सुर-असुरों से पूजित उस शिला की अक्षत-पुष्पादि से पूजा की। बाद में लक्ष्मण ने सिद्ध भगवान को नमस्कार कर अपने पराक्रम से उस कोटिशिला को उठाया। लक्ष्मण ने उस शिला को जाँघों तक उठाया। राम आदि सभी यह देखते रहे। देवों ने पंचाश्चर्य किये। सब उपस्थित लोगों को विश्वास हो गया कि सचमुच में लक्ष्मण नारायण हैं। सब लोग उसी दिन विमान में अपने-अपने नगर में वापिस आ गये।

किष्किधापुरी वापिस आने पर राम ने कहा—विद्याधरो! आप लोग अब देर न कीजिये और लंका पर जल्दी चढ़ाई करके दुखी सीता को छुड़ाइये।' तब विराधित बोला—'देव! आप युद्ध चाहते हैं या सीता? यदि बिना युद्ध के सीता मिल जाय तो यह श्रेष्ठ मार्ग रहेगा। हम पहले किसी नीतिज्ञ चतुर व्यक्ति को रावण के पास भेजते हैं। शायद वह समझाने-बुझाने से सीता को वापिस करने पर सहमत हो जाय।

हनुमान का लंका-गमन

राम ने भी इस उपाय को स्वीकार कर लिया। सबने परामर्श किया कि किस व्यक्ति को भेजना उचित रहेगा। सबने एक मत से कहा—हनुमान ही उपयुक्त व्यक्ति है। वही इस कार्य को कर सकता है और रावण को समझा भी सकता है। अत एक दूत को तत्काल विमान द्वारा हनुमान के पास भेजा गया। उसने जाकर हनुमान से खरदूषण और शम्बूक की मृत्यु, और सुतारा की प्राप्ति आदि के सब समाचार सुनाये। अपने पिता खरदूषण और भाई शम्बूक की मृत्यु के समाचार सुन कर हनुमान की पत्नी अनंगकुसुमा विलाप करने लगी और हनुमान की दूसरी पत्नी पद्मरागा अपने पिता सुग्रीव के कुशल समाचार सुनकर हर्ष करने लगी और जिनालय में जाकर नृत्य गान करने लगी। हनुमान ने तब अनंगकुसुमा को धैर्य बंधाया। बाद में सेना लेकर वह किष्किधापुर चला। सुग्रीव आदि राजाओं ने हनुमान का प्रेम से स्वागत किया। सुग्रीव ने सुतारा की प्राप्ति और रामचन्द्र जी के शौर्य आदि के बारे में विस्तारपूर्वक सब समाचार बताये। तब सब लोग रामचन्द्र जी के पास गये। हनुमान ने राम से कहा—'देव! मैं रावण को समझा कर अवश्य सीता को वापिस लाऊँगा। आप निश्चिन्त रहें।'

जब हनुमान चलने लगा तो जामवंत ने उसे समझाया—वानरवंशियों को एकमात्र तुम्हारा ही सहारा हैं। अतः तुम लंका में सावधानी से जाना और किसी के साथ विरोध मत करना।' हनुमान ने उसकी बात मान ली और वहाँ से चलने लगा। तब रामचन्द्र जी ने हनुमान को छाती से लगा कर कहा—'तुम सीता से जाकर कहना कि राम तुम्हारे वियोग में न सोते हैं, न खाते हैं, न बैठते हैं। वे पागलों की तरह इधर-उधर घूमते रहते हैं। वे जानते हैं कि तुम शीलवती हो। उनके वियोग में तुम प्राण त्याग देने पर तुली हो। किन्तु मनुष्य-जन्म बड़ा दुर्लभ है। अतः प्राणों की रक्षा का यत्न करो। शीघ्र ही तुम्हारा और उनका मिलाप होगा। तुम उनकी आशा रक्खो और भोजन करो।' इस प्रकार कहकर रामचन्द्र जी ने निशानी के लिए अंगूठी दी और कहा—वीर! तुम सीता को मेरी यह निशानी दे देना और उसे और भी विश्वास दिलाने के लिये उससे कहना कि रामचन्द्र जी ने कहा है

का स्मरण कर व्याकुल हो रहे हैं। तब हनुमान अपनी विद्या से वृक्ष पर रूप बदल कर जा बैठे और राम को दी हुई अंगूठी सीता की गोद में डाल दी। अंगूठी राम नामाङ्कित थी। अंगूठी को देख कर सीता बड़ी हर्षित हुई, मानो साक्षात् राम के ही दर्शन हो गये हों। सीता को प्रसन्न देखकर विद्याधरियों ने जाकर रावण को समाचार दिया। रावण ने समझा—मेरा कार्य सिद्ध हो गया। उसने उन विद्याधरियों को खूब पुरस्कार दिया और मन्दोदरी से कहा—तुम अन्य रानियों के साथ जाकर सीता को प्रसन्न करो।' मन्दोदरी अन्य रानियों को लेकर सीता के पास पहुँची और उससे कहा—'तुम्हें प्रसन्न देखकर हमें भी प्रसन्नता है। अब तुम संसार विजयी रावण के साथ आनन्द के साथ भोग करो।' सीता सुनकर बड़ी कुपित होकर बोली—'विद्याधरी! मुझे मेरे पति के समाचार मिल गये हैं इसलिये मैं प्रसन्न हूँ। अब यदि मेरे पति ने यह सब सुन लिया तो रावण जीवित नहीं बचेगा।' फिर सीता कहने लगी—'यहाँ ऐसा मेरा कौन भाई है, जिसने लाकर मुझे राम की अँगूठी दी है।'

हनुमान यह सुनकर वृक्ष से नीचे उतरे और उन विद्याधरियों के समक्ष ही सीता के सामने जा पहुँचे और चरणों में नमस्कार कर कहा-'माता! रामचन्द्र जी की यह अँगूठी मैं लाया हूँ।' सीता द्वारा परिचय पूछने पर हनुमान ने अपना परिचय देते हुए कहा—रामचन्द्र जी आपके वियोग में बड़े दुखी हैं, न खाते हैं, न सोते हैं। दिन-रात आपका ही ध्यान करते रहते हैं।' अपने पति के समाचार पा कर सीता बड़ी प्रसन्न हुई। फिर वह कहने लगी—'हाय! मैं पापिनी तुझे इस समय इस खुशी के समाचारों के बदले कुछ भी नहीं दे सकती।' हनुमान बोला—, माता! आपके दर्शनों से ही मेरा पुण्य-वृक्ष फल गया।' तब सीता बार-बार राम-लक्ष्मण की कुशलता के समाचार पूछने लगी और कहने लगी--'हनुमान! सच कहना, कहीं उनकी अंगुली से गिर जाने के कारण यह अंगूठी तुम उठा तो नहीं लाये। वे इस समय कहाँ हैं। लक्ष्मण खरदूषण से युद्ध करने गये थे। उनके वियोग में कहीं राम ने प्राण तो नहीं त्याग दिये।' तब हनुमान ने कहा—'माता वे इस समय किष्किंधापुर में हैं। बहुत से विद्याधर उनके साथ हैं। उन्होंने ही मुझे आपके पास भेजा है।'

तब मन्दोदरी हनुमान से बोली—'अरे कृतघ्न! अब रावण की सेवा छोड़कर विद्याधर होकर भी तूने भूमि गोचरियों की सेवा अंगीकार करली है। अब तेरी कृतघ्नता का फल तुझे शीघ्र मिलेगा! रावण राम-लक्ष्मण सहित तुझे भी शीघ्र मार डालेंगे।' तब हनुमान ने उसे करारा उत्तर देते हुए कहा --'भूमिगोचरी तो तीर्थंकर भी होते हैं। तू राम-लक्ष्मण के पराक्रम को नहीं जानती। इसीलिए तू पटरानी होकर यह दूती का निंद्य कार्य कर रही है। तू देखेगी कि राम-लक्ष्मण के हाथों तेरा पति रावण अब शीघ्र ही मारा जायगा।'

तब मन्दोदरी आदि सीता को मारने झपटी किन्तु हनुमान की एक ही हुंकार से वे भयभीत होकर वहाँ से भाग गईं। तब हनुमान ने सीता से कहा—'माता! आप भोजन कर लीजिये। रामचन्द्र जी ने यह आज्ञा दी है। विभीषण की रानियों ने भी सीता से भोजन करने का बहुत आग्रह किया। बड़ी कठिनाई से सीता ने थोड़ा सा भोजन किया। हनुमान ने फिर निवेदन किया—'माता! आप मेरे कन्धे पर बैठ जाइये। मैं अभी आपको रामचन्द्र जी के पास पहुँचाये देता हूँ।' किन्तु सीता ने कहा—'बिना प्रभु रामचन्द्र जी की आज्ञा के मैं वहाँ नहीं जा सकती। दुनियाँ मेरा अपवाद करेगी। तू विश्वास के लिए यह चूड़ामणि रत्न लेजा और प्रभु से कहना—सीता आपके दर्शनों की लालसा से ही प्राण धारण किये हुए है।' इस प्रकार कह कर सीता ने हनुमान से शीघ्र चले जाने को कहा।

सीता की आज्ञानुसार हनुमान वहाँ से चल दिया। रानियों ने जाकर रावण से शिकायत की। रावण ने नौकरों को आज्ञा दी कि जाकर विद्याधर को पकड़ लाओ। नौकरों को आते देखकर हनुमान ने विद्या से वानर का रूप रख लिया और एक वृक्ष की शाखा में छिप गया। जब हनुमान को कहीं नहीं देखा तो वे इधर-उधर ढूंढ़ने लगे। तब हनुमान ने वृक्ष उखाड़-उखाड़ उन्हें मारना शुरू कर दिया। उसने उस उद्यान को तहस-नहस कर दिया। घुड़शालायें नष्ट कर दीं, गजशालाओं में आग लगा दी। अनेक लोगों को मार डाला। तब कुछ लोगों ने जाकर रावण से फरयाद की— महाराज! कोई भारी दैत्य आया है। उसने अनेक घर ढा दिये, वृक्ष उखाड़ फेंके, अनेक लोगों को मार डाला।' यह सुनकर रावण ने अपने पुत्र मेघनाद से कहा—पुत्र! तू जा, देख तो यह कौन पापी आया है।

विभीषण के यह वचन सुन कर रावण क्रोध में अंधा होकर विभीषण को मारने दौड़ा, तव विभीषण भी युद्ध के लिये तैयार हो गया। तब मंत्रियों ने समझा-बुझाकर दोनों को रोका। किन्तु रावण क्रोध में भर कर वोला—'दुष्ट! तू शत्रु से मिल गया है। अतः तू इसी समय लंका से निकल जा।' विभीषण वोला—'अच्छी वात है। मैं अभी यहाँ से जाता हूँ। यदि मैंने लंका नष्ट न की तो मै रत्नश्रवा का पुत्र नहीं। इस प्रकार कह कर विभीषण तीस अक्षौहिणी सेना लेकर राम से मिलने चल दिया।

विभीषण की सेना का कोलाहल सुनकर वानरवंशी सेना भी युद्ध के लिए तैयार हो गई। राम और लक्ष्मण ने वज्रावर्त और सागरावर्त धनुष उठाये और नगर से वाहर युद्ध के लिये चल दिये। वानरवंशी सेना भी उनके पीछे चल दी। तव विभीषण ने राम के पास दूत भेजा। दूत ने आकर राम से कहा—'देव! विभीषण अपने भाई रावण से शत्रुता कर आपकी शरण में आये हैं।' राम ने यह सुनकर जांबुनद आदि मंत्रियों को बुला कर मंत्रणा की और यह निर्णय किया कि विभीषण धर्मात्मा है। रावण से सीता को लेकर उसका प्रारम्भ से ही विरोध रहा है। अतः दोनों में मतभेद और शत्रुता होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसलिये विभीषण को अवश्य बुलाना चाहिये। फलतः विभीषण को भेजने के लिये दूत से कह दिया। विभीषण ने आकर राम को नमस्कार किया और वोला—'प्रभो! इस जन्म में आप और दूसरे जन्म में भगवान जिनेन्द्र मेरे शरण हैं।' राम ने बड़े प्रेम से विभीषण से कहा—'विभीषण! मैं विजय कर राक्षस द्वीप सहित लंका तुम्हें दूँगा, मेरी यह प्रतिज्ञा है।'

इधर यह वात हो रही थी, तब तक अनेक विद्याओं का अधिपति भामण्डल आ पहुँचा। उसे देखकर वानर वंशियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। उसके साथ एक हजार अक्षौहिणी सेना थी।

अव सेना को लेकर राम ने लंका की ओर प्रयाण किया और लंका के बाहर सेना का पड़ाव डाल दिया। उसी के सामने रावण की सेना भी आ डटी। रावण की सेना में चार हजार अक्षौहिणी थी और राम की सेना में दो हजार अक्षौहिणी थी।

सवसे प्रथम रावण की ओर से हस्त और प्रहस्त नामक सुभट अपनी सेना लेकर युद्ध के लिए आये। इधर राम, लक्ष्मण और नल-नील भी आगे बढ़े। उनके पीछे उनकी सेना थी। युद्ध प्रारम्भ हो गया। रक्त की कीचड़ मच गई। हाथी, घोड़े, मनुष्य कट कट कर गिरने लगे। लाशों पर लाश पड़ने लगीं। तव नल, नील ने भयंकर युद्ध कर भिण्डमाल के प्रहार से हस्त-प्रहस्त को मार दिया।

दूसरे दिन रावण पक्ष के मारीच आदि राजा युद्ध के लिये आये। उन्होंने भयंकर युद्ध किया। वानर वंशियों में भगदड़ मच गई। तव हनुमान आगे बढ़ा। उसके प्रहार से राक्षसवंशियों की सेना तितर-वितर होने लगी। उसे रोकने के लिए राक्षसों का सेनापति माली आगे आया। हनुमान और माली का घोर युद्ध हुआ। हनुमान ने माली के हृदय पर भयानक वेग से शक्ति का प्रहार किया। वह मूर्च्छित हो गया। उसके सैनिक उसे युद्धस्थल से उठा ले गये। तव वज्रोदर माली के स्थान पर लड़ने लगा। हनुमान ने उसे अल्पकाल में ही मार डाला। फिर रावण का पुत्र जंवुमाली लड़ने आया। दोनों वीरों में वड़ी देर तक युद्ध हुआ। हनुमान ने जंवुमाली के सीने पर वज्रदण्ड का कठोर प्रहार किया, जिससे वह मूर्च्छित हो गया। उसको सेना उसे लेकर भाग निकली। हनुमान ने भागती हुई सेना का पीछा किया और जहाँ रावण खड़ा था, वहाँ हीनिर्भय होकर युद्ध करने लगा। उसे देखकर रावण आगे वढ़ा, किन्तु उसे रोक कर अन्य योद्धा युद्ध करने लगे और हनुमान को घेर लिया। तव नल, नील, सुग्रीव, सुषण, विराधित, प्रीतिंकर, भामण्डल, समुद्र, हंस आदि राजा मिलकर राक्षस-सेना पर टूट पड़े। राक्षस घवड़ा गये। तव वीर कुम्भकर्ण लड़ने उठा। उसने वानरवंशियों को दवाना शुरू किया। तव उससे लड़ने के लिए हनुमान, अंगद, भामण्डल, शशी इन्द्र, आये। कुम्भकर्ण ने माया से सवको सुला दिया। सवके हाथ से शस्त्र गिर गये। तव सुग्रीव ने प्रवोधिनी विद्या द्वारा सवको सचेत किया। वे पुनः सचेत हो गये और उससे युद्ध करने लगे। उनके प्रहारों से कुम्भकर्ण घवड़ा गया। तव रावण स्वयं युद्ध करने आया। किन्तु इन्द्रजीत ने उसे रोक कर स्वयं युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। उसने वाणों की वर्षा से सवको क्षत-विक्षत कर दिया। अपनी सेना का यह विनाश देखकर सुग्रीव, भामण्डल आदि उससे युद्ध करने लगे। सुग्रीव इन्द्रजीत से भिड़ गया, भामण्डल मेघनाद से जा जूझा।

हनुमान ने कुम्भकर्ण को जा दवाया। अद्‌भुत युद्ध हुआ। इन्द्रजीत ने मेघ बाण छोड़ा तो भयंकर वर्षा होने लगी। सारा कटक मछली की तरह तैरने लगा। तब सुग्रीव ने पवन बाण से मेघों को छिन्न विच्छिन्न कर दिया। तब इन्द्रजीत ने अग्नि बाण छोड़ा। चारों ओर आग लग गई। उसे सुग्रीव ने मेघ बाण छोड़ कर बुझा दिया। अन्त में इन्द्रजीत ने मायामय अस्त्रों से सुग्रीव को व्याकुल कर दिया और फिर नागपाश में बाँध लिया। उधर मेघनाद ने भामण्डल को उसी शस्त्र से बाँध लिया।

यह देखकर विभीषण ने राम और लक्ष्मण से कहा—'प्रभो ! देखिये, सुग्रीव और भामण्डल को नागपाश में बाँध लिया है और हनुमान को घायल कर कुम्भकर्ण ने भुजाओं में जकड़ लिया है। इनके मर जाने पर हम सबका मरण निश्चित है। आप इनकी रक्षा कीजिये। मैं तब तक इन्द्रजीत और मेघवाहन को रोकता हूँ।' यह कह कर विभीषण इन्द्रजीत और मेघनाद से युद्ध करने पहुँचा। दोनों भाई अपने चाचा से संकोच के साथ युद्ध से हट गये। तब तक अंगद ने कुम्भकर्ण से हनुमान को छुड़ा लिया। सुग्रीव और भामण्डल को मरा जानकर राक्षस वापिस चले गये। तब सब लोग उनके पास आये। उस समय राम ने गरुणेन्द्र को स्मरण किया और उससे उन दोनों को जिलाने के लिये कहा। तब प्रसन्न होकर गरुणेन्द्र ने राम को हल, मूशल, छत्र, चमर, और सिंहवाहिनी विद्या दी और लक्ष्मण को गदा, खड्ग और गरुड़वाहिनी विद्या दी। दोनों भाई अन्य राजाओं के साथ सुग्रीव और भामण्डल के पास आये। गरुड़ों की हवा लगने से सर्पों के बन्धन ढीले पड़ने लगे, विष दूर हो गया और दोनों बीर मूर्च्छा से उठकर बैठ गये। सब लोग बड़े हर्षित हुए।

अगले दिन मारीच आदि सेनानायक युद्ध के लिए आगे आये और उन्होंने वानरवंशी सेना पर भारी दबाव डालना प्रारम्भ किया। उनका प्रतिरोध करने के लिये भामण्डल आगे बढ़ा। उसने राक्षस सेना को दबाया।

लक्ष्मण के शक्ति का लगना

तब रावण युद्ध के लिये स्वयं आया। उसने बाण-वर्षा करके वानर-सेना को तितर बितर कर दिया। यह देखकर विभीषण उससे युद्ध करने आ गया। उसे देखकर रावण बोला—'तू व्यर्थ में क्यों मरने आ गया। मैं तो शत्रुओं को मारने आया हूँ। अतः तू लौट जा।' तब विभीषण बोला—'तुम सीता राम को सौंप दो, अन्यथा तुम मारे जाओगे।' दोनों भाई युद्ध करने लगे। रावण ने विभीषण का छत्र उड़ा दिया। विभीषण ने उसकी ध्वजा उड़ा दी। लक्ष्मण इन्द्रजीत से और राम कुम्भकर्ण से युद्ध करने लगे।

इन्द्रजीत ने लक्ष्मण पर अन्धकार बाण छोड़ा। लक्ष्मण ने सूर्य बाण छोड़कर अन्धकार का नाश कर दिया। इन्द्रजीत ने नागबाण छोड़ा तो लक्ष्मण ने गरुड़ बाण छोड़कर नागों को भगा दिया। इसके बाद लक्ष्मण ने नागबाण छोड़ कर इन्द्रजीत को बांध लिया। इन्द्रजीत नागपाश में बंधकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। राम ने भी कुम्भकर्ण को नागपाश में बाँध लिया। राम-लक्ष्मण का संकेत पाते ही भामण्डल ने दोनों वीरों को अपने रथ में डाल लिया। विराधित ने मेघनाद को नागपाश में बाँध लिया। रावण ने विभीषण पर त्रिशूल छोड़ा, लक्ष्मण ने आकर उसे बीच में ही रोक लिया। तब रावण ने धरणेन्द्र द्वारा दी हुई शक्ति को हाथ में लेकर लक्ष्मण से कहा 'अरे बालक ! तू क्यों व्यर्थ में युद्ध करने आया है। अब तू वज्र प्रहार से मेरे हाथों मारा जायगा। लक्ष्मण ने क्रोध में उत्तर दिया—अरे दुष्ट ! तू परस्त्रीलम्पट है। आज तेरी मृत्यु निश्चित है।' यों कह कर दोनों महावीर परस्पर भिड़ गये। रावण ने ताक कर वह शक्ति लक्ष्मण के वक्षस्थल पर फेंक कर मारी। शक्ति लगते ही लक्ष्मण मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। तब राम रावण से युद्ध करने लगे। उन्होंने रावण को छह बार रथरहित कर दिया और बाण-वर्षा से उसे ढंक दिया। रावण व्याकुल होकर युद्ध बन्द कर लौट गया।

रावण को सन्तोष था कि चलो आज एक वीर तो मारा गया। किन्तु जब उसे कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघनाद के समाचार मिले तो वह विलाप करने लगा। उधर सीता को लक्ष्मण के समाचार मिले तो विलाप करने लगी।

रावण के चले जाने पर राम लक्ष्मण के पास पहुंचे और उन्हें मरा हुआ जानकर वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। जब उन्हें होश आया तो वे विलाप करने लगे—वत्स ! तू मुझे विदेश में अकेला छोड़ कर कहां चला गया।

अब मुझे सीता, माता और भाइयों से क्या काम है। हे विद्याधरो ! तुम शीघ्र चिता तैयार करो। मैं उसमें जलकर मर जाऊँगा, अब तुम लोग भी अपने घर वापिस जाओ और मेरे अपराध क्षमा करो। तब जांवुनद ने उन्हें समझाया—'देव ! आप व्यर्थ ही शोक क्यों करते हैं। लक्ष्मण शक्तिवाण से मूर्च्छित हैं। वे सुबह तक अवश्य होश में आ जायेंगे।

सब लोग लक्ष्मण को होश में लाने का उपाय करने लगे। वहाँ की युद्ध भूमि साफ करके वहीं डेरे तम्बू डाल दिये और कनात लगाकर सात दरवाजों पर सात वीर पहरा देने लगे। इतने में आकाश-मार्ग से एक मनुष्य आया और भामण्डल से बोला—'देव ! आप मुझे इसी समय राम के दर्शन करा दीजिए। मैं लक्ष्मण को जीवित करने का उपाय बताता हूँ। तब भामण्डल उसे राम के निकट ले गये। राम को नमस्कार कर वह बैठ गया। तब राम ने उसका परिचय और आने का प्रयोजन पूछा। तो उस व्यक्ति ने कहा—'देव ! मैं देवगीत नगर के राजा शशिमंडल का पुत्र शशिप्रभ हूँ। एक बार मेघ के पुत्र विनय ने मुझ पर शक्ति का प्रहार किया था। उससे मैं मूर्च्छित हो गया था। मैं अयोध्या के बाहर मूर्च्छित पड़ा हुआ था। तब अयोध्या के राजा भरत ने मेरे ऊपर जल छिड़का, उससे मैं ठीक हो गया था। एक बार अयोध्या में बीमारी फैल गई थी। तब लोगों के कहने से राजा भरत ने राजा द्रोण को बुलाया। द्रोण ने सबके ऊपर जल छिड़क दिया तो मनुष्य और पशु ठीक हो गये। तब राजा भरत ने द्रोण से उस जल के बारे में पूछा तो उसने बताया कि मेरी पुत्री विशल्या को एक दिन उसकी धाय चन्द्रावती ने स्नान कराया था। उस जल के लगते ही एक कुतिया—जो सड़ रही थी—ठीक हो गई। तबसे चन्द्रावती ने उस जल के प्रभाव से अनेक रोगियों को ठीक किया है। अतः विशल्या के जल के प्रभाव से लक्ष्मण की मूर्च्छा अवश्य दूर हो जायगी।'

तब राम ने विद्याधरों को आज्ञा दी कि तुम लोग शीघ्र जाकर विशल्या का जल ले आइये। तब उसी समय हनुमान, भामण्डल और अंगद वहाँ से विमान में चलकर अयोध्या आये और राजा भरत से मिले। हनुमान ने सीता हरण और रावण से युद्ध की बात बताई। यह सुनकर भरत को बड़ा क्रोध आया। उसने रणभेरी बजादी। भेरी का शब्द सुनकर अयोध्यावासी जाग गये और धीरे-धीरे सब लोग वहाँ एकत्रित होने लगे। शत्रुघ्न मंत्रियों सहित वहाँ पहुँचा। उससे भरत ने कहा—शत्रुघ्न युद्ध की तैयारी करो। अभी लंका पर आक्रमण करना है।' किन्तु हनुमान बोले—विद्याधरों के इस युद्ध में आपको चलने की आवश्यकता नहीं है। लक्ष्मण शक्ति-बाण के कारण मूर्च्छित पड़े हैं। आप तो विशल्या का स्नान-जल दे दीजिये।' भरत लक्ष्मण को मूर्च्छा की बात सुनकर रोने लगा। फिर बोला—जल से तो थोड़ा ही लाभ होगा। अच्छा यही होगा कि आप लोग विशल्या को ही अपने साथ लेते जाइये। उसके पिता द्रोण ने विशल्या का विवाह लक्ष्मण के साथ करने का निश्चय कर रखा है।' इस प्रकार कह कर भामंडल, हनुमान, अंगद और कैकेई को लेकर भरत कौतुक मंगल नगर पहुँचा और वहाँ राजा द्रोण से मिल कर सब समाचार बताये तथा उनसे विशल्या की याचना की। द्रोण ने बड़ी प्रसन्नता के साथ विशल्या को उनके साथ कर दिया। वे लोग विशल्या को लेकर लंका पहुँचे और, भरत कैकेयी अयोध्या लौट गये। अयोध्यावासी राम की चिन्ता करने लगे।

हनुमान आदि ने युद्ध स्थल पर पहुँच कर राम को विशल्या के आने का वृत्तान्त बताया। सबने विशल्या का सत्कार किया। ज्यों ही विशल्या ने लक्ष्मण के ऊपर जल छिड़का तो लक्ष्मण यह कहते हुए उठ बैठे—'कहाँ गया पापी रावण। राम ने गद्गद होकर उसका आलिंगन किया और सबने लक्ष्मण को नमस्कार किया। राम की आज्ञा से कुम्भकर्ण आदि पर भी वह जल छिड़का गया, जिससे सब लोग निर्विष हो गये। घायल लोग स्वस्थ हो गये।

मारीच आदि मंत्रियों ने जब सुना कि लक्ष्मण पुनः जीवित हो उठे हैं तो उन्हें अपने पक्ष की निर्बलता का अनुभव हुआ। उन्होंने रावण से विनयपूर्वक कहा—'देव ! लक्ष्मण शक्ति से मरकर भी पुनः जीवित हो उठा है, उनके पक्ष के सभी वीर स्वस्थ हो गये हैं। जबकि कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघवाहन अभी तक शत्रु के कारागार में हैं। हमारी बहुत सी सेना मारी जा चुकी है। उधर देवर को जीवित हुआ जानकर सीता भी प्रसन्न है। वह राम के गुणों में अनुरागी है। वह आपको कभी स्वीकार नहीं करेगी। अतः इस कुल-विनाशक व्यर्थ युद्ध करने से क्या लाभ है। हमारे लिये अब उचित यही होगा कि सीता राम को वापिस दे दें और उनसे सन्धि कर लें।'

रावण द्वारा बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करना

रावण ने कहा—'अच्छी बात है।' उसने एक दूत को समझा बुझा कर राम के पास भेजा। दूत ने जाकर राम को नमस्कार किया और कहने लगा—'महाराज! त्रिखण्डाधिपति रावण ने यह कहा है कि आप मेरे भाई और पुत्रों को छोड़ दें तथा मुझसे सन्धि कर लें। आप सीता की याद भूल जायं। उसके बदले में आपको तीन सौ कन्यायें और आधा राज्य दे दूंगा।' रामचन्द्रजी यह सुनकर बोले—'भाई! मुझे अन्य स्त्रियों से कोई प्रयोजन नहीं है। तुम रावण से कह देना कि वह मुझे मेरी सीता वापिस कर दे, मैं उसके भाई और पुत्रों को वापिस कर दूंगा।' फिर भी दूत बोला—'देव! आप समझदार हैं। आप त्रिखंडी राजा रावण के साथ दुराग्रह न करें। आपके पक्ष के बहुत से राजा उनके हाथ से मारे जा चुके हैं, आप भी उसी प्रकार व्यर्थ मारे जायंगे।' दूत के ये उद्दण्ड वचन सुनकर भामण्डल को भारी क्रोध आया और उसने दूत को अपमानित करके निकाल दिया।

दूत ने जाकर रावण को सारी बातें बताईं। रावण सोचने लगा—'यदि मैं युद्ध में वानरों को जीतकर भाई और पुत्रों को छुड़ाने का प्रयत्न करूं तो वे उन्हें पहले ही मार डालेंगे। यदि मैं गुप्त रूप से जाकर रात में उन्हें छुड़ाता हूं तो मेरी अपकीर्ति होगी। अतः उचित होगा कि मैं पहले बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करूं। उसके सिद्ध हो जाने पर सब काम सिद्ध हो जायंगे।' यों निश्चय करके उसने मंत्रियों को आदेश दिया कि मैं जब तक विद्या सिद्ध करता हूं, तब तक भरत क्षेत्र के सभी मन्दिरों में तीनों काल पूजन, कीर्तन, सामायिक होनी चाहिये, लंका में हिंसा बन्द रहे, युद्ध बन्द रहे। मेरी सेवा में केवल मन्दोदरी आदि रानियां रहेंगीं।' इस प्रकार आदेश देकर वह शांतिनाथ जिनालय में फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को शुद्ध वस्त्र पहन कर और सामग्री लेकर जा बैठा और नियम कर लिया कि जब तक कामरूपिणी विद्या सिद्ध न हो जायगी, तब तक के लिए उपवास है। इस प्रकार नियम करके वह ध्यान लगाकर बैठ गया।

जब विभीषण को यह ज्ञात हुआ तो उसने वानरवंशियों को एकत्र कर कहा—'रावण विद्या सिद्ध कर रहा है। यदि उसे वह विद्या सिद्ध हो गई तो हमारा जीतना कठिन हो जायगा। अतः उसकी विद्या-सिद्धि में विघ्न डालना चाहिये।' यह सुनकर अनेक विद्याधर लंका में जा पहुंचे। उन्होंने नगर को लूटना, नष्ट करना प्रारम्भ कर दिया। अनेक लंकावासियों को मार दिया। नगर में त्राहि त्राहि मच गई। उन्होंने राजमहल में भी जाकर बड़े उत्पात किये। यह देखकर मय नामक दैत्य विद्याधरों से लड़ने को तैयार हुआ, किन्तु मन्दोदरी ने उसे रोक दिया कि महाराज रावण की ऐसी आज्ञा नहीं है। तब वानरवंशी शान्तिनाथ जिनालय जा पहुँचे। वहाँ जाकर उन्होंने भगवान के दर्शन किये। उसके पश्चात् वे वहाँ पहुंचे जहाँ रावण बैठा हुआ था। वहाँ जाकर उन्होंने रावण के समक्ष ही रावण की रानियों की दुर्दशा करना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु रावण अविचल भाव से विद्या-साधन करता रहा। अन्त में उसे वह विद्या सिद्ध हो गई। विद्या सिद्ध कर रावण भगवान शान्तिनाथ को नमस्कार कर सिंह की तरह उठा। उसे उठते देखकर सब वानर सेना वहाँ से भाग खड़ी हुई। रानियों ने रावण से शिकायत की कि इन वानरों ने हमारी बड़ी दुर्गति की है। रावण बोला—'अब सब वानरवंशी सेना मेरे हाथों से मारी जायगी। तुम लोग निश्चिंत रहो।' यह कह कर वह प्रासाद में पहुँचा और वहाँ स्नान कर पुनः जिनालय में गया। वहाँ उसने भगवान की पूजा की। फिर भोजन आदि से निवृत्त होकर मण्डप में आया और विद्या की परीक्षा की, इसके अनेक रूप बनते गये। अब सबको विश्वास हो गया कि रावण अवश्य विजयी होगा।

इसके पश्चात् रावण शृंगार करके सीता के पास पहुँचा। उस समय एक दासी सीता को रावण की बहुरूपिणी विद्या की सिद्धि की प्रशंसा कर रही थी। तभी रावण वहाँ पहुँचा और बोला—'देवी! मुझे बहुरूपिणी विद्या सिद्ध हो गई है। मैंने भगवान अनन्तवीर्य के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि जो स्त्री मुझे नहीं चाहेगी, उसके साथ मैं बलात्कार नहीं करूँगा। अतः मैंने तुझे आज तक स्पर्श नहीं किया। अब मैं तेरे राम और लक्ष्मण को इस विद्या के बल से निष्प्राण करूँगा। फिर तू मेरे साथ पुष्पक विमान में विहार करना और जीवन के आनन्द उठाना। तब सीता रावण को धिक्कारती हुई कहने लगी—'हे दशानन! तुम उच्च कुल में पैदा होकर ऐसे अधम विचार करते हो, तुम्हें धिक्कार है। मैं तुमसे एक बात कहती हूँ। जब तुम्हें मेरे राम मिलें तो उनसे कहना कि सीता के प्राण केवल तुम्हारे दर्शन के लिए अटके हुए हैं।' यों कह कर सीता मूर्छित हो गई।

यह देखकर रावण को पश्चाताप हुआ और वह मन में अपने को धिक्कारता हुआ कहने लगा—मुझ पापी ने व्यर्थ ही इस शीलशिरोमणि सीता का अपहरण करके लोकनिंद्य काम किया और अपने पवित्र वंश में अकीर्ति-कालिमा लगाई। मैंने अपने बुद्धिमान भाई विभीषण की बात नहीं मानी। यदि उसकी बात मान कर मैं सीता को वापिस कर देता तो लोक में मेरी प्रशंसा होती। किन्तु अब तो वह अवसर जाता रहा। यदि इस समय मैं सीता को वापिस करूँगा तो लोग मुझे कायर कहेंगे। अब तो मेरे लिए एक ही मार्ग है। मैं युद्ध करूँ और राम लक्ष्मण को जीवित पकड़ कर सीता के निकट लाऊँ और उन्हें सीता को सौंप कर वस्त्राभूषण से उनका सन्मान करूँ। इससे लोक में मेरी प्रशंसा होगी तथा मैं पाप से भी बच जाऊँगा। किन्तु इन वानरवंशी विद्याधरों को नहीं छोड़ूँगा। उस अंगद का तो मैं अवश्य बध करूँगा, जिसने मेरी रानियों का अपमान किया है और वह सुग्रीव, भामण्डल, हनुमान इनको भी मारूँगा। इन्होंने मुझसे विद्रोह किया है।

इस प्रकार विचार कर वह वापिस महलों में पहुँचा। तभी अनेक प्रकार के अपशकुन होने आरम्भ हो गए— आसन हिलने लगा, दसों दिशायें कंपायमान होने लगीं, उल्कापात हुआ, गीदड़ियाँ रुदन करने लगीं। यक्षों की मूर्ति से अश्रुपात होने लगे। रुधिर की भी वर्षा हुई। और भी इसी प्रकार के अनेक अपशकुन हुए।

प्रातःकाल होने पर रावण राज दरबार में गया। अनेक वीर राजा भी बैठे हुए थे। किन्तु वहाँ कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघनाद को न देखकर रावण बड़ा दुःखी हो गया। उसका मुख-कमल मुर्झा गया। फिर उसे क्रोध आया, नेत्र लाल हो गए, नथुने फड़कने लगे। वह वहाँ से उठ कर अपनी आयुधशाला में गया। उसी समय पूर्व दिशा में छींक हुई, आगे बढ़ा तो भयंकर कालनाग मार्ग रोके खड़ा दिखाई दिया। हवा से छत्र का वैडूर्यमणि का दण्ड भग्न हो गया और उत्तरासन गिर पड़ा। दाहिने हाथ पर कौआ बोला। इन अपशकुनों से सबको अनिष्ट की आशंका हो गई। तब मन्दोदरी ने चिन्तित होकर मंत्रियों से कहा—तुम लोग महाराज के हित की बात उनसे स्पष्ट क्यों नहीं कहते। कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत और मेघनाद बन्धन में पड़े हुए हैं। तुम उन्हें युद्ध से रोको।' तब मन्त्री बोले- 'स्वामिनी! हमने सब प्रयत्न करके देख लिए। किन्तु महाराज हमारी एक नहीं सुनते। शायद आपकी बात मान लें।' तब मन्दोदरी रावण के पास पहुँची और बड़ी विनय से बोली—नाथ! युद्ध में जाते समय अनेक अपशकुन हो रहे हैं। अतः आप युद्ध का विचार छोड़ दीजिये और सीता राम को देकर शान्ति के साथ रहिए। साथ ही राम से कह कर कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, मेघनाद आदि को बन्धन से छुड़ाइये। राम और लक्ष्मण बलभद्र नारायण के रूप में पैदा हुए हैं और आप प्रतिनारायण हैं। मन्दोदरी की बातें सुनकर रावण को क्रोध आ गया। बोला —तुम क्यों डरती हो। उन भिखारियों को बलभद्र-नारायण बता रही हो। वे तो पेट भरने के लिए फिर रहे हैं। तुम कैसी क्षत्रिय कन्या हो, जो मृत्यु से डरती हो।'

रावण की मृत्यु

युद्ध के लिये चलते समय रावण ने अपने कुटुम्बी जनों से क्षमा माँगी तथा अपनी रानियों से भी कहा— 'देवियो! मैं युद्ध के लिये जा रहा हूँ। पता नहीं फिर आप मिलें या नहीं। मैंने हँसी में या क्रोध में यदि कोई अपशब्द कह दिया हो तो उसे मेरा प्रेमोपहार समझना।' रावण ने पुनः पुनः सबका प्रेमालिंगन किया। फिर रण-भेरी बजवाई। रणभेरी की आवाज सुनते ही सब भट अपने परिवार से विदा होकर रावण के पास आ गये। रावण ने बहुरूपिणी विद्या के द्वारा इक्कीस खण्ड का एक रथ बनाया। उसमें एक हजार हाथी जुते हुए थे। वह उस रथ में मय, मारीच, सार, सुक आदि मन्त्रियों के साथ बैठकर चला। उसके पीछे अगणित योद्धा विविध शस्त्रास्त्र लेकर विविध वाहनों में चल रहे थे। चलते समय धुएं वाली अग्नि, कीचड़ में सना हुआ तेल का बर्तन, बिखरे हुए बालों वाले मनुष्य इत्यादि अनेक शोकसूचक अपशकुन हुए। इन्हें देखकर भी वह अभिमानी लौटा नहीं।

शत्रु सैन्य को देखकर राम भी सिंहरथ में आरूढ़ होकर चल दिये। उसके पीछे लक्ष्मण, भामण्डल, नल, नील, सुग्रीव, हनुमान आदि भी चले। रावण को हजार हाथियों वाले रथ पर आता देख कर लक्ष्मण भी गारुड़ी रथ पर शस्त्रास्त्रों से सजकर बैठ चले। दोनों सेनाओं में भयंकर युद्ध छिड़ गया। मारीच आदि राक्षसों द्वारा वानर सेना का विनाश होता हुआ देखकर हनुमान और नील राक्षसों पर झपटे। तब मय दैत्य हनुमान के सामने आया। हनुमान ने उसे छह बार रथरहित कर दिया। तब रावण ने अपनी विद्या द्वारा रथ बना कर मय को दिया।

इसी समय आकाश में आठ विद्याधर कुमारियां आईं। वे लक्ष्मण की मंगल-कामना करने लगीं। जब लक्ष्मण ने ऊपर की ओर देखा तो उन कुमारियों ने लक्ष्मण को सिद्धार्थ नामक महाविद्या दी। लक्ष्मण ने इससे रावण की सम्पूर्ण विद्याओं का प्रभाव नष्ट कर दिया। अब रावण, बहुरूपिणी विद्या द्वारा अनेक रूप बनाकर युद्ध करने लगा। लक्ष्मण उसका एक सिर काटते, उसकी जगह सौ सिर बन जाते। रावण अनेक सिर और भुजायें बनाता और लक्ष्मण उन्हें काटता जाता। इस प्रकार दोनों में ग्यारह दिन तक भयंकर युद्ध होता रहा। लक्ष्मण के बाणों से बहुरूपिणी विद्या का शरीर भी जर्जर हो गया। अतः वह भी रावण के शरीर से निकल भागी। विद्या के निकल जाने पर रावण अपने असली रूप में आ गया। तब उसने अत्यन्त क्रुद्ध होकर हजार आरों वाले चक्ररत्न को स्मरण किया। स्मरण करते ही सुदर्शनचक्र उसके हाथ में आ गया। तब रावण लक्ष्मण से बोला—'अब भी तू आकर मुझे नमस्कार कर, अन्यथा मारा जायेगा।' लक्ष्मण हंसकर बोला—इस कुम्हार के चाक पर तुझे इतना अभिमान है!' यह सुनते ही रावण ने चक्ररत्न की पूजा कर उसे लक्ष्मण पर फेंका। इसी बीच राम ने मय को बांध कर रथ में डाल लिया और वे लक्ष्मण की ओर आये। सबने आग की ज्वालाओं के समान आते हुए चक्र को देखा। लक्ष्मण ने वज्रमयी बाणों से चक्र को रोकने का प्रयत्न किया, राम वज्रावर्त धनुष और हल लेकर, सुग्रीव गदा से, भामण्डल तलवार से, विभीषण त्रिशूल से, हनुमान मुद्गर से, नील वज्रदण्ड लेकर और अंग अंगद कुठार लेकर उसे रोकने लगे। किन्तु वह देवाधिष्ठित चक्र किसी के रोके न रुका। वह आया और लक्ष्मण की तीन प्रदक्षिणा देकर लक्ष्मण की अंगुली पर ठहर गया।

लक्ष्मण की अंगुली पर टिके हुए चक्ररत्न को देखकर वानरवंशी विद्याधर हर्ष से नाचने लगे और कहने लगे—वास्तव में ही ये दोनों भाई बलभद्र और नारायण हैं। रावण चक्र को लक्ष्मण के पास देखकर मन में कहने लगा—इस क्षणस्थायी लक्ष्मी को धिक्कार है। वे भरत आदि महापुरुष धन्य हैं, जो इस लक्ष्मी को त्याग कर मोक्ष को प्राप्त हुए। मैं जीवन भर विषयों में ही लिप्त रहा। रावण यह सोच ही रहा था कि लक्ष्मण ने गरज कर रावण से कहा—'रावण! तू समझदार है। अब भी सीता राम को सौंप दे। सीता राम को देकर उनके चरणों में प्रणाम कर और आनन्दपूर्वक राज्य कर।' यह सुनकर रावण क्रोध से बोला—'यह चक्र चला गया तो क्या हुआ, अभी मेरी शक्ति सुरक्षित है। देखता क्या है, चक्र चला।' रावण की यह दर्पोक्ति सुनकर लक्ष्मण ने बड़े जोर से घुमाकर चक्र रावण को मारा। रावण ने उसे रोकने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु अब उसका पुण्य क्षीण हो गया था। चक्र ने रावण के वक्षस्थल को चीर डाला। हृदय के भिदते ही रावण पृथ्वी पर गिर पड़ा। रावण के मरते ही उसकी सेना भाग खड़ी हुई। उसे भागते देखकर हनुमान ने अभयघोषणा करते हुए कहा—आप लोग डरें नहीं, राम की आज्ञा शिरोधार्य कर सुख से रहें।

रावण को मरा हुआ देखकर विभीषण आत्महत्या के लिए तैयार हो गया, किन्तु राम ने उसे रोका। वह मूर्छित हो गया। होश में आने पर वह रावण की लाश के पास बैठकर विलाप करने लगा। जब यह समाचार लंका में

पहुँचा तो मंदोदरी आदि रानियाँ आकर वहाँ विलाप करने लगीं, वे अपना सिर धुनने लगीं, कोई छाती कूटने लगी। उसकी लाश के चारों ओर बैठकर उसकी अठारह हजार रानियाँ रावण का सिर गोद में रखकर जोर-जोर से विलाप करने लगीं। तब राम, लक्ष्मण आदि वहाँ आये और विभीषणादि को देखकर कहने लगे—रावण धन्य है जो युद्ध में वीरतापूर्वक मारा गया। इसमें शोक मनाने की क्या आवश्यकता है।' फिर राम ने मन्दोदरी आदि रानियों को भी समझाया। बाद में वानरवंशियों और राक्षस-वंशियों ने मिलकर पद्म सरोवर के तट पर चंदन कपूर आदि से चिता बनाई और रावण का दाह-संस्कार किया। फिर राम की आज्ञा से कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, मेघनाद, मय आदि को सुभट बन्धनों में बाँधकर लाये। राम ने उन्हें बन्धनमुक्त करते हुए कहा—'अब आप लोग स्वतन्त्र हैं, प्रसन्नतापूर्वक अपना राज्य संभालें। मैं तो सीता को लेकर यहाँ से चला जाऊँगा।' तब उन सबने उत्तर दिया—'अब हमें इस राज्य से कोई प्रयोजन नहीं है।' राम बोले—'आप धन्य हैं, जो आत्म-कल्याण का आपने विचार किया।

उसी दिन कुसुम नामक वन में मुनिराज को केवलज्ञान हुआ। देवों ने उनका ज्ञान महोत्सव मनाया। यह सुनकर वानरवंशियों और राक्षसवंशियों के साथ राम समवसरण में पहुँचे और केवली भगवान की स्तुति, वन्दना और पूजा कर समवसरण में बैठ गये। भगवान का उपदेश हुआ। भगवान का उपदेश सुनकर इन्द्रजीत, मेघनाद, कुम्भकर्ण आदि ने मुनिदीक्षा लेली तथा मन्दोदरी आदि रानियाँ आर्यिका बन गईं। इन्द्रजीत, और मेघवाहन तपस्या करके चूलगिरि (बड़वानी) से मुक्त हुए। रेवा नदी के किनारे विंध्य पर्वत पर इंद्रजीत के साथ मेघवाहन मुनि ने तपस्या की थी। अतः वह मेघतीर्थ कहलाने लगा। कुम्भकर्ण रेवा के किनारे मुक्त हुए।

श्री रामचन्द्र जी ने त्रैलोक्य अम्बर हाथी पर आरूढ़ होकर विद्याधरों के साथ गाजे बाजे के साथ लंका में प्रवेश किया। लंका की विशेष शोभा की गई थी। रामचन्द्र जी राजमार्ग पर होकर निकले। वे अशोक उद्यान में पहुँचे, जहाँ सीता दासियों के बीच में बैठी हुई थी। राम को देखकर सीता बड़ी पुलक के साथ उठी। राम धूलधूसरित सीता को देखकर हाथी से उतर पड़े। सीता ने आगे बढ़कर राम के पैर छुए, राम ने बड़े हर्ष से उसे छाती से लगा लिया। फिर सीता राम के आगे हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। तभी लक्ष्मण ने आगे बढ़कर सीता को प्रणाम किया। सीता ने उसे आशीर्वाद दिया। इसके बाद भामण्डल ने सीता को सब विद्याधरों का परिचय कराया। सीता ने सबको आशीर्वाद दिया। उसके बाद रामचन्द्र जी सीता के साथ हाथी पर सवार होकर तथा अन्य विद्याधर अपनी-अपनी सवारियों पर आरूढ़ होकर रावण के स्वर्ण प्रासाद में आये। वहाँ शान्तिनाथ जिनालय को देखकर सब लोग उतर पड़े और सबने भगवान के दर्शन किये। फिर पूजन किया। रामचन्द्र जी ने वीणा बजाई, सीता नृत्य करने लगी। वहाँ से सब लोग सभा मण्डप में आये। विभीषण महल में जाकर सुमाली, माल्यवान, रत्नश्रवा आदि को राम के पास ले आया। राम ने सबको बराबर आसन पर बैठाकर सबका समुचित सम्मान किया और सान्त्वना दी। फिर विभीषण ने राम को भोजन का निमन्त्रण दिया। सब लोग उठकर विभीषण के महलों में भोजन के लिए गये। राम, सीता आदि को तैलादि मर्दन कर स्नान कराया, सुन्दर वस्त्राभूषण धारण कराये और स्वादिष्ट भोजन कराया। फिर सबको यथायोग्य स्थानों पर ठहराया। राम सीता के साथ तथा लक्ष्मण विशल्या के साथ सुन्दर प्रासादों में ठहरे।

राम का लंका में प्रवेश और अयोध्या-गमन

एक दिन विद्याधरों ने तीन खण्ड के राजसिंहासन पर राम-लक्ष्मण का अभिषेक करने की अनुमति माँगी। किन्तु राम ने कहा—हमारे पिता ने राजसिंहासन हमारे भाई भरत को दिया है, अतः राजा वही है। हम उन्हीं की आज्ञा का पालन करेंगे। वे ही हम सबके मालिक हैं। फिर भी विद्याधरों ने 'त्रिखण्डाधिपति राम-लक्ष्मण की जय' बोलकर उनके ऊपर छत्र लगा दिया। राम-लक्ष्मण दोनों भाई छह वर्ष तक लंका में रहे।

एक दिन नारद अयोध्या गये। वहाँ अपराजिता (कौशल्या) से उन्हें राम का निर्वासन, राम-रावणयुद्ध आदि के बारे में समाचार ज्ञात हुए। वे तेतीस वर्ष बाद इधर आये थे। अतः उन्हें इधर के कोई समाचार ज्ञात नहीं थे। रानी नारद को समाचार सुनाते सुनाते फूट-फूट कर रोने लगी। नारद को रानी के इस दुःख से बड़ा दुःख

हुआ। वे बोले—माता ! शोक मत करो। मैं जाकर राम के कुशल समाचार लाता हूँ। यह कहकर नारद लंका पहुँचे और राम से मिलकर उन्हें बताया कि आपकी माता आप लोगों के वियोग से बहुत दुखी है। आप यहाँ सुख में ऐसे मग्न है कि आपने उनको नाम तक भुलादी है। वे आप लोगों के दुःख से प्राण त्याग देंगीं। यह सुनकर रामचन्द्र जी बड़े व्याकुल हुए। उन्होंने उसी समय विभीषण को बुलाया और कहा-तुम्हारे यहां हम लोग इतने दिन बड़े सुख से रहे। अब हमारी इच्छा अयोध्या जाने की है। आप सवारियों का प्रबन्ध कर दीजिये।' विभीषण ने राम से सोलह दिन और ठहरने का आग्रह किया। राम ने यह स्वीकार कर लिया। विभीषण ने शीघ्र ही एक दूत अयोध्या को भेजा और भरत को समाचार दिया कि रामचन्द्र जी १६ दिन बाद लंका से अयोध्या को प्रस्थान करेंगे। यह सुनकर भरत आदि को बड़ी प्रसन्नता हुई। फिर विभीषण ने बहुत से राक्षस विद्याधरों को अयोध्या की सजावट करने के लिए भेजा।

राम लक्ष्मण ने सोलह दिन बाद अनेक विद्याधरों के साथ गाजे बाजे के साथ लंका से प्रस्थान किया। राम सीता के साथ पुष्पक विमान में बैठे। लक्ष्मण, हनुमान आदि अन्य सवारियों में बैठे। मार्ग में राम सीता को सारे स्थान बताते जाते थे। दण्डक वन, वंशगिरि, क्षेमनगर, बालखिल्य नगर, उज्जयिनी, चित्रकूट सभी प्रवास-स्थानों को उन्होंने बताया। इस तरह वे अयोध्या के बाहर आ पहुँचे। भरत भी शत्रुघ्न के साथ सेना लेकर राम की अगवानी को आया। भरत को देखकर राम आदि सभी विमान से उतरे। राम-भरत-लक्ष्मण और शत्रुघ्न परस्पर गले मिले और दोनों भाईयों ने सीता को प्रणाम किया। फिर सब अयोध्या की ओर चल दिये। मार्ग जन संकुल था। हर्ष से अयोध्या झूम उठा। सड़कें और गलियां नया शृंगार करके अपने बिछुड़े राम का स्वागत करने को मचल रही थीं। सारा नगर सुसज्जित किया गया था। सड़कों पर गुलाबजल का छिड़काव किया गया था। तोरण और वन्दनवारों से अयोध्या पटी पड़ी थी। आज उसके नाथ जो आये थे। वन्दीजन विरुदावलियाँ गाते जा रहे थे, नर्तकियां नृत्य कर रही थीं। अपूर्व शोभा थी अयोध्या की।

चारों भाई सीता को बीच में करके राजद्वार पर पहुँचे। मातायें बाहर दरवाजे पर आ गई। दोनों भाइयों ने माताओं के चरण छुए। माताओं ने उन्हें हृदय से लगा लिया और आनन्दाश्रु बहाने लगीं। उसके पश्चात् सीता, विशल्या आदि ने सासुओं के पैर छुए। माताओं ने सबको आशीर्वाद दिया। सब लोग राजमहल में गये।

बलभद्र-नारायण की विभूति

रावण को विजय करने पर बलभद्र राम और नारायण लक्ष्मण स्वयमेव तीन खण्ड के अधिपति बन गये। उनके वैभव का वर्णन क्या किया जा सकता है। उनके पास ४२ लाख हाथी, ४२ लाख रथ, ९ करोड़ प्यादे, और तीन खण्ड के देव और विद्याधर उनके सेवक थे। राम के पास चार रत्न थे—हल, मूशल, रत्नमाला और गदा। लक्ष्मण के पास सात रत्न थे—शंख, चक्र, गदा, खड्ग, दण्ड, नागशय्या और कौस्तुभ मणि। उनका घर इन्द्र के आवास जैसा लक्ष्मी का आगार था। ऊँचे दरवाजों वाला चतुःशाल कोट था। उनकी सभा का नाम वैजयन्ती था। प्रासाद कूट नामक उनका महल था। वर्ध नाम का नृत्य घर था। शीत ऋतु का महल कुकड़े के अण्डे जैसा था। ग्रीष्म ऋतु का धारा मण्डप गृह था। उनके सोने की शैय्या में सिंह के आकार के पाये थे। वह पद्मरागमणि की थी। अम्भोदकाण्ड नामक वर्षा ऋतु का महल था। सिंहासन उगते सूर्य के समान था, चन्द्रमा के समान उज्वल उनके चमर और छत्र थे। अमूल्य वस्त्र और दिव्य आभरण थे। उनका कवच अभेद्य था। मनोहर मणियों के कुण्डल थे। अमोघ गदा, खड्ग, स्वर्णबाण थे। ५० लाख हल, एक करोड़ से अधिक गाय, और अक्षय भण्डार था। मनोहर उद्यान थे, जिनमें रत्नमई सीढ़ियों वाली बावड़ी बनी हुई थी। उनके राज्य में सारी प्रजा पूर्ण सुखी थी। किसानों के पास गाय भैंस और बैलों की अधिकता थी। राम के आठ हजार रानियाँ थीं तथा लक्ष्मण के सोलह हजार रानियाँ थीं। राम ने भगवान के हजारों जिनालय बनवाये। लोग सदा धर्म-कथा किया करते थे। राम के पधारने से अयोध्या की शोभा असंख्य गुनी बढ़ गई। जन-जन में राम के यश का वर्णन होता रहता था। किन्तु कुछ दुष्ट लोग सीता के सम्बन्ध में कभी कभी दबी चर्चा किया करते थे कि रावण सीता को हर लेगया था और वह उसके घर में भी रही थी। फिर भी इतने विवेकी और न्यायवान होते हुए भी राम सीता को अपने घर ले आये।

भरत के मन में तो प्रारम्भ से ही राजपाट और गृहस्थी की ओर से विरक्ति थी। उनका मन विषय वासनाओं की ओर जाता ही नहीं था। जब राम अयोध्या लौटे नहीं थे, तब तक तो उन पर राज्य का भार था। अतः वे चाहते हुए भी मुनि-दीक्षा नहीं ले सके। किन्तु राम के वापिस आने पर उन्होंने मुनि बनने की मन में ठानली। एक दिन उन्होंने रामचन्द्र जी से अपने मन की बात कही और उनसे आज्ञा माँगी। यह जानकर माता कैकेयी विलाप करने लगी। राम और लक्ष्मण ने उसे समझाया—भैया! अभी तुम्हारी आयु मुनि के कठोर व्रत पालने की नहीं है। अतः तुम घर में रहकर राज्य शासन करो और धर्म का पालन करो। भरत उनकी आज्ञा उल्लंघन नहीं कर सके। किन्तु फिर भी घर में रह कर मुनियों के उपयुक्त व्रतों का पालन करने लगे। एक दिन सीता, विशल्या, उर्वशी, कल्याणमाला, जितपद्मा, वसुन्धरा आदि दोनों भाइयों की रानियाँ भरत का मन विराग से हटाने के उद्देश्य से भरत के पास आकर बड़े प्रेम से बोलीं—देवर! चलो, हम सब मिल कर जलक्रीड़ा करें। भरत उनके प्यार भरे आग्रह को टाल न सके और न चाहते हुए भी वे उनके साथ चल दिये। सबने सरोवर पर जाकर जल क्रीड़ा की। परस्पर विनोद करते हुए सबने जल में स्नान किया। पश्चात् भरत उठकर निकट के चैत्यालय में जाकर भगवान की पूजा करने लगे। स्त्रियों में से कोई वीणा बजाने लगी, कोई नृत्य करने लगी।

भरत घर में बैरागी

इतने में त्रैलोक्य मण्डन हाथी बन्धन तुड़ाकर इधर-उधर भागने लगा। चिंघाड़ता हुआ वह अनेक बाग बगीचों को उजाड़ने लगा, उसने अनेक घर ढा दिये। उसकी चिंघाड़ सुनकर अनेक हाथी भी बन्धन तुड़ाकर भागने लगे। घोड़े हिनहिनाने लगे। सारी अयोध्या में आतंक छा गया। राम-लक्ष्मण, हनुमान आदि सभी हाथी को पकड़ने आये, किन्तु वह किसी के वश में नहीं आया। वह काल के समान सीधा उस तालाब की ओर भागा, जहाँ रानियाँ जल-क्रीड़ा कर रही थीं। हाथी को आता हुआ देख कर रानियाँ भय के मारे भरत के पीछे छिप गईं। हाथी को भरत की ओर जाते देख कर सब हाहाकार करने लगे। किन्तु भरत को देखते ही हाथी को अपने पूर्व जन्म का स्मरण हो आया और सूँड नीची करके शान्त भाव से खड़ा हो गया। भरत ने बड़े प्रेम से उससे कहा—'गजेन्द्र! तुम इस प्रकार क्रुद्ध कैसे हो गये? भरत का प्रश्न सुनकर हाथी रोने लगा। सबको बड़ा आश्चर्य हुआ।

भरत सीता और विशल्या के साथ उसी हाथी पर बैठ कर घर आया। भोजन आदि से निवृत्त होने पर राज सभा में उसी हाथी की चर्चा थी। इतना क्रुद्ध होने पर भी यकायक भरत को देखकर वह शान्त कैसे हो गया तथा खुशामद करने पर भी चार दिन से आहार क्यों नहीं ले रहा।

उसी समय अयोध्या के बाहर उद्यान में देशभूषण-कुलभूषण केवली भगवान का आगमन हुआ। समवसरण की रचना देख कर वनमाली ने उनके आगमन की सूचना राम को दी। यह समाचार सुन कर राम ने अपने आभूषण उतार कर माली को दे दिये और नगर में ड्योंढ़ी पिटवा कर राम लक्ष्मण आदि के साथ केवली भगवान के दर्शनों को गये। साथ में सभी विद्याधर, राज परिवार, पुरजन थे। सबने वहाँ पहुँच कर भगवान की वन्दना-पूजा की और भगवान का उपदेश सुना। भगवान से हाथी के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भगवान ने बताया कि भरत और इस हाथी के जीव इस जन्म से पहले ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में देव थे। अभिराम का जीव तो स्वर्ग से चलकर यह भरत हुआ है तथा मृदुमति का जीव मायाचारपूर्वक तप करने के कारण स्वर्ग से चलकर यह हाथी हुआ है। भरत को देखने से उसे पूर्व जन्म का स्मरण हो आया, इसलिए वह शान्त हो गया।

अपने जन्मान्तर का हाल जानकर भरत ने केवली भगवान से दीक्षा देने की प्रार्थना की। तो राम कातर होकर कहने लगे—'भाई! पिता ने तुम्हें राज्य दिया था। अब इसे किसे दोगे। हमने तो तुम्हारे लिए ही विजय की है। यह चक्ररत्न भी तुम्हारा ही है। तुम इसे सम्भालो। यदि तुम हमसे विरक्त हो तो हम बाहर चले जायेंगे। पिता गये, अब तुम भी चले जाओगे। पति और पुत्र के वियोग में माता कैकेई रो रोकर जान दे देगी।' तब भरत बोले—'अब तक तो पिता की आज्ञा से मैंने राज्य किया। अब तुम करना।' यह कहकर भरत ने मुनिदीक्षा लेली। उसके साथ कैकेयी आदि ने भी आर्यिका दीक्षा ग्रहण करली। हाथी ने श्रावक के व्रत ले लिए और चार वर्ष तक घोर तपश्चरण कर वह छठे स्वर्ग में देव हुआ। भरत भी तपस्या करके कर्मों का नाश कर मुक्त हो गये।

राम-लक्ष्मण का राज्याभिषेक—भरत के दीक्षा लेने पर लक्ष्मण को बड़ा शोक हुआ। वह भरत के गुणों का बार-बार बखान करता। राम भी भरत के गुणों की चर्चा करते रहे। सारे नगर में भरत की ही प्रशंसा के गीत गाये जाने लगे। घर-घर उन्हीं की चर्चा थी।

अगले दिन सब राजा मिलकर राम के पास आए और हाथ जोड़कर निवेदन करने लगे - देव! हम सब भूमिगोचरी और विद्याधर राजा आपसे एक निवेदन करने आये हैं। हम सब आपका राज्याभिषेक करना चाहते हैं।' राम यह सुनकर बोले—'तुम सब लक्ष्मण का राज्याभिषेक करो। वह नारायण है। वह सदा मेरे चरणों में नमस्कार करता है। फिर मुझे राज्य की क्या आवश्यकता है।' सब राजा तब लक्ष्मण के पास गये और उनसे राम का सन्देश कह कर राज्याभिषेक की अनुमति मांगने लगे। लक्ष्मण सबको अपने साथ लेकर राम के पास आए और बोले—'देव! इस राज्य के स्वामी तो आप ही हैं। मैं तो आपका सेवक हूँ।' तब राम ने बड़े स्नेह से कहा—'वत्स! तुम चक्र के धारी नारायण हो, इसलिए राज्याभिषेक तुम्हारा ही होना उचित है।' तब अन्त में सबने यह निश्चय किया कि राज्याभिषेक दोनों का होना चाहिए।

नाना प्रकार के बाजे बजने लगे। याचकों को मनोवांछित दान दिया गया। कमल पत्रों से ढके हुए स्वर्ण कलशों में पवित्र जल भर कर उससे दोनों का एक ही आसन पर अभिषेक किया गया। दोनों भाइयों को मुकुट, भुजबन्ध, हार, केयूर, कुण्डलादि आभरण और कौशेय वस्त्र धारण कराये। तीनों खण्डों के आए हुए विद्याधर और भूमिगोचरी राजाओं ने दोनों का जय-जयकार किया। राम और लक्ष्मण का अभिषेक करने के बाद विद्याधर भूमिगोचरी रानियों ने सीता और विशल्या का अभिषेक किया। सीता राम की और विशल्या लक्ष्मण की पटरानी बनी।

अभिषेक के बाद राम ने लंका विभीषण को दी, किष्किधापुर सुग्रीव को, श्रीनगर और हनुरुह द्वीप का राज्य हनुमान को, अलंकारपुर विराधित को, वैताढ्य की दक्षिण श्रेणी का रथनूपुर भामण्डल को दिया और उसे समस्त विद्याधरों का अधिपति बनाया। रत्नजटी को देवोपुनीत नगरी का राज्य दिया। अन्य लोगों का भी यथायोग्य सम्मान किया।

शत्रुघ्न द्वारा मथुरा-विजय

सबसे निवृत्त होकर राम शत्रुघ्न से बोले- भाई! तुझे जो पसन्द हो, वहाँ का राज्य ले ले; चाहे तू आधी अयोध्या ले ले; चाहे पोदनपुर, हस्तिनापुर, बनारस, कौशाम्बी, शिवपुर इनमें से किसी को चुन ले।' शत्रुघ्न बोला—'मुझे तो मथुरा का राज्य चाहिए।' राम ने कहा—'वहाँ हरिवंशी राजा मधु राज्य कर रहा है और वह रावण का दामाद है। उसके पास नागेन्द्र का दिया हुआ त्रिशूल है। उसके कारण उससे कोई युद्ध नहीं कर सकता। लक्ष्मण भी उससे शंकित रहता है। तब तू उसे कैसे जीत सकता है।' शत्रुघ्न बोला- 'आप तो मुझे मथुरा का ही राज्य दे दीजिए। उसका अभिमान मैं चूर करूँगा। राम ने उसका आग्रह देखकर मथुरा का राज्य दे दिया। शत्रुघ्न सबको प्रणाम कर चतुरंगिणी सेना लेकर मथुरा पर आक्रमण करने चल दिया। लक्ष्मण ने उसे अपना सागरावर्त धनुष और कृतान्त-वक्त्र सेनापति भी दे दिया।

शत्रुघ्न ने यमुना तट पर अपना पड़ाव डाल दिया। उसने एक गुप्तचर को मथुरा भेजा। उसने आकर समाचार दिए कि आज छह दिन हुए, मधु नन्दन वन में क्रीड़ा करने गया है। सारा परिवार और [illegible] उसके साथ हैं। वह यहाँ से तीन योजन दूर है। शत्रुघ्न ने मथुरा में जाकर रातों रात [illegible] नगरी पर अधिकार कर लिया। शस्त्रालय, कोष और राजमहल पर फौजी पहरा बैठा दिया। शासन [illegible] हाथ में लेकर मथुरा पर रघुवंशियों के शासन की ड्योंढ़ी पिटवा दी।

कृतान्तवक्त्र सेनापति युद्ध के लिए आया। दोनों में घोर युद्ध हुआ। कृतान्तवक्त्र ने उसकी छाती पर गदा का प्रहार किया, जिससे वह तत्काल मर गया। पुत्र को मृत जानकर मधु स्वयं युद्ध के लिए आया। कृतान्तवक्त्र पीछे हटने लगा। यह देख शत्रुघ्न मैदान में कूद पड़ा। दोनों में घोर युद्ध हुआ। अन्त में मधु मारा गया। शत्रुघ्न ने उसका राजसी ठाठ से दाह संस्कार कराया।

स्वामी के न रहने पर त्रिशूलरत्न को देव उठा कर ले गये और गरुण इन्द्र को दे दिया। इन्द्र ने पूछा—इसे तुम क्यों ले आए। तब देवों ने कहा—शत्रुघ्न ने मधु का वध कर दिया है।' यह सुनकर गरुणेन्द्र शत्रुघ्न को मारने आया। और जब उसने मथुरा की प्रजा को मधु की मृत्यु पर खुशियाँ मनाते देखा तो वह और भी क्रुद्ध हो गया और उसने मथुरा में मरी रोग फैला दिया। प्रजा धड़ाधड़ मरने लगी। शत्रुघ्न प्रजा के इस विनाश से दुखी होकर अयोध्या चला गया।

एक बार नागपुर के राजा श्रीनन्दन के सुरमन्यु, श्रीमन्यु, श्रीनिलय, सर्वसुन्दर, जय, विनय, लालस और जयमित्र ये सात पुत्र मुनि हो गये और तपस्या करके उन्हें ऋद्धि प्राप्त हो गई। वे विहार करते हुए मथुरा पधारे और एक बड़ के नीचे चातुर्मास किया। चारण ऋद्धि के कारण वे चार अंगुल जमीन से ऊपर चलकर दूसरे नगरों में आहार कर शाम को मथुरा वापिस आ जाते थे। मथुरा की सारी प्रजा नगर से भाग गई थी। उन ऋषियों के तप के प्रभाव से धीरे-धीरे मरी रोग शान्त हो गया और प्रजा पुनः नगर में आ गई। शत्रुघ्न भी मथुरा से लौट आया। तब शत्रुघ्न ने सप्तर्षियों से निवेदन किया—'प्रभो! आप इसी नगर में विराजें, जिससे पुनः मरी रोग न हो।' मुनि बोले—'तुम यहाँ जिनालयों का निर्माण कराओ, उनकी प्रतिष्ठा करो। उससे पुनः मरी रोग का भय नहीं रहेगा।' शत्रुघ्न ने महर्षियों की आज्ञा से अनेक जिनमंदिर बनवाये। तबसे मथुरा में खूब आनन्द मंगल होने लगे और प्रजा सुख से रहने लगी।

अब राम-लक्ष्मण ने त्रिखण्ड विजय के लिए प्रयाण किया। जो राजा स्वेच्छा से उपहार लेकर आये, उन्हें आदर-सत्कार करके सन्तुष्ट किया। किन्तु जिन्होंने उनकी आधीनता स्वीकार नहीं की, उनको दण्डित किया।

सीता का परित्याग

इस प्रकार अल्पकाल में ही भरत क्षेत्र के तीन खण्डों के समस्त राजाओं को, विद्याधरों और भूमिगोचरों को जीतकर नारायण लक्ष्मण त्रिखण्डाधिपति बन गये। उनके सोलह हजार रानियाँ थीं जिनमें आठ मुख्य थीं—विशल्या, रूपवती, वनमाला, कल्याणमाला, रतिमाला, जितपद्मा, भगवती और मनोरमा। राम की रानियों में मुख्य चार पटरानी थीं—सीता, प्रभावती, रतिप्रभा, और श्रीदामा।

अब राम-लक्ष्मण आनन्दपूर्वक तीनों खण्डों पर शासन कर रहे थे। सोलह हजार मुकुटबद्ध राजा उनकी सेवा में रहते थे। धर्म, अर्थ, काम तीनों पुरुषार्थ उनके अनुकूल थे। एक बार सीता अपने महलों में सो रही थी। उसने रात्रि के पिछले प्रहर में दो सुन्दर स्वप्न देखे। वह शय्या से उठ कर राम के पास गई और निवेदन किया—नाथ! मैंने आज रात्रि के अन्तिम प्रहर में दो स्वप्न देखे हैं। एक में तो दो पूर्ण चन्द्र देखे हैं। उसके बाद दो सिंह मुंह में प्रवेश करते देखे हैं। इन दोनों स्वप्नों का फल आप बतावें।' राम बोले—'देवि! तुम्हारे सिंह के समान दो पराक्रमी पुत्र उत्पन्न होंगे। वे दोनों ही भोगी, त्यागी और मोक्ष मार्ग के प्रवर्तक होंगे और अन्त में कर्म शत्रुओं को नष्ट कर मोक्ष प्राप्त करेंगे।' सीता स्वप्नों का फल सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई और अपने महलों में चली गई।

स्वप्न वाले दिन पुष्पोत्तर विमान से चलकर दो देव सीता के गर्भ में आए। धीरे-धीरे गर्भ बढ़ने लगा। उससे सीता कृश हो गई, मुंह पीला पड़ गया। स्तनों का अग्र भाग काला पड़ गया। सीता की ऐसी हालत देख कर राम ने कहा—'तुम्हें जो दोहला हो, वह कहो, मैं उसे पूरा करूँगा।' सीता ने कहा—'नाथ! मैं सब जगह जाकर भगवान की प्रतिमाओं का पूजन करना चाहती हूँ।' राम सीता को लेकर मंदिरों में गये और आनन्दपूर्वक पूजा की। पूजा करते समय सीता की दाईं आंख फड़की। सीता यह देखकर किसी अनिष्ट की आशंका से चिन्तित हो गई। विघ्न शांति के लिए उसने यथेच्छ दान दिया और महलों को लौट आई।

रामचन्द्र जी वहीं प्रासाद मण्डप में अनेक लोगों के साथ बैठे रहे। तभी द्वारपाल ने आकर निवेदन

किया—'महाराज ! बहुत प्रजाजन आपके दर्शनों के लिए आना चाहते हैं।' राम ने सबको अन्दर ले आने की आज्ञा दी। प्रजाजन आकर नमस्कार कर यथास्थान बैठ गये। राम ने पूछा—'कहिए, आप लोग कैसे आए। मेरे राज्य में आपको कोई कष्ट तो नहीं है?' यह सुनकर सब चुप रह गये। राम ने फिर कहा—'आप लोग भय मत करिए, जो कुछ मन में हो, निस्संकोच कहिए।' अभय पाकर एक लोकचतुर विजय नाम का प्रजाजन हाथ जोड़-कर बोला—'प्रभो ! निवेदन यह है कि आजकल देश में बड़ा अनाचार फैल रहा है। एक की स्त्री दूसरा भगा ले जाता है और वह दो तीन महीने उसके घर रहकर वापिस आ जाती है। यदि कोई पूछता है कि उस व्यभिचा-रिणी स्त्री को तुमने क्यों रख लिया। तो जवाब मिलता है कि रामचन्द्र जी भी तो सीता को रावण के घर से छह महीने के बाद ले आये हैं। जब छह महीने रावण के संपर्क में रहने वाली सीता को राम जैसे धर्म धुरन्धर मर्यादा पुरुषोत्तम राजा भी पुनः अंगीकार कर सकते हैं, तब वे हमें अपनी अपहृत स्त्रियों को रखने से कैसे रोक सकते हैं। इस तरह दुष्ट लोग दिनदहाड़े आपका उदाहरण देकर यह अनाचार कर रहे हैं। अतः जिस प्रकार यह अनाचार रुके. वह उपाय आपको करना चाहिए।

प्रजाजनों की यह बात सुनकर क्षण भर को राम गम्भीर हो गये, फिर बोले—अच्छा, आप लोग जाइये, मैं इसका कुछ उचित उपाय करूँगा। प्रजाजन लौट गये।

रामचन्द्र जी सोचने लगे—हाय ! जिसके बिना मैं व्याकुल रहा, जिसके लिए रावण को मारने समुद्र पार कर गया, उसके बिना तो मेरा जीना ही व्यर्थ हो जायेगा। हाय ! सुशील गुणवती सीता मुझसे कैसे छोड़ी जाएगी। उसके बिना तो मैं एक घड़ी भर भी स्थिर नहीं रह सकता, उसके बिना मैं जीवन भर उसका दुःख कैसे सहूँगा। यदि उसे न छोड़ा तो सदा के लिये मेरे कुल में कलंक लग जायेगा।' इस प्रकार सोचकर उन्होंने लक्ष्मण को बुलाया और बोले—'वत्स ! सीता के बारे में बड़ा लोकापवाद फैल रहा है। अतः मैं उसे जंगल में छोड़ देना चाहता हूं।' लक्ष्मण यह सुनकर बड़ा क्रुद्ध होकर बोला—'कौन दुष्ट सीता को लेकर अपवाद फैला रहा है। मैं उसका अभी तलवार से सिर उतारता हूँ। सीता के समान आज भी कोई पतिव्रता नहीं दीखती। उसमें जो दोष बतलाता है, मैं उसकी जीभ काट लूँगा। समझ में नहीं आता, दुष्ट लोगों के कहने से आप सीता को कैसे छोड़ रहे हैं। राम ने समझाया—'लक्ष्मण ! ऐसा मत कहो। सीता को रखने से हमारे वंश में हमेशा के लिए कलंक लग जाएगा। अतः मैं सीता का अवश्य परित्याग करूँगा। तुम्हें अगर मुझसे स्नेह है तो इस विषय में मौन ही रहना। हे लक्ष्मण ! जैसे सूखे ईंधन में लगी अग्नि जल से बुझाये बिना वृद्धि को प्राप्त होती है, उसी प्रकार अपकीर्ति रूपी अग्नि पृथ्वी पर फैलती है। उसका निवारण किए बिना मिटती नहीं। यह तीर्थकरों का समुज्वल कुल प्रकाश रूप है। इसको कलंक न लगे, वह उपाय करना चाहिए। यद्यपि सीता महा निर्दोष है, शीलवती है फिर भी मैं उसका परित्याग करूँगा, मैं अपनी कीर्ति मलिन नहीं करूँगा।' किन्तु लक्ष्मण को इन बातों से सन्तोष नहीं हुआ। वे उद्वेग से बोले—'देव ! लोग तो मुनियों की भी निन्दा करते हैं, धर्म की भी निन्दा करते हैं तो क्या लोगों के अपवाद के डर से मुनियों को छोड़ दें, धर्म को छोड़ दें। इसी तरह कुछ दुष्ट लोगों के अपवाद के भय से जानकी को कैसे छोड़ दें।' तब रामचन्द्र जी समझाने लगे—'लक्ष्मण ! जो शुद्ध न्यायमार्गी मनुष्य हैं, वे लोक विरुद्ध कार्य छोड़ देते हैं। जिसकी दसों दिशाओं में अकीर्ति फैल रही हो, उसे संसार में क्या सुख है।'

चलते समय अपशकुन हुए। नदी, पर्वतादिकों को लांघता हुआ रथ यात्रा कराता हुआ आगे बढ़ा और सिंहाटवी में पहुँचा। सिंह व्याघ्रादि से भरे हुए उस वन में सेनापति ने रथ रोक दिया। सेनापति कुछ कहना ही चाहता था कि उसकी आँखों से अश्रुधारा वह निकली। सीता ने पूछा-'भाई ! हम लोग तीर्थयात्रा को निकले हैं। ऐसे हर्षपूर्ण प्रसंग में तुम्हारे दुःख का अभिप्राय मैं नहीं समझी।' सेनापति ने कहा--'माता ! बड़े पाप के फल से कुत्ते के समान यह दास का जीवन मिलता है। दास बड़े पाप के फल से नरकों में जाता है और वहाँ से निकल कर चाण्डालादि योनियों में जन्म लेता है।" सीता बोली-'वत्स ! तुम ऐसा क्यों कहते हो ?' सेनापति ने कहा—'माता! महाराज रामचन्द्र जी की आज्ञा है कि मैं तुम्हें यहीं जंगल में छोड़ दूँ। उनका कहना है कि यद्यपि सीता निर्दोष है, फिर भी लोकापवाद के कारण मैं उसे रखने को तैयार नहीं हूँ। किन्तु तुम्हें एकाकी इस वन में किस प्रकार छोड़ूँ। और यदि नहीं छोड़ता हूँ तो महाराज रामचन्द्र नाराज होंगे। मेरे रोने का यही कारण है।'

सेनापति के वचन सुनते ही सीता को मूर्च्छा आ गई। जब उसे होश आया तो बोली—'हे वीर ! मुझे एक वार अयोध्या ले चलो। रामचन्द्र जी के चरणों के दर्शन करके और उनसे अपने मन की बात कह कर मैं पुनः वन में चली आऊँगी।' किन्तु सेनापति बोला—'देवि ! इस समय रामचन्द्र जी क्रोध और कठोरता की मूर्ति हो रहे हैं। अतः उनके दर्शन करना भी बेकार है।' सीता ने कहा—'हे सेनापति ! तुम मेरे वचन राम से कहना कि मेरे त्याग का विषाद आप न करना, परम धैर्य धारण कर प्रजा की रक्षा करना, जैसे पिता पुत्र की रक्षा करता है। राजा को प्रजा ही आनन्द का कारण है। आप मुक्ति के कारण सम्यग्दर्शन की आराधना करना और राज्य से सम्यग्दर्शन को श्रेष्ठ मानना। अभव्य जनों की निन्दा के भय से सम्यग्दर्शन को मत छोड़ना। आप सब शास्त्रों के ज्ञाता हो, अतः मैं आपको कोई उपदेश देने में समर्थ नहीं हूँ। यदि मैंने कभी परिहास में अविनयपूर्ण वचन कहे हों तो आप क्षमा करना।' इस प्रकार कहकर रथ से उतर कर वह मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ी, मानो रत्नों की राशि ही पड़ी हो।

कृतान्तवक्त्र सीता को चेष्टारहित मूर्छित देख कर बड़ा दुखी हुआ और मन में विचारने लगा—धिक्कार है इस पराधीनता को, जिसके कारण मुझे महासती सीता को निर्दय जीवों से भरे हुए इस वन में अकेला छोड़कर जाना पड़ रहा है। पराधीन जीवन बड़े पाप का फल है। स्वामी की आज्ञा के अनुसार ही चलना सेवक का एकमात्र काम है। यह पराधीनता कभी किसी को प्राप्त न हो।' यों सोचकर अत्यन्त दुखी और लज्जित होता हुआ वह वहाँ पर ही सीता को अकेली छोड़कर अयोध्या को चल दिया।

इधर सीता को जब होश आया तो वह विलाप करने लगी—'आर्यपुत्र ! आप सब की रक्षा करते थे, किन्तु मेरे लिए इतने कठोर कैसे बन गये। देवर लक्ष्मण ! भाई भामण्डल ! तुम मुझे कैसे भूल गये। भरत ! शत्रुघ्न ! तुम्हीं आकर मुझे इस वन में ढाढस बंधाओ। क्या तुम सबने मुझे छोड़ दिया। विद्याधरो ! तुम मेरी रक्षा करने को लंका गये थे, अब तुम मेरी रक्षा क्यों नहीं करते। इस प्रकार विलाप करके वह बार-बार मूर्छित होने लगी। सीता का विलाप सुनकर जंगल के पशु भी स्तब्ध रह गये। सीता पुनः मन को सान्त्वना देने लगी-इसमें राम या किसी अन्य का क्या दोष है। मैंने जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनका फल मुझे भोगना ही होगा। शायद मैंने किसी जन्म में मुनि-निन्दा की हो, सतियों को दोष लगाया हो या कोई ऐसा ही पाप किया हो। इस प्रकार सीता कभी विलाप करती, कभी आत्म निन्दा करती हुई हिरणी की भांति इधर उधर फिरने लगी।

सीता करुण क्रन्दन करती हुई वन में फिर रही थी तभी पुण्डरीकपुर का हरिवंशी राजा वज्रजंघ सेना सहित हाथी पकड़ने इसी जंगल में आ निकला। हाथी पकड़कर लौटते हुए उसने सीता का विलाप सुना। वह शीघ्र सीता के पास आया। सेना को देखकर सीता और भी भयभीत होकर विलाप करने लगी। वन देवी की तरह सीता को बैठी देखकर सेना कौतुक से और भी समीप आई। सीता डरकर उन्हें अपने गहने देने लगी। तब वज्रजंघ हाथी से उतर कर सीता के समीप आया और बोला—पुत्री ! तू इस वन में अकेली क्यों है। तेरे पिता, पति और श्वसुर कौन हैं ? सीता ने रोते हुए कहा—'भाई ! मैं दशरथ की पुत्र वधू, और जनक की पुत्री हूँ। रामचन्द्र मेरे पति हैं। और भामण्डल मेरा भाई है। भरत को राज्य सौंपकर मेरे पति वन को गये थे। उनके साथ मैं भी गई

थी। वहाँ दण्डक-वन में पापी रावण ने मुझे हर लिया। इसके लिए राम ने रावण पर आक्रमण कर दिया। उस युद्ध में रावण मारा गया। हम लोग प्रेमपूर्वक अयोध्या वापिस गये। वहाँ समयानुसार मैं गर्भवती हुई। इसके वाद जनता ने इसका अपवाद करके रामचन्द्र से शिकायत की। उन्होंने उस लोकापवाद के कारण मेरा परित्याग कर दिया। इस तरह अपना सारा वृत्तान्त कह कर वह पुन: रोने लगी। सीता का करुण आक्रन्दन सुनकर वज्रजंघ और उसके सैनिकों के भी आंसू निकलने लगे। वज्रजंघ ने कहा—तू मेरी वहन है। मैं तेरा भाई हूँ। चलो, हम लोग घर चलें। वहाँ रहने से फिर रामचन्द्र जी के दर्शन होंगे। इस तरह सीता को समझा बुझा कर वह पालकी में वैठाकर अपने घर ले गया। मार्ग में सीता का परिचय पाकर जगह जगह लोगों ने उसका सम्मान सत्कार किया। नगर प्रवेश करते ही जनता ने वड़े समारोह से उसकी अगवानी की। राजद्वार पर आकर वज्रजंघ की रानियाँ वड़े आदर और सम्मान के साथ सीता को अन्दर ले गईं। वज्रजंघ ने आदेश कर दिया कि सीता मेरी वहिन है अत: सव काम उसकी आज्ञानुसार होने चाहिए। सव रानियों ने राजाज्ञा शिरोधार्य की। सीता वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगी तो भी रामचन्द्र जी के विना उसे सूना सूना लगता था।

उधर कृतान्तवक्त्र वापिस अयोध्या लौटा और रामचन्द्र जी के निकट पहुँचा और नमस्कार कर वोला—'प्रभो! आपकी आज्ञानुसार मैं सीता को भयानक वन में छोड़ आया हूँ।' राम वोले—'सीता ने मेरे लिए कुछ कहा तो नहीं।' तव सेनापति ने सीता का दिया हुआ सन्देश रामचन्द्र जी को कह सुनाया। सेनापति के मुख से सीता का सन्देश सुनते ही राम मूर्च्छा को प्राप्त हो गये। जव चेत आया तो वे विलाप करने लगे। फिर कृतान्तवक्त्र से पुन: पुन: पूछने लगे—'कृतान्तवक्त्र! कह, क्या तूने सीता को वन में छोड़ दिया? यदि तूने किसी शुभ स्थान में छोड़ा हो तो तेरे मुखचन्द्र से अमृत रूप वचन विखरें। यह सुनकर सेनापति ने लज्जा से नीचा मुख कर लिया। तव राम ने समझ लिया कि यह निश्चय ही सीता को भयानक वन में छोड़ आया है। यह समझ कर राम पुन: मूर्च्छित हो गये। तव लक्ष्मण आये और मन में दुखित होते हुए कहने लगे—'देव! क्यों व्याकुल होते हो। धैर्य धारण कीजिए। पूर्वोपार्जित अशुभ कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा। केवल सीता को ही दु:ख नहीं हुआ। सारी प्रजा ही दुखी है। यह कहते ही लक्ष्मण का भी धैर्य जाता रहा और वे भी रुदन करने लगे। 'हाय माता! तू कहाँ गई। जैसे सूर्य विना आकाश की शोभा नहीं है, इसी प्रकार तेरे विना अयोध्या की शोभा नहीं रही। फिर राम से कहने लगे, 'हे देव! सारे नगर में गीत संगीत की ध्वनि वन्द हो गई और रुदन की ध्वनि आती रहती है। घर घर में सव लोग रुदन करते हैं और सीता के अखण्ड सतीत्व और गुणों की ही चर्चा करते रहते हैं। अत: आप शोक छोड़िये आपका चित्त प्रसन्न है तो सीता को फिर वुला लेंगे। इस तरह समझाने वुझाने से राम का शोक कुछ क्षणों के लिए कम हो गया। किन्तु वे सीता को भुला नहीं सके। उनका मन एक क्षण के लिए भी सीता के विना नहीं लगता था।

लव-कुश का जन्म और दिग्विजय—नौ मास वीतने पर श्रावण शुक्ला पूर्णिमा मंगलवार के दिन श्रवण नक्षत्र में सीता ने दो पुत्रों को जन्म दिया। दोनों पुत्र सूर्य और चन्द्र की तरह कांतिमान थे। उनका मुख देखकर सीता के साथ साथ सव जनों को परम सन्तोप हुआ। वज्रजंघ ने खूव उत्सव मनाया, जिनेन्द्र देव की पूजा की और याचकों को यथेच्छ दान दिया। वड़े पुत्र का नाम अनंगलवण और छोटे का नाम मदनांकुश रखा गया।

कर दूँगा।' यह सुनकर सीता बड़ी प्रसन्न हुई। क्षुल्लक वहीं एकान्त स्थान में रहने लगे और बालकों को पढ़ाने लगे। थोड़े ही समय में दोनों बालक शस्त्र विद्या और शास्त्रविद्या में निपुण हो गये।

अब वे हाथी पर सवार होकर नगर में क्रीड़ा करते घूमते थे। वज्रजंघ ने बड़े पुत्र अनंगलवण के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। अब उसे दूसरे पुत्र के विवाह की चिन्ता हुई। तब उसने पृथ्वीपुर के राजा पृथु के पास उनकी कन्या कनकावली को अपने दूसरे पुत्र के लिए माँगने के लिए अपने मंत्री को भेजा। किन्तु राजा पृथु ने बड़ा कटु उत्तर दिया कि जिसके कुल गोत्र का ठिकाना नहीं, उसके लिये मैं अपनी पुत्री को कैसे दे सकता हूँ। वज्रजंघ ने जब मंत्री से पृथु का यह अभद्रतापूर्ण उत्तर सुना तो उसे बड़ा क्रोध आया। वह सेना लेकर पृथु का मान-मर्दन करने चल दिया। मार्ग में वंशपुर का राजा व्याघ्ररथ जो पृथु के पक्ष का था—युद्ध करने आया। उसे पराजित कर वज्रजंघ ने पृथ्वीपुर को घेर लिया। राजा पृथु ने अपने मित्र पोदनपुर के राजा को बुलाया। वह सेना लेकर मैदान में आडटा। दोनों ओर से भीषण संग्राम हुआ किन्तु दोनों की सम्मिलित शक्ति के मुकाबले वज्रजंघ ठहर नहीं सका। तब उसने दोनों कुमारों को बुला भेजा। दोनों पुत्र और वज्रजंघ के पुत्र फौरन युद्ध-स्थल में आये। दोनों कुमारों ने थोड़ी ही देर में पृथु को पकड़ लिया। साथ ही पोदनपुर के राजा को भी उसके रथ में ही धर दबाया और उसे पकड़ लिया। दोनों राजकुमारों को प्रणाम कर पृथु बोला—आप दोनों भाई उच्च कुलीन और ज्ञानवान हैं। मैंने अज्ञानता में जो अपराध किया, उसे आप क्षमा कर दें।' इस तरह विनयपूर्वक निवेदन करके उसने अपनी पुत्री कनकमाला का विवाह मदनांकुश के साथ कर दिया। कुमारों ने दोनों राजाओं को बंधन मुक्त कर दिया और एक महीने पृथ्वीपुर में ठहर कर दिग्विजय करने निकले। उनके साथ राजा पृथु, पोदनपुर का राजा और वज्रजंघ भी चले। वे लोकाक्ष, मालवा, अवन्ति, तिलिंग आदि दक्षिण देशों को जीतते हुए कैलाश पर्वत की ओर पूर्व दिशा में गये। उधर के अनेक राजाओं को जीतते हुए पश्चिम के राजाओं को जीता। पश्चात् विजयार्ध के समीप सिन्धु के किनारे के राजाओं को जीता। इस तरह तमाम पृथ्वी को जीतते हुए वे अपने नगर को लौट आये। प्रजा ने कुमारों का खूब स्वागत किया। वज्रजंघ के साथ कुमार राजद्वार पर पहुँचे। रानियों ने तीनों की आरती उतारी। सीता भाई से मिली और कुमारों ने सीता के पैर छुए। सीता ने दोनों को आशीर्वाद दिया।

एक दिन देवर्षि नारद अयोध्या गये। नारद ने वहाँ सीता को न देखकर राम से पूछा—'यहाँ सीता कहीं दिखाई नहीं देती।' नारद का प्रश्न सुनकर कृतान्तवक्त्र ने सारा समाचार सुनाया। उसे सुनकर नारद को बड़ा दुःख हुआ और वे सीता को खोजने चल दिये। घूमते हुए वे पुण्डरीकपुर पहुँचे और वज्रजंघ की आज्ञा लेकर अन्तःपुर में गये। सीता ने उन्हें प्रणाम किया और बैठने को उच्च आसन दिया। नारद सीता को देखकर बड़े प्रसन्न हुए। नारद ने सीता से कुशल समाचार पूछे तो सीता ने आपबीती सारी घटना कह सुनाई। इतने में वहीं पर दोनों कुमार आ गये और नारद के पैर छूकर खड़े हो गये। नारद ने उन्हें आशीर्वाद दिया—'राम-लक्ष्मण के समान तुम्हारे भी खूब विभूति हो।' कुमारों ने नारद से पूछा—'ये राम-लक्ष्मण कौन हैं।' नारद बोले—'क्या तुमने नारायण और बलभद्र लक्ष्मण-राम का नाम नहीं सुना जिन्होंने सीता को हरने वाले महा बलवान रावण को मारा है और जो तीन खण्ड के अधिपति बन कर अयोध्या में शासन कर रहे हैं। उन्हीं में से बलभद्र के तुम दोनों पुत्र हो।' तब कुमारों ने सीता से पूछा कि नारद जी जो कुछ कह रहे हैं, क्या वह सत्य है ? तब सीता ने सब आप बीती सुना दी। माता का वृत्तान्त सुनकर दोनों पुत्र क्रुद्ध होकर राम लक्ष्मण को मारने के लिए तैयार हुए। नारद जी ने मना किया तो लवणाँकुश तेजी में बोला—लोगों के कहने में आकर पिता ने क्यों हमारी माँ को छोड़ दिया। क्या उस समय अयोध्या में न्याय की बात कहने वाला कोई नहीं था कि एक स्त्री को भयानक वन में अकेली क्यों छोड़ा जाता है। अगर मामा ने माँ को न रखा होता तो अब तक माँ को शेर चीते खा जाते। आप बताइये, अयोध्या यहाँ से कितनी दूर है। हम भी तो देखें, पिता कितने पानी में हैं।' नारद ने कहा—'अयोध्या यहाँ से एक सौ साठ योजन है।' लवणाँकुश ने मामा से कहा—'हम राम लक्ष्मण पर चढ़ाई करेंगे, आप सेना सजवाइये।' सीता ने पुत्रों से मना किया—बेटा ! तुम राम लक्ष्मण के साथ लड़ाई मत ठानो। वे बड़े बलवान हैं। उन्होंने तीन खण्ड के अधिपति और अनेक विद्याओं के स्वामी रावण को भी मार दिया।' लवणाँकुश बोला—'माँ ! हम लोग रावण की तरह

परस्त्री लंपट नहीं हैं। हम तुम्हारे चरणों की सौगन्ध खाते हैं कि हम उन्हें पीठ दिखाकर नहीं आवेंगे।' इस तरह कहकर दोनों कुमार चतुरंग सेना सजाकर युद्ध के लिए चल दिये।

अनेक देशों को जीतते हुए वे अयोध्या पहुँचे। किसी शत्रु-सैन्य का आगमन सुनकर राम लक्ष्मण से बोले —सेना तैयार करो। वज्रजंघ को मारने हमें जाना ही था, किन्तु वह स्वयं मरने के लिए यहाँ आ गया है।' लक्ष्मण ने दूत भेजकर हनुमान, विराधित, विभीषण आदि को भी बुला लिया। युद्ध भेरी बजाई गई। राम सिंहरथ पर सवार होकर सबसे आगे चले। उनके पीछे गरुड़ रथ पर चक्र हाथ में लेकर लक्ष्मण चले। उनके पीछे असंख्य राजा और सैन्य चली। दोनों सेनायें एक दूसरे के सम्मुख आ डटीं।

सीता, सिद्धार्थ क्षुल्लक और नारद मुनि के साथ ऊपर विमान में बैठी हुई थीं। दोनों ओर से युद्ध की तैयारी देखकर सीता चिंतित होकर नारद से बोली—यह आपने क्या किया? कुमार अभी बालक हैं। वे बलभद्र और नारायण से कैसे लड़ेंगे। दोनों ओर से कोई अनिष्ट हुआ तो मैं कहीं की नहीं रहूँगी।' नारद ने कहा—'पुत्री! डरो मत। ये दोनों कुमार चरमशरीरी और वज्रमयी शरीरधारी हैं। इस प्रकार सीता को समझा कर नारद भामण्डल के पास पहुँचे और उसे कुमारों का परिचय दिया। भामण्डल हनुमान को लेकर सीता के पास पहुँचा। दोनों कुमार भी वहाँ आकर भामण्डल और हनुमान से मिले। युद्ध शुरू होने से पहले ही भामण्डल और हनुमान राम का पक्ष छोड़कर लवणांकुश की ओर आ मिले। यह देखकर अन्य विद्याधर भी युद्ध से तटस्थ हो गये। युद्ध प्रारम्भ हो गया। लवण के योद्धाओं ने राम की सेना को छिन्न भिन्न कर दिया। यह देखकर शत्रुघ्न युद्ध करने आया। उसे देखकर लव और कुश युद्ध करने आगे आये और शत्रुघ्न को बाणों से आच्छादित कर रथ से नीचे गिरा दिया। यह देखकर क्रुद्ध होकर राम और लक्ष्मण शत्रु सेना का संहार करते हुए इन दोनों कुमारों के सामने आ डटे। लवणांकुश के साथ राम और मदनांकुश के साथ लक्ष्मण युद्ध करने लगे तथा वज्रजंघ शत्रुघ्न से युद्ध करने लगा। भयंकर युद्ध हुआ। अनेक हाथी, घोड़े, सैनिक मारे गये। रथों का चूरा हो गया। खून की नदी बहने लगी। खून की कीचड़ मच गई। राम ने हल उठाकर मारा, किन्तु लव ने उसे व्यर्थ कर दिया। राम ने दिव्य अस्त्र चलाये, किन्तु लव पर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ। बाद में लवण ने राम का रथ तोड़ दिया। राम बार-बार रथ बदलते और लवण उसे तोड़ देता। राम व्याकुल हो गये। राम सोचने लगे—मेरे सारे अस्त्र व्यर्थ हो गये, सारे विद्याधर धोखा दे गये। दिव्यास्त्रों का इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। भूमिगोचरी राजा इसने मार दिये। मेरे भी तीन बार इसने रथ तोड़ दिये। राम इस प्रकार सोच ही रहे थे कि लवण ने उनके वक्षस्थल पर प्रहार किया। वे मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। राजाओं ने उठाकर राम को कठिनाई से सचेत किया।

उधर लक्ष्मण सागरावर्त धनुष लेकर क्रोध से मदनांकुश पर झपटे। उन्होंने अनेक बाण छोड़े किन्तु कुश ने उन सबको व्यर्थ कर दिया। लक्ष्मण ने तब गदा उठाकर मारी किन्तु कुश ने उसे धनुर्दण्ड से रोक दिया। फिर कुश ने लक्ष्मण पर वज्र का प्रहार किया। लक्ष्मण वज्र की चोट से बेहोश हो गये। विराधित रथ लौटाने लगा किन्तु लक्ष्मण ने उसे डांट दिया। तब कुश ने लक्ष्मण को बाणों से ढंक दिया और सात बार लक्ष्मण का रथ तोड़ दिया। तब क्रुद्ध होकर लक्ष्मण ने कुश पर चक्र फेंका, किन्तु चक्र कुश की प्रदक्षिणा देकर लौट आया। इस प्रकार लक्ष्मण ने सात बार चक्र मारा, किन्तु हर बार वह लौट आया। तब कुश ने लक्ष्मण पर धनुर्दण्ड घुमाया। सब लोग आश्चर्य से सोचने लगे—यह कोई नया नारायण पैदा हुआ है या कोई चक्रवर्ती आ गया है। लक्ष्मण सोचने लगे—मेरा पुण्य ही क्षीण हो गया है। इस प्रकार लक्ष्मण सोचते हुए खड़े रह गये।

तब नारद और सिद्धार्थ लक्ष्मण के पास आये और बोले—ये दोनों प्रतिद्वन्द्वी राम के पुत्र लवण और अंकुश हैं। जिस सीता को आप लोगों ने भयानक वन में ले जाकर छोड़ दिया था, उसे वज्रजंघ अपनी बहिन बना कर ले गया था। उसी के ये दोनों पुत्र माता के दुःख से क्रोधित होकर आपसे लड़ने आये हैं। लक्ष्मण रथ से उतर पश्चाताप करता हुआ राम के पास गया और जाकर दोनों पुत्रों का वृत्तान्त बताया।

इसके बाद दोनों कुमारों ने आकर राम लक्ष्मण के पैर छुए। उन्होंने उन दोनों कुमारों को छाती से लगा लिया। राम सीता-त्याग की घटना याद करके विलाप करने लगे। उन्हें विलाप करते देखकर अन्य लोगों के

भी आंसू आ गये। विद्याधर और भूमिगोचरी राजा मिलकर राम के निकट आये। युद्ध बन्द हुआ। सब लोग परस्पर गले मिले। अपने पुत्रों का माहात्म्य देखकर सीता पुण्डरीकपुर लौट गई। भामण्डल की रानियाँ भी सीता के साथ गईं। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भामण्डल, सुग्रीव, विभीषण, नल, नील, अंग, अंगद हनुमान तथा अन्य विद्याधर सीता को देखने पुण्डरीकपुर गये। सबने सीता को प्रणाम किया, सीता ने उन्हें आशीर्वाद दिया। फिर सब लोग अयोध्या वापिस आ गये। पुत्रों के समागम की खुशी में अयोध्यावासियों ने बड़ा हर्ष मनाया। नगर खूब सजाया गया। रामचन्द्र जी दोनों पुत्रों के साथ हाथी पर बैठकर नगर में आये। स्त्रियों ने कुमारों की आरती उतारी। राम लक्ष्मण ने वज्रजंघ का खूब सत्कार किया।

एक दिन विभीषण, हनुमान आदि विद्याधरों ने हाथ जोड़कर रामचन्द्र जी से निवेदन किया—प्रभो! सीता पुण्डरीकपुर में जाने कैसे अपना समय व्यतीत करती होगी। अगर आप आज्ञा दें तो उन्हें जाकर ले आवें।' यह सुनकर रामचन्द्र जी आंखों में आंसू भर कर बोले—'मैं जानता हूँ कि सीता निर्दोष है। परन्तु उसे ले आने से लोग फिर अपवाद करेंगे। अगर सीता अग्नि में प्रवेश करके अपनी निर्दोषता की परीक्षा दे तो मैं उसे रख सकता हूँ।' 'अच्छा' कहकर विद्याधर लोग पुण्डरीकपुर पहुँचे और सीता से जन समुदाय के सामने अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने की प्रार्थना की। सीता ने कहा—मैं अब संसार के सुखों में पुनः प्रवेश नहीं करना चाहती। यदि मेरे भाग्य में सुख ही होते तो ये दुःख ही क्यों आते। जब मुझे कलंक लग चुका तो क्या लेकर उन्हें अपना मुह दिखाऊँ।' विभीषण बोला—'दुःख करने से क्या लाभ है। जो कुछ होता है, सब अपने भाग्य से होता है। अतः आप ऐसा कीजिये कि सब लोगों पर आपका विश्वास जम जाय। ऐसा करने से आपकी भी कीर्ति होगी।' सीता ने अपनी निर्दोषता प्रमाणित करना स्वीकार किया और प्रसन्नता से विमान में बैठ गई।

सीता जी की अग्नि-परीक्षा

सीता अयोध्या आई। वह महेन्द्र उद्यान में ठहराई गई। देश-विदेश के लोगों को निमन्त्रण-पत्रिका भेजी गई। देश विदेश के लोग आकर एकत्रित होने लगे। रामचन्द्र जी महल के समीप ही एक मंच पर बैठ गये। राजा लोग भी यथास्थान बैठ गये। आज्ञा पाकर विद्याधर लोग सीता को हाथी पर बैठाकर सभा-मण्डप में ले आये। सीता को आते देखकर लोग हर्षित हो उठे। जब सीता निकट आ गई तो राजा गण खड़े हो गये। लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि ने उनके पैर छुए। सीता राम के निकट आई। रामचन्द्र जी की उदासीनता देखकर सीता मन में अत्यन्त व्याकुल हुई किन्तु फिर उनके पैर छू कर सामने खड़ी हो गई और लज्जा से निगाह नीची करके पैर के अंगूठे से जमीन कुरेदने लगी। उसे ख्याल आने लगा कि मैं यहाँ क्यों आई। इतने में रामचन्द्र जी बोले—'सीता! सामने से दूर हो। तू यहाँ क्यों आई। छह महीने तू रावण के यहाँ रही है। अब किस मुँह से मैं तुझे अपने यहाँ रक्खूं। मैं जानता हूँ कि तू निर्दोष है। परन्तु जब तक लोग तुझे निर्दोष न मान लें, तब तक मेरे यहाँ तुम्हारी गुंजायश नहीं है।' यह सुनकर सीता ने कहा—मुझे सब स्वीकार है। अपनी निर्दोषता प्रमाणित करने के लिये आप कहें तो मैं सांप के मुंह में अपना हाथ दे दूँ, आप कहें तो हलाहल विष पीलूं, आप कहें तो तपे हुए लोहे के गोले हाथ में ले लूं, आप कहें तो आग में कूद पड़ूं। आप जो कुछ कहें, वह सब मैं करने को तैयार हूँ। राम क्षण भर सोचकर बोले—'आग में प्रवेश कर अग्नि-परीक्षा दो।' यह सुनकर नारद सोचने लगे—अग्नि का क्या विश्वास, न जाने क्या अनर्थ हो जाय। विभीषण हनुमान आदि भी इस आज्ञा से व्याकुल हो गये। लक्ष्मण, शत्रुघ्न, लवण और अंकुश भी बड़े दुःखी हुए। क्षुल्लक सिद्धार्थ ने खड़े होकर कहा—'महाराज! मैं विद्या के बल से सर्वत्र चैत्यालयों की वंदना के लिये जाता रहता हूँ। मैंने मुनियों के मुख से भी सब जगह सीता के सतीत्व की प्रशंसा सुनी है। अतः आप सीता को अग्नि-प्रवेश की आज्ञा मत दीजिये।' विद्याधर और भूमिगोचरी लोग भी एक स्वर से कहने लगे—'प्रभो! सीता सती है, वह निर्दोष है, उन्हें अग्नि प्रवेश की आज्ञा मत दीजिये। राम क्रुद्ध होकर बोले—इतनी दया अब दिखा रहे हो तो पहले सीता का अपवाद क्यों किया था।'

राम की आज्ञा से फौरन दो पुरुष गहरा और तीन सौ हाथ लम्बा चौड़ा गड्ढा खोदा गया और सूखे ईंधन से भरकर अग्नि प्रज्वलित की गई। असंख्य जनता सीता की अग्नि-परीक्षा देखने वहाँ एकत्रित हो गई।

उसी रात को महेन्द्र उद्यान में सकलभूषण मुनि को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। देवों ने आकर ज्ञानोत्सव मनाया। चारों निकाय के देवता वहाँ आये। मेघकेतु नामक एक देव सीता की परीक्षा के लिए बनाये गये अग्नि-कुण्ड को देखकर इन्द्र से कहने लगा—'प्रभो! सीता पर घोर उपसर्ग आ पड़ा है। वह महासती शीलवती है। उसे दु:ख क्यों हो।' तब इन्द्र ने आज्ञा दी—'मैं तो केवली भगवान का ज्ञानोत्सव मनाने जाता हूँ। तुम महासती का उपसर्ग दूर करना।' मेघकेतु देव अपने विमान में आकाश में ठहर गया।

जब अग्नि-कुण्ड की लपटें आकाश को छूने लगीं तो राम सोचने लगे—कैसे सीता को इस भयंकर आग में कूदने दूँ। सीता जैसी स्त्री इस लोक में नहीं है। यदि मैं इसे अग्नि-प्रवेश से रोकता हूँ तो सदा के लिए मेरे कुल में कलंक लग जायगा। यदि सीता आग में जल कर मर गई तो और भी अनर्थ होगा।' रामचन्द्र जी इधर यह सोच रहे थे, उधर सीता धीरे-धीरे अग्नि-कुण्ड के समीप आई। एकाग्र चित्त होकर उसने ऋषभदेव भगवान से लेकर मुनि-सुव्रतनाथ पर्यन्त तीर्थंकरों की स्तुति की। बाद में बोली—'हे अग्नि! मन से, वचन से, काय से, स्वप्न में या जागृत अवस्था में राम के सिवाय मैंने कभी पर पुरुष की इच्छा नहीं की है। यदि शील में कोई दूषण लगा हो अथवा मैं व्यभिचारिणी हूँ तो हे अग्नि! तू मुझे भस्म कर देना। यदि मैं सती हूँ तो मुझे मत जलाना।' यों कहकर सीता ने णमोकार मंत्र का स्मरण किया और जलती हुई अग्नि में प्रवेश कर गई। लोग भयभीत होकर, आशंकित मन से उसका परिणाम देखने लगे।

अचानक आग बुझ गई। उसके शील के प्रभाव से अग्नि के स्थान पर निर्मल शीतल जल हो गया, मानो धरती को भेदकर ही यह वापिका पाताल से निकली हो। जल में कमल खिल रहे हैं। वहाँ न अग्नि रही, न ईंधन। वहाँ तो जल में झाग उठने लगे, भंवर पड़ने लगे। जैसे समुद्र में गर्जन होता है, इस प्रकार उस वापी में घोर शब्द होने लगा, जल उछल कर बढ़ने लगा। पहले घुटने तक आया, फिर छाती तक आया। फिर सिर के ऊपर होकर पानी चलने लगा। लोग डूबने लगे। तब सब आर्तवाणी में पुकारने लगे—'हे माता! हे महासाध्वी! हमारी रक्षा करो, हमें बचाओ।' जनता की इस विह्वल पुकार पर धीरे-धीरे जल रुका, फिर कम होता गया और सिमट कर तालाब बन गया। उसके मध्य में एक सहस्र दल कमल खिल रहा था। उस कमल के बीच में रत्नमयी सिंहासन पर सीता विराजमान थी। देवांगनायें सेवा कर रही थीं। अनेक देवों ने आकर सीता के चरणों पर पुष्प चढ़ाये। आकाश से सीता के ऊपर पुष्पवर्षा होने लगी। देव और विद्याधर 'सीता सती है' इस प्रकार चिल्लाने लगे, विद्याधर आकाश में नाचने लगे। लवण और अंकुश जल पारकर सीता के पास गये और उसके आजू-बाजू बैठ गये। राम भी विद्याधरों के साथ सीता के निकट पहुँच कर कहने लगे-देवी! उठो, चलो घर चलें। मेरे अपराधों को तुम क्षमा करो। सारे संसार में तुम सती ही नहीं, सतियों में भी प्रधान हो। मेरे प्राणों की रक्षा तुम्हारे ही आधीन है। आठ हजार रानियों में तुम अपना पूर्व का प्रमुख पद संभालो।' सीता ने उत्तर दिया—मुझे अब भोगों से प्रयोजन नहीं है। अब तो मैं ऐसा उपाय करूँगी, जिससे मेरा नारी-जन्म सफल हो। नाथ! आपके साथ मैंने अनेक सुख भोगे, अब उनसे मेरा जी ऊब गया है।' इस प्रकार कहकर सीता ने अपने हाथों से अपने बाल उखाड़ लिये और उन्हें राम के हाथों पर रख दिया। राम उन सुकोमल सुगन्धित बालों को देखकर मूर्छित होकर गिर पड़े। लोग जब तक उन्हें होश में लाने की चेष्टा करते रहे, तब तक सीता ने पृथ्वीमती आर्यिका के पास दीक्षा ले ली और आर्यिका व्रत धारण कर महेन्द्र उद्यान में केवली भगवान के निकट पहुँची।

केवली भगवान का उपदेश सुनकर अनेक लोगों ने संसार विरक्त होकर मुनि दीक्षा लेली। सेनापति कृतान्तवक्त्र भी मुनि बन गया और तपस्या करके स्वर्ग में देव हुआ।

सीता ने बासठ वर्ष तक घोर तप किया और अन्त में सन्यासपूर्वक मरण करके सोलहवें स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुई।

अपनी स्त्रियों के प्रति भामण्डल की आसक्ति बहुत बढ़ गई। वह निरन्तर स्त्रियों के साथ क्रीड़ा और भोग किया करता था। राम-लक्ष्मण का राज्य निष्कंटक हो गया था। इसलिए उनकी ओर से भी अब युद्ध का निमन्त्रण नहीं आता था। उसके भी शत्रु नहीं रहे थे। इसलिये वह आनन्द के साथ अपना काल-यापन कर रहा था। एक दिन अपनी पुष्पवाटिका में वज्रांक मुनि को आहार-दान देकर वह महल के ऊपर बैठा विचार कर रहा था—ये भोग क्षणभंगुर हैं, इसलिये इनका भोग अधिक से अधिक कर लेना चाहिये। न जाने कब बुढ़ापा आ जाय और ये भोग भोगने योग्य अवस्था न रहे। अब मैं भोग भी भोगूंगा और शत्रुओं को परास्त कर उत्तर और दक्षिण दोनों श्रेणियों का राज्य करूँगा। भोगों में पाप तो है; किन्तु क्या हुआ। जब बुढ़ापा आयेगा और भोग भोगने योग्य नहीं रहूँगा, तब मैं मुनि-दीक्षा ले लूँगा और उन पापों का भी नाश कर डालूँगा।

दीर्घसूत्री भामण्डल का करुण निधन

वह इस प्रकार बैठा-बैठा न जाने कितने मन के कुलावे बांध रहा था। तभी अकस्मात् बिजली गिरी और भामण्डल उसी में मर गया। इसीलिये तो आचार्यों ने कहा है—दीर्घसूत्री विनश्यति।

लक्ष्मण के पुत्र, राम के पुत्र लव और अंकुश का उत्कर्ष सहन नहीं कर सके। फलतः उन्होंने मुनि बनना ही उचित समझा। हनुमान भी एक दिन आकाश में तारे को टूटता हुआ देखकर विचार करने लगे कि संसार के भोग, यह देह और जीवन भी इसी प्रकार अस्थिर हैं, क्षणभंगुर हैं। इन पर क्या विश्वास किया जाय और क्या इतराना। यों सोचकर वे भी मुनि बन गये और तपस्या करके अन्त में तुँगीगिरि से मोक्ष चले गये।

राम का वैराग्य और मोक्ष-गमन

एक दिन सौधर्म स्वर्ग में इन्द्र देवों की सभा में शास्त्र चर्चा करते हुए कहने लगे—तुम्हें देव पर्याय पुण्यों से प्राप्त हुई है। इसको भोगों में नहीं गंवा देना चहिये। यदि यहाँ भगवान की भक्ति और धर्म की आराधना में मन लगाओगे तो इसके बाद तुम्हें मनुष्य जन्म प्राप्त हो सकता है। तब वहाँ मुक्ति की साधना की जा सकती है।

तब एक देव बोला—देवराज ! स्वर्ग में आकर सब ऐसा ही कहते हैं, किन्तु जब मनुष्य-जन्म मिल जाता है तो सब भूल जाते हैं। देखिये न, राम का जीव पूर्व जन्म में जब ब्रह्म स्वर्ग का इन्द्र था, तब वह भी ऐसी ही वैराग्यभरी चर्चा किया करता था, किन्तु अब राम लक्ष्मण के मोह में कैसे फँस रहे हैं।' तब देवराज इन्द्र बोले—अनुराग का बन्धन होता ही ऐसा है। राम और लक्ष्मण का भ्रातृ-स्नेह अन्यत्र मिलना कठिन है। इन्द्र सभा समाप्त कर उठ गये।

तब दो देवों ने सोचा—चलकर देखें तो सही, दोनों भाइयों में कैसा स्नेह है। देव अयोध्या में लक्ष्मण के महल में पहुँचे। उस समय वे बैठे हुये मुँह धो रहे थे। देवों ने राम के महल में जाकर रुदन का कुहराम मचा दिया और ऐसी माया फैलाई कि मंत्री, द्वारपाल आदि लक्ष्मण के पास आकर कहने लगे —'देव ! अनर्थ हो गया।' लक्ष्मण बोले—'क्या हुआ ?' किन्तु किसी के मुख से वचन नहीं निकला, आँखों से आंसुओं की धार बहती रही। बड़ी कठिनाई से इतना ही निकल पाया—'देव ! राम हमको अनाथ कर गये।' लक्ष्मण ने ये शब्द क्या सुने, मानो वज्रपात हो गया। एकदम उनके मुख से 'हाय' निकला और वे निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़े। देवों को अपने अविवेकपूर्ण कृत्य पर बड़ा पश्चाताप हुआ और दुखित मन से वे वहाँ से चले गये।

लक्ष्मण की मृत्यु होते ही महल में भयानक क्रन्दन शुरु हो गया। लक्ष्मण की रानियाँ लक्ष्मण की मृत देह को घेरकर विलाप करने लगीं। तब किसी ने जाकर रामचन्द्र जी को दुःसंवाद दिया। राम दौड़े आये। रानियाँ उनके आते ही एक ओर हट गईं। राम ने आते ही लक्ष्मण को गोद में उठा लिया और प्रलाप करने लगे—कौन कहता है, मेरा भाई मर गया है, वह तो सो रहा है। फिर लक्ष्मण से कहने लगे—वत्स ! तू तो कभी ऐसा सोता नहीं था।

आज तू ऐसा क्यों सो गया है कि जगाने पर भी नहीं जागता। अच्छा, अब समझा, तू मुझसे रूठ गया है किन्तु बता तो सही, क्यों रूठ गया है। इस प्रकार कहकर वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। वे बार-बार होश में आते और लक्ष्मण से नाना प्रकार की बातें करने लगते, कभी उसके मुख में भोजन देते, कभी दूध पिलाते और फिर बार-बार बेहोश हो जाते। किन्तु लक्ष्मण को एक क्षण को भी दूसरे को नहीं छूने देते। उन्हें किसी पर भी विश्वास नहीं था, न जाने ये लोग मेरे लक्ष्मण को क्या कर दें। वह रूठ गया है मुझसे, उसे मैं ही मनाऊँगा।

रुदन सुनकर सारा परिवार वहाँ एकत्रित हो गया। लवण और अंकुश भी आये। उन्होंने मृत लक्ष्मण को देखा और मन में सोचने लगे—ये लक्ष्मण नारायण थे; तीन खण्ड के अधिपति थे, कोई इनको जीतने में समर्थ नहीं था। किन्तु जब ऐसे महापुरुषों की भी मृत्यु होती है तो हम जैसों की तो बात ही क्या है। इस प्रकार विचार कर वे संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गये और पिता की आज्ञा लेकर महेन्द्र वन में पहुँचे और वहाँ अमृतस्वर मुनि के पास दीक्षा लेकर मुनि बन गये तथा घोर तपस्या करके पावागिरि से मुक्त हो गये।

लक्ष्मण की मृत्यु का संवाद पाकर विभीषण, सुग्रीव आदि सभी राजा आये। जब लक्ष्मण की लाश को छाती से चिपटाये हुये तथा निरर्थक प्रलाप करते हुए राम को देखा तो सभी बहुत दुखित हुए। तब विभीषण ने राम को समझाया—देव ! यह रोना छोड़िये। संसार का स्वभाव ही ऐसा है। जो यहाँ जन्म लेता है, वह मरता अवश्य है। अतः वीर लक्ष्मण की मृत देह का संस्कार करिये।' राम यह सुनकर क्रुद्ध होकर बोले—'आप लोग अपने पिता पुत्र का संस्कार करिये। मेरा भाई लक्ष्मण तो मुझसे रूठकर सो गया है। क्रोध कम होने पर वह अपने आप उठ बैठेगा।' इस तरह कहकर वे लक्ष्मण से कहने लगे—'भैया लक्ष्मण, उठ। इन दुष्टों के बीच से हम कहीं अन्यत्र चले चलेंगे। ये दुष्ट विद्याधर हमारा अनिष्ट करने पर उतारू हैं।' इस तरह कहकर लक्ष्मण की लाश को लेकर रामचन्द्र जी चल दिये और इधर-उधर घूमने लगे। उनकी रक्षा के लिये विद्याधर लोग भी उनके पीछे घूमने लगे।

इस तरह कुछ दिन बीत गये। तो शत्रुओं ने देखा—इस समय लक्ष्मण मर गया है, राम भाई के शोक में पागल हो रहे हैं, लव और कुश दीक्षा ले गये हैं। अतः अपने पिताओं का बदला लेने का बड़ा अच्छा अवसर है। यों सोचकर इन्द्रजीत, कुम्भकर्ण, खरदूषण आदि के पुत्रों ने सेना सजाकर अयोध्या पर चढ़ाई कर दी। शत्रु का आक्रमण सुनकर राम लक्ष्मण की लाश को कन्धे से चिपटा कर धनुष उठा कर चल दिये। शोकसंतप्त राजा भी उनकी सहायता करने लगे। बलभद्र राम पर चारों ओर से आई हुई विपत्ति देखकर जटायु और कृतान्तवक्त्र के जीव—जो चौथे स्वर्ग में देव हुए थे—उन्होंने आपस में परामर्श किया। कृतान्तवक्त्र के जीव ने जटायु के जीव से कहा—लक्ष्मण की मृत्यु हो गई है। हमारे पूर्वजन्म के स्वामी राम शोक में पागल हो गये हैं। शत्रु नगर पर अधिकार करने चले हैं। ऐसे समय में हमें उनकी सहायता करनी चाहिए। तुम जटायु पक्षी थे और तुम्हें उन्होंने ही मरते समय णमोकार मंत्र सुनाया था, जिसके प्रभाव से तुम देव बने हो। मैं उनका कृतान्तवक्त्र सेनापति था। इस तरह कहकर कृतान्तवक्त्र का जीव देव दैत्य का रूप धारण कर शत्रुओं से युद्ध करने लगा। वह पर्वतों को उखाड़ कर शत्रुओं पर फेंकने लगा। शत्रु सेना डरकर भाग गई।

शत्रुओं को परास्त कर उन दोनों ने राम को प्रतिबोध देने का निश्चय किया। कृतान्तवक्त्र का जीव राम के सामने वृक्ष का सूखा ठूँठ बनकर खड़ा हो गया और जटायु का जीव उसे पानी से सींचने लगा। यह देखकर राम ने कहा—'अरे मूर्ख ! इस सूखे ठूंठ को तू क्यों सींच रहा है। इससे क्या तुझे फल मिल जायेंगे।' उत्तर में जटायु के जीव ने कहा—'दूसरों को उपदेश देने वाले तो बहुत हैं, किन्तु खुद अपनी ओर कोई नहीं देखता। आप ही बताइये, आप मुर्दे को छह माह से ढोते फिर रहे हैं, वह क्या जी जायगा।' यह सुनकर राम बोले—मूर्ख और दुष्ट आदमियों के हित की बात कहो, तो वह भी उन्हें बुरी लगती है। अतः चुप रहना ही ठीक है।

इस तरह कहकर राम आगे बढ़े तो देखा—एक आदमी पत्थर पर बीज बो रहा है और दूसरा आदमी घी के वास्ते जल और बालू मथ रहा है। राम ने उन दोनों से कहा--पागलो ! कहीं पत्थर से अंकुर निकलते हैं और जल या बालू से घी निकलता है ? व्यर्थ क्यों महनत करते हो।' तब कृतान्तवक्त्र के जीव ने कहा—'तब आप ही बताइये आप क्यों मतक शरीर को लिये फिर रहे हैं, क्या वह उससे जीवित हो जायगा ?'

वे दोनों इधर बात कर ही रहे थे, तब तक जटायु का जीव किसी लाश को कन्धे पर रक्खे उससे बातचीत करता हुआ राम के आगे से निकला। राम ने उससे पूछा—तू मुर्दे को क्यों लादे हुए है और उससे सुख-दुःख की बात करने से तुझे क्या लाभ होगा?' तब जटायु के जीव ने उनसे कहा—'तब आपने भी तो अपने भाई की लाश को लाद रक्खा है। आपको ही उससे बातचीत करने से क्या मिल जायगा?' राम ने जब यह सुना तो उन्हें होश आया। वे बार-बार लक्ष्मण के मुँह की ओर ताकने लगे। जब देखा कि लक्ष्मण का शरीर प्राणरहित है तो उन्हें संसार की अनित्यता समझ कर वैराग्य हो गया। वे सोचने लगे—संसार में कौन किसकी माता और कौन भाई हैं! यह यौवन सदा किसका रहा है? सब कुछ बिनाशीक है। इन सबसे सम्बन्ध तोड़ लेना ही श्रेयस्कर है। राम को विरक्त जानकर दोनों देव प्रगट हुए और अपना परिचय देकर बोले— हम दोनों चौथे स्वर्ग में देव हुए हैं। आपको दुखी जानकर समझाने आये थे।' राम के कहने से सुग्रीवादि ने चिता बनाकर लक्ष्मण की देह का दाह-सस्कार किया। स्नानादि से पवित्र होकर राम ने शत्रुघ्न का राज्याभिषेक करना चाहा, किन्तु उसने स्वीकार न करके दीक्षा लेने की इच्छा प्रगट की। तब राम ने लवणांकुश के पुत्र अनंगलवण को राज्य का अधिपति बनाया और दीक्षा लेने वन को चल दिये।

वन में जाकर चारणऋद्धिधारी अवधिज्ञानी मुनिसुव्रत से राम ने शत्रुघ्न सहित मुनिदीक्षा ले ली। भूषण वस्त्र और सिर के केश उखाड़ कर फेंक दिये। राम की यह दशा देखकर खड़े हुए लोगों की आँखों से आँसुओं की धारा बह निकली। राम के साथ विभीषण, सुग्रीव, नल, नील, क्रव्य, विराधित आदि अनेक लोगों ने भी मुनि-दीक्षा ले ली। अनेक रानियाँ गृह त्याग कर आर्यिका हो गईं।

कुछ दिनों पश्चात् राम गुरु से आज्ञा लेकर एकलविहारी हो गये। वे पाँच दिनों तक उपवास करने के बाद एक नगर में पहुँचे तो उनके सुन्दर रूप को देखकर अनेक स्त्रियाँ काम से व्याकुल होकर नाना चेष्टायें करने लगीं। राम अन्तराय समझकर लौट आये और निश्चय कर लिया कि अब मैं आहार के लिये नगर में नहीं जाया करूँगा। इस प्रकार घोर तपस्या करते हुए वे अनेक देशों में विहार करते हुए कोटिशिला पहुँचे और नासाग्र दृष्टि से ध्यान करने बैठ गये।

स्वर्ग में सीता के जीव ने अवधिज्ञान से राम का मुनि होना देखकर विचार किया कि राम को किस प्रकार तपस्या से विचलित करूँ जिससे वे इसी स्वर्ग में आवें और हम दोनों साथ-साथ रहें। इस तरह विचार कर वह प्रतीन्द्र राम के पास गया और सीता का रूप बनाकर अनेक हाव-भाव करके नाना प्रकार की चेष्टायें करने लगा। किन्तु रामचन्द्रजी ध्यान से विचलित नहीं हुए। क्षपक श्रेणी आरोहण करके उन्होंने उसी समय घातिया कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। माघ शुक्ला द्वादशी को रात्रि के पिछले पहर में वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी अर्हन्त भगवान बन गये। चारों प्रकार के देवों और इन्द्रों ने मिलकर भगवान राम का ज्ञानोत्सव मनाया और भगवान का उपदेश हुआ।

भगवान राम अनेक देशों में विहार करते हुए तुंगीगिरि पहुँचे और योगनिरोध कर शेष अघातिया कर्मों का भी नाश करके परम पद मोक्ष को प्राप्त किया। राम सिद्ध भगवान बन गये। अब उनका संसार-भ्रमण, जन्म-जरा-मृत्यु सब छूट गये। वे कृत-कृत्य हो गये। संसार के सम्पूर्ण दुःखों से वे परे हो गये।

भगवान राम के इस पावन जीवन-चरित को जो भव्यजन भक्ति भाव से पढ़ते हैं और उन जैसा ही आदर्श जीवन बनाने का प्रयत्न करते हैं, वे भी एक दिन अवश्य भगवान बनेंगे।

बोलो भगवान रामचन्द्र की जय!

———

त्रयोविंशतितम परिच्छेद

नारद, वसु और पर्वत का संवाद—

भगवान मुनिसुव्रतनाथ के बाद उनका पुत्र सुव्रत राजसिंहासन का अधिकारी हुआ। यथासमय वह अपने पुत्र दक्ष को राज्य-भार सौंप कर अपने पिता भगवान मुनिसुव्रतनाथ के पास दीक्षित हो गया और तपस्या द्वारा कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त किया। राजा दक्ष की रानी इला से ऐलेय नामक पुत्र हुआ। उसके बाद मनोहरी नामक पुत्री हुई। जब पुत्री यौवन को प्राप्त हुई तो उसका सौन्दर्य और भी निखर आया। दक्ष अपनी पुत्री के ऊपर ही मोहित हो गया। एक दिन उसने राज्य-सभा में उपस्थित प्रजाजनों से पूछा—'यदि राज्य में अश्व, गज, स्त्री आदि कोई वस्तु अनर्घ्य हो और वह प्रजा के योग्य न हो तो राजा उसका अधिकारी हो सकता है या नहीं?' प्रजाजनों ने उत्तर दिया—'देव! राजा अवश्य ही ऐसी वस्तु का अधिकारी है।' राजा बोला—'मैं आप लोगों की सम्मति के अनुसार ही करूँगा।'

हरिवंश की परम्परा में वसु

इस प्रकार प्रजाजनों को भ्रमित कर दक्ष ने अपनी पुत्री मनोहरी के साथ विवाह कर लिया। इस अनैतिक कृत्य से रुष्ट होकर रानी इला अपने पुत्र और अनेक सामन्तों के साथ चली गई और इलावर्धन नाम का नगर बसाकर रहने लगी। ऐलेय को वहाँ का राजा बनाया। इलावर्धन नगर अंग देश में था। बाद में ऐलेय ने ताम्रलिप्ति नगर बसाया। फिर वह दिग्विजय करता हुआ नर्मदा तट पर आया। वहाँ उसने माहिष्मती नामक नगर बसाया और वहीं अपनी राजधानी बना कर राज्य करने लगा।

ऐलेय के बाद उसका पुत्र कुणिम राजगद्दी पर बैठा। उसने विदर्भ देश में वरदा नदी के तट पर कुण्डिन नामक एक सुन्दर नगर बसाया। कुणिम के पश्चात् उसका पुत्र पुलोम राज्य का अधिकारी हुआ। उसने अपने नाम पर पुलोम नगर बसाया। पुलोम के बाद उसके दो पुत्र पौलोम और चरम राजा हुए। उन्होंने रेवा नदी के तट पर इन्द्रपुर नगर बसाया तथा चरम ने जयन्ती और वनवास्य नामक दो नगर बसाये। पौलोम के महीदत्त और चरम के संजय नामक पुत्र हुआ। महीदत्त ने कल्पपुर बसाया। उसके दो पुत्र हुए—अरिष्टनेमि और मत्स्य। मत्स्य दिग्विजय करता हुआ भद्रपुर और हस्तिनापुर को जीतकर हस्तिनापुर को अपनी राजधानी बनाकर रहने लगा। उसके अयोधन आदि सौ प्रतापी पुत्र हुए। फिर अयोधन राजा बना। उसके मूल, मूल के शाल, शाल के सूर्य नामक पुत्र हुआ। सूर्य ने शुभ्रपुर नगर बसाया। सूर्य के अमर नामक पुत्र हुआ। उसने वज्र नामक नगर बसाया। अमर के देवदत्त, देवदत्त के हरिषेण, हरिषेण के नभसेन, नभसेन के शङ्ख, शङ्ख के भद्र और भद्र के अभिचन्द्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। अभिचन्द्र ने विन्ध्याचल के ऊपर चेदिराष्ट्र की स्थापना की तथा शुक्तिमती नदी के किनारे शुक्तिमती नामक नगरी बसाई। अभिचन्द्र का विवाह उग्रवंश की राजकन्या वसुमती से हुआ। उससे वसु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

प्राचीन काल में यज्ञों का रूप

हम वसु-नारद और पर्वत के उपाख्यान द्वारा यह बतावेंगे कि किस प्रकार पर्वत ने 'अजैर्यष्टव्यं' इसका अर्थ 'बकरों के द्वारा यज्ञ करना चाहिये' किया, जबकि नारद इसका अर्थ यह बताता था कि अज अर्थात् जो पैदा न हो सके ऐसे धान्य से यज्ञ करना चाहिए और इन दोनों के विवाद का फैसला राजा वसु ने पर्वत के पक्ष में दिया, जिससे संसार में यज्ञों में पशुओं का होम होने लगा। इससे पहले हम यहाँ संक्षेप में वैदिक साहित्य के आधार पर यह बताना आवश्यक समझते हैं कि प्राचीन काल

में यज्ञों का क्या रूप था। इस विवरण से यह भी ज्ञात हो सकेगा कि यज्ञों के रूप का किस प्रकार क्रमिक विकास हुआ।

प्राचीन काल में—संभवतः उस काल में जब वैदिक आर्य भारत में आये थे उससे पूर्व काल में—भारत में ज्ञान यज्ञ का प्रचार था। इस बात का समर्थन वेदों से भी होता है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में इसके समर्थक अनेक मंत्र आये हैं।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।।
तेहनाकं महिमानः स चन्त यज्ञपूर्वे साध्या सन्ति देवाः ।।

—ऋग्वेद मं० १ सू० १६४/५०, अथर्ववेद कां० ७ सू० ५/१

अर्थात् पूर्व समय में देवों ने ज्ञान से यज्ञ किया क्योंकि प्राचीन समय का यही धर्म था। उस ज्ञान-यज्ञ की महिमा स्वर्ग में जहाँ पहले साधारण देव रहते थे पहुँची।

अथर्ववेद में आगे लिखा है—वह ज्ञान यज्ञ यहाँ (भारत में) इतना उन्नत हुआ कि वह देवताओं का अधिपति बन गया। इसके पश्चात् यहाँ—

यत पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत ।
अस्तिनु तस्मादो जीयो यद् विदव्येने जिरे ।। ४ ।।

—जब यहाँ देवों ने हवि रूप द्रव्य यज्ञ फैलाया तो भी यहाँ ज्ञान यज्ञ ही मुख्य था। परन्तु हवि यज्ञ के अर्थ मूर्ख देवों ने कुछ और ही समझ लिये। इसलिये—

मुग्धा देवा उत शुनाथ जन्तोत गोरेङ्गै पुरुधायजन्त ।
य इमं यज्ञं मनसाचिकेत प्राणो वोचस्तमिहेह ब्रवः ।। ५ ।।

—उन्होंने पशुओं से यज्ञ करना आरम्भ किया। यहीं तक नहीं, अपितु गौ के अंगों से भी यज्ञ करने लगे।

यजुर्वेद अ० ३१ मं० १४ और १५ तथा उसका महीधर भाष्य भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः।।'

इस मंत्र का भाष्य करते हुए भाष्यकार श्री महीधर लिखते हैं—

'यज्ञेन मानसेन संकल्पेन यज्ञेन यज्ञं यज्ञस्वरूपं प्रजापतिमयजन्त ।'

अर्थात् देवों ने मानस संकल्प रूप यज्ञ से यज्ञस्वरूप प्रजापति की पूजा की।

'तं यज्ञं वर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ।। यजु० अ० ३१ मं० ६ ।।

इसका महीधर भाष्य—यज्ञं यज्ञ साधनभूतं तं पुरुषं वर्हिषि मानसे यज्ञे (प्रौक्षत्) प्रौक्षितवन्तः। तेन पुरुषरूपेण यज्ञेन मानस यागं निष्पादितवन्तः के ते देवाः, ये साध्याः सृष्टि साधन योग्याः प्रजापति प्रभृतयः। ये च तदनुकूलाः ऋषय'।

अर्थात् यज्ञ साधनभूत पुरुष रूपी यज्ञ से देवों ने मानस यज्ञ निष्पन्न किया। वे देव प्रजापति आदि तथा उनके अनुकूल ऋषि आदि थे।

गीता में भी ज्ञान योग की प्रशंसा करते हुए कहा है कि ज्ञान योग से सम्पूर्ण कर्मों का विनाश हो जाता है और ज्ञानयोग के समान अन्य कोई योग नहीं है।

ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।। ४। ३७
नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विते ।। ४। ३८

उपर्युक्त विवरण पढ़कर यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक आर्यों से पहले भारत में ज्ञान यज्ञ का प्रचार था। वैदिक आर्यों ने यहाँ आने पर द्रव्य यज्ञ फैलाया। अपने प्रारम्भिक काल में यह द्रव्य यज्ञ हिंसा रहित था। धीरे-धीरे हवि का अर्थ बदल कर उन्होंने पशुओं से यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया। फिर तो यज्ञों में हिंसा का विस्तार बांध तोड़कर बढ़ता ही गया और एक समय ऐसा भी आया, जब गोमेध, अश्वमेध आदि से बढ़कर नरमेध

भी होने लगे।

यजुर्वेद अ० ३१ और मंत्र ६,१४ तथा १५ तथा उसके भाष्य से एक वात पर विशेष रूप से प्रकाश पड़ता है कि मानस यज्ञ के प्रस्तोता प्रजापति तथा उनके अनुकूल चलने वाले अर्थात् उनके अनुयायी ऋषि थे। तथा देव अर्थात् ऋषि उस मानस यज्ञ से प्रजापति की पूजा करते थे। ये प्रजापति आद्यतीर्थंकर ऋषभदेव से अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति नहीं थे। आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भू स्तोत्र में ऋषभदेव का एक नाम प्रजापति भी वतलाया है—'प्रजापतिर्यः प्रथमं जिजीविषु शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।

मूर्ख देवों ने हविरूप यज्ञ का अर्थ न समझकर यज्ञों में हिंसा का जो विधान किया, उसका भी इतिहास मिलता है। इस सम्वन्ध में हिन्दू पुराणों जैसे मत्स्य पुराण (मन्वन्तरानुकल्प-देवर्षि-संवाद नामक अध्याय १४३) तथा महाभारत (शान्ति पर्व-अध्याय ३३७ तथा अश्वमेध पर्व अध्याय ६१) तथा जैन शास्त्रों—जैसे हरिवंश पुराण-सर्ग १७, पद्मचरित पर्व ११, उत्तर पुराण पर्व ६७, भाव प्राभृत ४५, त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित पर्व ७, सर्ग २७, वसुदेव हिण्डी प्रथम खण्ड पृ० १८६-१६१ तथा द्वितीय खण्ड पृ० ३५७ आदि में प्रायः समान विवरण उपलब्ध होता है। यदि अन्तर भी है तो साधारण सा ही। जिस प्रकार जैन शास्त्रों में वसु आदि सम्वन्धी उपाख्यान में थोड़ा सा अन्तर है, इसी प्रकार हिन्दू पुराणों के उपाख्यानों में साधारण सा अन्तर है। किन्तु हमें यहाँ अन्तर की चर्चा नहीं करनी है, वल्कि समानता की चर्चा करनी है। अनेकता में एकता का अनुसंधान करना ही हमारा लक्ष्य है।

जैन शास्त्रों का कथानक इस प्रकार है—

राजा अभिचन्द्र की राजधानी में क्षीरकदम्व नाम का एक विद्वान् रहता था। उसकी स्त्री का नाम स्वस्तिमती और पुत्र का नाम पर्वत था। क्षीरकदम्व के पास राजा अभिचन्द्र का पुत्र वसु, नारद और पर्वत पढ़ते थे। एक दिन एक आकाशचारी निमित्तज्ञानी मुनि कहते जा रहे थे कि इन चार व्यक्तियों में पाप के कारण दो तो नरक में जायेंगे और दो ऊर्ध्वगति प्राप्त करेंगे। ये वचन सुनकर उपाध्याय क्षीरकदम्व को बड़ी चिन्ता हुई। वे समझ गये कि इन तीनों शिष्यों में वसु और पर्वत ये दोनों अवश्य अधोगति को जायेंगे और नारद उच्च गति प्राप्त करेगा।

एक वर्ष वाद शिष्यों का शिक्षण समाप्त हुआ। तीनों ही शिष्य नाना विषयों के प्रकाण्ड विद्वान् हो गये। वसु तो राजमहलों में चला गया। उसे यौवनसम्पन्न और योग्य जानकर उसके पिता अभिचन्द्र ने (कहीं-कहीं इनका नाम विश्वावसु भी आता है) उसका विवाह कर दिया और उसका राज्याभिषेक करके उन्होंने दीक्षा लेली। वसु राजा हो गया। उसने अपना सिंहासन स्फटिक के स्तम्भों के ऊपर वनवाया। वह सिंहासन ऐसा प्रतीत होता था मानो वह आकाश में अधर रक्खा हो। इससे जनता में यह प्रसिद्ध हो गया कि राजा वसु के सत्य के प्रभाव से उसका सिंहासन आकाश में अधर स्थित रहता है। इसी कारण उसका नाम उपरिचर वसु के रूप में विख्यात हो गया।

इन बातों से पर्वत को बड़ा दुःख हुआ और वह वापिस आने पर अपनी माता से सम्पूर्ण घटना सुना कर बोला—'पिता जी नारद को जो विद्यायें सिखाते हैं मुझे नहीं बताते।' ब्राह्मणी ने उपाध्याय के आने पर पुत्र द्वारा कही हुई सारी बातें सुन कर उनसे यही शिकायत की। सुनकर उपाध्याय बोले—'देवी ! मैं तो सबको एक सी शिक्षा देता हूँ। किन्तु सबकी बुद्धि भिन्न-भिन्न होती है। नारद कुशाग्र बुद्धि है किन्तु तुम्हारा पुत्र सदा से ही मन्द बुद्धि है। तुम व्यर्थ ही नारद से ईर्ष्या न करो।' यों कहकर उन्होंने नारद को बुलवाया और उससे पूछा—'वत्स ! आज तुम्हारा पर्वत से वन में क्या विवाद हो गया था ?' नारद विनयपूर्वक बोला—'गुरुदेव ! मेरा वयस्य पर्वत से विवाद तो कुछ नहीं हुआ। हाँ, मैं पर्वत से वन में विनोद-वार्ता करता हुआ जा रहा था। उस समय जल पीकर मोरों का झुण्ड लौट रहा था। उस झुण्ड में जो मयूर था, वह पानी में पूँछ के चन्द्रक भीगकर भारी न हो जायँ, इससे पीछे की ओर पैर करके और मुंह आगे की ओर करके लौटा था तथा मयूरियाँ जल से भीग जाने के कारण अपने पंख फटकार कर जा रही थीं। यह देखकर मैंने अनुमान लगाया कि इनमें एक मयूर होगा तथा शेष सात मयूरी। यही बात मैंने अपने वयस्य पर्वत से कही थी। आगे चलने पर मैंने देखा कि चलते समय हस्तिनी के पैर उसी के मूत्र से भीगे हैं इससे मैंने जाना कि यह हस्तिनी होगी। उसके दाईं ओर के वृक्ष और लताएँ टूटी हुई थीं। इससे मैं समझ गया कि वह बांई आँख से अंधी है। उस पर बैठी हुई स्त्री मार्ग की क्लान्ति के कारण उतर कर शीतल छाया में नदी के किनारे लेटी थी। उसके उदर के स्पर्श से भूमि पर जो चिन्ह बन गये थे, उससे मैंने अनुमान लगाया कि हथिनी पर सवार स्त्री थी और वह गर्भिणी है। उसकी साड़ी का एक खण्ड किसी झाड़ी में उलझा रह गया था। इसे देखकर मैंने जाना कि वह श्वेत साड़ी पहने थी। यह बात अनुमान से मैंने पर्वत से कही थी।

उपाध्याय और ब्राह्मणी दोनों नारद की बातें ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। यह सुनकर उपाध्याय बोले-देवी ! इसमें मेरा क्या अपराध है। मैंने दोनों को समान भाव से अध्ययन कराया है।' सब बातें सुनकर ब्राह्मणी नारद से बहुत प्रसन्न हुई।

तब उपाध्याय ने निमित्त ज्ञानी मुनि की कही हुई बात ब्राह्मणी को बताई और दोनों शिष्यों के भावों की परीक्षा करने का निश्चय किया। उपाध्याय ने आटे के दो बकरे बनाकर नारद और पर्वत को सौंपते हुए कहा कि ऐसे एकांत स्थान में जाकर जहाँ कोई देखता न हो चन्दन और माला आदि से इसकी पूजा करना और इसे काटकर (कहीं-कहीं कान काटकर) शीघ्र ले आओ। पर्वत एक बन में पहुँचा और एकान्त देखकर वह बकरे को अथवा बकरे के कानों को काटकर वापिस पिता के पास आ गया और अपने पिता से बोला—'तात ! आपने जैसा आदेश दिया था, मैंने वैसा ही किया है।' उधर नारद सारे दिन वन में पर्वत पर घूमता फिरा, किन्तु उसे कोई ऐसा स्थान नहीं मिला जहाँ कोई देख न रहा हो। वह संध्या समय घर लौटा और बड़ा म्लान मुख होकर बोला—'गुरुदेव ! मुझे कोई ऐसा स्थान नहीं मिल सका, जहाँ मुझे कोई देख नहीं रहा हो। देवता, सिद्ध भगवान, केवली और स्वयं मेरी अन्तरात्मा मेरी हर गति विधि को देख रहे हैं। दूसरी बात यह है कि शास्त्रों में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चारों निक्षेपों में से किसी के द्वारा अभिहित पदार्थों में हिंसा अथवा पापकारी कार्य करने का निषेध है। इसलिए मैं आटे के इस बकरे के प्रति हिंसा रूप कार्य नहीं कर सका।'

नारद की बात सुनकर उपाध्याय अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने नारद की प्रशंसा करते हुए कहा—'हे पुत्र ! तुमने बहुत विवेकपूर्ण कार्य किया है। फिर वे पर्वत से कहने लगे—'पर्वत ! तूने बड़ा अविवेकपूर्ण कार्य किया है। तुझे कार्य-अकार्य का भी ज्ञान नहीं है। तू बिलकुल निर्बुद्धि है।

उपाध्याय को निश्चय हो गया कि पर्वत अवश्य ही नरकगामी है और नारद उर्ध्व गति प्राप्त करेगा। उन्होंने पर्वत को बहुत कुछ उपदेश दिया, किन्तु ऊसर भूमि में बीज बोने के समान सब व्यर्थ रहा।

कुछ दिनों पश्चात् नारद अपने नगर को चला गया। उपाध्याय क्षीरकदम्ब ने प्रव्रज्या लेली। उनके स्थान पर पर्वत गुरु-पद पर आसीन हो गया और वह गुरुकुल का संचालन करने लगा।

बहुत दिन बाद नारद अपने वयस्य पर्वत से मिल और गुरुआणी की पाद वन्दना करने के लिए आया। उस समय पर्वत शिष्यों से घिरा हुआ बैठा था और वह शिष्यों को पाठ पढ़ा रहा था। नारद ने पर्वत को अभिवादन

यद्यपि वसु को गुरु-वचनों का अच्छी तरह स्मरण था और वह जानता था कि नारद का पक्ष सत्य है, किन्तु मोहवश वह इस प्रकार कहने लगा—'सभाजनो ! नारद ने जो कहा है, वह बहुत युक्तियुक्त है किन्तु पर्वत ने जो कहा है , वह उपाध्याय द्वारा कहा गया है।

इतना कहते ही वसु का स्फटिकासन पृथ्वी में धंस गया और पाताल में जा गिरा। वसु की तत्काल मृत्यु हो गई और वह नरक में उत्पन्न हुआ। असत्यवादी वसु को सब लोगों ने निन्दा की, पर्वत को नगर से अपमानित करके निकाल दिया तथा यथार्थवादी नारद को ब्रह्म रथ पर आरुढ़ करके उसे नगर में निकाला और सार्वजनिक सम्मान किया। वसु और पर्वत को असत्य का फल तत्काल मिल गया।

मत्स्य पुराण में यज्ञों के विकास का इतिहास—हिन्दू धर्म में मान्य 'मत्स्य पुराण' में इस सम्बन्ध में जो कथा दी हुई है, उससे वसु के चरित्र, यज्ञों के प्रारम्भिक रूप और परिवर्तित रूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। कथा इस प्रकार है—

'त्रेतायुग के प्रारम्भ में इन्द्र ने विश्व-युग नामक यज्ञ किया। बहुत से महर्षि उसमें आये। किन्तु जब उन्होंने यज्ञ में पशु-वध होते देखा तो उन्होंने उसका घोर विरोध किया। उन्होंने स्पष्ट कहा—'नायं धर्मो ह्यधर्मोऽयं, न हिंसा धर्म उच्यते।' अर्थात् यह धर्म नहीं है, यह तो वास्तव में अधर्म है। हिंसा धर्म नहीं कहलाता। उन्होंने यह भी कहा कि पूर्वकाल में यज्ञ पुराने धानों से किया जाता रहा है। मनु ने भी ऐसा ही विधान किया है। किन्तु इन्द्र नहीं माना। इस पर एक विवाद उठ खड़ा हुआ। अन्त में इस विवाद का निपटारा कराने के लिए वे चेदि नरेश वसु के पास पहुँचे। उसने बिना सोचे विचारे कह दिया कि यज्ञ स्थावर और जंगम दोनों प्रकार के प्राणियों से हो सकता है। इस पर ऋषियों ने वसु को शाप दे दिया।

महाभारत में वसु का चरित्र—राजा वसु घोर तपस्या में लीन थे। इन्द्र को शंका हुई कि यदि यह इसी प्रकार तपस्या करता रहा तो यह एक दिन मेरा इन्द्र पद ले लेगा। यह सोच कर इन्द्र उसे तपस्या से विरत करने के लिये वसु के पास आया और उसे चेदि विषय का राज्य दे दिया तथा उसे स्फटिकमय गगनचारी विमान दिया[1]।

वसु उस गगनचारी विमान में आकाश में विहार करने लगा। इस कारण लोक में वह उपरिचर वसु के नाम से विख्यात होगया। एक बार वसु ने अश्वमेध यज्ञ किया। उस यज्ञ में पशु-वध नहीं किया गया। बल्कि वन में उत्पन्न होने वाले फलमूलादि का ही हविष्य दिया गया। इससे देवाधिदेव भगवान उस पर अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने यज्ञ में प्रगट होकर वसु को साक्षात् दर्शन दिये तथा अपने लिये अर्पित हविष्य ग्रहण किया[2]।

एक बार यज्ञ में दिये जाने वाले हविष्य के सम्बन्ध में देवताओं और ऋषियों में विवाद उत्पन्न हो गया। देवगण ऋषियों से कहने लगे—'अजर्यष्टव्यम्' इस श्रुतिवाक्य में अज का अर्थ बकरा है। इसका आशय यह है कि बकरों द्वारा यज्ञ करना चाहिए।' किन्तु इसका विरोध करते हुए ऋषि बोले—'देवगण ! वैदिक श्रुति का अर्थ यह नहीं है। इसका अर्थ तो 'बीजों द्वारा यज्ञ करना चाहिये' यह है। अज का अर्थ यहाँ बकरा नहीं; किन्तु बीज हैं। अतः बकरे का वध करना उचित नहीं है। इस सत्य युग में पशु-वध कैसे किया जा सकता है।'

जिस समय देवताओं और ऋषियों में यह विवाद चल रहा था, तभी आकाश में विचरण करते हुए राजा वसु उस स्थान पर पहुँच गये। उनका सहसा आगमन देखकर वे ऋषि देवताओं से बोले—'देवताओ ! ये राजा वसु हम लोगों के संशय को दूर कर देंगे। ये स्वयं यज्ञ करने वाले हैं, सर्वभूतहित-निरत हैं। ये शास्त्र के विरुद्ध वचन नहीं कहेंगे।'

दोनों ने राजा वसु से अपने पक्ष कह दिये। तब वसु ने देवताओं के पक्ष का समर्थन करते हुए कहा—'अज का अर्थ बकरा है। अतः बकरे के द्वारा ही यज्ञ करना उचित है।'

---

१. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३, श्लोक १-१७
२. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६, श्लोक १-१३

इतना सुनते ही ऋषि क्रुद्ध होकर कहने लगे—'राजन् ! तुमने यह जानते हुए भी कि यहाँ अज का अर्थ बकरा नहीं ; अन्न है, तुमने देवताओं के पक्ष का समर्थन किया है। अतः तुम आकाश से नीचे गिर जाओ। आज से आकाश में विचरण करने की तुम्हारी शक्ति नष्ट होजाय। हमारे शाप से तुम पृथ्वी को भेद करके पाताल में प्रवेश करोगे। राजन् ! यदि तुमने वेद और सूत्रों के विरुद्ध वचन बोले हों तो हमारा शाप तुम पर लगेगा। यदि हमने विरुद्ध वचन बोले हों तो हमारा पतन हो।'

ऋषियों के इस प्रकार कहते ही उपरिचर वसु उसी समय आकाश से नीचे आगिरे और भूमि के विवर में प्रविष्ट होगये।[1]

---

१. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७, श्लोक १-१७

चतुर्विंशतितम परिच्छेद

भगवान् नमिनाथ

पूर्व भव भरत क्षेत्र के वत्स देश में कौशाम्बी नगरी का राजा पार्थिव था। वह इक्ष्वाकु वंशी था। उसके शौर्य की गाथायें सारे देश में विख्यात थीं। शत्रुदल उसके नाम से ही कांपता था। उसकी महारानी सुन्दरी से सिद्धार्थ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था। एक दिन मनोहर उद्यान में परमावधिज्ञान के धारक मुनिराज मुनिवर पधारे। राजा उनके दर्शनों के लिये गया और उनसे धर्म का स्वरूप पूछा। मुनिराज ने धर्म का यथार्थ स्वरूप वतलाया। उसे सुनकर राजा को संसार असार लगने लगा। वह विचार करने लगा–संसार में प्राणी मरण रूपी मूलधन लेकर मृत्यु का कर्जदार होरहा है और प्रत्येक जन्म में उसका यह कर्ज निरन्तर वढ़ता जारहा, है जिसके कारण वह नाना प्रकार के कष्ट भोग रहा है। जवतक यह प्राणी रत्नत्रय रूपी धन का उपार्जन कर मृत्यु रूपी साहूकार को व्याज सहित ऋण नहीं चुकाता तव तक इसके दुःखों का अन्त कैसे होसकता है। यह विचार करके उसने अपने पुत्र को राज्य सोंपकर मुनिराज मुनिवर से प्रव्रज्या ग्रहण करली। सिद्धार्थ न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा।

एक दिन राजा सिद्धार्थ ने अपने पिता पार्थिव मुनिराज के समाधिमरण का समाचार सुना। इस समाचार से उसके मन में भारी निर्वेद होगया। उस समय मनोहर उद्यान में महावल नामक केवली भगवान विराजमान थे। उनका उपदेश सुनकर राजा ने अपने पुत्र श्रीदत्त को राज्य-भार देकर केवली भगवान से दिगम्बर मुनि की दीक्षा लेली। परिणाम विशुद्धि के कारण उसे तत्काल क्षायिक सम्यग्दर्शन होगया। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन करके सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया। फलतः उसे तीर्थंकर नामक पुण्य प्रकृति का वन्ध हो गया। अन्त में समाधिमरण करके अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अतिशय ऋद्धि का धारक अहमिन्द्र हुआ।

गर्भ कल्याणक—वङ्ग देश में मिथिला नगरी थी। वहाँ के शासक इक्ष्वाकुवंशी काश्यप गोत्री, महाराज विजय थे। उनकी महारानी का नाम वप्पिला था। जव उक्त अहमिन्द्र की आयु में छह मास शेष रह गये तवसे देवों ने इन्द्र की आज्ञा से महाराज विजय के महलों में रत्नवर्षा प्रारम्भ कर दी। जव अहमिन्द्र की आयु पूर्ण हुई उस दिन अर्थात् आश्विन कृष्णा द्वितीया के दिन आश्विनी नक्षत्र में रात्रि के पिछले पहर में सुख निद्रा में सोई हुई महारानी को तीर्थंकर प्रभु के गर्भावतरण के सूचक सोलह शुभ स्वप्न दिखाई दिये। उसी समय उन्होंने मुख में प्रवेश करता हुआ एक हाथी देखा। तभी अहमिन्द्र के जीव ने महारानी के गर्भ में अवतार लिया।

स्वप्नों के देखने के पश्चात् महारानी की निद्रा भंग होगई। वे आवश्यक कृत्यों से निवृत्त होकर मंगल वस्त्राभूषण धारण करके महाराज के निकट पहुँची और देशावधि ज्ञान के धारक महाराज से देखे हुए स्वप्नों का वर्णन करके उनका फल पूछा। राजा ने विस्तार से स्वप्नों का फल वताकर कहा—देवी! तुम्हारे गर्भ में तीर्थंकर प्रभु ने अवतार लिया है। उसी समय इन्द्रों और देवों ने आकर तीर्थंकर प्रभु का गर्भकल्याणक महोत्सव किया।

जन्म कल्याणक—वप्पिला महादेवी ने आषाढ़ कृष्णा दशमी के दिन स्वाति नक्षत्र के योग में समस्त लोक के स्वामी महाप्रतापी पुत्र को जन्म दिया। देवों और इन्द्रों ने उसी समय आकर भगवान का जन्म कल्याणक

महोत्सव किया। बालक को सुमेरु पर्वत पर लेजाकर उनका क्षीरसागर के जल से जन्माभिषेक किया। सौधर्मेन्द्र ने बालक का नाम नमिनाथ रखा।

भगवान नमिनाथ की आयु दस हजार वर्ष की थी। उनका शरीर पन्द्रह धनुप ऊँचा था। शरीर की कान्ति स्वर्ण के समान थी। उनका चिन्ह नील कमल था। उनकी आयु के ढाई हजार वर्ष कुमार काल में व्यतीत हुए। उसके पश्चात् पिता ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। उन्होंने ढाई हजार वर्ष पर्यन्त राज्य शासन किया।

एक दिन आकाश मेघाच्छन्न था। शीतल पवन वह रही थी। मौसम सुहावना था। ऐसे समय भगवान नमिनाथ हाथी पर आरूढ़ होकर वन विहार के लिये निकले। वहाँ आकाश मार्ग से दो देव आये और भगवान को नमस्कार करके हाथ जोड़कर अपना परिचय देते हुए अपने आने का प्रयोजन कहने लगे—

दीक्षा कल्याणक देव ! हम दोनों पूर्व जन्म में धातकोखण्ड द्वीप में रहते थे। वहाँ हमने तपस्या की। फलतः हम सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुए। उत्पन्न होने के दूसरे दिन पूर्व विदेह क्षेत्र में स्थित वत्सकावती देश की सुसीमा नगरी में भगवान अपराजित तीर्थंकर के केवलज्ञान कल्याणक की पूजा के लिये अन्य देवों के साथ हम दोनों भी गये। वहाँ समवसरण में प्रश्न हुआ कि इस समय भरत क्षेत्र में भी क्या कोई तीर्थंकर है ? तब सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान अपराजित ने उत्तर दिया—'वंग देश की मिथिला नगरी में अपराजित स्वर्ग से अवतरित होकर नमिनाथ हुए हैं। उन्हें जल्दी ही केवलज्ञान उत्पन्न होगा और वे धर्म तीर्थ की स्थापना करेंगे। इस समय ग्रहस्थ अवस्था में राज्य लक्ष्मी का भोग कर रहे हैं।' भगवान के वचन सुनकर कुतूहलवश हम लोग आपके दर्शनों के लिये आये हैं।'

देवों की बात सुनकर भगवान नगर में लौट आये। उन्होंने अवधिज्ञान से जाना कि अपराजित तीर्थंकर और मेरा जीव पिछले भव में अपराजित विमान में देव थे। उन्होंने मनुष्य भव पाकर जन्म-मरण की शृंखला का नाश करने का उद्योग किया, जिसमें वे सफल हुए और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। किन्तु मैं अनादिकाल के संस्कारवश अभी तक राग-द्वेष के इस प्रपंच में पड़ा हुआ हूँ। मेरा कर्तव्य इस प्रपंच को समाप्त करना है। मुझे अब उसी का उद्योग करके शुद्ध आत्म स्वरूप की उपलब्धि करना है।

भगवान के मन से राग की वासना क्षण मात्र में तिरोहित हो गई और भोगों के प्रति उनके मन में निर्वेद भर उठा। भगवान की वैराग्य-भावना होते ही सारस्वत आदि लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान की पूजा और भगवान के विचारों की सराहना की तथा वे अपने स्थान को लौट गये। भगवान ने अपने पुत्र सुप्रभ को राज्य-भार सौंप दिया। तभी देवों और इन्द्रों ने आकर भगवान का दीक्षाभिषेक किया। फिर भगवान उत्तर कुरु नामक पालकी में आरूढ़ होकर चैत्रवन में पहुँचे। वहाँ उन्होंने वेला का नियम लेकर आषाढ़ कृष्णा दशमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सायंकाल के समय सम्पूर्ण आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके एक हजार राजाओं के साथ जैनेन्द्री दीक्षा लेली। दीक्षा लेते ही उन्हें मनःपर्यय नामक ज्ञान प्राप्त हो गया।

केवलज्ञान कल्याणक—भगवान पारणा के लिए वीरपुर नामक नगर में पधारे। वहाँ राजा दत्त ने परमान्न का आहार देकर अक्षय पुण्य का लाभ लिया।

भगवान ग्रामानुग्राम विहार करते हुए नाना प्रकार के कठोर तप करते रहे। इस प्रकार नौ वर्ष तक उन्होंने आत्म-साधना में विताये। तब वे विहार करते हुए अपने दीक्षा-वन में पहुँचे। वहाँ वे एक बकुल वृक्ष के नीचे वेला का नियम लेकर ध्यानारूढ़ हो गये। यहीं पर इन्हें मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन सायंकाल के समय समस्त लोकालोक के सम्पूर्ण द्रव्यों और पर्यायों का युगपत् ज्ञान करने वाला निर्मल केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रों और देवों ने उसी समय आकर केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव किया। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने दिव्य समवसरण की रचना की, जिसमें गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान होकर भगवान ने जगत् का कल्याण करने वाला उपदेश देकर धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन किया। भगवान का उपदेश सुनकर अनेक मनुष्यों ने सकल संयम धारण किया, अनेक मनुष्यों और तिर्यंचों ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, अनेक मनुष्यों, तिर्यंचों और देवों ने सम्यग्दर्शन धारण किया।

भगवान का चतुर्विध संघ—भगवान के चतुर्विध संघ में सुप्रभार्य आदि सत्रह गणधर थे। ४५० मुनि समस्त पूर्वों के ज्ञाता, १२६०० व्रती शिक्षक मुनि, १६०० अवधिज्ञानी, १६०० केवलज्ञानी, १५०० विक्रियाऋद्धिधारी, १२५० मनःपर्ययज्ञानी और १००० वादी मुनि थे। इस प्रकार समस्त मुनियों की संख्या २०००० थी। मंगिनी आदि ४५००० आर्यिकायें थीं। १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें थीं। उनके भक्तों में संख्यात तिर्यंच और असंख्यात देव-देवियाँ थीं।

भगवान ने सम्पूर्ण आर्यक्षेत्र में विहार करके समीचीन धर्म का उपदेश दिया। जब उनकी आयु में एक माह शेष रह गया, तब उन्होंने विहार बन्द कर दिया और सम्मेद शिखर पर जा पहुँचे। वहाँ उन्होंने एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमायोग धारण कर लिया और बैशाख कृष्णा चतुर्दशी के दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में अश्विनी नक्षत्र में अघातिया कर्मों का क्षय करके अक्षय पद प्राप्त किया। वे सिद्ध परमेष्ठी बन गये। देवों और इन्द्रों ने आकर नमिनाथ स्वामी का निर्वाण कल्याणक महोत्सव किया।

निर्वाण कल्याणक—

यक्ष-यक्षिणी—भगवान नमिनाथ के सेवक यक्ष का नाम भ्रकुटि और यक्षिणी का नाम चामुण्डी था।

जयसेन चक्रवर्ती—

ऐरावत क्षेत्र के श्रीपुर नगर में वसुन्धर नामक राजा शासन करता था। वह बड़ा प्रतापी और न्यायवान था। दैव-दुर्विपाक से उसकी स्त्री पद्मावती का असमय निधन हो गया। वह अपनी इस रानी से बड़ा प्रेम करता था। अतः उसके मरण से राजा को बहुत दुःख हुआ। उसका मन राज्य और परिवार से विरक्त हो गया। तभी मनोहर उद्यान में वरचर्म नामक केवली भगवान पधारे। राजा उनके दर्शनों के लिए गया और उनका उपदेश सुनकर उसने मुनि-दीक्षा लेने का निश्चय किया। उसने अपने पुत्र विनयन्धर को राज्य-भार सौंप कर केवली भगवान के पाद मूल में दैगम्बरी दीक्षा लेली। वह घोर तप करने लगा। आयु के अन्तिम समय में समाधि द्वारा मरण किया। मरकर वह महाशुक्र स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ। वहाँ उसकी सोलह सागर की आयु थी। वह महा विभूतिसम्पन्न था। दिव्य भोगों को भोगते हुए उसने यह काल आनन्दपूर्वक बिताया।

पूर्व भव

ग्यारहवां चक्रवर्ती—वत्स देश की कौशाम्वी नगरी का अधिपति इक्ष्वाकुवंशी राजा विजय प्रभावशाली नरेश था। उसकी पट्टमहिषी प्रभाकरी की कुक्षि से एक कान्तिमान पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम जयसेन रक्खा गया। उसकी जन्म-लगन और लक्षणों को देखकर ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की कि यह वालक सम्पूर्ण भरतक्षेत्र का अधिपति चक्रवर्ती बनेगा।

जयसेन वचपन से ही तेजस्वी था। उसकी लीलायें और चेष्टायें असाधारण थीं। वचपन से ही शासन करने की उसकी प्रकृति थी। बड़े-बड़े अभिमानी और उद्दण्ड व्यक्ति भी उसकी भंगिमा देखते ही विनीत बन जाते थे। ऐसा था उसका प्रभाव।

जयसेन की आयु तीन हजार वर्ष की थी। उसकी अवगाहना साठ हाथ की थी। उसके शरीर की कान्ति तप्त स्वर्ण के समान थी। कुमार काल वीतने पर पिता ने उसे राज्य का भार सौंप दिया। कुछ दिनों के बाद उसके शस्त्रागार में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। अब महाराज जयसेन ने दिग्विजय करने का विचार किया। वह चारों दिशाओं में गया। उसकी शक्ति और तेज के आगे सम्पूर्ण भरत क्षेत्र के राजाओं का दर्प चूर-चूर हो गया और सबने उसकी आधीनता स्वीकार की। जब जयसेन सम्पूर्ण भरतक्षेत्र की विजय करके अपनी नगरी कौशाम्वी वापिस लौटा

तो समस्त राजाओं और प्रजा ने मिलकर चक्रवर्ती पद पर उसे अभिषिक्त किया। वह ग्यारहवाँ चक्रवर्ती कहलाया। वह चौदह रत्न और नौ निधियों का स्वामी था। दस प्रकार के भोग उसे प्राप्त थे। वह इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ के तीर्थ में हुआ था।

उसे भोग भोगते हुए जब बहुत समय बीत गया, तब एक दिन उसने देखा कि आकाश से उल्कापात हुआ है। उसे देखते ही उसके मन में चिन्तन की एक कोमल धारा प्रवाहित होने लगी—यह प्रकाश-पुँज ऊपर आकाश में स्थित था, किन्तु वह नीचे आगिरा और अन्धकार में विलीन हो गया। 'मेरा तेज भी बहुत ऊँचा है' इस प्रकार का अभिमान जो मनुष्य करता है, उसका तेज भी इस उल्का-पुँज के समान अधोगति को प्राप्त होता है।

यह विचार कर चक्रवर्ती ने साम्राज्य त्यागकर दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। उसने युवराज को राज्य देना चाहा, किन्तु उसने राज्य न लेकर दीक्षा लेने की इच्छा की। तब उसने क्रम से अन्य पुत्रों को यह भार स्वीकार करने के लिए कहा, किन्तु सबका एक ही उत्तर था—'यदि आप राज्य-भोग में सुख मानते हैं तो आप ही इसका त्याग क्यों कर रहे हैं। आप हमारे शुभाकाँक्षी हैं। आप तपस्या करके सुख प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें भी उसी मार्ग पर चलने की अनुमति दीजिए।'

पुत्रों का यह उत्तर सुनकर चक्रवर्ती निरुत्तर हो गया। अन्त में उसने छोटे पुत्र को राज्य-भार स्वीकार करने के लिए सहमत कर लिया और उसका राज्याभिषेक करके जयसेन अपने पुत्रों और अनेक राजाओं के साथ वरदत्त नामक केवली भगवान के पास समस्त बाह्य और आभ्यन्तर आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके प्रव्रजित हो गये। उन्होंने विविध तप करना प्रारम्भ किया। अल्प समय में ही उन्हें ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयीं। अन्त में प्रायोपगमन सन्यास मरण करके सम्मेदशिखर के चारण नामक शिखर से जयन्त नामक विमान में अहमिन्द्र हुए।

पंचविंशतितम परिच्छेद

भगवान नेमिनाथ

पश्चिम विदेह क्षेत्र में सीतोदा नदी के उत्तर तट पर सुगन्धिला नामक देश था। उस देश में सिंहपुर नगर का स्वामी अर्हद्दास था। उसकी महारानी का नाम जिनदत्ता था। राज-दम्पति आनन्दपूर्वक राज्य-सुखों का भोग कर रहे थे। एक बार अष्टान्हिका पर्व में भगवान जिनेन्द्र की महा पूजा कराई। पूजा के पश्चात् महारानी ने मन में यह इच्छा की कि मैं कुलगौरव पुत्र प्राप्त करूँ। उसी रात्रि को महारानी ने स्वप्न में सिंह, हाथी, सूर्य, चन्द्रमा और लक्ष्मी का अभिषेक देखा। स्वप्न देखने के बाद ही महारानी के गर्भ में पुण्यात्मा जीव अवतीर्ण हुआ। नौ माह व्यतीत होने पर रानी ने अति बलवान पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के जन्म के बाद उसके पुण्य प्रताप से राजा अर्हद्दास को कोई शत्रु पराजित नहीं कर सका। इसलिये पुत्र का नाम सोच समझकर अपराजित रखा गया।

पूर्व भव

बालक अत्यन्त रूपवान और बलवान था। गुणों के साथ बढ़ता हुआ वह यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन राजोद्यान में विमलवाहन तीर्थंकर पधारे। राजा परिजनों और पुरजनों के साथ उनके दर्शनों के लिये गया। राजा ने वहाँ जाकर भगवान के दर्शन करके तीन प्रदक्षिणाऐं दीं, अष्ट द्रव्य से पूजन की और यथास्थान बैठकर उनका दिव्य उपदेश सुना। उपदेश सुनकर उसके मन में भोगों से निर्वेद हो गया। वहाँ से लौट कर उसने पुत्र अपराजित का राज्याभिषेक करके पांच सौ राजाओं के साथ संयम ग्रहण कर लिया।

अपराजित ने भी अणुव्रत धारण कर लिये। यद्यपि वह राज्य-शासन करता था, किन्तु उसका मन धर्म में रंगा हुआ था। एक दिन उसे समाचार मिला कि भगवान विमलवाहन और पिता मुनि अर्हद्दास गन्धमादन पर्वत से मुक्त होगये। समाचार सुनते ही उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं भगवान विमलवाहन के दर्शन नहीं कर लूंगा, तब तक भोजन नहीं करूंगा। मंत्रियों और परिवार के लोगों ने समझाया कि भगवान मुक्त होचुके हैं, उनके दर्शन किस प्रकार संभव हैं; ऐसी असंभव प्रतिज्ञा करने से क्या लाभ है। किन्तु राजा ने किसी की बात नहीं सुनी, वह अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहा। इस प्रकार उसे निराहार रहते हुए आठ दिन बीत गये। तब सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने भगवान विमलनाथ का दिव्य रूप बनाकर राजा को दर्शन कराये। राजा ने गद्गद होकर भक्तिभाव से उनका पूजन किया, तब भोजन किया।

एक दिन राजा अपराजित अष्टान्हिका पर्व में पूजन करने के पश्चात् बैठा हुआ था। तभी आकाश से दो चारण ऋद्धिधारी मुनि आकाश मार्ग से विहार करते हुए वहाँ पधारे। राजा ने उठकर बड़ी विनयपूर्वक उनकी पाद-वन्दना की, उनका धर्मोपदेश सुना। तदनन्तर राजा हाथ जोड़कर बोला—'पूज्य ! मैंने आपको कहीं पहले भी देखा है।'

ज्येष्ठ मुनि कहने लगे—'राजन् ! तुम यथार्थ कह रहे हो। तुमने हम दोनों को देखा है। किन्तु इस जन्म में नहीं, पूर्व जन्म में देखा है।' राजा को यह सुनकर बड़ा विस्मय हुआ। वह पूछने लगा—'प्रभु ! कहाँ देखा है, यह

जानने की मुझे जिज्ञासा है।' तब मुनि कहने लगे—'पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम सुमेरु की पश्चिम दिशा में महानदी के उत्तर तट पर गन्धिल नामक एक देश है। उसके विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में सूर्यप्रभ नगर का स्वामी राजा सूर्यप्रभ राज्य करता था। उसकी रानी का नाम धारिणी था। उसके तीन पुत्र थे—चिन्तागति, मनोगति और चपलगति। उसी विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में अरिन्दमपुर नगर का शासक अरिंजय था। अजितसेना उसकी रानी और प्रीतिमती पुत्री थी। पुत्री ने प्रतिज्ञा की थी कि जो विद्याधर मेरु पर्वत की तीन प्रदक्षिणा देने में मुझे जीत लेगा उसे ही मैं वरण करूंगी। इस प्रतियोगिता में चिन्तागति ने उसे जीत लिया। किन्तु उसे जीतकर चिन्तागति कहने लगा—'तू मेरे लघु भ्राता को स्वीकार करले।' किन्तु प्रीतिमती ने उत्तर दिया—'मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मुझे जीत लेगा, उसे ही वरण करूंगी। तुमने मुझे जीता है। तुम्हें छोड़कर मैं अन्य को किस प्रकार वरण कर सकती हूँ।' चिन्तागति बोला—'तूने उसे प्राप्त करने की इच्छा से ही उसके साथ गति-स्पर्द्धा की थी, अतः तू मेरे लिये त्याज्य है।'

चिन्तागति का उत्तर सुनकर प्रीतिमती अत्यन्त निराश हो गई। उसे संसार से ही विरक्ति होगई और उसने विवृता नामक अर्जिका के पास जाकर आर्यिका दीक्षा लेली। राजकुमारी के इस साहस से प्रेरित होकर उन तीनों भाइयों ने भी दमवर नामक मुनिराज के पास जाकर मुनि-दीक्षा लेली। वे तप करने लगे और मरकर चौथे स्वर्ग में सामानिक जाति के देव हुए। आयु पूर्ण होने पर दोनों छोटे भाई पूर्व विदेह क्षेत्र के पुष्कलावती देश में विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में गगनवल्लभ नगर के राजा गगनचन्द्र और रानी गगनसुन्दरी के हम दोनों अमितगति तथा अमित-तेज नामक पुत्र हुए। हम तीनों प्रकार की विद्याओं से युक्त थे। एक दिन हम दोनों पुण्डरीकिणी नगरी में स्वयंप्रभ तीर्थंकर के दर्शनों के लिये गये। हमने भगवान से अपने पूर्व जन्म के वृत्तान्त पूछे तथा यह भी पूछा कि हमारा बड़ा भाई इस समय कहाँ उत्पन्न हुआ है। भगवान ने बताया कि वह इस समय सिंहपुर नगर में अपराजित नाम का राजा है। हम लोगों ने भगवान के समीप ही दीक्षा ले ली। हम लोग पूर्व जन्म के स्नेहवश तुम्हारे पास आये हैं। तेरी आयु केवल एक माह की शेष है। इसलिये तू आत्म कल्याण कर।

राजा ने मुनिराज से अपने जन्म का वृत्तान्त सुनकर उनकी वन्दना की और निवेदन किया—'भगवन्! यद्यपि आप वीतराग निर्ग्रन्थ हैं। फिर भी आपने पूर्व जन्म के स्नेहवश मेरा बड़ा उपकार किया है।

मुनि-युगल वहाँ से विहार कर गया। राजा ने अपने पुत्र प्रीतिंकर को राज्यारूढ़ करके सन्यास ले लिया और प्रायोपगमन सन्यास धारण कर लिया। आयु पूर्ण होने पर वह सोलहवें स्वर्ग के सातंकर नामक विमान में देव हुआ। बाईस सागर की उसकी आयु थी।

कुरुजांगल देश में हस्तिनापुर के राजा श्रीचन्द्र की श्रीमती रानी थी। वह देव आयु पूर्ण होने पर रानी के गर्भ में आया और सुप्रतिष्ठ नामक पुत्र हुआ। कुमार अवस्था पूर्ण होने पर उसका विवाह सुनन्दा के साथ हो गया। सुयोग्य जानकर पिता ने उसे राज्य सौंप दिया और सुमन्दर नामक मुनि के पास दीक्षा लेली। सुप्रतिष्ठ कुशलता पूर्वक राज्य शासन करने लगा। एक दिन सुप्रतिष्ठ ने यशोधर नामक मुनिराज को नवधा भक्तिपूर्वक आहार दिया। आहार निरन्तराय समाप्त हुआ। देवों ने पंचाश्चर्य किये। राजा ने मुनिराज से अणुव्रत धारण किये और सम्य-ग्दर्शन की विशुद्धि की। एक दिन राजा राजमहलों के ऊपर बैठा हुआ प्रकृति का सौन्दर्य निहार रहा था। निकट ही रानियाँ बैठी हुई थीं। तभी आकाश में उल्कापात हुआ। उसे देखकर राजा के मन में भावनाएँ उद्वेलित होने लगीं और उसे संसार की क्षणभंगुरता का विचार हो आया। उसे राज्य, भोग सब कुछ निस्सार जंचने लगे। उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुदृष्टि का राज्याभिषेक कर दिया और सुमन्दर नामक जिनेन्द्र के निकट मुनि दीक्षा लेली। उसने ग्यारह अंगों का अभ्यास किया और दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया, जिससे सातिशय पुण्य वाले तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध कर लिया। आयु का अन्त निकट जानकर एक माह का सन्यास ले लिया, जिससे वह जयन्त नामक अनुत्तर विमान में महर्द्धिक अहमिन्द्र हुआ। उसकी आयु तेतीस सागर की थी।

हरिवंश की उत्पत्ति—

कौशाम्वी नगरी का राजा सुमुख प्रतापी राजा था। उस नगर में व्यापारिक कारणों से वीरक नामक एक सेठ अपनी स्त्री वनमाला के साथ आकर रहने लगा। एक दिन राजा सुमुख वन-विहार के लिये गया। उसकी दृष्टि वन में भ्रमण करती हुई सुन्दरी वनमाला पर पड़ी। उसे देखते ही वह वनमाला पर आसक्त हो गया। उसने किसी उपाय से वीरक सेठ को व्यापार के बहाने विदेश भेज दिया और प्रच्छन्न रूप से वनमाला को अपने महलों में बुलाकर उसके साथ भोग करने लगा। वारह वर्ष पश्चात् सेठ वीरक विदेश से लौटा। जब उसे अपनी स्त्री का पापाचार ज्ञात हुआ तो वह शोकाकुल होकर पागलों के समान इधर उधर फिरने लगा। फिर एक दिन विरक्त होकर प्रोष्ठिल मुनि के पास जाकर मुनि बन गया और मरकर सौधर्म स्वर्ग में चित्रांगद नामक देव हुआ।

हरिवंश की स्थापना

कुछ काल पश्चात् सुमुख और वनमाला ने धर्मसिंह नामक मुनिराज को आहार दिया। उस समय दोनों के मन में अपने कृत्य के प्रति भारी आत्मग्लानि और पश्चाताप के भाव थे। दूसरे दिन बिजली गिरने से दोनों की मृत्यु हो गई। सुमुख का जीव भोगपुर के राजा प्रभंजन का पुत्र सिंहकेतु हुआ और वनमाला का जीव वस्वालय नगर के नरेश वज्रचाप की विद्युन्माला पुत्री हुई। विद्युन्माला का विवाह सिंहकेतु के साथ हो गया। एक दिन पति पत्नी वन विहार के लिए गए। उन्हें चित्रांगददव ने देखा। देखते ही उसे पूर्व जन्म के बैर का स्मरण हो आया। उसने मन में निश्चय कर लिया कि 'मैं इन्हे मारूंगा। यह विचार कर वह उन्हें उठाकर ले चला। मार्ग में सूर्यप्रभ नामक एक देव ने उसका अभिप्राय जान लिया। सूर्यप्रभ पूर्व जन्म में राजा सुमुख का प्रिय मित्र रघु था। उस देव ने चित्राङ्गद को समझाया-'भद्र! इन दोनों का वध करने से तेरा क्या हित होगा। तू व्यर्थ ही पाप बन्ध क्यों करता है।' यह सुनकर चित्रांगद को भी दया आ गयी और उन्हें छोड़कर चला गया। तब सूर्यप्रभ देव ने दोनों को आश्वासन दिया और उन्हें ले जाकर चम्पापुर के वन में छोड़ दिया। इसका कारण यह था कि वह भविष्य में इनको मिलने वाले सुख को जानता था। दैवयोग से उसी समय चम्पापुर का राजा चन्द्रकीर्ति बिना पुत्र के मर गया था। राज्य-परम्परा अक्षुण्ण रखने के लिए मन्त्रियों ने विचार कर किसी योग्य पुरुष की तलाश करने के लिए एक समझदार हाथी को छोड़ दिया। वह हाथी घूमता हुआ वन में पहुँचा और सिंहकेतु तथा विद्युन्माला को अपने कन्धे पर बैठाकर नगर में पहुँचा। मन्त्रियों ने बड़े आदर के साथ सिंहकेतु का अभिषेक किया और उसे राज सिंहासन पर बैठाया। तब मन्त्रियों ने उससे परिचय पूछा। उत्तर में सिंहकेतु ने कहा—'मेरे पिता का नाम प्रभंजन है और माता का नाम मृकण्डू है। कोई देव पत्नी सहित मुझे लाकर यहाँ वन में छोड़ गया है।' उसका परिचय सुनकर लोग बड़े प्रसन्न हुए और मृकण्डू का पुत्र होने के कारण उसका नाम मार्कण्डेय रख दिया। वह चिरकाल तक राज्य सुख का भोग करता रहा। ये दोनों भगवान शीतलनाथ के तीर्थ में हुए।

इन दोनों के हरि नामक पुत्र हुआ। यौवन अवस्था को प्राप्त होने पर पिता ने उसे राज्य-भार सौंप दिया। हरि बड़ा प्रतापी और वीर था। उसने वाहुवल द्वारा अनेक राजाओं को पराजित करके अपने राज्य का बहुत विस्तार किया। उसकी ख्याति सम्पूर्ण लोक में फैल गई। इसी से 'हरिवंश' की प्रसिद्धि हुई।

राजा हरि के महागिरि नामक पुत्र हुआ। महागिरि का हिमगरि, हिमगरि का वसुगिरि, वसुगिरि का गिरि हुआ। इस प्रकार इस वंश में अनेक राजा हुए। फिर सुमित्र हुए। सुमित्र के वीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ हुए। मुनिसुव्रतनाथ के सुव्रत, सुव्रत के दक्ष, दक्ष के ऐलेय पुत्र हुआ। उसने इलावर्धन, ताम्रलिप्ति, माहिष्मती, नामक नगर वसाये। ऐलेय के कुणिम पुत्र हुआ। उसने कुण्डिन नगर वसाया। कुणिम के पुलोम पुत्र हुआ। उसने पुलोमपुर वसाया। पुलिम के पौलोम और चरम नामक पुत्र हुए। उन्होंने रेवा के तट पर इन्द्रपुर नगर वसाया। चरम ने जयन्ती तथा वनवास्य नगरियां वसाईं। पौलोम के महीदत्त और चरम के संजय पुत्र हुए। महीदत्त ने कल्पपुर वसाया। उसके अरिष्ट-

हरिवंश की परम्परा

नेमि और मत्स्य नामक पुत्र हुए। मत्स्य हस्तिनापुर में रहने लगा। मत्स्य के अयोधन, अयोधन के मूल, मूल के शाल, शाल के सूर्य नामक पुत्र हुआ। सूर्य ने शुभ्रपुर नगर बसाया। सूर्य के अमर पुत्र हुआ। उसने वज्रपुर बसाया। अमर के देवदत्त, देवदत्त के हरिषेण, हरिषेण के नभसेन, नभसेन के शङ्ख, शङ्ख के भद्र और भद्र के अभिचन्द्र नामक पुत्र हुआ। अभिचन्द्र ने विन्ध्याचल के ऊपर चेदि राष्ट्र की स्थापना की और शुक्तिमती नदी के किनारे शुक्तिमती नगरी बसाई। अभिचन्द्र से वसु हुआ। वसु का पुत्र बृहद्ध्वज हुआ जो मथुरा में जाकर रहने लगा। बृहद्ध्वज के सुबाहु, सुबाहु के दीर्घबाहु, दीर्घबाहु के वज्रबाहु, वज्रबाहु के लब्धाभिमान, लब्धाभिमान के भानु, भानु के यवु, यवु के सुभानु और सुभानु के भीम नामक पुत्र हुआ। इस प्रकार अनेक राजा होते रहे। फिर इसी वंश में इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ हुए। आगे चलकर इसी वंश में यदु नामक राजा हुआ। यह बड़ा प्रतापी था। इससे 'यदुवंश' चला। राजा यदु के नरपति, नरपति के शूर और सुवीर नामक पुत्र हुए। वीर अथवा सुवीर मथुरा में शासन करने लगा और शूर ने कुशद्य देश में शौर्यपुर नगर बसाया और वहीं शासन करने लगा। शूर के अन्धकवृष्णि और सुवीर के भोजकवृष्णि पुत्र हुए। अन्धकवृष्णि के १० पुत्र हुए—१ समुद्रविजय २ अक्षोभ्य, ३ स्तिमित सागर, ४ हिमवान, ५ विजय, ६ अचल, ७ धारण, ८ पूरण, ९ अभिचन्द्र, और १० वसुदेव, इनके अतिरिक्त दो पुत्रियाँ हुईं—कुन्ती और माद्री। भोजक वृष्णि के उग्रसेन, महासेन और देवसेन नामक पुत्र हुए।

राजा वसु का एक पुत्र सुवसु था जो कुञ्जरावर्त नगर (नागपुर) में रहने लगा था। सुवसु के बृहद्रथ पुत्र हुआ। वह मागधेशपुर में जाकर राज्य करने लगा। बृहद्रथ के दृढ़रथ दृढ़रथ के नरवर, नरवर के दृढ़रथ, दृढ़रथ के सुखरथ, सुखरथ, के दीपन, दीपन के सागरसेन, सागरसेन के सुमित्र, सुमित्र के वप्रथु, वप्रथु के विन्दुसार, विन्दुसार के देवगर्भ, देवगर्भ के शतधनु पुत्र हुआ। इसी प्रकार इस वंश में अनेक राजा हुए। फिर इस वंश में निहतशत्रु हुआ। उसके शतपति, शतपति के बृहद्रथ और बृहद्रथ के जरासन्ध पुत्र हुआ। वह राजगृह नगर का स्वामी था। वह अर्धचक्री था। उसने भरत क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त करके अर्धचक्री का विरुद पाया था। वह नौवाँ प्रतिनारायण था। कालिन्दसेना उसकी पटरानी थी। कालयवन आदि नीतिज्ञ पुत्र थे। अपराजित आदि अनेक वीर भाई थे।

वसु की वंश—परम्परा में जरासंध

जरासन्ध ने दक्षिण श्रेणी के समस्त विद्याधरों, उत्तरापथ और दक्षिणापथ के समस्त राजाओं, पूर्व पश्चिम समुद्र के तटवर्ती नरेशों और मध्य देश के सम्पूर्ण शत्रुओं को जीत लिया था।

एक बार शौर्यपुर के उद्यान में सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराज प्रतिमायोग से ध्यानारूढ़ थे। एक यक्ष ने उनके ऊपर भयानक उपसर्ग किये। किन्तु मुनिराज अपने ध्यान में अचल रहे और उन भयानक उपसर्गों के कारण उनके मन की शान्ति और समता भाव तनिक भी भंग नहीं हुए। बल्कि वे आत्मा में स्थित रहकर संचित कर्मों का शुक्ल ध्यान द्वारा क्षय करने लगे। वे श्रेणी आरोहण करके उस स्थिति को प्राप्त हो गये, जहाँ ध्यान, ध्याता, और ध्येय, चैतन्य भाव, चैतन्य कर्म और चैतन्य की क्रिया अभिन्न एकाकार हो जाती है। उसी समय उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मों का विनाश कर दिया। तभी उनकी आत्मा विशुद्ध केवलज्ञान की अनन्त आभा से आलोकित हो उठी। तभी चारों जाति के इन्द्र और देव भगवान सुप्रतिष्ठ की वन्दना के लिए आये। महाराज अन्धकवृष्णि भी परिजन-पुरजनों के साथ भगवान के दर्शनों के लिये आये। आकर उन्होंने भगवान की वन्दना और पूजा की और यथास्थान बैठ गये। तभी भगवान का लोक हितकारी उपदेश हुआ। उपदेश सुनकर अन्धकवृष्णि के मन में सांसारिक भोगों के प्रति संवेग उत्पन्न होगया। उन्होंने शौर्यपुर के राज सिंहासन पर कुमार समुद्रविजय का राज्याभिषेक करके उनका पट्टबन्ध किया और कुमार वसुदेव के संरक्षण का भार भी उन्हें सौंप दिया। अन्धकवृष्णि ने भगवान सुप्रतिष्ठ के निकट जाकर सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग करके मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली। उधर भोजक वृष्णि ने भी मथुरा में मुनि व्रत धारण कर लिये। महाराज समुद्रविजय ने महारानी शिवादेवी को पट्टबन्ध करके पटरानी घोषित किया। महाराज समुद्रविजय ने यौवन प्राप्त होने पर अपने आठों अनुजों का सुन्दर राज कन्याओं के

महाराज समुद्र विजय का राज्याभिषेक—

हरिवंश की उत्पत्ति—

हरिवंश की स्थापना

कौशाम्बी नगरी का राजा सुमुख प्रतापी राजा था। उस नगर में व्यापारिक कारणों से वीरक नामक एक सेठ अपनी स्त्री वनमाला के साथ आकर रहने लगा। एक दिन राजा सुमुख वन-विहार के लिये गया। उसकी दृष्टि वन में भ्रमण करती हुई सुन्दरी वनमाला पर पड़ी। उसे देखते ही वह वनमाला पर आसक्त हो गया। उसने किसी उपाय से वीरक सेठ को व्यापार के बहाने विदेश भेज दिया और प्रच्छन्न रूप से वनमाला को अपने महलों में बुलाकर उसके साथ भोग करने लगा। बारह वर्ष पश्चात् सेठ वीरक विदेश से लौटा। जब उसे अपनी स्त्री का पापाचार ज्ञात हुआ तो वह शोकाकुल होकर पागलों के समान इधर उधर फिरने लगा। फिर एक दिन विरक्त होकर प्रोष्ठिल मुनि के पास जाकर मुनि बन गया और मरकर सौधर्म स्वर्ग में चित्रांगद नामक देव हुआ।

कुछ काल पश्चात् सुमुख और वनमाला ने धर्मसिंह नामक मुनिराज को आहार दिया। उस समय दोनों के मन में अपने कृत्य के प्रति भारी आत्मग्लानि और पश्चाताप के भाव थे। दूसरे दिन बिजली गिरने से दोनों की मृत्यु हो गई। सुमुख का जीव भोगपुर के राजा प्रभंजन का पुत्र सिंहकेतु हुआ और वनमाला का जीव वस्वालय नगर के नरेश वज्रचाप की विद्युन्माला पुत्री हुई। विद्युन्माला का विवाह सिंहकेतु के साथ हो गया। एक दिन पति पत्नी वन विहार के लिए गए। उन्हें चित्रांगददव ने देखा। देखते ही उसे पूर्व जन्म के वैर का स्मरण हो आया। उसने मन में निश्चय कर लिया कि 'मैं इन्हे मारूंगा। यह विचार कर वह उन्हें उठाकर ले चला। मार्ग में सूर्यप्रभ नामक एक देव ने उसका अभिप्राय जान लिया। सूर्यप्रभ पूर्व जन्म में राजा सुमुख का प्रिय मित्र रघु था। उस देव ने चित्राङ्गद को समझाया-'भद्र ! इन दोनों का वध करने से तेरा क्या हित होगा। तू व्यर्थ ही पाप बन्ध क्यों करता है।' यह सुनकर चित्रांगद को भी दया आ गयी और उन्हें छोड़कर चला गया। तब सूर्यप्रभ देव ने दोनों को आश्वासन दिया और उन्हें ले जाकर चम्पापुर के वन में छोड़ दिया। इसका कारण यह था कि वह भविष्य में इनको मिलने वाले सुख को जानता था। दैवयोग से उसी समय चम्पापुर का राजा चन्द्रकीर्ति बिना पुत्र के मर गया था। राज्य-परम्परा अक्षुण्ण रखने के लिए मन्त्रियों ने विचार कर किसी योग्य पुरुष की तलाश करने के लिए एक समझदार हाथी को छोड़ दिया। वह हाथी घूमता हुआ वन में पहुँचा और सिंहकेतु तथा विद्युन्माला को अपने कन्धे पर बैठाकर नगर में पहुँचा। मन्त्रियों ने बड़े आदर के साथ सिंहकेतु का अभिषेक किया और उसे राज सिंहासन पर बैठाया। तब मन्त्रियों ने उससे परिचय पूछा। उत्तर में सिंहकेतु ने कहा—'मेरे पिता का नाम प्रभंजन है और माता का नाम मृकण्डू है। कोई देव पत्नी सहित मुझे लाकर यहाँ वन में छोड़ गया है।' उसका परिचय सुनकर लोग बड़े प्रसन्न हुए और मृकण्डू का पुत्र होने के कारण उसका नाम मार्कण्डेय रख दिया। वह चिरकाल तक राज्य सुख का भोग करता रहा। ये दोनों भगवान शीतलनाथ के तीर्थ में हुए।

इन दोनों के हरि नामक पुत्र हुआ। यौवन अवस्था को प्राप्त होने पर पिता ने उसे राज्य-भार सौंप दिया। हरि बड़ा प्रतापी और वीर था। उसने बाहुबल द्वारा अनेक राजाओं को पराजित करके अपने राज्य का बहुत विस्तार किया। उसकी ख्याति सम्पूर्ण लोक में फैल गई। इसी से 'हरिवंश' की प्रसिद्धि हुई।

हरिवंश की परम्परा

राजा हरि के महागिरि नामक पुत्र हुआ। महागिरि का हिमगरि, हिमगरि का वसुगिरि, वसुगिरि का गिरि हुआ। इस प्रकार इस वंश में अनेक राजा हुए। फिर सुमित्र हुए। सुमित्र के बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रतनाथ हुए। मुनिसुव्रतनाथ के सुव्रत, सुव्रत के दक्ष, दक्ष के ऐलेय पुत्र हुआ। उसने इलावर्धन, ताम्रलिप्ति, माहिष्मती, नामक नगर बसाये। ऐलेय के कुणिम पुत्र हुआ। उसने कुण्डिन नगर बसाया। कुणिम के पुलोम पुत्र हुआ। उसने पुलोमपुर बसाया। पुलिम के पौलोम और चरम नामक पुत्र हुए। उन्होंने रेवा के तट पर इन्द्रपुर नगर बसाया। चरम ने जयन्ती तथा वनवास्य नगरियाँ बसाईं। पौलोम के महीदत्त और चरम के संजय पुत्र हुए। महीदत्त ने कल्पपुर बसाया। उसके अरिष्ट-

नेमि और मत्स्य नामक पुत्र हुए। मत्स्य हस्तिनापुर में रहने लगा। मत्स्य के अयोधन, अयोधन के मूल, मूल के शाल, शाल के सूर्य नामक पुत्र हुआ। सूर्य ने शुभ्रपुर नगर वसाया। सूर्य के अमर पुत्र हुआ। उसने वज्रपुर वसाया। अमर के देवदत्त, देवदत्त के हरिषेण, हरिषेण के नभसेन, नभसेन के शङ्ख, शङ्ख के भद्र और भद्र के अभिचन्द्र नामक पुत्र हुआ। अभिचन्द्र ने विन्ध्याचल के ऊपर चेदि राष्ट्र की स्थापना की और शुक्तिमती नदी के किनारे शुक्तिमती नगरी वसाई। अभिचन्द्र से वसु हुआ। वसु का पुत्र वृहद्ध्वज हुआ जो मथुरा में जाकर रहने लगा। वृहद्ध्वज के सुबाहु, सुबाहु के दीर्घबाहु, दीर्घबाहु के वज्रबाहु, वज्रबाहु के लब्धाभिमान, लब्धाभिमान के भानु, भानु के ययु, ययु के सुभानु और सुभानु के भीम नामक पुत्र हुआ। इस प्रकार अनेक राजा होते रहे। फिर इसी वंश में इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान नमिनाथ हुए। आगे चलकर इसी वंश में यदु नामक राजा हुआ। यह बड़ा प्रतापी था। इससे 'यदुवंश' चला। राजा यदु के नरपति, नरपति के शूर और सुवीर नामक पुत्र हुए। वीर अथवा सुवीर मथुरा में शासन करने लगा और शूर ने कुशद्य देश में शौर्यपुर नगर वसाया और वहीं शासन करने लगा। शूर के अन्धकवृष्णि और सुवीर के भोजकवृष्णि पुत्र हुए। अन्धकवृष्णि के १० पुत्र हुए—१ समुद्रविजय २ अक्षोभ्य, ३ स्तिमित सागर, ४ हिमवान, ५ विजय, ६ अचल, ७ धारण, ८ पूरण, ९ अभिचन्द्र, और १० वसुदेव, इनके अतिरिक्त दो पुत्रियाँ हुईं—कुन्ती और माद्री। भोजक वृष्णि के उग्रसेन, महासेन और देवसेन नामक पुत्र हुए।

राजा वसु का एक पुत्र सुवसु था जो कुञ्जरावर्त नगर (नागपुर) में रहने लगा था। सुवसु के वृहद्रथ पुत्र हुआ। वह मागधेशपुर में जाकर राज्य करने लगा। वृहद्रथ के दृढ़रथ दृढ़रथ के नरवर, नरवर के दृढ़रथ, दृढ़रथ के सुखरथ, सुखरथ, के दीपन, दीपन के सागरसेन, सागरसेन के सुमित्र, सुमित्र के वप्रथु, वप्रथु के विन्दुसार, विन्दुसार के देवगर्भ, देवगर्भ के शतधनु पुत्र हुआ। इसी प्रकार इस वंश में अनेक राजा हुए। फिर इस वंश में निहतशत्रु हुआ। उसके शतपति, शतपति के वृहद्रथ और वृहद्रथ के जरासन्ध पुत्र हुआ। वह राजगृह नगर का स्वामी था। वह अर्धचक्री था। उसने भरत क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त करके अर्धचक्री का विरुद पाया था। वह नौवाँ प्रतिनारायण था। कालिन्दसेना उसकी पटरानी थी। कालयवन आदि नीतिज्ञ पुत्र थे। अपराजित आदि अनेक वीर भाई थे।

वसु की वंश—परम्परा में जरासंध

जरासन्ध ने दक्षिण श्रेणी के समस्त विद्याधरों, उत्तरापथ और दक्षिणापथ के समस्त राजाओं, पूर्व पश्चिम समुद्र के तटवर्ती नरेशों और मध्य देश के सम्पूर्ण शत्रुओं को जीत लिया था।

एक बार शौर्यपुर के उद्यान में सुप्रतिष्ठ नामक मुनिराज प्रतिमायोग से ध्यानारूढ़ थे। एक यक्ष ने उनके ऊपर भयानक उपसर्ग किये। किन्तु मुनिराज अपने ध्यान में अचल रहे और उन भयानक उपसर्गों के कारण उनके मन की शान्ति और समता भाव तनिक भी भंग नहीं हुए। बल्कि वे आत्मा में स्थित रहकर संचित कर्मों का शुक्ल ध्यान द्वारा क्षय करने लगे। वे श्रेणी आरोहण करके उस स्थिति को प्राप्त हो गये, जहाँ ध्यान, ध्याता, और ध्येय, चैतन्य भाव, चैतन्य कर्म और चैतन्य की क्रिया अभिन्न एकाकार हो जाती है। उसी समय उन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन घातिया कर्मों का विनाश कर दिया। तभी उनकी आत्मा विशुद्ध केवलज्ञान की अनन्त आभा से आलोकित हो उठी। तभी चारों जाति के इन्द्र और देव भगवान सुप्रतिष्ठ की वन्दना के लिए आये। महाराज अन्धकवृष्णि भी परिजन-पुरजनों के साथ भगवान के दर्शनों के लिये आये। आकर उन्होंने भगवान की वन्दना और पूजा की और यथास्थान वैठ गये। तभी भगवान का लोक हितकारी उपदेश हुआ। उपदेश सुनकर अन्धकवृष्णि के मन में सांसारिक भोगों के प्रति संवेग उत्पन्न होगया। उन्होंने शौर्यपुर के राज सिंहासन पर कुमार समुद्रविजय का राज्याभिषेक करके उनका पट्टबन्ध किया और कुमार वसुदेव के संरक्षण का भार भी उन्हें सौंप दिया। अन्धकवृष्णि ने भगवान सुप्रतिष्ठ के निकट जाकर सम्पूर्ण आरम्भ परिग्रह का त्याग करके मुनि दीक्षा अंगीकार कर ली। उधर भोजक वृष्णि ने भी मथुरा में मुनि व्रत धारण कर लिये। महाराज समुद्रविजय ने महारानी शिवादेवी को पट्टबन्ध करके पटरानी घोषित किया। महाराज समुद्रविजय ने यौवन प्राप्त होने पर अपने आठों अनुजों का सुन्दर राज कन्याओं के

महाराज समुद्र विजय का राज्याभिषेक—

साथ विवाह कर दिया। अक्षोभ्य का धृति के साथ, स्मिमित सागर का स्वयंप्रभा के साथ, हिमवान का सुनीता के साथ, विजय का सिता के साथ, अचल का प्रियालापा के साथ, धारण का प्रभावती के साथ, पूरण का कालिंगी के साथ और अभिचन्द्र का सुप्रभा के साथ विवाह हो गया। सब भाई आनन्दपूर्वक रहने लगे। सभी भाइयों में परस्पर में अत्यधिक स्नेह था। कुमार वसुदेव सभी के प्रिय और स्नेहभाजन थे।

वसुदेव की कुमार- लीलाएं—कुमार वसुदेव यौवन में पदार्पण कर रहे थे। वे शौर्यपुर नगर में देव कुमारों के समान इच्छानुसार क्रीड़ा करते थे। वे कामकुमार थे। रूप, लावण्य, सौभाग्य और चतुरता से वे जन-जन के प्रिय थे। कभी वे लोकपालों का वेष रखकर नगर में निकल जाते थे। उनका शरीर सूर्य के समान तेजस्वी और मुख चन्द्रमा के समान सौम्य था। उनके अनिन्द्य सौन्दर्य को देखने के लिए स्त्रियाँ घरों से बाहर निकल आती थीं और उन्हें देखकर काम विह्वल हो जाती थीं। कुमार के रूप में अद्भुत मोहिनी थी।

एक दिन मात्सर्यवश कुछ वृद्धजन संघबद्ध होकर राज-परिषद में पहुँचे और महाराज समुद्रविजय को नमस्कार करके निवेदन करने लगे—'प्रभो! आपके राज्य में सम्पूर्ण प्रजाजन आनन्दपूर्वक और निर्भय होकर रह रहे हैं। आपके पुण्य प्रभाव से यहाँ की भूमि शस्य श्यामला बन गई है। वणिक् वर्ग समृद्ध और सुसम्पन्न है। गाय-भैंस क्षीरवर्षी हैं। प्रजा के सभी वर्गों को सब प्रकार का आनन्द है, किन्तु थोड़ा-सा दुःख भी है। किन्तु उसे हम लोग प्रगट भी नहीं कर सकते।

यह सुनकर महाराज समुद्रविजय प्रजाजनों से बोले—'भद्रजनो! मेरे राज्य में प्रजाजनों को कष्ट हो, यह मेरे लिये गौरव की बात नहीं है। आप लोग निर्भय होकर अपना कष्ट बताइये। मैं उसे प्राणपण से भी दूर करूँगा।

वृद्धजन महाराज से आश्वासन पाकर कहने लगे—'प्रभो! हमारे अविनय को क्षमा करें। कुमार वसुदेव धीर-वीर, शील शिरोमणि और शुद्ध हृदय वाले हैं। किन्तु जब वे नगर में निकलते हैं तो उनका रूप लावण्य देखकर नगर की कुल स्त्रियाँ रागान्ध होकर अपने तन वदन की सुधबुध भूल जाती हैं। वे सारा कार्य छोड़कर घर से बाहर दौड़ पड़ती हैं। नगरवासियों का चित्त उद्भ्रान्त हो जाता है। हम लोगों ने अपनी मनोव्यथा निवेदन कर दी। अब जो करणीय हो, वह आप कीजिये।

महाराज प्रजाजनों की बात सुनकर विचारमग्न हो गये। कुछ समय पश्चात् प्रजाजनों को आश्वासन देकर विदा किया। प्रजाजन भी सन्तुष्ट होकर अपने घरों को लौट गये। तभी कुमार वसुदेव नगर-भ्रमण के बाद लौटे। आकर उन्होंने महाराज को प्रणाम किया। महाराज ने बड़े प्रेमपूर्वक आलिंगन किया और बालक के समान उन्हें अपनी गोद में बैठाकर मस्तक सूँघा और स्नेहसिक्त स्वर में बोले—'कुमार! तुम वन-भ्रमण से परिश्रान्त हो गये हो। देखो तो, तुम्हारा मुख कैसा मुरझा गया है। तुम्हें भ्रमण के चाव में अपने शरीर की भी सुध नहीं रहती। अब भविष्य में तुम्हें स्नान और भोजन के समय का अतिक्रमण नहीं करना है। अब अन्तःपुर के उद्यान में ही तुम क्रीड़ा किया करो।

इस प्रकार अपने प्रिय अनुज को समझाकर महाराज समुद्रविजय उनका हाथ पकड़ कर अपने प्रासाद में ले गये। उन्होंने वसुदेव के साथ ही स्नान और भोजन किया। उन्होंने इस प्रकार कौशल से व्यवस्था कर दी कि कुमार बाहर न जा पावें और कुमार को प्रतिबन्ध का अनुभव भी न हो। कुमार भी अन्तःपुर के उद्यान में विविध क्रीड़ायें करने लगे।

अपने साथ एक विश्वस्त अनुचर को साथ ले गये और नगर के श्मसान में जा पहुँचे और नौकर को एक स्थान पर बैठाकर उससे कहा—'मैं मंत्र सिद्ध करता हूँ। जब मैं आवाज दूँ, तभी तुम उत्तर देना।' इस प्रकार कहकर वे कुछ दूर चले गये। वहाँ एक चिता जल रही थी तथा एक शव पड़ा हुआ था। कुमार ने अपने आभूषण उस शव को पहना कर उसे जलती चिता में रख दिया और जोर से कहा—'पिता के समान राजा और चुगली करने वाले नागरिक सुख से रहें। मैं तो अग्नि-प्रवेश करता हूँ।' इस प्रकार कहकर और दौड़ने का अभिनय करके, मानो वे अग्नि में प्रवेश कर रहे हों, वे अन्तर्हित हो गये। अनुचर ने सुना तो वह दौड़कर आया और चिता में कुमार के दग्ध शव को देखकर बड़ी देर तक विलाप करता रहा। फिर वह अत्यन्त शोकाकुल होकर राजमहलों को वापिस लौट गया। वहाँ जाकर उसने सम्पूर्ण घटना महाराज को सुना दी। यह हृदय विदारक घटना सुनकर सारे राज कुल और नगरवासियों में शोक छा गया। महाराज समुद्रविजय तत्काल बन्धु-बांधवों, नगरवासियों और राज्याधिकारियों को लेकर श्मसान पहुँचे। वहाँ शव की भस्म के साथ कुमार के आभूषणों को देखकर सबको निश्चय हो गया कि कुमार अवश्य ही अग्नि में भस्म हो गये हैं। यह विश्वास होने पर सभी करुण विलाप करने लगे। राजा समुद्रविजय को घोर पश्चाताप हुआ और अपने प्रिय अनुज की मृत्यु से उन्हें हार्दिक दुःख हुआ। उन्होंने शोक सन्तप्त हृदय से मरणोत्तर क्रियायें कीं और सब लोग नगर में वापिस लौट आए।

कुमार वसुदेव निश्चिन्त मन से पश्चिम दिशा की ओर चल पड़े। उन्होंने एक ब्राह्मण कुमार का वेष धारण कर लिया। चलते-चलते वे विजयखेट नगर में पहुँचे। उस नगर में सुग्रीव नामक एक गन्धर्वाचार्य रहता था। उसकी दो पुत्रियाँ थीं सोमा और विजयसेना। दोनों ही अपूर्व सुन्दरी थीं। गन्धर्वाचार्य ने यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि जो गन्धर्व विद्या में मेरी पुत्रियों को जीतेगा, वही इनका स्वामी होगा। किन्तु आज तक उन दोनों को कोई पराजित नहीं कर सका था। किन्तु वसुदेव ने उन्हें थोड़े समय में ही पराजित कर दिया। सुग्रीव ने दोनों पुत्रियों का विवाह, कुमार वसुदेव के साथ कर दिया। वे वहीं पर सुखपूर्वक रहने लगे। कुछ काल के पश्चात् विजयसेना ने पुत्र प्रसव किया, जिसका नाम अक्रूर रखा गया।

अनेक कन्याओं के साथ विवाह—

एक दिन कुमार गुप्त रूप से वहाँ से भी निकल गये। भ्रमण करते हुए वे एक अटवी में पहुँचे। वहाँ एक सुन्दर सरोवर को देखकर वे उसमें बहुत देर तक जलक्रीड़ा करते रहे और हथेलियों से जल को बजाने लगे। उस आवाज से तट पर सोया हुआ एक हाथी जाग गया। वह क्रुद्ध होकर कुमार के ऊपर झपटा। कुमार बड़ी चपलता से उसके दांतों को पकड़ कर उसके मस्तक पर आरूढ़ हो गये और मुष्टिका प्रहारों से उस गजेन्द्र को अपना वशवर्ती बना लिया। उसी समय दो विद्याधर कुमार आये और कुमार को हाथी के मस्तक से अपहरण करके विजयार्ध पर्वत के मध्य में स्थित कुंजरावर्त नगर में ले गये और कुमार को उस नगर के बाह्य उद्यान में छोड़ दिया। कुमार एक अशोक वृक्ष के नीचे सुखपूर्वक बैठ गये, तब उन दोनों विद्याधर कुमारों ने आकर उन्हें नमस्कार किया और निवेदन किया—'स्वामिन्! आप यहाँ विद्याधर नरेश अशनिवेग की आज्ञा से लाये गये हैं। आप उन्हें अपना श्वसुर समझें। मेरा नाम अर्चिमाली है और यह दूसरा वायुवेग है।' यों कहकर उनमें से एक तो नगर की ओर चला गया और दूसरा वहीं सुरक्षा के निमित्त रह गया। नगर में जाकर उसने नरेश को यह शुभ संवाद सुनाया कि हाथी के मान का मर्दन करने वाला सुदर्शन कुमार लाया जा चुका है। सुनकर नरेश बहुत हर्षित हुआ और उसे पुरस्कृत करके नरेश ने मंगलाचार पूर्वक कुमार वसुदेव का नगर प्रवेश कराया और शुभ मुहूर्त में नरेश ने अपनी रूपवती कन्या श्यामा का विवाह कुमार के साथ कर दिया। निमित्तज्ञानियों ने भविष्यवाणी की थी कि जो व्यक्ति गजेन्द्र का मान मर्दन करेगा, वही राजपुत्री का पति बनेगा। इसीलिए नरेश ने दो युवकों को गजेन्द्र के निकट पहरा देने के लिए नियुक्त कर दिया था। निमित्तज्ञानियों की भविष्यवाणी पूरी हुई। कुमार राजकन्या के साथ सुखपूर्वक भोग भोगते हुए कुछ काल पर्यन्त वहीं रहे और वहाँ रहकर गन्धर्वविद्या का अध्ययन किया।

एक दिन श्यामा का चचेरा भाई अंगारक रात्रि के समय सोते हुए कुमार का अपहरण कर ले गया। वह आकाश मार्ग से जा रहा था। तभी श्यामा की नींद खुल गई। वह भी हाथों में शस्त्रास्त्र लेकर विद्या-बल

से आकाश में पहुँची। वहाँ अंगारक और श्यामा का भयानक युद्ध हुआ। कुमार ने शत्रु की छाती पर मुष्टिका प्रहार किया जिससे वह व्याकुल होकर कुमार को छोड़कर भाग खड़ा हुआ। कुमार चंपानगरी के एक सरोवर में गिरे। वहाँ से निकलकर नगर में गये। वहाँ उन्हें ज्ञात हुआ कि इस नगर के कुवेर चारुदत्त की पुत्री गन्धर्वसेना के लिए आज गायन-वाद्य प्रतियोगिता होने वाली है। श्रेष्ठी-पुत्री ने नियम किया है कि जो मुझे गान-वाद्य विद्या में पराजित कर देगा, वही मेरा पति होगा। इस समाचार को सुनकर कुमार भी प्रतियोगिता सभा में पहुँचे और वीणावादन और गायन कला में कुमार ने उस मानवती का मान भंग करके विजय प्राप्त की। श्रेष्ठी कन्या ने हर्ष से वरमाला उनके गले में डालकर उनका वरण किया। श्रेष्ठी ने विधिपूर्वक दोनों का विवाह कर दिया। चिरकाल तक कुमार ने वहाँ रहकर आनन्दपूर्वक भोग भोगे।

एक दिन रात्रि में एक बैताल कन्या ने आकर कुमार वसुदेव को जगाया और बलात् वह उन्हें श्मसान में ले गई। वहाँ उसने नीलंयशा नामक एक सुन्दरी कन्या को दिखाया और कहा कि यह कन्या आपके प्रेम में ग्रस्त है और आपसे विवाह की इच्छुक है। यह असित पर्वत नगर के राजा सिंहदंष्ट्र की पुत्री है। कुमार ने उससे विवाह करने की स्वीकृति दे दी। तब विद्याधरियाँ कुमार को आकाशमार्ग से असित पर्वत नगर ले गईं। वहाँ शुभ मुहूर्त में कुमार के साथ नीलंयशा का विवाह हो गया। कुमार वहाँ आनन्दपूर्वक रहने लगे।

इस प्रकार कुमार वसुदेव ने विभिन्न स्थानों पर अनेक कन्याओं के साथ विवाह किया। उनके रूप-गुण और वीरता पर मुग्ध होकर अनेक राजाओं ने उन्हें अपनी कन्यायें प्रदान कीं। उनके आकर्षक व्यक्तित्व पर मुग्ध होकर अनेक कन्याओं ने उन्हें स्वेच्छा से वरण किया। अनेक कन्याओं को विभिन्न प्रतियोगिताओं में उन्होंने जीता। गिरितट नगर वासी ब्राह्मण पुत्री सोमश्री, अचलग्राम की श्रेष्ठी पुत्री वनमाला, वेदसामपुर की कपिला, शालगुहा नगर की पद्मावती, भद्रिलपुर की राजकुमारी चारुहासिनी, जयपुर की राजकन्या, इलावर्धन नगर की श्रेष्ठी-पुत्री रत्नवती तथा राजकुमारी सोमश्री, विद्याधर-कन्या मदनवेगा, वेगवती, गगनवल्लभपुर की राजकन्या बालचन्द्रा, श्रावस्ती की श्रेष्ठी-पुत्री बन्धुमती, और राजपुत्री प्रियंगुसुन्दरी, विद्याधर पुत्री प्रभावती, कुण्डपुर की राजकुमारी, चम्पानगरी के मंत्री की कन्या, म्लेच्छराज की कन्या जरा, अवन्तिसुन्दरी, शूरसेना, जीवद्यशा आदि अनेक कन्याओं के साथ कुमार वसुदेव का विवाह हुआ। तथा जरत्कुमार, पौण्ड्र आदि अनेक पुत्र हुए।

इस बीच में राजगृह नरेश जरासन्ध को निमित्तज्ञानियों ने यह बताया कि जो पुरुष जुए में एक करोड़ मुद्रायें जीतकर वहीं सब बांट देगा, वह तुम्हें मारने वाले पुत्र को जन्म देगा। निमित्तज्ञानियों के वचनानुसार जरासन्ध ने ऐसे पुरुष की खोज करने के लिए चर नियुक्त कर दिए। एक बार दुर्घटनावश कुमार वसुदेव राजगृह नगर में पहुंचे। वहाँ वे जुए में एक करोड़ मुद्रायें जीत गये और उन्होंने वे सब मुद्रायें वहीं बांट दीं। चरों ने आकर कुमार को पकड़ लिया और उन्हें चमड़े की एक भाथड़ी में बन्द करके पर्वत के ऊपर से पटक दिया, जिससे वे मर जायें। किन्तु जब वे गिरे, तभी विद्याधरी वेगवती ने वेग से आकर उन्हें बीच में ही थाम लिया। इस प्रकार वे बच गये।

रोहिणी की प्राप्ति—देशाटन करते हुए कुमार वसुदेव अरिष्टपुर नगर में आये। वहाँ उन्होंने राजपथों पर मनुष्यों की भारी भीड़ और कोलाहल को देखकर एक नागरिक से कुतूहलवश पूछा—'भद्र! यह मनुष्यों का कैसा समुदाय है? ये सब लोग कहाँ जा रहे हैं?' उस नागरिक ने उत्तर दिया—'आर्य! इस नगर के महाराज रुधिर की सुलक्षणा कन्या रोहिणी का स्वयंवर है। यह मनुष्य-समुदाय वहीं पर जा रहा है।'

वसुदेव यह समाचार सुनकर कुतूहलवश स्वयंवर देखने की इच्छा से स्वयंवर मण्डप में पहुँचे। वहाँ उन्होंने देखा कि मण्डप में जरासन्ध, समुद्रविजय आदि अनेक नरेश आये हुए हैं और मणिजटित महार्घ्य आसनों पर विराजमान हैं। सबके मुखों पर दर्प और आशामिश्रित भाव हैं। कुमार ने उस समय पणव बाजा बजाने वाले का वेष धारण कर रखा था, जिससे उन्हें उनके बन्धुजन भी न पहचान सकें। उनके हाथ में भी पणव नामक वाद्य यन्त्र था तथा जहाँ पणव वाद्य बजाने वाले बैठे हुए थे, वे वहीं जाकर बैठ गये।

तभी रूप और शोभा की आगार, सौन्दर्य में रति को लज्जित करने वाली राजकुमारी रोहिणी ने धाय के

साथ स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश किया। तभी शंखों और तूर्यों का मंगल-निनाद हुआ। राजाओं ने कुमारी रोहिणी के अनिंद्य सौन्दर्य की प्रशंसा भर सुनी थी। अब अनर्घ्य वस्त्रालंकारों से सुसज्जित मूर्तिमती लक्ष्मी के समान रोहिणी की रूपछटा देखकर विस्मयविमुग्ध होकर देखने लगे। सबके मन में उस लालित्य मूर्ति की प्राप्ति की आशा की किरण प्रस्फुटित हो रहीं थीं।

वाद्यों का तुमुल रव शान्त हुआ। धाय कुमारी रोहिणी को साथ में लेकर यथाक्रम सब राजाओं का परिचय देने लगी—हे पुत्रि ! ये श्वेत छत्रधारी त्रिखण्डाधिपति महाराज जरासन्ध हैं, ये जरासन्ध के प्रतापी पुत्र हैं, ये मथुरा के तेजस्वी नरेश उग्रसैन हैं, ये शौर्यपुर के स्वामी महा बलवान समुद्रविजय हैं। यदि तेरी रुचि हो तो इनमें से किसी के गले में वरमाला डाल दे। किन्तु धाय ने देखा कि इनमें से किसी के ऊपर कन्या का अनुराग प्रतीत नहीं होता, तब उसने आगे बढ़कर महाराजा पाण्डु, विदुर, दमघोष, दत्तवक्त्र, शल्य, शत्रुंजय, चन्द्राभ, कालमुख, पौण्ड्र, मत्स्य, संजय, सोमदत्त, भूरिश्रवा, अंशुमान, कपिल, पद्मरथ, सोमक, देवक, श्रीदेव आदि राजाओं के वंश, शौर्य आदि गुणों का परिचय देते हुए कहा—हे सौम्य वदने ! इन नरेशों में से जो तुम्हारे चित्त को हरण करने वाला हो, उसके सौभाग्य को प्रकाशित कर।

किन्तु राजकुमारी ने उत्तर दिया –हे मात: ! आपने उचित ही कहा है। किन्तु आपके द्वारा बताये हुए इन राजाओं में से किसी के प्रति मेरा मन अनुरक्त नहीं है।

तभी राजबाला के कर्णकुहरों में पणव की मधुर ध्वनि पड़ी। कन्या ने मुड़कर उस ओर देखा। तभी उसे राजलक्षणों से युक्त कुमार वसुदेव दृष्टिगोचर हुए। उन्हें देखते ही रोहिणी का सम्पूर्ण शरीर हर्ष से रोमाँचित हो उठा। वह राजहंसी के समान मन्थर गति से आगे बढ़ी और कुमार वसुदेव के गले में वरमाला डाल दी। कामदेव और रति के समान इस सुदर्शन युगल को देखकर कुछ राजाओं ने हर्ष से कहा—जिस प्रकार रत्न और सुवर्ण का संयोग होता है, उसी प्रकार इन वर–वधू का संयोग हुआ है। इस रत्न पारखी कन्या को धन्य है।

किन्तु कुछ राजा मात्सर्यवश कहने लगे—यह तो घोर अन्याय है। एक पणववादक को वर कर राजकन्या ने सम्पूर्ण नरेश मण्डल का अपमान किया है। इस अपमान का प्रतिकार होना ही चाहिए। यदि प्रतिकार नहीं किया गया तो इससे कुल मर्यादा भंग हो जाएगी। यदि यह व्यक्ति कुलीन है तो अपना कुल बतावे, अन्यथा इसे यहाँ से निष्काषित करके यह कन्या किसी राजपुत्र को दे देनी चाहिए।

राजाओं का यह अनर्गल प्रलाप सुनकर धीर वीर वसुदेव बोले—राजागण हमारे वचन सुनें। स्वयंवर में आई हुई कन्या अपनी इच्छा के अनुरूप किसी का वरण करने के लिए स्वतंत्र है। उसमें कुलीन-अकुलीन का कोई प्रश्न नहीं है। यदि कन्या ने मुझ अपरिचित का सौभाग्य प्रगट किया है तो इस विषय में आप लोगों को कुछ नहीं कहना चाहिए। इतने पर भी पराक्रम के अहंकारवश कोई शान्त नहीं होता है तो मैं कान तक खींचकर छोड़े हुए बाणों से उसे शान्त कर दूँगा।

इस दर्पयुक्त धमकी को सुनकर जरासन्ध कुपित होकर बोला—इस उद्दण्ड और वाचाल पुरुष को तथा पुत्र सहित राजा रुधिर को पकड़ लो। चक्रवर्ती की आज्ञा पाते ही मात्सर्यदग्ध राजा युद्ध के लिए उद्यत हो गये। कुछ राजा तटस्थ होकर अपनी सेना लेकर अलग जा खड़े हुए। जो राजा रुधिर के पक्ष के थे, वे अपनी सेना लेकर वहाँ आ पहुँचे। राजा रुधिर का पुत्र स्वर्णनाभ रोहिणी को अपने रथ पर आरूढ़ कर खड़ा हो गया। वसुदेव अपने श्वसुर से बोले—'पूज्य ! मुझे अस्त्र शस्त्रों से भरा हुआ रथ दे दीजिये। ये दम्भी क्षत्रिय एक अज्ञात कुलशील व्यक्ति के बाणों की तीक्ष्णता का अनुभव करें।' राजा रुधिर ने तत्काल अस्त्र-शस्त्रों से भरा हुआ तीव्रगामी अश्वों से युक्त महारथ मंगवा दिया। तभी दधिमुख विद्याधर कुमार के पास आकर बोला—'आप मेरे रथ में आरूढ़ होकर शत्रु दल का संहार कीजिये। मैं आपका सारथी बनूँगा। कुमार ने वैसा ही किया। राजा रुधिर की सेना कुमार के चारों ओर एकत्रित हो गई। उस सेना में दो हजार रथ थे, छह हजार हाथी, चौदह हजार घोड़े और एक लाख पदाति थे।

प्रतिपक्ष की सेना का कोई पार नहीं था। दोनों सेनाओं ने आमने-सामने मोर्चा जमा लिया। शंख, तुरही

आदि के तुमुलनाद के होते ही दोनों सेनायें एक दूसरी से जूझ पड़ीं। मनुष्यों की लाशों से मैदान पट गया। घोड़ों और हाथियों की भयंकर चीत्कारों से आकाश पट गया। बाणों की अजस्र वर्षा से सूर्य तक ढंक गया। तलवार, चक्र, गदा, परशु और नाना अस्त्र-शस्त्रों के प्रहारों से रुधिर की नदी बहने लगी। कुमार वसुदेव के हस्त-लाधव और शस्त्र-संचालन की निपुणता ने शत्रु-पक्ष के महावीरों को हतप्रभ कर दिया। तब उन्होंने मिलकर एक साथ वसुदेव पर आक्रमण किया। किन्तु कुमार ने बड़ी कुशलता से उनका सामना किया। कुछ न्यायप्रिय राजाओं ने कहा कि एक व्यक्ति के ऊपर अनेक वीरों का आक्रमण करना घोर अन्याय है। तब जरासन्ध ने आज्ञा दी कि अब एक-एक राजा इस युवक के साथ युद्ध करे। जरासन्ध का आदेश पाकर एक-एक राजा क्रम से कुमार के साथ युद्ध करने लगा। किन्तु कुमार के असह्य बाणों के प्रहार के आगे टिक नहीं सके।

तब राजा समुद्रविजय की बारी आई। वे रथ में आरूढ़ थे। रथ वेग से वसुदेव की ओर बढ़ा। वसुदेव ने अपने पूज्य अग्रज को देखकर सारथी दधिमुख से कहा—'दधिमुख! ये मेरे पिता के तुल्य हैं। इनकी सुरक्षा का ध्यान रखते हुए मुझे युद्ध करना है।' जब दोनों रथ आमने-सामने आगये तो उस युवक को देखकर समुद्रविजय सारथी से बोले—'भद्र! इस सौम्य युवक को देखकर मेरा मन स्नेहाकुल हो रहा है। मेरी दाहिनी आंख और भुजा भी फड़क रही है। इसका फल तो बन्धु-मिलन है। किन्तु युद्ध भूमि में यह कैसे संभव हो सकता है?' सारथी बोला—'स्वामिन्! यह शत्रु अजेय है। आप इसे जीतकर यश के भागी बनेंगे। तब बन्धु-समागम भी होगा।

समुद्रविजय कुमार से बोले—'प्रिय! तुमने अब तक कौशल का प्रदर्शन किया है। अब भी वही कौशल दिखाना। ध्यान रहे, मैं समुद्रविजय हूँ।' कुमार वेष बदले हुए थे ही, आवाज भी बदल कर बोले—'तात! चिन्ता न करें। वही कौशल अब भी दिखाऊँगा। आप समुद्रविजय हैं तो मैं संग्रामविजय हूँ। पहले बाण आप चलावें।'

समुद्रविजय ने बाण सन्धान किया, किन्तु कुमार ने उसे मार्ग में ही अपने बाण से काट दिया। समुद्रविजय ने जितने बाण चलाये, सबको कुमार ने काट दिया तब क्रोध में भरकर समुद्रविजय ने दिव्यास्त्र चलाना प्रारम्भ किया। कुमार ने भी उनका उसी प्रकार उत्तर दिया। इतना ही नहीं; उन्होंने समुद्रविजय के रथ, सारथी, और घोड़ों को भी आहत कर दिया। तब समुद्रविजय ने भयानक रौद्रास्त्र चलाया, कुमार ने ब्रह्मशिर नामक दिव्यास्त्र से उसे भी काट डाला। कुमार के रण कौशल और हस्तलाघव को देखकर शत्रु पक्ष के योद्धा भी उनकी प्रशंसा करने लगे। दोनों ही वीर अप्रतिम थे। जब बहुत समय युद्ध करते हुए व्यतीत हो गया, तब कुमार ने अपने नाम से अंकित एक बाण अपने बड़े भ्राता के पास भेजा। बाण के साथ एक सन्देश भी संलग्न था। बाण मन्थर गति से चलकर समुद्रविजय के पास पहुँचा। समुद्रविजय ने सन्देश पढ़ा। उसमें लिखा था—जो अज्ञात रूप से निकल गया था, वही मैं आपका अनुज वसुदेव हूँ। आज सौ वर्ष पश्चात् पुनः आत्मीय जनों के निकट आया हूँ। मैं आपको सादर प्रणाम करता हूँ।'

सन्देश प्राप्त होते ही समुद्रविजय रथ से कूदकर भुजा पसारे हुए अपने छोटे भाई की ओर दौड़े। वसुदेव भी रथ से उतर कर आगे बढ़े और अपने आदरणीय अग्रज के चरणों में गिर पड़े। बड़े भाई ने उन्हें उठाकर अपने अंक में भर लिया। दोनों की आंखों से आनन्दाश्रु बहने लगे। उनके अन्य भाई भी आ गये। सभी गले लगकर मिले। जरासन्ध आदि राजा भी वसुदेव का परिचय पाकर बड़े सन्तुष्ट हुए। फिर शुभ वेला में वसुदेव का रोहिणी के साथ विवाह हो गया।

विवाह के बाद महाराज जरासन्ध, समुद्रविजय आदि नरेश और वसुदेव एक वर्ष तक राजा रुधिर के अतिथि रहे। एक दिन देवी रोहिणी सुख शैया पर सो रही थीं। उन्होंने रात्रि के अन्तिम प्रहर में चार शुभ स्वप्न देखे। प्रथम स्वप्न में गर्जन करता हुआ श्वेत गज देखा। द्वितीय स्वप्न में उन्होंने उन्नत लहरों वाला गर्जन करता हुआ समुद्र देखा। तृतीय स्वप्न में षोडशकलायुक्त पूर्ण चन्द्र देखा और चतुर्थ स्वप्न में उन्होंने मुख में प्रवेश करता हुआ श्वेत सिंह देखा। प्रातः काल जागने पर उन्होंने अपने पति से स्वप्नों का वर्णन करते हुए उनका फल पूछा। स्वप्न सुनकर वसुदेव

बलभद्र बलराम का जन्म

अत्यन्त हर्षित होकर बोले--'प्रिये ! तुम्हारे ऐसा पुत्र होगा जो अत्यन्त धीर, वीर, अजेय, पृथ्वी का स्वामी और प्रजाबल्लभ होगा'। स्वप्नों का फल जानकर देवी रोहिणी भी बहुत सन्तुष्ट हुईं। महाशुक्र स्वर्ग से च्युत होकर एक महासामानिक देव रोहिणी के गर्भ में आया।

नौ माह पूर्ण होने पर शुभ नक्षत्र में पुत्र-जन्म हुआ। राजा रुधिर ने दौहित्र का धूम-धाम से जन्मोत्सव मनाया और बालक का नाम 'राम' रक्खा।

एक दिन राज-मण्डप में सब लोग बैठे हुए थे। एक विद्याधरी आकाश मार्ग से मण्डप में आई और आकर वसुदेव से बोली—'देव ! आपकी पत्नी वेगवती और हमारी पुत्री बालचन्द्रा आपके चरणों के दर्शनों के लिए व्याकुलता से प्रतीक्षा कर रही हैं। पुत्री बालचन्द्रा ने आपको अपने मन में वरण कर लिया है। इसलिए उसके साथ विवाह करके उसके प्राणों की रक्षा कीजिए।' विद्याधरी के वचन सुनकर व्यवहारज्ञ वसुदेव ने अपने अग्रज समुद्र विजय की ओर देखा। समुद्रविजय बोले—'वत्स ! तुम्हें वहाँ अवश्य जाना चाहिये।' वसुदेव भ्राता की आज्ञा मिलने पर गगनवल्लभपुर गये और अपनी प्रिया वेगवती से मिले तथा बालचन्द्रा के साथ विवाह किया। इधर जरासन्ध और समुद्रविजय आदि नरेश भी अपने-अपने नगरों को लौट गये। राजा रुधिर ने सबका यथोचित सत्कार कर उन्हें विदा किया। कुमार वसुदेव भी गगनवल्लभपुर से अपनी दोनों स्त्रियों को लेकर और विभिन्न नगरों से अपनी सभी पत्नियों को लेकर शौर्यपुर पहुँच गये। राजा और जनता ने चिर वियोग के पश्चात् कुमार को पाकर बड़ा हर्षोत्सव मनाया और उनका अभिनन्दन किया।

कंस का जन्म और वसुदेव द्वारा वचन-दान—वसुदेव भाइयों के आग्रह को मानकर शौर्यपुर में रहने लगे और राजकुमारों को शस्त्र-विद्या सिखाने लगे। उनके शिष्यों में कंस नामक एक कुमार भी था। एक दिन वसुदेव अपने कंस आदि शिष्यों के साथ सम्राट जरासन्ध से मिलने राजगृह गये। वहाँ पहुँच कर उन्होंने एक राजकीय घोषणा सुनी—'जो व्यक्ति सिंहपुर के स्वामी सिंहरथ को जीवित पकड़कर सम्राट् के समक्ष उपस्थित करेगा, सम्राट् उसका बड़ा सम्मान करेंगे, अपनी अद्वितीय सुन्दरी पुत्री जीवद्यशा का विवाह उसके साथ करेंगे और उसे इच्छित देश का राज्य देंगे।'

वसुदेव ने भी यह राज-घोषणा सुनी। उन्होंने कंस से प्रेरणा करके पताका उठवाई, जिसका अर्थ था कि वह सम्राट् के इस कार्य को करने के लिए तैयार है और सेना लेकर सिंहरथ से लड़ने के लिए चल दिये। सिंहपुर के बाहर मैदान में दोनों ओर की सेनायें आ डटीं। सिंहरथ केवल नाम से ही सिंहरथ नहीं था, उसके रथ में वास्तव में जीवित सिंह जुते हुये थे। वसुदेव ने क्रीड़ा मात्र में अपने बाणों द्वारा सिंहों की रास काट दी। सिंह स्वतन्त्र होकर भाग गये। उसी समय बड़ी फुर्ती से वसुदेव की आज्ञा से कंस ने सिंहरथ को बांध लिया। वसुदेव अपने शिष्य के इस शौर्य और फुर्ती को देखकर बड़े प्रसन्न हुये। उन्होंने प्रसन्न होकर कंस से कोई वरदान मांगने के लिए कहा। कंस बड़ा चालाक था। वह विनयपूर्वक बोला --'देव ! अभी वरदान को मेरी धरोहर समझकर अपने पास ही रखिये। मुझे जब आवश्यकता होगी, मैं आपसे माँग लूँगा।' वसुदेव ने भी उससे कह दिया—'तथास्तु।'

वसुदेव और कंस शत्रु को लेकर राजगृह पहुँचे और जरासन्ध से मिले। जरासन्ध वसुदेव की वीरता पर प्रसन्न होकर बोला—'कुमार ! जीवद्यशा पुत्री का मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ।' किन्तु कुमार ने उसे बीच में ही टोक कर बड़ी विनय के साथ कहा—'आर्य ! शत्रु को कंस ने पकड़ा है, मैंने नहीं।' तब जरासन्ध ने कंस से उसका कुल, गोत्र पूछा। कंस बोला—मेरी माता मंजोदरी कौशाम्बी में रहती है और मदिरा बनाने का काम करती है। जरासन्ध कंस के रूप और शौर्य को देखकर विचार करने लगा 'यह वीर युवक मदिरा बनाने वाली का पुत्र नहीं हो सकता।' उसने तत्काल कुछ सैनिक कौशाम्बी भेजकर वहाँ से मंजोदरी को बुलवा लिया। सम्राट् ने उससे कंस के कुल, गोत्र का सत्य समाचार बताने की आज्ञा दी। मंजोदरी बोली—एक दिन मैं यमुना तट पर गई हुई थी। वहाँ मैंने एक मंजूषा बहती देखी। उसे मैंने निकाल लिया। उसमें एक शिशु को देखकर मुझे दया आई और उसे निकाल कर मैं पालन लगी। जब यह किशोर अवस्था में पहुँचा तो इसकी उद्दण्डता बढ़ने लगी। साथी बालकों को यह मारता-पीटता था। इससे नित्य ही उलाहने और शिकायतें आने लगीं। तब दुःखित होकर मैंने इसे घर से निकाल दिया। ज्ञात हुआ कि यह कहीं शस्त्र-विद्या सीखने लगा। कांस की मंजूषा में निकला था, इसलिए इसका नाम कंस

रख दिया था। वास्तव में मैं इसकी माता नहीं हूँ। वह मंजूषा यह है।' यह कहकर उसने मंजूषा सम्राट् को देदी। जरासन्ध ने मंजूषा खोलकर देखी तो उसमें एक मुद्रिका तथा लेख मिला। लेख में लिखा था—यह राजा उग्रसैन और रानी पद्मावती का पुत्र है। जब यह गर्भ में था, तभी से यह उग्र था। अतः अनिष्टकारी समझकर उसे त्याग दिया है।

जरासन्ध को अब कोई सन्देह नहीं रहा कि वह राजपुत्र है। उसने अपनी पुत्री जीवद्यशा का विवाह प्रसन्नतापूर्वक कंस के साथ कर दिया। कंस को अपने पिता के ऊपर अत्यन्त क्रोध आया। प्रतिशोध लेने का संकल्प करके उसने जरासन्ध से मथुरा का राज्य माँगा। जरासन्ध ने उसे स्वीकार कर लिया। तब कंस विशाल सेना लेकर मथुरा आया और अपने पिता उग्रसैन से युद्ध करके उन्हें कौशल से बांध लिया। इतना ही नहीं; उसने अपने पिता को नगर के मुख्य द्वार के ऊपर कारागार में डाल दिया। अब वह मथुरा का शासक हो गया।

वसुदेव-देवकी का विवाह—कंस अपने विद्या-गुरु वसुदेव के उपकारों को भूला नहीं था। उसने उन्हें अत्यन्त आग्रह और सम्मान के साथ मथुरा बुलाया और गुरु-दक्षिणा के रूप में अपनी बहन देवकी का विवाह उनके साथ कर दिया। वसुदेव उसके आग्रह को मानकर वहीं पर रहने लगे।

एक दिन अतिमुक्तक नामक एक निर्ग्रन्थ मुनि आहार के समय राज मन्दिर पधारे। कंस-पत्नी जीवद्यशा ने उन्हें देवकी का आनन्द-वस्त्र दिखाकर उनसे उपहास किया। इससे मुनि को क्षोभ आ गया। उन्होंने क्रोध में कहा—'मूर्ख! तू शोक के स्थान में आनन्द मान रही है। इसी देवकी के गर्भ से उत्पन्न बालक तेरे पति और पिता का संहार करेगा।' यह कहकर वे वहाँ से विहार कर गये।

इस भविष्यवाणी को सुनकर जीवद्यशा भय से कांपने लगी। उसे विश्वास था कि निर्ग्रन्थ मुनि के वचन कभी मिथ्या नहीं होते। वह पति के पास पहुँची और उसने सब समाचार उसे बता दिये। धूर्त कंस ने विचार किया और वह वसुदेव के पास पहुँचा। उसने उन्हें प्रणाम करके बड़ी विनम्रता से धरोहर स्वरूप रखा हुआ वर-दान देने की प्रार्थना की। वह बोला—'आर्य! आपने मुझे वरदान देने का वचन दिया था। मैं वह वर माँगता हूँ कि बहन देवकी प्रसूति के समय मेरे घर पर रहा करे। वसुदेव को इस समाचार का कुछ ज्ञान नहीं था, अतः उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया।

किन्तु उन्हें शीघ्र ही कंस की दुरभिसन्धि का पता चल गया। तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। वे देवकी को लेकर वन में अतिमुक्तक मुनिराज के पास गये। मुनिराज को नमस्कार करके दोनों उनके पास बैठ गये। मुनि-राज ने उन्हें आशीर्वाद दिया। तब वसुदेव ने उनसे पूछा—'भगवन्! मेरा पुत्र इस पापी कंस का संहार कैसे करेगा, यह मैं आपसे जानना चाहता हूँ।' अतिमुक्तक मुनिराज अवधिज्ञान के धारक थे। वे बोले—'राजन्! इस देवकी का सातवां पुत्र शङ्ख, चक्र, गदा और धनुष का धारक नारायण होगा। वह कंस और जरासन्ध आदि शत्रुओं का वध कर अर्धचक्रेश्वर बनेगा। शेष छहों पुत्र चरम शरीरी होंगे। रोहिणी का पुत्र रामभद्र बलभद्र है। तुम्हें किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।

वसुदेव और देवकी सन्तुष्ट मन से लौट गये। वसुदेव चूँकि वचन दे चुके थे। अतः उन्होंने कंस के साथ मित्रता तो रक्खी, किन्तु उसमें उपेक्षा आ गई। वे दोनों आनन्दपूर्वक मथुरा में रहने लगे। कंस मृत्यु की शंका से शंकित हुआ उनकी पहल की अपेक्षा अधिक अभ्यर्थना और सेवा सुश्रूषा करने लगा।

देवकी ने तीन वार गर्भ धारण किये और तीनों वार युगल पुत्र उत्पन्न हुए। इन्द्र की आज्ञा से सुनैगम देव ने प्रत्येक वार देवकी के पुत्रों को सुभद्रिलनगर के सेठ सुदृष्टि की पत्नी अलका के यहाँ और अलका के युगल मृत पुत्रों को देवकी के यहाँ पहुँचा दिया। कंस ने उन मृत पुत्रों को शिला पर पछाड़ दिया। वे छहों पुत्र अलका सेठानी के घर पर रह कर दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। उनका रूप, लावण्य और पुण्य अद्भुत था। उनके नाम इस प्रकार थे—नृपदत्त, देवपाल, अनीकदत्त, अनीकपाल, शत्रुघ्न और जितशत्रु।

नारायण कृष्ण

एक दिन देवकी ने रात्रि के अन्तिम प्रहर में सात शुभ स्वप्न देखे। प्रथम स्वप्न में उगता हुआ सूर्य, दूसरे में पूर्ण चन्द्र, तीसरे में दिग्गजों द्वारा अभिषिक्त लक्ष्मी, चौथे में आकाश से नीचे उतरता हुआ विमान, पांचवें में ज्वालाओं से युक्त निर्धूम अग्नि, छठे में रत्नों की किरणों से दीप्त देव-ध्वज और सातवें स्वप्न में अपने मुख में प्रवेश करता हुआ सिंह देखा। प्रातः काल उठकर उन्होंने पतिदेव से अपने स्वप्नों का वर्णन करके उनका फल पूछा। वसुदेव स्वप्नों का हाल सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और बोले—'देवी! तुमने जो स्वप्न देखे हैं, उनका फल यह है कि तुम्हारे ऐसा प्रतापी पुत्र होगा जो समस्त पृथ्वी का स्वामी होगा। वह सूर्य के समान प्रतापी, चन्द्रमा के समान सर्वजन प्रिय, दिग्गजों द्वारा अभिषिक्त लक्ष्मी के समान अतुल राज्य लक्ष्मी का स्वामी, स्वर्ग से अवतरित होकर, अत्यन्त कान्ति युक्त, स्थिर प्रकृति और सिंह के समान निर्भय वीर होगा।

कृष्ण-जन्म

स्वप्नों का फल सुनकर देवकी को अपार हर्ष हुआ। उसी दिन देवकी ने गर्भ धारण किया। गर्भ धीरे धीरे बढ़ने लगा। कुटिल कंस अलक्ष्य रूप से गर्भ के महीनों और दिनों की गिनती करता हुआ पूर्ण देख रेख कर रहा था। अन्य बालक नौ माह पूर्ण होने पर उत्पन्न हुए थे। परन्तु कृष्ण का जन्म श्रवण नक्षत्र में भाद्रपद शुक्ला द्वादशी को सातवें माह में हो गया। सद्यःजात बालक के शरीर पर शंख, चक्र आदि शुभ लक्षण थे। शरीर का वर्ण और कान्ति नीलमणि के समान थी। उनकी कान्ति से प्रसूति गृह प्रकाशित हो उठा। बालक के पुण्य प्रभाव से बन्धु बान्धवों के घरों में शुभ शकुन होने लगे और शत्रुओं के घरों में अशुभ शकुन होने लगे।

सात दिनों से आकाश मेघाच्छन्न था। काली अंधियारी सारे नगर पर छाई हुई थी। घनघोर वर्षा हो रही थी। वसुदेव और बलराम ने परामर्ष करके निश्चय किया कि बालक को यथाशीघ्र नन्दगोप के घर पहुँचा देना चाहिये, वहीं इसका पालन पोषण होगा। उन्होंने अपनी योजना देवकी को भी बता दी। बलराम ने बालक को गोद में उठा लिया, वसुदेव ने उस पर छत्र लगा लिया और वे उस घोर अंधियारी रात में वर्षा में ही चल दिये। सारा नगर वेसुध सो रहा था। अन्धेरे में राह नहीं सूझती थी। किन्तु बालक के असीम पुण्य के प्रभाव से नगर देवता बैल का रूप धारण करके आगे-आगे चलने लगा। उसके सींगों पर दो रत्न-दीप जल रहे थे, जिससे रास्ते में प्रकाश विकीर्ण हो रहा था। गोपुर के द्वार बन्द थे किन्तु बालक का चरण स्पर्श होते ही द्वार खुल गये। तभी पानी की एक बूंद बालक की नाक में घुस गई, जिससे उसे छींक आ गई। छींक का शब्द बिजली के समान गम्भीर था। उस गोपुर के ऊपरी भाग में कंस के पिता महाराज उग्रसेन बन्दी थे। छींक के शब्द को सुनकर बोले—'तू निर्विघ्न रूप से चिरकाल तक जीवित रह' पिता-पुत्र इस आशीर्वचन को सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—'पूज्य! रहस्य की रक्षा की जाय। देवकी का यह पुत्र ही आपको बन्धन-मुक्त करेगा।' यों कहकर वे नगर के बाहर निकल गये।

बरसात की यमुना घहराती हुई प्रबल वेग से बह रही थी। किन्तु कृष्ण के पुण्य से यमुना ने दो भागों में विभक्त होकर उन्हें मार्ग दे दिया। यमुना पारकर वे अपने विश्वासपात्र नन्दगोप के घर की ओर जा रहे थे। तभी उन्होंने देखा—नन्दगोप सद्यःजात एक बालिका को लिये हुए आ रहे हैं। वसुदेव ने उनसे पूछा-'नन्द! तुम यह बालिका कहाँ लिये जा रहे हो?' नन्द बोले-'कुमार! मेरी स्त्री ने देवी देवताओं की बड़ी मनौती मनाई थी कि सन्तान हो जाय। किन्तु जब यह कन्या उत्पन्न हुई तो वह कहने लगी-'ले जाओ इस कन्या को। मुझे नहीं चाहिये। उन्हीं देवताओं को दे आओ। उसके कहने से मैं इस कन्या को लिये जा रहा हूँ।' नन्दगोप की बात सुन कर वसुदेव बड़े प्रसन्न हुए और बोले-'मित्र! यह कन्या तुम मुझे दे दो और इसके बदले तुम यह पुत्र ले लो और अपनी पत्नी को यह कहकर सोंप दो कि देवताओं ने तुम्हारी प्रार्थना सुनकर स्वीकार करली है और पुत्री के बदले यह पुत्र दे दिया है।' इसके बाद उन्होंने अपने उस विश्वासपात्र मित्र नन्दगोप को सारा वृत्तान्त सुना कर कहा-

मित्र ! इस रहस्य की तुम प्राण पण से रक्षा करना। मैं इस भावी अर्धचक्री को तुम्हें सोंप रहा हूँ। इसको तुम अपना ही बालक मानकर पालन पोषण करना।'

नन्दगोप ने जब उस राजीव लोचन श्याम सलोने कामदेव के समान सुन्दर बालक को देखा तो हर्ष से उनका रोम-रोम खिल उठा। वे बालक को लेकर चल दिये। वसुदेव और बलराम भी बालिका को लेकर उसी रहस्यमय ढंग से वापिस गये, जिस प्रकार वे आये थे और ले जाकर देवकी को सोंप दिया।

जब कंस को बहन की प्रसूति का समाचार ज्ञात हुआ तो वह प्रसूति-गृह में घुस गया। जब उसने बहन के बगल में कन्या देखी तो उसके मन में से भय दूर हो गया। फिर भी उसने सोचा-कदाचित् इसका पति मेरा शत्रु हो सकता है। यह विचार कर उसने कन्या को उठा लिया और उसकी नाक मसल कर उसे चपटी कर दिया। उसे यह भी विश्वास हो गया कि अब देवकी के सन्तान होना बन्द हो गया है। अतः वह निश्चिंत मन से वापिस लौट गया।

उधर यथासमय नन्दगोप के घर पर बालक का जात संस्कार हुआ और उसका नाम 'कृष्ण' रक्खा गया।

कृष्ण का बाल्य-जीवन—कृष्ण धीरे धीरे बढ़ने लगे। बालक की अद्भुत बाल-क्रीड़ाओं को देख देख कर नन्द और यशोदा फूले नहीं समाते थे। वह बालक माता पिता की आंखों का तारा था। उसका रूप मोहक था। गांव की गोपिकायें बालक को खिलाने के बहाने वहाँ आतीं और उसे घण्टों तक अपलक नेत्रों से निहारती रहतीं। यही दशा वहाँ के गोपों की थी। नन्द का घर दिन रात इन गोप-गोपिकाओं से संकुल रहता था और वे बालक की एक झलक पाने के लिये व्याकुल रहते थे।

कृष्ण द्वारा देवियों का मान-मर्दन—एक दिन वरुण नामक एक निमित्तज्ञानी ने कंस से निवेदन किया—'राजन् ! तुम्हारा घातक शत्रु उत्पन्न हो गया है और वह छद्म रूप में बढ़ रहा है। तुम उसका पता लगाओ।' निमित्तज्ञानी की बात सुनकर कंस को चिन्ता होने लगी। उसने तीन दिन का उपवास किया। उससे उसके पूर्वजन्म की हितैषी सात देवियाँ आई और वे बोलीं—'हम तुम्हारे पूर्व भव में किये हुए तप से सिद्ध हुई हैं। आपका हम क्या प्रिय कार्य कर सकती हैं।' कंस बोला—'देवियो ! मेरा शत्रु कहीं उत्पन्न हो चुका है। तुम उसका पता लगाओ और उसका विनाश कर दो।'

कंस की आज्ञा पाते ही वे सातों देवियाँ चल दीं। एक देवी भयंकर पक्षी का रूप धारण करके कृष्ण के पास पहुंची और अपनी तेज चोंचों से उन पर प्रहार करने लगी। किन्तु बालक कृष्ण ने उसकी चोंच इतनी जोर से दबाई कि वह प्राण बचाकर भागी। दूसरी देवी पूतना का रूप धारण कर बालक को विषमय स्तन पिलाने लगी। कृष्ण ने स्तन इतनी जोर से चूसा कि वह भी भयभीत होकर भाग गई। तीसरी पिशाची शकट का रूप धारण करके कृष्ण के सन्मुख आई किन्तु कृष्ण ने उसे लात मारकर भगा दिया।

बालक कृष्ण अब कुछ बड़े हो गये। उनकी शरारतें दिनों दिन बढ़ती जाती थीं। वे निगाह बचते ही मक्खन चुराकर खाजाते थे। परेशान होकर माता यशोदा ने एक दिन कृष्ण को उखली से बाँध दिया। तभी दो देवियाँ जमल और अर्जुन वृक्ष का रूप धारण करके कृष्ण को मारने आयीं। किन्तु कृष्ण ने उन्हें धराशायी कर दिया। एक दिन एक देवी मत्त बैल का रूप बनाकर आई। वह बैल गोपों की बस्ती में भयंकर शब्द करता हुआ फिरने लगा। फिरता हुआ वह घोर गर्जना करता हुआ कृष्ण की ओर झपटा। कृष्ण यमराज के समान उस भयंकर बैल को आते देखकर जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बैल की गर्दन जोरों से पकड़ कर मरोड़ दी। बेचारी देवी अपने प्राण बचाकर भागी। जब वे छह देवियां असफल होकर लौट गईं तो सातवीं देवी को भयंकर क्रोध आया। उसने गोकुल के ऊपर पाषाण और जल की भयंकर वर्षा प्रारम्भ कर दी। गोकुल वासी सम्पूर्ण गोप और गायें व्याकुल होकर इधर उधर भागने लगे। तब कृष्ण ने सबको एक जगह गोवर्धन पर्वत के ऊपर एकत्रित किया और सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया। इस प्रकार उन्होंने सारे गोवर्धन का भार उठा लिया अर्थात् गोवर्धन पर्वत पर रहने वाले गोपों और गायों की रक्षा का दायित्व उन्होंने अपने ऊपर ले लिया और सफलतापूर्वक उसे पूरा किया।

कुछ लोगों का विश्वास है कि कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को ऊपर उठा लिया और सम्पूर्ण गोप और गायें उसके नीचे इन्द्र के प्रकोप से सुरक्षित रहे। हिन्दू पुराणों के इस आलंकारिक वर्णन का रहस्य न समझ कर कुछ लोग उनके शब्दों को पकड़ लेते हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि हिन्दू पुराणों में आलंकारिक वर्णन प्रायः मिलता है। जैसे द्रोणाचल पर जाने पर हनुमान संजीवनी बूटी नहीं पहचान सके तो वे द्रोणाचल को ही उठा लाये। साधारण जनता ने इसका अर्थ यही निकाला कि वे वास्तव में पर्वत को उठा लाये। किन्तु क्या पर्वत को उठा लाना संभव है, इस पर विचार नहीं किया। जैसे किसी नौकर को किसी ने साग लाने के लिये कुछ रुपये दिये। नौकर अपनी इच्छा और बुद्धि से दस पांच तरह के साग खरीद लाया। तब सागों को देखकर मालिक बोला अरे! तू तो सारा बाजार ही उठा लाया। इसका अर्थ यह नहीं है कि वह बाजार की सारी चीजें ले आया, बल्कि इसका आशय वस्तुओं की बहुलता है। इसी प्रकार गोवर्धन पर्वत को कृष्ण ने उठा लिया, इसका आशय यह नहीं है कि उन्होंने पर्वत को पकड़ कर ऊपर उठा लिया। पर्वत को ऊपर उठाना संभव भी नहीं है। इसका आशय यह है कि कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत पर रहने वाले गोपों और गायों की जिम्मेदारी उठाई। जैसे बोलचाल में कहते हैं—घर का सारा भार मेरे ऊपर है। इसका अर्थ यह नहीं है कि घर का सारा सामान और मकान वह अपने ऊपर लिये फिरता है, बल्कि इसका आशय यह है कि घर की सारी जिम्मेदारी मेरे ऊपर है। ऐसे ही कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को उठाया अर्थात् उन्होंने गायों और ग्वालों को गोवर्धन पर्वत के किसी सुरक्षित स्थान पर ले जाकर हिन्दू पुराणों के अनुसार इन्द्र के प्रकोप से से अर्थात् वर्षा आदि से रक्षा की।

गोवर्धन पर्वत उठाने का रहस्य

कृष्ण की वीरता की गाथायें वसुदेव और देवकी के कानों तक पहुँचीं। देवकी का मातृ-हृदय अपने पुत्र से मिलने के लिये आतुर हो उठा। वह व्रत का बहाना करके पुत्र को देखने के लिये गोकुल पहुँची। वहाँ वह पीनस्तनी गायों और हृष्ट-पुष्ट गोप-बालकों को देखकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुई। वह यशोदा से मिलने उसके घर पहुँची। नन्द और यशोदा अपनी स्वामिनी एवं सखी को देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उसका बड़ा आतिथ्य किया। तभी बालक कृष्ण वहाँ आये। वे उस समय पीताम्बर धारी थे। सिर पर मोर-पंखों का मुकुट धारण कर रक्खा था। गले में नील कमल की माला धारण कर रक्खी थी। कानों में स्वर्णाभरण धारण किए हुए थे। कलाइयों में स्वर्ण के कड़े सुशोभित थे। माथे पर दुपहरिया के फूल लटक रहे थे। उनके साथ अनेक बाल गोपाल थे। देवकी अपने पुत्र के इस अद्भुत परिधान और मनभावन रूप को अपलक देखती ही रह गई। यशोदा के कहने पर कृष्ण ने देवकी को प्रणाम किया। देवकी ने उसे अंक में भर लिया। पुत्र-वात्सल्य के कारण उसके स्तनों से दूध झरने लगा। बुद्धिमान बलदेव ने रहस्य खुल जाने के भय से दूध के घड़े से माता का अभिषेक कर दिया और शीघ्र ही माता को लेकर मथुरा पहुँचा दिया।

देवकी का पुत्र से मिलन

कृष्ण को शस्त्र विद्या का शिक्षण—वसुदेव ने अपने पुत्र कृष्ण की सुरक्षा और देख-भाल के लिये अपने बड़े पुत्र बलदेव को नियुक्त कर दिया। रहस्य प्रगट न हो जाय, इसलिये बलदेव भी यदा-कदा जाकर अपने अनुज को देख आते थे और वहाँ जाकर वे कृष्ण को राजकुमारोचित अस्त्र-शस्त्र-संचालन की शिक्षा देते थे। कृष्ण अत्यन्त मेधावी थे। उन्होंने अल्पकाल में ही अस्त्र-शस्त्र-संचालन में पूरी निष्णता प्राप्त कर ली। वे मल्ल-विद्या में भी पारङ्गत हो गये।

चाणूर और कंस का वध—कृष्ण की शौर्य-गाथायें नाना रूप में लोक में फैल रही थीं। उन्हें सुन-सुन कर कंस को विश्वास होने लगा कि मेरा शत्रु छद्म रूप में बढ़ रहा है। उसने कृष्ण को मारने के लिये नानाविध उपाय किए, किन्तु वे सब व्यर्थ हो गये। तब ऐसी दशा में उसका चिन्तित होना स्वाभाविक था। उसके अत्याचारों को वसुदेव मौन होकर देख रहे थे क्योंकि वे वचनबद्ध थे।

एक दिन अत्यन्त आश्चर्यजनक घटना हो गई। कंस के यहाँ सिंहवाहिनी नागशय्या, अजितंजय नामक

धनुष और पाञ्चजन्य नामक शंख ये तीन अद्भुत शस्त्र उत्पन्न हुए।[1] ये शस्त्र असाधारण थे। देव लोग इनकी रक्षा करते थे। कंस द्वारा इन शस्त्रों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पूछने पर वरुण ज्योतिषी ने कहा—'राजन्! जो व्यक्ति नागशय्या पर चढ़कर धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ादे और पाञ्चजन्य शङ्ख को फूँक दे, वही तुम्हारा शत्रु है।' ज्योतिषी के वचन सुनकर कंस की चिन्ता और भी बढ़ गई। उसने शत्रु का पता लगाने के लिये नगर में घोषणा करा दी—'जो कोई यहाँ आकर नागशय्या पर चढ़कर एक हाथ से पाञ्चजन्य शंख बजावेगा और दूसरे हाथ से धनुष पर डोरी चढ़ा देगा, वह पराक्रमी माना जाएगा। महाराज कंस उसका बहुत सम्मान करेंगे और अपनी पुत्री उसे देंगे।'

घोषणा अन्य नगरों में भी प्रचारित की गई। उसे सुनकर अनेक देशों के राजा मथुरापुरी आने लगे। राजगृह से कंस का साला स्वर्भानु अपने पुत्र भानु के साथ बड़े वैभव के साथ आ रहा था। मार्ग में वह व्रज के गोधावन के एक सरोवर के तट पर ठहरने का उपक्रम करने लगा। इस सरोवर में भयंकर सर्पों का निवास था। उसे ठहरते देखकर ग्वाल बालों ने उससे कहा-यहाँ ठहरना असंभव है। इस सरोवर से कृष्ण के अतिरिक्त कोई व्यक्ति पानी नहीं ले सकता।' यह सुनकर स्वर्भानु ने अन्यत्र अपनी सेना का पड़ाव डाल दिया और कृष्ण को अपने निकट बुलाकर बात करने लगा। कृष्ण के पराक्रम की बातों को सुनकर वह बड़ा प्रभावित हुआ और उन्हें स्नेह-वश अपने साथ मथुरापुरी ले गया।

मथुरा पहुँचने पर वे लोग कंस से मिले। उन्होंने उन लोगों को भी देखा, जिन्होंने नागशय्या पर चढ़ने का प्रयत्न किया था किन्तु असफल रहे। यह देखकर साहसी कृष्ण आगे बढ़े। उन्होंने भानु को पास ही खड़ा कर लिया और देखते-देखते उस नागशय्या पर साधारण शय्या के समान चढ़ गये, जिसके ऊपर भयंकर सर्पों के फण लहरा रहे थे। तब उन्होंने एक हाथ से अजितंजय धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाकर दूसरे हाथ से शंख को पकड़कर फूँका। इसके बाद स्वर्भानु का संकेत पाकर कृष्ण वहाँ से चल दिये। कृष्ण के लोकोत्तर प्रभाव को देखकर बलदेव को दुष्ट कंस से आशंका हो गई। अतः उन्होंने कृष्ण को अकेला नहीं जाने दिया, बल्कि एक विजयी योद्धा के समान उनके साथ अनेक आत्मीय जनों को भी भेजा।

इधर समारोह से विजयी योद्धा के अन्तर्धान होने से नाना भाँति की चर्चा होने लगी। किसी ने कहा—यह महान् कार्य राजकुमार भानु ने किया है। किसी ने कहा—यह कार्य भानु ने नहीं; अन्य राजकुमार ने किया है। यह सुनकर कंस ने कहा—'कौन राजकुमार था वह, उसका नाम, धाम पता लगाना होगा। मुझे उसके लिये अपनी कन्या देनी है।' जब नन्द गोप को पता लगा कि यह असाध्य काम मेरे पुत्र ने किया है तो वे स्त्री-पुत्र और गायों को लेकर कंस के भय से भाग गये।

यद्यपि कंस को ज्ञात हो गया था कि यह कार्य कृष्ण ने किया है, किन्तु उसने अपना संदेह प्रगट नहीं किया और उन्हें मारने का उपाय सोचने लगा। उसने विचार करके गोपों को आदेश दिया—'नाग ह्रद के सहस्रदल कमल की मुझे आवश्यकता है। तुम लोग उस सरोवर से मुझे कुछ कमल लाकर दो।' कंस का यह आदेश सुनकर कृष्ण निर्भय होकर उस सरोवर में घुस गये। तभी वहाँ के सांपों का अधिपति मणिधारी कालिय नाग भयंकर फण फैलाकर कृष्ण की ओर तीव्र वेग से आया। किन्तु कृष्ण ने क्रीड़ा मात्र में उस विषधर का मान मर्दन कर दिया। समस्त गोप उस सर्प की भयंकर आकृति को देखकर ही भयभीत हो गये थे, किन्तु जब उन्होंने देखा कि कृष्ण ने उस सर्प का वध कर दिया है तो वे हर्ष के मारे उनकी जय-जयकार करने लगे। पीताम्बरधारी कृष्ण कमल तोड़कर ज्यों ही सरोवर से निकले, नीलाम्बरधारी बलभद्र ने उन्हें प्रगाढ़ आलिंगन में भर लिया।

समस्त गोप सहस्र दल कमल लेकर कंस के पास पहुँचे और उसके समक्ष उन कमलों का ढेर लगा दिया। यह देखकर कंस ईर्ष्या से दग्ध हो गया। उसने तत्काल आदेश दिया—'नन्द गोप के पुत्र और समस्त गोप मल्लयुद्ध के लिये तैयार हो जायें। उन्हें हमारे मल्लों के साथ युद्ध करना है।'

---

१. उत्तर पुराण के अनुसार मथुरा में जैन मन्दिर के समीप पूर्व दिशा में दिक्पाल के मन्दिर में ये तीनों शस्त्ररत्न उत्पन्न हुए थे।

वसुदेव क्रूर कंस के दुष्ट अभिप्राय को समझ गये। उन्होंने अपने अनावृष्टि नामक पुत्र से परामर्श किया और उसे शौर्यपुर अपने सब भाईयों को बुलाने भेज दिया। समाचार मिलते ही महाराज समुद्रविजय और उनके आठों भाई रथ, घोड़े, हाथी और पदाति सेना लेकर चल दिये और मथुरा जा पहुँचे। जब कंस को उनके आगमन की सूचना मिली तो उसका हृदय शंकित हो उठा। किन्तु उसे आश्वस्त कर दिया गया कि ये लोग चिरकाल से वियुक्त अपने भाई वसुदेव से मिलने आये हैं, तब वह उनके स्वागत के लिये पहुँचा और सबको सम्मानसहित नगर में लाया, उन्हें उत्तम भवनों में ठहराया और सब प्रकार का उचित आतिथ्य किया।

समय अनुकूल समझ कर बलभद्र कृष्ण को लेकर नदी पर स्नान करने गये और वहाँ उन्हें कंस की दुरभि-सन्धि, कृष्ण के जन्म से पूर्व कंस द्वारा देवकी के सभी पुत्रों की तथाकथित हत्या, समय से पूर्व कृष्ण का जन्म और छिपाकर नन्द गोप के घर पहुँचाने आदि के समाचार विस्तार से बताये। साथ ही अतिमुक्तक मुनि की भविष्यवाणी सुनाते हुये कहा—'कंस मल्ल विद्या के बहाने तुम्हारा वध करना चाहता है। उसने इस प्रकार के कई प्रयत्न किये हैं।' कृष्ण बलभद्र से अपने वास्तविक वंश, माता-पिता-बन्धु और दुष्ट कंस के समाचार सुनकर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। फिर दोनों भाई तैयार होकर गोपों के साथ मथुरा की ओर चले।

वे लोग नगर में प्रवेश करते हुए जब द्वार पर पहुँचे तो शत्रु की योजनानुसार चम्पक और पादाभर नामक दो हाथी उन लोगों की ओर हूल दिये गये। वे लोग पहले से ही सावधान थे। तुरन्त ही बलभद्र ने चम्पक को धर दबाया और कृष्ण पादाभर से जूझ गये। उन मत्त गयन्दों ने अपने दांत, सूंड़ और पैरों के प्रहार से उन दोनों नरसिंहों को चूर-चूर करना चाहा, किन्तु सिंह के समान उन दोनों वीरों ने अपनी मुष्टिका और पाद-प्रहारों से उन गजों का मद विगलित कर दिया और वे उनके कठिन प्रहारों से चीत्कार करने लगे।

शत्रु की योजना को इस प्रकार विफल करके दोनों वीर भ्राता गोपमण्डली के साथ रंगभूमि में पहुंचे। वहाँ पहुंचते ही बलभद्र ने संकेत से कृष्ण को समझा दिया कि यह है शत्रु कंस और ये हैं शत्रु-पक्ष के लोग। ये सामने अपने पुत्रों सहित समुद्रविजय आदि बन्धु बैठे हैं।

वहाँ मल्ल-युद्ध देखने के लिए अनेक नगरवासी, नगर के अधिकारी और राजा लोग एकत्रित थे। कंस की आज्ञानुसार मल्ल-युद्ध प्रारम्भ हुआ। मल्लों के कई जोड़े रंगभूमि में आये और अपने-अपने कौशल दिखाकर चले गये। तब कंस ने कृष्ण से युद्ध करने के लिये अपने राजकीय मल्ल चाणूर को भेजा। उसने संकेत से मुष्टिक मल्ल को भी कृष्ण के ऊपर टूट पड़ने का संकेत कर दिया।

कृष्ण और चाणूर दोनों मुष्टि-युद्ध में जुट गये। अवसर देखकर मुष्टिक मल्ल आकर पीछे से कृष्ण पर प्रहार करना ही चाहता था, तभी विद्युत् गति से बढ़कर 'बस-बस ठहर' कहते हुए बलभद्र ने मुष्टिक के जबड़ों और सिर पर भारी मुष्टिका प्रहार करके उसे प्राणरहित कर दिया। उधर कृष्ण के साथ विशाल आकारधारी दैत्य सम चाणूर जूझ रहा था। कृष्ण ने चाणूर को अपने वक्ष स्थल से लगाकर इतनी जोर से दबाया कि उसके मुख से रुधिर की धारा बह निकली और गतप्राण हो गया। जब कंस ने अपने दोनों मल्लों को प्राणरहित देखा तो वह क्रोध से नथुने फुलाता हुआ तलवार लेकर उन्हें मारने दौड़ा। कृष्ण ने सामने आते हुए शत्रु के हाथ से तलवार छीन ली और मजबूती से उसके बाल पकड़ कर उसे पृथ्वी पर पटक दिया। तत्पश्चात् उसके पैरों को पकड़कर उसे पत्थर पर पछाड़ कर मार डाला। कंस को मारकर कृष्ण हंसने लगे।

को पाकर वसुदेव और देवकी के हर्ष का पार नहीं था। आज उन्होंने पहली वार अपने पुत्र का मुख निःशंक रूप से देखा था।

इसके वाद सवने मिलकर राज्य के भविष्य के बारे में निर्णय किया। तद्नुसार कृष्ण ने कारागार में पड़े हुए महाराज उग्रसैन को वहाँ से मुक्त किया तथा राजसिंहासन पर लेजाकर वैठाया। फिर सवने मिलकर कंस आदि का अन्तिम संस्कार किया। कंस की पत्नी जीवद्यशा रुदन करती हुई तथा क्रोध में भरी हुई वहाँ से चलकर अपने पिता राजगृह नरेश जरासन्ध के पास पहुँच गई।

सत्यभामा और रेवती का विवाह—एक दिन यादववंशी नरेश गण राजसभा में बैठे हुए थे, तभी विजयार्ध-पर्वत की दक्षिण श्रेणी के नगर रथनूपुर चक्रवाल के नरेश सुकेतु का दूत सभा में आया। उसने बड़े आदर और विनय के साथ शत्रुओं का संहार करने वाले श्रीकृष्ण से कहा—'हे देव! विजयार्ध-पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर चक्रवाल प्रसिद्ध नगर है। वहाँ के अधिपति महाराज सुकेतु ने मुझे आपकी सेवा में भेजा है। उन्होंने सिंहवाहिनी नागशय्या पर आरोहण, पाँचजन्य शंख को फूंकने और अजितंजय धनुष के सन्धान से आपकी परीक्षा करके यह निवेदन किया है कि आप मेरी सुलक्षणा पुत्री सत्यभामा को अंगीकार करलें। इससे विद्याधर लोक का गौरव वढ़ेगा।' दूत के वचन सुनकर प्रसन्न चित्त से कृष्ण ने अपनी सहमति देदी।

सहमति प्राप्त होते ही दूत वहाँ से रथनूपुर पहुँचा और वहाँ अपने स्वामी सुकेतु से कृष्ण और वलभद्र भाइयों की प्रशंसा करके कार्य सिद्ध होने की सूचना दी। दूत-मुख से यह हर्ष-समाचार सुनकर राजा सुकेतु और उसका भाई रतिमाल अपनी-अपनी कन्याओं को लेकर चल दिए। सुकेतु की कन्या का नाम सत्यभामा था और वह रानी स्वयंप्रभा की पुत्री थी। रतिमाल की कन्या का नाम रेवती था। मथुरा पहुँच कर उन्होंने बड़े समारोह के साथ विवाह-मण्डप तैयार कराया। उसमें रतिमाल ने अपनी पुत्री रेवती वलभद्र के लिए अर्पित की और सुकेतु ने अपनी पुत्री सत्यभामा का विवाह कृष्ण के साथ कर दिया। इस विवाह-सम्वन्ध से समस्त यादव, विशेषतः माता रोहिणी और देवकी अत्यन्त सन्तुष्ट थीं।

यादवों के प्रति जरासन्ध का अभियान—कंस की स्त्री जीवद्यशा जब गिरिव्रज पहुँची और जरासन्ध के आगे करुण विलाप करते हुए उसने यादवों का नाश करने के लिए अपने पिता को भड़काया तो जरासन्ध भी अपनी पुत्री और दामाद के प्रति यादवों द्वारा किये गये अनुचित कार्य से क्षुब्ध हो उठा। उसने पुत्री को सान्त्वना देकर यादवों के विनाश का निश्चय किया। उसने अपने महारथी पुत्र कालयवन को चतुरंगिणी सेना के साथ यादवों का समूल विनाश करने के लिये भेजा।

इधर श्रीकृष्ण ने उग्रसैन को कारागार से मुक्त करके उन्हें मथुरा का राज्य सोंप दिया तथा अपने पिता नन्द तथा अपने वालसखा गोपालों का धन आदि से उचित सम्मान करके उन्हें आदर सहित विदा कर दिया। सव कार्यो से निवृत्त होकर वे शौर्यपुर नगर चले गये और वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे।

कालयवन विशाल सेना लेकर चला। दूतों द्वारा समाचार जानकर यादव लोग भी सेना सजाकर शत्रु का प्रतिरोध करने आगे वढ़े। मार्ग में दोनों सेनाओं का सामना हुआ और भयंकर युद्ध हुआ। कालयवन को श्रीकृष्ण के हाथों करारी पराजय मिली और उसे रणभूमि छोड़कर भागना पड़ा। किन्तु वह पुनः सेना लेकर जा चढ़ा। इस प्रकार उसने सोलह वार आक्रमण किया और प्रत्येक वार उसे पलायन करना पड़ा। सत्रहवीं वार अतुल मालावर्त पर्वत पर यादवों के साथ उसकी करारी मुठभेड़ हुई किन्तु इस युद्ध में श्रीकृष्ण के द्वारा उसकी मृत्यु हो गई।

अपने पुत्र की मृत्यु के दारुण समाचार सुनकर जरासन्ध को यादवों पर भयंकर क्रोध आया और उसने अप्रतिम वीर भ्राता अपराजित को यादवों से वदला लेने के लिये भेजा। उसने तीन सौ छयालीस वार यादवों के साथ युद्ध किया। अन्त में श्रीकृष्ण के वाणों ने उसे भी कालयवन के निकट पहुँचा दिया।

भगवान का गर्भ कल्याणक—तीर्थंकर प्रभु शौर्यपुर में माता शिवादेवी के गर्भ में आने वाले हैं। यह वात अवधिज्ञान से जानकर इन्द्र ने छह माह पूर्व कुवेर को रत्नवर्षा की आज्ञा दी। कुवेर ने भगवान के जन्म पर्यन्त-पन्द्रह माह तक महाराज समुद्रविजय के महलों में प्रतिदिन तीन वार साढ़े तीन करोड़ रत्नों की एक वार के हिसाव से

रुचकोज्वला तथा दिक्कुमारियों में प्रधान विजया आदि चार देवियों ने विधिपूर्वक भगवान का जात कर्म सम्पन्न किया।

भगवान के जन्मोत्सव के पूर्व ही कुबेर ने शौर्यपुर को दुलहिन की तरह सजा रक्खा था। उसके महलों पर ऊँची-ऊँची ध्वजायें फहरा रही थीं, राज्य पथ और वीथियाँ बिलकुल स्वच्छ थीं। सारे नगर में तोरणों और वन्दनमालाओं की शोभा अद्‌भुत थी। चारों निकाय के इन्द्रों और देवों ने नगर की तीन प्रदक्षिणायें दीं। फिर इन्द्र ने कुछ देवों के साथ नगर में प्रवेश किया और इन्द्राणी को सद्योजात बाल भगवान को लाने का आदेश दिया। तब इन्द्राणी ने प्रसूतिका-गृह में प्रवेश करके आदर पूर्वक जिन-माता को प्रणाम किया और उनकी बगल में मायामय बालक सुलाकर और उन्हें मायामयी निद्रा में सुलाकर जिन बालक को लाकर इन्द्र को सौंप दिया। इन्द्र भगवान को ऐरावत हाथी पर विराजमान करके समस्त देवों के साथ सुमेरु पर्वत पर ले चला। उस समय की शोभा अवर्णनीय थी। ऐरावत हाथी के बत्तीस मुख थे। प्रत्येक मुख में आठ-आठ दांत थे। प्रत्येक दांत पर एक-एक सरोवर था। प्रत्येक सरोवर में एक-एक कमलिनी थी। एक-एक कमलिनी में बत्तीस-बत्तीस पत्र थे। एक-एक पत्र पर अक्षय यौवना अप्सरा नृत्य कर रही थी। इस प्रकार की दैवी बिभूति के साथ देव लोग सुमेरु पर्वत के निकट पहुँचे और उसकी प्रदक्षिणा देकर पाण्डुक नामक वन- खण्ड में पहुँचे। वहाँ पाण्डुक शिला पर स्थित सिंहासन पर भगवान को विराजमान किया। उस समय देवाङ्गनायें और नृत्यकार देव भक्ति नृत्य कर रहे थे, नगाड़े, शंख और भेरियों का तुमुलनाद हो रहा था। सुगन्धित धूप घटों में जल रही थी। सुगन्धित वायु वातावरण को सुवासित कर रही थी। सुमेरु पर्वत और क्षीरसागर के मध्य देदीप्यमान कलश हाथ में लिये हुए देवों की पंक्तियाँ खड़ी थीं और वे कलश एक हाथ से दूसरे हाथ में जा रहे थे। इन्द्रों ने और फिर देवों ने भगवान का अभिषेक किया। इन्द्राणी और देवियों ने भगवान का शृंगार किया। तब देव लोग भगवान को लेकर शौर्यपुर वापिस लौटे और प्रासाद में पहुँच कर इन्द्राणी ने बालक को जिन-माता की गोद में दिया। तब इन्द्र ने आनन्दनाटक और भक्तिपूरित हृदय से ताण्डव नृत्य किया। फिर इन्द्र ने माता-पिता को प्रणाम किया, जिन बालक के दाहिने हाथ के अंगूठे में अमृत निक्षिप्त किया और कुबेर को ऋतु, अवस्था आदि के अनुसार भगवान की सब प्रकार की व्यवस्था करने का आदेश देकर समस्त देवों के साथ वापिस प्रस्थान किया। इस प्रकार भगवान नेमिनाथ का जन्म महोत्सव समस्त इन्द्रों और देवों ने मिलकर मनाया।

यादवों द्वारा शौर्यपुर का परित्याग—अपने पुत्रों और प्राणोपम भ्राता की मृत्यु से जरासन्ध जितना शोकाकुल हुआ, उससे कहीं अधिक उनका घात करने वाले यादवों पर क्रोध आया। उसने यादवों का समूल विनाश करने का निश्चय कर लिया। उसने अविलम्ब चरों द्वारा मित्र नरेशों और अधीन राजाओं को सन्देश भेज दिये। फलतः नाना देशों के नरेश अपनी-अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर आ पहुँचे।

यादवों को अपने चतुर चरों द्वारा जरासन्ध की विशाल युद्ध तैयारियों का पता चल गया। अतः युद्धस्थिति पर विचार करने और अपनी भावी नीति निर्धारित करने के लिये शौर्यपुर में शौर्यपुर, मथुरा और वीर्यपुर के वृष्णिवंशी और भोजवंशी यादवों के प्रमुख लोगों की मंत्राणागार में सभा जुड़ी। मंत्रणा का निष्कर्ष इस प्रकार रहा—

जरासन्ध की आज्ञा भरतक्षेत्र के तीन खण्डों में कभी अतिक्रान्त नहीं हुई। चक्र, खड्ग, गदा और दण्डरत्न के कारण वह अजेय समझा जाता है। हम लोगों पर वह सदा उपकार करता रहा है किन्तु अब वह अपने भ्राता और पुत्रों के वध के कारण यादवों पर अत्यन्त क्रुद्ध हो रहा है। वह इतना अहंकारी है कि हम लोगों के दैव और पुरुषार्थ सम्बन्धी सामर्थ्य को जानता हुआ भी उसे अनदेखा कर रहा है। कृष्ण और बलराम का पौरुष और प्रताप बालकपन से ही प्रगट हो रहा है। इन्द्र और देव भी जिनके चरणों में नम्रीभूत होते हैं और लोकपाल जिनके लालन-पालन करने के लिये व्यग्र रहते हैं, वे नेमिनाथ तीर्थकर यद्यपि अभी बालक ही हैं, किन्तु तीर्थकर के कुल का अपकार करने का सामर्थ्य तीन लोक में किसी में नहीं है।

फिर भी हमें उसकी असंख्य सेना और अपार बल का सामना करने के लिए शक्ति-संग्रह करना आवश्यक है और उसके लिये हमें कुछ समय के लिये शान्तिपूर्ण अवसर प्राप्त होना चाहिये। इसलिये हमें अभी इस स्थान का परित्याग करके पश्चिम दिशा की ओर किसी सुरक्षित स्थान पर चलना चाहिये। यदि जरासन्ध हमारा

सामना करना चाहेगा तो हम लोग दण्डनीति का आश्रय करके उसे मृत्युलोक में पहुँचा देंगे। तीर्थंकर नेमिनाथ, नीति विचक्षण कृष्ण और महाबली बलराम के रहते हम लोगों को चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

निर्णय हो गया कि यादवों को अविलम्ब प्रस्थान करना है। कटक में आदेश प्रचारित कर दिया गया। भेरी-घोष सुनकर वृष्णिवंश और भोजवंश के समस्त यादव शुभ मुहूर्त में वहाँ से चल पड़े। मथुरा, शौर्यपुर और वीर्यपुर की समस्त प्रजा भी स्वामी के अनुराग से उनकी अनुगत हुई। उस समय अपरिमित धन से युक्त अठारह कोटि यादवों ने वहाँ से प्रस्थान किया।

यादव थोड़ी-थोड़ी दूर पर पड़ाव डालते हुए पश्चिम दिशा की ओर बढ़ रहे थे। जब वे विन्ध्याचल पर पहुँचे तो चरों द्वारा उन्हें समाचार प्राप्त हुआ कि मार्ग में जरासन्ध विशाल सेना लेकर शीघ्रता पूर्वक पीछे-पीछे आ रहा है। यादव वीरों ने यह समाचार सुना तो उनकी भुजायें फड़कने लगीं। जरासन्ध से निबटने के लिये वे लोग उसकी प्रतीक्षा अधीरतापूर्वक करने लगे।

किन्तु प्रकृति को कुछ और ही इष्ट था। जब दोनों सेनाओं में थोड़ा ही अन्तर रह गया तो अर्धभरत क्षेत्र में निवास करने वाली देवियों ने अपनी दिव्य सामर्थ्य से असंख्य जलती हुई चितायें बनादीं। जब जरासन्ध सेना सहित वहाँ पहुँचा तो उसने चिताओं में जलती हुई सेना को देखा। जरासन्ध यह देखकर विस्मित रह गया। उसने अपनी सेना वहीं ठहरा दी। तभी उसकी दृष्टि चिताओं के निकट रोती हुई एक वृद्धा पर पड़ी। जरासन्ध उसके निकट पहुँचा और पूछने लगा—'वृद्धे ! यह किसका कटक जल रहा है और तू यहाँ बैठी क्यों रो रही है ? मुझे सच-सच बता।' वह वृद्धा कठिनाई से अपना रुदन रोक कर उच्छ्वसित कण्ठ से बोली—'राजन् ! मैं आपको सम्पूर्ण घटना बताती हूँ। आपके समक्ष अपना दुःख निवेदन करने से शायद मेरा दुःख कम हो जाय। सुना है, राजगृह नगर में जरासन्ध नामक कोई प्रतापी सम्राट है, जिसके प्रताप की अग्नि समुद्र में भी बड़वानल बनकर जलती है। यादव लोग अपने अपराधों के कारण उस सम्राट् से भयभीत होकर अपना नगर छोड़कर भागे जा रहे थे। परन्तु समस्त पृथ्वी में भी उन्हें किसी ने शरण नहीं दी। तब उन्होंने अग्नि में प्राण विसर्जन करके मरण की शरण को ही उत्तम समझा। मैं यादव-नरेशों की वंश परम्परागत दासी हूँ। मुझे अपने प्राण प्रिय थे, इसलिये मैं नहीं मर सकी, किन्तु अपने स्वामी के इस कुमरण के दुःख से दुखी होकर यहाँ बैठी रो रही हूँ।'

वह वृद्धा के वचन सुनकर अत्यन्त विस्मित हुआ और यादवों के जल मरने की बात पर उसने विश्वास कर लिया। वह वहाँ से राजगृही को लौट गया। यादव लोग भी वहाँ से चलकर पश्चिम समुद्र के तट पर जा पहुँचे।

द्वारिका नगरी का निर्माण—शुभ मुहूर्त में कृष्ण और बलभद्र स्थान प्राप्त करने के उद्देश्य से तीन दिन के उपवास का नियम लेकर पंच परमेष्ठियों का ध्यान करते हुए दर्भासन पर स्थित हो गये। उनके पुण्य से और तीर्थंकर नेमिनाथ की भक्ति से प्रेरित होकर सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से गौतम नामक शक्तिशाली देव ने समुद्र को दूर हटा दिया और कुबेर ने उस स्थान पर द्वारका नामक नगरी की रचना कर दी। यह नगरी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी तथा वज्रमय कोट से युक्त थी। समुद्र उसकी परिखा का काम करता था। उस नगरी में सुगन्धित कमलों से भरी हुई पुष्करिणी, वापिका, सरोवर और तड़ाग थे, अनेक जाति के फलवाले वृक्ष और पुष्पों वाली लतायें थीं, रत्ननिर्मित प्राकार और तोरणों से युक्त जिनालय थे, स्वर्णमय प्राकार और गोपुरों से युक्त अनेक खण्डों वाले प्रासाद थे। उस नगरी के बीचों-बीच समुद्रविजय आदि दसों भाइयों के महल थे और उनके बीच में कृष्ण का अठारह खण्डोंवाला सर्वतोभद्र प्रासाद था। इस प्रासाद के निकट अन्तःपुर और पुत्रों आदि के योग्य महलों की पंक्तियाँ बनी हुई थीं। अन्तःपुर की पंक्तियों से घिरा हुआ एवं वापिका, उद्यान आदि से सुशोभित बलभद्र का महल था। इस महल के आगे एक सभामण्डप बना हुआ था। उग्रसैन आदि राजाओं के महल आठ आठ खण्ड के थे।

नगरी की रचना पूर्ण होने पर कुबेर ने श्रीकृष्ण को इसकी सूचना दी तथा उन्हें मुकुट, उत्तम हार, कौस्तुभ मणि, दो पीत वस्त्र, नक्षत्रमाला आदि आभूषण, कुमुद्वती नामक गदा, शक्ति, नन्दक नामक खड्ग, शार्ङ्ग धनुष, दो तरकश, वज्रमय बाण, दिव्यास्त्रों से युक्त और गरुड़ की ध्वजा वाला दिव्य रथ, चमर और श्वेत छत्र प्रदान किये।

वलभद्र के लिये दो नील वस्त्र, माला, मुकुट, गदा, हल, मूसल, वाणों से भरे दो तरकश, रथ एवं छत्र दिये। समुद्र विजय आदि राजाओं का भी कुबेर ने वस्त्राभरणों से सत्कार किया। बाल तीर्थंकर नेमिनाथ का विशेष रीति से कुवेर ने पूजन, सत्कार किया। सवका सत्कार करने पर कुवेर ने प्रार्थना की—आप लोग नगर में प्रवेश कीजिये। इसके पश्चात् पूर्णभद्र को नगर की सुरक्षा के लिये नियुक्त करके वह स्वर्ग को लौट गया।

यादवों के संघ ने समुद्र के तट पर श्रीकृष्ण और वलभद्र का अभिषेक कर के उनकी जयजयकार की। तब सब यादवों ने प्रसन्न मन से द्वारिका नगरी में प्रवेश किया। पूर्णभद्र यक्ष ने सवको यथायोग्य स्थान पर ठहराया। तव कुवेर ने समस्त द्वारिका नगरी में साढ़े तीन दिन तक अटूट धन-धान्यादि की वर्षा की।

धीरे-धीरे महाराज श्रीकृष्ण का प्रभाव चारों ओर फैलने लगा। इससे पश्चिम के सभी नरेश उनकी आज्ञा मानने लगे।

रुक्मिणी के साथ कृष्ण का विवाह—द्वारिका में यादवों की सभा हो रही थी। तभी आकाश-मार्ग से नारद जी पधारे। उनकी जटाएँ, दाढ़ी और मूँछें पीत बर्ण की थीं। उनका वर्ण श्वेत था। वे रंग-विरंगे योगपट्ट से विभूषित थे। वे कौपीन और चादर धारण किये हुए थे। वे तीन लर वाला यज्ञोपवीत धारण किये हुए थे। वे नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। राजप्रासादों के अन्तःपुरों में उनका अव्याहत प्रवेश था। किन्तु वे कलह-प्रिय, स्वाभिमानी और क्रोधी थे। शिशु वय में उनका पालन जृम्भक नामक देव ने वैताढ्य पर्वत पर किया था। देव उनसे अत्यन्त स्नेह करते थे। आठ वर्ष की अवस्था में देवों ने उन्हें जिनागम की विद्या और आकाशगामिनी विद्या प्रदान की थी। वही शिशु नारद नाम से विख्यात हुआ। नारद श्रावक के अणुव्रतों के भी पालक थे।

नारद ने आकर तीर्थंकर नेमि प्रभु, कृष्ण और वलराम को नमस्कार किया। शेष व्यक्तियों ने उन्हें नमस्कार किया। आसन ग्रहण करने पर उन्होंने इधर-उधर की चर्चा की। फिर वे अन्तःपुर में पहुँचे। उस समय कृष्ण की महादेवी अपने शृंगार में लीन थी। वह नारद को नहीं देख पाई। नारद के स्वाभिमान को इससे बहुत ठेस पहुँची। उन्होंने मन में निश्चय किया कि मैं इसकी एक सपत्नी लाकर इसके सौन्दर्य के अहंकार को अवश्य चूर-चूर करूँगा। यह निश्चय करके वे वापिस लौट आये और आकाश-मार्ग से वे कुण्डिनपुर जा पहुँचे। वे वहाँ के नरेश भीष्म के अन्तःपुर में पहुँचे। रानियों तथा भीष्म की वहन ने आकर उन्हें नमस्कार किया। वहाँ रति के समान एक रूपवती कन्या को देखकर वे विचार करने लगे—यह कन्या कृष्ण की पट्टमहिषी पद पर अधिष्ठित होने योग्य है। इस कन्या के द्वारा ही मैं गर्विणी सत्यभामा का दर्प चूर्ण करूँगा।

रूप की खान उस कन्या का नाम रुक्मिणी था। उसने विनय और संभ्रम के साथ नारद को नमस्कार किया। नारद ने उसे आशीर्वाद दिया—द्वारिका के स्वामी कृष्ण तुम्हारे पति हों।' रुक्मिणी के पूछने पर नारद ने द्वारिका के वैभव और कृष्ण के प्रभाव, पौरुष का ऐसा सरस वर्णन किया कि रुक्मिणी के मन में कृष्ण के प्रति तीव्र अनुराग उत्पन्न हो गया।

नारद रुक्मिणी के मन में प्रेम की ज्वाला सुलगा कर वहाँ से चल दिये। उन्होंने एकान्त में बैठकर चित्र पट पर रुक्मिणी का मनमोहन चित्र अंकित किया। वे पुनः द्वारिका पहुँचे और कृष्ण को वह चित्रपट दिखाया। कृष्ण उस चित्र को विमुग्ध भाव से निहारते रहे। उन्होंने मनोभावों को वाणी का रूप देकर पूछा—'देवर्षि ! कौन है यह कन्या ? क्या यह कोई सुरबाला है अथवा कोई नाग-कन्या है ?' नारद ने किंचित् मुस्कराकर उनका परिचय दिया। परिचय ऐसा सरस था कि कृष्ण के मन में उसे पाने की तीव्र ललक जागृत हो गई।

उधर रुक्मिणी को एकान्त में ले जाकर उसकी बूआ बोली—पुत्री ! मेरी वात सुन। एक वार अतिमुक्तक नामक अवधिज्ञानी मुनि यहाँ पधारे थे। उन्होंने तुझे देखकर कहा था—'यह सुलक्षणा कन्या त्रिखण्डाधिपति नारायण की सोलह हजार रानियों में पट्टमहिषी पद से विभूषित होगी। आज देवर्षि नारद ने भी वही आशीर्वाद तुझे दिया है। लगता है, भविष्य दृष्टा मुनि के वचन यथार्थ सिद्ध होंगे। किन्तु समस्या यह है कि तेरे प्रतापी सहोदर रुक्मी ने तुझे शिशुपाल को देने का संकल्प किया है। और शिशुपाल आजकल में यहाँ आने ही वाला है।'

रुक्मिणी बोली—मुनिराज के वचन अन्यथा कैसे हो सकते हैं। इस जीवन में कृष्ण ही मेरे पति होंगे, मेरा

प्रद्युम्न का जन्म और अपहरण—एक दिन हस्तिनापुर नरेश दुर्योधन ने श्रीकृष्ण के पास एक दूत के द्वारा समाचार भेजा–'यदि मेरे पुत्री उत्पन्न हुई और रुक्मिणी या सत्यभामा के जिसके पहले पुत्र उत्पन्न हुआ तो उन दोनों का विवाह कर दिया जाय।' श्रीकृष्ण इस सन्देश को पाकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने दूत को अपनी स्वीकृति देकर और उसका यथोचित सम्मान करके उसे विदा किया।

सत्यभामा ने जब समाचार सुना तो उसने रुक्मिणी के पास अपनी सेविकायें भेजीं। उन्होंने रुक्मिणी से जाकर सन्देश दिया—'देवी! हमारी स्वामिनी ने आपके लिये एक प्रिय सन्देश भेजा है कि हम दोनों में से जिसके पहले पुत्र उत्पन्न होगा, वह दुर्योधन की पुत्री का पति होगा, यह निश्चित हो चुका है। हम दोनों में से जिसके पुत्र नहीं होगा, उसकी चोटी काट कर वर और वधू उसके ऊपर स्नान करेंगे। यदि आपको यह बात स्वीकार हो तो आप अपनी सहमति प्रदान कीजिये।' रुक्मिणी ने प्रसन्न होकर अपनी स्वीकृति दे दी।

संयोग की बात थी कि रुक्मिणी ने एक दिन रात्रि में स्वप्न में हंस विमान के द्वारा आकाश में विहार किया। उसी दिन अच्युतेन्द्र ने उसके गर्भ में अवतरण किया। उसी दिन सत्यभामा ने भी स्वर्ग से च्युत हुए जीव को गर्भ में धारण किया। नौ माह पूर्ण होने पर दोनों ही रानियों ने एक ही रात्रि में पुत्र प्रसव किये। यह शुभ समाचार देने के लिए दोनों के सेवक श्रीकृष्ण के पास पहुँचे। श्रीकृष्ण उस समय शयन कर रहे थे। अतः सत्यभामा के सेवक उनके सिरहाने और रुक्मिणी के सेवक उनके पैरों की ओर खड़े होकर उनके जागने की प्रतीक्षा करने लगे। श्रीकृष्ण जब जागे तो पहले उनकी दृष्टि पैरों की ओर खड़े सेवकों पर पड़ी। सेवकों ने उन्हें रुक्मिणी के पुत्र-जन्म का हर्ष समाचार सुनाया। श्रीकृष्ण ने अपने शरीर पर स्थित सभी आभूषण उतार कर सेवकों को पुरस्कार स्वरूप दे दिये। जब श्रीकृष्ण ने मुड़कर दूसरी ओर देखा तो सत्यभामा के सेवकों ने उन्हें सत्यभामा की पुत्रोत्पत्ति का शुभ समाचार सुनाया। श्रीकृष्ण ने उन्हें भी यथोचित पुरस्कार देकर सन्तुष्ट किया।

तभी एक भयानक दुर्घटना घटित हो गई जिसने राज प्रासाद में हर्ष के वातावरण को विषाद में परिणत कर दिया। धूमकेतु नामक एक भयंकर असुर विमान में जा रहा था। जब उसका विमान रुक्मिणी के महलों के ऊपर आया तो वहीं स्थित हो गया। असुर ने विभंगावधिज्ञान से इसका कारण ज्ञात किया तो उसे अपने पूर्व जन्म के वैरी को देखकर भयंकर क्रोध आया। उसने मायामय निद्रा में प्रहरियों, सेवकों और रुक्मिणी को सुलाकर अचेत कर दिया और बालक को लेकर आकाश मार्ग से चल दिया। वह मन में विचार करने लगा कि इसको किस प्रकार मारा जाय। तभी उसे खदिर अटवी दिखाई दी। वह वहाँ उतरा और एक शिला से बालक को दबाकर चल दिया।

उसी समय मेघकूट नगर का राजा कालसंवर अपनी कनकमाला रानी के साथ विमान द्वारा आकाश-मार्ग से जा रहा था। उस बालक के पुण्य-प्रभाव से विमान आकाश में ही ठहर गया। वह नीचे उतरा। वहाँ उसने एक आश्चर्यजनक वस्तु देखी। उसने एक विशाल शिला हिलती हुई देखी। उसने कुतूहलवश शिला को हटाकर देखा। उसके आश्चर्य की सीमा नहीं रही, जब उसने कुसुम कोमल सद्यःजात और कामदेव के समान सुन्दर बालक को देखा। उसने बालक को गोद में उठाकर रानी से कहा—'प्रिये! तुम्हारे कोई पुत्र नहीं है, लो यह तुम्हारा पुत्र हुआ।' रानी चतुर थी। वह बोली—'नाथ! आपके ५०० पुत्र हैं। उनके सामने इस अज्ञात कुलशील बालक का क्या सम्मान हो सकेगा। इससे तो मैं निपूती ही अच्छी हूँ।' कालसंवर ने तत्काल अपने कान का सुवर्ण-पत्र लेकर बालक के पट्टबन्ध किया और कहा—यह बालक आज से ही युवराज है। महाराज के इस वचन को सुनकर रानी ने अत्यन्त हर्षित और पुलकित होकर शिशु को अपने अंक में भर लिया तथा वे लोग सानन्द अपने नगर में वापिस आ गये। वहाँ राज्य भर में यह समाचार प्रचारित किया गया कि महारानी कनकमाला को गूढ़ गर्भ था। उन्होंने पुण्यशील पुत्र को जन्म दिया है। सारे राज्य में राजा और प्रजा की ओर से पुत्र जन्मोत्सव विविध आयोजनपूर्वक मनाया गया। कामदेव के समान सुन्दर होने के कारण पुत्र का नाम प्रद्युम्न रक्खा गया। पुत्र शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान दिनोंदिन बढ़ने लगा।

उधर द्वारकापुरी में जब रुक्मिणी की निद्रा भंग हुई और ढूँढने पर भी शिशु नहीं मिला तो वह करुण

विलाप करने लगी। रुदन सुनकर परिजन भी शोकातुर हो उठे। महाराज श्रीकृष्ण और बलदेव भी यह शोक-समाचार सुनकर वहाँ आये। श्रीकृष्ण इस अकल्पित घटना से स्तब्ध रह गये। वे नाना भाँति रुक्मिणी को धैर्य बंधाने लगे। तभी वहाँ आकाश मार्ग से नारद ऋषि आ पहुँचे। वे इस दारुण समाचार को सुनकर क्षण-भर के लिए मौन हो गये। फिर वे श्रीकृष्ण से कहने लगे—मैं विदेह क्षेत्र में सीमन्धर भगवान से पूछकर पुत्र समाचार अतिशीघ्र लाऊँगा। तुम अब शोक छोड़ो। उसके पश्चात् नारद रुक्मिणी के निकट पहुँचे। उसे शोक-संतप्त और अत्यन्त कातर देखकर नारद ने उसे भी सान्त्वना दी और शीघ्र समाचार देने का आश्वासन देकर वे वहाँ से चल दिये।

वे आकाश-मार्ग से विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में भगवान सीमन्धर स्वामी के समवसरण में जा पहुँचे। वहाँ बड़ी भक्ति और विनय के साथ भगवान को नमस्कार किया, उनको भक्ति विह्वल कण्ठ से स्तुति की और जाकर अपने उपयुक्त कक्ष में बैठ गये।

उस समय समवसरण में पद्मरथ चक्रवर्ती भी बैठा हुआ था। वह पांच सौ धनुष ऊंचा था। नारद केवल दस धनुष ऊंचे थे। उन्हें देखकर चक्रवर्ती अपना कुतूहल नहीं रोक सका। उसने नारद को उठाकर हथेली पर रख लिया और भगवान से पूछा—'भगवन् ! यह मनुष्य के आकार का कौन-सा कीड़ा है ? इसका क्या नाम है ?' भगवान सीमन्धर बोले—'राजन् ! यह जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र का नारद है।' चक्रवर्ती ने पुनः प्रश्न किया—'प्रभो ! यह यहाँ किसलिये आया है ?' इसके उत्तर में भगवान ने नारद के आने का उद्देश्य बताते हुए कहा—'यह नौवें नारायण कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के अपहरण के बारे में समाचार जानने आया है। इस समय वह बालक मेघ-कूट पर्वत पर कालसंवर नरेश के घर पर आनन्द पूर्वक रह रहा है। वह बालक सोलहवां वर्ष आने पर सोलह लाभ प्राप्त कर तथा प्रज्ञप्तिनामक विद्या प्राप्त कर अपने माता-पिता से मिलेगा।' इसके पश्चात् भगवान ने उसके अपहरण का कारण बताते हुए उसके पूर्वभवों का वर्णन किया तथा यह भी बताया कि जब उसके आने का समय होगा, तब क्या चिन्ह प्रगट होंगे।

नारद रुक्मिणी-पुत्र के समाचार ज्ञात कर अत्यन्त आनन्दित हुए और सीमन्धर भगवान को नमस्कार कर वे आकाश मार्ग से मेघकूट पर्वत पर पहुँचे। वहाँ वे महाराज कालसंवर और उनकी महारानी कनकमाला से मिले। उन्होंने कुमार प्रद्युम्न को भी देखा। राजा और रानी ने उनका यथोचित सम्मान किया। उन्हें आशीर्वाद देकर नारद द्वारका पहुँचे और यादवों को राजकुमार का समाचार सुनाया, जिसे सुनकर सभी हर्षित हो उठे। नारद इसके पश्चात् अन्तःपुर में पहुँचे और रुक्मिणी को यह हर्ष समाचार सुनाकर भगवान द्वारा कही हुई सारी बात सुनाई। उन्होंने यह भी बताया कि 'जब कुमार के आने का समय होगा, तब तुम्हारे उद्यान में मयूर कूजने लगेगा ; उद्यान की मणि वापिका कमलों से युक्त जल से पूरित हो जायेगी ; अशोक वृक्ष असमय में ही अंकुरित और पल्लवित हो उठेगा ; तुम्हारे यहाँ जो गूंगे हैं, वे पुत्र के निकट आते ही बोलने लगेंगे। उन लक्षणों से तुम पुत्र के आगमन का समय जान लेना।' रुक्मिणी अपने पुत्र का समाचार सुनकर हर्ष से भर उठी। उसके स्तनों से दूध झरने लगा। वह इस शुभ समाचार को लाने के लिए नारद के प्रति अत्यन्त कृतज्ञता प्रगट करती हुई बोली—आपने यह समाचार लाकर मेरे दुःख के भार को बहुत हलका कर दिया है। मुझे अब इतना तो सन्तोष हो गया कि मेरा लाल मुझे एक दिन अवश्य मिल जायगा।

उधर प्रद्युम्न कुमार शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगा। वह कामदेव के समान अत्यन्त रूपवान था। उसने किशोर वय में ही अस्त्र-शस्त्र संचालन में निपुणता प्राप्त कर ली, आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कर ली।

प्रद्युम्न को विजय-लाभ

राजा कालसंवर के पाँच सौ पुत्र थे। एक बार राजा ने अपने शत्रु सिंहरथ को जीतने के लिए इन पुत्रों को युद्ध में भेजा, किन्तु वे उसे पराजित नहीं कर सके। तब प्रद्युम्न को भेजा गया। उसने शत्रु को निमिष मात्र में पराजित कर दिया। राजा ने उसकी वीरता और गुणों पर मुग्ध होकर बड़े समारोह के साथ उसको युवराज पद पर अभिषिक्त कर दिया।

प्रद्युम्न के सम्मान, यश और शौर्य के कारण पांच सौ भाई उससे द्वेष करने लगे और उसके नाश का उपाय करने लगे। किन्तु जिसका पुण्य प्रबल है, उसे कौन क्षति पहुँचा सकता है। भाइयों ने उसकी मृत्यु के

अनेक षड्यन्त्र रचे, किन्तु प्रवल पुण्य का स्वामी प्रद्युम्न न केवल हर बार उन षड्यन्त्रों से सुरक्षित रहा, अपितु उनके फलस्वरूप प्रत्येक बार उसे लाभ ही हुआ। एक बार सिद्धायतन के गोपुर के ऊपर भाइयों के कहने से वह चढ़ गया और वहाँ के रक्षक देव से विद्या, कोष और अनर्घ्य मुकुट प्राप्त हुआ, महाकाल गुफा में निर्भय होकर प्रवेश किया और वहाँ के देव से छत्र, चमर, ढाल और तलवार का लाभ हुआ। नागगुफ़ा में प्रवेश करने पर देव ने उसे उत्तम पादपीठ, नागशय्या, आसन, वीणा और भवन निर्मात्री विद्या प्रदान की। एक वापिका में जाने पर मकर चिन्ह वाली ध्वजा प्राप्त की। मेघाकृति पर्वत में प्रवेश करने पर दो कुण्डल मिले। इस प्रकार भाइयों ने उसे विभिन्न भयानक स्थानों पर जाने के लिए प्रेरित किया और वहाँ से कुछ न कुछ लाभ प्राप्त करके वह वापिस लौटा, इस प्रकार उसे सोलह लाभ प्राप्त हुए।

प्रद्युम्न की दृढ़ शील-निष्ठा—प्रद्युम्न कुमार मेघकूट नगर में वापिस आया और अपने पिता कालसंवर के दर्शन किये। उसके पश्चात् वह अपनी माता कनकमाला के पास पहुँचा। माता ने बड़े दुलार से उसका मस्तक सूंघा और निकट बैठाकर उसके शरीर पर हाथ फेरा। किन्तु उसके कामदेव के समान मोहन रूप को देखकर उसके मन में कामवासना जागृत हो गई। वह मन में विचार करने लगी 'उस स्त्री का जन्म सार्थक है, जिसे इसके अंगों का स्पर्श प्राप्त हो।' प्रद्युम्न माता को प्रणाम करके चला गया।

दूसरे दिन माता की अस्वस्थता के समाचार सुनकर प्रद्युम्न उसे देखने आया। किन्तु कनकमाला काम विव्हल होकर काम-चेष्टा करने लगी। प्रद्युम्न इस अप्रत्याशित प्रसंग से मर्माहत हो उठा। उसने माता और पुत्र के सम्बन्ध का स्मरण कराते हुए माता को इस प्रकार की चेष्टा से विरत करने का प्रयत्न किया। कनकमाला ने अब उसे सारा वृत्तान्त सुना दिया कि वह भयानक अटवी में कैसे मिला था। प्रद्युम्न इस बात पर विश्वास न कर सका। किन्तु उसे सन्देह अवश्य हो गया। वह जिनालय पहुँचा, जहाँ मुनिराज सागरचन्द्र विराजमान थे। मुनिराज को नमस्कार करके उनसे अपने सम्बन्ध में पूछा। अवधिज्ञानी मुनिराज ने उसे उसके पूर्व भव बताकर उसके अपहरण, अटवी मे उसके मिलने आदि का सम्पूर्ण वृत्तान्त बताया तथा यह भी सूचित किया—'वत्स ! अभी तुझे कनकमाला से प्रज्ञप्ति विद्या का लाभ मिलने वाला है।'

प्रद्युम्न वहाँ से पुनः कनकमाला के आवास में पहुँचा। कनकमाला ने समझा कि इसने मेरी मूक प्रार्थना स्वीकार कर ली है। वह बड़ी प्रसन्न होकर बोली—'कामदेव ! मैं तुझे गौरी और प्रज्ञप्ति नामक दो विद्यायें देती हूँ, तू मेरी इच्छा पूरी कर।' प्रद्युम्न ने विनय से माता के चरणों में सिर झुकाया। कनकमाला ने विधिपूर्वक उसे दोनों विद्यायें प्रदान कीं। प्रद्युम्न ने सिर झुका कर निवेदन किया—'आपने बचपन में मुझे प्राण-दान दिया था और अब आपने विद्यायें देकर विद्या-दान दिया है। अतः आप मेरे लिये पूज्य हैं।' यों कहकर वह वहाँ से चला गया।

तभी वहाँ नारद आ गये। प्रद्युम्न ने उन्हें नमस्कार किया और बड़ा सम्मान किया। नारद ने उसे उसके वास्तविक माता-पिता का परिचय दिया। प्रद्युम्न अपने माता-पिता से मिलने के लिए आतुर हो गया। उसने काल-संवर आदि को नमस्कार करके वहाँ से जाने की आज्ञा मांगी। उन्होंने उसे सहर्ष आज्ञा दे दी। प्रद्युम्न ने बड़ी प्रसन्नतापूर्वक नारद के साथ विमान में द्वारका के लिये प्रस्थान किया। जब विमान हस्तिनापुर के ऊपर आया तो उसने देखा कि एक विशाल सेना जा रही है। उसने नारद से उसके बारे में पूछा। नारद ने सत्यभामा और उसकी माता रुक्मिणी में हुई शर्त की बात बताकर कहा—'रुक्मिणी के सेवकों ने तुम्हारे जन्म का समाचार श्रीकृष्ण को पहले दिया था और सत्यभामा के सेवक उसके पुत्र भानुकुमार के जन्म की बात बाद में बता पाये। अतः तुम अग्रज घोषित किये गये। किन्तु धूमकेतु असुर तुम्हारा अपहरण करके ले गया। हस्तिनापुर नरेश दुर्योधन ने प्रतिज्ञा की थी कि यदि मेरे पुत्री हुई और रुक्मिणी या सत्यभामा के पहले पुत्र होगा, उसे मैं अपनी पुत्री दूँगा। वह पुत्री तुम्हें मिलनी थी, किन्तु तुम्हारा अपहरण होने के कारण अब यह भानुकुमार को अर्पण करने सेना के साथ द्वारका जा रही है।'

प्रद्युम्न कुमार का माता-पिता से मिलन

प्रद्युम्न विमान को आकाश में स्थिर करके भूमि पर उतर गया और कौतुक मात्र में सेना को जीत कर दुर्योधन-पुत्री उदधिकुमारी का अपहरण करके विमान में ले गया। विमान द्वारका पहुँचा। वहाँ उसने अनेक कौतुक दिखाये। नारद ने सोलह वर्ष पूर्व प्रद्युम्न के आने पर जिन चिन्हों के प्रगट होने की सूचना दी थी, वे चिन्ह प्रगट हो गये। इससे रुक्मिणी को पुत्र-मिलन की आशा हो गई। तभी प्रद्युम्न विमान से उतरकर नाना प्रकार के कौतुक दिखाता हुआ वेष बदलकर माता रुक्मिणी के प्रासाद में पहुँचा। उसे देखते ही रुक्मिणी के स्तनों से दूध झरने लगा। उसे विश्वास हो गया कि हो न हो, मेरा पुत्र यही है। यह वेष बदलकर आया है। प्रद्युम्न के मन में भी माता से मिलने की ललक थी। वह अपने वास्तविक वेष में माता के समक्ष पहुँचा और उनके चरणों में नमस्कार किया। माता हर्ष से रोमांचित हो गई, नेत्र हर्षाश्रुओं से पूरित हो गये। सोलह वर्ष का वियोग-जन्य दुःख क्षण मात्र में सुख के रूप में परिवर्तित हो गया। मां ने अपने बिछुड़े हुए छौना को अंक में भर लिया। बिछुड़े हुए माता-पुत्र का यह मिलन कितना रोमांचक, कितना आल्हादक और कितना मार्मिक था, इसके साथी थे दोनों के नेत्रों से बहते हुए हर्ष के आँसू। रुक्मिणी माता अपने नन्हे मुन्ने को कभी अंक में कस लेती, कभी वह उसका चुम्बन लेती, कभी उसके सिर को सूंघती और कभी वात्सल्य से उसके सारे शरीर पर अपना हाथ फेरती। किन्तु उसे तृप्ति नहीं हो रही थी। उसके नेत्र हर्ष की वर्षा कर रहे थे, अधर कंपित थे, गला अवरुद्ध था। स्तनों से वात्सल्य बरस रहा था।

हर्ष में बेसुध माता और पुत्र न जाने कितनी देर इसी दशा में रहे। तब प्रद्युम्न ने माता से ऊपर विमान में चलने का आग्रह किया। माता ने स्वीकृति दे दी। प्रद्युम्न अपनी माता को लेकर विमान में पहुँचा। वहाँ रुक्मिणी नारद और उदधिकुमारी से मिली। तभी प्रद्युम्न के मन में कौतुक जागा। वह आकाश में स्थिर होकर बोला—'यादवगण सुनें। मैं आप लोगों की पटरानी रुक्मिणी का अपहरण करके ले जा रहा हूँ। जिसमें साहस हो, वह छुड़ा ले।' यों कहकर उसने शंख-नाद किया।

समस्त यादव इस चुनौती को सुनकर अपने अस्त्र-शस्त्रों को लेकर निकल पड़े। किन्तु प्रद्युम्न ने समस्त यादव-सेना को अपनी विद्या से मूच्छित कर दिया। यह देखकर नारायण कृष्ण युद्ध के लिये आये। पिता-पुत्र में बहुत समय तक नाना प्रकार का युद्ध हुआ। दोनों ही अप्रतिम वीर थे। बालक प्रद्युम्न के आगे श्रीकृष्ण का सारा अस्त्र-कौशल निष्फल हो गया। तब दोनों बाहु-युद्ध के लिए तैयार हुए। श्रीकृष्ण मन में विचार कर रहे थे—आज मेरी भुजाओं का बल कहाँ चला गया। एक बालक ने समस्त यादव-सेना को निश्चेष्ट कर दिया है। इसे देखकर मेरे मन में रोष के स्थान में वात्सल्य क्यों उमड़ रहा है ?

रुक्मिणी पति और पुत्र के इस अकारण युद्ध से चिन्तित थी। वह अनिष्ट की आशंका से बार-बार काँप उठती थी। उसने बड़े अनुनय के साथ नारद से इस गृह-युद्ध को रोकने की प्रार्थना की। तब नारद ने आकाश में स्थित होकर कहा—'नारायण! अपने मन में से ग्लानि दूर कर दो। तुम जिस बालक के साथ युद्ध कर रहे हो, वह तुम्हारा शत्रु नहीं पुत्र है। वह रुक्मिणी का अपहृत पुत्र प्रद्युम्न कुमार है जो सोलह वर्ष पश्चात् आपके दर्शनों के लिए आया है।'

नारद की यह घोषणा सुनते ही श्रीकृष्ण ने दौड़कर अपने चिरवियुक्त पुत्र को गाढ़ आलिंगन में भर लिया और प्रद्युम्न ने झुककर अपने पिता के चरण-स्पर्श किये। फिर उसने माया से निद्रित सेना को विद्या द्वारा जागृत कर दिया। पिता और पुत्र ने स्वजनों और परिजनों के साथ हर्ष के साथ नगर में प्रवेश किया।

से यह विद्या कौथुगि, अमरावर्त, सित, वामदेव, कपिष्टल, जगत्स्थामा, सरवर, शरासन, रावण और विद्रावण को मिली, विद्रावण ने यह विद्या अपने पुत्र द्रोण को दी। द्रोणाचार्य की स्त्री का नाम अश्विनी था और उनका पुत्र अश्वत्थामा था। द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र को धनुर्विद्या में पारंगत कर दिया।

द्रोणाचार्य कौरवों एवं पाण्डवों को समान रूप से शस्त्र-संचालन का प्रशिक्षण देते थे। किन्तु अपनी प्रतिभा, रुचि और विनय के द्वारा अर्जुन धनुर्विद्या में अप्रतिम रूप से पारंगत होगया। दुर्योधन और भीम गदा-युद्ध में निष्णात होगये। नकुल और सहदेव ने तलवार संचालन में दक्षता प्राप्त की। इसी प्रकार अन्य राजकुमार भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार विभिन्न शस्त्रास्त्र संचालन के विशेषज्ञ बन गये। किन्तु उस युग में धनुर्विद्या ही प्रभावक और निर्णायक मानी जाती थी। अतः अर्जुन की धनुर्विद्या में निष्णता देखकर दुर्योधन आदि कौरव पाण्डवों से ईर्ष्या करने लगे। उनकी ईर्ष्या के मूल में वस्तुतः उनके मन में समाया हुआ भय था।

पाण्डवों का अज्ञातवास—कुछ समय पश्चात् कौरव ईर्ष्यावश दोनों पक्षों में राज्य विभाजन के सम्बन्ध में हुई सन्धि में दोष निकालने लगे। उनका तर्क था कि सन्धि दवाव में आकर हमें करनी पड़ी थी किन्तु यह सन्धि नितान्त अनुचित है। एक ओर आधे राज्य का भोग केवल पांच पाण्डव कर रहे हैं, जबकि दूसरी ओर हम सौ भाइयों के लिए आधा राज्य मिला है यह अन्यायपूर्ण है। कौरवों की यह बात पाण्डवों के कानों में भी पहुँची। उससे भीम आदि चारों भाई एकदम क्षुब्ध होउठे किन्तु धीर गम्भीर युधिष्ठिर ने उनको शान्त कर दिया।

किन्तु कौरव अवसर की प्रतीक्षा में थे। वे पाण्डवों का कण्टक सदा के लिये निकालना चाहते थे। एक दिन दुर्योधन ने योजना वनाकर राजप्रासाद में सोते हुए पाण्डवों के घर में आग लगादी। सहसा उनकी नींद खुल गई और पांचों पाण्डव माता कुन्ती को लेकर गुप्त मार्ग द्वारा निकल गए। इस अन्यायपूण घटना से जनता में रोष छा गया। वह दुर्योधन के विरुद्ध हो गई। जनता के इस उमड़ते हुए विद्रोह को देखकर बुद्धिमान मंत्रियों ने जनता में प्रचारित कर दिया कि पाण्डवों के महल में आग स्वतः लगी है और पांचों पाण्डव एवं उनकी माता उसी में भस्म हो गये हैं। उन्होंने शीघ्रता से पाण्डवों की मरणोत्तर क्रिया भी सम्पन्न करादी जिससे जनता का विद्रोह शान्त हो जाय।

पाण्डव माता के साथ गंगा को पार कर पूर्व दिशा की ओर चल दिये। वे अपना काल स्वयं अंगीकृत अज्ञातवास में विताने लगे।

पाण्डवों के दाह का समाचार द्वारका में पहुँचा। राजा समुद्रविजय, उनके भाई और समस्त यादव अपनी वहन कुन्ती और भागिनेय पाण्डवों को जलाकर हत्या करने की इस अन्यायपूर्ण घटना को सुनकर दुर्योधन के प्रति अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे। इस अन्याय का प्रतिशोध लेने के लिए वे विशाल सेना लेकर हस्तिनापुर की ओर चल पड़े। उनके इस अभियान का समाचार चरों द्वारा जरासन्ध को भी ज्ञात हुआ। वह भी सेना लेकर चल दिया। वहाँ पहुँचकर वह यादवों से आदरपूर्वक मिला और उसने दोनों पक्षों में सम्मानपूर्ण सन्धि करादी।

पाण्डव कौशिक आदि नगरों में होते हुए ईहापुर पहुँचे। वहाँ प्रजा को अत्यन्त सन्त्रस्त और भयभीत देखकर पाण्डवों ने उसके कारण का पता लगाया। वे जिस गृहपति के आवास में ठहरे थे, उससे ज्ञात हुआ कि इस नगर में एक महा भयानक और क्रूर नरभक्षी भृङ्ग नामक राक्षस आता है, वह मनुष्यों की हत्या करता है और उन्हें खाता है। नगरवासियों ने इन हत्याओं से त्रस्त होकर प्रतिदिन एक घर से एक मनुष्य को भेजने की पारी बांध दी है। आज हमारे घर की पारी है। अतः हम लोग दुखी हैं। गृहपति की यह दुःखभरी गाथा सुनकर माता कुन्ती को वड़ी दया आई। उन्होंने गृहपति को आश्वासन देकर कहा—'आर्य ! आपको दुखी होने की आवश्यकता नहीं है। आपने हमारा आतिथ्य किया है। हमारा कर्त्तव्य है कि आपके कुछ काम आवें। मेरे ये पांच पुत्र हैं। आपके स्थान पर मेरा एक पुत्र आज जायगा। आप चिन्ता न करें।' गृहपति यह सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गया। वह हाथ जोड़कर वोला— माता ! मुझ जैसा अधम और कौन होगा जो अपने अतिथि को ही स्वेच्छा से मृत्यु के मुख में धकेल दे। मेरे पुण्य के वल से आप यहाँ पधारे और आपके दर्शन हुए। आपके ऊपर मेरे घर में निवास करने के समय कोई संकट आवे, इससे तो मृत्यु श्रेष्ठ है। मैं आपको यह कार्य नहीं करने दूंगा।' कुन्ती

ने उसकी आशंका को यह कहकर बड़ी कठिनता से दूर किया कि मेरा पुत्र महाबली है, उसके प्राणों को कोई संकट नहीं है। वह राक्षस को मार कर अभी लौट आवेगा और इस नगर के निवासियों का संकट सदा के लिये दूर कर आवेगा।' बड़ी कठिनाई से कुन्ती गृहपति को सहमत कर सकीं। तब उन्होंने भीम से कहा—'वत्स! हमें गृहपति ने आश्रय दिया और हमारा समुचित आतिथ्य किया है। हमें इनके उपकार के ऋण से मुक्त होने का सुयोग प्राप्त हुआ है। पुत्र! तुम जाओ और उस नराधम के संत्रास से इन्हें मुक्ति दिलाओ।' महाबली भीम माता का आदेश मिलते ही उन्हें और अपने अग्रज को नमस्कार करके चल दिया और निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचा, जहाँ वह नर राक्षस अधीरता पूर्वक अपने भोज्य की प्रतीक्षा कर रहा था। हृष्ट पुष्ट भीम को देखकर वह अट्टहास करता हुआ कहने लगा—'अहा! आज मेरी उदरदरी की तृप्ति होगी। स्थूल शरीर में मांस की अधिकता होती है। कई दिनों से पर्याप्त आहार न मिलने से मेरी क्षुधा शान्त नहीं हुई थी। तुझे देखकर वह और अधिक उद्दीप्त हो उठी है।' वह नर राक्षस अपने भोज्य को ललचाई आँखों से देख रहा था, उसकी जीभ बार-बार लपलपाने लगती थी।

भीम ने उसके निकट पहुँच कर वज्र निर्घोष स्वर में कहा—'अरे अधम! देखता क्या है। आज तेरा आहार काल बनकर आया है। यदि तुझमें शक्ति हो तो भक्षण कर।' राक्षस ने सुनकर पुनः अट्टहास किया और अपने तीक्ष्ण नाखूनों वाले पंजों को फैलाये हुए वह भीम की ओर लपका। भीम भी सावधान था। उसने राक्षस के जबड़ों पर कसकर मुष्टिका का प्रहार किया, ऐसा प्रतीत हुआ, मानों वज्रपात हुआ हो। वह दैत्याकार राक्षस एक ही प्रहार में रक्त वमन करने लगा। भीम ने उसे सावधान होने का अवसर दिये बिना लगातार वज्र तुल्य कई प्रहार किये और उनसे वह प्राणहीन होकर भूमि पर गिर पड़ा।

जब भीम राक्षस का वध करके लौटा तो नगरवासियों ने संकटमोचक इस देवपुरुष का हर्षपूर्वक जय घोष किया। भीम सबका आदर और अभ्यर्थना ग्रहण करता हुआ अपार जन-समूह के साथ अपने आवास को लौटा। उसने आकर माता और भ्राता के चरण स्पर्श किये। उसके मुख से सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर सभी बड़े हर्षित हुए।

द्रौपदी-स्वयंवर

पाण्डव लोग वेश बदलकर विचरण कर रहे थे। मार्ग में कौशिक नगर के नरेश वर्ण की पुत्री कुसुमकोमला ने युधिष्ठिर की प्रशंसा सुनकर हृदय में उन्हें ही पति मान लिया था। वसुन्धरपुर के राजा विन्ध्यसेन की पुत्री वसन्तसुन्दरी को युधिष्ठिर को अर्पित करने का संकल्प गुरुजनों ने कर रखा था। किन्तु पाण्डवों के अग्नि-दाह के समाचार सुनकर कन्या निराश होकर श्लेष्मान्तक वन में एक आश्रम में तापसी बनकर रहने लगी। त्रिशृङ्ग नगर के नरेश प्रचण्ड वाहन की दस पुत्रियाँ थीं—गुण प्रभा, सुप्रभा, ह्री, श्री, रति, पद्मा, इन्दीवरा, विश्वा, आचर्या और अशोका। इन्हें भी युधिष्ठिर को प्रदान करने का संकल्प किया गया था। अग्नि दाह का समाचार सुनकर ये राजकुमारियाँ श्राविका के व्रत लेकर विरक्त जीवन बिताने लगीं। इसी प्रकार इसी नगर के श्रेष्ठी प्रियमित्र की कन्या नयनसुन्दरी भी युधिष्ठिर के सम्बन्ध में अन्यथा समाचार सुनकर उक्त राजकुमारियों के समान अणुव्रत धारण करके रहने लगी।

चलते-चलते पाण्डव चम्पापुरी में पहुँचे। वहाँ कर्ण शासन करता था। वहाँ एक मदोन्मत्त राजहस्ती नगर में बड़ा उपद्रव मचा रहा था। भीम ने उसे मुष्टिका प्रहारों द्वारा वश में कर लिया। भीम की इस वीरता से कर्ण क्षुब्ध हो उठा। तब पाण्डव विदिशा पहुँचे। एक दिन ब्राह्मण वेशधारी भीम भिक्षा के लिए राजमहलों में पहुँचा। राजा वृषध्वज ने भीम को देखते ही अनुमान लगाया कि छद्म वेश में यह कोई महापुरुष है। वह अपनी कन्या दिशानन्दा को लेकर भीम के आगे खड़ा हो गया और बड़ी विनयपूर्वक बोला—'महाभाग! यह कन्या ही आपके लिये उपयुक्त भिक्षा है, इसलिए आप इसे स्वीकार कीजिए और पाणिग्रहण के लिए हाथ बढ़ाइये।' भीम बोला—'राजन्! यह भिक्षा तो अपूर्व है। किन्तु ऐसी भिक्षा ग्रहण करने के लिए मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। यों कहकर भीम वहाँ से वापिस लौट आया। किन्तु कन्या ने मन में उसे ही अपने पति के रूप में स्वीकार कर लिया।

तदनन्तर पाण्डव नर्मदा नदी को पाकर विन्ध्याचल में पहुँचे। वहाँ संध्याकार नगर में हिडम्बवंशी राजा सिंहघोष राज्य करता था। उसकी सुदर्शना रानी और हृदयसुन्दरी नामक पुत्री थी। राजकुमारी के सम्बन्ध में

निमित्तज्ञानियों ने यह बताया था कि जो व्यक्ति विन्ध्याचल पर्वत पर गदा विद्या को सिद्ध करने वाले विद्याधर को मारेगा, वह हृदयसुन्दरी का पति होगा। एक दिन भीम भ्रमण करते हुए विन्ध्याचल पर्वत पर पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि एक व्यक्ति वृक्ष की कोटर में बैठकर गदा को सिद्ध कर रहा है। देखते ही भीम ने गदा उठाली और उस गदा के एक प्रहार से वृक्ष को धराशायी कर दिया। वृक्ष के साथ विद्याधर की भी मृत्यु हो गई। राजा ने बड़े सम्मानपूर्वक हृदयसुन्दरी का विवाह भीम के साथ कर दिया।

वहाँ कुछ दिन रह कर पाण्डव लोग विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते हुए हस्तिनापुर की ओर चल दिये। वे चलते-चलते माकन्दी नगरी में पहुँचे। वहाँ का राजा द्रुपद था और भोगवती नामक रानी थी। इनके धृष्टद्युम्न आदि पुत्र और द्रौपदी नामक पुत्री थी। द्रौपदी अत्यन्त सुन्दरी थी, रूप की खान थी और सौन्दर्य में रति को भी लज्जित करती थी। अनेक राजाओं और राजकुमारों ने उसकी याचना की। अन्ततः राजा द्रुपद ने स्वयंवर का आयोजन किया और यह शर्त रक्खी कि जो घूमते हुए चन्द्रक यन्त्र का वेध कर देगा, वही राजकुमारी के हाथों वरमाला धारण करने का अधिकारी होगा।

इसी अवसर पर सुरेन्द्रवर्धन नामक विद्याधर राजा वहाँ आया। उसने राजा द्रुपद की आज्ञा से यह शर्त रख ली कि जो गाण्डीव धनुप पर प्रत्यंचा चढ़ा देगा, और उससे चन्द्रक-वेध करेगा, वही राजकुमारी को पा सकेगा।

स्वयंवर का निमन्त्रण पाकर दुर्योधन आदि अनेक राजा और राजकुमार वहाँ एकत्रित हुए। पाण्डव भी कुतूहलवश वहाँ पहुँच गये। सब राजाओं ने गाण्डीव धनुप पर प्रत्यंचा चढ़ाने का प्रयत्न किया, किन्तु उस दिव्य धनुष को उठाकर कोई झुका भी नहीं सका। जब सब परास्त हो गये, तब अर्जुन उठा, बड़े भ्राताओं के चरणस्पर्श किये, जाकर गाण्डीव धनुष उठाया और लीला मात्र में उसकी प्रत्यंचा चढ़ा दी। दुर्योधन कर्ण आदि राजा अर्जुन के हस्तलाघव को देखकर मन में विचार करने लगे—अर्जुन तो अग्नि में भस्म हो गया, दूसरा अर्जुन कौन उत्पन्न हो गया?

नरेशगण मन में नाना भांति की कल्पना करने में लगे हुए थे, तभी अर्जुन ने निरन्तर घूमते हुए चन्द्रक यन्त्र में स्थित नेत्र की ओर अपने वाण का लक्ष्य साधा और निमिष मात्र में लक्ष्य वेध कर दिया। तभी लज्जा से अवनतमुखी द्रौपदी दोनों हाथों में वरमाला लिये हुए आगे बढ़ी और अर्जुन के गले में डाल दी। उस समय वायु वेग से चल रही थी, चारों भाई अर्जुन के पास खड़े हुए थे। गले में वरमाला डालते समय वह टूट गई और वायु के वेग से उड़कर अर्जुन के साथ अन्य चारों भाइयों के ऊपर जा गिरी। किसी रसिक व्यक्ति ने विनोद में कह दिया कि राजकुमारी ने पाँच कुमारों का वरण किया है। एक क्षणिक विनोद स्थाई किम्वदन्ती वन गया।

पाण्डव बंधु वर-वधू को लेकर माता कुन्ती के पास ले चले। किन्तु कुछ मात्सर्यदग्ध नरेश एक अज्ञात कुलशील युवक को वरमाला धारण करते हुए देखकर उत्तेजित हो उठे और वे युद्ध के लिए तैयार हो गये। इधर अर्जुन, भीम और धृष्टद्युम्न ने भी अपने धनुप संभाल लिये। उन्होंने अपने वाणों से युद्धलिप्सु नरेशों को रोक दिया। तब अर्जुन ने धृष्टद्युम्न के रथ पर आरूढ़ होकर अपना नामाङ्कित वाण गुरु द्रोणाचार्य के चरणों में फेंका। द्रोण, अश्वत्थामा, भीष्म, विदुर आदि ने अर्जुन का नाम पढ़ कर पांचों पाण्डवों को पहचान लिया। सभी पाण्डवों को जीवित देखकर बड़ प्रसन्न हुए। सारा वातावरण ही वदल गया, हर्पनाद होने लगा, शंखवादित्रों का तुमुल घोप होने लगा। नीतिविचक्षण दुर्योधन और उसके भाइयों ने वन्धु-समागम पर हर्प व्यक्त किया और पाण्डवों का अभिनन्दन किया। अर्जुन और द्रौपदी का विवाह सानन्द सम्पन्न हुआ। दुर्योधन पाँचों पाण्डवों के प्रति प्रेम प्रगट करता हुआ माता सहित उन्हें हस्तिनापुर ले गया और वहाँ कौरव और पाण्डव पूर्व के समान आधे-आधे राज्य का भोग करने लगे।

अज्ञातवास के समय युधिष्ठिर और भीम ने जिन कुल कन्याओं को स्वीकार करने का आश्वासन दिया था, उन्हें बुलाकर उनके साथ विवाह कर लिया। सब लोग आनन्दपूर्वक रहने लगे।

कौरवों और पाण्डवों का समय सुखपूर्वक व्यतीत हो रहा था। किन्तु कुटिल दुर्योधन पाण्डवों के वैभव और उत्कर्प को देखकर ईर्ष्या से दग्ध रहता था, किन्तु प्रकट में वह प्रेम प्रदर्शित करता था। एक वार दुर्योधन

पांडवों का पुनः अज्ञातवास

ने अपने भाइयों के साथ मन्त्रणा की कि पाण्डवों को किस प्रकार राज्यच्युत करके उनके राज्य पर अधिकार किया जाय। इस मन्त्रणा में शकुनि भी सम्मिलित था। वह दुर्योधन का मामा था और अमात्य भी था। वह अत्यन्त धूर्त और कुटिल व्यक्ति था। द्यूत विद्या में वह पारंगत था। उसने परामर्श दिया—युधिष्ठिर धर्मनिष्ठ व्यक्ति हैं, किन्तु उन्हें द्यूत क्रीड़ा की वहुत रुचि है। उन्हें प्रेरित करके द्यूत क्रीड़ा के लिए तैयार करो। शर्त यह रहे कि पराजित पक्ष को वारह वर्ष अज्ञातवास में रहना होगा। यदि उनका परिचय प्रगट हो जाय तो पुनः वारह वर्ष का अज्ञातवास होगा। आप लोग चिन्ता न करें, मेरे कुटिल दाव को युधिष्ठिर समझ भी न पावेंगे और उन्हें पराजित होना पड़ेगा। युधिष्ठिर प्रतिज्ञा निभायेंगे और उनके भाई उनकी आज्ञा का अतिक्रमण नहीं कर सकेंगे। इस प्रकार आप लोग निष्कण्टक राज्य भोगना।

धूर्त शकुनि का परामर्श सवको रुचिकर लगा। तदनुसार एक दिन दुर्योधन ने युधिष्ठिर से कहा—धर्मराज ! मेरी इच्छा है कि हम दोनों शर्त रखकर द्यूत क्रीडा करें। इससे मनोरंजन भी होगा और भाग्य-निर्णय भी होगा। इस क्रीड़ा में जो पराजित होगा, उस पक्ष को वारह वर्ष पर्यन्त अज्ञातवास करना होगा। समय से पूर्व प्रगट होने पर पुनः वारह वर्ष तक इसी प्रकार अज्ञातवास धारण करना होगा। क्या आप यह चुनौती स्वीकार करने के लिये तैयार हैं ?

युधिष्ठिर क्षत्रिय थे। कोई उन्हें चुनौती दे और वे स्वीकार न करें, ऐसा क्या संभव था ? उन्होंने दुर्योधन की वात स्वीकार कर ली। चौसर विछ गई। दोनों पक्ष आ जुटे। युधिष्ठिर और दुर्योधन द्यूत क्रीड़ा में उस युग के प्रख्यात विशेषज्ञ माने जाते थे। शकुनि इस विद्या का मर्मज्ञ था। पासे उसके इच्छानुवर्ती थे। वह इस विद्या के गूढ़ रहस्यों, कुटिल दावों और वंचना-प्रवंचनाओं में कुशल था। ऐसे महारथियों की प्रतिद्वन्द्विता का समाचार चारों ओर फैल गया। कुतूहलवश दर्शक वहुसंख्या में आ जुटे।

पासे फेंके जाने लगे। दाव जीतने पर दर्शक ही नहीं, क्रीड़कों, परामर्शकों, पक्षधरों के मुख से भी हर्षनाद निकल पड़ता था। वाजी जमी, खूब जमी। पहले युधिष्ठिर की निरन्तर विजय होती रही। युधिष्ठिर इससे उत्साहित होकर लम्बे दांव लगाने लगे। कुटिल शकुनि की यह भी एक चाल थी, वह दाना डालकर चिड़िया को फंसाना चाहता था।

कुछ समय वाद वाजी वदली। पासे युधिष्ठिर को धोका देने लगे, वे ही दुर्योधन की इच्छानुकूल पड़ने लगे। कहाँ प्रवंचना है, इसे पाण्डव नहीं समझ पाये। कौरव प्रसन्न थे। शकुनि युधिष्ठिर को बड़ा दाव लगाने को वार-वार प्रोत्साहित करता। गया हुआ वापिस प्राप्त करने की संभावना से युधिष्ठिर मूढ़ों के समान अधिक-अधिक लगाते गये और हारते गये। अन्त में सव कुछ दाव पर लगा दिया और सव कुछ चला गया। अव पाण्डवों को वहाँ से चले जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं वचा था। नीतिज्ञ वृद्ध जन कह रहे थे—पाण्डवों के साथ धोका हुआ है, अन्याय हुआ है। चारों भाई भी क्षुब्ध थे, वे अन्याय का प्रतीकार करने को तत्पर थे। किन्तु युधिष्ठिर ने उन्हें शान्त कर दिया। प्रतिज्ञा के अनुसार वे चारों भाइयों को लेकर चल दिये। उनके साथ केवल द्रौपदी ही गई।

पाण्डव चलते-चलते कालांजला अटवी में पहुँचे। उस वन में असुरोद्गीत नगर का प्रकीर्णकासुरी का पुत्र सुतार नामक विद्याधर किरात का वेष धारण करके अपनी हृदयवल्लभा कुसुमावली के साथ क्रीड़ा कर रहा था। अर्जुन भ्रमण करते हुए उधर ही जा निकला। किरात अर्जुन के आगमन से वड़ा क्रोधित होकर धनुष-वाण लेकर मारने दौड़ा। अर्जुन ने भी अपना गाण्डीव सम्हाल लिया। दोनों में भयंकर युद्ध होने लगा। फिर वाहु युद्ध हुआ। अर्जुन ने किरात की छाती पर कस कर मुष्टिका-प्रहार किया। इससे वह अस्त-व्यस्त हो गया। पति की दुर्दशा देखकर विद्याधरी दीनतापूर्वक अर्जुन से पति के प्राणों की भिक्षा मांगने लगी। अर्जुन ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करके किरात को छोड़ दिया।

तदनन्तर विभिन्न स्थानों में भ्रमण करते हुए पाण्डव रामगिरि पहुँचे। यह वही पवित्र क्षेत्र था—जहाँ राम, लक्ष्मण और सीता के साथ ठहरे थे और जहाँ उन्होंने सैंकड़ों जिनालय वनवाये थे। पाण्डव लोग उन्हीं

जिनालयों में दर्शन-पूजन करते थे। वह स्थान उन्हें इतना रुचिकर लगा कि वे वहाँ ११ वर्ष तक ठहरे।

पाण्डव विराट नगर में—वहाँ से वे चलकर विराटनगर पहुँचे। वहाँ विराट नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम सुदर्शना था। पांडवों और द्रौपदी ने वेष बदल कर विराट के यहाँ नौकरी करली। द्रौपदी को सैरन्ध्री का काम मिला। वह रानी के शरीर में तेल मर्दन और शृंगार का कार्य करती थी। उन्हीं दिनों रानी सुदर्शना का सहोदर कीचक अपनी बहन से मिलने आया। कीचक बड़ा बलवान, दुष्ट और क्रूरकर्मा था।

एक दिन उसने द्रौपदी को देख लिया। देखते ही वह उसके सौन्दर्य पर मोहित हो गया। वह नाना उपायों से द्रौपदी को आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु द्रौपदी ने उसकी ओर एक बार देखा तक नहीं। जब उसकी चेष्टायें सीमा का अतिक्रमण करने लगी, तब एक दिन अवसर पाकर द्रौपदी ने भीमसैन से उसकी शिकायत कर दी। सुनते ही भीमसैन क्रोध से उबल पड़ा। उसने द्रौपदी को उपाय बता दिया, जिसके अनुसार द्रौपदी ने कीचक को सायंकाल के समय एकान्त स्थान में मिलने का संकेत कर दिया। यथासमय कीचक उस स्थान पर पहुँचा। द्रौपदी का वेष धारण करके भीमसैन भी उस अन्धकारपूर्ण मिलन-स्थान पर जा पहुँचा। काम विह्वल कीचक ज्यों ही आलिंगन के लिए आगे बढ़ा, भीमसैन ने कीचक के गले में दोनों भुजायें डाल कर ऐसा आलिंगन किया कि कीचक भूमि पर जा गिरा। भीम ने उसकी छाती पर चढ़कर कस कर मुष्टिका प्रहार किये, जिससे उसका अंग-अंग चूर-चूर हो गया। इस प्रकार उसकी परस्त्री विषयक आकांक्षा को पूर्णकर दयालु भीमसैन ने 'जा पापी तुझे आज छोड़े देता हूं' यह कहकर छोड़ दिया। भयंकर रूप से दण्डित और अपमानित होने से कीचक को वैराग्य हो गया। उसने मुनि-दीक्षा लेली। मुनि बनकर कीचक घोर तप करने लगे और निरन्तर आत्मा की निर्मलता बढ़ाते रहे। आयु के अन्त में समस्त कर्मों का नाश करके वे जन्म-मरण से मुक्त हो गये।

जब कीचक के सौ भाइयों को कीचक की दुर्दशा और अपमान का समाचार ज्ञात हुआ तो वे लोग वहाँ आये और सैरन्ध्री को ही इसका कारण समझ कर उसे एक जलती हुई चिता में डालने का उपक्रम करने लगे। भीम ने वहाँ पहुँचकर उन सबको यमधाम पहुँचा दिया।

दुर्योधन निश्चिन्त नहीं बैठा था। उसे अपने विश्वस्त चरों द्वारा समाचार प्राप्त हुआ कि एक ही व्यक्ति ने कीचक के महाबलवान सौ भाइयों का वध कर दिया है। इस समाचार से उसे सन्देह हो गया कि हो न हो, यह कार्य भीम ने किया है। फिर भी उसने अपने सन्देह की निवृत्ति के लिए एक उपाय किया। उसने एक सेना विराट नगर की ओर भेजी। सेना ने विराट नगर के बाहर राजा विराट की चरती हुई गायों को घेर लिया और उन्हें हाँक कर ले जाने लगी। रोते चिल्लाते ग्वालों ने आकर यह समाचार राजा को दिया। विराट ने तत्काल अपनी सेना भेज दी। यह समाचार अर्जुन के कानों में भी पड़ा। वह विराट की पुत्री उत्तरा को नृत्य विद्या सिखाने के कार्य में नियुक्त था। उसने महाराज से एक रथ और उपयुक्त शस्त्रास्त्र देने की प्रार्थना की। राजा ने वैसा ही किया। अर्जुन रथ में आरूढ़ होकर युद्ध स्थल की ओर रवाना हुआ। मार्ग में उसने एक शमी वृक्ष पर छिपाये हुए अपने गाण्डीव धनुष और शस्त्रास्त्रों को उतारा और जाकर कौरव सेना पर भयंकर वेग से आक्रमण कर दिया। नकुल और सहदेव दोनों भ्राता तलवार में पटु थे। वे भी अपने शस्त्रों से सज्जित होकर मोर्चे पर पहुँचे। उन तीनों भाइयों के हस्तलाघव और वीरता के आगे कौरव सेना युद्ध क्षेत्र और गायों को छोड़कर प्राण बचाकर भागी।

अब दुर्योधन को सन्देह का कोई कारण शेष नहीं रहा। उसे विश्वास हो गया कि पाण्डव विराट नगर में छद्म वेष में अज्ञातवास का काल यापन कर रहे हैं। किन्तु अज्ञातवास का काल समाप्त हो गया था। अतः पाण्डव पुनः हस्तिनापुर को लौट गये और वहाँ राज्य-शासन करने लगे।

किन्तु कौरव शान्त रहने वाले नहीं थे। उन्होंने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि पाण्डव अज्ञातवास के निश्चित समय से पूर्व आ गये हैं। अतः उन्हें बारह वर्ष का अज्ञातवास पुनः स्वीकार करना चाहिए। सन्धि की यह शर्त बहुत स्पष्ट है। कौरवों की ये अनर्गल बातें सुनकर भीम आदि चारों भाई उत्तेजित हो जाते, किन्तु

युधिष्ठिर नहीं चाहते थे कि भाइयों में परस्पर कटुता उत्पन्न हो। अतः उन्होंने राज्य का परित्याग करके अपने भाइयों के साथ बाहर जाना ही उचित समझा। अतः वे दक्षिण की ओर चले गये। वे यात्रा करते-करते विन्ध्यवन में पहुँचे। वहाँ एक आश्रम में तपस्या करते हुए महामना विदुर मिले। पाण्डवों ने उन्हें सम्मानपूर्वक नमस्कार किया। वहाँ से चलकर वे लोग द्वारिका पुरी में पहुँचे। उनके आगमन का समाचार सुनते ही समस्त यादव अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। महाराज समुद्र विजय आदि दसों भाई, नेमिनाथ, बलभद्र-कृष्ण आदि समस्त यादवप्रमुख पाण्डवों के आगमन पर अत्यन्त हर्षित हुए। यादव और पाण्डव परस्पर प्रेमपूर्वक मिले। स्वागत सम्मान के बाद श्रीकृष्ण ने उन्हें सम्पूर्ण भोगोपभोग सामग्री से युक्त प्रासादों में पृथक्-पृथक् ठहरा दिया। वहां रहते हुए उनका विवाह पांच यादव राजकुमारियों के साथ हो गया—युधिष्ठिर का लक्ष्मीमती के साथ, भीम का शेषवती के साथ, अर्जुन का सुभद्रा के साथ, नकुल का रति के साथ और सहदेव का विजया के साथ।

पाण्डव द्वारिका में

एक बार कुछ व्यापारी राजगृह पहुँचे। वे सम्राट् जरासन्ध की राज्य सभा में पहुँचे और उन्हें अनर्घ्य रत्न अर्पित किये। जरासन्ध ने उन रत्नों को बड़े विस्मय से देखा और पूछने लगा—ये बहुमूल्य रत्न तुम्हें कहाँ प्राप्त हुए? व्यापारियों ने उत्तर दिया—राजन्! हम लोग सिंहल, स्वर्णद्वीप आदि देशों में व्यापार के निमित्त भ्रमण करते हुए द्वारिकापुरी पहुँचे। उस नगरी की समृद्धि और सम्पन्नता को देखकर हम विस्मित रह गये। वहाँ महा पराक्रमी श्रीकृष्ण राज्य करते हैं। जब महाराज समुद्रविजय और महारानी शिवादेवी के तीर्थंकर नेमिनाथ का जन्म हुआ, उससे पन्द्रह मास पूर्व से उस नगरी में देवों ने रत्न वर्षा की। उन्हीं रत्नों में से कुछ रत्न हम लोग आपकी सेवा में लेकर आये हैं। व्यापारियों की यह बात सुनकर और यादवों की सुख-समृद्धि की बात जानकर जरासन्ध अत्यन्त कुपित होकर बोला—मैं तो समझता था कि यादव मेरे भय से पलायन करते हुए जलती हुई चिताओं में जल मरे हैं। मुझे अब तक ज्ञात ही नहीं हुआ कि मेरे शत्रु, मेरे दामाद और पुत्रों-बांधवों को मारने वाले अधम यादव अब तक जीवित हैं और सम्पन्नता का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। क्या अपने चरों की इसी योग्यता के बल पर गिरिव्रज का शासन अपने सम्राट् का शासनादेश स्थिर रख सकेगा। अब तक मेरे अमात्य ही मुझे और स्वयं को धोका देते रहे हैं। जब तक मुझे ज्ञात नहीं था, तब तक मेरे शत्रु जीवित रहे। अब ज्ञात हो गया है तो वे मेरे विमुख रहकर एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकेंगे। अभी मेरे सभी मित्र नरेशों के पास सेना सहित उपस्थित होने की सूचना भेज दी जाय। अभी यादवों के विरुद्ध अभियान करके उन्हें शीघ्र समूल विनष्ट करना है।

यादव कुल के प्रति जरासन्ध का कोप

मंत्रियों ने अपने सम्राट् को नेमिनाथ-बलभद्र और श्रीकृष्ण के अजेय बल-विक्रम की बात बताकर निवेदन किया—देव! यादवों की शक्ति इस समय अजेय है। उनसे सामनीति के अनुसार शान्ति-सन्धि करना अधिक विवेकपूर्ण रहेगा।

जरासन्ध ने मंत्रियों के इस परामर्श की उपेक्षा करके अपने मित्र नरेशों के पास सहायता के उद्देश्य से राजदूत भेज दिये तथा एक चतुर दूत द्वारिकापुरी के लिए भी भेज दिया। जरासन्ध का वह राजदूत अजितसेन द्वारिका पुरी पहुँचा और यादवों की राज्य सभा में पहुँचा। यादवों ने उसका समुचित आतिथ्य करके उपयुक्त स्थान दिया। राजदूत ने अपने प्रमाण-पत्र प्रस्तुत करके अपने आने का उद्देश्य बताते हुए कहा—राजन्यवर्ग! समस्त यादवगण सुनें। परम भट्टारक चक्रवर्ती सम्राट् जरासन्ध के मन में यादवों के प्रति कोई दुर्भावना नहीं है। उनके भय से आप लोग अपनी जन्म-भूमि त्याग कर समुद्र के बीच में आकर बस गये हैं। चक्रवर्ती आपको आश्वासन देते हैं कि यदि आप चाहें तो पुनः अपनी जन्म-भूमि में लौट जायें, उन्हें इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि आप लोग यहीं निवास करना चाहें तो भी चक्रवर्ती की आपके ऊपर कृपा-दृष्टि रहेगी। सम्राट् आप लोगों के हित में और शान्ति एवं सौहार्द के महान प्रयोजनवश केवल यह चाहते हैं कि आप लोग उन्हें नमस्कार करके अपना सम्राट् स्वीकार कर लें और उनकी छत्रछाया में निर्बाध राज्य-सुख का भोग करें। यदि सम्राट् की आज्ञा का पालन नहीं हुआ तो यादव कुल का विनाश अनिवार्य है।

माता कुन्ती और कर्ण की भेंट

अन्त तक का सुनाया कि किस प्रकार लोक-लाज के कारण उसने अपने पुत्र को कम्बल में लपेट कर छोड़ दिया था। फिर बोली—पुत्र! मैं तेरी अपराधिनी हूं, किन्तु तू है तो पाण्डु-कुल का ही एक रत्न और युधिष्ठिर आदि पांडवों का अग्रज। वत्स! चल वहाँ, जहाँ तेरे बन्धु-बान्धव हैं और कुरु-वंश का स्वामी तू ही है। तू कृष्ण और बलदेव के लिए प्राणों से भी प्रिय है। चलकर तू अपना राज्य संभाल। युधिष्ठिर तेरे ऊपर छत्र लगायेगा, भीम चंवर ढोरेगा, धनंजय तेरा मन्त्री बनेगा, नकुल और सहदेव तेरे द्वारपाल होंगे। फिर तुम सबकी हितकामना करने वाली तुम्हारी माता तुम्हारे साथ है।'

कर्ण माता के स्नेह रसपूरित वचन सुनकर द्रवित हो उठा, किन्तु जरासन्ध ने उसके प्रति जो उपकार किये थे, उन्हें भूलकर वह कृतघ्न नहीं बनना चाहता था। अतः वह बोला—'संसार में माता, बन्धु-बांधव दुर्लभ हैं, यह मैं जानता हूँ, किन्तु युद्ध उपस्थित होने पर स्वामी का कार्य छोड़कर बन्धु-बान्धवों का कार्य करना अनुचित होगा। मैं वचन देता हूँ कि मैं अपने भाइयों के साथ युद्ध न करके अन्य योद्धाओं के साथ युद्ध करूंगा। यदि युद्ध के पश्चात् हम लोग जीवित रहे तो बन्धुओं के साथ समागम अवश्य होगा।' इतना कहकर उसने माता कुन्ती के चरणों का स्पर्श किया।

व्यूह-रचना—जरासन्ध के पक्ष ने चक्र-व्यूह की रचना की। इस चक्रव्यूह में सेना की चक्राकार रचना की गई। इस चक्र के एक हजार आरे थे। उसकी रक्षा के लिए एक-एक आरे पर एक-एक राजा अपनी सेना के साथ उपस्थित था। चक्र के मध्य भाग में जरासन्ध स्थित था। उसकी रक्षा के लिये कर्ण, दुर्योधन आदि सौ भाई, गान्धार, सिन्ध और मध्य देश के राजा सन्नद्ध खड़े थे। जरासन्ध ने राजा हिरण्यनाभ को आज का सेनापति नियुक्त किया।

दूसरी ओर वसुदेव ने चक्रव्यूह के उत्तर में गरुड़ व्यूह की रचना की। इस व्यूह के मुख पर यादव कुमार नियुक्त किये गये। अतिरथ, बलदेव और श्रीकृष्ण उसके मस्तक पर स्थित हुए। वसुदेव के पुत्र अक्रूर, कुमुद, वीर, सारण, विजय, जय, पद्म, जरत्कुमार, सुमुख, दुर्मुख, दृढ़मुष्टि, विदूरथ और अनावृष्टि बलदेव और श्रीकृष्ण के रथ की रक्षा करने के लिए पृष्ठरक्षक नियुक्त किये गये। राजा भोज गरुड़ के पृष्ठ भाग पर स्थित हुआ और धारण, सागर आदि अनेक वीर भोज के पृष्ठरक्षक बनाये गये। महाराज समुद्रविजय गरुड़ के दांये पंख पर स्थित हुए। बलदेव-पुत्र और पाण्डव गरुड़ के बाँये पंख पर स्थित हुए। उनके पृष्ठ भाग पर सिंहल, बर्बर, कम्बोज, केरल, कोसल और द्रमिल देश के राजा नियत किये गये।

तभी अनेक विद्याधर नरेश अपनी-अपनी सेनायें लेकर वसुदेव के पक्ष में आ मिले। उनसे यह भी समाचार मिला कि विद्याधरों की एक विशाल सेना जरासन्ध की सहायता करने के लिए आने वाली है। तब मन्त्रणा करके यादव प्रमुखों ने उन्हीं विद्याधर नरेशों के साथ प्रद्युम्न, शम्ब आदि पुत्रों सहित वसुदेव को विजयार्ध पर्वत की ओर इस शत्रु विद्याधर सेना का प्रतिरोध करने के लिए भेज दिया।

सभी वीर युद्ध के लिए सन्नद्ध थे। वीरों की भुजायें अपना कौशल प्रस्तुत करने के लिए फड़क रही थी। महाबली बलदेव कुबेर द्वारा समर्पित दिव्य अस्त्रों से परिपूर्ण सिंह रथ पर आरूढ़ हुए। महामना श्रीकृष्ण गरुड़ांकित पताका से सुशोभित दिव्य अस्त्र-शस्त्रों से परिपूर्ण गरुड़ रथ में विराजमान हुए। भगवान नेमिनाथ इन्द्र द्वारा प्रेषित और मातलि सारथी से युक्त रथ में जा विराजे। उनकी दिव्य काँति से सम्पूर्ण युद्ध-भूमि प्रभासित थी। तब यादव प्रमुखों ने परामर्ष करके वसुदेव के महावीर पुत्र अनावृष्टि को सेनापति बनाकर उसके ललाट पर कुंकुम का तिलक लगाया।

युद्ध का भेरी-घोष—दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ करने की सूचना देने वाले शंख और भेरियों का तुमुल घोष होने लगा। भेरी-घोष सुनते ही दोनों सेनायें परस्पर जूझ पड़ीं। गज सेना गज सेना के साथ, अश्व सेना अश्व सेना के साथ, रथारोही रथारोहियों के साथ और पदाति पदातियों के साथ भिड़ गये। वीरों की हुंकारों और ललकारों, धनुष की टंकारों, हाथी और घोड़ों की चीत्कारों से दसों दिशायें फटने-सी लगीं।

जरासन्ध की सेना ने यादव सेना को दबाना प्रारम्भ कर दिया। यह देख कर नेमिनाथ, अर्जुन और अनावृष्टि श्रीकृष्ण के सकेत पर आगे बढ़े। भगवान नेमिनाथ ने इन्द्र द्वारा प्रदत्त ऐन्द्र, अर्जुन ने देवदत्त और सेनापति अनावृष्टि ने बलाहक शंख फूंका। शंख-ध्वनि सुनते ही यादव-सेना में उत्साह भर गया। अनावृष्टि ने चक्रव्यूह का मध्य भाग, नेमिनाथ ने दक्षिण भाग और अर्जुन ने पश्चिमोत्तर भाग क्षणमात्र में भेद दिया। तब प्रतिपक्ष का सेनापति हिरण्यनाभ अनावृष्टि के साथ, रुक्मी नेमिनाथ के साथ और दुर्योधन अर्जुन के साथ भिड़ गये। भगवान नेमिनाथ ने भयंकर बाणवर्षा से रुक्मी को रथ के नीचे गिरा दिया और असंख्य वीरों को तितर-बितर कर दिया। उपयुक्त अवसर पाकर पाँचों पाण्डवों ने कौरवों के साथ भयंकर युद्ध किया। युधिष्ठिर शल्य के साथ, भीम दुःशासन के साथ, सहदेव शकुनि के साथ और नकुल उलूक के साथ युद्ध करने लगे। पाण्डवों ने दुर्योधन के अनेक भाइयों को मार डाला, जो जीवित रह गये, उन्हें मृतक के समान कर दिया।

उधर दोनों पक्षों के सेनापतियों का लोमहर्षक द्वन्द्व युद्ध हो रहा था। हिरण्यनाभ ने अनावृष्टि को बाण वर्षा द्वारा सत्ताईस बार आहत किया। उत्तर में अनावृष्टि ने अपने भयंकर बाणों द्वारा सौ व्रण दिये। हिरण्यनाभ ने अनावृष्टि की ध्वजा भंग कर दी और अनावृष्टि ने उसके धनुष, छत्र और सारथि को भेद दिया। हिरण्यनाभ ने दूसरा धनुष, संभाल लिया तो अनावृष्टि ने उसका रथ तोड़ दिया। तब हिरण्यनाभ तलवार हाथ में लेकर कूद पड़ा। अनावृष्टि ने भी तलवार और ढाल लेकर उसका सामना किया। दोनों वीरों में भयानक युद्ध हुआ। अन्त में अनावृष्टि ने हिरण्यनाभ पर घातक प्रहार किया। उससे उसकी दोनों भुजायें कटकर अलग जा पड़ीं, छाती फट गई और निष्प्राण होकर भूमि पर गिर पड़ा। सेनापति के गिरते ही शत्रु-सेना प्राण लेकर भागने लगी। यादव-सेना में हर्ष-नाद होने लगा। बलदेव और श्रीकृष्ण ने चक्रव्यूह का भेदन करने वाले भगवान नेमिनाथ, अर्जुन और सेनापति अनावृष्टि का प्रेमपूर्ण आलिंगन किया। प्रथम दिन के युद्ध में यादवों की विजय हुई और शत्रु सेना में शोक छा गया।

श्रीकृष्ण द्वारा जरासन्ध का वध—दूसरे दिन सूर्योदय होते ही मैदान में दोनों सेनायें आ डटीं। व्यूह-रचना पूर्ववत् की गई। तब रथ में आरूढ़ जरासन्ध अपने मंत्री हंसक से बोला—हंसक! मुझे यादव पक्ष के महावीरों के नाम, चिन्ह और परिचय बता, जिससे मैं उन्हीं का वध करूं, अन्य साधारण जनों के वध से क्या लाभ है।

तब हंसक अपने स्वामी को शत्रु पक्ष के सेनानियों का परिचय देते हुए कहने लगा—'देव! स्वर्ण शृंखलाओं से युक्त श्वेत अश्वों और गरुड़ ध्वजा वाला श्रीकृष्ण का रथ है। स्वर्ण साँकलों वाला, हरे अश्वों वाला और वृषभ ध्वजा वाला अरिष्टनेमि का रथ है। कृष्ण के दाईं ओर रीठा के समान वर्ण वाले अश्वों और ताल ध्वज वाला बलदेव का रथ है। इसी प्रकार अमात्य ने अनावृष्टि, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, समुद्र विजय, अक्रूर, सात्यकि, भोज, जरत्कुमार, सिंहल, महराज पद्मरथ, सारण, मेरुदत्त, विदूरथ आदि महारथियों का परिचय दिया।

सबका परिचय पाकर जरासन्ध ने सारथि को आदेश दिया - 'सारथि! मेरा रथ यादवों की ओर ले चल। तब जरासन्ध और उसके पुत्रों ने यादव सेना पर बाण-वर्षा करके उसे व्याकुल कर दिया। जरासन्ध के पुत्र कालयवन ने अनेक यादव कुमारों के शिर छेद दिये। तब क्रुद्ध होकर सारण आगे बढ़ा और उसने खड्ग के एक ही तीव्र प्रहार में कालयवन को यमराज के घर भेज दिया। जरासन्ध के अन्य पुत्र प्रतिरोध करने आगे बढे, उन्हें श्रीकृष्ण ने अपने घातक बाणों से सदा के लिए सुला दिया।

पुत्रों की मृत्यु से भयंकर क्रोध में भरकर अपने नेत्रों से आग बरसाता हुआ जरासन्ध श्रीकृष्ण के समक्ष पहुँचा। दोनों अप्रतिम वीरों में उस समय दारुण युद्ध हुआ। जरासन्ध ने दिव्य नागास्त्र छोड़ा। कृष्ण सावधान थे। उन्होंने गरुड़ास्त्र छोड़कर उसे व्यर्थ कर दिया। तब जरासन्ध ने प्रलयकाल के मेघ के समान वर्षा करने वाला संवर्तक अस्त्र छोड़ा तो श्रीकृष्ण ने महाश्वसन नामक अस्त्र के द्वारा भयंकर आँधी चलाकर उसे दूर कर दिया। इस प्रकार दोनों वीर वायव्य अस्त्र, अन्तरीक्ष अस्त्र, आग्नेय बाण, वारुणास्त्र, वैरोचन अस्त्र, माहेन्द्र अस्त्र, राक्षसबाण, नारायण बाण, तामसास्त्र, भास्कर बाण, अश्वग्रीव बाण, ब्रह्मशिरस बाण आदि दिव्य शस्त्रास्त्र चलाते और

एक दूसरे को छकाते रहे। जब जरासन्ध के सभी दिव्यास्त्रों को कृष्ण ने निष्प्रभ कर दिया, तो जरासन्ध ने हजार यक्षों द्वारा रक्षित चक्ररत्न को स्मरण किया। स्मरण करते ही चक्ररत्न समस्त दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ उसकी उंगली पर आकर ठहर गया। तब उसने वह चक्ररत्न श्रीकृष्ण की ओर फेंका। उस प्रकाशमान चक्ररत्न को आते हुए देखकर समस्त यादव सेना में आतंक छा गया। समस्त यादवपक्षी वीर उस चक्ररत्न को रोकने का प्रयत्न करने लगे। सभी वीर भय से अस्थिर हो रहे थे, केवल एक ही व्यक्ति स्थिर और शान्त था और वे थे भगवान नेमिनाथ, वे अवधिज्ञान के द्वारा इसका परिणाम जानते थे। इसलिए वे श्रीकृष्ण के पास शान्त भाव से खड़े हुए देख रहे थे। वह कान्तिमान चक्ररत्न धीरे-धीरे बढ़ता हुआ आया। उसने भगवान नेमिनाथ और श्रीकृष्ण की प्रदक्षिणा दी और श्रीकृष्ण के शंख, चक्र, अंकुश से चिन्हित दायें हाथ पर आकर ठहर गया। उसी समय आकाश में देव-दुन्दुभि बजने लगी, पुष्प वर्षा होने लगी, यह नौवां नारायण है, इस प्रकार देव कहने लगे। सुगन्धित पवन बहने लगा।

जरासन्ध को अपनी मृत्यु का निश्चय हो गया, किन्तु वह वीर निर्भय होकर बोला—अरे गोप! एक चक्र चला गया तो क्या हुआ, मेरे पास अभी बल और शस्त्रास्त्र सुरक्षित हैं। तू इसे चला कर देख ले।

स्वभाव से धीर गम्भीर श्रीकृष्ण शान्त भाव से बोले—'अब तो तुम्हें विश्वास हो गया होगा कि मैं नारायण हूँ। यदि अब भी तुम मेरी आधीनता स्वीकार करके मुझे नमस्कार करो तो मैं तुम्हें क्षमा कर सकता हूँ।' किन्तु जरासन्ध गर्व से बोला—'इस कुम्हार के चाक को पाकर तुझे व्यर्थ ही अभिमान हो गया है। मैं समस्त यादवों सहित तुझे अभी यमपुर पहुँचाता हूँ।

श्रीकृष्ण ने कुपित होकर घुमाकर चक्ररत्न छोड़ा। उसने शीघ्र ही जरासन्ध के वक्षस्थल को भेद दिया। जरासन्ध टूटे हुए वृक्ष के समान निष्प्राण होकर भूलुंठित हो गया। चक्ररत्न पुनः लौट कर श्रीकृष्ण के हाथ में आ गया। श्रीकृष्ण ने अपना पाँचजन्य शंख फूंका। भगवान नेमिनाथ, अर्जुन और सेनापति अनावृष्टि ने भी अपने-अपने शंख फूंके। शत्रु-सेना में अभय घोषणा कर दी गई। सब श्रीकृष्ण के आज्ञाकारी बन गये। दुर्योधन, द्रोण, दुःशासन, कर्ण आदि ने विरक्त होकर मुनि-दीक्षा ले ली।

दूसरे दिन जरासन्ध आदि मृत व्यक्तियों का सम्मानपूर्वक दाह संस्कार किया गया। इधर शत्रु-पक्ष तो पराजित हो गया था, किन्तु वसुदेव अपने पुत्रों और पौत्रों के साथ विद्याधरों के प्रतिरोध के लिए गये थे, किन्तु वे अभी तक नहीं लौटे थे, न कोई समाचार ही मिला था। यादव इसी चिन्ता में बैठे हुए थे। तभी अनेक विद्याधरियाँ वेगवती, नागकुमारी के साथ आकाश-मार्ग से आई। आकर उन्होंने सबको नमस्कार किया और यह शुभ समाचार सुनाया कि विद्याधरों के ऊपर वसुदेव ने विजय प्राप्त कर ली है और सभी विद्याधर उनके आज्ञानुवर्ती बन गये हैं। वे कुछ समय में आने ही वाले हैं। तभी विमानों में विद्याधरों के साथ वसुदेव और उनके सभी पुत्र और पौत्र आये। आकर सब विद्याधरों ने नारायण कृष्ण और बलभद्र बलदेव के चरणों में नमस्कार किया। वसुदेव ने अपने दोनों विजयी पुत्रों का आलिंगन किया, दोनों ने पिता के चरणों में नमस्कार किया। फिर वसुदेव और पुत्रों पोत्रों ने महाराज समुद्रविजय आदि को नमस्कार किया।

श्रीकृष्ण द्वारा दिग्विजय

महाभारत युद्ध में विजय प्राप्त करके श्रीकृष्ण और बलदेव दिग्विजय के लिए निकले। उन्होंने अल्प समय में ही भरत क्षेत्र के तीन खण्डों अर्थात् अर्ध भरत क्षेत्र के सभी राजाओं पर विजय प्राप्त कर ली। तब वे दक्षिण दिशा से कोटिशिला पर पहुँचे। वहाँ पहुँच कर श्रीकृष्ण ने उस एक योजन ऊँची, एक योजन लम्बी और एक योजन चौड़ी शिला की पूजा करके उसे अपनी भुजाओं से चार अंगुल ऊपर उठा लिया। प्रथम त्रिपृष्ठ नारायण ने इस शिला को भुजाओं से सिर से ऊपर उठाया था। द्वितीय नारायण ने मस्तक तक, तीसरे स्वयंभू ने कण्ठ तक, चौथे पुरुषोत्तम ने वक्षस्थल तक, पांचवें नृसिंह ने हृदय तक, छठवें पुण्डरीक ने कमर तक, सातवें दत्तक ने जाँघों तक, आठवें लक्ष्मण ने घुटनों तक और नौवें नारायण श्रीकृष्ण ने उसे चार अंगुल ऊपर तक उठाया। शिला उठाने के कारण समस्त नरेशों और सेना ने उन्हें नारायण स्वीकार कर लिया।

दिग्विजय करके श्रीकृष्ण और बलराम द्वारिका वापिस आये। समस्त नरेशों ने दोनों भाइयों को अर्ध-चक्रीश्वर पद पर आसीन करके अभिषिक्त किया। फिर श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के द्वितीय पुत्र सहदेव को मगध का राज्य प्रदान किया। उग्रसेन के पुत्र द्वार को मथुरा का, महानेमि को शौर्यपुर का, पाण्डवों को हस्तिनापुर का, राजा रुधिर के पौत्र रुक्मनाभ को कोशल देश का राज्य प्रदान किया।

श्रीकृष्ण का वैभव अपार था। उनके पास सुदर्शन चक्र, शार्ङ्ग धनुष, सौनन्दक खड्ग, कौमुदी गदा, अमोघ-मूला शक्ति, पांचजन्य शंख, कौस्तुभ मणि ये सात दिव्य रत्न थे। इसी प्रकार बलदेव के पास अपराजित हल, गदा, मूसल, शक्ति और माला ये पांच दिव्य रत्न थे। नारायण की आज्ञा शिरोधार्य करने वाले राजाओं की संख्या सोलह हजार थी। उनकी सोलह हजार रानियाँ थीं तथा बलदेव की आठ हजार रानियाँ थी। श्रीकृष्ण की आठ पटरानियाँ थी, जिनके नाम इस प्रकार थे—रुक्मिणी, सत्यभामा, जामवती, लक्ष्मणा, सुसीमा, गौरी, पद्मावती और गान्धारी।

पांडवों का निष्कासन

पाण्डव आनन्दपूर्वक हस्तिनापुर में राज्य कर रहे थे। उनका प्रताप चारों ओर व्याप्त हो रहा था। नारायण श्रीकृष्ण उनके मित्र थे। एक दिन घुमन्तू नारद पाण्डवों के महलों में पधारे। पाण्डवों ने उनका यथोचित सम्मान किया। फिर वे अन्तःपुर में गये। द्रौपदी उस समय शृंगार में लीन थी, इसलिए नारद कब आये और चले गये उसे इसका कुछ पता नहीं चला किन्तु नारद को द्रौपदी का यह व्यवहार असह्य लगा। उन्होंने द्रौपदी का मान-मर्दन करने का निश्चय किया और वे आकाश-मार्ग से पूर्व धातकी खण्ड के भरत-क्षेत्र की अमरकंकापुरी के नरेश पद्मनाभ के महलों में पहुँचे। पद्मनाभ ने उनकी अभ्यर्थना की और अपनी स्त्रियों को दिखाकर कहा—क्या आपने ऐसी रूपवती स्त्रियाँ संसार में कहीं अन्यत्र देखी हैं? तब नारद ने द्रौपदी के रूप लावण्य का ऐसा सरस वर्णन किया कि पद्मनाभ उस स्त्री रत्न को पाने के लिए ललक उठा। नारद द्रौपदी के क्षेत्र, नगर, भवन आदि का पता बताकर चले गये।

तब पद्मनाभ ने सगमक नामक देव द्वारा सोती हुई द्रौपदी को पर्यंक सहित अपने महलों में मंगा लिया। जब द्रौपदी सो कर उठी तो वह आश्चर्य से चारों ओर देखने लगी। तभी पद्मनाभ आकर बोला—'देवि! तुम धातकी खण्ड में हो, मैं यहाँ का नरेश पद्मनाभ हूँ। मैंने तुम्हें यहाँ मंगवाया है। मैं तुम्हें अपनी पटरानी बनाना चाहता हूँ। अब तुम अपने पति को भूल जाओ और मेरे साथ इच्छानुकूल भोग भोगो।' द्रौपदी कुपित होकर बोली-तुम नहीं जानते, नारायण कृष्ण और बलभद्र बलराम मेरे भाई हैं, जगविख्यात धनुर्धर अर्जुन मेरे पति हैं। मेरे ज्येष्ठ और देवर अतुल बल विक्रमधारी हैं। उनको कोई स्थान अगम्य नहीं है। यदि तुम्हें मृत्यु प्रिय नहीं है तो तुम अभी मुझे मेरे स्थान पर पहुँचा दो।' यह सुन कर पद्मनाभ खिलखिला कर हँस पड़ा।

द्रौपदी इस संकट से विचलित नहीं हुई। उसने नियम कर लिया कि जब तक मुझे मेरे पति अर्जुन के दर्शन नहीं होंगे, तब तक मेरे अन्न-जल का त्याग है।

इधर जब आकस्मिक रूप से द्रौपदी अदृश्य हो गई तो पांडव किंकर्तव्य विमूढ़ हो गये। वे सीधे श्रीकृष्ण के पास पहुँचे और उन्हें यह दुःसंवाद सुनाया। सुनकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने सभी नगरों में खोज कराई, किन्तु कोई पता नहीं लगा।

एक दिन श्रीकृष्ण की सभा में नारद का आगमन हुआ। यादवों से अभ्यर्थना पाकर नारद बोले—'मैंने द्रौपदी को घातकी खण्ड द्वीप की अमरकंकापुरी में राजा पद्मनाभ के महलों में देखा है। वह निरन्तर अश्रुपात करती रहती है। उसे केवल अपने शीलव्रत का ही भरोसा है।' द्रौपदी के समाचार पाकर श्रीकृष्ण, पाण्डव और समस्त यादव अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे नारद की प्रशंसा करने लगे।

समाचार पाकर श्रीकृष्ण और पाँचों पांडव द्रौपदी को लाने के लिए रथ में आरूढ़ होकर चल दिये। दक्षिण समुद्र के तट पर पहुँच कर उन्होंने लवण समुद्र के अधिष्ठाता देवता की आराधना की और तीन दिन का उपवास करके बैठ गये। देवता ने प्रसन्न होकर उन्हें छह रथों में आरूढ़ करके धातकी खण्ड पहुँचा दिया। वहाँ से वे लोग अमरकंकापुरी पहुँच और बाह्य उद्यान में ठहर गये। उद्यान में नियुक्त प्रहरियों ने जाकर महाराजा

पद्मनाभ को समाचार दिया कि श्रीकृष्ण आदि आ गये हैं। राजा ने उनसे युद्ध करने के लिये अपनी सेना भेजी। उसे श्रीकृष्ण आदि ने बुरी तरह परास्त कर दिया। अवशिष्ट सेना भागकर नगर में पहुँची। राजा ने नगर कोट के द्वार बन्द करा दिये। श्रीकृष्ण ने पैर की एक ठोकर में द्वार और प्राकार तोड़ दिये, नगर का विध्वंस करना आरम्भ कर दिया। नगर में त्राहि-त्राहि मच गई। हाथी और घोड़े बन्धन तुड़ाकर भागने लगे। तब भयभीत होकर पद्मनाभ स्त्रियों और नागरिकों को लेकर द्रौपदी की शरण में पहुँचा और दीनतापूर्वक अपने अपराध की क्षमा-याचना करता हुआ प्राण की भिक्षा मांगने लगा। तब उसकी दीन दशा देखकर दयार्द्र होकर द्रौपदी ने कहा--तू स्त्री वेष धारण करके चक्रवर्ती श्रीकृष्ण की शरण में जा। वे ही तुझे क्षमा करेंगे। पद्मनाभ ने ऐसा ही किया और स्त्री वेष धारण करके द्रौपदी को आगे करके स्त्रियों के साथ श्रीकृष्ण की शरण में जा पहुँचा। श्रीकृष्ण ने शरणागत को अभय-दान दिया और उसे वापिस लौटा दिया। द्रौपदी ने श्रीकृष्ण के चरणों में नमस्कार किया तथा वह पाण्डवों से विनय के साथ मिली तथा अपना दुःख रोते-रोते प्रगट किया, जिससे दुःख का भार उतर गया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण द्रौपदी को रथ में बैठाकर पाण्डवों के साथ समुद्र तट पर आये और अपना पांचजन्य शंख बजाया। उसके शब्द से दिशायें प्रतिध्वनित होने लगीं। उस समय चंपा नगरी के बाहर विराजमान जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने के लिये धातकी खण्ड का नारायण कपिल आया था। उसने भी शंख का शब्द सुना। अतः उसने जिनेन्द्र भगवान से पूछा—'भगवन् ! मेरे समान शक्तिसम्पन्न किस व्यक्ति ने यह शंख ध्वनि की है। इस क्षेत्र में तो मेरे समान अन्य कोई नारायण नहीं है।' तब जिनेन्द्र देव ने श्रीकृष्ण नारायण और पाण्डवों के सम्बन्ध में सारा वृत्तान्त बताया। नारायण कपिल नारायण कृष्ण को देखने की इच्छा से वहाँ से चलने लगा तो भगवान बोले—'राजन् ! कभी तीर्थंकर-तीर्थंकर की, चक्रवर्ती-चक्रवर्ती की, नारायण-नारायण की, बलभद्र-बलभद्र की और प्रतिनारायण-प्रति नारायणकी भेंट नहीं होती। केवल चिन्ह मात्र ही कृष्ण नारायण का तुम देख पाओगे।'

कपिल नारायण जब समुद्र-तट पर पहुँचा, तब तक श्रीकृष्ण समुद्र में जा चुके थे। केवल उनकी ध्वजा के ही दर्शन हो सके। वहाँ लौट कर नारायण कपिल ने राजा पद्मनाभ को खूब डांटा।

कृष्ण और पांडव समुद्र को पारकर इस तट पर आ गये। वहाँ श्रीकृष्ण तो विश्राम करने लगे और पाण्डव नौका द्वारा गंगा को पार कर उसके दक्षिण तट पर ठहर गये। भीम ने विनोदवश नौका वहीं छुपा दी। श्रीकृष्ण ने घोड़ों और सारथी सहित रथ को उठाकर गंगा को पार किया। तट पर आकर श्रीकृष्ण ने पांडवों से पूछा—'तुम लोगों ने नाव क्यों नहीं भेजी ?' भीम बोला—हम आपकी शक्ति देखना चाहते थे।' यह बात सुन कर श्रीकृष्ण को क्रोध आ गया और उन्होंने क्रोधवश कहा—'क्या तुमने अब तक मेरी शक्ति नहीं देखी थी ? तुम लोग हस्तिनापुर से निकल जाओ।' उन्होंने हस्तिनापुर जाकर वहाँ का राज्य सुभद्रा के पुत्र आर्यसूनु को दे दिया।

पाण्डव कृष्ण के आदेश से हस्तिनापुर त्याग कर अपने अनुकूल जनों के साथ दक्षिण दिशा की ओर चले गये और वहाँ दक्षिण मथुरा नाम की नगरी बसा कर रहने लगे।

नेमिनाथ का शौर्य प्रदर्शन—एक दिन भगवान नेमिनाथ यादवों की कुसुमचित्रा नामक सभा में गये। उनके पहुँचने पर सभी यादवों ने खड़े होकर भगवान के प्रति सम्मान प्रगट किया। नारायण श्रीकृष्ण ने आगे जाकर उनकी अभ्यर्थना की और उन्हें अपने साथ सिंहासन पर बैठाया। सबके बैठने पर राजाओं में चर्चा चली कि सबसे अधिक बलवान इस समय कौन है। किसी ने पाण्डवों का नाम लिया, किसी ने श्रीकृष्ण का, किसी ने बलराम का किन्तु अन्त में अधिकांश राजाओं और बलदेव ने कहा कि भगवान नेमिनाथ के समान तीनों लोकों में अन्य कोई पुरुष बलवान नहीं है। ये अपनी हथेली से पृथ्वी को उठा सकते हैं, समुद्रों को दिशाओं में फेंक सकते हैं, सुमेरु पर्वत को कम्पायमान कर सकते हैं। ये तो तीर्थंकर हैं। इनसे उत्कृष्ट दूसरा कौन हो सकता है।

बलदेव के ये वचन सुनकर श्रीकृष्ण न भगवान की ओर देखकर मुसकराते हुए कहा—'भगवन् ! यदि आपके शरीर में ऐसा उत्कृष्ट बल है तो क्यों न बाहु-युद्ध में उसकी परीक्षा कर ली जाय।' भगवान ने किंचित् मुसकरा कर कहा—'हे अग्रज ! इसकी क्या आवश्यकता है। यदि आपको मेरा बाहु-बल ही जानना है तो इस

आसन से मेरा पैर ही विचलित कर दीजिये।' श्रीकृष्ण कमर कसकर उठे और वे पूरे बल से भगवान के पैर से जूझ गये किन्तु पैर को तो क्या हटा पाते, पैर की एक उंगली तक को न हिला सके। उनके मस्तक पर श्रम-विन्दु झलमलाने लगे, श्वास प्रवल वेग से चलने लगी। अन्त में श्रान्त होकर श्रीकृष्ण हाथ जोड़कर बोले—भगवन् ! आपका बल लोकोत्तर है।

किन्तु इस घटना से श्रीकृष्ण के मन में एक शंका वद्धमूल होकर जम गई कि भगवान का बल अपार है, इनके रहते मेरा राज्य-शासन स्थिर कैसे रह पाएगा।

तभी एक घटना और हो गई। वसन्त ऋतु थी। श्रीकृष्ण अपने परिवार और समस्त यादवों के साथ वन-क्रीड़ा के लिए प्रभास पर्वत पर गये। भगवान नेमिनाथ भी साथ में थे। सभी लोग यथायोग्य वाहनों में बैठकर गिरनार पर्वत पर पहुँचे। वनश्री पूरे यौवन पर थी। नाना जाति के पुष्प विकसित थे। भ्रमरावलियाँ मधु-पान करती हुई गुंजन कर रही थीं। कोकिल कूज रही थी। मलय पवन वह रहा था। ऐसे मादक वातावरण में सभी लोग क्रीड़ा में रत हो गये। श्रीकृष्ण की रानियों ने अपने देवर नेमिनाथ को घेर लिया। वे उनके साथ नाना प्रकार की क्रीड़ायें करने लगीं। फिर वे सरोवर में जल-क्रीड़ा करने लगीं। भगवान भी उनके साथ इस आमोद-प्रमोद में पूरी तरह भाग ले रहे थे। जब सभी परिश्रान्त हो गईं तो वे लोग जल से बाहर निकलीं और वस्त्र बदलने लगीं। भगवान ने वस्त्र बदलकर विनोद-मुद्रा में नारायण की प्रेमपात्र महारानी जाम्ववती से उतारे हुए गीले वस्त्र निचोड़ने के लिए कहा। यह सुनते ही महारानी जाम्ववती छद्म क्रोध प्रगट करती हुई कहने लगी—कौस्तुभ मणि धारण करने वाले, नागशय्या पर आरुढ़ होकर शंख की ध्वनि से तीनों लोकों को कंपाने वाले, शार्ङ्ग धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाने वाले, राजाओं के भी महाराज श्रीकृष्ण मेरे पति हैं, वे भी मुझे कभी ऐसी आज्ञा नहीं देते। किन्तु आश्चर्य है कि आप मुझे अपने कपड़े निचोड़ने की आज्ञा दे रहे हैं।

महारानी की यह वात सुनकर अन्य रानियों ने उसकी भर्त्सना करते हुए कहा—तीन लोक के स्वामी और इन्द्रों से पूजित भगवान के लिए तुम्हें इस प्रकार अयुक्त वचन बोलना क्या शोभा देता है ?

किन्तु भगवान ने मुस्कराते हुए कहा—'महाराज श्रीकृष्ण के शौर्य की जो प्रशंसा तुमने की है, वैसा शौर्य क्या कठिन है ?' यों कहकर वे वेग से राजमहलों में पहुँचे और फुँकारते हुए नागों के फणों से मण्डित नागशय्या पर चढ़कर उन्होंने शार्ङ्ग धनुष को झुकाकर उसकी प्रत्यञ्चा चढ़ा दी तथा पाञ्चजन्य शंख को जोर से फूंका। शंख के भयंकर शब्द से आकाश और पृथ्वी व्याप्त हो गई। हाथी और घोड़े वन्धन तुड़ाकर चिघाड़ने और हिनहिनाने लगे। श्रीकृष्ण ने शंख-ध्वनि सुनी तो उन्होंने तलवार खींचली। नगरवासी आतंक से विजड़ित हो गये। जब श्रीकृष्ण को ज्ञात हुआ कि यह तो हमारे ही शंख का शब्द है तो आशंकाओं से त्रस्त होकर वे शीघ्र आयुधशाला में पहुँचे, किन्तु जब उन्होंने कुमार नेमिनाथ को नागशय्या पर अनादर-पूर्वक खड़ा हुआ क्रोधित मुद्रा में देखा तो उन्हें सन्तोष का अनुभव हुआ। उन्होंने कुमार को प्रेमपूर्वक आलिंगनवद्ध कर लिया और अपने साथ ही उन्हें घर लेगये। घर पहुँचने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि वन विहार में मेरी ही रानियों के कारण कुमार को कामोद्दीपन हुआ है तो वे वड़े हर्षित हुए।

नेमिनाथ के विवाह का आयोजन—श्रीकृष्ण ने भोजवंशी उग्रसैन की पुत्री राजीमती की कुमार नेमिनाथ के लिए याचना की। उन्होंने राजाओं को रानियों सहित आने के निमन्त्रण भेज दिए तथा अपने वन्धुजनों के पास भी पाणिग्रहण संस्कार के समाचार भेज दिये।

श्रावण मास की वर्षा ऋतु में यादवों की वरात सजधज कर द्वारिका से निकली। वरात में अगणित वराती थे। अनेक नरेश राजसी वैभव का प्रदर्शन करते हुए जा रहे थे। वराती नानाविध वाहनों में बैठे थे। श्री-कृष्ण, वलराम आदि से घिरे हुए कुमार नेमिनाथ वर की वेषभूषा धारण किए और रत्नालंकारों से अलंकृत हुए रथ में विराजमान थे। त्रिलोकसुन्दर भगवान अलंकार धारण करके रूप के साकार रूप लग रहे थे। यादव कुमारियाँ मूर्तिमान कामदेव के मार्ग में पलक पांवड़े विछाये उनके ऊपर अक्षत-लाजा की वर्षा कर रही थीं। सौभाग्यवती स्त्रियाँ राजपथों के किनारे पर जल से परिपूर्ण स्वर्ण घट लिए खड़ी थीं। युवती स्त्रियाँ हर्म्यों, प्रासादों

और भवनों के गवाक्षों से वर के ऊपर पुष्प-पराग बखेर रही थीं। यादवों की यह बरात जब जूनागढ़ पहुँची तो बरात का दूसरा सिरा द्वारिका में था। वर का रथ शनैः शनैः आगे बढ़ रहा था। भोजवंशी उनकी अभ्यर्थना के लिए आगे बढ़े। राजकुमारी राजमती वधू के वेष में साक्षात् रति लग रही थी। उसकी सहेलियाँ उसे नेमिकुमार के रूप लावण्य को लेकर बार-बार छेड़ रहीं थीं और राजमती लाज के मारे सिकुड़ जाती थी किन्तु उसके हृदय की हर धड़कन में 'नेमि पिया' का ही स्वर गूंज रहा था। वह अपने साजन की एक झलक पाने के लिए अधीर हो रही थी। वह अपनी भावनाओं के गगन में ऊँची उड़ानें भर रही थी। तभी नानाविध वाद्यों का तुमुल नाद सुनाई पड़ा। सहेलियाँ आई और उसे घसीटती हुई प्रासाद के बाहरी छज्जे पर ले गई। राजीमती सहेलियों के बीच में तारों के मध्य चन्द्रमा के समान शोभा पा रही थी।

वर का रथ आगे बढ़ा, तभी उनकी दृष्टि एक मैदान में बाड़े में घिरे हुए भयविह्वल तृणभक्षी वन्य पशुओं पर पड़ी। नेमिकुमार ने सारथी से पूछा—'भद्र! ये नाना जाति के पशु यहाँ किसलिए रोके हुए हैं?' सारथी ने विनयपूर्वक उत्तर दिया—'प्रभो! आपके विवाहोत्सव में जो मांसभक्षी म्लेच्छ राजा आये हैं, उनके लिए नाना प्रकार का मांस तैयार करने के लिए यहाँ पशुओं का निरोध किया गया है।'

सारथी के वचन सुनकर नेमिकुमार कहने लगे—एक की प्रसन्नता के लिये दूसरे की हिंसा करना घोर अधर्म है। सारथि! मैं विवाह के लिए तनिक भी उत्सुक नहीं हूँ। तुम इन प्राणियों को बन्धनमुक्त कर दो।' भगवान का हृदय दया से ओत-प्रोत था। वे राजकुमारों से कहने लगे—मनुष्यों की निर्दयता तो देखो। वन ही जिनका घर है, तृण और जल ही जिनका आहार जल है और जो अत्यन्त निरपराध हैं, ऐसे दीन मृगों का भी मनुष्य वध करते हैं। जो शूर वीर होकर भी पैर में कांटा न चुभ जाय, इस भय से जूता पहनते हैं, वे इन मृगों, शशकों की गरदन पर तीक्ष्ण धार वाले शस्त्र चलाते हैं, यह कैसा आश्चर्य है! यह प्राणी जिव्हा की लोलुपता की तृप्ति के लिए भक्ष्य-अभक्ष्य का भी विवेक खो देता है। किन्तु क्या संसार में किसी की भी तृप्ति हुई है? मैंने स्वयं असंख्य वर्षों तक इन्द्र, धरणेन्द्र, और नरेन्द्रों के सुख भोगे हैं, किन्तु मुझे उनसे भी तृप्ति नहीं हुई। ये सांसारिक सुख असार हैं और मेरी आयु भी असार है। मैं इन असार सुखों का त्याग करके नित्य, अनन्त और अविनाशी सुख के उपार्जन का पुरुषार्थ करूँगा।

भगवान के मन में इन अनित्य सुखों के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो गई। उन्हें आत्म विमुख होकर सांसारिक सुखों में क्षणभर भी अटकना निष्प्रयोजन लगने लगा। तभी लौकान्तिक देव आये और भगवान के चरणों में सिर झुका कर विनत मुद्रा में निवेदन करने लगे—'प्रभो! भरत क्षेत्र में पाप की प्रवृत्ति बढ़ गई है, जन-जन के मन में मिथ्या का तमस्तोम छा रहा है। अब तीर्थ-प्रवर्तन का काल आ पहुँचा है। संसार के दिग्भ्रान्त और दुखी प्राणियों पर दया करके आप तीर्थ-प्रवर्तन कीजिये।' देव यों निवेदन करके अपने आवास को लौट गये।

भगवान ने दयार्द्र होकर मृगों को बन्धनमुक्त कर दिया। मृग मुक्त होकर भागे नहीं; किन्तु जगद् बन्धु भगवान के चरणों में सिर झुकाकर खड़े हो गये और अपने त्राता की ओर निहारने लगे। भगवान ने हाथ उठाकर उन्हें मानो सुरक्षा का आश्वासन दिया। आश्वस्त होकर वे मूक प्राणी वन में चले गये।

भगवान का दीक्षा-कल्याणक—भगवान ने वरोचित कंकण और मोहर उतार दिया। वे वापिस लौटकर नगरी में पहुँचे और राज सिंहासन पर विराजमान हो गये। तभी इन्द्र और देव वहाँ आये। इन्द्रों ने भगवान को स्नान पीठ पर विराजमान करके देवों द्वारा लाये हुए क्षीरोदक से उनका अभिषेक किया और उन्हें स्वर्गीय माला, विलेपन, वस्त्र और आभूषणों से विभूषित किया। सभी यादव प्रमुख श्रीकृष्ण, बलराम आदि भगवान को घेर कर खड़े हुए थे। भगवान मोह-माया को तोड़कर वन में जाने को तैयार थे। मोह का कोई बन्धन उन्हें उनके संकल्प से विचलित न कर सका।

भगवान माता, पिता, बन्धु बान्धवों को समझाकर कुवेर द्वारा निर्मित उत्तरकुरु पालकी में आरूढ़ हुए। देवों ने पालकी को ध्वजाओं और छत्र से मण्डित किया था। उसमें मणियों के बेल बूटे बने हुए थे। राजाओं ने पालकी को अपने कंधे पर उठाया और कुछ दूर ले गए। उसके बाद पालकी को इन्द्रों ने उठाया और आकाश

प्रयत्न किया, न जिसने अपने भावी पति के विरुद्ध कोई अभाव अभियोग ही उपस्थित किया, बल्कि केवल कंकण की लाज को ही सब कुछ मानकर उसी ठुकराने वाले निष्ठुर पति का ही अनुगमन किया, वह नारी नारीत्व का महानतम शृंगार है। राजुल ! तुमने अपनी कामनाओं का होम करके और आत्माहुति देकर जो ज्योति जलाई, वह युग-युगों तक दिग्भ्रान्त नारी जाति का पथ आलोकित करती रहेगी। देवी ! तुमने अपने जीवन को धन्य किया, समग्र नारी जाति को धन्य किया और मानव की महानता को धन्य किया। तुम अपने इस महान तप और त्याग के कारण जगन्माता के गौरवपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित होकर अखिल मानव जाति की श्रद्धास्पद बन गई हो। तुम्हें सहस्र प्रणाम !

भगवान नेमिनाथ का केवलज्ञान कल्याणक

मुनिराज नेमिनाथ अन्तर बाह्य परिग्रह का त्याग करके घोर तप करने लगे। वे प्रायः आत्म ध्यान में लीन रहते थे। उन्हें एकान्त, प्रासुक तथा क्षुद्र जीवों के उपद्रव से रहित क्षेत्र, वज्रवृषभनाराच संहनन रूप द्रव्य, उष्णता आदि बाधा से रहित काल और निर्मल अभिप्राय रूप श्रेष्ठ भाव यह क्षेत्रादि चतुष्टय रूप सामग्री उपलब्ध थी। अतः वे प्रशस्त ध्यान में लीन रहते थे। ध्यान के समय उनके नेत्र न तो अत्यन्त खुले रहते थे, न बन्द ही रहते थे। नीचे के दांतों के अग्रभाग पर उनके ऊपर के दाँत स्थित रहते थे। उनकी इन्द्रियों का समस्त व्यापार निवृत्त हो चुका था। उनके श्वासोच्छ्वास का सञ्चार शनैः शनैः होता था। वे अपनी मनोवृत्ति को नाभि के ऊपर मस्तक पर, हृदय में अथवा ललाट में स्थिर कर आत्मा को एकाग्र करके प्रशस्त ध्यान करते थे। उनकी कर्मशृंखलायें टूटती गईं और केवल छप्पन दिन की कठोर साधना के पश्चात् उन्हें आश्विन शुक्ला प्रतिपदा के दिन अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्टय प्राप्त हो गया। वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन गये। इन्द्रों के आसन और मुकुट कम्पित होने लगे। चारों जाति के देवों के आवासों में घण्टों के शब्द, सिंहनाद, दुन्दुभि के शब्द और शंखों के शब्द होने लगे। देवों और इन्द्रों ने अवधिज्ञान से जान लिया कि भगवान को केवलज्ञान प्राप्त होगया है, वे सब गिरनार पर्वत पर भगवान का केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाने आए। कुबेर ने समवसरण की रचना की। देवों और इन्द्रों ने भगवान का ज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाया और भगवान की पूजा की, भगवान की दिव्य ध्वनि खिरी। इस प्रकार भगवान ने धर्म चक्र प्रवर्तन किया।

भगवान का धर्म विहार—भगवान नेमिनाथ ने विभिन्न देशों में धर्म विहार किया। वे सौराष्ट्र, लाट, मत्स्य, शूरसेन, पटच्चर, कुरुजांगल, पाञ्चाल, कुशाग्र, मगध, अञ्जन, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, आदि देशों में विहार करते हुए गए। उनके उपदेश सुनकर सभी वर्गों के लोग जैनधर्म में स्थित हुए।

तदनन्तर वे विहार करते हुए मलय नामक देश में आये। वे भद्रिलपुर नगर के सहस्राम्र वन में ठहरे। उस नगर का राजा पौण्ड्र नगरवासियों के साथ भगवान के दर्शनों के लिए आया। महारानी देवकी के छहों पुत्र, जिनका लालन-पालन सुदृष्टि सेठ और अलका सेठानी ने किया था, अलग-अलग रथ में आरूढ़ होकर भगवान के समवसरण में आये। उनमें से प्रत्येक की बत्तीस-बत्तीस स्त्रियाँ थीं। वे भगवान को नमस्कार करके मनुष्यों के कोष्ठ में बैठ गये। भगवान का उपदेश सुनकर उन छहों भाइयों को संसार से वैराग्य हो गया और उन्होंने भगवान के चरणों में मुनि-दीक्षा ले ली। उन्होंने घोर तप किया। उन्हें अनेक ऋद्धियाँ प्राप्त हो गईं। वे छहों मुनि साथ-साथ ही उपवास, पारणा, ध्यान, धारणा, शयन, आसन और त्रैकालिक योग करते थे।

एक दिन भगवान नेमिनाथ के दर्शन करने के लिए राजमाता देवकी समवसरण में पहुँची। उन्होंने भगवान की प्रदक्षिणा दी, नमस्कार किया और उनकी स्तुति करके स्त्रियों के कक्ष में बैठ गई। उनके मन में एक शंका कई घण्टों से पल रही थी। उसके निरास के लिये वे हाथ जोड़कर बोलीं—'भगवन् ! आज मेरे आवास में अत्यन्त तेजस्वी दो मुनि आये। दोनों का रूप-लावण्य, तेज-कान्ति समान थी। मैंने उन्हें आहार दिया। किन्तु आहार के पश्चात् वह मुनि-युगल पुनः दो बार आया और पुनः आहार लिया। प्रभो ! क्या उन मुनियों का एक ही भवन में एक ही दिन तीन बार आहार लेना उचित है ? यह भी सम्भव है, तीन बार आने वाला यह मुनि-युगल रूप-सादृश्य के कारण एक ही प्रतीत होता हो। किन्तु भगवन्! इन मुनियों को देखकर मेरे हृदय में वात्सल्य क्यों उमड़ पड़ा। उन्हें देखते ही मेरा आंचल दूध से भर गया और उन्हें आहार देते समय मेरे मन में यह भाव क्यों जागा कि मैं मुनियों को नहीं; अपने ही पुत्रों को भोजन करा रही हूँ ?

एक दिन मुनि गजकुमार एकान्त में रात्रि में प्रतिमा योग से विराजमान थे, तभी सोमशर्मा उधर आ निकला। वह मुनि गजकुमार को देखकर अपनी पुत्री का त्याग करने के कारण क्रोध से विवेकहीन हो गया। उसने जलती हुई अंगीठी मुनिराज के सिर पर रखदी और वह क्रूर पिशाच के समान मुनिराज को जलते हुए देखने लगा। ज्यों-ज्यों मुनिराज का शरीर जलने लगा, वह दुष्ट उतना ही प्रसन्न होने लगा। इस रोमहर्षक प्रतिशोध से निकाचित कर्मों द्वारा उसकी आत्मा तमसावृत्त हो गई। उधर मुनिराज ने साम्यभाव से इस दारुण यंत्रणा को सहकर शुक्ल ध्यान द्वारा कर्मों का विनाश कर दिया और वे अन्तकृत केवली होकर सिद्ध परमात्मा वन गये।

गजकुमार मुनि को सिद्ध पद की प्राप्ति होने पर देवों ने आकर उनके शरीर की पूजा की। उनके मरण से दुखी होकर वसुदेव को छोड़कर समुद्रविजय आदि भाई तथा अनेक यादव संसार की असारता पर विचार करके दीक्षित हो गये। देवकी और रोहिणी को छोड़कर शेष रानियों और श्रीकृष्ण की पुत्रियों ने भी दीक्षा ले ली।

भगवान की भविष्यवाणी—भगवान वहाँ से विहार करके उत्तर दिशा, मध्यदेश और पूर्व दिशा के देशों में धर्मोद्योत करते रहे। विहार करते हुए एक बार वे पुनः द्वारका पधारे और रैवतक पर्वत पर विराजमान हो गये। उनके पधारने की सूचना पाकर वसुदेव, वलदेव और श्रीकृष्ण परिजनों और पुरजनों के साथ भगवान के दर्शनों के लिये आये। भगवान को नमस्कार करके सव यथास्थान वैठ गये और भगवान का कल्याणकारी उपदेश श्रवण करने लगे। धर्मकथा के पश्चात् वलदेव ने हाथ जोड़कर भगवान से पूछा—भगवन्! इस द्वारकापुरी की रचना कुवेर ने की है। इसका अन्त कितने समय में होगा? प्रभो! कृष्ण की मृत्यु किस निमित्त से होगी? देवाधिदेव! मेरा चित्त कृष्ण के स्नेह-पाश से बंधा हुआ है, क्या ऐसी स्थिति में मैं कभी संयम ग्रहण कर सकूँगा? प्रभो! मेरी जिज्ञासा का समाधान करने की कृपा करें।

त्रिकालदर्शी भगवान कहने लगे—हे वलराम! तुमने भविष्य जानने की इच्छा प्रगट की है, वह सुनो। द्वारकापुरी आज से वारहवें वर्ष में मद्यप यादवों की उद्दण्डता के कारण द्वैपायन मुनि के द्वारा क्रोध करने पर भस्म होगी। अन्तिम समय में श्रीकृष्ण कौशाम्वी के वन में शयन करेंगे। उस समय जरत्कुमार के निमित्त से

श्रीकृष्ण की मृत्यु होगी। उसी समय श्रीकृष्ण की मृत्यु का निमित्त पाकर तुम्हें वैराग्य उत्पन्न होगा और तुम तप करके ब्रह्म स्वर्ग में उत्पन्न होगे। आभ्यन्तर कारण के रहते हुए बाह्य निमित्त मिलने पर जगत में अभ्युदय और क्षय होता है। इसलिये विवेकी जन जगत का स्वभाव जानकर इस अभ्युदय और क्षय में समान भाव रखते हैं, वे कभी हर्ष और विषाद नहीं करते।

बलराम के मामा द्वैपायनकुमार भगवान के वचन सुनकर संसार से विरक्त होकर मुनि बन गये तथा अप्रिय प्रसंग को टालने के लिये वे पूर्व देश की ओर विहार कर गये एवं कठोर तप करने लगे। जरत्कुमार भगवान के वचन सुनकर बड़ा दुखी हुआ; 'मेरे अग्रज की मृत्यु का मैं ही कारण बनूँगा' इस मनस्ताप के कारण वह बन्धु-बान्धवों को त्याग कर अज्ञात स्थान की ओर चल दिया, जहाँ श्रीकृष्ण दिखाई भी न दें। जरत्कुमार के जाने से श्रीकृष्ण को बड़ा दुःख हुआ। वह तो उनका प्राणोपम बन्धु था। यादव लोग भी सन्तप्त मन से नगर को लौट गये।

बलदेव और श्रीकृष्ण ने नगर में आदेश प्रचारित कर दिया—'आज से नगर में मद्य-निषेध आदेश लागू किया जाता है। न नगर में कोई मद्य पीएगा, न मद्य बनाएगा, न संग्रह करेगा। जो मद्य नगर में विद्यमान है, उसे नष्ट कर दिया जायगा तथा मद्य-निर्माण के साधन भी नष्ट कर दिये जाँयगे।' मद्य-प्रतिबन्धक आदेश के लागू होते ही मद्यपी लोगों ने मदिरा बनाने के साधन और मद्य को पर्वत के कुण्डों में फेंक दिया। पाषाण-कुण्डों में वह मदिरा भरी रही।

मदिरा पर प्रतिबन्ध लगाने के पश्चात् श्रीकृष्ण ने यह घोषणा की कि 'यदि मेरे माता, पिता, पुत्रियाँ अथवा अन्तपुर की स्त्रियाँ भगवान के निकट दीक्षा लेना चाहें, तो उन्हें मेरी ओर से कोई बाधा नहीं होगी, वे तप करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं।' यह घोषणा होते ही प्रद्युम्नकुमार, भानुकुमार आदि पुत्रों ने दीक्षा ले ली। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने भी आज्ञा लेकर संयम ग्रहण कर लिया। जब बलदेव का भ्राता सिद्धार्थ दीक्षा लेने के लिये तत्पर हुआ, तो बलदेव ने उससे याचना की—'यदि संयम ग्रहण करते समय मुझे मोह उत्पन्न हो तो तुम मुझे संबोधन करके मार्ग में स्थित करना।' सिद्धार्थ ने प्रार्थना स्वीकार करके तप ग्रहण कर लिया।

भगवान वहाँ से अन्यत्र विहार कर गये। भवितव्य टलता नहीं। द्वैपायन मुनि भ्रान्तिवश बारहवें वर्ष को समाप्त हुआ जानकर बारहवें वर्ष में द्वारकापुरी में आ पहुँचे। वे पर्वत के निकट आतापन योग धारण करके प्रतिमायोग से विराजमान थे। उस समय शम्ब आदि यादव कुमार वन-क्रीड़ा के लिए पर्वत पर गये। वहाँ से वे जब लौटे तो पिपासा से क्लान्त होकर उन्होंने कादम्ब वन के कुण्डों में भरे हुए जल को पी लिया, जो वस्तुतः जल न होकर मदिरा थी। मदिरा पुरानी थी, अतः उसमें मादकता अधिक बढ़ गई। उस मदिरा को पीते ही यादव कुमार मद विव्हल होगए। वे असंयत होकर अनर्गल प्रलाप करने लगे। जब वे लौट रहे थे तो मार्ग में सूर्य के सन्मुख खड़े होकर तप करने वाले द्वैपायन मुनि को उन्होंने देखा। वे उन पर व्यंग्य करने लगे, अश्लील परिहास करने लगे, कुछ यादव कुमारों ने उन्हें पत्थर मारना प्रारम्भ कर दिया। इससे मुनि आहत होकर गिर पड़े। उन्हें यादव कुमारों की उद्दण्डता को देखकर भयानक क्रोध आया। उनकी भृकुटी तन गई, ओठ फड़कने लगे, नेत्र रक्तवर्ण हो गये।

द्वारका-दाह

यादव कुमार झूमते इठलाते हुए द्वारका नगरी पहुँचे। किसी ने द्वैपायन मुनि के साथ किए गए दुर्व्यवहार का समाचार श्रीकृष्ण को सुनाया। समाचार सुनते ही श्रीकृष्ण और बलराम ने समझ लिया कि भगवान ने द्वैपायन मुनि द्वारा द्वारका के विनाश की जो घड़ी बताई थी, वह आ पहुँची है। दोनों भाई अनिष्ट की आशंका से व्याकुल होकर शीघ्रतापूर्वक उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ द्वैपायन मुनि क्रोधमूर्ति बने हुए थे। दोनों ने मुनि को आदरपूर्वक प्रणाम किया और यादव कुमारों द्वारा किए गये अभद्र व्यवहार के लिए उनसे बार-बार क्षमा-याचना की और शान्त होने की प्रार्थना की। किन्तु अविवेकी मुनि के ऊपर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने द्वारकापुरी को भस्म करने का निश्चय कर लिया था। उन्होंने बलराम और श्रीकृष्ण के लिए दो अंगुलियां दिखाई जिसका स्पष्ट आशय था कि तुम दोनों ही बच सकोगे, अन्य नहीं।

दोनों भाई मुनि को दुष्ट निर्णय से विरत न कर सके और वे निराश होकर लौट आये। शम्वकुमार आदि अनेक यादव कुमार विरक्त होकर मुनि वन गये। द्वैपायन मुनि उसी क्रोध में मरकर अग्नि कुमार नामक भवनवासी देव बने। जव उस देव को अवधिज्ञान द्वारा द्वैपायन मुनि की पर्याय में यादवकुमारों द्वारा किये गए उपसर्ग और भयंकर अपराध का ज्ञान हुआ तो उसने यादवों से भयंकर प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। वह क्रूर परिणामी भयंकर क्रोध में भर कर द्वारकापुरी पहुँचा और उसे जलाना प्रारम्भ कर दिया। उसने स्त्री-पुरुष तो क्या, पशु-पक्षियों तक को वच निकलने का अवसर नहीं दिया। जिन्होंने वच निकलने का प्रयत्न भी किया, उन्हें पकड़-पकड़ कर अग्नि में फेंकने लगा। श्रीकृष्ण और वलराम ने आग बुझाने का असफल प्रयत्न किया। उन्होंने माता-पिता और बन्धु जनों को भी वचाने का बहुत प्रयत्न किया किन्तु इसमें भी वे सफल नहीं हो सके। अन्त में हताश होकर, अपने प्रियजनों और अपनी इन्द्रपुरी जैसी नगरी का दारुण विनाश देखते हुए वे दोनों उदास चित्त से वाहर निकल गये।

इस प्रकार वह नगरी, जिसकी रचना स्वयं कुवेर ने की थी, देव जिसकी रक्षा करते थे, भस्म होगई।

शोकाभिभूत दोनों भाई—वलराम और श्रीकृष्ण वहाँ से चल दिए, निरुद्देश्य, अन्तहीन लक्ष्य की ओर। क्षुधा और तृषा से क्लान्त वे हस्तवप्र नामक नगर में पहुँचे। श्रीकृष्ण तो उद्यान में ठहर गए और वलराम अन्न जल जुटाने के लिए नगर में गये। उस नगर का नरेश अच्छदन्त यादवों का शत्रु था। वलराम ने किसी व्यक्ति से अपना स्वर्ण कड़ा और कुण्डल देकर खाने-पीने की सामग्री खरीदी। जव वे सामग्री लेकर लौट रहे थे, नगर रक्षकों ने उन्हें पहचान लिया। उन्होंने यह समाचार राजा से निवेदन किया। राजा सेना लेकर वहाँ आया। वलराम ने संकेत द्वारा श्रीकृष्ण को बुला लिया। वलराम ने हाथी बांधने का एक खम्भा उखाड़ लिया और श्रीकृष्ण ने एक लौह अर्गला ले ली। उन्हीं से उन दोनों ने सेना का प्रतिरोध किया। उनकी भयंकर मार से सेना भाग गई। तव उन दोनों ने जाकर भोजन किया।

श्रीकृष्ण का करुण निधन

भ्रमण करते हुए दोनों भाई कौशाम्वी के भयानक वन में पहुँचे। उस समय सूर्य सिर के ऊपर तप रहा था, भयंकर गर्मी थी। मार्ग की अविरत यात्रा से क्लान्त और तृषार्त श्रीकृष्ण एक स्थान पर रुक गये। वे अपने ज्येष्ठ भ्राता से वोले—'आर्य! मैं प्यास से वहुत व्याकुल हूँ। मेरा तालू तृषा से कण्टकित हो रहा है। अव मैं एक डग भी चलने में असमर्थ हूँ। कहीं से जल लाकर मुझे दीजिए।' वलराम अपने प्राणोपम अनुज की इस असहाय दशा से व्याकुल होगए। वे सोचने लगे—भरत क्षेत्र के तीन खण्डों का अधिपति और वल-विक्रम में अनुपम यह मेरा भाई आज इतना अवश क्यों हो रहा है। जो जीवन में कभी थका नहीं, वह आज अकस्मात् ही इतना परिश्रान्त क्यों हो उठा है? कोटिशिला को अपने वाहुवल से उठाने वाला नारायण आज सामान्य व्यक्ति के समान निर्वलता अनुभव कर रहा है। क्या कारण है इसका?

वे वोले—'भाई! मैं अभी शीतल जल लाकर तुम्हें पिलाता हूँ। तुम इस वृक्ष की शीतल छाया में तव तक विश्राम करो।' यों कहकर वे जल की तलाश में चल दिये। श्रीकृष्ण वृक्ष की छाया में वस्त्र ओढ़कर लेट गए। थकावट के कारण उन्हें शीघ्र ही नींद आ गई। भवितव्य दुर्निवार है। जरत्कुमार भ्रमण करता हुआ उसी वन में आनिकला। दूर से उसने वायु से श्रीकृष्ण के हिलते हुए वस्त्र को हिरण का कान समझा। उसने मृग का शिकार करने की इच्छा से कान तक धनुप खींचकर शर सन्धान किया। सनसनाता वाण श्रीकृष्ण के पैर में जाकर विंध गया। श्रीकृष्ण ने उठकर चारों ओर देखा, किन्तु उन्हें वहाँ कोई दिखाई नहीं पड़ा। तव उन्होंने जोर से कहा—'किस अकारण वैरी ने मेरे पादतल को वेधा है? वह आकर अपना कुल और नाम मुझे वतावे। जरत्कुमार ने यह सुनकर अपने स्थान से हीं उत्तर दिया—'मैं हरिवंश में उत्पन्न वसुदेव नरेश का पुत्र जरत्कुमार हूँ। भगवान नेमिनाथ ने भविष्य कथन किया था कि जरत्कुमार के द्वारा कृष्ण का वध होगा। भगवान के इस कथन से डरकर मैं बारह वर्ष से इस वन में रह रहा हूँ। मुझे अपना अनुज कृष्ण प्राणों से भी प्यारा है। इसलिए मैं इतने समय से इस एकान्त में जन जन से दूर, वहुत दूर रहा हूँ। मैंने इतने समय से किसी आर्य का नाम भी नहीं सुना। फिर आप कौन हैं?

जरत्कुमार की वात सुनकर श्रीकृष्ण वोले—'भाई! तुम यहाँ आओ, मैं कृष्ण हूँ, तुम शीघ्र आओ।' जरत्कुमार को ज्ञात तो गया कि यह तो मेरा कृष्ण है। वह शोक करता हुआ शीघ्रता से वहाँ आया। वह तत्काल

और ग्लानि की आग में जला जा रहा था। उसने धनुष-बाण दूर फेंक दिया और श्रीकृष्ण के चरणों में गिरकर अश्रु बहाने लगा। श्रीकृष्ण ने उसे उठाकर गले से लगाया और सान्त्वना देते हुए बोले—आर्य ! शोक न करें, भवितव्य अलङ्घ्य है। आपने राज वैभव छोड़कर बन में निवास स्वीकार किया, किन्तु दैव के आगे सब व्यर्थ होता है।

श्रीकृष्ण द्वारा समझाने पर भी जरत्कुमार विलाप करता रहा। श्रीकृष्ण बोले—'आर्य ! बड़े भाई राम मेरे लिए जल लाने गए हैं। उनके आने से पूर्व ही आप यहाँ से चले जाँय। संभव है, वे आपके ऊपर क्षुब्ध हों। आप पाण्डवों के पास जाकर उन्हें सब समाचार बतादें। वे हमारे प्रियजन हैं। वे आपकी रक्षा अवश्य करेंगे।' इतना कहकर उन्होंने जरत्कुमार को परिचय के लिए कौस्तुभ मणि देदी और उसे विदा कर दिया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण यन्त्रणा के कारण व्याकुल हो गए, किन्तु उन्होंने अत्यन्त शान्त भाव से उसे सहन किया। उन्होंने पंच परमेष्ठियों को नमस्कार करके भगवान नेमिनाथ का ध्यान किया और पृथ्वी पर सिर झुकाकर लेट गए। उन्होंने मोह का परित्याग करके शुभ भावनाओं के साथ शरीर का परित्याग किया। वे भविष्य में भरत क्षेत्र में तीर्थंकर बनेंगे।

संसार कितना असार है ! जो एक गोप के घर में मक्खन और दूध पीकर बड़े हुए, जो अपने शौर्य और नीति विचक्षणता द्वारा सम्राट् जरासन्ध जैसे प्रतापी नरेश पर विजय पाकर अर्ध चक्रेश्वर के पद पर आरूढ़ हुए, जिनकी आंखों के संकेत ने एक हजार वर्ष के इतिहास का सृजन किया, वे ही महापुरुष श्रीकृष्ण एकान्त वन में असहाय दशा में निधन को प्राप्त हुए। वे जब उत्पन्न हुए तो कोई मंगल गीत गाने वाला नहीं था और जब उन्होंने मरण का वरण किया तो वहाँ कोई रोने वाला नहीं था। लगता है, दैव अपने निष्ठुर निर्मम हाथों से सबकी भाग्य लिपि लिखता है। उसका अतिक्रमण करने का साहस किसी में नहीं है।

स्नेहाकुल बलराम अपने तृषित प्राणोपम भाई के लिए जल की तलाश में बहुत दूर निकल गए, किन्तु कहीं जल नहीं मिल रहा था। मार्ग में अपशकुन हो रहे थे, किन्तु उनका ध्यान एकमात्र जल की ओर था। जल मिल नहीं

मोहविव्हल बलराम की प्रव्रज्या

रहा था, बिलम्ब हो रहा था, उधर उनके मन में चिन्ता का ज्वार बढ़ता जा रहा था—मेरा प्यारा भाई प्यासा है, न जाने प्यास के मारे उसकी कैसी दशा होगी। तब उन्होंने वेग से दौड़ना प्रारम्भ कर दिया, उनकी दृष्टि जल की तलाश में चारों ओर थी। पर्याप्त विलम्ब और दूरी के बाद उन्हें जलाशय दिखाई पड़ा—जल से परिपूर्ण, कमल पुष्पों से संकुल। वे जलाशय पर पहुँचे। उन्होंने जल में अवगाहन करके शीतल जल पिया और कमल-दल का पात्र बनाकर जल भरकर ले गए। उन्होंने देखा। श्रीकृष्ण वस्त्र ओढ़कर सो रहे हैं। उन्होंने विचार किया—संभवतः थक जाने पर मेरा भाई सुख निद्रा में सो रहा हैं। इसे स्वयं ही जगने दिया जाय। जब बहुत देर हो गई और श्रीकृष्ण नहीं जागे तो उन्होंने श्रीकृष्ण को जगाना उचित समझा। उन्होंने कहा—वीर ! इतना अधिक क्यों सो रहे हो। निद्रा छोड़ो और उठकर यथेच्छ जल पिओ।

इतना होने पर भी श्रीकृष्ण की निद्रा भंग नहीं हुई। तभी बलराम ने देखा कि एक बड़ी मक्खी व्रण के रुधिर की गन्ध से कृष्ण के ओढ़े हुए वस्त्र के भीतर घुस गई है किन्तु निकलने का मार्ग न पाने से व्याकुल है। उन्होंने श्रीकृष्ण का मुख उघाड़ दिया। उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण निष्प्राण पड़े हुए हैं। उन्होंने समझा कि मेरा प्यारा भाई प्यास से मर गया है। उनके मुख से आर्त गिरा निकली और वे अचेत होकर गिर पड़े। सचेत होने पर वे श्रीकृष्ण के शरीर पर हाथ फेरने लगे। तभी उनकी दृष्टि पैर के व्रण पर पड़ी, जिसके रुधिर से वस्त्र रक्त वर्ण हो गया था। उन्हें निश्चय हो गया कि सोते समय किसी ने इनके पैर में बाण से प्रहार किया है। वे भयंकर गर्जना करते हुए कहने लगे—किस अकारण शत्रु ने मेरे सोते हुए भाई पर प्रहार किया है, वह मेरे सामने आवे। किन्तु उनका गर्जन-तर्जन निष्फल रहा, कोई भी अकारण शत्रु उनके समक्ष उपस्थित नहीं हुआ और न उस शत्रु का कोई चिह्न ही मिला।

निरुपाय वे पुनः श्रीकृष्ण को गोद में लेकर करुण विलाप करने लगे। वे मोहान्ध होकर बार-बार श्रीकृष्ण को जल पिलाने लगे। कभी वे जल से उनका मुख धोते, कभी उन्हें चूमते, कभी उनका सिर सूंघते। फिर वे अनर्गल प्रलाप करने लगते। फिर वे श्रीकृष्ण के शव को लेकर वन में निरुद्देश्य भ्रमण करते रहे। इस प्रकार न जाने कितनी ऋतुएं उनके सिर के ऊपर से गुजर गईं।

उधर जरत्कुमार श्रीकृष्ण के आदेशानुसार पाण्डवों की सभा में पहुँचा और अपना परिचय दिया। तब युधिष्ठिर ने उससे स्वामी की कुशल-वार्ता पूछी। जरत्कुमार ने शोकोच्छ्वसित अवरुद्ध कण्ठ से द्वारका-दाह तथा अपने प्रमाद से श्रीकृष्ण के निधन के करुण समाचार सुनाये और विश्वास दिलाने के लिये उसने श्रीकृष्ण की दी हुई कौस्तुभमणि दिखाई। ये हृदय विदारक समाचार सुनते ही पाण्डव और उनकी रानियाँ, जरत्कुमार और उपस्थित सभी जन रुदन करने लगे। जब रुदन का वेग कम हुआ, तो पाण्डव, माता कुन्ती, द्रौपदी आदि रानियाँ जरत्कुमार को आगे कर सेना के साथ दु:ख से पीड़ित बलदेव को देखने के लिये चल दिये। कुछ दिनों में वे उसी वन में पहुँचे। वहाँ उन्हें बलदेव दिखाई पड़े। वे उस समय श्रीकृष्ण के मृत शरीर को उबटन लगाकर उसका शृङ्गार कर रहे थे। यह देखकर पाण्डव शोक से अधीर होकर उनसे लिपट गये और रोने लगे। तब माता कुन्ती ने और पाण्डवों ने बलदेव से श्रीकृष्ण का दाह-संस्कार करने की प्रार्थना की। किन्तु बलदेव यह सुनते ही आग बबूला हो गये। वे प्रलाप करते हुए श्रीकृष्ण के निष्प्राण शरीर को गोद में लेकर निरुद्देश्य चल दिये। किन्तु पाण्डवों ने उनका साथ नहीं छोड़ा, वे भी उनके पीछे-पीछे चलते रहे।

बलदेव का भाई सिद्धार्थ, जो सारथी था, मरकर स्वर्ग में देव हुआ था तथा जिससे दीक्षा लेने के समय बलदेव ने यह वचन ले लिया था कि यदि मैं मोहग्रस्त हो जाऊँ तो तुम मुझे उपदेश देकर मार्गच्युत होने से बचाओगे, वह देव बलदेव की इस मोहान्ध अवस्था को देखकर वहाँ आया। वह रूप बदलकर एक रथ में बैठकर बलदेव के सामने आया। रथ पर्वत के विषम मार्ग पर तो टूटा नहीं, किन्तु समतल भूमि में चलते ही टूट गया। वह रथ को ठीक कर रहा था, किन्तु वह ठीक ही नहीं होता था। यह देखकर बलदेव बोले—'भद्र! तेरा रथ पर्वत के ऊबड़ खाबड़ मार्ग पर टूटा नहीं, किन्तु समतल मार्ग में टूट गया, यह बड़ा आश्चर्य है। अब यह ठीक नहीं हो सकता, इसे ठीक करना व्यर्थ है। देव ने बलदेव को आश्चर्य मुद्रा में देखा और बोला—महाभारत युद्ध में जिन महारथी कृष्ण का बाल बांका नहीं हुआ, वे जरत्कुमार के एक साधारण बाण से भूमि पर गिर पड़े। अब इस जन्म में उनका फिर से उठना क्या संभव है?

बलदेव उसकी बात की उपेक्षा करके आगे बढ़ गये। आगे जाने पर उन्होंने देखा—एक व्यक्ति शिलातल पर कमलिनी उगाने का प्रयत्न कर रहा है। यह देखकर बलदेव बोले—'क्यों भाई! क्या शिलातल पर भी कमलिनी उग सकती है?' देव जैसे इस प्रश्न के लिये तैयार ही बैठा था—'आप ठीक कहते हैं, पाषाण के ऊपर तो कमलिनी नहीं उग सकती है किन्तु निर्जीव शरीर में कृष्ण पुन. जीवित हो उठेंगे?'

बलदेव आगे बढ़े तो क्या देखते हैं कि एक मूर्ख व्यक्ति सूखे वृक्ष को सींच रहा है। बलदेव से नहीं रहा गया, वे पूछ ही बैठे—क्यों भाई! इस सूखे वृक्ष को सींचने से क्या लाभ है, यह क्या पुन: हरा हो जायगा? देव ने उत्तर दिया—'मेरा वृक्ष सींचने से तो हरा नहीं होगा, किन्तु आपके निर्जीव कृष्ण स्नान-भोजनादि कराने से अवश्य जीवित हो उठेंगे।' बलदेव 'उंह' करके आगे चल दिये।

उन्होंने देखा—'एक मनुष्य मृत बैल को घास-पानी दे रहा है। उन्होंने सोचा—दुनिया में मूर्खों की कमी नहीं है। वे कहने लगे-अरे भोले मानस! इस मृतक को घास-पानी देने से क्या लाभ है? यह सुनते ही वह मनुष्य तन कर खड़ा हो गया और बोला—दूसरों को उपदेश देने वाले संसार में बहुत हैं, किन्तु स्वयं उस उपदेश पर अमल करने वाले कम ही मिलते हैं। मेरा मृतक बैल तो दाना-पानी नहीं खा सकता, किन्तु आपके मृतक कृष्ण अवश्य खाना-पानी खा सकते हैं। क्या यही आपका विवेक है?' यह सुनते ही बलदेव के अन्तर में एक झटका-सा लगा और प्रकाश की एक ज्योति कौंध गई। वे बोले—'भद्र! आप ठीक कह रहे हैं। मैं अब तक मोह में अन्धा हो रहा था। कृष्ण का शरीर तो सचमुच ही प्राणरहित हो गया है।' देव बोला—जो कुछ भी हुआ, भगवान नेमीश्वर पहले ही सब कुछ बता चुके हैं। किन्तु सब कुछ जानते हुए भी आप जैसे विवेकी महापुरुष ने छह मास व्यर्थ ही गंवा दिये। संयोग वियोगपरिणामी है। जन्म में मरण की विभीषिका छिपी हुई है, सुख के फूल दुःख के काँटों में छिपे हुए हैं। केवल मोक्ष-सुख ही अविनाशी है। उसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये।' इस प्रकार समझाकर देव ने अपने वास्तविक रूप में प्रगट होकर अपना परिचय दिया। बलदेव ने जरत्कुमार और पाण्डवों की सहायता से तुंगीगिरि

पर कृष्ण का दाह-संस्कार किया, जरत्कुमार को राज्य दिया और नेमीश्वर भगवान की साक्षी से वहीं उन्होंने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली।

मुनि बलदेव अत्यन्त रूपवान थे। वे जब नगर में चर्या के लिये जाते थे, तो उन्हें देखकर कामिनियाँ काम-विह्वल हो जाती थीं। यह देखकर उन्होंने नियम लिया कि यदि मुझे वन में ही आहार मिलेगा, तो लेंगे, अन्यथा नहीं। वे कठोर तप द्वारा शरीर को कृश करने लगे, किन्तु उससे आत्मा की निर्मलता बढ़ती गई। वे वन में ही विहार करते थे। यह बात राजाओं के भी कान में पड़ी। वे अपने पुराने बैर-विरोध को स्मरण कर शस्त्रसज्जित होकर उसी वन में आगये। सिद्धार्थ देव ने यह देखकर वन में सिंह ही सिंह पैदा कर दिये। जब उन राजाओं ने मुनि बलदेव के चरणों में अनेक सिंह देखे तो उनकी सामर्थ्य देखकर शान्त हो गये। तभी से जगत में बलदेव मुनिराज नरसिंह नाम से विख्यात हो गये।

उन्होंने सौ वर्ष तक घोर तप किया। अन्त में समाधि धारण करके वे ब्रह्मलोक में इन्द्र बने। अवधिज्ञान से उसने पूर्व जन्म के बन्धु-बान्धवों को जान लिया। वह अपने पूर्वजन्म के प्राणोपम भाई कृष्ण के जीव के पास गया। उसने कृष्ण को अपने साथ ले जाने का बहुत प्रयत्न किया, किन्तु सफल नहीं हो सका। तब कृष्ण के जीव ने उसे समझाया—देव! सब जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार शुभ-अशुभ गति और सुख-दुःख पाते हैं। कोई किसी को सुख देने और दुःख हरने में समथ नहीं है। हम दोनों अपनी वर्तमान आयु पूर्ण करके मनुष्य पर्याय प्राप्त करेंगे और वहाँ तप करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

ब्रह्मेन्द्र वहाँ से वापिस आ गया और कृष्ण के जीव के अनुरोध के अनुसार उसने इस पृथ्वी पर कृष्ण के अनेक मन्दिर बना दिये, कृष्ण की मूर्तियाँ, शंख, चक्र और गदा युक्त बनाईं और कृष्ण को भगवान का अवतार बताकर लोगों को भ्रमित कर दिया। उसने बलदेव को शेषनाग का अवतार बताकर एक विमान में कृष्ण और बलदेव का रूप बनाकर लोगों को दर्शन दिये। इस प्रकार संसार में कृष्ण को भगवान का अवतार मानने की मान्यता और कृष्ण-पूजा प्रचलित हुई। उनके नानाविध मोहन रूपों की कल्पना की गई और उन्हें सोलह कला का अवतारी पूर्ण पुरुष मान लिया गया।

पाण्डवों ने जरत्कुमार का राज्याभिषेक किया, उसका विवाह अनेक सुलक्षणा कन्याओं के साथ कर दिया। इस काम से निश्चिन्त होकर वे पल्लव देश में गये, जहाँ भगवान नेमिनाथ विराजमान थे। उन्होंने भगवान को नमस्कार किया और प्रदक्षिणा देकर यथोचित स्थान पर बैठकर भगवान का अमृत उपदेश सुना। सुनकर उन्होंने भगवान के चरणों में मुनिदीक्षा लेली। कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा आदि रानियाँ राजीमती आर्यिका के समीप दीक्षित हो गई।

पाण्डवों की निर्वाण-प्राप्ति

एक बार पाँचों पाण्डव मुनि शत्रुंजय पर्वत पर प्रतिमायोग से विराजमान थे। तभी दुर्योधन का भानजा घूमता-फिरता उधर ही आ निकला। उसने पाण्डवों को देखा। उसके मन में यह सोचकर अत्यन्त क्षोभ हुआ कि मेरे मातुल वंश का उच्छेद करने वाले ये ही दुष्ट पाण्डव हैं। मुझे अपने मातुल वंश के इन शत्रुओं से प्रतिशोध लेने का आज यह स्वर्ण सुयोग प्राप्त हुआ है। यह विचारकर वह गांव में जाकर लोहे के आभूषण ले आया और उन्हें प्रज्वलित अग्नि में तपाकर पांचों पाण्डवों को पहना दिये। उन तप्त लौहाभरणों से मुनियों के शरीर तिल-तिलकर जलने लगे। किन्तु धीर वीर और आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जानने वाले वे मुनिराज आत्मस्वभाव में लीन हो गये। शरीर जलता रहा और उनके वीतराग परिणामों से कर्म जलते रहे। उनका ध्यान आत्मा में था, शरीर की ओर उनका उपयोग नहीं था, अतः शरीर के दाह का अनुभव भी उन्हें नहीं हुआ। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन मुनिराज तो शुक्लध्यान द्वारा कर्मों का क्षय कर सिद्ध परमात्मा बन गये और नकुल, सहदेव मुनिराज सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए।

भगवान नेमिनाथ उपदेश करते हुए उत्तरापथ से सौराष्ट्र देश में गिरनार पर्वत पर पहुँचे। वहाँ आकर भगवान ने समवसरण में विराजमान होकर उपदेश दिया। फिर समवसरण विसर्जित हो गया। भगवान एक माह तक योग निरोध कर ध्यानलीन हो गये। उन्होंने अघातिया कर्मों का नाश करके आषाढ़ कृष्णा अष्टमी के दिन

भगवान नेमिनाथ का निर्वाण कल्याणक

प्रदोप काल में अपने जन्म नक्षत्र के रहते ५३६ मुनियों के सहित सिद्धपद प्राप्त किया। उनके ८००० शिष्यों ने मुक्ति प्राप्त की। भगवान नेमिनाथ के कुल ४ अनुबद्ध केवली हुए। चारों निकाय के इन्द्रों और देवों ने आकर भगवान का निर्वाण कल्याणक महोत्सव मनाया। इन्द्र ने गिरनार पर्वत पर वज्र से उकेरकर पवित्र सिद्धशिला का निर्माण किया और उस पर जिनेन्द्र भगवान के लक्षण अंकित किये।

यादवों में समुद्रविजय आदि नौ भाई, देवकी के युगल छह पुत्र, शंव, प्रद्युम्नकुमार आदि मुनि भी गिरनार पर्वत से मोक्ष को प्राप्त हुए।

जरत्कुमार पृथ्वी का शासन करने लगा। कलिंग नरेश की पुत्री जरत्कुमार की पटरानी थी। उसके वसुध्वज नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब वसुध्वज राज्य-शासन करने योग्य हो गया, तब जरत्कुमार पुत्र पर राज्य-भार सौंप कर मुनि-दीक्षा लेकर तप करने लगा। वसुध्वज के सुवसु नामक पुत्र हुआ। सुवसु के भीमवर्मा पुत्र हुआ जो कलिंग का शासक था। इस प्रकार इस वंश में अनेक राजा हुए। फिर कपिष्ट, उसके अजातशत्रु, उसके शत्रुसेन, शत्रुसेन के जितारि और जितारि के जितशत्रु हुआ। जितशत्रु के साथ भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ की छोटी वहन का विवाह हुआ। जब भगवान महावीर का जन्मोत्सव हो रहा था, तब जितशत्रु कुण्डलपुर आया था। उस समय महाराज सिद्धार्थ ने अपने इस पराक्रमी मित्र का वड़ा सम्मान किया था। सिद्धार्थ का वहन का नाम यशोदया था। उसके यशोदा नामक पुत्री हुई। जितशत्रु अपनी पुत्री का विवाह महावीर के साथ करना चाहता था, किन्तु महावीर ने विवाह करने से इनकार कर दिया और तप करने चले गये। जितशत्रु और यशोदा दोनों ने भी दीक्षा लेली। बाद में मुनिराज जितशत्रु को केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वे मोक्ष गये।

जरत्कुमार की वंश-परम्परा

भगवान नेमिनाथ : एक ऐतिहासिक व्यक्तित्त्व

कुछ वर्ष पूर्व तक विद्वानों को श्रीकृष्ण की ऐतिहासिकता में सन्देह था, किन्तु अब उन्हें ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार कर लिया गया है। ऐसी दशा में श्रीकृष्ण के समकालीन और उनके ताऊ समुद्रविजय के पुत्र नेमिनाथ की ऐतिहासिकता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० राय चौधरी ने 'वैष्णव धर्म का इतिहास' ग्रन्थ में नेमिनाथ को श्रीकृष्ण का चचेरा भाई लिखा है। उन्होंने श्रीकृष्ण को ऐतिहासिक व्यक्ति सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण प्रस्तुत किए हैं किन्तु नेमिनाथ के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य नहीं दिया। संभवतः इसका कारण यही रहा है कि उनकी दृष्टि और उनका वर्ण्य विषय श्रीकृष्ण ही थे। उन्होंने नेमिनाथ का चरित्र-चित्रण करने में जैन ग्रन्थों का उपयोग करने में कोई रुचि नहीं दिखाई।

पी० सी० दीवान[1] ने इसके दो कारण बताये हैं। प्रथम तो यह कि हमें यह स्वीकार करना होगा कि हमारे वर्तमान ज्ञान के लिए यह संभव नहीं है कि जैन ग्रन्थकारों द्वारा एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर के बीच सुदीर्घकाल का अन्तराल कहने में उनका क्या अभिप्राय है, इसका विश्लेषण कर सकें। किन्तु केवल इसी कारण से जैन ग्रन्थों में वर्णित अरिष्टनेमि के जीवन वृत्तान्त को, जो अति प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों के आधार पर लिखा गया है, दृष्टि से ओझल कर देना युक्तियुक्त नहीं है। दूसरे कारण का स्पष्टीकरण स्पष्ट है। भागवत सम्प्रदाय के ग्रन्थकारों ने अपने परम्परागत ज्ञान का उतना ही उपयोग किया है जितना श्रीकृष्ण को परमात्मा सिद्ध करने के लिए आवश्यक था। जैन ग्रन्थों में ऐसे अनेक ऐतिहासिक तथ्य वर्णित हैं, जैसा कि ऊपर दिखाया है, जो भागवत साहित्य के वर्णन में नहीं मिलते।"

वैदिक साहित्य में यादव वंश का विस्तृत वर्णन मिलता है। उसमें अरिष्टनेमि का उल्लेख भी अनेक स्थलों पर उपलब्ध होता है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि हिन्दू पुराणों में भी यादव वंश का वर्णन एक-सा नहीं है, उसमें पर्याप्त असमानता है। हिन्दू पुराण 'हरिवंश' में यादव वंश-परम्परा इस प्रकार दी है—

1. Annals of the Bhandarkar Research Institute, Poona, Vol. 23, P. 122.

महाराज यदु के सहस्रद, पयोद, क्रोष्टा, नील और अंजिक नामक देवकुमारों के तुल्य पांच पुत्र हुए। क्रोष्टा की माद्री नाम की दूसरी रानी से युधाजित और देवमीढुष नामक दो पुत्र हुए। युधाजित के वृष्णि और अन्धक नामक दो पुत्र हुए। वृष्णि के दो पुत्र हुए—स्वफल्क और चित्रक। स्वफल्क के अक्रूर हुआ। चित्रक क बारह पुत्र हुए जिनके नाम इस प्रकार थे:—

चित्रकस्याभवन् पुत्राः पृथुर्विपृथुरेव च।
अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च सुपार्श्वकगवेषणौ ॥१५॥
अरिष्टनेमिरश्वश्च सुधर्माधर्मभृत्तथा।
सुबाहुर्बहुबाहुश्च श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ ॥१६॥

—हरिवंश पु०, पर्व १, अध्याय ३४

चित्रक के पृथु, विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत्, सुबाहु और बहुबाहु नामक बारह पुत्र और श्रविष्ठा एवं श्रवणा नाम की दो पुत्रियाँ हुई।

यहाँ चित्रक के एक पुत्र का नाम अरिष्टनेमि दिया है।

हरिवंश पुराण में श्रीकृष्ण की वंश-परम्परा इस प्रकार दी है—

क्रोष्टा के दूसरे पुत्र देवमीढुप के शूर, शूर के दस पुत्र और पांच पुत्रियाँ हुई। पुत्रों के नाम इस प्रकार थे—वसुदेव, देवभाग, देवश्रवा, अनावृष्टि, कनवक, वत्सवान्, गृंजिम, श्याम, शमीक और गण्डूष। पुत्रियों के नाम ये थे—पृथुकीर्ति, पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी

—हरिवंश पर्व १, अ० ३४, श्लोक १७-२३

हरिवंश पुराण पर्व २ अध्याय ३७ और ३८ में एक दूसरी वंश-परम्परा दी है जो इस प्रकार है—

इक्ष्वाकु वंश में हर्यश्व हुआ। उसकी रानी मधुमती से यदु नामक पुत्र हुआ। यदु के पांच पुत्र हुए—मुचकुन्द, माधव, सारस, हरित और पार्थिव। माधव से सत्वत, सत्वत से भीम, भीम से अन्धक, अन्धक से रैवत, रैवत से विश्वगर्भ, विश्वगर्भ की तीन स्त्रियों से चार पुत्र हुए—वसु, बभ्रु, सुषेण और सभाक्ष। वसु से वसुदेव और वसुदेव से श्रीकृष्ण हुए।

हरिवंश पुराण के समान महाभारत में भी यदुवंश की दो परम्परायें दी गई हैं—

प्रथम परम्परा के अनुसार बुध से पुरुरव, पुरुरव से आयु, आयु से नहुष, नहुष से ययाति, ययाति से यदु, यदु से क्रोष्टा, क्रोष्टा से वृजिनिवान्, वृजिनिवान् से उषंगु, उषंगु से चित्ररथ, चित्ररथ का छोटा पुत्र शूर, शूर से वसुदेव और वसुदेव से चतुर्भुजाधारी श्रीकृष्ण हुए।

—महाभारत, अनुशासन पर्व, अ० १४७ श्लोक २७—३२

महाभारत की द्वितीय परम्परा के अनुसार ययाति की रानी देवयानी से यदु हुआ। उसके वंश में देवमीढ हुआ। देवमीढ से शूर, शूर से शौरि वसुदेव हुए।

—महाभारत, द्रोणपर्व, अ० १४४, श्लोक ६—७

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दू पुराणों में यदुवंश की परम्परा के सम्बन्ध में अनेक मत प्राप्त होते हैं। काल के लम्बे अन्तराल ने यदु वंश परम्परा को विस्मृति के कुहासे में ढंक दिया। जिन ऋषियों ने जैसा सुना, वैसा लिख दिया।

दूसरी ओर जैन परम्परा में यदु-वंश की एक ही परम्परा उपलब्ध होती है। दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों की अपनी-अपनी निरवच्छिन्न परम्परा रही है। इसी कारण दोनों ही सम्प्रदायों में यदु-वंश-परम्परा में एकरूपता और समानता मिलती है। जैन परम्परा के अनुसार यदुवंश परम्परा इस भांति है—

हरिवंश में यदु नामक प्रतापी राजा हुआ। इसी से यदुवंश चला। यदु से नरपति, नरपति के दो पुत्र हुए—शूर और सुवीर। सुवीर मथुरा में शासन करने लगा। शूर ने कुशद्य देश में शौर्यपुर नगर बसाया और वहीं शासन करने लगा। शूर के अन्धकवृष्णि और सुवीर के भोजकवृष्णि पुत्र हुआ। अन्धकवृष्णि के १० पुत्र हुए—

१ समुद्रविजय, २ अक्षोभ्य, ३ स्तिमितसागर, ४ हिमवान, ५ विजय, ६ अचल, ७ धारण, ८ पूरण, ९ अभिचन्द्र और १० वसुदेव। दो पुत्रियाँ हुईं—कुन्ती और माद्री। समुद्रविजय के नेमिनाथ अथवा अरिष्टनेमि हुए, जो बाईसवें तीर्थंकर थे। वसुदेव के बलराम और श्रीकृष्ण हुए जो नौवें बलभद्र और नारायण थे। इस प्रकार नेमिनाथ और श्रीकृष्ण चचेरे भाई थे।

जैन परम्परा के समान हिन्दू पुराण 'हरिवंश' के अनुसार भी श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे। इन दोनों के परदादा युधाजित और देवमीढुष दोनों सहोदर थे।

हिन्दू पुराणों में हरिवंश पुराण और महाभारत के अतिरिक्त प्रभास पुराण में रैवत (गिरनार) पर्वत पर नेमि जिन का उल्लेख मिलता है और उन्हें मुक्तिमार्ग का कारण बताया है। वह उल्लेख इस प्रकार है--

"रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥

स्कन्द पुराण के प्रभास खण्ड में शिव और नेमिनाथ को एक माना है। सन्दर्भ इस प्रकार है—

"भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपः कृतम्।
तेनैव तपसाकृष्टः शिवः प्रत्यक्षतां गतः॥
पद्मासनः समासीनः श्याममूर्तिर्दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवोऽथैवं नाम चक्रेऽस्य वामनः॥
कलिकाले महाघोरे सर्वपापप्रणाशकः।
दर्शनात् स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रदः॥

अर्थात् जन्म के अन्तिम भाग में वामन ने तप किया। उस तप के कारण शिव ने वामन को दर्शन दिया। वे शिव पद्मासन से स्थित थे। श्याम वर्ण थे और दिगम्बर थे। वामन ने उन शिव का नाम नेमिनाथ रक्खा। ये नेमिनाथ इस घोर कलिकाल में सब पापों के नाश करने वाले हैं। उनके दर्शन और स्पर्शमात्र से करोड़ों यज्ञों का फल होता है।

यहाँ शिव को पद्मासनासीन, श्याम वर्ण और दिगम्बर बताया है और उनको नेमिनाथ नाम दिया है। जैन परम्परा में नेमिनाथ कृष्ण वर्ण, पद्मासनासीन और दिगंबर माने गये हैं। उनकी मूर्तियों में ये तीन विशेषतायें होती हैं। जबकि शिव वस्तुतः कृष्ण वर्ण के नहीं थे। हिन्दू पुराणों की एक विशेष शैली है। वे वैदिकेतर महापुरुषों को शिव या विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित करते हैं। उन्होंने ऋषभदेव को विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किया है। इसी प्रकार नेमिनाथ को शिव के रूप में लिखा है।

हिन्दू पुराणों में शौरिपुर के साथ यादवों का कोई संबन्ध स्वीकार नहीं किया। किन्तु महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १४९ में विष्णुसहस्र नाम में दो स्थानों पर 'शूरः शौरिर्जनेश्वरः' पद आया है। यथा—

'अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः॥५०॥
कालनेमिनिहा वीरः शूरः शौरिर्जनेश्वरः॥८२॥

इसमें उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें श्रीकृष्ण को शौरि लिखा है। आगरा से ४० मील दूर शौरीपुर नामक स्थान है। जैन साहित्य में नेमिनाथ का जन्म इसी शौरीपुर में माना गया है। यादवों की अन्धकवृष्णि शाखा की राजधानी यही नगरी थी। यहीं पर नेमिनाथ और श्रीकृष्ण के पिता रहते थे। हिन्दू 'हरिवंश पुराण' में भी श्रीकृष्ण को एक स्थान पर शौरि लिखा है। यथा—

'वसुदेवाच्च देवक्यां जज्ञे शौरिर्महायशाः॥७॥

—हरिवंश पुराण पर्व १, अध्याय ३५

महाभारत में तो वसुदेव के विशेषण के रूप में शौरि पद प्रयुक्त हुआ है। यथा--

शूरस्य शौरिर्नृवरो वसुदेवो महायशाः॥७॥

—महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय १४४

इन उल्लेखों से इस जैन मान्यता की पुष्टि होती है कि वसुदेव, श्रीकृष्ण और नेमिनाथ शौरीपुर के रहने वाले थे, जबकि हिन्दू मान्यता में शौरीपुर को कोई स्वीकृति नहीं मिलती। जैन मान्यता के अनुसार जरासन्ध के आक्रमणों से परेशान होकर और युद्ध की तैयारी के लिये समय प्राप्त करने के उद्देश्य से यादवों ने शौरीपुर से पलायन किया था और द्वारका नगरी का निर्माण करके वहाँ रहने लगे थे।

जब हम हिन्दू पुराणों से पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं तो हमें उसमें भी अरिष्टनेमि के उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं। वैदिक साहित्य में ऋग्वेद को प्राचीनतम रचना स्वीकार किया जाता है। उसमें अनेक मन्त्रों का देवता अरिष्टनेमि है और उसकी बार-बार स्तुति की गई है।[1]

अथर्ववेद के माण्डूक्य, प्रश्न और मुण्डक उपनिषदों में भी अरिष्टनेमि के उल्लेख मिलते हैं।

हिन्दू साहित्य के समान बौद्ध साहित्य में भी अरिष्टनेमि का स्मरण अनेक स्थानों पर किया गया है। 'लंकावतार' के तृतीय परिवर्तन में लिखा है—जैसे एक ही वस्तु के अनेक नाम होते हैं, ऐसे ही बुद्ध के भी असंख्य नाम हैं। लोग इन्हें तथागत, स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण,ईश्वर विष्णु, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि आदि नामों से पुकारते हैं।

'ऋषि भाषित सुत्त' में अरिष्टनेमि और कृष्ण निरूपित पेंतालीस अध्ययन हैं। उनमें बीस अध्ययनों के प्रत्येक बुद्ध अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में हुए थे।

इतिहासकारों में कर्नल टाड लिखते हैं—'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। उनमें पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केण्डोनेविया निवासियों के प्रथम 'ओडिन' और चीनियों के प्रथम 'फो' देवता थे।'

श्रीकृष्ण के गुरु

छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण का उल्लेख मिलता है। उसमें उनके गुरु का नाम घोर आङ्गिरस बताया है। आङ्गिरस ऋषि ने श्रीकृष्ण को नैतिक तत्वों एवं अहिंसा का उपदेश दिया। जैनों की मान्यतानुसार भगवान नेमिनाथ ने श्रीकृष्ण को अहिंसा का उपदेश दिया था। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी ने 'भारतीय संस्कृति और अहिंसा' पुस्तक के पृष्ठ ३८ में यह संभावना व्यक्त की है कि घोर आङ्गिरस नेमिनाथ के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकते। यद्यपि इस संभावना की पुष्टि अन्य प्रमाणों द्वारा अभी तक नहीं हो पाई है। किन्तु जैन पुराणों में श्रीकृष्ण को अहिंसा का उपदेश देने वाले नेमिनाथ और छान्दोग्य उपनिषद् में श्रीकृष्ण को अहिंसा का उपदेश देने वाले घोर आङ्गिरस में समानता के बीज ढूंढ़े जा सकते हैं। अन्वेषण के फलस्वरूप नेमिनाथ और आङ्गिरस में ऐक्य स्थापित हो जाय तो कोई आश्चर्य न होगा।

श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार मानने की परिकल्पना

हिन्दू धर्म में श्रीकृष्ण का प्रभाव सर्वोपरि है। भागवत आदि पुराणों में विष्णु के जिन चौबीस अथवा दशावतारों की कल्पना की गई है, उनमें श्रीकृष्ण को पूर्णावतार और शेष अवतारों को अंशावतार स्वीकार किया गया है। वेदों में अवतारवाद की यह कल्पना दृष्टिगोचर नहीं होती। उपनिषद् काल में भी अवतारवाद का जन्म नहीं हुआ। ब्राह्मण काल में अवतारवाद के बीज प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में सर्वप्रथम यह उल्लेख मिलता है कि प्रजापति ने मत्स्य, कूर्म और वराह का अवतार लिया था। किन्तु इसमें भी विष्णु के अवतार लेने का कोई संकेत नहीं है। पौराणिक काल में संभवतः इसी भावना को पल्लवित और विकसित करके विष्णु के अवतार की कल्पना की गई। इस प्रकार अवतारवाद की मान्यता वैदिक धर्म के लिये सर्वथा नवीन और अपूर्व थी। किन्तु वैदिक ऋषियों को वेदों में वर्णित भौतिक और काल्पनिक देवताओं को तिलाञ्जलि देकर विष्णु के मानव देहधारी अवतार की कल्पना क्यों करनी पड़ी, यह जानना अत्यन्त रुचिकर होगा और उससे वैदिक धर्म के क्रमिक विकास के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है।

---

१. ऋग्वेद १।१४।८६।६, १।२४।१८०।१०, ३।४।५३।१७, १०।१२।१७८।१ मथुरा संस्करण १९६०

इस सांस्कृतिक युद्ध का दूसरा चरण उस समय प्रारम्भ हुआ, जब जातीय युद्ध से लोग ऊब गये। उस समय तक आर्य लोग विशाल भूखण्ड पर अधिकार कर चुके थे और वे यहाँ के मूल निवासियों के साथ काफी घुलमिल गये थे और उनकी संस्कृति की अनेक विशेषताओं से वे प्रभावित हो चुके थे। उन्होंने अनुभव किया कि नीरस यज्ञ-यागों और शुष्क क्रियाकाण्डों के सहारे संस्कृति की गाड़ी को गति नहीं मिल सकती। ये जनमानस को अधिक प्रभावित भी नहीं करते। दूसरी ओर क्षत्रिय वर्ग गम्भीर आध्यात्मिक तत्त्व चिन्तन में निरत था। उससे अध्यात्म रसिकों की जिज्ञासा को समाधान मिलता था। क्षत्रिय वर्ग की इस अध्यात्मविद्या से प्रभावित होकर ही वैदिक ऋषियों ने उस काल में उपनिषदों की रचना की। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर इस प्रकार के कथानक और परिसंवाद उपलब्ध होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि अनेक ऋषि क्षत्रियों के निकट अध्यात्मविद्या सीखने जाते थे। वस्तुतः उस काल तक आत्म विद्या के स्वामी क्षत्रिय ही थे, ब्राह्मण ऋषियों को आत्म विषयक ज्ञान नहीं था।

छान्दोग्य उपनिषद् (५-३) में एक संवाद आया है, जिसका आशय इस प्रकार है—एक बार आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पाञ्चाल देश के लोगों की सभा में आया। उससे जीवल के पुत्र प्रवाहण ने पूछा—'कुमार! क्या पिता ने तुझे शिक्षा दी है?' उसने कहा—'हाँ भगवन्!' तब प्रवाहण ने उससे आत्मा और उसके पुनर्जन्म के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे किन्तु वह एक का भी उत्तर नहीं दे सका। तब निराश होकर श्वेतकेतु अपने पिता के पास गया और सारी घटना बताकर कहा कि आपने मुझसे यह कैसे कह दिया कि मैंने तुझे शिक्षा दी है। मैं उस क्षत्रिय के एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे सका। तब वह गौतम गोत्रीय ऋषि बोला—मैं भी इन प्रश्नों का उत्तर नहीं जानता। इसके पश्चात् वह ऋषि प्रवाहण के पास गया और उससे आत्म-विद्या सिखाने का अनुरोध किया। राजा ने ऋषि से कहा- 'पूर्व काल में तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणों के पास नहीं गई। इसी से सम्पूर्ण लोकों में इस विद्या के द्वारा क्षत्रियों का ही अनुशासन होता रहा[1] है।' अन्त में राजा ने उसे वह विद्या सिखाई। वह विद्या थी पुनर्जन्म का सिद्धान्त। इससे प्रमाणित होता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त ब्राह्मणों ने क्षत्रियों से लिया[2] है।

छान्दोग्य उपनिषद् (५-११) तथा शतपथ ब्राह्मण (१०-६-१) में एक कथा आई है कि उपमन्यु का पुत्र प्राचीन शाल, पुलुप का पुत्र सत्ययज्ञ, भाल्लवि का पौत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्ष का पुत्र जन और अश्वतराश्व का पुत्र बुडिल ये महागृहस्थ और परम श्रोत्रिय एकत्र होकर आत्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासा लेकर अरुण के पुत्र उद्दालक के पास गये, किन्तु वह आत्मा के सम्बन्ध में स्वयं ही नहीं जानता था। अतः वह इन्हें लेकर केकयकुमार अश्वपति के पास गया। उसने राजा से आत्मा के संबन्ध में जिज्ञासा की। तब राजा ने उन्हें आत्म-विद्या का उपदेश दिया।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य को राजा[3] जनक ने, इन्द्र को प्रजापति[4] ने, नारद को सनत्कुमार[5] ने, नचिकेता को यमराज[6] ने आत्म-विद्या सिखाई, इस प्रकार के उपाख्यान वैदिक साहित्य में मिलते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषि यह अनुभव करते थे कि वैदिक क्रियाकण्ड आत्मज्ञान के सामने तुच्छ है। वैदिक क्रिया काण्ड से स्वर्ग भले ही मिल जाय, किन्तु अमृतत्व और अभयत्व केवल आत्म ज्ञान से ही मिल सकता है।

इस सम्बन्ध में डॉ० दास गुप्ता का अभिमत है कि "आमतौर से क्षत्रियों में दार्शनिक अन्वेषण की उत्सुकता विद्यमान थी और उपनिषदों के सिद्धान्तों के निर्माण में अवश्य ही उनका मुख्य प्रभाव रहा है।"[7]

वेदों में क्षत्रियों की आत्म-विद्या के दर्शन नहीं होते। सर्वप्रथम उपनिषदों ने क्षत्रियों से आत्म-विद्या

---

१. यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति तस्माद् सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥७॥ छान्दोग्य उपनिषद् ५-३

२. हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, डॉ० विण्टरनीट्स, जिल्द १. पृ० २३१

३. विण्टरनीट्सकृत हि० आ० इ० लि०, जि० १. पृ० २२७-८

४. छान्दोग्य उपनिषद् अ० ८

५. "　अ० ७

६. कठोपनिषद्

७. History of Indian Philosophy, by Dr. Das Gupta, Vol. I, p. 13

लेकर उसे आत्मसात् कर लिया और उसे ऐसा रंग प्रदान किया, जिससे यह प्रतीत होने लगा कि आत्म-विद्या उपनिषदों की मौलिक देन है। इसके पश्चात् वैदिक धर्म ने क्षत्रियों द्वारा स्वीकृत एवं व्यवहृत संन्यास मार्ग को अपनाया। लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक 'गीता रहस्य' (पृ० ३४२) में लिखते हैं—'जैन और बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों ने कापिल सांख्य के मत को स्वीकार करके इस मत का विशेष प्रचार किया कि संसार को त्याग कर सन्यास लिये बिना मोक्ष नहीं मिलता।......यद्यपि श्री शंकराचार्य ने जैन और बौद्धों का खण्डन किया है, तथापि जैन और बौद्धों ने जिस सन्यास मार्ग का विशेष प्रचार किया था, उसे ही श्रौत स्मार्त सन्यास कहकर आचार्य ने कायम रखा।' वेदों में सन्यास मार्ग का कोई वर्णन नहीं मिलता। वेद तो क्रियाकाण्ड प्रधान प्रवृतिपरक ग्रन्थ हैं; निवृत्ति मार्ग तो केवल क्षत्रियों की श्रमण परम्परा में ही प्रचलित था। उपनिषद् काल में उन्हीं से सन्यास मार्ग को अपनाया गया।

धीरे-धीरे वैदिक धर्मानुयायी जनता उपनिषदों के शुष्क आध्यात्मिक वितण्डावाद से भी ऊबने लगी। उसकी आध्यात्मिक चेतना और भूख को उपनिषद् भी खुराक नहीं जुटा सके। वह जनता ब्राह्मणों की एकाधिकारवादी प्रवृत्ति से भी असन्तुष्ट थी। वह देख रही थी कि जैन और बौद्ध धर्म में सभी वर्गों और वर्णों के लिये उन्नति के द्वार खुले हुए हैं। जैन तीर्थंकरों और तथागत बुद्ध का उपदेश जनता की भाषा में होता है, सभी वर्ण के लोग उसको सुनने, सुनकर उनका आचरण करने और आचरण करके अपनी सर्वोच्च आत्मिक उन्नति करने के अधिकारी हैं। सभी तीर्थंकर और बुद्ध मानव से भगवान बने हैं। उक्त धर्मों की इन विशेषताओं के कारण वैदिक जनता में वैदिक धर्म के प्रति घोर असन्तोष व्याप्त हो रहा था, बुद्धिजीवी वर्ग विद्रोह तक करने के लिये तैयार था और अनेक लोग वैदिक धर्म को त्याग कर जैन और बौद्ध धर्मों में दीक्षित हो रहे थे। अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान महावीर के ग्यारह गणधरों में सभी ब्राह्मण थे। तथागत बुद्ध के पचवर्गीय भिक्षुओं में सभी ब्राह्मण थे। यह तथ्य इस बात का प्रमाण है कि तत्कालीन वैदिक जनता में अपने धर्म के प्रति कितना घोर असन्तोष था। अतः उस समय इन धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिये ऐसे धर्म की आवश्यकता थी, जो उक्त धर्मों के विरुद्ध जनता को प्रभावित कर सकता। उसी आवश्यकता के फलस्वरूप भागवत धर्म की उत्पत्ति हुई, जिसे बाद में वैष्णव धर्म कहा जाने लगा। यद्यपि इस धर्म के प्रवर्तक ब्राह्मण थे, किन्तु जन-असन्तोष को देखकर उन्हें क्षत्रिय कृष्ण को विष्णु का अवतार घोषित करना पड़ा और इस प्रकार मानव शरीरधारी ईश्वर की सृष्टि की गई।

प्रसिद्ध इतिहासकार श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा लिखते हैं—

"बौद्ध और जैनधर्म के प्रचार से वैदिक धर्म को बहुत हानि पहुँची। इतना ही नहीं, किन्तु उसमें परिवर्तन करना पड़ा और वह नये सांचे में ढलकर पौराणिक धर्म बन गया। उसमें बौद्ध और जैनों से मिलती धर्म सम्बन्धी बहुत-सी नई बातों ने प्रवेश किया[1]।"

यद्यपि हिन्दू इतिहासकारों ने इस बात को दबे शब्दों में स्वीकार किया है, किन्तु तथ्य यह है कि जैन तीर्थंकर और तथागत बुद्ध मनुष्य थे। वे अपने आध्यात्मिक प्रयत्नों से भगवान बने थे और उनकी मान्यता एवं पूजा देवताओं से अधिक होती थी, यहाँ तक कि देवता भी उनकी पूजा करने में गौरव का अनुभव करते थे। मनुष्य भी अपने प्रयत्नों से भगवान बन सकता है, यह सिद्धान्त लोक-मानस को अधिक रुचिकर एवं प्रेरणाप्रद लगा। इसी सिद्धान्त से प्रभावित होकर ब्राह्मण धर्मनायकों ने एक ऐसे ईश्वर की कल्पना की, जो मनुष्य के रूप में अवतार लेकर अलौकिक कार्य करने की क्षमता रखता है, जो दुष्ट-दलन और शिष्ट-पालन करता है। श्रमण परम्परा के सिद्धान्त को ब्राह्मणों ने अपनी शैली में ढालकर हिन्दू-धर्म की जर्जर नाव को डूबने से बचाया। कृष्ण को अवतार मानने की यह प्रक्रिया निश्चय ही श्रमण परम्परा के व्यापक प्रभाव का परिणाम थी, यद्यपि इस प्रक्रिया में दोनों संस्कृतियों का मौलिक भेद स्पष्टतया उभर कर आने से छिपा रह नहीं सका। श्रमण परम्परा में मनुष्य भगवान बन सकता है, यह उत्तारवाद अथवा उन्नतिवाद का परिणाम है। दूसरी ओर भगवान मनुष्य बन सकता है, यह अवतारवाद अथवा अवनतिवाद का परिपाक कहा जा सकता है। दूसरी बात जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, वह

---

१. राजस्थान का प्राचीन इतिहास, प्रथम भाग, पृ० १०-११

यह है कि श्रमण परम्परा की मौलिक विशेषता श्रम की प्रतिष्ठा है, जबकि वैदिक परम्परा श्रम को महत्व न देकर अधिनायकवाद को प्रश्रय देती है। श्रमण परम्परा में लोकतन्त्री व्यवस्था का उच्च स्थान है, वहाँ हर व्यक्ति को समान अधिकार, उन्नति के समान अवसर और कर्तव्य की प्रतिष्ठा है, जबकि वैदिक परम्परा के अवतारवाद की कल्पना में कोई अपने पुरुषार्थ से सर्वोच्च आध्यात्मिक पद प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है, वहाँ संसार से मुक्त होने या निर्वाण प्राप्त करने तथा भगवान बनने की कल्पना तक नहीं की जा सकती, वल्कि अवतारी भगवान की प्रसन्नता पाने पर विष्णु-लोक में पहुँचने तक की उड़ान की गई है। ब्राह्मणों ने दूसरों की अच्छाइयों, दूसरों के महापुरुषों और सिद्धान्तों को आत्मसात् करके उन्हें अपने रंग में रंगने का जो निष्फल प्रयास किया, उसी के फल-स्वरूप शिव, पार्वती, विष्णु, कृष्ण, ऋषभ, बुद्ध आदि को अपने अवतारों में गिन तो लिया, उससे ऋषभ, बुद्ध आदि अवतार उनके ग्रन्थों की शोभा वस्तु तो वन गये, किन्तु उनके मन्दिरों में वे प्रवेश न पा सके। शिव और विष्णु के अवतारों की भी ऐसी खिचड़ी पकी कि उनके दाने अलग थलग ही रहे, मिल नहीं पाये। शिव पुराण, लिंग पुराण आदि में विष्णु से शिव को उच्चतर पद दिया गया और महाभारत, भागवत, विष्णुपुराण, हरिवंश पुराण आदि में विष्णु—विशेषत: उनके अवतार कृष्ण को सबसे उच्च पद पर आसीन किया गया। फिर भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि ब्राह्मणों की सबको पचाकर हजम करने की प्राचीन प्रक्रिया के कारण वैदिक धर्म भारत के व्यापक क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करने में समर्थ हो सका। अब शिव प्रार्ग्यकालीन देवता नहीं प्रतीत होते, वे तो, लगता है जैसे वेदों की उपज हों। इसी प्रकार विष्णु और उनके अवतार कृष्ण पश्चात्कालीन कल्पना की उपज नहीं लगते, वल्कि गीता में कृष्ण ने अपने आपको यज्ञरूप और वेदरूप कहकर वेदों से समझौता कर लिया है, ऐसे ज्ञात होते हैं।

अधिकांश इतिहासकार इससे सहमत हैं कि ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया गया था। उन्हें सर्वोच्च स्थान देने की दृष्टि से ही अन्य अवतारों को विष्णु के अवतार के रूप में मान्यता दी गई। इसीलिये इन अवतारों में भी भेद रखा गया। कृष्ण को विष्णु का षोडश कलावतार अथवा पूर्णावतार माना गया, जबकि अन्य अवतारों को केवल अंशावतार ही माना गया।

जैन मान्यतानुसार श्रीकृष्ण की लोकव्यापी प्रतिष्ठा स्थापित करने में उनके भाई बलराम का हाथ था। उन्होंने देव वनने के बाद पूर्व जन्म के भ्रातृस्नेहवश श्रीकृष्ण के रूप, गुण, बुद्धि, पराक्रम, वैभव आदि के चमत्कारों का ऐसा सुनियोजित प्रचार किया, जिससे लोक मानस में श्रीकृष्ण आराध्य के रूप में छा गये और वे घर-घर में अतिमानव के रूप में पूजे जाने लगे। यह कल्पना भी पौराणिक काल की उपज रही हो तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं होगी।

भगवान नेमिनाथ से सम्बद्ध नगर

नेमिनाथ की जन्म-नगरी-शौरीपुर—आगरा से, दक्षिण-पूर्व की ओर वाह तहसील में ७० कि० मी० दूर वटेश्वर गांव है। यहाँ से ५ कि० मी० दूर यमुना के खारों में शौरीपुर क्षेत्र अवस्थित है। वाह से वटेश्वर ८ कि०मी० और शिकोहावाद से २५ कि० मी० है।

शौरीपुर ही वह पावन भूमि है, जहाँ भगवान नेमिनाथ वहाँ के अधिपति समुद्रविजय की महारानी शिवा-देवी के गर्भ में अवतरित हुए थे। उनके गर्भावतरण से छः माह पूर्व से इन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने रत्नवर्षा की थी, जो उनके जन्म-काल तक प्रतिदिन चार वार होती रही। उनके जन्म के सम्बन्ध में तिथि आदि ज्ञातव्य वातों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य यतिवृषभ 'तिलोय पण्णत्ती' ग्रन्थ में लिखते हैं—

सउरीपुरम्मि जादो सिवदेवीए समुद्दविजएण।
वइसाह तेरसीए सिदाए चित्तासु णेमिजिणो ।।४।५४७

अर्थात् नेमि जिनेन्द्र शौरीपुर में माता शिवादेवी और पिता समुद्रविजय से वैशाख शुक्ला १३ को चित्रा नक्षत्र में उत्पन्न हुए।

देवों और इन्द्रों ने भक्ति और उल्लासपूर्वक भगवान के इन दो कल्याणकों का महोत्सव शौरीपुर में अत्यन्त समारोह के साथ मनाया। इन दो कल्याणकों के कारण यह भूमि कल्याणक भूमि, क्षेत्र मंगल और तीर्थ क्षेत्र कहलाने लगी।

पौराणिक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस तीर्थक्षेत्र पर कुछ मुनियों को केवलज्ञान तथा निर्वाण प्राप्त हुआ था।

गन्धमादन पर्वत पर सुप्रतिष्ठ मुनि तप कर रहे थे। उनके ऊपर सुदर्शन नामक एक यक्ष ने घोर उपसर्ग किया। मुनिराज ने उसे समतापूर्वक सहन कर लिया और आत्म-ध्यान में लीन रहे। फलतः उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्हीं केवली भगवान के चरणों में शौरीपुर नरेश अन्धकवृष्णि और मथुरा नरेश भोजकवृष्णि नें मुनि दीक्षा लेली।

मुनि धन्य यमुना-तट पर ध्यानमग्न थे। शौरीपुर नरेश शिकार न मिलने के कारण अत्यन्त क्षुब्ध था। उसकी दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। उस मूर्ख ने विचार किया कि शिकार न मिलने का कारण यह मुनि है। उसने क्रोध और मूर्खतावश तीक्ष्ण वाणों से मुनिराज को बींध दिया। मुनिराज शुक्लध्यान द्वारा कर्मों को नष्ट कर सिद्ध भगवान वन गये।

मुनि अलसत्कुमार विहार करते हुए शौरीपुर पधारे और यमुना-तट पर योग निरोध करके ध्यानारूढ़ हो गये। कर्म शृंखलायें टूटने लगीं। उन्हें केवलज्ञान हो गया और निर्वाण प्राप्त किया।

यम नामक अन्तःकृत केवली यहीं से मुक्त हुए।

इस प्रकार न जाने कितने मुनियों को यहाँ केवलज्ञान हुआ और कितने मुनि यहाँ से मुक्त हुए। मुनियों को यहाँ से निर्वाण प्राप्त हुआ, अतः यह स्थान साधारण तीर्थ न होकर निर्वाण क्षेत्र या सिद्धक्षेत्र है।

सिद्धक्षेत्र होने के अतिरिक्त यहाँ अनेक ऐतिहासिक और पौराणिक घटनायें भी हुई थीं। भगवान ऋषभदेव, भगवान नेमिनाथ, भगवान पार्श्वनाथ और भगवान महावीर का इस भूमि पर विहार हुआ था। उनका समवसरण यहाँ लगा था और उनके लोककल्याणकारी उपदेश हुए थे। यहीं पर प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द्र के गुरु आचार्य लोकचन्द्र हुए थे। यह भी अनुश्रुति है कि आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने सुप्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ 'प्रमेय कमल मार्तण्ड' की रचना यहीं पर की थी।

उस समय यादववंशियों के तीन राज्य थे—(१) कुशद्य-जनपद, जिसकी राजधानी शौरीपुर या शौर्यपुर थी और जिसे शूर ने वसाया था। (२) शूरसेन जनपद, जिसकी राजधानी मथुरा थी। (३) वीर्यपुर। यह कहाँ अवस्थित था और इसका कौन राजा था, यह ज्ञात नहीं हो पाया। संभवतः चन्दवाड़ का पूर्वनाम वीर्यपुर रहा हो अथवा यह इसके कहीं आसपास रहा हो। मथुरा के नरेश भोजकवृष्णि और शौरीपुर के नरेश अन्धकवृष्णि दोनों चचेरे भाई थे। भोजकवृष्णि के तीन पुत्र थे—उग्रसैन, महासेन और देवसेन। पिता के पश्चात् मथुरा का राज्य उग्रसैन को मिला। उग्रसेन का पुत्र कंस था, जिसने अपने पिता को कारागार में डाल दिया था और बाद में श्रीकृष्ण ने कंस का वध करके उग्रसैन को कारागार से मुक्त किया। अन्धकवृष्णि की महारानी सुभद्रा से दस पुत्र और दो पुत्रियाँ हुईं। दस पुत्रों में समुद्रविजय सवसे ज्येष्ठ थे और वसुदेव सवसे छोटे थे। पुत्रियों के नाम कुन्ती और मद्री थे, जिनका विवाह हस्तिनापुर के राजकुमार पाण्डु के साथ हुआ और जिनसे पांच पाण्डव उत्पन्न हुए। समुद्रविजय की महारानी शिवादेवी से नेमिनाथ तीर्थकर का जन्म हुआ। वसुदेव की महारानी रोहिणी से वलराम हुए और दूसरी महारानी देवकी से श्रीकृष्ण उत्पन्न हुए। दोनों भाई क्रमशः वलभद्र और नारायण थे। नारायण श्रीकृष्ण ने ही उस समय के सवसे प्रतापी सम्राट् राजगृह नरेश जरासन्ध का वध किया था।

जव यादव शौरीपुर, मथुरा और वीर्यपुर का त्याग करके पश्चिम की ओर चले गये और द्वारका बनाकर वहीं रहने लगे, तव वहाँ का शासन-सूत्र श्रीकृष्ण ने संभाला। यादवों के जाने के पश्चात् शौरीपुर की महत्ता समाप्तप्राय हो गई। जैन पुराणों में यादवों के निष्क्रमण के पश्चात् शौरीपुर का उल्लेख बहुत कम आता है। [illegible]

वार तो उस समय, जब श्रीकृष्ण ने भरत क्षेत्र के तीन खण्डों पर विजय प्राप्त करके विभिन्न व्यक्तियों को विभिन्न स्थानों का राज्य प्रदान किया। उस समय उग्रसैन के पुत्र द्वार को मथुरा का राज्य दिया तथा महानेमि को शौर्यपुर का राज्य प्रदान किया। किन्तु महानेमि की वंश-परम्परा के सम्बन्ध में जैन पुराण मौन हैं। संभवतः इसका कारण यह रहा हो कि शौरीपुर में इसके पश्चात् कोई उल्लेखनीय घटना घटित न हुई हो और शौरीपुर का महत्त्व राजनैतिक या धार्मिक दृष्टि से नगण्य रह गया हो। दूसरी वार उस समय, जब विहार करते हुए भगवान पार्श्वनाथ शौरीपुर पधारे। उस समय यहाँ प्रभंजन नामक राजा राज्य करता था। भगवान का उपदेश सुनकर वह उनका भक्त बन गया।

वर्तमान में यहाँ आदि मन्दिर, वरुआ मठ, शंखध्वज मन्दिर ये तीन मन्दिर हैं तथा पंच मठी है। एक अहाते में यम मुनि, और धन्य मुनि की छतरियाँ बनी हुई हैं, जिनमें चरण विराजमान हैं। दो छतरियाँ खाली पड़ी हुई हैं। एक टोंक भी बनी हुई है। उसमें कोई प्रतिमा नहीं है। चरण अवश्य विराजमान हैं, जिनकी स्थापना भट्टारक जिनेन्द्र भूषण के उपदेश से संवत् १८२८ में हुई थी। वरुआमठ यहाँ का सबसे प्राचीन मन्दिर है, किन्तु इसकी कुछ प्राचीन प्रतिमायें चोरी चली गईं। इन मन्दिरों में सबसे प्राचीन मूर्ति उसके लेख के अनुसार संवत् १३०८ में प्रतिष्ठित हुई थी।

यहाँ समाज की ओर से तथा सरकार की ओर से उत्खनन हो चुके हैं। फलतः यहाँ शिलालेख, खण्डित-अखंडित जैन मूर्तियों और प्राचीन जैन मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए थे। एक शिलालेख के अनुसार संवत् १२२४ में मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख मिलता है। उत्खनन में प्राप्त एक मूर्ति पर संवत् १०८२ (अथवा ९२) का लेख है। यहाँ उत्खनन के परिणामस्वरूप सबसे महत्त्वपूर्ण जो चीज मिली है, वह है अपोलोडोटस और पार्थियन राजाओं के सिक्के। अपोलोडोटस वाख्त्री वंश का यूनानी नरेश था। उसका तथा पार्थियन राजाओं का काल ईसा पूर्व दूसरी तीसरी शताब्दी है। इन सिक्कों से ज्ञात होता है कि आज से २२००—२३०० वर्ष पहले शौरीपुर बहुत समृद्ध और प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था तथा उपर्युक्त सिक्के व्यापारिक उद्देश्य से ही यहाँ लाये गये होंगे।

एक किम्वदन्ती के अनुसार प्राचीन काल में किसी रानी ने यहाँ के सम्पूर्ण जैन मन्दिरों का विध्वंस करा दिया था। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में यहाँ अनेक मन्दिर रहे होंगे और यह जैनों का प्रमुख केन्द्र रहा होगा।

यह तीर्थ मूलतः दिगम्बर जैनों का है। सभी प्राचीन मन्दिर, मूर्तियाँ और चरण दिगम्बर जैनाम्नाय के हैं। प्राचीन काल से आसपास के जैन यहीं पर मुण्डन, कर्णवेधन आदि संस्कार कराने आते हैं। यादववंशी जैनों में प्रथा है कि किसी आत्मीयजन की मृत्यु होने पर कार्तिक सुदी १४ को यहाँ दीपक चढ़ाते हैं। यह क्षेत्र मूलसंघाम्नायी भट्टारकों का प्रमुख केन्द्र रहा है। भट्टारक जगतभूषण और विश्वभूषण की परम्परा में भट्टारक जिनेन्द्र भूषण १८वीं शताब्दी में हुए हैं। वे एक सिद्ध पुरुष थे। उनके चमत्कारों की अनेक कहानियाँ यहाँ अवतक प्रचलित हैं।

इसके निकटवर्ती वटेश्वर में इन्हीं भट्टारक द्वारा बनवाया हुआ तीन मंजिल का एक मन्दिर है। इसकी दो मंजिलें जमुना के जल में जमीन के नीचे हैं। इसका निर्माण संवत् १८३८ में हुआ था। यहाँ मन्दिर में भगवान अजितनाथ की कृष्ण वर्ण की मूलनायक प्रतिमा विराजमान है जो महोबा से लाई गई थी और जिसकी प्रतिष्ठा संवत् १२२४ में वैशाख सुदी ७ को परिमाल राज्य में आल्हा-ऊदल के पिता जल्हण ने कराई थी। प्रतिमा अत्यन्त सातिशय है। इस मन्दिर में भगवान शान्तिनाथ की एक मूर्ति है जो संवत् ११५० वैशाख वदी २ को प्रतिष्ठित हुई, ऐसा मूर्ति-लेख से ज्ञात होता है। अन्य कई प्रतिमायें भी ११—१२वीं शताब्दी की लगती हैं।

यहाँ दो जैन धर्मशालायें हैं। यहाँ कार्तिक शुक्ला ५ से १५ तक जैनों का मेला होता है। कार्तिक मास में यहाँ पशुओं का प्रसिद्ध मेला भरता है। मंगसिर वदी १ को जैन रथयात्रा सारे बाजार में होकर निकलती है।

रैवतक, रेवत। हिन्दू पुराणों में रैवतक पर्वत नाम मिलता है। आचार्य जिनसेनकृत 'हरिवंश पुराण' में भगवान के अन्तिम समय का वर्णन करते हुए लिखा है—

'जब निर्वाण का समय समीप आ गया तो अनेक देव और मनुष्यों से सेवित भगवान गिरनार पर्वत पर पुनः लौट आये। समवसरण की जैसी रचना पहले हुई थी, वैसी ही रचना पुनः हो गई। समवसरण के बीच विराजमान होकर जिनेन्द्र भगवान ने स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति का साधनभूत, रत्नत्रय से पवित्र और साधु सम्मत उपदेश दिया। जिस प्रकार सर्व हितकारी जिनेन्द्र भगवान ने केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद पहली बैठक में विस्तार के साथ धर्म का उपदेश दिया था, उसी प्रकार अन्तिम बैठक में भी उन्होंने विस्तार के साथ धर्म का उपदेश दिया। तदनन्तर योग निरोध करके भगवान नेमिनाथ अघातिया कर्मों का अन्त करके कई सौ मुनियों के साथ निर्वाण धाम को प्राप्त हो गये।.........समुद्रविजय आदि नौ भाई, देवकी के युगलिया छह पुत्र, शंबु और प्रद्युम्नकुमार आदि मुनि भी गिरनार पर्वत से मुक्त हुए। इसलिए उस समय से गिरनार आदि निर्वाण स्थान संसार में विख्यात हुए और तीर्थयात्रा के लिये अनेक भव्य जीव आने लगे[१]।

आचार्य यतिवृषभ ने 'तिलोय पण्णत्ती'[२] में भगवान नेमिनाथ के साथ मुक्त होने वाले मुनियों की संख्या ५३६ बताई है। उत्तर पुराण[३] में भगवान नेमिनाथ के अतिरिक्त मुक्त होने वाले मुनियों में जाम्बवती के पुत्र शंबु, कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न और प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध का नामोल्लेख करते हुए उनकी मुक्ति विभिन्न कूटों से बतलाई है। वर्तमान में भी दूसरे पर्वत से अनिरुद्धकुमार, तीसरे से शंबुकुमार, चौथे से प्रद्युम्नकुमार और पांचवें से नेमिनाथ की मुक्ति मानी जाती है। इन टोंकों पर इन मुनिराजों और भगवान के चरण-चिन्ह बने हुए हैं। प्राकृत 'निर्वाण काण्ड'[४] में ऊर्जयन्त पर्वत से मुक्त होने वाले मुनियों के नाम और संख्या का उल्लेख करते हुए बताया है कि ऊर्जयन्त पर्वत से भगवान नेमिनाथ, प्रद्युम्न, शंबुकुमार और अनिरुद्ध के अतिरिक्त ७२ करोड़ ७०० मुनि मुक्त हुए। गजकुमार भी यहीं से मुक्त हुए थे। इतने मुनियों का निर्वाण-धाम होने के कारण ही गिरनार की ख्याति और मान्यता सम्मेद शिखर के समान ही है।

संस्कृत 'निर्वाण भक्ति'[५] में भी नेमिनाथ की मुक्ति-स्थलों के रूप में ऊर्जयन्त का उल्लेख किया गया है, किन्तु उदयकीर्तिकृत अपभ्रंश निर्वाण भक्ति[६] में प्राकृत निर्वाण भक्ति के समान ही वर्णन मिलता है।

अपभ्रंश भाषा के 'णायकुमार चरिउ' में नागकुमार की ऊर्जयन्त-यात्रा का वर्णन करते हुए ऊर्जयन्त गिरि का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि पहले नागकुमार ने उस स्थान की वन्दना की जहाँ नेमिनाथ ने दीक्षा ली थी (यह स्थान सहस्राम्र वन है)। उपरान्त उन्होंने 'ज्ञानशिला' की वन्दना की (यह वही स्थान था, जहाँ भगवान को केवलज्ञान प्राप्त हुआ था)। इसके बाद उन्होंने अनिरुद्धकुमार, शंबुकुमार, प्रद्युम्नकुमार आदि मुनियों और नेमिनाथ के निर्वाण स्थानों की पूजा की। अन्त में उन्होंने यक्षीनिलय अर्थात् अम्बिका देवी के मन्दिर को देखा, जहाँ उन्होंने दीन-अनाथों को दान दिया। फिर वे वापिस गिरिनयर (जूनागढ़) आ गये।

इससे ज्ञात होता है कि नेमिनाथ भगवान के दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण स्थान अलग-अलग थे, जैसा कि वर्तमान में भी हैं। राजीमती ने विरक्त होकर गिरनार पर ही तप किया था।

---

१. हरिवंश पुराण सर्ग ६५ श्लोक ४ से १७

२. तिलोयपण्णत्ती ४। १२०६

३. उत्तर पुराण सर्ग ७२ श्लोक १८९—१९१

४. णेमिसामी पज्जण्णो संवुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
वाहत्तार कोड़ीओ उज्जंते सत्तसया सिद्धा ॥५॥

५. निर्वाणभक्ति श्लोक २३

६. उज्जंत महागिरि सिद्धिपत्तु। सिरिणेमिणाहु जादव पवित्तु ॥
अण्णु वि पुणु सामि पज्जुणु णवेवि। अणुरुद्धइ सहियर णमवि तेवि ॥३॥
अण्णु वि पुणु सत्त सयाइ तित्थु। वाहत्तर कोडिय सिद्ध जेत्थु।

जिस स्थान पर भगवान को निर्वाण प्राप्त हुआ था, वहाँ इन्द्र ने वज्र से सिद्धशिला का निर्माण करके उसमें भगवान के चिन्ह[1] अंकित कर दिये थे। इन्द्र ने वहाँ वज्र से अत्यन्त शान्त और आयुध एवं वस्त्राभूषणों से रहित दिगम्बर नेमिनाथ की मूर्ति की भी स्थापना की थी[2]। यह मूर्ति यतिपति मदनकीर्ति के समय में (वि० सं० १२८५ के लगभग) विद्यमान थी। कहते हैं, यह लेपमूर्ति थी। काश्मीर का रत्न नामक एक श्रीमन्त जैन गिरनार की वन्दना के लिए आया। उसने इस मूर्ति का जलाभिषेक किया, जिससे मूर्ति गल गई तव उसे वड़ा दुःख हुआ। उसने उपवास किया। रात्रि में अम्बिका देवी प्रगट हुई। उसकी आज्ञानुसार रत्न ने १८ रत्नों की, १८ स्वर्ण की, १८ चांदी की और १८ पाषाण की प्रतिमायें प्रतिष्ठित की। रत्नों की प्रतिमाओं को वह अपने साथ लेता गया।[3]

इससे प्रतीत होता है कि इन्द्र द्वारा प्रतिष्ठित नेमिनाथ मूर्ति थी अवश्य, किन्तु वह वाद में खण्डित होगई।

गिरनार की अम्बिकादेवी का असाधारण महत्त्व वताया जाता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में ऐसी किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं कि दिगम्बर और श्वेताम्बर यात्रा संघ गिरनार की वन्दना को गये। पर्वत पर पहले कौन जाय, इस बात को लेकर दोनों में विवाद हो पड़ा। एक महीने तक वाद चला। अन्त में दोनों पक्षों ने अम्बिका को मध्यस्थ चुना। अम्बिका की देव-वाणी हुई, जिसके अनुसार दोनों की मान्यता है कि उनके पंथ को देवी ने सत्य पंथ घोषित किया। इन किम्वदन्तियों में कितना सार है, यह नहीं कहा जा सकता।

चतुर्थ श्रुतकेवली गोवर्धन स्वामी[4] गिरनार की वन्दना के लिए आये थे। आचार्य भद्रवाहु ने भी इस निर्वाण तीर्थ की वन्दना की थी।

'श्रुतस्कन्ध'[5] और 'श्रुतावतार'[6] के अनुसार आचारांग के धारी धरसेनाचार्य गिरनार की चन्द्र गुफा में रहते थे। अपनी आयु का अन्त निकट जानकर उन्होंने दक्षिणा पथ की महिमानगरी में एकत्रित मुनि-संघ को दो व्युत्पन्न मुनि श्रुताध्ययन के लिये भेजने को लिखा। मुनि संघ ने पुष्पदन्त और भूतवलि नामक दो विद्वान् मुनियों को धरसेनाचार्य के पास भेजा। धरसेनाचार्य ने उन मुनियों को दो मन्त्र सिद्ध करने के लिये दिये। एक मन्त्र में हीनाक्षर था और दूसरे मन्त्र में अधिक अक्षर था। उन्होंने दोनों मुनियों को गिरनार की सिद्धशिला पर—जहाँ भगवान नेमिनाथ का निर्वाण कल्याणक हुआ था—मन्त्र साधन की आज्ञा दी। दोनों योग्य शिष्यों ने तीन दिन तक मन्त्र साधन किया। उन्हें देवी सिद्ध हुई, किन्तु एक देवी काणाक्षी थी और दूसरी दन्तुल थी। दोनों ने विचार करके मन्त्रों को शुद्ध किया और पुनः साधन किया। इस वार देवियाँ सौम्य आकार में आकर उपस्थित हुईं। दोनों मुनियों ने गुरु के निकट जाकर यह निवेदन किया। गुरु ने उन्हें सुयोग्य जानकर अंगज्ञान का वोध दिया। अध्ययन करके वे वहाँ से गुरु की आज्ञा से चले गये और उन्होंने षट्खण्डागम की रचना की तथा लिपिवद्ध करके सम्पूर्ण संघ के समक्ष ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को उस शास्त्र की ससमारोह पूजा की।

ऐसे भी उल्लेख[7] मिलते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द गिरनार की वन्दना के लिये आए थे। नन्दि संघ की गुर्वावली में उल्लेख है कि पद्मनन्दी मुनि ने गिरनार पर्वत पर स्थित सरस्वती देवी से यह घोषणा कराई थी कि 'सत्य पन्थ निर्ग्रन्थ दिगम्बर' इसी घटना के कारण सरस्वती[8] गच्छ की उत्पत्ति हुई। वीरसेनाचार्य गिरनार की

---

१. आचार्य समन्तभद्र कृत स्वयम्भू स्तोत्र श्लोक १२७—२८। आचार्य दामनन्दी कृत पुराण सार संग्रह ५। १३९

२. मदनकीर्ति विरचित शासन चतुस्त्रिंशिका श्लोक २०

३. श्वेताम्बराचार्य राजशेखरसूरिकृत 'प्रवंध कोष' का रत्न श्रावक प्रवंध। रचना वि० सं० १४०५

४. वृहत्कथा कोष पृ० ३१०

५. श्रुतस्कन्ध, पृ० १९५

६. श्रुतावतार कथा, श्लोक १०३—९

७. 'ज्ञान प्रवोध' एवं पाण्डव पुराण

८. पद्मनन्दी गुरुर्जातो वलात्कारगणाग्रणी।
पाषाणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती ॥३६॥
ऊर्जयन्त गिरौ तेन गच्छः सारस्वतो भवेत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनन्दिने ॥३७॥

खाण्ड गुफा में आकर रहे थे। और भी बड़े-बड़े आचार्यों ने इस तीर्थ की वन्दना की थी।

प्रारम्भ से ही दिगम्बर जैन इसे अपना पूज्य तीर्थ मानते रहे हैं और प्राचीन काल से यहाँ की वन्दना के लिये दिगम्बर जैन यात्रा संघ जाते रहे हैं। पुरातत्व और इतिहास के साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि गिरनार के देव नेमिनाथ हैं और वह जैनों का तीर्थ रहा है। सौराष्ट्र के प्रभासपट्टन से वेवीलोनिया के वादशाह नेवूचडनज्जर (Nebuchadnazzar) का एक ताम्रपट लेख प्राप्त हुआ है। इसे डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार ने पढ़ा था, जिसका आशय यह है--

"रेवानगर के राज्य क०। स्वामी सु जाति का देव, नेवुचडनज्जर आया है, वह यदुराज के नगर (द्वारका) में आया है। उसने मन्दिर वनवाया। सूर्य······देव नेमि कि जो स्वर्ग समान रैवत पर्वत के देव हैं (उनको) हमेशा के लिये अर्पण किया।[1]

—'जैन' भावनगर भा० ३५ अंक, पृ०२

स्मरणीय है कि नेवुचडनज्जर का समय ११४० ई० पू० माना जाता है। अर्थात् आज से ३००० वर्ष पूर्व भी गिरनार जैनों का तीर्थ था।

दक्षिण भारत के कल्लरगड्डु (शिमोगा) से प्राप्त सन् ११२१ के एक शिलालेख में भगवान नेमिनाथ के निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख है। उस समय अहिच्छत्र में विष्णुगुप्त राज्य करता था। उसने ऐन्द्रध्वज पूजा की। देवेन्द्र ने उसे ऐरावत हाथी दिया। शिलालेख का मूल पाठ इस प्रकार है—

'हरिवंश केतु नेमीस्वर तीर्थ वर्तिसुत्तगिरे गंगकुलांवर भानु पुट्टिदं भासुरतेजं विष्णुगुप्तनेम्ब नृपालम्॥ आ—धराधिनाथं सम्राज्यपदवियं कैकोण्डहिच्छत्र-परदोल् सुखमिर्द्दु नेमितीर्थंकर परमदेव-निर्वाण कालदोल ऐन्द्रध्वज वेम्वं पूजेयं माडे देवेन्द्रनोसेदु।

अनुपमदैरावतमं । मनोनुरागदोले विष्णुगुप्तङ्गम्।
जिनपूजेयिन्दे मुक्तिय । ननर्घ्यमं पडेगुमन्दोडुलिदुदु पिरिदे॥

—जैनशिलालेख संग्रह भाग २ पृ० ४०८—९

अर्थ—जव नेमीश्वर का तीर्थ चल रहा था, उस समय राजा विष्णुगुप्त का जन्म हुआ। वह राजा अहिच्छत्रपुर में राज्य कर रहा था। उसी समय नेमितीर्थंकर का निर्वाण हुआ। उसने ऐन्द्रध्वज पूजा की। देवेन्द्र ने उसे ऐरावत हाथी दिया।

इस शिलालेख से यह सिद्ध होता है कि नेमिनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। शिलालेख में गंग वंशावली दी गई है।

गिरनार पर्वत पर भी कुछ शिलालेख मिले हैं। इनमें सर्व प्राचीन लेख क्षत्रप रुद्रसिंह का है। यह लेख खण्डित है और इसे डॉ० वुल्हर ने पढ़ा था। लेख से यह ज्ञात होता है कि गिरनार की गुफाओं का निर्माण सौराष्ट्र के साही राजाओं ने ईसा की दूसरी शताव्दी में जैनों के लिए कराया था। इस लेख के सम्वन्ध में मि० वर्गेस[2] ने लिखा है—

'इस शिलालेख में सवसे रोचक शव्द है 'केवलिज्ञानसम्प्राप्तानाम्' केवल ज्ञान शव्द केवल जैन शास्त्रों में ही मिलता है। अत: यह स्वीकार करना होगा कि शिलालेख जैनों से सम्वन्धित है। इससे ज्ञात होता है कि इन गुफाओं का निर्माण ईसा की द्वितीय शताव्दी में सौराष्ट्र के साही राजाओं ने जैनों के लिए किया हो। संभव है, गुफायें लेख से प्राचीन हों।'

मि० वर्गेस का यह अनुमान गलत नहीं लगता। ईसा पूर्व पहली-दूसरी शताव्दी में धरसेनाचार्य यहाँ की चन्द्रगुफा में रहते थे, यह ऊपर वताया जा चुका है।

---

१. Times of India 19 March 1935

२. Burgess, the Repport on the Antiquties of kathiawad and kacchha, pp. 141-143

मि० वर्गेस, मि० टाड आदि को गिरनार पर्वत पर कुछ शिलालेख सं० ११२३, १२१२, १२२२ के मिले हैं, जिनमें श्रावकों द्वारा सीढ़ियाँ बनाने का उल्लेख है। संवत् १२१५ के एक शिलालेख में राज सावदेव और जसहड़ द्वारा ठा० सालवाहण ने देवकुलिकायें बनवाईं, ऐसा उल्लेख है। संवत् १२१५ के शिलालेख के अनुसार प्राचीन मन्दिरों के स्थान पर नवीन मन्दिरों का निर्माण कराया गया। मि० वर्गेस की रिपोर्ट में बताया है कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के राष्ट्रीय वैश्य पुष्पगुप्त ने गिरनार पर 'सुदर्शना' नामक झील बनवाई थी और महाक्षत्रप रुद्रदामा ने उस झील का सेतु बनवाया था जो नदियों की बाढ़ से टूट गया था।

वर्तमान में गिरनार पर्वत की तलहटी में दिगम्बर और श्वेताम्बर जैनों की धर्मशालायें बनी हुई हैं जो सड़क के दोनों ओर आमने-सामने हैं। दिगम्बर धर्मशाला के अन्दर तीन मन्दिर बने हुए हैं। यहाँ हिन्दुओं के मन्दिर और धर्मशालायें भी हैं। दिगम्बर धर्मशाला से लगभग सौ कदम चलकर चढ़ने का द्वार मिलता है। लगभग ३००० सीढ़ियाँ चढ़ने पर पहला शिखर आता है। यहाँ 'राखङ्गार' का ध्वस्त कोट और महल हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बरों की एक-एक धर्मशाला है। कोट के अन्दर अनेक जैन मन्दिर हैं, जिन पर श्वेताम्बरों का अधिकार है। आगे चलने पर एक पर्वत शिला में पद्मावती देवी और उसके शीर्ष पर पार्श्वनाथ की मूर्ति है। फिर राजीमती की गुफा है। इसमें पाषाण में राजीमती की मूर्ति बनी हुई है। आगे बढ़ने पर एक परकोटे में तीन दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। आगे दाईं ओर चौमुखी मन्दिर तथा रथनेमि का एक श्वेताम्बर मन्दिर है। कुछ ऊपर चढ़ने पर अम्बा देवी का मन्दिर है। इस पर अब हिन्दुओं का अधिकार है। इसके बगल में अनिरुद्धकुमार के चरण हैं। यह दूसरा शिखर है। यहाँ से कुछ ऊँचाई पर तीसरा शिखर है। इस पर शम्बुकुमार के चरण हैं। यहाँ हिन्दुओं का गोरक्षनाथ का मन्दिर है। यहाँ से लगभग ४००० फुट उतर कर चौथा शिखर है। इस पर प्रद्युम्नकुमार के चरण हैं। यहाँ एक काले पाषाण पर नेमिनाथ की मूर्ति तथा दूसरी शिला पर चरण हैं। इस शिखर पर सीढ़ियाँ न होने से चढ़ाई कठिन है। तीसरे शिखर से पांचवें शिखर को सीढ़ियाँ जाती हैं। पांचवें शिखर पर एक मठिया में नेमिनाथ भगवान के चरण हैं और एक पद्मासन दिगम्बर प्रतिमा बनी हुई है। इन चरणों को हिन्दू लोग दत्तात्रय के चरण मानकर पूजते हैं। चरणों के पास ही एक बड़ा भारी घण्टा बंधा हुआ है। इसकी देखभाल एक नागा साधु करता है। इस टोंक से उतरने पर रेणुका शिखर, फिर कालिका की टोंक आती है। कोई जैन इन पर नहीं जाता। लौटते हुए दूसरी टोंक के चौराहे से उत्तर की ओर गोमुखी कुण्ड के पास से सहसा वन के लिये मार्ग जाता है। इसके लिये पहले शिखर से सीढ़ियाँ गई हैं। गोमुखी कुण्ड में चौबीस तीर्थंकरों के चरण एक शिलाफलक पर बने हुए हैं। सहसावन में भगवान नेमिनाथ के दीक्षा कल्याणक और केवल ज्ञानकल्याणक की द्योतक देवकुलिकाओं में चरण बने हुए हैं। यहाँ भगवान के दो कल्याणक हुए थे।

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बारहवाँ और अन्तिम चक्रवर्ती था, जिसने भरत क्षेत्र की षट्-खण्ड पृथ्वी को जीता था। वह बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ और तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के मध्यवर्ती काल में नेमिनाथ के तीर्थ में उत्पन्न हुआ था। इसके सम्बन्ध में दिगम्बर जैन साहित्य में बहुत ही कम परिचय मिलता है। आचार्य गुणभद्र कृत 'उत्तर पुराण' में तो केवल इतना ही परिचय दिया गया है कि 'वह ब्रह्मा नामक राजा और चूड़ादेवी रानी का पुत्र था। उसका शरीर सात धनुष ऊँचा था और उसकी आयु सात सौ वर्ष की थी। वह सब चक्रवर्तियों में अन्तिम चक्रवर्ती था।'

हरिषेण कृत 'कथाकोष' में इसके पूर्व भव और उसकी जीवन सम्बन्धी एक घटना के अतिरिक्त उसकी मृत्यु का वर्णन मिलता है। वह इस प्रकार है—

'काशी जनपद में वाराणसी नगरी थी। उसमें सुषेण नामक एक निर्धन कृषक रहता था। उसकी स्त्री का

नाम गन्धारी था। इनके दो पुत्र थे—संभूत और चित्त। ये दोनों नृत्य और गान में बड़े निपुण थे और स्त्री वेष धारण करके ये विभिन्न नगरों में नृत्य और गान का प्रदर्शन करते थे। यही उनकी आजीविका का साधन था। एकबार वे दोनों राजगृह नगर में पहुँचे। वहाँ उन्होंने गीत और नृत्य का प्रदर्शन किया। स्त्री का वेष धारण किये हुए संभूत का नृत्य देखकर वसुशर्मा पुरोहित इसके ऊपर मोहित होगया। बहुत समय पश्चात् उसे ज्ञात हुआ कि यह नर्तकी स्त्री नहीं, कला विज्ञान में निष्णात कोई रूपवान् पुरुष है। तब पुरोहित ने प्रसन्न होकर संभूत के साथ अपनी बहन लक्ष्मीमती का विवाह कर दिया। किन्तु जब भाई-बहन को संभूत के कुल गोत्र का पता चला तो उन्हें बड़ी लज्जा आई और वे दोनों वहाँ से पाटलिपुत्र चले गये। एक दिन, दिन के प्रकाश में लोगों को भी दाढ़ी मूंछ के कारण पता चल गया कि ये दोनों स्त्री नहीं, पुरुष हैं। इससे उनके व्यवसाय को बड़ी क्षति पहुँची।

इन्हीं दिनों काशी में गुरुदत्त नामक एक जैन मुनि पधारे। दोनों भाई भी उनका उपदेश सुनने गये। उपदेश सुनकर वे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने मुनि दीक्षा लेली। उन्होंने समस्त आगमों का अध्ययन किया और घोर तप करने लगे। एक बार विहार करते हुए वे राजगृही पधारे। संभूत मुनि पक्षोपवास के पारणा के लिए नगर में पधारे। भिक्षा के लिए जाते हुए मुनि ने वसुशर्मा पुरोहित को देखा। पुरोहित ने इन्हें पहचान लिया और वह मारने दौड़ा। मुनि भय के कारण भागने लगे। तभी मुनि के मुख से भयानक तेज निकला। उसकी अग्नि से सम्पूर्ण दिशायें व्याप्त हो गईं। ज्यों ही इस घटना का पता चित्त मुनिराज को लगा, वे शीघ्रता पूर्वक वहां आये और उन्होंने संभूत मुनि के तेज को रोक दिया। वसुशर्मा इस घटना के कारण इतना भयभीत हो गया कि वह अपने प्राण बचाकर वहाँ से भाग गया।

तेरी हत्या करूँगा। तेरी रक्षा का केवल एक ही उपाय है। यदि तू भूमि पर णमोकार मंत्र लिखकर पैर से उसे पोंछ दे तो तेरा जीवन बच सकता है, अन्यथा नहीं। चक्रवर्ती अपने प्राणों के मोह से विवेक खो बैठा। उसने देव के कथनानुसार भूमि पर णमोकार मंत्र लिखा और उसे पैर से मिटा दिया। ऐसा करते ही देवता ने उसे यमधाम पहुँचा दिया। ब्रह्मदत्त मरकर सप्तम नरक में उत्पन्न हुआ।

श्वेताम्बर परंपरा में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती—श्वेताम्बर साहित्य में ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का जीवन परिचय अत्यन्त विस्तृत रूप में मिलता है। उसका जीवन अत्यन्त घटनापूर्ण रहा था। उसका जीवन वृत्तान्त संक्षेप में इस प्रकार गुम्फित किया गया है—

काम्पिल्यपुर के नरेश ब्रह्म की महारानी चुलनी ने चौदह स्वप्न देखे। नौ महीने पूर्ण होने पर उसके एक पुत्र हुआ जो तप्त कांचन के समान वर्ण वाला था। पिता को बालक का मुख देखते ही ब्रह्म में रमण करने के समान आनन्दानुभूति हुई, इसलिये उसका नाम ब्रह्मदत्त रक्खा गया।

काशी नरेश कटक, हस्तिनापुर नरेश कणेरुदत्त, कोशलपति दीर्घ और चम्पानरेश पुष्पचूलक काम्पिल्य नरेश के अन्तरंग मित्र थे। उनमें इतनी घनिष्टता थी कि वे पांचों एक-एक राजधानी में क्रमशः एक वर्ष तक साथ-साथ ही रहते थे। उस वर्ष काम्पिल्यपुर की बारी थी, अतः पांचों वहाँ रहने लगे। एक दिन काम्पिल्य नरेश का देहान्त हो गया। तब चारों मित्रों ने परामर्ष करके अपने दिवंगत मित्र के राज्य की रक्षा करने का निश्चय किया और जब तक ब्रह्मदत्त राज्य-भार संभालने में सक्षम न हो जाय, तबतक एक-एक वर्ष के लिये क्रमशः एक नरेश काम्पिल्यपुर में रहकर ब्रह्मदत्त और राज्य का संरक्षक बनकर रहे, यह निश्चित हुआ। उस समय ब्रह्मदत्त की आयु बारह वर्ष की थी।

इस निर्णय के अनुसार प्रथम वर्ष के लिये कोशल नरेश दीर्घ को यह दायित्व सोंपा गया। दीर्घ वहीं आकर रहने लगा। किन्तु दार्घ अत्यन्त विश्वासघाती निकला। उसने न केवल राज्य के कोष और राज्य पर ही अपना अधिकार कर लिया, अपितु उसने अपने स्वर्गीय मित्र की रानी चुलना को भी अपने प्रेमपाश में जकड़ लिया। दीर्घ और चुलना की प्रेम लीलायें अबाध गति से चलने लगी।

प्रधानामात्य धनु से यह प्रणय-व्यापार छिपा नहीं रह सका। उस राज्यनिष्ठ व्यक्ति को चिन्ता हुई कि ये कामान्ध कहीं बालक ब्रह्मदत्त का अनिष्ट न कर दें। अतः उसने अपने पुत्र वरधनु के द्वारा राजकुमार को सतर्क रहने का परामर्प भिजवा दिया तथा अपने पुत्र को सदा राजकुमार के साथ रहने की आज्ञा दे दी।

अब बालक ब्रह्मदत्त को सारी परिस्थिति ज्ञात हो गई। उसने राजा को सावधान करने के लिये एक उपाय किया। वह एक पिंजड़े में काक और कोयल को लेकर दीर्घ और चुलना के केलिगृह के द्वार पर जाकर क्रोध में तीव्र स्वर में कहने लगा—'अरे नीच कौए ! तेरी इतनी धृष्टता कि इस कोकिल के साथ तू केलि-क्रीड़ा कर रहा है। तुम दोनों को मैं अभी यमलोक पहुँचाता हूँ।' ब्रह्मदत्त की यह अन्योक्ति सुनकर दीर्घ चुलना से बोला—'प्रिये ! सुना तुमने ब्रह्मदत्त हम दोनों को काक और काकिल बताकर हमारा वध करना चाहता है। चुलना ने इस बात को यह कह कर उड़ा दिया कि वह अभी बालक है।' किन्तु ब्रह्मदत्त ने उन्हें समझाने के लिये इसी प्रकार के कई उपाय किये। इससे भयभीत होकर दीर्घ बोला—"प्रिये ! बालक समझकर योंही टालना ठीक नहीं है। बड़ा होने पर यह हमारा शत्रु बन जायगा। हम और तुम जीवित रहे तो पुत्र तो और भी हो जाँयगे। किन्तु इस कण्टक को दूर करने में ही हम दोनों का हित है।" कामान्ध चुलना भी इससे सहमत हो गई। उन्होंने निश्चय किया कि यथाशीघ्र ब्रह्मदत्त का विवाह करके सुहागरात्रि को वर-वधू को लाक्षा-गृह में सुलाकर समाप्त कर दिया जाय।

ब्रह्मदत्त के लिये उसके मातुल पुष्पचूल नरेश की पुत्री पुष्पवती का वाग्दान हो गया। विवाह की जोर शोर से तैयारियाँ होने लगीं। उधर प्रधानामात्य धनु भी असावधान नहीं था। चरों द्वारा उसे दीर्घ की योजना का पता चल गया। उसने एक दिन दीर्घ के निकट जाकर अंजलिबद्ध होकर यज्ञ करने की अनुमति माँगी। दीर्घ ने उसे अनुमति दे दी। प्रधानामात्य ने गंगा-तट पर विशाल यज्ञ-मण्डप की रचना कराई और अन्न-दान यज्ञ करना प्रारम्भ कर दिया। सहस्रों लोग प्रतिदिन वहाँ आकर अन्न प्राप्त करने लगे। किन्तु इस धूमधाम के बीच

धानामात्य ने कारीगर लगाकर यज्ञमण्डप से लाक्षा-गृह तक सुरंग खुदवाली। इसकी किसी को कानों-कान खबर नहीं हुई। प्रधानामात्य ने पुष्पचूल को भी दीर्घ और चुलना की दुरभिसन्धि का समाचार गुप्त रूप से पहुँचा दिया।

यथासमय विवाह सम्पन्न हो गया। वर-वधू को लाक्षा-गृह में सुहागरात मनाने के लिये भेज दिया गया। मन्त्री-पुत्र वरधनु भी ब्रह्मदत्त के साथ लाक्षा-गृह में गुप्त रीति से प्रविष्ट हो गया। मन्त्री की दीर्घसूत्रता के आगे व्यभिचारी दीर्घ की भी नहीं चली। वधू के स्थान पर उसी के समान रूपवाली एक दासी-पुत्री ब्रह्मदत्त के साथ लाक्षा-गृह में गई, यह भी किसी को ज्ञात नहीं हो सका।

अर्धरात्रि के समय षड्यन्त्रकारियों ने लाक्षा-गृह में आग लगवादी। लाक्षा-गृह भयानक अग्निज्वालाओं में भस्म का ढेर हो गया।

ब्रह्मदत्त वरधनु के साथ सुरंग-मार्ग से यज्ञ-मण्डप में पहुँचा। वहाँ योजनानुसार दो वेगगामी अश्व बंधे हुए थे। दोनों अश्वों पर बैठ कर चल दिये। प्रधानामात्य धनु भी उन्हें विदाकर वहाँ निरापद स्थान के लिये पलायन कर गया।

दोनों मित्र भागते हुए काम्पिल्यपुर की सीमा को पीछे छोड़कर बहुत दूर निकल गये। इतनी लम्बी यात्रा के कारण घोड़ों ने दम तोड़ दिया। वे फिर पैदल ही भागने लगे। वे कोष्ठक ग्राम के बाहर पहुँचे। उन्होंने वेष बदल लिया और भिक्षुक के रूप में ग्राम में प्रवेश किया। एक ब्राह्मण ने उन्हें प्रेमपूर्वक भोजन कराया। भोजन कर चुकने पर ब्राह्मणी ब्रह्मदत्त के सिर पर अक्षत क्षेपण करती हुई अपनी अत्यन्त रूपवती कन्या के साथ हाथ जोड़कर खड़ी हो गई। दोनों मित्र आश्चर्य मुद्रा में देखने लगे। ब्राह्मणी बोली—भस्म से ढकी अग्नि कहीं छिपती है। भस्मी रमा लेने से भाग्य थोड़े ही छिपता है। निमित्तज्ञानियों ने बताया है कि मेरी यह कन्या बन्धुमती चक्रवर्ती की रानी बनेगी और वह भिक्षुक के वेष में स्वयं द्वार पर उपस्थित होगा। उन्होंने यह भी बताया था कि जो व्यक्ति अपने श्रीवत्स चिन्ह को वस्त्र से छिपाये हुए तुम्हारे घर आकर भोजन करे, उसी के साथ इस कन्या का विवाह कर देना। यह देखिये, वस्त्र के नीचे श्रीवत्स चिन्ह चमक रहा है।' आखिर ब्राह्मणी की बात स्वीकार कर ली गई। ब्रह्मदत्त के

एक अपरिचित तेजस्वी युवक को देखकर वह कन्या भयभीत हो गई और पूछने लगी—'आप कौन हैं ? आप यहाँ क्यों आये हैं ?' ब्रह्मदत्त बोला—'मैं पाञ्चाल नरेश ब्रह्म का पुत्र ब्रह्मदत्त हूँ।' सुनकर वह कन्या उसके पैरों में गिर पड़ी—'मैं आपके मामा पुष्पचूल की पुत्री पुष्पवती हूँ जिसका वाग्दान आपके साथ हुआ था। मैं आपके साथ विवाह की प्रतीक्षा में थी कि मुझे नाट्योन्मत्त नामक विद्याधर अपहरण करके ले आया। वह निकट ही कहीं झाड़ियों में विद्या-साधन कर रहा है। अब मैं आपकी शरण हूँ।' कुमार ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—अज्ञानवश वह विद्याधर अभी मेरे हाथों मारा गया है। अब मेरे रहते हुए तुम्हें कोई भय नहीं करना चाहिये।'

दोनों ने गान्धर्व विवाह कर लिया। किन्तु प्रातःकाल होने पर आकाश-मार्ग से नाट्योन्मत्त विद्याधर की दो बहनें—खण्डा और विशाखा को आते हुए देखा तो पुष्पवती बोली—'नाथ ! यदि इन्हें अपने सहोदर की मृत्यु का पता चल गया तो अपने सजातीय विद्याधरों को ले आवेंगी। तब तो अनर्थ ही हो जायगा। अतः आप यहाँ से भाग जाइये।'

विषम परिस्थिति देखकर ब्रह्मदत्त वहाँ से छिपकर चल दिया। आगे जाने पर उसने लताकुंज में फूल चुनती हुई एक अपूर्व सुन्दरी को देखा। वह उस रूपराशि को अपलक निहारता रहा। वह सुन्दरी भी उसी की ओर संकेत करती हुई अपनी सखी से मुस्कराती हुई कुछ कह रही थी। तभी अकस्मात् वह लता गुल्म में अदृश्य हो गई। ब्रह्मदत्त ठगा-सा उधर ही देखता रहा। तभी उसे नूपुर की झंकार सुनाई पड़ी। वह सखी ताम्बूल, वस्त्र और आभूषण लिये उसके पास आई और बोली—आपने अभी जिन्हें देखा था, उन राजकुमारी जी ने आपके लिये ये वस्तुएँ भेजी हैं तथा आपको मन्त्री जी के घर पहुँचाने की आज्ञा दी है।' वह उस स्त्री के साथ चल दिया।

मन्त्री-निवास पहुँचने पर उसका जोरदार आतिथ्य किया गया। राजा ने अपनी पुत्री श्रीकान्ता का विवाह बड़े समारोहपूर्वक उसके साथ कर दिया। वह कुछ दिन वहाँ आनन्दपूर्वक रहा।

श्रीकान्ता का पिता वसन्तपुर का राजा था। गृह-कलह के कारण वह भागकर चौर-पल्ली का राजा बन गया और लूट मार करके निर्वाह करने लगा। एक दिन एक गांव को लूटते हुए वरधनु भी हाथ आ गया। इस प्रकार चिरकाल के पश्चात् ब्रह्मदत्त और वरधनु दोनों का मिलन हुआ। तभी उन्हें दीर्घराज के सैनिकों के आने का समाचार मिला। वे दोनों वहाँ से भागे और कौशाम्बी जा पहुँचे। वहाँ दीर्घराज के अनुरोध पर कौशाम्बी नरेश ब्रह्मदत्त और वरधनु की खोज करवा रहा था। वे वहाँ से बचकर भागे और राजगृह पहुँचे। वहाँ नाट्योन्मत्त विद्याधर की दोनों बहनों-खण्डा और विशाखा तथा वहाँ के धनकुवेर धनावह सेठ की भतीजी रत्नवती के साथ ब्रह्मदत्त का विवाह हुआ। वे सुखपूर्वक वहाँ रहने लगे।

एक दिन दोनों मित्र वासन्ती परिधान धारण करके वसन्तोत्सव देखने गये। तभी राजा का हाथी बन्धन तुड़ाकर उत्सव में आगया और उत्पात करने लगा। ब्रह्मदत्त ने उसे क्रीड़ामात्र में वश में कर लिया और गजशाला में पहुँचा दिया। मगध नरेश ने प्रसन्न होकर उसके साथ अपनी पुत्री पुण्यमाली का विवाह कर दिया। यहाँ उसके साथ वैश्रवण श्रेष्ठी की पुत्री श्रीमती और मन्त्री-सुता नन्दा का भी विवाह हुआ।

फिर दोनों मित्र युद्ध की तैयारी के लिये वाराणसी पहुँचे। वाराणसी नरेश ने अपने मित्र ब्रह्म के पुत्र ब्रह्मदत्त के आगमन का समाचार सुनकर उसका बड़ा सत्कार किया। उसने अपनी कन्या कटकवती का विवाह उसके साथ कर दिया और दहेज में उसे चतुरंगिणी सेना भी दी। ब्रह्मदत्त के वाराणसी आगमन का समाचार सुनकर हस्तिनापुर नरेश कणेरुदत्त, चम्पा नरेश पुष्पचूलक, प्रधानामात्य धनु और भगदत्त आदि अनेक नरेश सेना लेकर वहाँ आगये। ब्रह्मदत्त ने सभी सेनाओं को सुगठित करके वरधनु को सेनापति पद पर नियुक्त किया और दीर्घ पर आक्रमण करने के लिये काम्पिल्यपुर की ओर प्रयाण किया। दीर्घ भी सेना लेकर रणक्षेत्र में आगया। दोनों सेनाओं में भीषण युद्ध हुआ। ब्रह्मदत्त और दीर्घ आपस में जूझ गये। दोनों अतुल पराक्रमी थे। दोनों ही वीर अजेय थे। उनका ऐसा भयानक युद्ध हुआ कि दोनों सेनायें भी परस्पर युद्ध छोड़कर यह द्वन्द्व-युद्ध देखने लगीं। तभी अपनी प्रभा से सबको चकाचौंध करता हुआ चक्ररत्न प्रगट हुआ और ब्रह्मदत्त की तीन प्रदक्षिणा देकर उसको दांये हाथ की तर्जनी पर स्थित हो गया। ब्रह्मदत्त ने घुमाकर उसे दीर्घ की ओर फेंका। चक्र अपनी किरणों से स्फुलिंग बरसाता हुआ दीर्घ की ओर

चला और क्षणभर में दीर्घ का मस्तक काटकर वापिस लौट आया। ब्रह्मदत्त की जयघोषों से आकाश गूंजने लगा। ब्रह्मदत्त ने बड़े समारोह के साथ काम्पिल्यपुर में प्रवेश किया। चुलनी भयभीत होकर प्रव्रजित होकर चली गई। राजाओं और प्रजा ने समारोह के साथ ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक किया। इस प्रकार निरन्तर सोलह वर्ष तक अनेक संकटों और संघर्षों का सामना करता हुआ ब्रह्मदत्त अपने पैतृक राज्य का अधिकारी हुआ।

वह छप्पन वर्ष तक माण्डलिक राजा के रूप में राज्य करता रहा। फिर वह विशाल सेना लेकर दिग्विजय के लिये निकला और सोलह वर्ष में सम्पूर्ण भरत क्षेत्र को विजय करके वह काम्पिल्यपुर लौटा। वह चौदह रत्नों, नवनिधियों और चक्रवर्ती की सम्पूर्ण समृद्धियों का स्वामी बन गया। वह अपनी ऋद्धियों और राज्यश्री का भोग करने लगा। भरत क्षेत्र के छह खण्डों के राजा उसके सेवक के समान उसकी सेवा करने में अपना सौभाग्य मानते थे।

एक दिन एक यवनेश्वर ने उसे एक सुन्दर अश्व भेंट किया। वह अश्व की परीक्षा करने अश्व पर सवार हो भ्रमण करने निकला। चाबुक पड़ते ही घोड़ा वायु-वेग से भागा और अनेक वन-उपवनों और पर्वतों को लांघता हुआ वह एक सघन वन में रुका। उस वन में एक सरोवर के तट पर एक सुन्दर नागकन्या को किसी जार के साथ संभोग करते हुए देखा। वह दुराचार का घोर विरोधी था। इस अनाचार को देखकर वह क्रोध से तिलमिला उठा। उसने चाबुक से उस जार और नागपत्नी को बुरी तरह पीटकर कठोर दण्ड दिया। तब तक उसके अंगरक्षक उसे खोजते हुए आ पहुँचे। चक्रवर्ती उनके साथ काम्पिल्यपुर लौट आया।

उधर उस नागपत्नी ने अपना क्षत-विक्षत शरीर अपने पति नागराज को दिखाते हुए और करुण रुदन करते हुए कहा—'नाथ! मैं आज आपके पुण्य-प्रताप से जीवित वापिस लौट सकी हूँ। मैं अपनी सखियों के साथ वन-विहार के लिये गई थी। उसी वन में ब्रह्मदत्त आ गया। उस कामुक ने मुझ पर आसक्त होकर कुचेष्टायें करना प्रारम्भ कर दिया। मैंने प्रतिरोध किया तो उसने मुझे चाबुक से इतना पीटा कि मैं मूर्छित हो गई। मैंने आपका नाम लेकर कहा कि मैं नागराज की पतिव्रता पत्नी हूँ, किन्तु चक्रवर्ती-पद के अभिमान में उसने आपकी भी पर्वाह नहीं की। न जाने कौन से पुण्य थे जो मैं आपके दर्शन कर सकी।'

यह सुनते ही नागराज अत्यन्त कुपित होकर चक्रवर्ती का वध करने चल दिया और किसी प्रकार प्रहरियों की निगाह बचाकर उसके शयनागार में जा पहुँचा। रात्रि का समय था। ब्रह्मदत्त पलंग पर लेटा हुआ था। उस समय पट्टमहिषी ने पूछा—प्राणनाथ! आज आप अश्व पर आरूढ़ होकर अनेक वनों में घूम आये। क्या आपने वहां कोई आश्चर्यजनक घटना भी देखी।' चक्रवर्ती ने एक जार के साथ नागकन्या के दुश्चरित्र की घटना सुनाते हुए चाबुक द्वारा दोनों की पिटाई की बात बताई।

नागराज उनकी बातें सुन रहा था। सत्य घटना सुनकर उसकी आंखें खुल गई। उसको तथ्य का पता चल गया। वह शयन-कक्ष से बाहर निकला और हाथ जोड़कर खड़ा हो गया। चक्रवर्ती ने प्रसन्नतापूर्ण दृष्टि से उसे देखा। वह बड़ी विनय से बोला—'स्वामिन्! आज आपने जिस दुराचारिणी स्त्री को पीटा था, मैं उसका पति हूं। उसने आपके विरुद्ध असत्य आरोप लगाया, उससे क्रुद्ध होकर मैं आपकी हत्या करने के लिये यहां आया था। किन्तु आपके मुख से तथ्य सुनकर मेरा हृदय आपके प्रति श्रद्धा से पूरित हो गया है। आप आदेश दीजिये कि मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?

एक दिन चक्रवर्ती पट्टमहिषी के साथ बैठा हुआ मनोरंजन कर रहा था। वह घरोली दम्पत्ति (एक प्रकार का पक्षी) की बात सुनकर अट्टहास कर उठा। महिषी पति के अकारण अट्टहास से विस्मित होकर हास्य का कारण पूछने लगी, किन्तु चक्रवर्ती रहस्योद्घाटन का परिणाम जानता था। उसने टालने का बहुत प्रयत्न किया, यहाँ तक कह दिया कि यह रहस्य है। इसे बताते ही मेरी मृत्यु हो जायगी। किन्तु महारानी भी हठ पकड़ गई। अन्त में वह त्रिया-हठ के आगे मृत्यु का वरण करने को भी तैयार हो गया। यहाँ तक कि उसने रानी के साथ श्मसान में जाकर चिता तैयार कराई और रहस्य बताने को उद्यत हो गया। तभी उसकी कुलदेवी अकारण अकाल मृत्यु के लिये उद्यत चक्रवर्ती को समझाने के लिये गर्भवती बकरी और बकरे का रूप बनाकर आई। बकरी कहने लगी—नाथ ! राजा के घोड़े के खाने के लिये हरी-हरी जौ की पूलियाँ आई हैं, उनमें से एक पूली मुझे लाकर दो, जिसे खाकर मैं अपना दोहला पूर्ण करूँ।' बकरे ने कहा—'क्या कहती हो, ऐसा करते ही राजकर्मचारी मुझे मार ही डालेंगे।' बकरी ने आत्म-हत्या का भय दिखलाया तो बकरा बोला—मैं ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के समान मूर्ख नहीं हूँ जो अपनी स्त्री के कहने पर प्राण त्याग रहा है।' चक्रवर्ती बकरे की बात सुनकर लौट आया।

एक दिन एक ब्राह्मण भोजन के समय चक्रवर्ती के पास आया। चक्रवर्ती ने उसे भोजन के लिये पूछा। ब्राह्मण बोला—यदि आप भोजन कराना ही चाहते हैं तो मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, किन्तु जो भोजन आपके लिये बना है, मैं उसी भोजन को खाऊँगा।

ब्रह्मदत्त बोला—ब्रह्मन् ! वह आपके लिये दुष्पाच्य और उन्मादकारी होगा।' किन्तु ब्राह्मण नहीं माना। ब्रह्म हठ के आगे चक्रवर्ती को ब्राह्मण की बात माननी पड़ी। उसने ब्राह्मण और उसके परिवार को अपना भोजन खिला-कर संतृप्त किया। धीरे धीरे उस भोजन ने अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ किया। ब्राह्मण, उसकी पत्नी, पुत्र, पुत्री, भाई, बहन सभी कामान्ध हो गये और परस्पर में अकरणीय कृत्य करने लगे। प्रातःकाल होने पर भोजन का प्रभाव कम हुआ, तब उन्हें अपने अविवेक पर बड़ी लज्जा आई। वे एक दूसरे से मुख छिपाते फिरे। किन्तु ब्राह्मण को चक्रवर्ती के ऊपर बड़ा क्रोध आया और अपने लज्जाजनक कुकृत्य का कारण चक्रवर्ती को समझकर वह उसकी हत्या का उपाय सोचने लगा। वन में निरुद्देश्य घूमते हुए उसने देखा कि एक चरवाहा अपनी गुलेल में कंकड़ी रखकर उससे वट वृक्ष के पत्ते गिराकर बकरियों को चरा रहा है। चरवाहे की निशानेबाजी से ब्राह्मण बड़ा प्रभावित हुआ। उसने सोचा कि इसके द्वारा ब्रह्मदत्त से बदला लिया जा सकता है। उसने चरवाहे को धन देकर इस बात के लिये तैयार कर लिया कि जब ब्रह्मदत्त हाथी पर सवार होकर निकले तो गुलेल की गोली से उसकी दोनों आंखें फोड़ दी जायें।

चरवाहे ने अपने कृत्य का दुष्परिणाम समझे बिना ही नगर में जाकर राजपथ से निकलते हुए गजारूढ़ ब्रह्मदत्त की दोनों आंखे गुल से दो गोलियों द्वारा एक साथ फोड़ दीं।[1]

राजपुरुषों ने अविलम्ब चरवाहे को पकड़ लिया। उससे ज्ञात होने पर वह ब्राह्मण और उसका परिवार पकड़ लिया गया। ब्रह्मदत्त के आदेश से उन सबको मौत के घाट उतार दिया गया। ब्रह्मदत्त का क्रोध फिर भी शान्त नहीं हुआ, उसने सभी ब्राह्मणों को चुन-चुन कर मरवा डाला। अन्धा होने पर उसका क्रोध बढ़ता ही गया। उसने अमात्य को आदेश दिया कि अगणित ब्राह्मणों की आंखें निकलवाकर थाल में रखकर मेरे समक्ष उपस्थित की जायें। अमात्य ने लिसोड़े की अगणित चिकनी गुठलियाँ निकलवा कर थाल में रखकर ब्रह्मदत्त के समक्ष उपस्थित कर दीं। वह एक क्षण को भी थाल को अपने पास से नहीं हटाता था। इस प्रकार बह्मदत्त ने अपनी आयु के अन्तिम सोलह वर्ष अति तीव्र आर्त और रौद्र ध्यान में बिताये एवं सात सौ वर्ष की आयु पूर्ण होने पर अपनी पट्टमहिषी कुरुमती के नाम का बार-बार उच्चारण करता हुआ दुर्ध्यान से मरकर सातवें नरक में गया।[2]

१—"केण उण उवाएण पच्चु वयारो णखइणो कीरई ?" त्ति झायमाणेण कओ वह्लहिं अ वयरियब्व चिण्णासेहिं गुलियाघणु विक्खेवणिउणो वयंसो। कयसक्सा वाइसयस य साहियो णिययाहिप्पाओ। तेणावि पडिवण्णं सरहसं।

—चउव्वन्न महापुरिस चरियं पृ० २३

२—यातेषु जन्म दिवसोऽथ ससा शतेषु, सप्तस्वसौ कुरुमतीत्यसकृदब्रुवाणः।
हिंसानुबन्धिपरिणाम फलानुरूपां, तां सप्तमीं नरकलोकभुवं जगाम॥

—त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व ९, सर्ग १, श्लोक ६००

हिन्दू परम्परा में भी ब्रह्मदत्त का कथानक मिलता है। 'महाभारत' और 'हरिवंश पुराण' में ब्रह्मदत्त का जो चरित्र दिया गया है, वह जैन परम्परा से बहुत कम अंशों में मिलता है। जैन परम्परा के कथानकों--विशेषत: ६३ शलाका पुरुषों—का चरित्र प्राय: सभी ग्रन्थों में समान मिलता है, अन्तर प्राय: विस्तार और संक्षेप का ही रहता है। उनके काल के सम्बन्ध में समस्त जैन वाङ्मय में एकरूपता और एक-मत्य प्राप्त होता है। जबकि दूसरी ओर हिन्दू पुराणों में यह वैशिष्ट्य नहीं मिलता, उनमें चरित्र और कालगत असमानतायें दृष्टिगोचर होती हैं। इसलिये जब हिन्दू पुराणों में किसी चरित्र के सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है, ऐसी दशा में जैन और हिन्दू शास्त्रों के पौराणिक आख्यानों में ऐकमत्य खोजना कहाँ तक संगत है। दोनों परम्पराओं के तत्सम्बन्धी आख्यानों में अपनी-अपनी विशेषता है।

हिन्दू परम्परा में ब्रह्मदत्त-कथानक

हिन्दू पुराणों के अनुसार ब्रह्मदत्त महाभारत[1] से पूर्व काम्पिल्यपुर[2] में उत्पन्न हुआ था। पूर्व भव में वह एक पक्षी था। उसने एक राजा का वैभव देखकर यह विचार[3] किया था कि यदि मैंने कोई तप या सुकृत किया हो तो मुझे भी ऐसी विभूति मिले। उसे तथा उसके अमात्य कण्डरीक को सरोवर को देखकर अपने पूर्व जन्म[4] का स्मरण हो आया और उसने ब्राह्मण को बहुत धन दिया। पूर्व भवों[5] का वर्णन करते हुए बताया है कि वह दशार्ण में सात बार व्याध बना, कालिंजर पर्वत पर मृग बना, शरद्वीप में चक्रवाक, मानसरोवर में हंस, कुरुक्षेत्र में आभिजात्य ब्राह्मण बना। ब्रह्मदत्त ने देवल ब्राह्मण की श्यामा कन्या सन्मति से विवाह[6] किया। वह पशु-पक्षियों की भाषा जानता था। एक नर पिपीलिका को मादा पिपीलिका से काम-याचना करते हुए सुनकर उसने अट्टहास[7] किया। अन्त में पूजनिका नामक एक चिड़िया ने उसकी दोनों आँखें फोड़ दीं।

द्वितीय भव—मरुभूति मर कर मलय देश के कुब्जक नामक सल्लकी के बड़े भारी वन में वज्रघोष (अशनिघोष) नामक हाथी हुआ। वरुणा मरकर उसकी हथिनी हुई। कमठ मरकर उसी वन में कुक्कुट नामक सर्प हुआ।

राजा अरविन्द एक दिन शरद काल की शोभा देख रहे थे। आकाश में उस समय मेघ छाये हुए थे। कुछ समय पश्चात् मेघ लुप्त हो गया। इससे राजा के मन में प्रेरणा जगी—जैसे आकाश में मेघ दिखाई दिया और अल्प-काल में ही नष्ट हो गया, इसी प्रकार देखते देखते हमारा भी नाश हो जायगा। अतः जब तक इस शरीर का नाश नहीं होता, तब तक मैं वह तप करूँगा, जिससे शाश्वत सुख की प्राप्ति हो।

इस प्रकार विचारकर अपने पुत्र का राज्याभिषेक कर और परिजनों-पुरजनों को समझा बुझाकर राजा ने पिहितास्रव नामक मुनि से मुनि-दीक्षा लेली। तप करते हुए मुनिराज अरविन्द को अवधि ज्ञान की प्राप्ति हो गई। एक बार मुनि अरविन्द संघ के साथ सम्मेद शिखर की यात्रा के लिये निकले। वे उसी वन में पहुँचे जहाँ वज्र-घोष हाथी निवास करता था। सामायिक का समय होने पर वे प्रतिमायोग धारण कर विराजमान हो गये। इतने में वह मदोन्मत्त गजराज झूमता हुआ उधर ही आ निकला। उसके दोनों कपोलों से मद झर रहा था। मुनिराज को देखते ही वह चिंघाड़ता हुआ उनकी ओर मारने दौड़ा। किन्तु उनके निकट आते ही उनके वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह देखकर उसे विचार आया—इनको मैंने कहीं देखा है। जब गजेन्द्र मन में इस प्रकार विचार कर रहा था, तभी मुनिराज की सामायिक समाप्त हुई। उन्होंने गजराज के मन की बात जानली। वे बोले—हे गजवर! मैं राजा अरविन्द हूँ, पोदनपुर का स्वामी हूँ। मुनि बनकर यहाँ आया हूँ। तू मरुभूति है जो हाथी के रूप में उत्पन्न हुआ है। तू सम्यक्त्व और अणुव्रतों को ग्रहण कर। इसी से तेरा कल्याण होगा।

मुनिराज का उपदेश सुनकर गजराज ने सम्यक्त्व सहित अणुव्रतों को धारण किया। उस समय से वह हाथी पाप के डर से दूसरे हाथियों द्वारा तोड़ी हुई वृक्ष की शाखाओं और सूखे पत्तों को खाने लगा। पत्थरों पर गिरने से अथवा हाथियों के संघटन से जो जल प्रासुक हो जाता था, उसे ही वह पीता था। तथा प्रोषधोपवास के बाद पारणा करता था। इस प्रकार कुछ ही दिनों में वह महा बलवान हाथी अत्यन्त दुर्बल हो गया। एक दिन वह नदी में पानी पीने गया था कि वहाँ कीचड़ में गिर गया। उसने उठने का कई बार प्रयत्न किया, किन्तु उठ नहीं सका। तभी (कमठ का जीव) उस कुक्कुट सर्प ने पूर्व जन्म के वैर के कारण उसे काट लिया।

तीसरा भव—वह गजराज मरकर सहस्रार[1] स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ। उसकी आयु सोलह सागर की थी। वरुणा भी संयम को धारण कर उसी स्वर्ग में देवी बनी। कुक्कुट सर्प मरकर पांचवें नरक में गया। मुनिराज अरविन्द सम्मेद शिखर पर तप करते हुए कर्मों का नाश करके मुक्त हो गये।

चौथा भव—स्वर्ग में आयु पूर्ण होने पर वहाँ से च्युत हुआ और जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश है। उसके विजयार्ध पर्वत पर विद्यमान त्रिलोकोत्तम नामक नगर में वहाँ के राजा विद्युद्गति[2] और रानी विद्यु-न्माला[3] के रश्मिवेग[4] नामक पुत्र हुआ। जब रश्मिवेग राज्यासीन हुआ तो उसने अपने तमाम शत्रुओं को वश में करके खूब राज्य-विस्तार किया। वह प्रजा का वल्लभ था। उसने यौवनावस्था में ही समाधिगुप्त मुनिराज के पास मुनि-दीक्षा लेली। वे घोर तप में लीन हो गये। एक दिन मुनिराज हिमगिरि पर्वत की गुफा में योग धारण करके विराजमान थे। कमठ का जीव पांचवें नरक की आयु पूर्ण करके इसी गुफा में अजगर[5] हुआ। मुनिराज को

---

१. वादिराज सूरिकृत 'सिरि पासनाह चरिउ' में महाशुक्र स्वर्ग लिखा है।

२. पुष्पदन्त कृत 'महापुराण' के अनुसार विद्युद्वेग, कविवर रइधू कृत 'पासचरिय के अनुसार अशनिगति।

३. महापुराण के अनुसार तडिन्माला, देवभद्र सूरिकृत 'सिरि पासनाह चरिउ' के अनुसार 'तिलकावती, हेमचन्द्र कृत 'त्रिशष्ठि शलाका पुरुष चरित' के अनुसार कनकतिलका, पद्मकीर्ति कृत 'पासणाह चरिउ' के अनुसार 'मदनावली, हेमविजयगणि कृत 'पार्श्व चरितम्' के अनुसार कनकतिलका, रइधूकृत 'पास चरिय' के अनुसार तडितवेगा।

४. देवभद्र सूरि, हेमचन्द्र, पद्मकीर्ति और हेमविजय गणि के अनुसार किरणवेग तथा रइधू के अनुसार अशनिवेग।

५. किसी ग्रन्थ में भुजंग, सर्प महोरग।

देखते ही उसे भयंकर क्रोध आया और वह उन्हें निगल गया। अजगर दावानल में जलकर मर गया और छटवें नरक में उत्पन्न हुआ।

पांचवाँ भव—रश्मिवेग मरकर अच्युत स्वर्ग के पुष्कर विमान में देव हुआ। बाईस सागर की उसकी आयु थी।

छटवाँ भव—जम्बूद्वीप के पश्चिमी विदेह क्षेत्र में पद्म नामक देश था। वहाँ अश्वपुर नगर था। वहाँ के राजा वज्रवीर्य और रानी विजया[1] के वज्रनाभि नामक पुत्र हुआ। वह चक्रवर्ती था। षट्खण्ड पृथ्वी का वह अधिपति था। चौदह रत्न और नवनिधि का स्वामी था। उसने राज्य लक्ष्मी का खूब भोग किया। किन्तु एक दिन उसने राज्य लक्ष्मी के स्थान पर मोक्ष लक्ष्मी का उपभोग करने का निश्चय किया और क्षेमंकर मुनिराज के समीप संयम धारण कर लिया।

कमठ का जीव छटवें नरक की आयु पूर्ण करके कुरंग नामक भील हुआ। यह बड़ा क्रूर प्रकृति का था। एक दिन मुनिराज वज्रनाभि[2] उसी वन में ध्यान लगाये हुए बैठे थे। घूमता फिरता वह भील उधर ही आ निकला।

सातवाँ भव

मुनिराज को देखते ही उसके मन में क्रूरता उत्पन्न होगई और वह मुनिराज के ऊपर घोर उपसर्ग करने लगा। भयंकर उपसर्ग होने पर मुनिराज आराधनाओं का आराधना कर सुभद्र नामक मध्यम ग्रैवेयक में सम्यग्दर्शन के धारक अहमिन्द्र हुए। उनकी आयु सत्ताईस सागर की थी। कमठ का जीव कुरंग भील मरकर अपने क्रूर परिणामों के कारण सप्तम नरक में नारकी हुआ।

आयु के अन्त में वहाँ से च्युत होकर जम्बूद्वीप के कोशल देश में अयोध्या नगर में काश्यपगोत्री इक्ष्वाकुवंशी राजा वज्रबाहु[3] और रानी प्रभंकरी[4] के आनन्द[5] नामक पुत्र हुआ। यौवन आने पर पिता ने उसका राज्याभिषेक कर दिया। वह अतिशय विभूतिसम्पन्न मण्डलेश्वर राजा था। एक बार फाल्गुनी अष्टाह्निका में

आठवाँ भव

सिद्धचक्र विधान कराया। उसी समय विपुलमति नामक मुनिराज पधारे। आनन्द ने मुनिराज की वन्दना करके उनसे धर्मोपदेश सुना। मुनिराज ने जिनेन्द्र प्रतिमा और जिन-मन्दिर के माहात्म्य का वर्णन करते हुए उन्हें पुण्य-बन्ध का समर्थ साधन बताया तथा इसी सन्दर्भ में उन्होंने सूर्य-मन्दिर में स्थित जिन-मन्दिर की विभूति का वर्णन किया। आनन्द उससे इतना प्रभावित हुआ कि वह दोनों समय सूर्य-विमान में स्थित जिन-प्रतिमाओं की स्तुति करने लगा। उसने कलाकारों द्वारा श्रद्धावश मणि और स्वर्ण खचित सूर्य-विमान बनवाया और उसके भीतर अत्यन्त कान्तिमान जिन-मन्दिर बनवाया। राजा को सूर्य की पूजा करते देखकर प्रजाजन भक्तिपूर्वक सूर्यमण्डल की स्तुति करने लगे। भारतवर्ष में सूर्योपासना तभी से प्रचलित होगई।

एक दिन राजा आनन्द ने दर्पण में मुख देखते हुऐ सिर में एक सफेद बाल देखा। यौवन की क्षणभंगुरता देखकर उसे संसार, शरीर और भोगों के प्रति निर्वेद होगया। उसने अपने पुत्र को राज्य देकर समुद्रगुप्त नामक मुनिराज के पास मुनिदीक्षा लेली। उन्होंने चारों आराधनाओं की आराधना कर परम विशुद्धि प्राप्त की और ग्यारह अंगों का अध्ययन करके सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन किया, जिससे उन्हें पुण्य रूप तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध होगया। वे नाना प्रकार के तप करते हुए अन्त में प्रायोपगमन सन्यास लेकर क्षीरवन में प्रतिमायोग से विराजमान हुए। कमठ का जीव नरक की घोर यातनायें सहन करता हुआ मरकर उसी वन में सिंह बना। सिंह ने मुनिराज को देखते ही भयंकर गर्जना की और एक ही प्रहार में उन्हें प्राणरहित कर दिया।

---

१. श्वेताम्बर लेखकों के अनुसार लक्ष्मीमती।

२. पुष्पदन्त कृत महापुराण के अनुसार वज्रबाहु। वादिराज के अनुसार चक्रनाभ और पद्मकीर्ति के अनुसार चक्रायुध।

३. श्वेताम्बर लेखकों ने कुलिशबाहु नाम दिया है जो समानार्थक है।

४. हेमचन्द्र ने सुदंशणा और हेमविजय गणि ने सदंशणा दिया है।

५. देवभद्रसूरि आनन्द के स्थान पर कनकबाहु, हेमचन्द्र और हेमविजय गणि सुवर्णबाहु, पद्मकीर्ति कनकप्रभ नाम का प्रयोग करते हैं और उसे चक्रवर्ती मानते हैं। कविवर रइधू ने नाम तो आनन्द ही दिया है किन्तु उसे चक्रवर्ती माना है।

नौवाँ भव

आनन्द मुनि सिंह के उपसर्ग को शान्तिपूर्वक सहन कर सन्यास मरण द्वारा अच्युत[1] स्वर्ग के प्राणत विमान में इन्द्र बने। वहाँ पर उसकी बीस सागर की आयु थी। कमठ का जीव सिंह पर्याय समाप्त करके रौद्र परिणामों के कारण नरक[2] में गया।

गर्भकल्याणक

इस भरत क्षेत्र में काशी नामक देश में वाराणसी नामक नगर था। उसमें काश्यप गोत्री राजा विश्वसेन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम ब्राह्मी था। जब उस अच्युतेन्द्र की आयु के अन्तिम छह माह शेष रह गये तो देवों ने महाराज अश्वसेन के महलों में रत्न वर्षा की। वैशाख कृष्ण द्वितीया को प्रातः काल के समय विशाखा नक्षत्र में रानी ब्राह्मी ने सोलह शुभ स्वप्न देखे। उसके बाद अपने मुख में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। प्रातः काल के मंगल वाद्यों के कारण महारानी की नींद खुल गई। उन्होंने मंगल अभिषेक किया और वस्त्राभूषण पहनकर वे अपने पति के पास पहुँची। पति ने उनकी अभ्यर्थना की और उन्हें अपने वाम पार्श्व में स्थान दिया। महारानी ने रात्रि में देखे हुए स्वप्न बताकर उनका फल पूछा। महाराज ने अवधिज्ञान द्वारा जानकर कहा—'देवि! पुण्योदय से तुम्हारे गर्भ में त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर आज अवतरित हुए हैं।' पति से स्वप्नों का फल सुनकर महारानी का रोम-रोम हर्ष से भर गया। महारानी के गर्भ में अच्युतेन्द्र आयु पूर्ण होने पर अवतरित हुआ। उसी समय समस्त इन्द्रों और देवों ने आकर बड़े हर्ष से स्वर्गावतरण की वेला में भगवान के माता-पिता का कल्याणाभिषेक करके गर्भकल्याणक का उत्सव मनाया। देवों ने गर्भ के नौ मास तक अर्थात् गर्भ में आने के छह माह पूर्व से भगवान के जन्म पर्यन्त—पन्द्रह माह तक माता-पिता के प्रासाद में रत्न-वर्षा करके भगवान के प्रति अपनी भक्ति की अभिव्यक्ति की।

पार्श्वनाथ के माता, पिता, वंश और जन्म-तिथि

पार्श्वनाथ के माता-पिता के नामों के सम्बन्ध में जैनग्रन्थों में एकरूपता नहीं मिलती। उत्तरपुराण में माता-पिता का नाम ब्राह्मी और विश्वसेन दिये गये हैं। पुष्पदन्त ने उत्तरपुराण का ही अनुकरण किया है किन्तु वादिराज ने माता का नाम ब्रह्मदत्ता बताया है। पद्मकीर्ति और रइधू ने पिता का नाम अश्वसेन के स्थान पर हयसेन दिया है। अश्व और हय समानार्थक हैं, संभवतः इसलिये यह नाम विपर्यय किया गया है। तिलोयपण्णत्ती में माता का नाम वर्मिला तथा पद्मचरित में वर्मादेवी दिया गया है। समवायाङ्ग और आवश्यक निर्युक्ति में पिता का नाम आससेण और माता का नाम वामा मिलता है। अनेक श्वेताम्बर आचार्यों ने इन्हीं का अनुकरण किया है।

पार्श्वनाथ के वंश के सम्बन्ध में तिलोयपण्णत्ती में हमें जो सूचना प्राप्त होती है, उसके अनुसार वे उग्रवंश के थे। उत्तरपुराणकार उन्हें काश्यप गोत्री बताते हैं। आवश्यक निर्युक्ति में भी उन्हें काश्यप गोत्र का बताया है। पुष्पदन्त पार्श्व को उग्रवंशी बताते हैं। देवभद्रसूरि, हेमचन्द्र तथा कई श्वेताम्बर आचार्यों ने उन्हें इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न माना है। किन्तु समवायाङ्ग, कल्पसूत्र, वादिराज और पद्मकीर्ति ने उनके वंश का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया।

यदि गहराई से विचार किया जाय तो कोई मतभेद प्रतीत नहीं होता। जैन शास्त्रों के अनुसार भगवान ऋषभदेव ने जिन चार वंशों की स्थापना की थी, उनमें एक उग्रवंश भी था। काशी के महाराज अकंपन को यह वंश दिया गया था। मूलतः तो एक इक्ष्वाकुवंश ही था। ऋषभदेव स्वयं इक्ष्वाकुवंश के थे। लगता है, ये चारों वंश इक्ष्वाकु वंश के ही भेद थे। अतः उग्रवंश भी इक्ष्वाकुवंश का ही भेद था।

बृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी और याज्ञवल्क्य का एक संवाद मिलता है। उसमें गार्गी ने काशी और विदेह-वासी को उग्रपुत्र कहा है—'काश्यो वा वैदेहो वा उग्रपुत्रः।' इसमें काशी के निवासी को उग्रपुत्र बताया है। उग्रपुत्र का अर्थ संभवतः उग्रवंशी होगा। इसी प्रकार बौद्धजातकों में ब्रह्मदत्त के सिवाय वाराणसी के छह राजा और बतलाये हैं—उग्गसेन, धनंजय, महासीलव, संयम, विस्ससेन और उदयभद्दा इनमें दो नाम उल्लेखनीय हैं—उग्गसेन और विस्ससेन। संभवतः उग्गसेन (उग्रसेन) से उग्रवंश की स्थापना हुई। उसी वंश में विस्ससेन (विश्वसेन) उत्पन्न हुए। विष्णुपुराण

१. कई जैनाचार्यों ने आनत के स्थान पर प्राणत, वैजयंत, दशम कल्प या चौदहवां कल्प लिखा है।

२. आचार्यों में नरक के नाम के सम्बन्ध में साधारण सा मतभेद है। विभिन्न आचार्यों ने पृथक्-पृथक् नाम दिये हैं; जैसे तमप्रभ, पंकप्रभा, धूमप्रभा। कुछ ने नरक का नाम न देकर केवल नरक या रौद्र नरक लिख दिया है।

श्रौर वायुपुराण में ब्रह्मदत्त के उत्तराधिकारियों में योगसेन, विश्वकसेन श्रौर झल्लार के नाम दिये गये हैं। पुराणों के विश्वसेन, बौद्धजातकों के विस्ससेन श्रौर उत्तर पुराण के विश्वसेन एक ही थे, ऐसा प्रतीत होता है। यदि यह सत्य है तो उत्तर पुराण में पार्श्वनाथ के पिता का नाम विश्वसेन श्रौर उन्हें उग्रवंश का बताया है, वह वास्तविकता के अधिक निकट है।

पार्श्वनाथ की जन्म-नगरी वाराणसी के सम्बन्ध में सभी जैन ग्रन्थकार एकमत हैं। किन्तु उनको जन्म-तिथि के सम्बन्ध में साधारण सा मतभेद है। तिलोयपण्णत्ती में उनकी जन्म-तिथि पौष कृष्णा एकादशी बताई है, किन्तु कल्पसूत्र में पौष कृष्णा दशमी बताई है। दिगम्बर ग्रन्थकारों ने तिलोयपण्णत्ती का अनुकरण किया है श्रौर श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने कल्पसूत्र का। किन्तु दोनों ही परम्परायें उनके जन्म-नक्षत्र विशाखा के बारे में एकमत हैं।

नौ माह पूर्ण होने पर पौष कृष्णा एकादशी के दिन अनिल योग में महारानी ब्राह्मी ने पुत्र प्रसव किया। पुत्र असाधारण था श्रौर तीनों लोकों का स्वामी था। उस पुत्र के पुण्य प्रताप से इन्द्रों के आसन कम्पायमान होने लगे।

भगवान का जन्म कल्याणक

उन्होंने अवधिज्ञान से तीर्थंकर भगवान के जन्म का समाचार जान लिया। तब इन्द्रों श्रौर देवों ने आकर सुमेर पर्वत पर उस अतिशय पुण्य के अधिकारी बालक को लेजाकर उसका महाभिषेक किया। इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रक्खा। दिगम्बर परम्परा में तीर्थंकरों का नामकरण इन्द्र ने किया है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में 'पार्श्व' यह नाम इन्द्र ने न रखकर माता-पिता ने रक्खा, यह माना जाता है। आवश्यक निर्युक्ति १०६ आदि श्वेताम्बर ग्रंथों में यह नाम घटनामूलक बताया जाता है। घटना इस प्रकार है कि जब पार्श्वनाथ गर्भ में थे, तब वामादेवी ने पार्श्व (बगल) में एक काला सर्प देखा, अतः बालक का नाम पार्श्व रक्खा गया।

पार्श्वनाथ का जन्म नेमिनाथ के बाद ८३७५० वर्ष व्यतीत हो जाने पर हुआ था। उनकी आयु सौ वर्ष की थी। उनके शरीर का वर्ण धान के छोटे पौधे के समान हरे रंग का था। उनका शरीर नौ हाथ ऊँचा था। वे उग्रवंश में उत्पन्न हुये थे।

पार्श्वनाथ द्वितीया के चन्द्रमा के समान बढ़ते हुए जब सोलह वर्ष के हुए, तब वे अपनी सेना के साथ वन विहार के लिये नगर के बाहर गये। वन में उन्होंने देखा कि एक वृद्ध तपस्वी पंचाग्नि तप कर रहा है। यह तपस्वी

पार्श्वनाथ श्रौर महीपाल तपस्वी

महीपाल नगर का राजा महीपाल था जो पत्नी-वियोग के कारण साधु बन गया था। स्मरण रहे, यह कमठ का ही जीव था श्रौर भव-भ्रमण करता हुआ महीपाल राजा हुआ था श्रौर अब घर द्वार छोड़कर तपस्वी बन गया था। पार्श्वनाथ जन्मजात अवधिज्ञानी थे। वे उस तपस्वी के पास ही जाकर खड़े हो गये, उन्होंने तपस्वी को नमस्कार करना भी उचित नहीं समझा। यह बात तपस्वी को अत्यन्त अभद्र लगी। वह सोचने लगा—मैं तपोवृद्ध हूँ, वयोवृद्ध हूँ, इसका नाना हूँ किन्तु इस अहंकारी कुमार ने मुझे नमस्कार तक नहीं किया' यह सोचकर वह बहुत क्रुद्ध हुआ श्रौर बुझती हुई आग में लकड़ी डालने को लकड़ी काटने के लिये कुल्हाड़ी उठाई। तभी अवधिज्ञानी कुमार पार्श्वनाथ ने यह कहते हुए उसे रोका कि इस लकड़ी को मत काटो, इसमें सर्प हैं।' किन्तु वह साधु नहीं माना श्रौर लकड़ी काट डाली। लकड़ी के साथ उसके भीतर रहने वाले सर्प-सर्पिणी के दो टुकड़े हो गये। पार्श्वकुमार यह देखकर बोले—तुझे अपने इस कुतप का बड़ा अहंकार है किन्तु तू नहीं जानता कि इस कुतप से इस लोक श्रौर परलोक में कितना दुःख होता है। मैं तेरी अवज्ञा या अनादर नहीं कर रहा, किन्तु स्नेह के कारण समझा रहा हूँ कि अज्ञान तप दुःख का कारण है।' यह कह कर मरते हुए सर्प-सर्पिणी के पास बैठकर पार्श्वकुमार ने अत्यन्त करुणार्द्र होकर उन्हें णमोकार मंत्र सुनाया श्रौर उन्हें उपदेश दिया, जिससे वे दोनों अत्यन्त शान्ति श्रौर समतापूर्वक पीड़ा को सहते हुए प्राण त्याग कर महान् वैभव के धारी नागकुमार जाति के देवों के इन्द्र-इन्द्राणी धरणेन्द्र श्रौर पद्मावती हुए। उधर तपस्वी महीपाल अपने तिरस्कार से क्षुब्ध होकर अत्यन्त क्रोध करता हुआ मरा श्रौर सम्बर नामक ज्योतिष्क देव हुआ।

पार्श्वकुमार का विवाह ?—भगवान पार्श्वनाथ का विवाह हुआ या नहीं ; इस सम्बन्ध में दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा में मतभेद है। दिगम्बर परम्परा के सभी आचार्य इस विषय में एकमत हैं श्रौर उनकी मान्यता

हैं कि पार्श्वनाथ का विवाह नहीं हुआ और वे कुमार अवस्था में ही प्रव्रजित हुए। श्वेताम्बर परम्परा में इस विषय में दो मत हैं। इन दो मतों के आधार पर श्वेताम्बर आचार्य दो वर्ग में विभाजित हो गये हैं। एक वर्ग, जो प्राचीन परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है, उसका मत है कि पार्श्वनाथ अविवाहित रहे और कुमार वय में प्रव्रजित हुए। दूसरे वर्ग का मत इसके विरुद्ध है और पार्श्वनाथ को विवाहित स्वीकार करता है।

यहाँ दोनों परम्पराओं की मान्यताओं का उल्लेख करना अत्यन्त रुचिकर होगा।

दिगम्बर परम्परा—आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती में बताया है कि—

णेमीमल्ली वीरो कुमारकालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि य गहिदतवा सेसजिणा रज्जचरमम्मि ॥ ४।६७०।

अर्थात् भगवान नेमिनाथ, मल्लिनाथ, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पांच तीर्थंकरों ने कुमारकाल में और शेष तीर्थंकरों ने राज्य के अन्त में तप को ग्रहण किया।

यतिवृषभ की इस परम्परा में पद्मचरित, उत्तरपुराण, महापुराण, सिरिपासनाह चरिउ और पासचरिय जैसे सभी दिगम्बराम्नाय के शास्त्र सम्मिलित हैं। सभी ने पार्श्वनाथ को कुमार प्रव्रजित स्वीकार किया है।

इस परम्परा के पद्मकीर्ति ने पासनाहचरिउ में पार्श्वनाथ के विवाह का प्रसंग तो उठाया है, किन्तु विवाह हुआ नहीं। पद्मकीर्ति ने यवनराज के साथ पार्श्वनाथ के युद्ध का वर्णन किया है। कुशस्थल का राजा रविकीर्ति या भानुकीर्ति था जो पार्श्वनाथ का मामा था। जब उसके पिता शक्रवर्मा रविकीर्ति के ऊपर राज्य-भार सौंपकर जिन-दीक्षा लेकर चले गये तो राज्य को निर्बल जानकर यवनराज ने एक दूत भेजकर रविकीर्ति से कहलाया कि तुम अपनी कन्या प्रभावती का विवाह मेरे साथ कर दो और मेरी आधीनता स्वीकार करो, अन्यथा तुम्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ेगा। रविकीर्ति ने सहायता के लिये वाराणसी नरेश हयसेन के पास अपना दूत भेजा। पिता की आज्ञा लेकर पार्श्वकुमार सेना सहित कुशस्थल पहुँचे। वहाँ यवनराज के साथ उनका भयानक युद्ध हुआ। इसमें पार्श्वनाथ की विजय हुई। पश्चात् रविकीर्ति ने अपनी कन्या प्रभावती का विवाह पार्श्वकुमार के साथ कर देने का विचार किया। पार्श्वकुमार ने भी अपनी स्वीकृति देदी। किन्तु तभी वे वन में आश्रम के तापसों को देखने गये। वहाँ कमठ तापस ने मना करने पर भी लकड़ी काटी। उसमें सर्प-सर्पिणी की मृत्यु हो गई। इसे देखकर पार्श्व कुमार को वैराग्य हो गया और उन्होंने दीक्षा लेली।

पद्मकीर्ति ने संभवतः यह प्रसंग विमलसूरि के पउमचरिउ से उधार लिया है। पउम चरिउ में जनक की राजधानी यवनराज द्वारा घिर जाने पर जनक ने दशरथ को सहायता के लिये संदेश भेजा। दशरथ ने राम को युद्ध के लिए भेजा। राम ने जाकर यवनों से युद्ध किया और उसमें विजय प्राप्त की। जनक ने राम के साथ अपनी पुत्री सीता का विवाह कर दिया। संभवतः इसी प्रसंग से प्रेरणा प्राप्त करके पद्मकीर्ति ने रविकीर्ति और पार्श्वकुमार की घटना का उद्घाटन किया और प्रभावती के विवाह का प्रसंग निरूपित किया।

इस घटना का उल्लेख देवभद्रसूरि ने भी किया है। देवभद्रसूरि और पद्मकीर्ति के विवरण में अन्तर भी है और वह अन्तर यह है कि देवभद्रसूरि के अनुसार कुशस्थल के राजा का नाम प्रसेनजित है, जबकि पद्मकीर्ति के अनुसार कुशस्थल के राजा का नाम रविकीर्ति है। देवभद्रसूरि ने पार्श्व को युद्ध में बचा लिया और पार्श्व और प्रभावती का विवाह करा दिया। पश्चाद्वर्ती श्वेताम्बर लेखकों ने देवभद्रसूरि का ही अनुकरण किया है। किन्तु पद्मकीर्ति के अतिरिक्त अन्य किसी दिगम्बर आचार्य ने न तो इस घटना का उल्लेख ही किया है और न पार्श्वनाथ के विवाह का समर्थन ही किया है।

श्वेताम्बर परम्परा—श्वेताम्बर सम्मत 'समवायांग सूत्र' नं० १९ में आगारवास का उल्लेख करते हुए १९ तीर्थंकरों का घर में रहकर और भोग भोगकर दीक्षित होना बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि शेष पांच तीर्थंकर कुमार अवस्था में ही दीक्षित हुए थे। इसी आशय का समर्थन इस सूत्र के टीकाकार अभयदेव सूरि ने अपनी वृत्ति में किया है। उन्होंने लिखा है—'शेषास्तु पंच कुमार भाव एवेत्याह' यह लिखकर 'वीरं अरिट्ठनेमिं' नामक गाथा उद्धृत की है।

'स्थानांग सूत्र' के ४७९ वें सूत्र में पांच तीर्थंकरों को कुमार प्रव्रजित लिखा है।

'आवश्यक निर्युक्ति' गाथा नं० २४३-२४४ में पांच तीर्थंकरों को कुमार प्रव्रजित लिखा है। वे गाथायें इस प्रकार हैं—

'वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे, अवसेसा आसि रायाणो॥२४३॥
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु।
न य इत्थिआभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइया॥२४४॥

इन गाथाओं में बतलाया गया है कि महावीर, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ, मल्लिनाथ और वासुपूज्य ये पांच तीर्थंकर राजवंशों, विशुद्धवंशों और क्षत्रियकुलों में उत्पन्न हुए थे। वे न विवाहित हुए, न उनका राज्याभिषेक हुआ बल्कि वे कुमार अवस्था में प्रव्रजित हुए।

इसी प्रकार गाथा नं० २४८ में भी इसी आशय की पुष्टि की है। वह इस प्रकार है—

'वीरो अरिट्ठणेमी पासो मल्लीवासुपुज्जो य।
पढमवए पव्वइया सेसा पुण पच्छिम वयंसि॥२४८॥

इसमें बताया है कि ये पांच तीर्थंकर प्रथम वय में प्रव्रजित हुए और शेष पश्चिम वय में।

इसके टीकाकार मलयगिरि ने इसकी टीका करते हुए बताया है कि—'**प्रथमवयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिताः, शेषाः पुनः ऋषभस्वामि प्रभृतयो 'मध्यमे वयसि' यौवनत्वलक्षणे वर्तमानाः प्रव्रजिताः।**'

पश्चात्कालीन टीकाकारों ने 'कुमार प्रव्रजित' का अर्थ 'जिन्होंने राजपद प्राप्त नहीं किया' यह किया है। समवायांग सूत्र में कुमार शब्द का अर्थ अविवाहित ब्रह्मचारी किया है। आवश्यक निर्युक्तिकार को भी कुमार शब्द का यही अर्थ अभिप्रेत था, जिसे उन्होंने 'गामायारा विसया निसेविता जे कुमार वज्जेहिं' इस गाथा द्वारा पुष्ट किया है। इसमें बताया है—कुमार प्रव्रजितों को छोड़कर अन्य तीर्थंकरों ने भोग भोगे।

श्वेताम्बर मुनि कल्याण विजय जी ने 'श्रमण भगवान महावीर' नामक पुस्तक के पृष्ठ १२ पर इस सम्बन्ध में निर्युक्तिकार के आशय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

'यद्यपि पिछले टीकाकार 'कुमार प्रव्रजित' का अर्थ 'राजपद नहीं पाए हुए' ऐसा करते हैं। परन्तु आवश्यक निर्युक्ति का भाव ऐसा नहीं मालूम होता। निर्युक्तिकार 'ग्रामाचार' शब्द की व्याख्या में स्पष्ट लिखते हैं कि 'कुमार प्रव्रजितों को छोड़ अन्य तीर्थंकरों ने भोग भोगे।' (गामायारा विसया ते भुत्ता कुमाररहिएहिं) इस व्याख्या से यह ध्वनित होता है कि आवश्यक निर्युक्तिकार को 'कुमार प्रव्रजित' का अर्थ 'कुमारावस्था में दीक्षा लेने वाला' ऐसा अभिप्रेत है।'

इसी प्रकार प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् डॉ० दलसुख मालवणिया 'स्थानांग-समवायांग' (पृ०३८) पर विचार करते हुए कुमार शब्द का अर्थ बाल ब्रह्मचारी करते हैं और दिगम्बरों की अविवाहित मान्यता को साधार मानते हैं। वे लिखते हैं—

'समवायांग मां ओगणीसनो आगारवास (नहि के नृपतित्व) कहे नार सूत्र मूकीओ, तो प्रेम ज कहेयुं पड़े छे के त्यां कुमारनो अर्थ बाल ब्रह्मचारीज लेवो जोईए, अने बाकीनानो विवाहित, आ प्रमाणे दिगम्बरोनी मान्यताने पण आगमिक आधार छे जो एम मानवुं पड़े छे।'

इन सब प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन श्वेताम्बर साहित्य में पांच तीर्थंकरों को अविवाहित ही स्वीकार किया गया है।

श्वे० आगमसाहित्य में सर्वप्रथम 'कल्पसूत्र' में इन तीर्थंकरों के विवाह की कल्पना की गई है और उसी का अनुसरण देवभद्र सूरि, हेमचन्द्र आदि पश्चात्कालीन श्वेताम्बर आचार्यों ने किया और कई टीकाकारों ने समवायांग, स्थानांग और आवश्यक निर्युक्ति की मूल भावना के विरुद्ध शब्दों को तोड़कर अपनी निजी मान्यतापरक अर्थ किया। उदाहरण के तौर पर आवश्यक निर्युक्ति की गाथा २४४ के 'ण इत्थियाभिसेया' पद का अर्थ 'अभिषेक

की इच्छा नहीं की' किया है। कुछ तो इससे भी दो कदम आगे बढ़ गये और उन्होंने 'इत्थियाभिसेया' के स्थान पर 'इच्छियाभिसेया' यह संशोधित पद लिखकर अपनी मान्यता की पुष्टि की।

पार्श्वनाथ का वैराग्य और दीक्षा—पार्श्वनाथ जब तीस वर्ष के हुए, तब एक दिन अयोध्या के राजा जयसेन ने भगली देश में उत्पन्न हुए घोड़े आदि की भेंट के साथ अपना दूत पार्श्वनाथ के पास भेजा। पार्श्वनाथ ने भेंट स्वीकार करके राजदूत का यथोचित सम्मान किया और उससे अयोध्या की विभूति के बारे में पूछा। राजदूत ने भगवान ऋषभदेव और उनकी अयोध्या के वैभव का वर्णन करते हुए वर्तमान अयोध्या की श्रीसमृद्धि का वर्णन किया। भगवान ऋषभदेव की चर्चा सुनकर पार्श्वनाथ गहरे चिन्तन में डूब गये—मुझे तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध तो अवश्य हुआ, किन्तु उससे क्या लाभ हुआ। मैंने अब तक आत्मकल्याण नहीं किया। धन्य हैं भगवान ऋषभदेव, जिन्होंने मोक्ष प्राप्त कर लिया। मैंने अब तक जीवन व्यर्थ खोया, किन्तु अब मुझे जीवन के एक-एक क्षण को आत्म कल्याण के लिये समर्पित करना है।

यह विचार आते ही उनके मन में देह और भोगों के प्रति निर्वेद उत्पन्न हो गया। उन्होंने घरबार छोड़कर संयम धारण करने का निश्चय कर लिया। तभी लौकान्तिक देव आये और उन्होंने प्रभु के विचार की सराहना की और प्रार्थना की—'भगवन्! अब तीर्थ-प्रवर्तन की वेला आ पहुंची है। अज्ञान तप और हिंसा में आस्था रखने वाले मानव को आपके मार्ग-दर्शन की आज आवश्यकता है। प्रभो! सन्तप्त प्राणियों पर दया करें।' इस प्रकार प्रार्थना करके भगवान को नमस्कार किया और वे अपने स्थान को लौट गये।

तभी इन्द्र और देवों ने आकर भगवान का कल्याण अभिषेक किया और भगवान को वस्त्राभरणों से अलंकृत किया। भगवान ने माता-पिता और परिजनों से दीक्षा लेने की अनुमति ली और देव निर्मित विमला नामक पालकी में विराजमान होकर अश्व वन में पहुँचे। वहाँ तेला का नियम लेकर एक शिलातल पर उत्तराभिमुख होकर पर्यङ्कासन से विराजमान हो गये और 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहकर केशलुंचन किया और तीन सौ राजाओं के साथ दीक्षा लेली। उस दिन पौष कृष्णा एकादशी का प्रातः काल का समय था। इन्द्र ने भगवान के पवित्र केशों को रत्न मंजूषा में रक्खा और क्षीरसागर में उनका क्षेपण कर दिया। दीक्षा लेते ही भगवान ने सामायिक चारित्र धारण किया और विशुद्धता के कारण चतुर्थ मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न हो गया।

भगवान पारणा के दिन आहार के लिये गुल्मखेट नगर में गये। वहाँ श्याम वर्ण वाले धन्य राजा ने नवधा भक्तिपूर्वक भगवान को पड़गाह कर परमान्न आहार दिया। देवों ने पंचाश्चर्य किये—शीतल सुगन्धित पवन बहने लगी, सुरभित जल की वृष्टि हुई, देव-दुन्दुभि हुई, देवों ने पुष्प-वर्षा की और जय-घोष किया-धन्य यह दान, धन्य यह दाता और धन्य यह सुपात्र। भगवान आहार लेकर विहार कर गये।

पार्श्वनाथ के वैराग्य का कारण क्या था, इस सम्बन्ध में तीन मत मिलते हैं। एक तो उत्तर पुराण का मत जो ऊपर दिया गया है। इस परम्परा में पुष्पदन्त हैं। दूसरा मत है पद्मकीर्ति का, जिन्होंने कमठ तापस के साथ घटित घटना तथा सर्पों की मृत्यु को पार्श्वनाथ के वैराग्य का कारण बताया है। हेमचन्द्र ने इसी परम्परा का अनुकरण किया है। तीसरा मत है वादिराज का जिन्होंने पार्श्वनाथ की स्वाभाविक विरक्त प्रवृत्ति को मुख्य आधार माना है। देवभद्र सूरि, भावदेव सूरि और हेमविजय गणि ने वसन्त ऋतु में उद्यान में नेमिनाथ के भित्तिचित्रों को देखकर पार्श्वनाथ को वैराग्य हुआ माना है। किन्तु उत्तर पुराणकार की मान्यता है कि जब पार्श्वनाथ कमठ तापस से मिले थे, उस समय पार्श्वनाथ की आयु केवल सोलह वर्ष की थी और उन्होंने तीस वर्ष की आयु में दीक्षा ली। ऐसी दशा में कमठ की घटना उनके वैराग्य का कारण नहीं बन सकती थी।

भगवान को दीक्षा लिए हुए चार माह व्यतीत हो गये। तब उन्होंने जिस वन में दीक्षा ली थी, उसी वन में जाकर देवदारु वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। वे सात दिन का योग लेकर ध्यानमग्न हो गए। तभी सम्बर देव अपने विमान द्वारा आकाशमार्ग से जारहा था। अकस्मात् उसका विमान रुक गया। देव ने अपने विभंगावधि ज्ञान से देखा तो उसे अपने पूर्वभव का वैर स्मरण हो आया। वह क्रोध में फुंकारने लगा। उसने भीषण गर्जन तर्जन करके प्रलयंकर वर्षा करना प्रारंभ कर दिया। फिर उसने प्रचण्ड गर्जन करता हुआ पवन प्रवाहित किया। पवन इतना प्रबल वेग से बहने लगा, जिसमें वृक्ष,

सम्बर द्वारा पार्श्वनाथ के ऊपर घोर उपसर्ग

नगर, पर्वत तक उड़ गए। जब इतने पर भी पार्श्वनाथ ध्यान से विचलित नहीं हुए, तब वह अधिक क्रोधित होकर नाना प्रकार के भयंकर शस्त्रास्त्र चलाने लगा। वे शस्त्र तप के प्रभाव से तीर्थंकर के शरीर पर पुष्प बनकर गिरते थे। जब घातक शस्त्र भी निष्फल हो गये, तब सम्बर ने माया से अप्सराओं का समूह उत्पन्न किया। कोई गीत द्वारा रस संचार करने लगी, कोई नृत्य द्वारा वातावरण में मादकता उत्पन्न करने लगी। अन्य अप्सरायें नाना प्रकार के हाव भाव और चेष्टायें करने लगीं। किन्तु आत्म ध्यानी वीतराग पार्श्व जिनेन्द्र अन्तर्विहार में मग्न थे, उन्हें बाह्य का पता ही नहीं था। किन्तु देव भी हार मानने वाला नहीं था। उसने भयानक रौद्रमुखी हिंसक पशुओं द्वारा उपसर्ग किया; कभी भयंकर भूत-प्रेतों की सेना द्वारा उत्पात किया; कभी उसने भीषण उपल वर्षा की। उसने पार्श्वनाथ पर अचिन्त्य, अकल्प्य उपद्रव किये, सारी शक्ति लगादी उन्हें पीड़ा देकर ध्यान से विचलित करने की किन्तु वह धीर वीर महायोगी अविचल रहा। वह तो बाह्य से एकदम निर्लिप्त, शरीर से निर्मोह होकर आत्म रस में विहार कर रहा था।

सम्बर के द्वारा किये गये भयानक उपसर्गों की निष्फलता का सजीव चित्रण करते हुए आचार्यप्रवर सिद्धसेन दिवाकर ने 'कल्याण मंदिर' स्तोत्र में लिखा है—

'प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषादुत्थापितानि कमठेन शठेन यानि।
छायापि तैस्तव न नाथ हता हताशो ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥३१॥

अर्थात्, हे नाथ ! उस दुष्ट कमठ ने क्रोधावेश में जो धूल आपके ऊपर फेंकी, वह आपकी छाया पर भी आघात नहीं पहुँचा सकी।

इस प्रकार उस दुष्ट सम्बर देव ने सात दिन तक पार्श्वनाथ के ऊपर घोर उपसर्ग किये। यहाँ तक कि उसने छोटे मोटे पर्वत तक लाकर उनके समीप गिराए। अवधिज्ञान से यह उपसर्ग जानकर नागेन्द्र धरणेन्द्र अपनी इन्द्राणी के साथ वहाँ आया। वह फणा रूपी मण्डप से सुशोभित था। धरणेन्द्र ने भगवान को चारों ओर से घेरकर अपने फणों के ऊपर उठा लिया। पद्मावती देवी भगवान के ऊपर वज्रमय छत्र तानकर खड़ी हो गई

आचार्य पद्मकीर्ति ने 'पासनाह चरिउ' में इस घटना का सजीव वर्णन करते हुए कुछ ऐसा विवरण उपस्थित किया है जो संभवतः किसी जैन ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि वह विवरण परम्परा के अनुकूल नहीं है, किन्तु वह है अत्यन्त रोचक। अतः पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ दिया जारहा है—

'घोर और भीषण उपसर्ग करने वाले तथा विपुल शीतल जल की वृष्टि करने वाले असुर की लगातार सात रात्रियाँ व्यतीत हुईं; तब भी उसका मन द्वेष रहित नहीं हुआ। घनों द्वारा बरसाया गया जल ज्यों-ज्यों गिरता था, त्यों-त्यों वह जिनेन्द्र के कन्धे तक पहुँचता था। जब जल जिनेन्द्र के कन्धे को पार कर गया तब धरणेन्द्र का आसन कम्पित हुआ। उसने तत्काल ही अवधि ज्ञान का प्रयोग किया और समस्त कारण की जानकारी की। जिसके प्रसाद से मुझे नीरोगता और देवत्व की प्राप्ति हुई, उसके ऊपर महान् उपसर्ग उपस्थित है। वह उसी क्षण नाग-कन्याओं से घिरा हुआ चल पड़ा। मणि किरणों से शोभित तथा मन में मान धारण किये हुए वह नाग पाताल से निकला तथा मंगल ध्वनि करता हुआ और नागकन्याओं से घिरा हुआ तत्काल वहाँ आया। उसने जल में विकसित कमल निर्मित किया। उस कमल पर नागराज अपनी पत्नियों के साथ आरूढ़ हो गया।

नागराज ने जिनवर की प्रदक्षिणा दी, दोनों पाद-पंकज में प्रणाम किया तथा वन्दना की। फिर उसने जिनेन्द्र को जल से उठाया। उसने जिनवर के दोनों चरणों को प्रसन्नता से अपनी गोदी में रखा तथा तीर्थंकर के मस्तक के ऊपर अपना लहलहाता हुआ विशाल फण-मण्डप फैलाया। वह सात फणों से समन्वित था। उस नाग ने फणों के द्वारा पटल को छिद्र रहित बनाया और आकाश से गिरते हुए जल का अवरोध किया। आकाश से जैसे जैसे जल गिरता था, वैसे वैसे वह कमल बढ़ता जाता था। असुर ने नागराज और उसकी पत्नियों को देखा, वह अत्यन्त क्रुद्ध होकर नागराज से बोला—'मेरे साथ कलह करना तुम्हारे लिये उपयुक्त नहीं है। मैं तुम्हारे और अपने इस शत्रु के सिर पर अभी वज्र पटकता हूँ।' यह कहकर उसने भीषण वज्र फेंका। नागराज ने उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिये। तब उसने परशु, भाला और शर समूह छोड़ा। वे भी नागराज के पास तक नहीं पहुँचे। तब वह पर्वत शिखरों से

केवलज्ञान कल्याणक प्रकाशित करने वाला केवलज्ञान प्राप्त हो गया। इन्द्रों ने आकर केवलज्ञान की पूजा की।

सम्वर नामक ज्योतिष्कदेव भी काललब्धि पाकर शान्त हो गया और उसने सम्यग्दर्शन सम्वन्धी विशुद्धता प्राप्त करली। यह देख उस वन में रहने वाले सातसौ तपस्वियों ने संयम धारण कर लिया वे सम्यग्दृष्टि होगये और भगवान पार्श्वनाथ के चरणों में नमस्कार किया। ये सातसौ तपस्वी महीपाल तापस के शिष्य थे। उन्होंने भगवान पार्श्वनाथ के चरणों में जिन-दीक्षा लेली। आचार्य समन्तभद्र ने भी 'स्वयंभूस्तोत्र'[1] की पार्श्वनाथ स्तुति में सातसौ तापसों द्वारा दिगम्बर दीक्षा लेने का उल्लेख किया है।

इसी समय गजपुर नरेश स्वयंभू को ज्ञात हुआ कि तीर्थंकर पार्श्वनाथ को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। वह अपने परिजनों के साथ वैभवपूर्वक वहाँ आया। जिनेन्द्र की परम ऋद्धि को देखकर उसका मन प्रव्रज्या पर गया। जिनवर को प्रणाम कर उसने उसी क्षण दीक्षा लेली। त्रिलोकीनाथ ने धर्म-चक्र-प्रवर्तन किया। वहाँ उनका प्रथम उपदेश हुआ। मुनि स्वयम्भू भगवान के प्रथम गणधर बने। स्वयम्भू के साथ उनकी कुमारी कन्या प्रभावती ने आर्यिका दीक्षा लेली। वह भगवान के आर्यिका संघ की मुख्य गणिनी हुई।

कल्लुरगड्डु ग्राम (जिला शिमोगा, मैसूर) में सिद्धेश्वर मन्दिर के पास एक शिलालेख सन् ११२२ का उपलब्ध हुआ है। उसमें बताया है कि जब भगवान नेमिनाथ का निर्वाण हुआ, उस समय गंगवंशी राजा विष्णुगुप्त अहिच्छत्र में राज्य कर रहा था। उसने इन्द्रध्वज पूजा की। उसकी स्त्री पृथ्वीमती थी। उसके दो पुत्र थे—भगदत्त और श्रीदत्त। भगदत्त कलिंग देश पर और श्रीदत्त अहिच्छत्र पर राज्य कर रहा था। जब भगवान पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हुआ, तब इस राजा के वंशज प्रियबन्धु ने भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में आकर पूजा की। तब इन्द्र ने प्रसन्न होकर इस राजा को पांच आभूषण दिये और अहिच्छत्रपुर का नाम विजयपुर रखा।

---

१. यमीश्वरं वीक्ष्य विधूतकल्मषं तपोधनास्तेऽपि तथा बुभूषवः।
वनौकसः स्वश्रमवन्ध्यबुद्धयः शमोपदेशं शरणं प्रपेदिरे ॥१३४॥

भगवान पार्श्वनाथ का चतुर्विध संघ—भगवान पार्श्वनाथ के समवसरण में स्वयम्भू आदि १० गणधर थे। ३५० मुनि पूर्व के ज्ञाता, १०६०० शिक्षक, १४०० अवधिज्ञानी, १००० केवलज्ञानी, १००० विक्रियाऋद्धिधारी, ७५० मनःपर्ययज्ञानी और ६०० वादी थे। इस प्रकार कुल १६००० मुनि थे। सुलोचना[1] आदि ३६००० आर्यिकायें थीं। इनके अतिरिक्त १००००० श्रावक और ३००००० श्राविकायें तथा असंख्यात देव-देवियाँ और संख्यात तिर्यंच थे।

निर्वाण कल्याणक—भगवान पार्श्वनाथ देश के विभिन्न क्षेत्रों में विहार करके ६९ वर्ष ७ माह तक धर्मोद्योत करते रहे। जब उनकी आयु में एक माह शेष रह गया, तब वे छत्तीस मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर जाकर प्रतिमा योग धारण कर विराजमान होगये। अन्त में श्रावण शुक्ला सप्तमी को विशाखा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय अघातिया कर्मों का क्षय करके मुक्त हो गये। तभी इन्द्रों ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक का उत्सव किया।

पार्श्वनाथ और सम्बर के भवान्तर

भगवान पार्श्वनाथ जन्म-जन्मान्तरों की निरन्तर साधना के द्वारा ही भगवान बने। उन पूर्व जन्मों का विवरण जानना रुचिकर होगा। वे पहले मरुभूति मंत्री बने, फिर सहस्रार स्वर्ग में देव बने। वहाँ से आकर वे विद्याधर हुए। तब अच्युत स्वर्ग में देव हुए। आयु पूर्ण होने पर वे वज्रनाभि चक्रवर्ती हुए। वहाँ छह खण्डों का राज्य-वैभव और भोगों का उपभोग करते हुए आयु पूर्ण होने पर मध्यम ग्रैवेयक में अहमिन्द्र बने। देव पर्याय के पश्चात् वे आनन्द नामक राजा हुए। इसी पर्याय में उन्होंने तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध किया। अन्त में समाधिमरण करके वे आनत स्वर्ग के इन्द्र बने। इन्द्र पद का भोग करते हुए भी वे भोग में लिप्त नहीं हुए, अपितु उनका अधिक समय धर्म-श्रवण, तीर्थंकरों के उपदेश-श्रवण, तीर्थ-वन्दन आदि में ही व्यतीत होता था। जब उनकी आयु समाप्त हुई, तब वे काशी में अश्वसेन के पुत्र पार्श्वनाथ हुए। इस प्रकार उनकी जो साधना मरुभूति के जन्म में प्रारम्भ हुई थी, वह पार्श्वनाथ के रूप में पूर्ण हुई।

इस आध्यात्मिक अभ्युदय के विरुद्ध नैतिक अधःपतन का एक घिनौना व्यक्तित्व कमठ के रूप में उभरा, जिसने पार्श्वनाथ के विभिन्न जन्मों में उनसे अकारण वैर करके उनका अहित करने का प्रयत्न किया किन्तु वे अपनी आध्यात्मिक साधना की बुलन्दी पर चढ़ते गये और अन्त में कमठ का वह अवांछनीय व्यक्तित्व पार्श्वनाथ की शरण में आकर एकदम निखर उठा। तब उसने क्षुद्रता का बाना उतार फेंका। क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति भी विवेक जागृत करके अपने जीवन को सुधार सकता है, कमठ का इतिहास इसका एक समर्थ उदाहरण है। मरुभूति के जीवन में उसी के सहोदर कमठ ने विष घोलने का प्रयत्न किया। यहाँ तक कि सहोदर के स्नेह में आकुल मरुभूति को अविवेकी और क्रोधान्ध कमठ ने पत्थर द्वारा मार दिया। मरुभूति तो मरकर देव बना अपने शान्त परिणाम के कारण, किन्तु दुष्ट कमठ अपने ही क्रोध में जलकर मरा और कुक्कुट सर्प बना। वहाँ आयु पूरी करके पाँचवें नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ से निकल कर वह अजगर बना। वह क्रोध के कारण पुनः नरक में गया। आयु समाप्त होने पर वह भील हुआ। फिर नरक में पहुँचा। तब वहाँ से आकर सिंह बना। फिर नरक में गया। वहाँ से निकलने पर वह महीपाल राजा बना और तपस्या करके सम्बर देव हुआ। किन्तु इतने जन्मों के बाद भी संस्कार के रूप में पाले हुए क्रोध और वैर के कारण उसने भगवान पार्श्वनाथ को दुःख पहुँचाने के अथक और अनेक प्रयत्न किये। पार्श्वनाथ तो अपनी असीम धीरता, शान्ति और क्षमा द्वारा वीतरागता के साकार स्वरूप बनकर सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गये। सम्बर अपने दैवी बल की निस्सारता का अनुभव करके पार्श्वनाथ के चरणों में आ गिरा और रो रोकर, प्रायश्चित द्वारा अपने जन्म जन्मान्तरों से संचित क्रोध और वैर के मैल को आंसुओं के रूप में बहाता रहा। हिंसा अहिंसा के सामने हार मान गई, उसने सदा ही हार मानी है और यह अहिंसा का ही प्रभाव है कि क्षुद्र सम्बर का हृदय-परिवर्तन हुआ।

भगवान पार्श्वनाथ के यक्ष का नाम धरणेन्द्र और यक्षिणी का नाम पद्मावती है। तीर्थंकरों के शासन देवों और शासन देवियों में ये दोनों ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, विशेषतः पद्मावती की ख्याति सबसे अधिक है। यही

१. पासनाहचरिउ के अनुसार मुख्य आर्यिका का नाम प्रभावती था।

यक्ष-य क्षणी

कारण है कि शासन देवों और देवियों की उपलब्ध मूर्तियों में पद्मावती देवी की मूर्तियों की सख्या सर्वाधिक है। यह भी विशेष उल्लेखनीय है कि पद्मावती की मूर्तियों में सबसे अधिक वैविध्य मिलता है। संभवतः इसका कारण यही रहा है कि पद्मावती की बहुमान्यता के कारण कर ाकारों ने कल्पना से काम लिया है। शास्त्रानुसार दिगम्बर परम्परा में धरणेन्द्र और पद्मावती का रूप इस प्रकार मिलता है—

धरणेन्द्र का रूप—

ऊर्ध्वद्विहस्तधृतवासुकिरुद्भटाधः सव्यान्यपाणिफणिपाशवरप्रणन्ता।
श्रीनागराजककुदं धरणोऽभ्रनीलः, कूर्मश्रितो भजतु वासुकिमौलिरिज्याम् ॥

अर्थ— नागराज के चिन्हवाला भगवान पार्श्वनाथ का शासनदेव धरणेन्द्र नामक यक्ष है। वह आकाश के वर्ण वाला, कछुए की सवारी वाला, मुकुट में सर्प के चिन्ह वाला और चार भुजाओं वाला है। उसके ऊपरी दोनों हाथों में र.र्प तथा नीचे के बांये हाथ मे नाग पाश तथा दायाँ हाथ वरदान मुद्रा में है।

पद्मावती देवी का रूप इस प्रकार बताया है—

देवी पद्मावती नाम्ना रक्तवर्णा चतुर्भुजा।
पद्मासनाङ्कुशं धत्ते स्वक्षसूत्रं च पङ्कजम् ॥
अथवा षड्भुजादेवी चतुर्विंशति सद्भुजाः।
पाशासिकुन्तबालेन्दु - गदामुसलसंयुतम् ॥
भुजाषट्कं समाख्यातं चतुर्विंशतिरुच्यते।
शङ्खासिचक्रबालेन्दु-पद्मोत्पल शरासनम् ॥
शक्ति पाशाङ्कुशं घण्टां बाणं मुसलखेटकम्।
त्रिशूलं परशुं कुन्तं वज्रमालां फलं गदाम् ॥
पत्रं च पल्लवं धत्ते वरदा धर्मवत्सला।

अर्थ—पार्श्वनाथ तीर्थंकर की शासनदेवी पद्मावती देवी है। वह लाल वर्ण वाली, कमल के आसन वाली और .ार भुजाओं में अंकुश, माला, कमल और वरदान मुद्रा है। अथवा वह छह अथवा चौबीस भुजा वाली भी होती है। छह हाथों में पाश, तलवार, भाला, बालचन्द्र, गदा और मूसल धारण करती है। तथा चौबीस हाथों में क्रमश: शंख, तलवार, चक्र, बालचन्द्र, सफद कमल, लाल कमल, धनुष, शक्ति, पाश, अंकुश, घण्टा, बाण, मूसल, ढाल, त्रिशूल, फरशा, भाला, वज्र, माला, फल, गदा, पत्र, पत्र गुच्छक और वरदान मुद्रा होती है।[1]

आशाधर प्रतिष्ठा पाठ के अनुसार पद्मावती कुक्कुट सर्प की सवारी करने वाली है तथा कमल के आसन पर बैठती है। उसके सिर के ऊपर सर्प के तीन फणों वाला चिन्ह होता है।

पद्मावती कल्प में चार भुजाओं में पाश, फल, वरदान और अंकुश होते हैं।

श्वेताम्बर ग्रंथ निर्वाणकलिका, आचार दिनकर आदि के अनुसार पार्श्वनाथ तीर्थंकर के यक्ष का नाम 'प.र्श्व' है। वह हाथी के मुख वाला, सिर के ऊपर सर्प फण, कृष्ण वर्ण वाला और चार भुजा वाला है। उसके दोनों दा। हाथों में बिजौरा और सांप होता है (आचार दिनकर मं गदा) तथा बांये हाथों में नेवला और सर्प धारण करता है। श्वेताम्बर ग्रन्थों में उसकी सवारी कुक्कुट सर्प बताई है।

इसी प्रकार पार्श्वनाथ की यक्षी का नाम पद्मावती है। वह सुवर्ण वर्ण वाली, कुक्कुट सर्प की सवारी और च.र भुजाओं वाली है। उसके दांये हाथों में कमल और पाश हैं तथा बांये हाथों में फल और अंकुश होते हैं। (आचार िनकर के अनुसार बांये हाथों में पाश और कमल होते हैं।)

दिगम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों में पद्मावती देवी का जो उपर्युक्त स्वरूप बतलाया है, उसके अनुरूप .द्मावती देवी की कुछ मूर्तियाँ अवश्य मिलती हैं, किन्तु परम्परा से हटकर भी अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। कुछ

---

१ ठक्कुर फेरु कृत वास्तुसार प्रकरण

मूर्तियाँ अष्टभुजी, बारहभुजी और षोडशभुजी भी मिलती हैं। प्रायः पद्मावती की मूर्तियों के सिर के ऊपर फणावलियुक्त पार्श्वनाथ मूर्ति विराजमान होती है और जो पद्मावती मूर्ति पार्श्वनाथयुक्त नहीं होती, उसके ऊपर सर्प फण बना होता है। इससे पद्मावती देवी की मूर्ति की पहचान हो जाती है। किन्तु कुछ ऐसी भी मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनकी एक गोद में बालक और दूसरी ओर उंगली पकड़े हुए एक बालक खड़ा है। बालकों को देखकर यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि ऐसी मूर्ति अम्बिका देवी की होनी चाहिये। किन्तु सिर पर सर्प फण होने के कारण ऐसी मूर्ति पद्मावती देवी की मानी जाती है। ऐसी अद्भुत मूर्तियाँ देवगढ़ में मिलती हैं। इसका एकमात्र कारण कलाकारों की स्वातन्त्र्यप्रियता ही कही जा सकती है। वे बंधे हुए ढर्रे से बंधे नहीं रह सके और उन्होंने अपनी कल्पना की उड़ान से पद्मावती देवी को नये नये रूप दिये, नये आयाम दिये और नया आकार प्रदान किया। जो व्यक्ति शास्त्रों में उल्लिखित रूप के अनुकूल पद्मावती देवी की अनेक मूर्तियों को देखकर सन्देह और भ्रम में पड़ जाते हैं, उन्हें इस तथ्य को हृदयंगम करना चाहिये कि कलाकार कोई बन्धन स्वीकार नहीं करता, वह स्वतन्त्रचेता होता है, स्वातन्त्र्य प्रिय होता है। इसीलिये कलाकारों की नित नवीन कल्पनाओं में से पद्मावती देवी के नानाविध रूप उभर कर आये।

भगवान पार्श्वनाथ का लोकव्यापी प्रभाव

भगवान पार्श्वनाथ का व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावक था। उनकी साधना महान थी। उनकी वाणी में करुणा, शुचिता और शान्ति-दान्ति का संगम था। उन्होंने अपने उपदेशों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इस चातुर्याम संवर पर अधिक बल दिया था। उनके सिद्धान्त सर्वथा व्यावहारिक थे। इसी कारण उनके व्यक्तित्व और उपदेशों का प्रभाव जन-जन के मानस पर अत्यधिक पड़ा। इतना ही नहीं, तत्कालीन वैदिक ऋषिगण, राजन्य वर्ग और पश्चात्कालीन धर्मनेताओं पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। इतिहासकारों ने उनके धर्म के सम्बन्ध में लिखा है—

"श्री पार्श्वनाथ भगवान का धर्म सर्वथा व्यवहार्य था। हिंसा, असत्य, स्तेय और परिग्रह का त्याग करना यह चातुर्याम संवरवाद उनका धर्म था। इसका उन्होंने भारत भर में प्रचार किया। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुव्यवस्थित रूप देने का यह सर्वप्रथम उदाहरण है।

"श्री पार्श्वनाथ ने सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन तीनों नियमों के साथ अहिंसा का मेल बिठाया। पहले अरण्य में रहने वाले ऋषि-मुनियों के आचरण में जो अहिंसा थी, उसे व्यवहार में स्थान न था। तथा तीन नियमों के सहयोग से अहिंसा सामाजिक बनी, व्यावहारिक बनी।"

ठाणांग २०१ अ० के अनुसार उस चातुर्याम में १ सर्व प्राणातिपात विरति (सव्वाओ पाणाइवायओ वेरमणं) २ सर्व मृषावाद विरति (सव्वाओ मुसावायओ वेरमणं), ३ सर्वअदत्तादान विरति (सव्वाओ अदत्तादाणाओ वेरमणं), ४ सर्व बहिरादान विरति (सव्वाओ बहिद्धदाणाओ वेरमणं) ये चार व्रत थे। भगवान महावीर ने चातुर्याम के स्थान पर पंच शिक्षिक या पंच महाव्रत बतलाये थे। ये पंचमहाव्रत चातुर्याम के ही विस्तृत रूप थे। मूल दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं था।

"इसी चातुर्याम का उपदेश भगवान पार्श्वनाथ ने दिया था और उन्होंने इसी के द्वारा अहिंसा का भारत-व्यापी प्रचार किया था। ईसवी सन् से आठ शताब्दी पूर्व भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्याम का जो उपदेश दिया था वह काल अत्यन्त प्राचीन है और वह उपनिषद् काल, बल्कि उससे भी प्राचीन ठहरता है[1]।"

भगवान पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म का प्रभाव अत्यन्त दूरगामी हुआ। उनके बाद जितने धर्म संस्थापक हुए, उन्होंने अपने धर्म सिद्धान्तों की रचना में पार्श्वनाथ के चातुर्यामों से बड़ी सहायता ली। इनमें आजीवक मत के संस्थापक गोशालक और बौद्ध मत के संस्थापक बुद्ध मुख्य हैं। म० बुद्ध के जीवन पर तो पार्श्वनाथ के चातुर्याम की गहरी

१. डॉ० हर्मन जैकोबी (परिशिष्ट पर्व पृ० ६)

छाप थी। वे प्रारम्भ में पार्श्वापत्य अनगार पिहिताश्रव से दीक्षा लेकर जैन श्रमण भी बने थे, इस प्रकार के उल्लेख रत्नकरण्ड श्रावकाचार १-१० आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। जैन साहित्य में बताया गया है कि भगवान पार्श्वनाथ के तीर्थ में सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर में पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ। वह बहुश्रुत एवं शास्त्रज्ञ था। किन्तु मत्स्याहार करने के कारण वह दीक्षा से भ्रष्ट होगया और रक्ताम्बर धारण करके उसने एकान्त मत की प्रवृत्ति की।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि बुद्ध पार्श्वापत्य सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। यह भी कहा जाता है कि वे छह वर्ष तक जैनश्रमण रहे किन्तु तपस्या की कठिनाईयों से घबड़ा कर उन्होंने जैन मार्ग का परित्याग कर दिया। 'दीघ निकाय' में स्पष्ट उल्लेख है कि मैंने जैन श्रमणोचित तप किये, केश लुंचन किया।

बौद्ध विद्वान् आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी ने 'पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म' निबन्ध में लिखा है—"निर्ग्रन्थों के श्रावक 'वप्प' शाक्य के उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थों का चातुर्याम धर्म शाक्य देश में प्रचलित था, परन्तु ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि उस देश में निर्ग्रन्थों का कोई आश्रम हो। इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रन्थ श्रमण बीच बीच में शाक्य देश में जाकर अपने धर्म का उपदेश करते थे।.........तब बोधिसत्व 'उद्रक रामपुत्र का आश्रम छोड़कर राजगृह चले गये। वहाँ के श्रमण सम्प्रदाय में उन्हें शायद निर्ग्रन्थों का चातुर्याम संवर ही विशेष पसंद आया क्योंकि आगे चलकर उन्होंने जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रवर्तन किया, उसमें चातुर्याम का समावेश किया गया है।"

कौशाम्बीजी ने जिस वप्प शाक्य का उल्लेख किया है, वह बुद्ध का चाचा था [1] और वह पार्श्वनाथ के धर्म का अनुयायी था। इससे स्पष्ट है कि तथागत बुद्ध के कुल पर भी पार्श्वनाथ के धर्म की गहरी छाप थी। बुद्ध उसी धर्म की छाया में बढ़े और उस धर्म के संस्कारों ने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला।

उस समय वैदिक सम्प्रदाय में पुत्रैषणा, लोकैषणा और वित्तैषणा के लिये हिंसामूलक यज्ञ किये जाते थे तथा शरीर को केवल कष्ट देने को ही तप माना जाता था। किन्तु पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म ने वैदिक धर्मानुयायियों के मानस को झकझोर डाला। वेदों की आधिदैविक मान्यता जनता के मन को सन्तुष्ट नहीं कर पा रही थी। श्रमण निर्ग्रन्थों का तप यज्ञ आर्यों को अपने पशु यज्ञों की अपेक्षा और अज्ञान तप की अपेक्षा अधिक प्रभावक और आकर्षक प्रतीत होता था। यही कारण था कि महीपाल तपस्वी के सात सौ शिष्यों ने पार्श्वनाथ के चरणों में आकर श्रमण दीक्षा ले ली। यह अज्ञान तप पर पार्श्वनाथ के श्रमणों के ज्ञान तप की सार्वजनिक विजय थी।

किन्तु इससे भी अधिक प्रभाव पड़ा मूल वैदिक मान्यताओं और विचारधारा पर। यह प्रभाव बड़े सहज रूप में पड़ा, जिसकी कल्पना दोनों पक्षों में से किसी ने भी नहीं की होगी। पार्श्वनाथ के निर्ग्रन्थ वनों में रहते थे। उनके रहने और ध्यान के स्थानों को निषद्, निषदी आदि नामों से पुकारा जाता था। वैदिक आर्य उनके सिद्धान्तों और आचरण से आकर्षित होकर उनका उपदेश सुनने वहाँ जाते थे। उन निषदों के समीप बैठकर उन्होंने जो उपदेश ग्रहण किया और प्रकृति के तत्वों की पूजा के स्थान पर अध्यात्म को ग्रन्थों में गुम्फित किया, उन ग्रन्थों का नाम ही उन्होंने आभार की भावना से उपनिषद् रख दिया। निष्पक्ष दृष्टि से उपनिषदों का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उपनिषदों में जिस अध्यात्म की विस्तृत चर्चा की गई है, उसका मूल स्रोत वेद नहीं, कोई और ही है और वह वस्तुतः पार्श्वनाथ के श्रमणों का उपदेश है।

पार्श्वनाथ ने भारत के अनेक भागों में विहार करके अहिंसा का जो समर्थ प्रचार किया, उससे अनेक अनार्य और आर्य जातियाँ उनके धर्म में दीक्षित हो गई। नाग, द्रविड़ आदि जातियों में उनकी मान्यता असंदिग्ध थी। वेदों और स्मृतियों में इन जातियों का वेदविरोधी व्रात्य के रूप में उल्लेख मिलता है।

वस्तुतः व्रात्य श्रमण संस्कृति की जैन धारा के अनुयायी थे। इन व्रात्यों में नाग जाति सर्वाधिक शक्तिशाली थी। तक्षशिला, उद्यानपुरी, अहिच्छत्र, मथुरा, पद्मावती, कान्तिपुरी, नागपुर आदि इस जाति के प्रसिद्ध केन्द्र थे। पार्श्वनाथ नाग जाति के इन केन्द्रों में कई बार पधारे थे। एक बार वे नागपुर (वर्तमान हस्तिनापुर) में पधारे।

---

१ अंगुत्तर निकाय

वहाँ का एक व्यापारी बन्धुदत्त अनेक दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं से गुजरता हुआ एक बार भीलों द्वारा उसके साथियों सहित पकड़ लिया गया और बलिदान के लिये देवता के आगे ले जाया गया। उसकी पत्नी प्रियदर्शना को भील सरदार ने अपने आवास में धर्म-पुत्री के रूप में रक्खा था। प्रियदर्शना को अपने पति के दुर्भाग्य का कुछ भी ज्ञान नहीं था और जब भी उसने भील सरदार से अपने पति के सम्बन्ध में कुछ कहने का प्रयत्न किया, भील सरदार व्यस्तता के कारण उसकी बात नहीं सुन सका। एक दिन सरदार अपनी धर्म-पुत्री को अपने जातीय उत्सव को दिखाने ले गया। उस उत्सव में बन्धुदत्त का बलिदान होना था। बलिदान का क्रूर दृश्य वह न देख सके, इसलिये प्रियदर्शना की आंखों पर पट्टी बांध दी गई। जब उसने देवता के आगे खड़े अपने पति को प्रार्थना करते हुए सुना तो उसने पट्टी उतार फेंकी और दौड़कर अपने पति के साथ खड़ी हो गई तथा वह भी बलिदान के लिये तैयार हो गई। भील सरदार को आखिर बन्धुदत्त और उसके साथियों को छोड़ना पड़ा। किन्तु भील सरदार के समक्ष समस्या थी कि देवता को नर-मांस के बिना प्रसन्न कैसे किया जाय, जिसका उत्तर बन्धुदत्त ने अहिंसात्मक ढंग से दिया और देवता को फल-फूलों से सन्तुष्ट किया। भील सरदार अहिंसा की इस अपरिचित विधि से बड़ा प्रभावित हुआ। वह बन्धुदत्त के आग्रह से उसके साथ नागपुर गया और वहाँ पधारे हुए भगवान पार्श्वनाथ के दर्शन किये। भगवान का उपदेश सुनकर वह भील सरदार सदा के लिये जैन धर्म और अहिंसा का कट्टर उपासक बन गया। इस प्रकार न जाने कितने व्यक्ति, जातियाँ और प्रदेश पार्श्वनाथ का उपदेश सुनकर उनके धर्म में दीक्षित हो गये।

भगवान पार्श्वनाथ का सर्वसाधारण पर कितना प्रभाव था, यह आज भी बंगाल-बिहार-उड़ीसा में फैले हुए लाखों सराकों, बंगाल के मेदिनीपुर जिले के सद्गोपों, उड़ीसा के रंगिया जाति के लोगों, अलक बाबा आदि के जीवन-व्यवहार को देखने से पता चलता है। यद्यपि भगवान पार्श्वनाथ को लग भग पौने तीन हज़ार वर्ष व्यतीत हो चुके है और ये जातियाँ किन्हीं बाध्यताओं के कारण जैन धर्म का परित्याग कर चुकी हैं किन्तु आज भी ये जातियाँ पार्श्वनाथ को अपना आद्य कुलदेवता मानती हैं, पार्श्वनाथ के उपदेश परम्परागत रूप से इन जातियों के जीवन मे अब तक चले आ रहे हैं। पार्श्वनाथ के सिद्धान्तों के संस्कार इनके जीवन में गहरी जड़ जमा चुके हैं। इसीलिये ये लोग अहिंसा में पूर्ण विश्वास करते हैं, मांस-भक्षण नहीं करते, रात्रि-भोजन नहीं करते, जल छानकर पीते हैं, जैन तीर्थों की यात्रा करते हैं, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर की उपासना करते हैं, अष्टमी चतुर्दशी को उपवास करते हैं। जिन प्रान्तों में ये लोग रहते हैं, वहाँ मांसाहार सामान्य बात है; जिस धर्म के ये अनुयायी हैं, उसमें बलि साधारण बात है, किन्तु ये लोग इतने लम्बे समय से अपने संस्कारों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते चले आ रहे हैं। यह उनकी दृढ़ आस्था और विश्वास का प्रमाण है। यह आस्था और विश्वास उस महापुरुष के प्रति हैं, जिसने पौने तीन हजार वर्ष पूर्व इन्हें एक प्रकाश दिया था। उस प्रकाश को ये लोग आज तक अपने हृदय में संजो कर रक्खे हुए हैं। इन जातियों के अतिरिक्त सम्मेद शिखर के निकट रहने वाली भील जाति पार्श्वनाथ की अनन्य भक्त है। इस जाति के लोग मकर संक्रान्ति के दिन सम्मेद शिखर की सभी टोंकों की वन्दना करते हैं और पार्श्वनाथ टोंक पर एकत्रित होकर उत्सव मनाते हैं, गीत नृत्य करते हैं।

इन जातियों ने अपने आराध्य पार्श्वनाथ के प्रति अपने हृदय की श्रद्धा और आभार प्रगट करने के लिये सम्मेद शिखर का नाम पारसनाथ हिल रख दिया है और वह नाम अब बहुत प्रचलित हो गया है।

सर्व साधारण के समान राजन्यवर्ग पर भी भगवान पार्श्वनाथ का व्यापक प्रभाव था। ऐसे साहित्यिक साक्ष्य और पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि गजपुर नरेश स्वयंभू ने भगवान के समीप प्रव्रज्या ग्रहण की; अहिच्छत्र के गंगवंशी नरेश प्रियबन्धु ने भगवान के दर्शन किये और उनका अनुयायी बना। उस समय जितने व्रात्य क्षत्रिय राजा थे वे पार्श्वनाथ के उपासक थे। जब भगवान शौरीपुर पधारे तो वहाँ का राजा प्रभंजन उनका भक्त बन गया। वाराणसी नरेश अश्वसेन और महारानी वामादेवी ने भगवान के निकट दीक्षा ग्रहण कर ली। वज्जि संघ के लिच्छवी आदि आठ कुल उनके भक्त थे। उस संघ के गणपति चेटक, क्षत्रियकुण्ड के गणपति भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ भी पार्श्वनाथ सम्प्रदाय के उपासक थे। पांचाल नरेश दुर्मुख, विदर्भ नरेश भीम और गान्धार नरेश नागजित् पार्श्वनाथ के समकालीन थे और पार्श्वनाथ के भक्त थे। पार्श्वनाथके तीर्थ में उत्पन्न हुए कलिंग नरेश

करकण्डु पार्श्वनाथ के अनुयायी थे और उन्होंने तेर (जिला उस्मानाबाद) में लयण स्थापित किये और पार्श्वनाथ भगवान की मूर्तियों की स्थापना की।

इस प्रकार अनेक नरेश पार्श्वनाथ के काल में और उनके पश्चात्काल में पार्श्वनाथ को अपना इष्टदेव मानते थे।

भगवान पार्श्वनाथ का विहार जिन देशों में हुआ था, उन देशों में अंग, वंग, कलिंग, मगध, काशी, कोशल, अवन्ति, कुरु, पुण्ड्र, मालव, पाँचाल, विदर्भ, दशार्ण. सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, लाट, कच्छ, काश्मीर, शाक, पल्लव, और आभीर आदि देश थे। ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि वे तिब्बत[1] में भी पधारे थे। भगवान ने जिन देशों मे विहार किया था, वहाँ सर्वसाधारण पर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा था और वे उनके भक्त बन गये थे।

उनके लोकव्यापी प्रभाव का ही यह परिणाम है कि तीर्थंकर मूर्तियों में सर्वाधिक मूर्तियाँ पार्श्वनाथ की ही उपलब्ध होती हैं और उनके कारण पद्मावती देवी की भी इतनी ख्याति हुई कि आज भी शासन देवियों में सबसे अधिक मूर्तियाँ पद्मावती की ही मिलती हैं।

पार्श्वनाथ की जन्म नगरी-काशी—काशी की तीर्थक्षेत्र के रूप में प्रसिद्धि सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के काल से ही हो गई थी। किन्तु यह सर्वमान्य तीर्थ बना पार्श्वनाथ के कारण। पार्श्वनाथ काशी के वर्तमान भेलूपुरा मुहल्ले में काशी नरेश अश्वसैन की महारानी वामादेवी की पवित्र कुक्षि से उत्पन्न हुए थे। यहाँ पन्द्रह माह तक कुबेर ने रत्न वर्षा की थी। यहीं देवों और इन्द्रों ने उनके गर्भ-जन्म कल्याणकों के महोत्सव मनाये थे।

उस काल में गंगा का सम्पूर्ण प्रदेश वानप्रस्थ तपस्वियों का केन्द्र था। वाराणसी तथा गंगा-तट के अन्य प्रदेशों में अनेक प्रकार के तापस नाना नाम रूप धारण करके विचित्र क्रियाओं में रत रहते थे। नानाविध वेष धारण करने और विचित्र-विचित्र प्रकार की क्रियायें करने का उनका उद्देश्य जनता को अपनी ओर आकर्षित करना और अपने आपको महान तपस्वी सिद्ध करके जनता में प्रतिष्ठा प्राप्त करना था। उन तापसों की इन क्रियाओं में विवेक और धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं था। होत्तिय तापस अग्निहोत्र करते थे। कोत्तिय भूमि पर सोते थे। पोत्तिय वस्त्र पहनते थे। जण्णई यज्ञ करते थे। थाल अपना सब सामान साथ लेकर चलते थे। हुंबाट्ठ कुण्डिका लेकर चलते थे। दन्तुक्खलिय दांत से पीस कर कच्चा अन्न खाते थे। मियलुद्धय जीव हत्या करते थे। इसी प्रकार अंबुवासी बिलवासी, जलवासी, रक्खमूला, सेवालभक्खी आदि न जाने कितने प्रकार के तापस इस क्षेत्र में सक्रिय थे। इन सबका बडा रोचक और विस्तृत वर्णन श्वेताम्बर आगम ग्रन्थ 'उववाई सूत्र' में मिलता है।

वह तक्षक के हाथों मारा गया। इसका प्रतिशोध परीक्षित के पुत्र जनमेजय ने बड़ी क्रूरतापूर्वक लिया। उसने नाग जाति का विध्वंस करना आरम्भ कर दिया। नाग जाति के बड़े-बड़े केन्द्र नष्ट हो गये, बड़े-बड़े वीर मारे गये। अन्त में जनमेजय की शर्तों पर दोनों पक्षों में समझौता हुआ। किन्तु जनमेजय की मृत्यु के पश्चात् नाग जाति एक बार पुनः प्रबल हो उठी और उसने अनेक सत्ता केन्द्र बना लिये। इससे यह तो सिद्ध होता है कि नाग मनुष्य थे, सर्प नहीं, जैसा कि हिन्दू पुराणों में वर्णन किया गया है। किन्तु इस प्रकार के उल्लेख हमें कहीं नहीं मिलते कि वीर नागों की पूजा भी की जाती थी।

वस्तुतः नाग-पूजा का प्रचलन भगवान पार्श्वनाथ के काल से प्रारम्भ हुआ है। यहाँ दो बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। एक तो यह कि पार्श्वनाथ से पूर्व नाग-पूजा प्रचलित थी, इस प्रकार के उल्लेख किसी पुराण ग्रन्थ में नहीं मिलते। दूसरी बात जो ध्यान देने की है वह यह है कि पार्श्वनाथ के जीवन-काल में काशी में नाग-पूजा का अत्यधिक प्रचलन था। यदि हम पार्श्वनाथ के जीवन पर गहराई से विचार करें तो हमें इसका उत्तर सहज ही मिल जाता है। पार्श्वनाथ काशी के ही राजकुमार थे। उनके प्रति जनता के मन में अपार प्रेम और श्रद्धा थी। जनता उन्हें अपना आराध्य मानती थी। उनकी रक्षा धरणेन्द्र ने नाग का रूप धारण करके की थी, भोली जनता ऐसा समझती थी। इसलिये कृतज्ञता प्रगट करने के लिये जनता उस नाग की पूजा करने लगी। काशी में नाग-पूजा के प्रचलन का यही रहस्य था। वहीं से प्रारम्भ होकर नाग-पूजा देश के अन्य भागों में फैल गई। नाग-पूजा जनता की अत्यधिक श्रद्धा का परिणाम थी। सर्व साधारण की श्रद्धा के आंखें नहीं होतीं। तब न केवल स्वतन्त्र नाग-पूजा ही चल पड़ी, वरन् पार्श्वनाथ की मूर्तियों के साथ भी नागेन्द्र जुड़ गया। इसका कारण धरणेन्द्र द्वारा पार्श्वनाथ की रक्षा करने की घटना की स्मृति को सुरक्षित रखना था। यहाँ तक तो कुछ समझ में आने लायक बात मानी भी जासकती है किन्तु पार्श्वनाथ के साथ नाम-साम्य के कारण सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों पर भी सर्प-फण लगाये जाने लगे। जबकि सुपार्श्वनाथ का लांछन स्वस्तिक माना गया है। इसी प्रकार पार्श्वनाथ के समान धरणेन्द्र और पद्मावती की असंख्य मूर्तियाँ बनने लगीं। इसे पार्श्वनाथ के प्रति जनता की अतिशय श्रद्धा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

काशी में यक्ष-पूजा का बहुत प्रचलन था, इसका कारण पार्श्वनाथ के प्रति जनता के असीम प्रेम के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। धरणेन्द्र और पद्मावती पार्श्वनाथ के यक्ष-यक्षिणी माने गये है। वे पार्श्वनाथ के अनन्य सेवक माने जाते हैं। एक ओर तो जनता ने उनके नाग रूप की पूजा प्रारम्भ की, दूसरी ओर उनके यक्ष की पूजा की जाने लगी। काशी में उस समय प्रचलित नाग-पूजा और यक्ष-पूजा का यही रहस्य है और वह पार्श्वनाथ की जीवन घटना के साथ ऐसा सम्बन्धित है कि उन्हें उससे पृथक करके देखना सम्भव नहीं है।

काशी ऋषभदेव भगवान के काल से ही एक प्रसिद्ध जनपद रहा है। वहाँ अनेक सांस्कृतिक, पौराणिक और ऐतिहासिक घटनायें हुई हैं। कर्मयुग के प्रारम्भ में काशी नरेश अकंपन की पुत्री सुलोचना के स्वयंवर के कारण स्वयंवर प्रथा का जन्म हुआ और इस प्रकार काशी ने कन्याओं को अपना मनोभिलषित वर चुनने की स्वतन्त्रता प्रदान करके नारी-स्वतन्त्रता के नये आयाम प्रस्तुत किये। भारत में स्वयंवर प्रथा का प्रारम्भ इसी घटना से हुआ है और वह सुदीर्घ काल तक भारत में प्रचलित रही। इतिहास में संभवतः संयोगिता-स्वयम्वर के पश्चात् यह प्रथा समाप्त हो गई। कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ – विशेषतः मुस्लिम शासकों के अनाचार और बलात्कार रहे। किन्तु एक लम्बे समय तक यह प्रथा भारत में लोकप्रिय रही।

नौवें चक्रवर्ती पद्म ने काशी को सम्पूर्ण भारत की राजधानी बनाकर इसे राजनैतिक महत्त्व प्रदान किया।

जैन धर्म के प्रभावक आचार्य समन्तभद्र को यहाँ कड़ी साम्प्रदायिक परीक्षा में से गुजरना पड़ा था। उनके समक्ष धर्मान्ध नरेश शिवकोटि ने दो विकल्प रक्खे-धर्म-परिवर्तन अथवा मृत्यु। आचार्य के सिर पर नंगी तलवारें तनी हुई थीं। किन्तु उनके समक्ष प्रश्न मृत्यु का नहीं; आत्मश्रद्धा का था। अपने जीवन से भी अधिक उन्हें प्रिय थे वे सिद्धान्त और वह धर्म, जिसके प्रति वे सर्वान्तःकरण से समर्पित थे। उनके मन में भय की तनिक सी भी रेखा नहीं थी। उनका हृदय तो उन मोहान्ध व्यक्तियों के प्रति अपार करुणा से भरा हुआ था, जिन्हें सत्य और असत्य के बीच

भेद करने की तनिक भी बुद्धि नहीं थी और जो केवल अपने साम्प्रदायिक आग्रह को ही सत्य का निर्णायक मान बैठे थे। आचार्य उनके कल्याण की कामना मन में संजोये अपने आराध्य प्रभु के स्तवन में निरत हो गये। एक योगी की उपासना सर्वसाधारण से सर्वथा भिन्न रहती है। उसकी इच्छा-शक्ति के समक्ष निर्जीव पाषाण भी द्रवित हो जाते हैं। महायोगी समन्तभद्र जब चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की स्तुति कर रहे थे, उनकी इच्छा-शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। उनके मानस नेत्रों के आगे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र विराजमान थे। उनकी रोम-रोम में चन्द्रप्रभ भगवान एकाकार होगये। उनकी महान इच्छा-शक्ति के आगे शिवलिंग के पाषाण का हृदय फूट गया और उसके अन्तर से चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रस्फुटित हुई, मानो शिवलिंग के अन्तर में चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र की भक्ति समा नहीं पाई और उसने जिनेन्द्रप्रभु को अपने शीर्ष पर विराजमान करके अपनी प्रभु-भक्ति को एक आकार प्रदान किया। जब पाषाण का कठोर हृदय प्रभावित होसकता है तो क्या मानवों के हृदय अप्रभावित रह सकते थे। राजा और प्रजा सभी चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र और उनके अनन्य उपासक योगी समन्तभद्र के चरणों में नत होगये और सबने उनसे सत्य की दीक्षा ली। सम्पूर्ण राजा-प्रजा ने एक साथ धर्म-दीक्षा ली हो, ऐसी घटनायें विरल ही हैं। यह उन विरल घटनाओं में प्रमुख घटना है और आज भी इस घटना की स्मृति को फटे महादेव अपने भीतर संजोये हुए हैं, जिनका नाम कुछ समय पूर्व तक समन्तभद्रेश्वर था।

इसी नगर में सुपार्श्वनाथ तीर्थंकर का जन्म हुआ था और यहीं पार्श्वनाथ तीर्थंकर ने जन्म लिया था। पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित होकर उनके माता-पिता ने भी दीक्षा ले ली।

इस प्रकार यहाँ न जाने कितनी महत्त्वपूर्ण घटनायें घटित हुई।

काशी एक समृद्ध नगर था। वह व्यापारिक केन्द्र भी था। जल और स्थल दोनों मार्गों द्वारा भारत के प्रसिद्ध नगरों के साथ काशी जनपद का सम्बन्ध था। काशी से राजगृह, श्रावस्ती, तक्षशिला, वेरजा, और मथुरा तक स्थल मार्ग था। काशी से ताम्रलिप्ति होकर पूर्वी समुद्र के लिये जल मार्ग था। इसीलिये प्राचीन भारत की समृद्ध नगरियों में काशी की गणना की जाती थी।

है कि सम्मेद शिखर पर सौधर्मेन्द्र ने बीस तीर्थंकरों की प्रतिमायें स्थापित कीं। वे प्रतिमायें अद्भुत थीं। उनका प्रभा मण्डल प्रतिमाओं के आकार का था। श्रद्धालु भव्य जन ही इन प्रतिमाओं के दर्शन कर सकते थे। जिनके हृदय में श्रद्धा नहीं होती थी, वे इस प्रभा-पुंज को देख नहीं पाते थे।

अनुश्रुति यह भी है कि महाराज श्रेणिक विम्बसार ने सम्मेद शिखर पर बीस मन्दिर बनवाये थे। इसके पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी में महाराज मानसिंह के मंत्री तथा प्रसिद्ध व्यापारी गोधा गोत्रीय रूपचन्द्र खण्डेलवाल के पुत्र नानू ने बीस तीर्थंकरों के मन्दिर बनवाये। नानू के बनवाये हुए वे ही मन्दिर या टोंकें अब तक वहाँ विद्यमान हैं। मंत्रीवर्य नानू ने इन मन्दिरों (टोंकों) में चरण विराजमान किये थे।

सम्मेद शिखर जाने के लिये दिल्ली या कलकत्ता की ओर से आने वाले यात्रियों के लिये पारसनाथ स्टेशन पर उतरना सुविधाजनक रहता है। गिरीडीह भी उतर सकते हैं। ईसरी में तेरहपंथी और बीसपंथी धर्मशालायें बनी हुई हैं। यहाँ चार दिगम्बर जैन मन्दिर हैं। यहाँ से मधुवन १४ मील है। क्षेत्र की बस और टैक्सियाँ चलती हैं। मधुवन में दिगम्बर जैन तेरहपंथी कोठी और बीसपंथी कोठी की विशाल धर्मशालायें, मन्दिर बने हुए हैं। ये कोठियाँ सम्मेद शिखर की तलहटी में हैं।

सम्मेद शिखर की यात्रा के लिये दो मार्ग हैं-नीमियाघाट होकर अथवा मधुवन होकर। नीमियाघाट पर्वत के दक्षिण की ओर है। इधर से यात्रा करने पर सबसे पहले पार्श्वनाथ टोंक पड़ती है। किन्तु मधुवन की ओर से यात्रा करना ही सुविधाजनक है। कुल यात्रा १८ मील की पड़ती है जिसमें ६ मील चढ़ाई, ६ मील टोंकों की वन्दना और ६ मील उतराई। यात्रा के लिये रात्रि में प्रायः दो बजे उठकर शौच, स्नानादि से निवृत्त होकर तीन बजे चल देते हैं। साथ में लाठी और लालटैन लेने से सुविधा रहती है। असमर्थ स्त्री-पुरुष डोली लेते हैं तथा बच्चों के लिये भील ले लेते हैं।

मधुवन में डोली वाले, भील, लाठी, लालटेन आदि मिल जाते हैं। शौच आदि से यहीं निवृत्त हो लेना चाहिये। यदि मार्ग में बाधा हो तो मधुवन से २॥ मील चलकर गन्धर्व नाला पड़ता है, यहाँ निवृत्त हो लेना चाहिये। इसके पश्चात् मल, मूत्रादि पर्वत पर जाकर नहीं करना चाहिये। इसका कारण पर्वत की पवित्रता है। गन्धर्व नाले से कुछ आगे चलने पर दो रास्ते मिलते हैं। एक रास्ता सीतानाले की ओर जाता है और दूसरा पार्श्वनाथ टोंक को। बाई ओर के रास्ते पर जाना चाहिये। आगे सीतानाला मिलता है। यहाँ अपनी सामग्री धोलेनी चाहिये एवं अभिषेक के लिये जल ले लेना चाहिये। यहाँ से आगे एक मील तक पक्की सीढ़ियाँ बनी हुई हैं।

पहाड़ पर ऊपर चढ़ने पर सर्वप्रथम गौतम स्वामी की टोंक मिलती है। यहाँ यात्रियों के विश्राम के लिये एक कमरा भी बना हुआ है। टोंक से बांये हाथ की ओर मुड़कर पूर्व दिशा की १५ टोंकों की वन्दना करनी चाहिये। भगवान अभिनन्दननाथ की टोंक से उतर कर जल मन्दिर में जाते हैं। यहाँ एक विशाल जिन मन्दिर बना हुआ है। उसके चारों ओर जल भरा हुआ है। यहाँ से गौतम स्वामी की टोंक पर पहुँचते हैं, जहाँ से यात्रा प्रारम्भ की थी। इस स्थान से चारों ओर को रास्ता जाता है। पहला जल मन्दिर को, दूसरा मधुवन को, तीसरा कुन्थुनाथ टोंक को और चौथा पार्श्वनाथ टोंक को। अतः यहाँ से पश्चिम दिशा की ओर जाकर शेष नौ टोंकों की वन्दना करनी चाहिये। पर्वत पर श्वेताम्बर समाज ने ऋषभानन, चन्द्रानन आदि टोंकें और चरण नवीन बना दिये हैं। अन्तिम टोंक पार्श्वनाथ भगवान की है। यह टोंक सबसे ऊँची है और मन्दिर के समान है। यहाँ बैठकर पूजन करनी चाहिये। यहाँ खड़े होकर देखें तो चारों ओर का प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनोरम प्रतीत होता है। मन में प्रफुल्लता भर जाती है। यात्री यहाँ आकर अपनी सारी थकावट भूल जाता है। यहाँ से वापिस मधुवन को लौट जाते हैं। कुछ यात्री पर्वत की तीन, सात या इससे भी अधिक वन्दना करते हैं।

सप्तविंशतितम अध्याय

भगवान महावीर

पूर्व भव—भगवान महावीर तीर्थंकर थे किन्तु तीर्थंकर पद तक पहुँचने के लिए जन्म-जन्मान्तरों में साधना को न जाने कितनी ऊबड़ खाबड़ घाटियों में से गुजरना पड़ा। इन घाटियो में कहीं वे गिरे, कहीं सम्हल कर आगे बढ़े। जब एक बार वे अपने पैर जमाकर ठोस भूमि में सावधानी के साथ खड़े हुए और आगे बढ़ना प्रारम्भ किया तो वे साधना की उच्च से उच्चतर भूमिका पर चढ़ते गये और अन्त में एक दिन अपना लक्ष्य प्राप्त करना उन्होंने सुनिश्चित कर लिया। यह लक्ष्य द्विमुखी था—एक मुख था जगत का कल्याण करना और दूसरा मुख था आत्म-कल्याण करना। फिर एक दिन महावीर तीर्थंकर के रूप में उनका जन्म हुआ। उनकी उस नानाविध रूप रंग वाली जन्म-परम्परा को जानना अत्यन्त रुचिकर होगा क्योंकि उसके जाने बिना एक तीर्थंकर की पूर्व साधना अनजानी रह जायगी और यह भी अनजाना रह जायगा कि तीर्थंकर जैसे महानतम पद की प्राप्ति के लिए कितनी उच्च स्तरीय नैतिक भूमिका और अनवरत आध्यात्मिक प्रयास की आवश्यकता पड़ती है।

भीलों का सरदार हूँ। शिकार और हत्या छोड़ दूंगा तो सरदार कैसे रहूँगा।' मुनिराज उसकी चिन्ता के अन्तस् को समझ गये। वे कहने लगे—'भव्य! दूसरों को मारने की अपेक्षा अपनी इच्छाओं को मारना कहीं कठिन है। दूसरों को जीतना आसान है लेकिन खुद को जीतना कठिन है। तू सरदार है अभी सिर्फ भीलों का। अगर तू अपने आपको, अपनी इच्छाओं को जीतले तो तू लोक का सरदार बन जायेगा, तू एक दिन लोकपूज्य बन जायेगा। तू मेरे वचनों पर विश्वास कर। हिंसा और मांसभक्षण करना छोड़ दे। तेरा हित होगा।' पुरूरवा और कालिका दोनों ने वन देवता के वचनों पर विश्वास किया और उनके उपदेश को स्वीकार करके शिकार करना और मांस खाना छोड़ दिया। वे अहिंसाव्रती बन गये। अब वन्य पशु पक्षी उससे भवभीत नहीं होते थे, वे निर्भय होकर उसके निकट आ जाते थे। भीलराज के हृदय पर इस परिवर्तन का गहरा प्रभाव पड़ा। वह अधिक निष्ठा से अपनी प्रतिज्ञा का पालन करने लगा। उसके जीवन का दृष्टिकोण ही बदल गया। आयु पूर्ण होने पर वह प्रथम स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ। भील के जीवन में उस जीव ने महान् लक्ष्य के लिये अपनी साधना का प्रारम्भ एक साधारण व्रत से किया था। इसे इस रूप में कहना उचित होगा कि महान प्रासाद के लिये नींव में एक पाषाण रक्खा। कई जन्मों के ऐसे पाषाणों पर ही तो एक दिन वह महा प्रासाद खड़ा हो सका।

वह देव सामान्य देवों से भिन्न था, उसका आचरण भिन्न था, उसकी रुचि और प्रवृत्ति भिन्न थी। उसके मानस में वन देवता द्वारा पूर्व जन्म में डाले हुए संस्कार बद्धमूल होकर बढ़ रहे थे। विषय भोग उसे प्रिय न थे, प्रिय था धर्माचरण।

अपनी आयु पूर्ण होने पर वह प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के चक्रवर्ती पुत्र भरत की रानी अनन्तमती के गर्भ से मरीचि नामक पुत्र हुआ। जब ऋषभदेव ने संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर मुनि-दीक्षा ली तो उनकी देखादेखी और गुरुभक्ति से प्रेरित होकर ४००० राजाओं ने भी मुनिवेष धारण कर लिया। उनमें मरीचि भी था। उसने भगवान ऋषभदेव की जीवन-चर्या को देखकर तपश्चरण करना प्रारम्भ कर दिया। किन्तु जिसकी जड़ नहीं, वह पेड़ कैसे बनेगा। वह तपश्चरण का भार अधिक समय तक नहीं सम्हाल सका; सर्दी-गर्मी का कष्ट भी सहन नहीं कर सका। वह मार्ग से च्युत हो गया और भटक कर उसने स्वतन्त्र मत का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। अपनी तपस्या के बल पर वह ब्रह्म स्वर्ग में देव बना। वह वहाँ भोगों में लीन रहने लगा।

देव की आयु पूर्ण होने पर वह अयोध्या में वेदपाठी कपिल की स्त्री काली से जटिल नामक पुत्र हुआ। इस जन्म में भी उसने सत्य धर्म के विरुद्ध प्रचार किया। आत्मा को जाने बिना सन्यासी बनकर भी कोई लाभ नहीं। उसने तपस्या भी की किन्तु उसे आत्मिक लाभ कुछ नहीं मिल सका। इतना लाभ अवश्य मिला कि यह मरकर सौधर्म स्वर्ग में देव बना। वह आयु पूर्ण होने पर स्थूणागार नगर में भरद्वाज ब्राह्मण को पुष्पदत्ता स्त्री से पुष्पपुत्र नामक पुत्र हुआ। यहाँ भी उसने सन्यासी बन कर उसी प्रकृति तत्व का उपदेश दिया। आत्म तत्त्व वह स्वयं नहीं समझता था, फिर वह आत्म तत्व का उपदेश क्या करता। वहाँ आयु पूर्ण होने पर अपनी मन्द कषाय के कारण पुनः सौधर्म स्वर्ग में देव हुआ। इसके पश्चात् वह सूतिका गाँव में अग्निभूत ब्राह्मण और उसकी स्त्री गौतमी का अग्निसह पुत्र हुआ। वहाँ से वह स्वर्ग में देव बना। वहाँ से आकर मन्दिर नामक गाँव में गौतम ब्राह्मण और कौशिकी से अग्निमित्र नामक पुत्र हुआ। यहाँ भी वह परिव्राजक बना। वहाँ से मरकर वह माहेन्द्र स्वर्ग में देव बना। वहाँ से च्युत होकर वह मन्दिर नगर में शालंकायन ब्राह्मण की मन्दिरा स्त्री से भरद्वाज पुत्र हुआ। यहाँ वह त्रिदण्डी बन गया। इस जन्म के पश्चात् माहेन्द्र स्वर्ग में देव बना। इसके पश्चात् वह अनेक योनियों में भ्रमण करता रहा। फिर एक बार वह राजगृह नगर में वेदज्ञ शाण्डिल्य ब्राह्मण की पारशरी स्त्री से स्थावर नामक पुत्र हुआ। वह परि-व्राजक बना और मरकर माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ।

वहाँ से च्युत होकर वह राजगृह नगर में विश्वभूति नरेश की जैनी नामक स्त्री से विश्वनन्दी नामक पुत्र हुआ। राजा विश्वभूति के छोटे भाई का नाम विशाखभूति था, लक्ष्मणा उसकी स्त्री थी। उनके पुत्र का नाम विशाखनन्द था। वह मूर्ख था। एक दिन विश्वभूति अपने महल की छत पर बैठा हुआ शरद की शोभा निहार रहा था। उसने देखा कि आकाश में मेघ का एक टुकड़ा आया। थोड़ी देर में बादल अदृश्य हो गया। इससे राजा को लगा

—संसार के सभी पदार्थ इसी प्रकार क्षणभंगुर हैं, किन्तु केवल एक ही वस्तु स्थायी है और वह है आत्म तत्त्व। उसी आत्म तत्त्व की प्राप्ति का मैं यत्न करूँगा। वह विरक्त होगया। उसने राज्य-भार अपने भाई को दे दिया और युवराज पद अपने पुत्र को दे दिया। राज्य की व्यवस्था करके उसने मुनि-दीक्षा ले ली और अपने गुरु श्रीधर के सान्निध्य में अन्तर्बाह्य तप करना प्रारम्भ कर दिया।

एक दिन कुमार विश्वनन्दी अपने मनोहर उद्यान में अपनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहा था। विशाखनन्द उस उद्यान को देखकर उस पर मोहित होगया। वह सोचने लगा कि किस प्रकार यह उद्यान मेरा हो। वह अपने पिता के पास गया और उसने अपनी इच्छा प्रगट की कि वह उद्यान मुझे दे दीजिये अन्यथा मैं धर-बार छोड़कर चल दूँगा। पिता ने उसे आश्वासन दिया—तुम चिन्ता न करो, तुम्हें वह उद्यान मिल जायगा। वह विश्वनन्दी को बुलाकर कहा—पुत्र! मैं विरोधी राजाओं का दमन करने जा रहा हूँ। तुम तब तक इस राज्य का भार ग्रहण करो। पितृव्य के वचन सुनकर सुयोग्य पुत्र (भतीजे) विश्वनन्दी ने कहा—पूज्य! आप यहाँ निश्चिन्त रहिये। मेरे रहते आपको कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। मैं विरुद्ध राजाओं का मान मर्दन करके शीघ्र लौटूँगा। मुझे आपका आशीर्वाद चाहिये।'

सरल विश्वनन्दी नहीं समझ सका कि उसे स्नेह के आवरण में किस प्रकार ठगा जा रहा है। वह सेना लेकर दिग्विजय के लिए चल दिया। उसके जाते ही विशाखभूति ने अपने पुत्र विशाखनन्द को विश्वनन्दी का उद्यान दे दिया। विश्वनन्दी को मार्ग में ही इस घटना का पता चल गया। उसे बड़ा क्षोभ हुआ और वह मार्ग से ही लौट आया और अन्यायपूर्ण ढंग से उसके उद्यान पर अधिकार करने वाले विशाखनन्द को मारने को उद्यत हो गया। विशाखनन्द कैथ के एक पेड़ पर चढ़ गया। विश्वनन्दी ने क्रोध में भरकर उस वृक्ष को जड़ से उखाड़ लिया और उसी वृक्ष को लेकर विशाखनन्द को मारने दौड़ा। विशाखनन्द अत्यन्त भयभीत होकर वहाँ से भागा और एक पाषाण स्तम्भ के पीछे छिप गया। किन्तु विश्वनन्दी ने मुक्कों के प्रहार से उस स्तम्भ को तोड़ दिया। विशाखनन्द अपने प्राण लेकर वहाँ से फिर भागा। विश्वनन्दी को उसकी करुण दशा पर दया आई और उसने अभय दान देते हुए कहा— डरो मत। विशाखनन्द निर्भय होकर उसके पास लौटा। विश्वनन्दी ने स्नेह प्रदर्शित करते हुए अपना उद्यान भाई को दे दिया। संसार के विचित्र स्वभाव को देखकर उसे संसार से ही विराग हो गया और सम्भूत नामक मुनिराज के समीप मुनि-दीक्षा ले ली। अपने अन्याय के परिणामस्वरूप अपने प्रिय भतीजे द्वारा राज-पाट का त्याग कर मुनि-दीक्षा लेने से विशाखभूति को हार्दिक पश्चाताप हुआ और उसने भी राज्य का परित्याग करके संयम धारण कर लिया।

विश्वनन्दी आत्म-शोधन के लिये घोर तप करने लगा। तप के कारण उसका शरीर अत्यन्त कृश हो गया। एक बार मुनि विश्वनन्दी विहार करते हुए मथुरा पधारे। वे आहार के लिये प्रतिग्रह करने पर एक श्रावक के घर प्रविष्ट हुए। निर्बलता के कारण उनके पैर काँप रहे थे। उधर विशाखनन्द राज्य पाकर दुर्व्यसनों में आकण्ठ निमग्न हो गया। परिणाम यह हुआ कि उसे राज्यच्युत होना पड़ा। वह राजदूत बन कर मथुरा पहुँचा। वह एक वेश्या की छत पर बैठा हुआ था। तभी एक सद्यःप्रसूता गाय के धक्के से मुनि विश्वनन्दी गिर गये। विशाखनन्द यह दृश्य देखकर अट्टहास करता हुआ मुनि का उपहास करने लगा—'पाषाण के स्तम्भ को अपने मुष्टिका प्रहार से चूर करने वाले तुम्हारा वह बल कहाँ गया?' उसके ये वचन सुनकर और उपहास से कुपित होकर मुनि ने मन में दुःसंकल्प किया—तूने मेरा उपहास उड़ाया है। मैं इस अपमान का बदला अवश्य लूंगा। वे यह निदान करके समाधिपूर्वक मरण को प्राप्त हुए और वे महाशुक्र स्वर्ग में देव हुए। विशाखभूति मुनि भी संन्यास मरण करके उसी स्वर्ग में देव हुए। दोनों देवों में परस्पर बड़ा प्रेम था। अपनी आयु पूर्ण करके विशाखभूति का जीव सुरम्यदेश के पोदनपुर नगर में प्रजापति नरेश की जयावती रानी से विजय नामक पुत्र हुआ और विश्वनन्दी का जीव उन्हीं नरेश की दूसरी रानी मृगावती से त्रिपृष्ठ नामक पुत्र हुआ। ये दोनों ही भावी बलभद्र और नारायण थे।

विजयार्ध-पर्वत की उत्तर श्रेणी में अलकापुर का नरेश मयूरग्रीव विद्याधरों का अधिपति था। उसकी रानी का नाम नीलांजना था। दुराचारी विशाखनन्द का जीव अनेक योनियों में जन्म-मरण करता हुआ किसी प्रबल पुण्य-योग से उन दोनों के अश्वग्रीव नामक पुत्र हुआ।

उसी विजयार्ध पर्वत की दक्षिण श्रेणी में रथनूपुर चक्रवाल नामक नगर था। उस नगर का अधिपति ज्वलनजटी नामक विद्याधर नरेश था जो अत्यन्त प्रतापी और शूरवीर था। उसने दक्षिण श्रेणी के समस्त विद्याधर राजाओं को अपना वशवर्ती बना लिया था। उसकी रानी का नाम वायुवेगा था। उनके अर्ककीर्ति नामक पुत्र और स्वयंप्रभा नामक पुत्री थी। स्वयंप्रभा के शरीर में स्त्रियोचित समस्त शुभ लक्षण थे। जब वह विवाह योग्य हो गई तो पिता को उसके विवाह की चिन्ता हुई। उसने निमित्त शास्त्र में निष्णात अपने सम्भिन्न श्रोता नामक पुरोहित से इस सम्बन्ध में परामर्श किया। पुरोहित कन्या के ग्रहों और लक्षणों पर विचार करके बोला—सुलक्षणा कन्या प्रथम नारायण की पट्टमहिषी बनेगी और इसके पुण्य प्रताप से आप समस्त विद्याधरों के एकछत्र सम्राट बनेंगे।

इधर विजय और त्रिपृष्ठ दोनों भाइयों का प्रभाव दिनों-दिन विस्तृत हो रहा था। अनेक राजा उनके प्रभाव के कारण और अनेक राजा उनके बल-विक्रम के कारण उनके आधीन होते जा रहे थे। लोगों पर यह प्रगट हो गया कि ये दोनों भाई ही इस युग के प्रथम बलभद्र और नारायण हैं। यह समाचार ज्वलनजटी के कान में भी पहुँचा। उसने इन्द्र नामक मंत्री को प्रजापति नरेश के पास अपनी पुत्री स्वयंप्रभा का सम्बन्ध स्वीकार करने के लिये भेजा। पोदनपुर नरेश उस समय पुष्पकरण्डक नामक वन में विहार करने के लिये गये हुए थे। मंत्री वन में उसके पास पहुँचा। उसने लाये हुए उपायन भेंट किये, अपने स्वामी का पत्र दिया तथा अपने उचित स्थान पर बैठ गया। पोदनपुर नरेश ने पत्र खोल कर पढ़ा, जिसमें बड़े विनय के साथ उन्हें स्मरण दिलाया कि मैं विद्याधर नरेश नमि के वंश में तथा आप भगवान ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली के वंश में उत्पन्न हुए हैं। इन दोनों वंशों का वैवाहिक सम्बन्ध अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। मेरी पुत्री स्वयंप्रभा रमणियों में रत्न के समान है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि मेरी पुत्री का मंगल विवाह कुमार त्रिपृष्ठ के साथ हो। आशा है, आप मेरी इच्छा से सहमत होंगे।

महाराज प्रजापति पत्र पढ़ कर अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति देते हुए कहा—जो मेरे बन्धु को इष्ट है, वह मुझे भी इष्ट है। महाराज ने मंत्री का बड़ा सम्मान करके उसे विदा किया। उसने जाकर अपने स्वामी को यह हर्ष समाचार सुनाया। कुछ समय पश्चात् ज्वलनजटी अपने पुत्र अर्ककीर्ति के साथ पोदनपुर आया और उसने अपनी पुत्री स्वयंप्रभा का विवाह कुमार त्रिपृष्ठ के साथ बड़े समारोह के साथ कर दिया तथा कुमार को सिंहवाहिनी और गरुड़वाहिनी नामक दो विद्यायें प्रदान कीं।

जब इस विवाह का समाचार अपने गुप्तचरों द्वारा अश्वग्रीव ने सुना तो वह क्रोध से जलने लगा। उसने अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सैनिकों की एक विशाल सेना लेकर आक्रमण करने के उद्देश्य से कूँच कर दिया। वह रथावर्त नामक पर्वत पर पहुँचा। अश्वग्रीव के आक्रमण की बात सुनकर त्रिपृष्ठकुमार भी चतुरंगिणी सेना लेकर शीघ्र हो वहाँ आ पहुँचा। दोनों सेनायें बिगुल बजते ही परस्पर जूझ गई। अश्वग्रीव और त्रिपृष्ठ में भी भयंकर युद्ध छिड़ गया। अश्वग्रीव तीन खण्ड भूमि की सत्ता का अब तक भोग कर रहा था। अधिकांश नरेश उसके पक्ष में थे, वह स्वयं भी अनेक विद्याओं का स्वामी था। किन्तु त्रिपृष्ठ के सामने उसकी एक न चली। उसने माया युद्ध में भी त्रिपृष्ठ से पराजय प्राप्त की। तब उसने क्रुद्ध होकर त्रिपृष्ठ पर चक्र चला दिया। किन्तु चक्र उसकी प्रदक्षिणा देकर शीघ्र ही उसकी दाहिनी भुजा पर आकर स्थिर हो गया। त्रिपृष्ठ ने उसे क्रोधवश शत्रु पर चला दिया। चक्र प्रबल वेग से अग्नि स्फुलिंग बरसाता हुआ शत्रु की ओर आकाश मार्ग से चला। शत्रु-सेना चक्र को आता देखकर भय से विजड़ित होगई। चक्र ने आते ही अश्वग्रीव का सर धड़ से अलग कर दिया। अश्वग्रीव की भागती हुई सेना को त्रिपृष्ठ ने अभयदान दिया। इसके पश्चात् वह विशाल सेना लेकर दिग्विजय के लिये निकला और जल्दी ही भरत क्षेत्र के तीनों खण्डों को जीत कर वापिस लौटा। सब नरेशों ने त्रिपृष्ठ को नारायण और विजय को बलभद्र स्वीकार किया। त्रिपृष्ठ ने विजयार्ध पर्वत पर जा कर अपने श्वसुर ज्वलनजटी को दोनों श्रेणियों के विद्याधरों का सम्राट घोषित किया तथा स्वयंप्रभा को अपनी पट्टमहिषी के पद पर अभिषिक्त किया।

दोनों भाइयों ने चिरकाल तक राज्य लक्ष्मी का भोग किया। उनमें परस्पर बड़ा प्रेम था। त्रिपृष्ठ बहुत आरम्भ और परिग्रह का धारक होने के कारण मरकर सातवें नरक में नारकी बना।

त्रिपृष्ठ का जीव नरक के भयंकर दुःखों का भोग करता हुआ आयु पूर्ण करके गंगा नदी के तटवर्ती सिंह-

गिरि पर्वत पर सिंह बना। वहां भी वह निरंतर पाप करता हुआ मरकर पुनः प्रथम नरक में गया। वहाँ दुःख भोगता रहा और अन्त में वह आयु पूर्ण करके सिन्धुकूट की पूर्व दिशा में हिमवत् पर्वत के शिखर पर देदीप्यमान अयालों वाला सिंह हुआ। एक दिन वह एक हरिण को मारकर खा रहा था। उसी समय चारण ऋद्धिधारी मुनि अजितंजय अमितगुण मुनि के साथ आकाश मार्ग से विहार कर रहे थे। उन्होंने उस सिंह को देखा। उन्हें तीर्थंकर भगवान के वचनों का स्मरण हो आया। वे दयावश आकाश से उतर कर उस सिंह के निकट पहुँचे। वे शिलातल पर विराजमान होकर गम्भीर स्वर में उसे संबोधित करते हुए बोले—"वनराज ! तू तिर्यञ्च योनि पा कर भी पापों में डूबा हुआ है। क्या तुझे अपने त्रिपृष्ठ जीवन का स्मरण है। तूने नारायण बनकर पाँचों इद्रियों के यथेच्छ भोग भोगे किन्तु तुझे उनसे तृप्ति नहीं हुई। तू धर्म से विमुख रहा, तुझे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हुआ। परिणामस्वरूप तू सप्तम नरक में उत्पन्न हुआ। वहाँ तूने घोर से घोर कष्ट सहे, जलती हुई भयानक अग्नि में, खौलते हुए तेल में डाला गया, तपते हुए लौह स्तम्भों के साथ बांधा गया ; भयंकर यातनायें दी गयीं। किन्तु तेरे करुण आक्रन्दनों, दीनता भरे विलापों और याचना भरे वचनों पर किसी ने ध्यान नहीं दिया, किसी ने तेरी सहायता नहीं की। किसी ने तुझे शरण नहीं दी। आयु पूर्ण कर तू भयंकर सिंह बना। उस जीवन में तूने भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि की यातनायें सहीं, तुझे व्याध के बाणों, प्रतिद्वन्द्वी सिंहों द्वारा किये गए भयंकर प्रहारों से अत्यन्त कष्ट हुआ। किन्तु तुझे वहाँ भी धर्म की सुधि नहीं आई। वहाँ से मर कर पुनः नरक में गया और नरक के घोर कष्ट सहन किए। वहाँ से निकल कर तू पुनः सिंह बना। इस जन्म में भी तू पापों में लिप्त रहा, स्वयं को भूला रहा। अपने अज्ञान और क्रूर परिणामों के कारण तू तत्त्व को नहीं पहचान पाया। तेरे इन क्रूर परिणामों के नीचे तेरी आत्मा की महान विभूति छिप गई है। तू अपनी विभूति को पहचान, एक दिन तू लोकपूज्य बन जाएगा।"

मुनिराज के इन प्रेरक वचनों को सुनकर उस विकराल सिंह को जाति स्मरण ज्ञान हो गया। मुनिराज ने जिन जन्मों का वर्णन किया था, वे उसके समक्ष में स्पष्ट हो गए। इन जन्मों में उठाए हुए भयंकर दुःखों का स्मरण करके वह भय से कांपने लगा, उसकी आंखों से पश्चात्ताप की अश्रुधारा बहने लगी। मुनिराज ने देखा कि अब इसे अपने कृत्यों पर भारी पश्चात्ताप हो रहा है, इसके हृदय पर जमा हुआ पाप अब आंसू बनकर बह रहा है। निश्चय ही अब इसके हृदय में धर्म के बीच अंकुरित होंगे। यह विचार कर दयालु मुनिराज पुनः कहने लगे—"हे भव्य ! पुरूरवा भील के जीवन में तूने अहिंसा व्रत अंगीकार किया था। किन्तु मरीचि के जन्म में तू दिग्भ्रान्त हो गया और अपने पितामह भगवान ऋषभदेव के उपदेशों के विरुद्ध ही विद्रोह कर दिया तथा धर्म से विपरीत उपदेश देने लगा। परिणामस्वरूप तू असंख्यात वर्षों तक विभिन्न योनियों में जन्म-मरण के दुःख उठाता रहा। निमित्त पाकर विश्वनन्दी की पर्याय में तूने संयम भी धारण किया, किन्तु क्रोध पर विजय न पा सका और निदान बन्ध करके तू त्रिपृष्ठ नारायण हुआ। जो गई सो गई, अब तू अपने भविष्य को सुधार। पापों से हृदय से घृणा हो जाय तो तेरा भविष्य समुज्ज्वल बन जाएगा। भव्य ! तेरा भविष्य अवश्य समुज्ज्वल बनेगा, तू दसवें भव में अन्तिम तीर्थंकर बनेगा। मैंने यह बात श्रीधर तीर्थंकर प्रभु से सुनी है। अब तू मिथ्यात्व से विरक्त होकर आत्म-हित की ओर उन्मुख हो जा।

मुनिराज के इन वचनों को सुनकर सिंह ने उन्हें हृदय से स्वीकार किया। उसने भक्तिपूर्वक मुनि युगल की पाद-वन्दना की, उनकी प्रदक्षिणा दी और हृदय से श्रावक के व्रत ग्रहण किए। मुनि-युगल सिंह को आशीर्वाद देकर आकाश-मार्ग से विहार कर गए। अब सिंह का जीवन एकदम बदल गया। उसने हिंसा का सर्वथा त्याग कर दिया। वह दया-मूर्ति बन गया। अब हिरण आदि उससे भयभीत नहीं होते थे।

वह अपने व्रत और शान्त परिणामों के कारण मरकर पहले स्वर्ग में सिंहकेतु नामक महर्द्धिक देव हुआ। वहाँ आयु पूर्ण होने पर वह विदेह क्षेत्र के मंगलावती देश के विजयार्ध पर्वत की उत्तर श्रेणी में कनकप्रभ नगर के अधिपति कनक पुंख और उसकी महारानी कनकमाला का कनकोज्वल नामक पुत्र हुआ। जब वह विवाह योग्य हुआ तो उसका विवाह कनकवती नामक राजकुमारी के साथ कर दिया गया। एक दिन वह अपनी स्त्री के साथ वन-विहार के लिए गया। वहाँ उसे प्रियमित्र नामक अवधिज्ञानी मुनि के दर्शन हुए। उसने मुनिराज की भक्ति पूर्वक वंदना की और उनकी प्रदक्षिणा देकर वह यथास्थान बैठ गया। भव्य जानकर मुनिराज ने उसे धर्म का स्वरूप समझाया।

मुनिराज के उपदेश को सुनकर उसके हृदय में भोगों के प्रति विराग उत्पन्न हो गया। उसने सभी प्रकार के आरम्भ और परिग्रह का त्याग करके तत्काल वहीं संयम धारण कर लिया। सिंह की पर्याय में उसे धर्म की जो रुचि जागृत हुई थी, वह इस जन्म में और भी अधिक बढ़ गयी। वह धर्म-साधना में निरन्तर सावधान रहता था। अन्त में वह संन्यास मरण करके सातवें स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ भी उसकी प्रवृत्ति धर्म की ही ओर रहती थी। वहाँ आयु पूर्ण होने पर साकेत नगर के नरेश वज्रसेन की शीलवती रानी के हरिषेण नामक पुत्र हुआ। अब तो उसकी दृष्टि ही बदल गई थी। अतः वह भोगों में आसक्त नहीं हुआ, अपितु वह अपनी व्रत-साधना को बराबर बढ़ाता रहा। उसे स्वयं ही भोगों से अरुचि हो गई और श्रुतसागर मुनिराज के समीप दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली। व्रतों की निरन्तर शुद्धि बढ़ाते हुए वह आयु के अन्त में महाशुक्र स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ। वहाँ पर तीर्थ बन्दना, तीर्थंकरों का उपदेश श्रवण आदि धार्मिक कृत्यों में ही समय व्यतीत करता था। आयु के अन्त में इसी धर्म-भाव के साथ मरण करके घातकी खण्ड द्वीप के पूर्व विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में राजा सुमित्र और उसकी रानी मनोरमा से प्रियमित्र नामक पुत्र हुआ। जब उसका राज्याभिषेक हो गया, तब कुछ समय पश्चात् उसके शस्त्रागार में चक्ररत्न उत्पन्न हुआ। अपनी विशाल वाहिनी लेकर वह दिग्विजय के लिए निकला। उस चक्ररत्न की सहायता से उसने थोड़े ही समय में समस्त पृथ्वी के राजाओं को जीत लिया और वह सम्पूर्ण पृथ्वी का एकच्छत्र सम्राट् चक्रवर्ती बन गया। चक्रवर्ती पद पर रहकर उसने यथेच्छ भोग भोगे किन्तु उसकी तृप्ति नहीं हो पाई। एक दिन क्षेमंकर भगवान का उपदेश सुनकर इन क्षणभंगुर भोगों से विरक्त हो गया। उसने अपने पुत्र सर्वमित्र का राज्याभिषेक करके एक हजार राजाओं के साथ दीक्षा ले ली। मुनिराज प्रियमित्र ने निष्ठापूर्वक महाव्रतों का पालन किया और कर्म क्षय करने के लिए घोर तप करने लगे। आयु समाप्त होने पर सहस्रार स्वर्ग में सूर्यप्रभ नामक देव हुआ।

वह देव आयु के अन्त में स्वर्ग से च्युत होकर छत्रपुर नरेश नन्दिवर्धन तथा उनकी रानी वीरवती से नन्द नामक पुत्र हुआ। जन्म से ही उसकी रुचि धर्म की ओर थी। वह घर में रहकर भी भोगों के प्रति अनासक्त था। वह गृहस्थ दशा में भी अनासक्त कर्मयोग का साधक था। वह राग में भी विराग की उपासना करता रहता था। एक दिन उसने प्रोष्ठिल नामक निर्ग्रन्थ गुरु का उपदेश सुनकर भोगों का त्याग कर दिया और मुनि-दीक्षा ले ली। उन्होंने अल्प समय में ही ग्यारह अंगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इसके साथ ही उन्होंने दर्शन विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं का निरन्तर चिन्तन करते रहने और उन्हें जीवन का शृंगार बनाने के कारण महापुण्यशाली तीर्थंकर नामक नाम कर्म का बन्ध किया। उनके मन में आत्म कल्याण की भावना के साथ संसार के दुखी प्राणियों को देखकर यह भावना बनी रहती थी कि मैं इन प्राणियों का दुःख किस प्रकार दूर करूँ। उनकी लोक-कल्याण की भावना इस सीमा तक बढ़ गई थी कि वे संसार के सम्पूर्ण प्राणियों में आत्मौपम्य के दर्शन करने लगे। उनकी साधना सर्वसत्त्व समभाव तक बढ़ गई थी। इस साधना को विश्व के समस्त प्राणियों के प्रति मैत्री भाव कहा जा सकता है। इस मैत्री भाव के कारण वे परम ब्रह्म के अनन्य साधक बन गये। इस साधना के साथ वे चारों प्रकार की आराधनाओं के भी आराधक थे। इसी आराधना को लेकर उन्होंने सन्यास मरण किया और वे अच्युत स्वर्ग में देवेन्द्र बने।

वज्जिसंघ का लिच्छवि गणराज्य वैशाली में स्थित था। वह सर्वाधिक शक्तिशाली गणराज्य था। उसके गणप्रमुख महाराज चेटक थे। उनकी बड़ी पुत्री त्रिशला, जिन्हें प्रियकारिणी भी कहा जाता था, वैशाली के उपनगर (अथवा जिला) कुण्डपुर के गणप्रमुख महाराज सिद्धार्थ को व्याही गई थीं। उनके राज-

गर्भ कल्याणक

प्रासाद का नाम नन्द्यावर्त था। वह सात खण्ड का था। जब उपर्युक्त अच्युतेन्द्र की आयु में छह माह शेष रहे, तब लोकोत्तर विभूति तीर्थंकर महावीर के पुण्यप्रभाव से सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने नन्द्यावर्त प्रासाद और कुण्डपुर नगर में रत्न-वर्षा करना प्रारम्भ किया जो महावीर के जन्म पर्यन्त अर्थात् पन्द्रह माह तक निरन्तर होती रही। आषाढ़ शुक्ला षष्ठी को जबकि चन्द्रमा उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में था, महारानी त्रिशला सात खण्ड वाले नन्द्यावर्त प्रासाद में हंस तूलिका आदि से सुशोभित रत्न पर्यङ्क पर सो रही थीं। जब उस रात्रि के रौद्र, राक्षस और गंधर्व नामक तीन प्रहर व्यतीत हो गये और मनोहर नामक चौथे प्रहर का अन्त होने

को आया, तब उन्होंने अर्ध निद्रित दशा में अत्यन्त शुभपरिणामी सोलह स्वप्न देखे। इन सोलह स्वप्नों में उन्होंने (१) श्वेत ऐरावत गज (२) श्वेत वृषभ (३) आकाश की ओर उछलता हुआ स्वर्ण अयालों वाला शुक्ल वर्ण सिंह (४) कमलासना और स्वर्ण कलशों द्वारा गजों द्वारा अभिषिक्त लक्ष्मी (५) दो सुगन्धित पुष्पमालायें (६) तारावलि मण्डित पूर्ण चन्द्र (७) उदित होता हुआ सूर्य (८) कमल पत्रों से आच्छादित दो स्वर्ण कलश (९) पद्मसरोवर में क्रीड़ा करती हुई दो मछलियाँ (१०) पद्मसरोवर (११) लहरों से आन्दोलित समुद्र (१२) स्वर्ण का ऊँचा सिंहासन (१३) स्वर्ग का विमान (१४) पृथ्वी को भेदकर निकलता हुआ नागेन्द्र का भवन (१५) दीप्तिमान रत्न राशि और (१६) जलती हुई धूमरहित अग्नि देखी। और अन्त में एक हाथी को मुख में प्रवेश करते देखा। प्रातः काल बन्दी जनों के मंगल गान को सुनकर महारानी सुख शैया का त्याग कर उठीं और स्नानादि से निवृत्त होकर और मंगल वस्त्राभूपणों से सुसज्जित होकर वे अपने पति सिद्धार्थ महाराज के पास पहुँची। महाराज ने प्रेमपूर्वक उनकी अभ्यर्थना की और उनके संकेतानुसार वे सिंहासन पर पति के वाम पार्श्व में आसीन होकर महाराज को रात्रि में देखे हुए स्वप्न सुनाने लगीं तथा उनसे इन स्वप्नों का फल पूछा। महाराज ने निमित्तज्ञान द्वारा स्वप्नों के सम्बन्ध में विचार किया और बोले—'देवि ! तुम्हारे गर्भ से लोक का कल्याण करने वाले लोकपूज्य तीर्थंकर का जन्म होगा।' उन्होंने विस्तारपूर्वक एक एक स्वप्न का फल बताया। स्वप्न-फल सुनकर महारानी का मन-मयूर आल्हाद से नृत्य कर उठा—मैं लोकपूज्य तीर्थंकर की जननी बनूंगी। तीर्थंकर की जननी बनना स्त्री का सर्वोत्कृष्ट साभाग्य है। त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर के कारण उनकी जननी को जगन्माता कहलाने का गौरव प्राप्त होता है।

महारानी ने जब स्वप्नों के अन्त में विशाल धवल गजराज को मुख में प्रवेश करते हुए देखा, तभी अच्युतेन्द्र अपनी आयु पूर्ण करके गर्भ में अवतरित हुआ। तीर्थंकर भगवान के गर्भावतरण को अपने ज्ञान द्वारा जानकर इन्द्र और देवगण अत्यन्त भक्ति भावना से कुण्डपुर के राजप्रासाद में आये। उन्होंने दिव्य मणिमयाभूषणों, गन्धमाल्य तथा वस्त्रादिक से जननी का पूजन किया, और अभिषेक किया और गर्भ कल्याणक का उत्सव मनाकर अपने-अपने स्थान को चले गये। इन्द्र ने माता की सेवा करने के लिए देवियों को नियुक्त कर दिया।

जन्म कल्याणक—नौ माह पूर्ण होने पर उच्च ग्रहों द्वारा लग्न के दृष्टिगोचर होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी सोमवार को उत्तरा फाल्गुनि नक्षत्र पर चन्द्र की स्थिति होने पर अर्यमा नाम के शुभ योग में निशा के अन्त भाग में महारानी त्रिशला ने तीर्थंकर महावीर को जन्म दिया। इन ग्रह नक्षत्रों के आधार पर ज्योतिर्वेत्ताओं ने तीर्थंकर महावीर की जन्म कुण्डली बनाई है जो इस प्रकार है—

जन्म चैत्र सुदी १३ सोमवार, ई० पू० ५९९
नक्षत्र उत्तरा फाल्गुनि, सिद्धार्थी संवत्सर (५३)

राशि—कन्या

महादशा-बृहस्पति दशा-शनि अन्तर्दशा-बुध
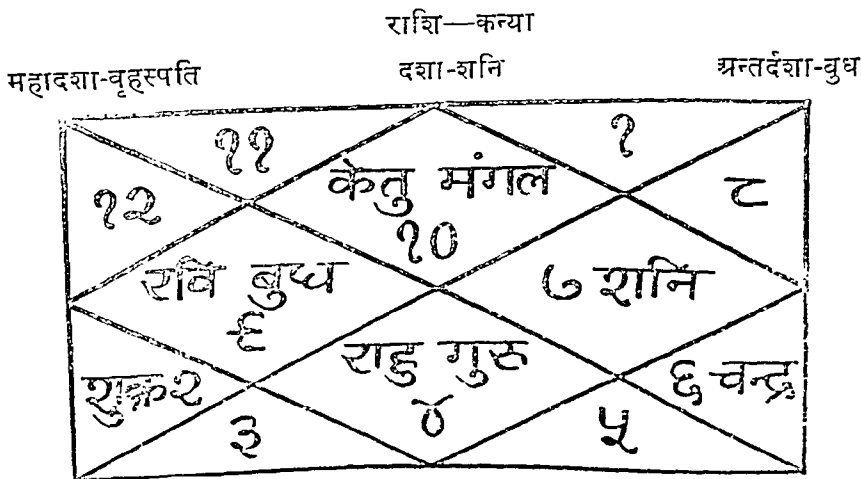
इस जन्म कुण्डली में ग्रह अत्यन्त उच्च दशा में स्थित हैं। इन ग्रहों में उत्पन्न होने वाला बालक निश्चय ही लोकपूज्य महापुरुष होता है। महावीर भी ऐसे महापुरुष थे जिनकी समानता तीर्थंकरों के अतिरिक्त अन्य कोई मानव नहीं कर सकता। उपर्युक्त अच्युतेन्द्र ही आयु पूर्ण होने पर महारानी त्रिशला के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। जिस समय वह महाभाग बालक उत्पन्न हुआ, उस समय समस्त प्रकृति आनन्द में भर उठी। दिशायें निर्मल हो गईं। शीतल मंद सुरभित पवन वहने लगा। आकाश से फुहारें बरसने लगीं। वंदीजन मंगल पाठ कर रहे थे। सौभाग्यवती ललनाएं नृत्य कर रही थीं। वाद्यों की मंगल ध्वनि हो रही थी। मानव समाज हर्षोत्फुल्ल था। तीर्थंकर महावीर जब उत्पन्न हुए थे, उस समय तीनों लोकों के जीवों को शांति का अनुभव हुआ था। आल्हाद के इस अवसर पर देव और इन्द्र ही पीछे क्यों रहते। चारों जाति के देव और उनके इन्द्र तीर्थंकर प्रभु का जन्म हुआ जानकर भगवान के दर्शन करने और उनका जन्म कल्याणक मनाने के लिए कुण्डग्राम में एकत्रित हुए।

सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से शची प्रसूतिगृह में गई। उसने जाकर तीर्थंकर प्रभु और माता को नमस्कार किया। शची भक्तिप्लावित नयनों से कभी तीर्थंकर बालक को देखती, जिसका रूप त्रिभुवनमोहन था और जिसके तेज से सारा नन्द्यावर्त्त प्रासाद आलोकित था। फिर वह तीर्थंकर माता की ओर देखती और मन में सोचती—नारी पर्याय तो इनकी धन्य है, सार्थक है, जिनके गर्भ से त्रिलोकपूज्य बालक ने जन्म लिया है। इससे इनका मातृत्व भी महनीय हो गया है और जो जगन्माता के उच्च पद पर प्रतिष्ठित हो गई हैं। कितनी पुण्याधिकारिणी हैं ये। हे जगन्मातः! तुम्हें लाख बार प्रणाम है, कोटि कोटि प्रणाम है।

तभी शची को भक्ति तरंगित क्षणों में अपने कर्तव्य का स्मरण हो आया—वाहर असंख्य देव देवियाँ प्रतीक्षारत खड़े हैं। उसने माता को माया निद्रा में सुलाकर और उनके वगल में मायामय बालक सुलाकर लोकवन्द्य प्रभु को अपने अंक में ले लिया। प्रभु का अंग स्पर्श होते ही शची का सम्पूर्ण गात रोमांचित हो आया। मन अपूर्व पुलक से भर उठा। प्रभु को पाकर मानो वह अपने को भूल गई। इसी अर्धमूर्च्छित दशा में बाल प्रभु को लाकर सौधर्मेन्द्र को दे दिया। किंतु उसके गात में जो स्पर्शजन्य पुलक भर गई, वह तो जैसे संस्कार वनकर गात में स्थाई वन गई।

इन्द्र ने बाल प्रभु को अंक में लिया तो जैसे उसकी भी वही दशा होगई। वह प्रभु के अनिन्द्यरूप को निर्निमेष निहारता रहा किन्तु तृप्ति नहीं हो पाई। रूप का असीम विस्तार और चक्षुओं की सीमित परिधि! तब उसने हजार नेत्र वनाकर प्रभु की रूप माधुरी का पान करना प्रारम्भ किया। भक्ति की महिमा अचिन्त्य है। फिर इन्द्र भगवान को गोद में लेकर ऐरावत हाथी पर वैठा। ऐशानेन्द्र भगवान के ऊपर छत्र तानकर खड़ा हो गया ओर सानत्कुमार तथा माहेन्द्र स्वर्ग के इन्द्र चमर ढोरने लगे। वे भगवान को लेकर सुमेरु पर्वत पर पहुँचे और वहाँ क्षीरसागर के जल से पूर्ण १००८ कलशों से भगवान का अभिषेक किया। सौधर्मेन्द्र की शची ने भगवान का शृंगार किया और भगवान को लेकर देव समूह पुनः कुण्डग्राम लौटा। वहाँ आकर शची वालक को लेकर प्रसूति गृह में गई और वालक को माता के पास सुला दिया। इन्द्र ने महाराज सिद्धार्थ को देवों द्वारा मनाये गये जन्म महोत्सव के समाचार सुनाये, उनकी पूजा की और आनन्द नाटक किया। इस प्रकार जन्म कल्याणक महोत्सव मनाकर देवगण अपने-अपने स्थानों को वापिस चले गये।

पुत्र जन्म की खुशी में महाराज सिद्धार्थ ने राज्य के कारागार से वन्दियों को मुक्त कर दिया। उन्होंने याचकों और सेवकों को मुक्तहस्त दान दिया। राज्य भर में दस दिन तक नागरिकों ने पुत्र-जन्मोत्सव वड़े उल्लास और समारोह के साथ मनाया।

भगवान महावीर कुण्डपुर में उत्पन्न हुए थे। जैन वाङ्मय में कुण्डपुर की स्थिति स्पष्ट करने के लिए 'विदेह कुण्डपुर' अथवा 'विदेह जनपद स्थित कुण्डपुर' नाम दिये गये हैं। संभवतः इसका कारण यह रहा कि उस समय कुण्डपुर नाम के कई नगर थे। यह कुण्डपुर विदेह देश में स्थित था। यह विदेह देश गण्डकी

जन्म नगरी वैशाली

नदी से लेकर चम्पारण्य तक का प्रदेश था। इसे तीरभुक्त भी कहा जाता था। यह देश गंगा और हिमालय के मध्य में था। इसकी सीमायें इस प्रकार थीं—पूर्व में कौशिकी (कोसी), पश्चिम

विरोध के लिये। जब सब सदस्यों को शलाकायें मिल जातीं तो बाकी बची हुई शलाकाओं की गणना गणपति करते थे और छन्द-निर्णय घोषित कर देते थे। इस निर्णय को सभी स्वीकार करते थे। गण परिषद के राजभवन का नाम सथागार था जहाँ परिषद की बैठकें होती थीं।

वज्जी-संघ के निकट ही मल्ल गणसंघ और काशी कोल गणसंघ थे। इन संघों में से किसी संघ के ऊपर आपत्ति आने पर सन्धि के अनुसार तीनों संघों की युद्ध उद्वाहिका की सन्निपात भेरी की विशेष बैठक होती थी। इसमें महासेनापति का निर्वाचन किया जाता था। वह फिर अपनी युद्धउद्वाहिका का संगठन करता था।

वैशाली का वैभव अपार था। उसमें ७७७७ प्रासाद, ७७७७ कूटागार, ७७७७ आराम और ७७७७ पुष्करिणियाँ थीं। उसमें ७००० सोने के कलश वाले महल, १४००० चांदी के कलश वाले महल तथा २१००० तांबे के कलश वाले महल थे। इन तीनों प्रकार के महलों में क्रमशः उत्तम, मध्यम और जघन्य कुल के लोग रहते थे।

वैशाली में न्याय व्यवस्था इतनी सुन्दर थी कि कोई अपराधी दण्ड पाये बिना बच नहीं सकता था और निरपराधी दण्ड पा नहीं सकता था। विवाह के सम्बन्ध में भी वहाँ बड़े कड़े नियम थे। वैशाली में उत्पन्न कोई स्त्री वैशाली से बाहर विवाह नहीं कर सकती थी। प्रार्थना करने पर किसी लिच्छवी के लिये पत्नी का चुनाव लिच्छवी गण करता था। अन्य नगरों की तरह यहाँ भी दास प्रथा थी, किन्तु एक बार जो दास वैशाली में आ जाता था, वह फिर बाहर नहीं जा सकता था और उसके साथ मनुष्योचित व्यवहार होता था। इस गण संघ में एक नियम प्रचलित था कि नगर की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी कन्या विवाह नहीं कर सकती थी। उसे नगरवधू या नगर शोभिनी बनाकर सर्वभोग्या बना दिया जाता था। उसे गण की ओर से नृत्य, गान, वार्तालाप और स्वागत करने की विधिवत् शिक्षा दी जाती थी। १८ वर्ष की अवस्था होने पर उसे गण परिषद जनपद कल्याणी का सम्मान-पूर्ण पद प्रदान करता था और मंगल पुष्करिणी में मंगल स्नान का महोत्सव किया जाता था। तब वह नगरवधू घोषित की जाती थी। गण की ओर से उसे अलंकृत प्रासाद और धन धान्य प्रचुर परिमाण में दिया जाता था, जिससे वह वैभवपूर्ण जीवन बिताती हुई नागरिकों का यथेच्छ मनोरंजन कर सके।

वैशाली के लिच्छवी स्वातन्त्र्यप्रिय और मौजी स्वभाव के थे। उनमें परस्पर में बड़ा प्रेम था। यदि कोई लिच्छवी बीमार पड़ जाता था तो अन्य सभी लिच्छवी उसे देखने आते थे। उत्सव के वे बड़े शौकीन थे। सुन्दर रंगीन वस्त्र पहनने का उन्हें बड़ा शौक था। इसीलिये बुद्ध ने एक बार आनन्द से कहा था—आनन्द ! जिन्होंने त्रायस्त्रिंश स्वर्ग के देव नहीं देखे हैं, वे वैशाली के इन लिच्छवियों को देखलें। वे बड़े शिष्ट, विनयशील, सुसंस्कृत और सुरुचि सम्पन्न थे।

वैशाली के गणपति का नाम चेटक था। उनकी रानी का नाम सुभद्रा था। उनके १० पुत्र और ७ पुत्रियाँ थीं! उनका पुत्र सिंहभद्र वैशाली गण का सेनापति था। ७ पुत्रियों में सबसे बड़ी त्रिशला थी जो कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ को विवाही गई थी। इन्हीं के पुत्र महावीर तीर्थंकर थे। वे कुण्डग्राम सन्निवेश के गणपति थे और राजा कहलाते थे। मृगावती का विवाह वत्सनरेश शतानीक के साथ हुआ था। सुप्रभा का विवाह दशार्ण देश के हेमकच्छ के नरेश दशरथ के साथ, प्रभावती का विवाह कच्छदेश की रोरुक नगरी के नरेश उदायन के साथ तथा चेलना का विवाह मगधनरेश श्रेणिक बिम्बसार के साथ हुआ था। ज्येष्ठा और चन्दना ने दीक्षा लेली।

वैशाली संघ अत्यन्त वैभवसम्पन्न और विकसित था। इसका विनाश श्रेणिक के पुत्र अजातशत्रु ने किया। युद्ध में वैशाली पराजित होने वाला नहीं था, अतः अजातशत्रु ने अपने चरों द्वारा वैशाली में फूट डाल दी। इससे वैशाली निर्बल होगई और युद्ध में पराजित होगई। अजातशत्रु ने वैशाली को समाप्त कर दिया। इसके कुछ समय पश्चात् वैशाली पुनः स्वतन्त्र हो गई यद्यपि उसका वैभव और शक्ति पहले जैसी नहीं हो पाई। फिर इसका विनाश गुप्त वंश के सम्राट् समुद्रगुप्त ने किया। उसने तो वैशाली को बिलकुल खण्डहर ही बना दिया। इसके बाद वैशाली कभी पनप नहीं पाई। यह कितनी विडम्बना है कि वैशाली का विनाश करने वाले अजातशत्रु और समुद्रगुप्त दोनों ही सम्राट् वैशाली के ही दौहित्र थे। उन दोनों की मातायें वैशाली की पुत्रियाँ थीं। दोनों ही सम्राटों ने अपनी ननिहाल को बर्बाद कर दिया। इससे भी बड़ी विडम्बना यह है कि समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त

को साम्राज्य-प्राप्ति में लिच्छवियों की सहायता का सबसे बड़ा योगदान मिला था और समुद्रगुप्त अपने आपको लिच्छवि दौहित्र कहकर गर्व करता था।

महावीर के पिता का नाम सिद्धार्थ था। वे कुण्डपुर के राजा थे। इस विषय में दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही परम्परायें एकमत हैं। दिगम्बर परम्परा के उत्तर पुराण(७४।२५२)में उन्हें 'राज्ञः कुण्डपुरेशस्य' कहा है। षट्खण्डागम भाग ६ (४।१।४४) में 'कुण्डपुर वरिस्सर' बताया है। श्वेताम्बर परम्परा के त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित में (१०।३।४) 'सिद्धार्थोऽस्ति महीपतिः' कहा है। कल्पसूत्र में (२।५०, ४।६८, ४।७२, ४।८६) में 'सिद्धत्थे राया' 'सिद्धत्थेणं रण्ण' 'सिद्धत्थस्स रण्णो' आदि वाक्यों का प्रयोग किया गया है। इन उल्लेखों से इस विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि सिद्धार्थ कुण्डपुर के राजा थे। वे अत्यन्त वैभवसम्पन्न थे। वैशाली के गणप्रमुख महाराज चेटक ने अपनी पुत्रियों का विवाह उस युग के प्रसिद्ध राजाओं के साथ किया था। यदि सिद्धार्थ वस्तुतः साधारण स्थिति के क्षत्रिय होते तो चेटक कभी अपनी ज्येष्ठ पुत्री का विवाह उनके साथ न करते। कल्पसूत्र और आचारांग में सिद्धार्थ के तीन नाम दिये गए हैं—(१) सिद्धार्थ, (२) श्रेयान्स और (३) यशस्वी।

महावीर के माता-पिता

महावीर की माता त्रिशला महाराज चेटक की राजकुमारी थीं। उनका विवाह राजा सिद्धार्थ के साथ हुआ था। अतः वे राजदुहिता एवं राजरानी थीं। हरिवंशपुराण २।१६ में उन्हें राजा सिद्धार्थ को पटरानी बताया है। दिगम्बर ग्रन्थों में उनके दो नाम मिलते हैं—(१) त्रिशला, और (२) प्रियकारिणी। श्वेताम्बर ग्रन्थों में उनके तीन नाम आये हैं—(१) त्रिशला, (२) प्रियकारिणी और (३) विदेहदिन्ना। वस्तुतः विदेहदिन्ना कोई नाम नहीं था। वे विदेह की पुत्री थीं, इसलिए उन्हें विदेहदिन्ना, विदेहदत्ता आदि कहा गया है।

वंश और गोत्र—महाराज सिद्धार्थ और महावीर का गोत्र काश्यप था। महारानी त्रिशला के पितृपक्ष का गोत्र वाशिष्ठ था। जहाँ तक महावीर के वंश का सम्बन्ध है, दिगम्बर परम्परा में उन्हें नाथ वंश में उत्पन्न बताया है। संस्कृत ग्रन्थों में नाथान्वय शब्द का प्रयोग किया गया है और प्राकृत ग्रन्थों में 'णाह' कुलोत्पन्न बताया है। षट्खण्डागम के चतुर्थ वेदना खण्ड भाग ६ (४।१।४४) में'कुडलपुर पुरवरिस्सर सिद्धत्थक्खत्तियस्स णाह कुले' दिया गया है। जय धवला के 'पेज्ज दोस विहत्ती' अधिकार में भी यह गाथा उद्धृत की गयी है। 'तिलोयपण्णती' ग्रन्थ में तीर्थंकरों के वंशों का वर्णन करते हुए 'णाहोग्गवंसेसु वीरपासा' इस वाक्य द्वारा महावीर का णाहवंश और पार्श्वनाथ का उग्रवंश बताया है। णाह इस प्राकृत शब्द का संस्कृत रूप नाथ बनता है।

धनञ्जयकृत 'अनेकार्थनाममाला' नामक कोष में महावीर के पर्यायवाची शब्द देते हुए नाथान्वय शब्द का प्रयोग किया गया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

सन्मतिर्महतिर्वीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यपः।
नाथान्वयो वर्धमानो यत्तीर्थमिह साम्प्रतम् ॥११५॥

अनुकरण पर नात शब्द का प्रयोग होने लगा। इससे नाथ वंश बदलते-बदलते ज्ञातृवंश बन गया और महावीर ज्ञातृवंशी बन गये।

नामकरण—सौधर्मेन्द्र ने सुमेरु पर्वत पर भगवान का अभिषेक करने के बाद उनके दो नाम रक्खे—वीर और वर्धमान। ये दोनों ही नाम सार्थक थे। वे वीर थे। उनके उत्पन्न होने पर उनके पिता सिद्धार्थ की श्री, विभूति, प्रभाव, धन-धान्य आदि सभी में वृद्धि हुई थी। इसलिए उनका वर्धमान नाम वस्तुतः सार्थक था। श्वेताम्बर साहित्य में भगवान का नामकरण पिता सिद्धार्थ ने किया, ऐसा उल्लेख मिलता है।

एक दिन बाल भगवान रत्नजड़ित पालने में झूल रहे थे। तभी वहाँ संजय और विजय नामक दो चारण मुनि आए। उन्हें किसी जैन सिद्धान्त में सन्देह उत्पन्न हो गया था। किन्तु बाल भगवान के देखते ही उनका सन्देह दूर हो गया। तब उन्होंने बड़ी भक्ति से बालक का नाम सन्मति रक्खा।

बाल लीलाएँ—इन्द्र की आज्ञा से कुबेर प्रतिदिन भगवान की आयु और इच्छा के अनुसार स्वर्ग की सार-भूत भोगोपभोग सामग्री स्वयं लाया करता था और सदा खर्च कराया करता था। कुमार वर्धमान बाल्यावस्था से ही गम्भीर, शान्त, उदात्त एवं संयम के धारक थे। वर्धमान की खेलकूद में विशेष रुचि नहीं थी, फिर भी वे समवयस्क बालकों के साथ कभी कभी खेलकूद में भाग लिया करते थे। कभी कभी देव भी बाल रूप धारण करते थे। इससे उनके मन में बड़ा सन्तोष होता था। एक दिन कुमार वर्धमान अपने बाल साथियों के साथ आमली क्रीड़ा का खेल खेल रहे थे। इस खेल में किसी एक वृक्ष को केन्द्र मान लिया जाता है। सब बालक एक साथ उस वृक्ष की ओर दौड़ते हैं। जो बालक सबसे पहले उस वृक्ष पर चढ़कर उतर कर आता है, वह विजयी माना जाता है और वह पराजित बालकों के कन्धे पर चढ़ कर वहाँ तक जाता है जहाँ से दौड़ प्रारम्भ हुई है।

एक दिन सौधर्म इन्द्र की सभा में चर्चा चल रही थी कि इस समय भूतल पर सबसे अधिक शूरवीर कौन है। इन्द्र कहने लगा—इस समय सबसे अधिक शूरवीर वर्धमान स्वामी हैं। कोई देव दानव उन्हें पराजित नहीं कर सकता। यह सुनकर संगम नामक एक देव को इन्द्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह उनके बल की परीक्षा लेने के लिये प्रमद वन में आया जहाँ कुमार वर्धमान अपने बाल सखाओं के साथ खेल रहे थे। उस देव ने माया से एक विशाल सांप का रूप धारण कर लिया और उस वृक्ष की जड़ से स्कन्ध तक लिपट गया। उस भयंकर सांप को देखकर सभी बालक भय के मारे वहाँ से अपने प्राण बचाकर भाग गये। केवल कुमार वर्धमान ही वहाँ रह गये। वे सातिशय बल के धारी थे। उनके मन में आतंक या भय नाममात्र को भी न था। वे निर्भय होकर उस सर्प के ऊपर चढ़कर इस प्रकार क्रीड़ा करने लगे, मानो वे माता के पलंग पर ही क्रीड़ा कर रहे हों। वे बहुत समय तक सर्प के साथ नाना प्रकार की क्रीड़ा करते रहे। अन्त में संगम देव ने अपनी पराजय स्वीकार करली (उत्तरपुराण)। असग कवि ने महावीर चरित्र में इस घटना का सजीव चित्रण करते हुए लिखा है कि—

> **वटवृक्षमथैकदा महान्तं**
> **सह डिम्भैरधिरुह्य वर्धमानम्।**
> **रममाणमुद्वीक्ष्य संगमाख्यो।**
> **विबुधस्त्रासयितुं समाससाद। १७।६५-६८**

संगम देव ने पराजित होकर अजमुख मानव रूप धारण करके कुमार वर्धमान को एक कन्धे पर तथा उनके एक बालसखा पक्षधर को दूसरे कन्धे पर बैठा लिया तथा दूसरे बालसखा काकधर का उंगली पकड़कर उन्हें सादर घर तक पहुँचाया। इन दोनों सखाओं के नाम चामुण्डराय पुराण में मिलते हैं। इस अजमुख देव का नाम पुरातत्व वेत्ता हरिनैगमेश बतलाते हैं तथा हरिनैगमेश द्वारा कुमार वर्धमान और उनके दो बालसखाओं को कन्धे पर बैठाने तथा उंगली पकड़ने का दृश्य कुषाणकालीन एक शिलाफलक पर अंकित है और मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित है।

संगम देव वर्धमान कुमार के शौर्य, साहस और निर्भयता से अत्यधिक प्रभावित हुआ। उसने बड़ी भक्तिपूर्वक उनकी स्तुति की और कहा—प्रभो! आपका बल विक्रम अतुलनीय है। आप संसार में अजेय हैं। सचमुच ही आप महावीर हैं। तभी से आपका नाम संसार में महावीर के रूप में विख्यात हो गया।

महावीर अत्यन्त साधनामय और अनासक्त जीवन लेकर उत्पन्न हुए थे। आठ वर्ष की आयु में उन्होंने अणुव्रत धारण कर लिये थे। वे तीर्थंकर थे। तीर्थंकर जन्मजात ज्ञानी होते हैं। वे संसार के जीवों को कल्याण की शिक्षा देने के लिये उत्पन्न होते हैं। इसलिये जगद्गुरु कहलाते हैं। उन्हें अक्षर-ज्ञान देसके, ऐसा कोई गुरु नहीं होता। सारा संसार और उसका स्वभाव ही उनकी पुस्तक होती है। वे अपने अन्तर्मन से उसे गहराई से देखते हैं, विवेक की बुद्धि से उस पर गहन मनन और चिन्तन करते हैं और आत्मा के समग्र उपयोग से उसका सारतत्व ग्रहण करके निरन्तर अमृतत्व की ओर बढ़ते जाते हैं।

महावीर चिन्तनशील अनासक्त योगी थे। वे जन्म से ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान इन तीन ज्ञानों के धारक थे। तीन ज्ञानधारक को अल्पज्ञानी जन क्या पढ़ा सकता है। श्वेताम्बर आगम आवश्यक चूर्णि भाग १ में बताया गया है कि जब महावीर आठ वर्ष के हुए, तब माता-पिता ने शुभ मुहूर्त देखकर बालक महावीर को अध्ययन के लिये कलाचार्य के पास भेजा। सौधर्मेन्द्र को अवधिज्ञान द्वारा ज्ञात हुआ कि तीर्थंकर महावीर को कलाचार्य के पास पढ़ने के लिये भेजा जा रहा है तो उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। वह एक क्षण का भी विलम्ब किये बिना एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके कलाचार्य के गुरुकुल में जा पहुँचा, जहाँ बालक महावीर और उनके माता पिता थे। इन्द्र विद्यागुरु और जनसाधारण को तीर्थंकर की योग्यता से परिचित कराना चाहता था। इन्द्र ने प्रभु को मन ही मन नमस्कार किया और अत्यन्त विनय के साथ प्रभु से व्याकरण सम्बन्धी जटिल प्रश्न पूछने लगा। प्रभु ने उन प्रश्नों के यथार्थ और युक्तिसंगत उत्तर देकर सबको स्तब्ध कर दिया। आचार्य ने भी अपनी कुछ शंकायें प्रभु के समक्ष रक्खीं, जिनका समाधान प्रभु ने क्षण भर में कर दिया। तब आचार्य बोले—जो बालक सभी विषयों का ज्ञाता है, उसे मैं क्या ज्ञान दे सकता हूँ। तब ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र बोला—जो बालक आपके समक्ष उपस्थित, है वह सामान्य बालक नहीं है। वह तीन ज्ञान का धारी तीर्थंकर है। 'वह गुरूणां गुरु है। वह संसार में पढ़ने नहीं पढ़ाने आया है।' यह कह कर इन्द्र ने और साथ ही आचार्य ने बाल प्रभु के चरणों में नमस्कार किया। महाराज सिद्धार्थ और माता त्रिशला प्रसन्न होकर बोले—"मोह में हम यह भूल ही गये थे कि कुमार तो जगद्गुरु है।

आवश्यक चूर्णि भाग १ में यह भी उल्लेख है कि वृद्ध ब्राह्मण ने बालक महावीर के साथ हुए प्रश्नोत्तरों का संग्रह करके 'ऐन्द्र व्याकरण' की रचना की।

'कल्पसूत्र' में महाराज सिद्धार्थ की दिनचर्या की एक संक्षिप्त झांकी प्रस्तुत की गई है। उसमें लिखा है—'सूर्योदय के अनन्तर सिद्धार्थ राजा अवृनशाला अर्थात् व्यायामशाला में जाते थे। वहाँ वे कई प्रकार के दण्ड, बैठक, मुद्गर चालन आदि व्यायाम करते थे। उसके अनन्तर वे मल्लयुद्ध करते थे। इसमें उनका पर्याप्त परिश्रम हो जाता था। इसके पश्चात् शतपक्व तैल-जो सौ प्रकार के द्रव्यों से निकाला जाता था—और सहस्रपक्व तैल-जो एक हजार द्रव्यों से तैयार किया जाता था—उससे मालिश करवाते थे। यह मालिश रस रुधिर आदि धातुओं को प्रीति करने वाला, दीपन करने वाला, बल की वृद्धि करने वाला और सब इन्द्रियों को आल्हाद देने वाला होता था। व्यायाम के पश्चात् वे स्नान करते थे। उपरान्त वे देवोपासना (देव पूजा) में समय लगाते थे। फिर शुद्ध सात्विक भोजन करके राजकाज में प्रवृत्त होते थे।'

ऐसे शुद्ध सात्विक वातावरण में महावीर की आत्मिक साधना सतत सतेज होती जा रही थी। एक दिन कलिंग नरेश जितशत्रु अपनी अनिंद्यसुन्दरी और यशोदया की सुकुमारी कन्या यशोदा को लेकर कुण्डग्राम पधारे। इन्द्र के समान बल और ऐश्वर्य के धारक एवं अपने सुहृद् बन्धु के आगमन से महाराज सिद्धार्थ अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपने बहनोई जितशत्रु का हार्दिक स्वागत किया। जितशत्रु महावीर के जन्मोत्सव के पुण्य अवसर पर भी आये थे। उन्होंने तभी मन में संकल्प कर लिया था कि यदि भाग्य से मेरे घर में पुत्री का जन्म होगा तो मैं उसका विवाह कुमार वर्धमान के साथ करूँगा। उनकी कामना सफल हुई और कुछ वर्षों के अनन्तर सुरबाला सी कमनीय यशोदा नामक कन्या ने जन्म लिया। कन्या क्या थी, मानो रति ही मानवी बनकर अवतरित हुई थी। अपनी उसी कन्या को लेकर जितशत्रु मन में कामना संजोये राजकुमार के लिए समर्पित करने आये थे। उन्होंने महाराज सिद्धार्थ से अपना मनोरथ निवेदन किया। सुनकर महाराज अत्यन्त आल्हादित हुए। महारानी त्रिशला भी राजकुमारी यशोदा के गुण, शील और सौन्दर्य पर मोहित थीं। उनके मन में ऐसी सुलक्षणा और शुभ्र तारिका सी कुमारी को अपनी पुत्र-वधू बनाने की ललक जाग उठी। किन्तु 'विधना के मन कछु और है, मेरे मन कछु और।'

एक दिन अनुकूल अवसर देखकर महाराज सिद्धार्थ अपने प्रिय पुत्र से बोले—'प्रियदर्शी कुमार! अब तुम्हारी वय विवाह योग्य हो चुकी है। हमारी इच्छा है कि तुम अब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करो जिससे वंश परम्परा चले।' कुमार अत्यन्त विनय और शालीनता के साथ कहने लगे—'पूज्यपाद! इस नश्वर जीवन के क्षण क्या भोगों के लिए समर्पित करने से सार्थक हो पायेंगे? मैं इसी जीवन में अमृतत्व की प्राप्ति के लिये साधना करना चाहता हूँ। मैं विवाह नहीं, आपका आशीर्वाद चाहता हूँ कि मैं अपने लक्ष्य की प्राप्ति शीघ्र कर सकूँ।' सुनकर पिता की उमंग और माता की ललक पर तुषारपात होगया। महाराज जितशत्रु निराश हो गये। और किशोरी यशोदा! उसके सुख-स्वप्न ही मानो टूट गये। कितनी हसरतें लेकर आई थी वह यहाँ पर लेकिन सारी हसरतें बिखर गईं, सारी तमन्नायें मुरझा गईं।

राजकुमारी यशोदा को कुमार महावीर के निश्चय से हार्दिक दुःख हुआ। उसने सांसारिक भोगों से विरक्त होकर बाद में आर्यिका दीक्षा ले ली। कलिंग नरेश जितशत्रु भी महावीर के निर्णय से निराश होकर संसार से विरक्त हो गये। किन्तु लगता है, उन्होंने तत्काल दीक्षा नहीं ली। जैन शास्त्रों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि तोषल नरेश जितशत्रु ने तीर्थंकर महावीर को अपने प्रदेश में धर्म प्रचार के लिए निमन्त्रण दिया। फलत: प्रभु महावीर तोपल गये और वहाँ से वे मोपल गये और फिर कुमारी पर्वत पर भगवान का धर्मोपदेश हुआ। वहाँ जितशत्रु ने प्रभु के चरण सान्निध्य में दीक्षा ले ली और घोर साधना द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो गये।

जैन शास्त्रों के इस उल्लेख से यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान महावीर द्वारा दीक्षा लेने के बहुत वर्षों के पश्चात् जितशत्रु ने दीक्षा ली थी। सम्भव है, कुमारी यशोदा ने भी अपने पिता के साथ ही संयम धारण किया हो किन्तु यह तो निश्चित है कि जब जितशत्रु अपनी पुत्री के विवाह सम्बन्ध के लिये कुण्डग्राम आये थे, तभी राजकुमारी ने अपने मन में महावीर को पति रूप में स्वीकार कर लिया था और अपने आराध्यदेव द्वारा प्रस्ताव अस्वीकार किये जाने पर वह अन्य किसी राजकुमार के साथ विवाह करने के लिए उद्यत नहीं हुई और उसने आजीवन कौमार्य व्रत धारण कर लिया।

दिगम्बर परम्परा के सभी शास्त्र महावीर को अविवाहित मानते हैं। प्रसिद्ध ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ती में स्पष्ट उल्लेख है —

'णेमी मल्लो वीरो कुमार कालम्मि वासुपुज्जो य।
पासो वि य गहिदतवा सेसजिणा रज्जचरमम्मि ॥४।६७०

अर्थात् भगवान नेमिनाथ, मल्लिनाथ, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पांच तीर्थंकरों ने कुमार काल में और शेष तीर्थंकरों ने राज्य के अन्त में तप को ग्रहण किया।

इसी के अनुकरण पर पद्मपुराण में इस सम्बन्ध में लिखा है—

वासुपूज्यो महावीरो मल्लिः पार्श्वो यदुत्तमाः।
कुमार निर्गता गेहात्पृथिवीपतयोऽपरे ॥२०।६७

इन शास्त्रीय उल्लेखों से दो बातों पर प्रकाश पड़ता है—(१) ये पाँच तीर्थंकर राज्य का भोग किये बिना दीक्षित हो गये। (२) इन्होंने कुमारकाल में अर्थात् अविवाहित दशा में ही दीक्षा ग्रहण की।

ये पांचों तीर्थंकर पंचबालयति के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। पुरातात्त्विक साक्ष्य भी इसका समर्थन करते हैं। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में निर्मित खण्डगिरि गुफाओं में, कुषाण काल में निर्मित मथुरा कलाकृतियों में तथा पश्चात्कालीन मूर्तियों में पंचबालयतियों की मूर्तियां उपलब्ध होती हैं। इससे यह स्वीकार करने में कोई सन्देह नहीं रहता कि उपर्युक्त पांच तीर्थंकर अविवाहित रहे, यह मान्यता परम्परागत रही है।

दिगम्बर शास्त्रों के आधार और अनुकरण पर निर्मित प्राचीन श्वेताम्बर आगमों में भी इसी मान्यता का समर्थन प्राप्त होता है। भगवती सूत्र, समवायांग, स्थानांग और आवश्यक निर्युक्ति में यशोदा के साथ महावीर के विवाह होने और उनके प्रियदर्शना नामक पुत्री के होने का कोई उल्लेख नहीं मिलता और पांच कुमार प्रव्रजित तीर्थंकरों में महावीर का नाम मिलता है। महावीर के विवाह की सर्वप्रथम चर्चा कल्पसूत्र में आई है। उसके पश्चात् बने हुए आगम ग्रन्थों, निर्युक्तियों और संस्कृत के चरित्र ग्रन्थों में कल्पसूत्र का ही अनुकरण किया गया है और इस नवीन कल्पना के समर्थन के लिए कुमार शब्द का अर्थ बदलने का भारी प्रयत्न किया गया है।

समवायांग सूत्र नं० १९ में १९ तीर्थंकरों का घर में रहकर और भोग भोगकर दीक्षित होना लिखा है। टीकाकार अभयदेव सूरि ने भी अपनी वृत्ति में 'शेषास्तु पंच कुमारभाव एवेत्याह' कहकर इसे और स्पष्ट किया है। स्थानांग सूत्र के ४७९ वें सूत्र में भी पाँच तीर्थंकरों को कुमार प्रव्रजित लिखा है। आवश्यक निर्युक्ति में तो इसे और अधिक स्पष्ट किया है। वे गाथायें इस प्रकार हैं—

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च।
एए मुत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ॥२४३॥
रायकुलेसु वि जाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु।
ण य इत्थिआभिसेआ कुमार वासंमि पव्वइया ॥२४४॥

इन गाथाओं को अधिक सुस्पष्ट करने के लिए आवश्यक निर्युक्ति में दो गाथायें और दी गई हैं जो इस प्रकार हैं—

वीरो अरिट्टणेमी पासो मल्ली वासुपुज्जो य।
पढमवए पव्वइया सेसा पुण पच्छिमवयंसि ॥२४८॥

इस गाथा में आये हुए 'पढमवए' पद का अर्थ करते हुए टीकाकार मलयगिरि ने लिखा है—प्रथमवयसि कुमारत्वलक्षणे प्रव्रजिताः, शेषाः पुनः ऋषभस्वामिप्रभृतयो मध्यमे वयसि,यौवनत्व लक्षणे वर्तमानाः प्रव्रजिताः।

निर्युक्तिकार ने एक स्थान पर तो और भी स्पष्ट लिखा है—गामायारा विषया निसेविता जे कुमार वज्जेहिं।' इसमें बताया गया है कि पांच तीर्थंकरों ने विषय भोगों का सेवन नहीं किया।

दिगम्बर परम्परा के शास्त्र और उनके आधार पर बने इन श्वेताम्बर आगमों में इस विषयक ऐकमत्य सिद्ध करता है कि उक्त तीर्थंकरों ने विवाह नहीं किया। किन्तु बाद में बने हुए कल्पसूत्र आदि ग्रन्थों में महावीर को

विवाहित मानने की जो कल्पना की गई है, उसका कोई शास्त्रीय या परम्परामान्य आधार खोजने पर भी नहीं मिलता। प्राचीन आगम ग्रन्थों को अप्रामाणिक स्वीकार करके ही कल्पसूत्र की कल्पित बात को माना जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है, कल्पसूत्रकार म० बुद्ध के जीवन चरित्र और तत्सम्बन्धी बौद्ध ग्रन्थों से अत्यधिक प्रभावित रहा है। उसकी दृष्टि में बुद्ध द्वारा स्त्री पुत्र का त्याग अत्यधिक अनुकरणीय लगा प्रतीत होता है। इसी आदर्श को महावीर जीवन में प्रदर्शित करने की धुन में वह महावीर के विवाह की कल्पना कर बैठा। इतना ही नहीं; उसे महावीर की एक पुत्री प्रियदर्शना के नाम से कल्पित करनी पड़ी। किन्तु आश्चर्य है, कल्पसूत्रकार पत्नी यशोदा और पुत्री प्रियदर्शना की कल्पना का निर्वाह नहीं कर सका। इन दोनों को वह आगे चलकर बिल्कुल भुला बैठा। इसीलिये महावीर के दीक्षाकाल में या उसके आगे पीछे कहीं भी यशोदा और प्रियदर्शना का नामोल्लेख नहीं मिलता। कल्पसूत्र में प्रियदर्शना का विवाह जमालि के साथ हुआ बताया है। जमालि की आठ स्त्रियाँ बताई गई हैं, किन्तु उनमें प्रियदर्शना का नाम न पाकर बड़ा आश्चर्य होता है। ये सारी असंगतियां महावीर के विवाह की कल्पना के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। वस्तुतः श्वेताम्बरों की प्राचीन परम्परा दिगम्बर परम्परा के समान महावीर को अविवाहित ही स्वीकार करती है।

कुमारामात्य और महावीर

महावीर ने राज्य शासन में भाग लिया या नहीं, यदि लिया तो वह किस रूप में, इस बात के कोई संकेत प्राप्त नहीं होते। वैशाली में उत्खनन के फलस्वरूप कुछ ऐसी सीलें प्राप्त हुई हैं जिन पर कुमारामात्य लिखा हुआ है। किन्तु इन सीलों का सम्बन्ध कुमार महावीर से था, इसका कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि वैशाली गणतंत्र के शासन में महाराज सिद्धार्थ का कोई महत्वपूर्ण स्थान था, यह सिद्ध होना अभी शेष है। महाराज सिद्धार्थ कुण्डग्राम के गणप्रमुख थे और कुण्डग्राम एक स्वतंत्र जिला था। संभवतः कुण्डग्राम गण के राजा वैशाली संघ की संस्थागार के सदस्य होते थे। किन्तु इस नाते महावीर को वैशाली संघ में कुमारामात्य का महत्वपूर्ण पद प्राप्त था, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। संभवतः कुमारामात्य का पद गणप्रमुख चेटक के दस पुत्रों को प्राप्त था और उन्हें अमात्य के अधिकार प्राप्त थे। कुण्ड ग्राम में जिसका वर्तमान नाम वासुकुण्ड है, अभी तक उत्खनन कार्य नहीं हुआ है और न वहाँ से अब तक कोई महावीर कालीन सामग्री उपलब्ध हुई है। इसलिए वैशाली से प्राप्त गुप्त काल की कुमारामात्य सम्बन्धी सीलों के साथ महावीर का कोई सम्बन्ध था, यह विश्वासपूर्वक कहना कठिन है। प्रमाण के बिना केवल कल्पना के बल पर पक्ष और विपक्ष दोनों ही ओर तर्क दिये जा सकते हैं।

जीवन्त स्वामी की प्रतिमा

प्रारम्भ से ही महावीर की प्रवृत्ति भोगों की ओर नहीं थी। वे प्रायः एकान्त में बैठ कर संसार के स्वरूप पर गहन विचार किया करते और विचार करते करते आत्म चिन्तन में लीन हो जाते। उनकी प्रकृति अन्तर्मुखी थी। उन्हें सभी प्रकार की सुख सामग्री उपलब्ध थी, किन्तु सुख साधनों में उनकी आसक्ति नहीं थी। वे अन्तश्चक्षुओं से देखते-भोगों में अतृप्ति छिपी हुई है, यौवन का परिणाम बुढ़ापा है, जीवन का अन्त मृत्यु है, संयोग में वियोग का भय छिपा है, शरीर के रोम रोम में रोग झांक रहे हैं। प्राणी सुख प्राप्ति का प्रयत्न करता है और दुःख प्राप्त होता है। इष्ट की संयोजना में अनिष्ट हाथ आता है। इसका सारा प्रयत्न क्षणभंगुर के लिये है। मैं अमरत्व के लिए पुरुषार्थ करूँगा। मेरा काम्य सुख है किन्तु ऐसा सुख जो अविनश्वर हो, स्वाधीन हो।

उनकी चिन्तनधारा ने उन्हें भोगों के प्रति उदासीन बना दिया। वे अपना अधिक समय साधना में व्यतीत करने लगे। वे अपने प्रासाद के एकान्त कक्ष में ध्यानलीन हो जाते और अमरत्व की राह खोजते रहते। उनकी इस योग साधना की ख्याति दूर दूर तक फैल गई। जन जन के मन में उनके प्रति असीम श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। श्रद्धातिरेक में अनेक लोगों ने उनके जीवन काल में ही उनकी मूर्तियाँ बनाकर उनकी पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। ये मूर्तियां जीवन्त स्वामी की मूर्तियाँ कहलाती थीं। जीवन्त स्वामी की एक चन्दन-मूर्ति सिन्धु सौवीर नरेश राजा उदायन की महारानी प्रभावती के पास भी थी। मृत्यु काल निकट जानकर महारानी ने वह मूर्ति अपनी एक प्रिय दासी को दे दी जिससे उसकी पूजा होती रहे और स्वयं ने दीक्षा ले ली। अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत इस मूर्ति को प्राप्त

को नमस्कार करके लौकान्तिक देव अपने आवास को लौट गये।

तभी चारों जाति के देव और इन्द्र आये। इन्द्र ने भगवान को सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। तब उनका कल्याण अभिषेक किया और स्वर्ग से लाये हुए अनर्घ्य रत्नालंकार और वस्त्र पहनाये और उन्हें चन्द्रप्रभा नामक शिविका में आरूढ़ किया। अभिनिष्क्रमण करने से पूर्व भगवान ने मधुर वचनों से बन्धुजनों को सन्तुष्ट किया और उनसे विदा ली। तदनन्तर वे पालकी में सवार हुए। उस पालकी को सबसे पहले भूमिगोचरी राजाओं ने, फिर विद्याधर राजाओं ने उठाया और सात-सात पग चले। फिर उसे इन्द्रों ने उठाया और उसे आकाशमार्ग से ले चले। भगवान के दोनों ओर खड़े होकर इन्द्र चमर ढोल रहे थे। अभिनिष्क्रमण की इस पावन वेला में असंख्य देव-देवियाँ, मनुष्य और स्त्रियाँ भगवान के साथ चल रहे थे। इस प्रकार भगवान ज्ञातृ षण्ड वन में पहुँचे जो कुण्डग्राम (क्षत्रिय कुण्ड) के पूर्वोत्तर भाग में ज्ञातृवंशी क्षत्रियों का उद्यान था। वहाँ पहुँच कर भगवान पालकी से उतर पड़े और एक शिला पर उत्तराभिमुख होकर वेला का नियम लेकर विराजमान हो गये। इस प्रकार मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन, जबकि निर्मल चन्द्रमा हस्त और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के मध्य था, सन्ध्या के समय उन्होंने वस्त्र, आभूषण और माला आदि उतार कर फेंक दिये, 'ॐनमः सिद्धेभ्यः' कहकर केशलुंचन किया। और आत्म ध्यान में लीन हो गये। भगवान ने जो वस्त्राभूषण आदि उतार कर फेंके थे, सौधर्मेन्द्र ने वे उठा लिये तथा लुंचन किये हुए केशों को भी इन्द्र ने अपने हाथ से उठाकर मणिमय पिटारे में रक्खा और देवों के साथ स्वयं जाकर उन्हें क्षीरसागर में पधरा दिया। सब देव भगवान की स्तुति करके अपने-अपने स्थान को चले गये।

भगवान ने एकाकी ही दीक्षा ली थी। संयम धारण करते समय वे अप्रमत्त नामक सातवें गुणस्थान में स्थित थे। उस समय उनकी आत्मा में निर्मल परिणामों के कारण परम विशुद्धि थी। फलतः उन्हें तत्काल मनःपर्यय ज्ञान प्रगट हो गया। उन्होंने वस्त्रालंकार उतार कर बाह्य परिग्रह का ही त्याग नहीं किया, बल्कि उन्होंने आभ्यन्तर परिग्रह का भी त्याग कर दिया। बाह्य परिग्रह का त्याग तो आभ्यन्तर परिग्रह के त्याग का अनिवार्य फल था।

अन्त: परिग्रह के त्याग का प्रारम्भ बाह्य परिग्रह के त्याग से होता है। बाह्य परिग्रह बना रहे और अन्त: परिग्रह समाप्त हो जाय, ऐसा कभी संभव नहीं हो सकता। अन्त:परिग्रह के त्याग की भावना मन में जागृत होते ही बाह्य परिग्रह का त्याग करने की प्रवृत्ति तो स्वत: होती है। बाह्य परिग्रह की रक्षा करके उसको आसक्ति से कैसे बचा जा सकता है। तब न बाह्य परिग्रह का ही त्याग हुआ और न अन्त:परिग्रह का त्याग ही हो पायगा। इसीलिये जैन साधु को निर्ग्रन्थ कहा जाता है। बौद्ध ग्रन्थों में महावीर को निगण्ठ नातपुत्त कहा गया है। क्योंकि वे अन्त:बाह्य परिग्रह से रहित थे। श्वेताम्बर ग्रन्थों में इन्द्र द्वारा महावीर के कन्धे पर देवदूष्य वस्त्र डालकर उनकी नग्नता छिपाने की कल्पना की गई है। सौधर्मेन्द्र सम्यग्दृष्टि और एकभवावतारी होता है। वह साधु के संयम के विरुद्ध कोई कार्य कर सकता है, ऐसी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि कोई अज्ञानी ऐसा संयमविरोधी कार्य करता है तो साधु उसे उपसर्ग मानता है। यह तो सामान्य साधु की भी चर्या है। फिर महावीर तो तीर्थंकर थे जो परम विशुद्धि के धारक थे। उनके लिये ऐसी संयम विरोधी कल्पना की गई, यही आश्चर्य है।

पारणा के दिन भगवान आहार के लिये वन से निकले। वे विहार करके कूलग्राम पहुँचे। वहाँ के राजा कूल ने नवधा भक्ति के साथ भगवान का प्रतिग्रह किया। उसने भक्तिपूर्वक भगवान की तीन प्रदक्षिणायें दीं, उनके चरणों में नमस्कार किया और उच्च आसन पर बैठाया। अर्घ आदि से उनकी पूजा की और मन, वचन, काय की शुद्धि के साथ परमान्न (खीर) आहार दिया। भगवान के आहार के उपलक्ष्य में देवों ने उस राजा के घर में पंचाश्चर्य किये—शीतल मन्द सुगन्धित पवन बहने लगा, सुगन्धित जल की वर्षा हुई, रत्नवर्षा हुई, देव-दुन्दुभि बजने लगी और आकाश मे देवों ने जयध्वनि की—धन्य यह दान, धन्य यह दाता और धन्य यह सुपात्र।

भगवान आहार के पश्चात् वहाँ से बिहार कर गये।

रुद्रकृत उपसर्ग

एक बार विहार करते हुए भगवान उज्जयिनी पहुँचे और नगर के बाहर अतिमुक्तक नामक श्मशान में प्रतिमा योग धारण करके विराजमान हो गए। भगवान को देखकर महादेव नामक रुद्र ने उनके धैर्य की परीक्षा करनी चाही। उसने रात्रि में भगवान के ऊपर भयानक उपसर्ग किये। उसने अपनी विक्रिया के बल से भयंकर वैतालों का रूप धारण किया। वे भयानक और हृदय को कंपित करने वाली लीलाएँ करने लगे। कभी वे किलकारी लगाते, कभी वीभत्स रूप धारण करके अट्टहास करते, कभी भयंकर नृत्य करने लगते और कभी एक दूसरे के उदर को फाड़कर उसके अन्दर घुस जाते। कभी वह रुद्र सिंह अथवा व्याघ्र का रूप धारण करके वीभत्स गर्जना करने लगता, कभी विकराल सर्प बनकर फुंकारने लगता। कभी वह सुन्दर देवी का रूप धारण करके नाना प्रकार के अश्लील हाव भाव दिखाता और अपनी मोहिनी द्वारा उन्हें ध्यान से विचलित करने का प्रयत्न करता। इस प्रकार उसने भगवान की समाधि भंग करने की नाना प्रकार की चेष्टायें की किन्तु भगवान तो इन सब उपद्रवों से अप्रभावित रहकर आत्म-ध्यान में सुमेरु पर्वत की तरह अचल रहे। तब रुद्र अत्यन्त लज्जित होकर भगवान के चरणों में नतमस्तक हो गया और अत्यन्त विनय एवं भक्ति से भगवान की भावभरी स्तुति करने लगा—'प्रभु ! धन्य हैं आप। आपकी धीरता और वीरता अनुपम है। आप योगियों के मुकुटमणि हैं। आप वस्तुत: महति और महावीर हैं। नाथ ! आप महान् हैं। प्रभो ! मुझ अज्ञानी की अविनय को आप क्षमा करें। आप तो क्षमामूर्ति हैं और मैं कुटिल, पामर और अधम हूँ। मैंने आप के प्रति अक्षम्य अपराध किये हैं, मेरी दुष्टता की सीमा नहीं है। मेरा उद्धार कैसे होगा !' यों कहकर प्रायश्चित के उद्वेग से उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगी। बहुत देर तक वह अपने अपराधों को आँखों की राह बहाता रहा। जब हृदय का भार कुछ कम हो गया तो वह भक्ति के उद्रेक से नृत्य करने लगा। उसके इस भक्ति नृत्य में पार्वती ने भी साथ दिया। फिर वह भगवान को नमस्कार करके चला गया।

भगवान की साधना निरन्तर सतेज हो रही थी। वे आत्म-विजय की राह में निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जा रहे थे। वे एक बार विहार करते हुए कौशाम्बी पधारे। तभी एक हृदयद्रावक घटना घटित हुई। वैशाली

रखती थी। किन्तु चन्दना इन कष्टों और अपमानों को अपने कर्मों का अनिवार्य फल मानकर शान्ति और धैर्य के साथ सहन किया करती थी।

एक दिन भगवान महावीर वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी में आहार के निमित्त पधारे। वे श्रेष्ठी वृषभदत्त के प्रासाद के सामने से निकले। भगवान को चर्या के लिए आते हुए देखकर चन्दना का रोम रोम हर्ष से भर उठा। उसे अभी कोदों का भात दिया गया था। वह भक्तिविह्वल होकर भगवान के प्रतिग्रह के लिये आगे बढ़ी। वह भूल गई अपनी दुर्दशा; वह भूल गई कि त्रिलोकवन्द्य भगवान के उपयुक्त आहार वह नहीं दे सकेगी। वह तो त्रिलोकनाथ प्रभु को अपने सात्विक हृदय की भक्ति का अर्घ्य चढ़ाने के लिए आतुर हो उठी। जन्म जन्मान्तरों से संचित प्रभु-भक्ति आल्हाद में उसके नेत्रों से प्रवाहित होने लगी। उसका मुखमण्डल प्रभु दर्शन के हर्ष से सद्य: विकसित पुष्प के समान मोद से खिल उठा। उसके कमनीय कपोलों पर हर्ष की आभा तैरने लगी। अवरुद्ध पुण्य का स्रोत तीव्र वेग से खुल गया। उसकी लोहे की बेड़ियाँ टूट कर अलग जा पड़ीं। केशविहीन सिर पर काले कुन्तल लहराने लगे। उसका मिट्टी का सकोरा स्वर्ण पात्र बन गया। कोदों का भात सुरभित शालो चावलों का भात बन गया। उसके जीर्ण शीर्ण वस्त्र बहुमूल्य चीनांशुक बन गये। उसने नवधा भक्ति के साथ आगे बढ़कर भगवान को पड़गाया और विधिपूर्वक उन्हें आहार दिया। भगवान ने राजमहालयों के राजसी आहार की उपेक्षा करके एक हतभाग्य दासी द्वारा दिये हुए आहार को निर्विकार भाव से ग्रहण किया। अब तो चन्दना न हतभाग्य थी और न दासी थी। देवों ने उसके पुण्ययोग की सराहना की। आकाश में देव दुन्दुभि बजने लगीं। शीतल मन्द सुगन्धित पवन बहने लगा। सुगन्धित जल की वर्षा हुई। देवों ने रत्नवर्षा की तथा इस पुण्यप्रद दान, दाता और पात्र की जयजयकार की। भगवान आहार करके मौन भाव से विहार कर गये।

चन्दना द्वारा भगवान को दिये गये इस आहार की चर्चा सम्पूर्ण कौशाम्बी में होने लगी। इसकी गूंज राज प्रासाद में भी सुनाई दी। वत्स देश की पट्टमहिषी मृगावती ने भी यह चर्चा सुनी। वह उस महाभाग्य रमणीरत्न से मिलने को उत्सुक हो उठी, जिसे भगवान को आहार देने का पुण्य योग मिला। वह रथ में आरूढ़ होकर सेठ वृषभदत्त के आवास पर पहुँचा। सेठ वृषभदत्त भी अपनी व्यापार यात्रा से लौट आये थे। उन्होंने सब कुछ देखा सुना। वे अपनी धर्मपुत्री के सौभाग्य पर अत्यन्त हर्षित हुए, किन्तु अपनी पत्नी द्वारा उसके साथ किये गये दुर्व्यवहार पर बहुत कुपित हुए। उन्होंने अपनी पत्नी की कड़े शब्दों द्वारा भर्त्सना की। महारानी मृगावती जिस महाभाग रमणी से मिलने आई थी, उससे मिली। किन्तु वह आश्चर्य और हर्ष से भर उठी। उसने देखा, वह रमणी तो उसकी छोटी बहन चन्दनबाला है। वह उससे गले मिली। दोनों बहनें बड़ी देर तक हर्ष विषाद के आंसू बहाती रहीं। मृगावती अपनी बहन के दुर्विपाक की कहानी सुनकर अत्यन्त दुखित हुई। वह बोली—'प्रिय बहन! जो होना था, वह हो गया उसे एक दुःस्वप्न समझकर भूलने की कोशिश करो। तुम मेरे साथ चलो। मैं पिता जी को समाचार भिजवाये देती हूँ। चन्दना भी अपने धर्मपिता श्रेष्ठी से आज्ञा लेकर अपनी बड़ी बहन के साथ चली गई। कुछ समय पश्चात् वह अपने बन्धु बान्धवों से जा मिली। किन्तु उसने इतनी अल्पवय में ही जो कष्ट झेले और संसार के वास्तविक रूप के दर्शन किये, उससे उसका मन भोगों से विरक्त हो गया। वह राजमहलों के सुख सुविधापूर्ण वातावरण में भी विरक्त जीवन बिताने लगी और एक दिन-भगवान महावीर को केवल ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् वह राजसी जीवन का परित्याग करके भगवान के समीप आर्यिका बन गई और अपनी कठोर साधना एवं योग्यता के कारण आर्यिका संघ की गणिनी के पद पर प्रतिष्ठित हुई।

भगवान विभिन्न देशों में विहार करते हुए विविध प्रकार के कठोर तप करते रहे। वे मौन रहकर आत्म विकारों पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करते रहे। इस प्रकार कठोर साधना करते हुए लगभग बारह वर्ष का लम्बा काल बीत गया। किन्तु अनादिकाल से आत्मा पर जमे हुए कर्मों के मलिन संस्कारों को मिटाने के लिये बारह वर्ष का काल होता हो कितना है। जैसे सागर में एक बूंद। भगवान विहार करते हुए जृम्भिक ग्राम के बाहर ऋजुकूला नदी के तट पर पहुँचे। वहाँ मनोरम वन में शालवृक्ष के नीचे एक शिला पर बेला (दो दिन का उपवास) का नियम लेकर प्रतिमा-

केवल ज्ञान कल्याणक

योग से ध्यानारूढ़ हो गये। कर्मों के मैल को साफ करने के लिये यह अन्तिम अमोघ प्रयत्न था। ध्यान में उनका सम्पूर्ण उपयोग आत्मा में केन्द्रित हो गया। इन्द्रियों और मन की गति निश्चल हो गई। तन भी निस्पन्द था। अब तो आत्मा को आत्मा के लिए आत्मा में ही सब कुछ पाना था। आत्मा की गुप्त और सुप्त समस्त शक्तियों को उजागर करना था। आत्मा की विशुद्धता निरन्तर प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी। वे क्षपक श्रेणी पर आरोहण करके शुक्ल ध्यान को बढ़ाते जा रहे थे। अन्त में आत्मा के परम पुरुषार्थ ने कर्मों पर विजय प्राप्त कर ली। उस समय वैशाख शुक्ला दशमी का पावन अपराण्ह काल था, चन्द्रमा हस्त और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्रों के मध्य में स्थित था। उस समय भगवान ने ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय नामक चारों घातिया कर्मों का क्षय कर दिया। फलत: उन्हें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त बल और अनन्त वीर्य नामक चार आत्मिक शक्तियाँ प्राप्त हो गई; उन्होंने अनन्तचतुष्टय प्राप्त कर लिए। अब वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो गये। सूर्य उदित होता है तो कमल स्वयं खिल उठते हैं। जिस शरीर के भीतर स्थित आत्मा में केवल ज्ञान का सूर्य उगा तो वह शरीर भी साधारण से असाधारण हो गया। वह परमौदारिक हो गया और भूमि से उठकर आकाश में स्थित हो गया अर्थात् भूमि से चार अंगुल ऊपर उठ गया। अन्य चौबीस अतिशय प्रगट हो गये। वह शरीर महिमा का निधान बन गया।

आत्मा के इस अलौकिक चमत्कार की मोहिनी से आकर्षित होकर वहाँ चारों जातियों के देव और इन्द्र श्रद्धा और भक्ति से भरे हुए आये और आकर भगवान की पूजा की, स्तुति की और केवल ज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाया। तब सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की।

भगवान महावीर समवसरण के मध्य में गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान थे। सप्त प्रातिहार्य विद्यमान थे। समवसरण में श्रोता उपस्थित थे। किन्तु भगवान की दिव्य ध्वनि नहीं हो रही थी। अष्ट प्रतिहार्य में यह कमी असामान्य थी। तीर्थंकर प्रकृति के उदय होने पर अष्ट प्रातिहार्य अनिवार्य होते हैं। सभी श्रोता भगवान का उपदेश सुनने के लिए उत्सुक थे। किन्तु भगवान मौन थे। छद्मस्थ दशा में बारह वर्ष तक भगवान मौन रहे थे और केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर भी भगवान का मौन भंग नहीं हो रहा था। धर्म के नाम पर प्रचारित अनाचार और मूढ़ताओं से मानव ऊबा हुआ था। देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सभी प्राणी चातक के समान भगवान के मुख की ओर निहार रहे थे कि कब कल्याण मार्ग की अमृत वर्षा होती है। यह स्थिति छियासठ दिन तक रही। श्रोता समवसरण में आते और निराश लौट जाते। स्थिति असामान्य थी। सौधर्मेन्द्र को इस स्थिति से चिन्ता हुई। उसने अवधिज्ञान का उपयोग लगाकर ज्ञात किया—भगवान की वाणी झेल सके, ऐसा कोई गणधर जब तक न हो तब तक भगवान की दिव्य ध्वनि कैसे खिरेगी और मुख्य गणधर बनने की पात्रता केवल इन्द्रभूति गौतम में है। वह ब्राह्मण वेद वेदाङ्ग का प्रकाण्ड विद्वान है, किन्तु वह महाभिमानी है। एक बार उसे भगवान के निकट लाना होगा। तभी दिव्य ध्वनि का अवरुद्ध स्रोत प्रवाहित हो सकेगा।

गणधर का समागम

यह विचार करके इन्द्र वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके इन्द्रभूति गौतम के आवासीय गुरुकुल में पहुँचा, जहाँ इन्द्रभूति पांच सौ शिष्यों को शिक्षण देता था। इन्द्र ने जाकर गौतम को आदरपूर्वक नमस्कार किया और बोला—'विद्वन्! मैं आपकी विद्वत्ता की कीर्ति सुनकर आपके पास आया हूँ। मेरे गुरु ने मुझे एक गाथा सिखाई थी। उस गाथा का अर्थ मेरी समझ में अच्छी तरह से नहीं आ रहा है। मेरे गुरु अभी मौन धारण किये हुए हैं। इसलिये आप कृपा करके मुझे उस गाथा का अर्थ समझा दीजिये।

इन्द्रभूति सुनकर बोले—'मैं तुम्हें गाथा का अर्थ इस शर्त पर बता सकता हूँ कि तुम गाथा का अर्थ समझ कर मेरे शिष्य बन जाओगे।'

इन्द्र ने गौतम की शर्त स्वीकार कर ली और उनके समक्ष निम्नलिखित गाथा प्रस्तुत की—

'पंचेव अत्थिकाया छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।
अट्ठय पवयणमादा सहेउओ बंध-मोक्खो य ॥

—षट्खण्डागम पु० ९ पृ० १२९

इन्द्रभूति इस गाथा को पढ़ते ही असमंजस में पड़ गये। उनकी समझ में ही नहीं आया कि पंच अस्तिकाय,

छह जीवनिकाय, आठ प्रवचन मातृका कौन-कौन सी हैं। किन्तु अहंकारवश वे यह बात दूसरे के समक्ष स्वीकार कैसे कर सकते थे। अतः उन्होंने विचार कर उत्तर दिया—तुम मुझे अपने गुरु के पास ले चलो। मैं उन्हीं के सामने तुम्हें इस गाथा का अर्थ समझाऊँगा।

इन्द्र इसीलिये तो आया ही था। वह इन्द्रभूति को लेकर चल दिया। साथ में उनके ५०० शिष्य भी थे। उस समय भगवान राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर समवसरण में विराजमान थे। इन्द्र इन्द्रभूति को लेकर वहाँ पहुँचा, जहाँ समवसरण लगा हुआ था। इन्द्रभूति ने समवसरण के प्रवेश द्वार से जैसे ही प्रवेश किया, उनकी दृष्टि मानस्तम्भ के ऊपर पड़ी। मानोन्नत जनों के मान को गलित करने की अद्भुत क्षमता थी इस मानस्तम्भ में। उन्होंने मानस्तम्भ की ओर क्या देखा, वे देखते ही रह गये, जैसे किसी मोहिनी ने उन्हें कीलित कर दिया हो। प्रतिक्षण उनके भावों में परिवर्तन हो रहा था। उनका ज्ञानमद विगलित होरहा था और क्षण प्रतिक्षण उनके अन्तस् में विनय, विनम्रता और शालीनता पैदा होरही थी। जब उनकी दृष्टि मानस्तम्भ के ऊपर से हटी, तब उनका हृदय विनय से भरा हुआ था। वे आगे बढ़े। उन्होंने समवसरण की विभूति का अवलोकन किया और मन में भक्ति जागृत हुई-धन्य है वह महाभाग, जिसकी विभूति की सीमा नहीं, देव और इन्द्र जिसकी अहर्निश वन्दना करते हैं! कौन है वह चराचर वन्दित, जिसकी महिमा का पार नहीं है। इन्द्रभूति समवसरण की विभूति चारों ओर निहारते हुए विनीत भाव से आगे बढ़े। अब गन्धकुटी में विराजमान भगवान के दर्शन होने लगे। भगवान के दर्शन हुए मानो मन और सम्पूर्ण इन्द्रियों की सम्पूर्ण शक्ति आंखों में आसमायी हो। वे जब भगवान के समक्ष पहुँचे, तब तक इन्द्रभूति गौतम में आसाधारण परिवर्तन दिखाई देने लगा था। वे अहंकारी इन्द्रभूति नहीं रह गये, वरन् वे विनम्र और श्रद्धा की मूर्ति बन गये थे। वे आगे बढ़े और भगवान के सामने जाते ही प्रणिपात करते हुए बोले—'भगवन्! मैं ज्ञान के अहंकार में सज्ज्ञान को भूल गया था। मुझे अपने चरणों में शरण दीजिये और मेरा उद्धार कीजिये।' यह कह कर उन्होंने विधिपूर्वक मुनि-दीक्षा ले ली। दीक्षा लेते ही उन्हें परिणामों की विशुद्धि के कारण आठ ऋद्धियाँ प्राप्त हो गई, चार ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान) प्राप्त हो गये।

गौतम स्वामी द्वारा संयम धारण करते ही भगवान की ६६ दिन से रुकी हुई वाणी-दिव्य ध्वनि प्रकट हुई। भगवान की दिव्यध्वनि में प्रकट हुआ—'गौतम! तुम्हारे मन में शंका है कि जीव है या नहीं? इस विषय को लेकर भगवान की दिव्य ध्वनि में जीवतत्त्व का विस्तृत विवेचन हुआ। महावीर भगवान के उपदेश से उन्हें श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन पूर्वाण्ह काल में समस्त अंगों के अर्थ और पद स्पष्ट जान पड़े। उसी दिन अपराण्ह कालमें अनुक्रम से पूर्वों के अर्थ और पदों का स्पष्ट बोध होगया। बोध होने पर उन्होंने उसी रात्रि के पूर्व भाग में अंगों की और पिछले भाग में पूर्वों की ग्रन्थ रचना की। ये भगवान के प्रथम और मुख्य गणधर बने।

धर्मचक्र प्रवर्तन अथवा तीर्थ स्थापना—षट्खण्डागम भाग १ पृ० ६२-६३ में भगवान महावीर के प्रथम उपदेश को तीर्थ-प्रवर्तन की संज्ञा दी है। इस सिद्धान्त ग्रन्थ का तत्सम्बन्धी अवतरण इस प्रकार है—

इम्मिस्से वसप्पिणीए चउत्थ समयस्स पच्छिमे भाए।
चोतीस वास सेसे किंचि विसेसूणए संते ॥५५॥
वासस्स पढम मासे पढमे पक्खम्मि सावणे बहुले।
पाडिवद पुव्व दिवसे तित्थुप्पत्ती हु अभिजिम्हि ॥५६॥
सावण बहुल पडिवदे रुद्द मुहुत्ते सुहोदार रविणो।
अभिजिस्स पढम जोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वो ॥५७॥

अर्थात् इस अवसर्पिणी कल्पकाल के दुःषमा सुषमा नाम के चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौंतीस वर्ष बाकी रहने पर वर्ष के प्रथम मास अर्थात् श्रावण मास में प्रथम पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष में, प्रतिपदा के दिन प्रातः काल के समय आकाश में अभिजित नक्षत्र के उदित रहने पर धर्म-तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन रुद्र मुहूर्त में सूर्य का शुभ उदय होने पर और अभिजित नक्षत्र के प्रथम योग में जब युग की आदि हुई, तभी तीर्थ की उत्पत्ति समझनी चाहिये।

इस विवरण से मिलता जुलता विवरण धर्मतीर्थ की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तिलोयपण्णत्ती, में इस प्रकार दिया है—

सुरखेयरमणहरणे गुणणामे पंचसेलणयरम्मि।
विपुलम्मि पव्वदवरे वीरजिणो अट्ठकत्तारो ॥१।६५

अर्थात् देव और विद्याधरों के मन को मोहित करने वाले और सार्थक नाम वाले पंचशैलनगर (राजगृह, में पर्वतों में श्रेष्ठ विपुलाचल पर्वत पर श्री वीरजिनेन्द्र अर्थकर्ता हुए।

'एत्थावसप्पिणीए चउत्थकालस्स चरिमभागम्मि।
तेत्तीसवास अडमास पण्णरस दिवससेसम्मि ॥१।६८
वासस्स पढममासे सावणणामम्मि वहुलपडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मि य उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥१।६९

अर्थात् यहां अवसर्पिणी के चतुर्थ काल के अन्तिम भाग में तेंतीस वर्ष आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर प्रथम मास श्रावण में कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित नक्षत्र के उदित रहने पर धर्म तीर्थ की उत्पत्ति हुई।

श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन ही युग का प्रारम्भ हुआ था। यह भी एक संयोग था कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को ही भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि हुई। इस प्रकार धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति या धर्म प्रवर्तन की तिथि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा है।

भगवान महावीर के ११ गणधर थे, जिनके नाम इस प्रकार हैं—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्म, मण्डिकपुत्र, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचलभ्राता, मेनार्य और प्रभास। ये सभी गणधर ब्राह्मण थे, उपाध्याय थे।

भगवान के गणधर

ग्यारह अंग और चौदह पूर्व के ज्ञाता थे। ये वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी थे। सबके समचतुरस्र संस्थान था। गणधर बनने पर सबको आमर्षौषधि आदि आठ लब्धियाँ प्राप्त हो गई थीं और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन चार ज्ञानों की उत्पत्ति होगई थी। ये सभी अपने शिष्य समुदाय के साथ भगवान के निकट दीक्षित हुए थे। इन गणधरों के सम्बन्ध में श्वेताम्बर साहित्य में विस्तृत परिचय मिलता है। संक्षेप में इनके सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य इस प्रकार है—

इन्द्रभूति—माता प्रिथिवी, पिता वसुभूति, गौत्र गौतम। मगध में गोर्वर ग्राम के रहने वाले थे। इनके ५०० शिष्य थे। इनके मन में शंका थी कि जीव है या नहीं। इनकी शंका के समाधान रूप में ही भगवान की प्रथम दिव्यध्वनि खिरी थी। इनकी कुल आयु ९२ वर्ष की थी, जिसमें ५० वर्ष गृहस्थ दशा के, ३० वर्ष छद्मस्थ दशा के और शेष १२ वर्ष केवलज्ञान दशा के थे।

अग्निभूति—माता, पिता, गोत्र और जन्म स्थान इन्द्रभूति के समान। इनके शिष्यों की संख्या ५०० थी। इनके मन में शंका थी कि कर्म हैं या नहीं। ये भगवान के द्वितीय गणधर बने। इनकी कुल आयु ७४ वर्ष की थी, जिसमें ४६ वर्ष गृहस्थ दशा के, १२ वर्ष छद्मस्थ दशा के और १६ वर्ष केवली दशा के थे।

वायुभूति—माता,पिता, गोत्र और स्थान पूर्ववत्। इनके ५०० शिष्य थे। इन्हें सन्देह था कि शरीर और जीव भिन्न-भिन्न नहीं, एक ही हैं। इनकी आयु ७० वर्ष की थी, जिसमें ४२ वर्ष गृहस्थ दशा के, १० वर्ष छद्मस्थ दशा के और १८ वर्ष केवली दशा के थे।

व्यक्त—माता वारुणी, पिता धनमित्र, कोल्लाग सन्निवेश और भारद्वाज गोत्र। इनके ५०० शिष्य थे। इन्हें शंका थी कि पृथ्वी आदि भूत हैं या नहीं। इनकी कुल आयु ८० वर्ष की थी, जिसमें ५० वर्ष गृहस्थ दशा में, १२ वर्ष छद्मस्थ दशा में और १८ वर्ष केवली दशा में व्यतीत किये।

सुधर्म—माता का नाम भद्रिला, पिता धर्मिल, स्थान कोल्लाग सन्निवेश और गोत्र अग्नि वैश्यायन। इनके ५०० शिष्य थे। इन्हें विश्वास था कि जो इस जन्म में जैसा है, वह आगामी जन्म में भी वैसा ही रहेगा। इनकी आयु १०० वर्ष की थी, जिसमें ५० वर्ष गृहस्थ अवस्था के, ४२ वर्ष छद्मस्थ और ८ वर्ष अरहन्त दशा के थे।

मण्डिक पुत्र—माता विजयदेवी, पिता धनदेव, स्थान मौर्य सन्निवेश, वशिष्ठ गोत्र। इन्हें शंका थी कि वन्ध-मोक्ष है या नहीं। इनकी कुल आयु ८३ वर्ष की थी, जिसमें ५३ वर्ष गृहस्थी में बीते, १४ वर्ष छद्मस्थ रहे और १६ वर्ष केवली रहे। इनके शिष्यों की संख्या ४५० थी।

मौर्यपुत्र--माता-पिता, स्थान और गोत्र मण्डिक पुत्र के समान। इन्हें देवों के अस्तित्व में सन्देह था। इनके ४५० शिष्य थे। इनकी आयु ९५ वर्ष की थी, जिसमें ६५ वर्ष गृहस्थी में, १४ वर्ष छद्मस्थ पर्याय में और १६ वर्ष केवली पर्याय में व्यतीत हुए।

अकम्पित--माता का नाम जयन्ती, पिता का नाम देव, जन्म स्थान मिथिला, और गौतम गोत्र। इनके ३०० शिष्य थे। इनके मन में शंका थी कि नारकी हैं या नहीं। इनकी कुल आयु ७८ वर्ष थी, जिसमें ४८ वर्ष गृहस्थ, ९ वर्ष तक छद्मस्थ और २१ वर्ष केवली रहे।

अचलभ्राता—नन्दा माता, वसु पिता, कोशल के रहने वाले और हारीतस गोत्र। इनके कुल ३०० शिष्य थे। पुण्य के बारे में इन्हें सन्देह था। इनकी आयु ७२ वर्ष थी, जिसमें ४६ वर्ष गृहस्थ, १२ वर्ष छद्मस्थ और १४ वर्ष केवली रहे।

मेतार्य—माता वरुण देवता, पिता दत्त, स्थान वत्स जनपद में तुंगिक सन्निवेश और कौण्डिन्य गोत्र। इनके ३०० शिष्य थे। इनके मन में परलोक के सम्बन्ध में संशय था। इनकी आयु ६२ वर्ष की थी, जिसमें ३६ वर्ष गृहस्थ दशा में, १० वर्ष छद्मस्थ दशा में और १६ वर्ष केवली दशा में बिताये।

प्रभास—माता अतिभद्रा, पिता बल, राजगृह निवासी और कौण्डिन्य गोत्र। इनके ३०० शिष्य थे। इन्हें मोक्ष के बारे में शंका थी। इनकी आयु ४० वर्ष की थी, जिसमें १६ वर्ष कुमार काल, ८ वर्ष छद्मस्थ काल और १६ वर्ष केवली दशा का काल था।

इन गणधरों में इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति सहोदर थे। इसी प्रकार मण्डिक पुत्र और मौर्यपुत्र की माता एक थी, किन्तु पिता पृथक् थे। ये सभी केवलज्ञानी बने और अन्त में राजगृह से मुक्त हुए। भगवान महावीर के जीवन काल में ९ गणधर मुक्त हुए और भगवान के निर्वाण-गमन के पश्चात् इन्द्रभूति और सुधर्म मुक्त हुए।

जिस दिन भगवान महावीर को निर्वाण प्राप्त हुआ, उसी दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान हुआ। जिस दिन गौतम गणधर को निर्वाण प्राप्त हुआ, उसी दिन सुधर्म को केवलज्ञान हुआ। जिस दिन सुधर्म मुक्त हुए, उसी दिन जम्बू स्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ। फिर उनके पश्चात् कोई अनुबद्ध केवली नहीं हुआ।

दिगम्बर साहित्य में इन गणधरों के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं होता। किन्तु मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र द्वारा विरचित 'गौतम चरित्र' में गौतम गणधर के जीवन के सम्बन्ध में इस प्रकार विवरण उपलब्ध होता है—

मगध देश में एक ब्राह्मण नगर था। इस नगर में अनेक ब्राह्मण विद्वान निवास करते थे। इसी नगर में सदाचार परायण, बहुश्रुत और सम्पन्न शाण्डिल्य नामक एक ब्राह्मण रहता था। उसके रूप और शील से सम्पन्न स्थण्डिला और केसरी नामक दो पत्नियाँ थीं। एक दिन रात्रि में सोते हुए अन्तिम प्रहर में स्थण्डिला ब्राह्मणी ने शुभ स्वप्न देखे। तभी पाँचवें स्वर्ग से एक देव आयु पूर्ण होने पर माता स्थण्डिला के गर्भ में आया। गर्भावस्था में माता की रुचि धर्म की ओर विशेष बढ़ गई थी।

नौ माह पूर्ण होने पर माता ने एक सुदर्शन पुत्र को जन्म दिया। पुत्र के उत्पन्न होने पर उसके पुण्य का प्रभाव प्रकृति पर भी पड़ा। दिशायें निर्मल हो गईं, सुगन्धित वायु बहने लगी, आकाश में देव लोग जय-जयकार कर रहे थे। पुत्र उत्पन्न होने से ब्राह्मण दम्पति को अपार हर्ष हुआ। शाण्डिल्य ब्राह्मण ने पुत्र-जन्म के हर्ष में याचकों को मनमाना धन दान दिया। निमित्तज्ञ ने पुत्र के ग्रहलग्न देखकर भविष्यवाणी की--'यह बालक बड़ा होने पर समस्त विद्याओं का स्वामी होगा और सारे संसार में इसका यश फैलेगा।

बालक अत्यन्त सुदर्शन था। उसका मुख अत्यन्त तेजस्वी था। माता पिता ने उसका नाम इन्द्रभूति रक्खा।

जब बालक तीन वर्ष का हुआ, माता स्थण्डिला ने द्वितीय पुत्र को जन्म दिया। यह जीव भी पाँचवें स्वर्ग से आया था। यह भी वैसा ही सुन्दर और तेजस्वी था। इस बालक का नाम गार्ग्य रक्खा गया, जो बाद में अग्निभूति के नाम से प्रसिद्ध हुए।

इसके कुछ काल पश्चात् शाण्डिल्य ब्राह्मण की द्वितीय पत्नी केसरी ने वैसे ही तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम भार्गव रक्खा गया। यह भी पाँचवें स्वर्ग से आया था। यह पुत्र बाद में वायुभूति के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

तीनों भाइयों ने समस्त वेद-वेदाङ्ग और सम्पूर्ण विद्याओं का अध्ययन किया और वे उनमें पारंगत हो गये। उन्होंने अपने-अपने गुरुकुल खोल लिये और शिष्यों को पढ़ाने लगे। तीनों के शिष्यों की संख्या पांच-पांच सौ थी। किन्तु इन्द्रभूति में एक दुर्वलता भी थी। उन्हें अपनी विद्वत्ता का बड़ा अभिमान था।

इसके पश्चात् देवराज इन्द्र छद्मरूप धारण करके उन्हें अपने साथ भगवान महावीर के पास ले गया। वहाँ जाकर इन्द्रभूति का मान गलित हो गया और वे भगवान के चरणों में जैनेश्वरी दीक्षा लेकर भगवान के प्रथम और मुख्य गणधर बने, इसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

आर्ष ग्रंथ जयधवला में इन्द्रभूति गौतम गणधर की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए इस प्रकार आचार्य वीरसेन ने बताया है—

दिव्य ध्वनि के सम्बन्ध में विस्तार से बताया है और कहा है कि भगवान की दिव्य ध्वनि बादलों की गर्जना के समान और गम्भीर होती है। दिव्य ध्वनि सुनकर श्रोताओं के मन का मोह और सन्देह दूर हो जाता है। भगवान यद्यपि एक ही भाषा में बोलते हैं, किन्तु भगवान के माहात्म्य के कारण वह १८ महाभाषा और ७०० लघुभाषाओं के रूप में परिणत हो जाती है और प्रत्येक श्रोता उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ लेता है। जैसे जल तो एक ही प्रकार का होता है, किन्तु विभिन्न प्रकार के वृक्षों की जड़ों मे पहुँच कर वृक्ष स्वभाव के अनुसार रसवाला हो जाता है। इसके लिये एक दूसरा उदाहरण भी दिया है। जैसे स्फटिक मणि एक ही प्रकार की होती है किन्तु उसके पास जिस रंग का पदार्थ रख दिया जाता है, वह मणि उस पदार्थ के संयोग से उसी रंग वाली प्रतीत होने लगती है। इसी प्रकार भगवान की दिव्य ध्वनि भी एक प्रकार की होती है, किन्तु श्रोता जिस भाषा को समझता है, दिव्य ध्वनि उसके कानों में उसी भाषा में सुनाई पड़ती है। कुछ लोगों की धारणा है कि देवों द्वारा वह दिव्य ध्वनि सर्व भाषा रूप परिणत की जाती है। किन्तु आचार्य की मान्यता है कि ऐसा मानने पर यह माहात्म्य भगवान का न मानकर देवों का मानना पड़ेगा। कुछ लोग यह भी मानते हैं कि दिव्य ध्वनि अनक्षरी होती है किन्तु अनक्षरी का अर्थ लोक कैसे समझेगा। इसलिये वस्तुतः वह अक्षर रूप ही होती है, अनक्षरी नहीं।

भगवान की दिव्य ध्वनि

जब भगवान की दिव्यध्वनि होती है, उस समय बोलते समय भगवान के मुख पर कुछ भी विकार उत्पन्न नहीं होता। न तो उस समय भगवान के तालु ओठ आदि ही हिलते हैं, न उनके मुख की कान्ति बदलती है। वह बिना किसी प्रयत्न और इच्छा के ही होती है। उसमें अक्षर स्पष्ट होते हैं। जब वह दिव्य ध्वनि भगवान के मुख से निकलती है तो लगता है जैसे किसी पर्वत की गुफा के अग्रभाग से प्रतिध्वनि निकल रही हो[1]।

भगवान महावीर लोकोत्तर महापुरुष थे। उनके व्यक्तित्व और देशना का प्रभाव उस काल में निर्धन से लेकर राजाओं और झोंपड़ो से लेकर राजमहालयों तक समान रूप से पड़ा था। प्रभाव पड़ने का अर्थ था कि वे भगवान के धर्म में दीक्षित हो गये थे। भगवान महावीर के देशना-काल से पूर्व पार्श्वापत्य धर्म का व्यापक प्रचार था। तत्कालीन क्षत्रिय वर्ग और राजन्य वर्ग प्रायः पार्श्वापत्य धर्म का अनुयायी था। भगवान के मातामह और वैशाली के गण प्रमुख महाराज चेटक और कुण्डग्राम के गण प्रमुख और भगवान के पिता महाराज सिद्धार्थ भी पार्श्वापत्य थे। अन्य अनेक राजा भी इस धर्म के अनुयायी थे। किन्तु भगवान महावीर के उपदेश और धर्म-देशना को सुनकर वे सभी महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म में दीक्षित हो गये। पार्श्वापत्य और महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म भिन्न-भिन्न नहीं थे। ऋषभदेव से लेकर तीर्थंकरों की परम्परा द्वारा एक ही धर्म का उपदेश दिया गया। अतः किसी तीर्थंकर ने किसी नवीन धर्म की न तो स्थापना की और न किसी नये सत्य की उद्भावना ही की। दो तीर्थंकरों के अन्तराल काल में धर्म की जो ज्योति धूमिल पड़ गई थी, उसी ज्योति को आगामी तीर्थंकर ने अपने काल में अपने प्रभाव और धर्मोपदेशों से प्रज्वलित और प्रदीप्त किया। पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् महावीर हुए। इस अन्तराल में धर्म के प्रति लोक-रुचि में कुछ ह्रास आना स्वाभाविक था। महावीर ने पुनः धर्म के प्रति लोक-रुचि को जागृत किया। अतएव पार्श्वनाथ और महावीर दोनों एक ही परम्परा के समर्थ महापुरुष और तीर्थंकर थे। इसीलिये यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि महावीर ने किसी नवीन धर्म की स्थापना की।

तत्कालीन राजन्य वर्ग पर भगवान का प्रभाव

श्रेणिक बिम्बसार

राजाओं में भगवान महावीर का सर्वप्रमुख भक्त मगध सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार था।

वह शिशुनागवंशी था। इतिहासकारों ने इस वंश के राजाओं का प्रामाणिक इतिहास दिया है। मि० विन्सैण्ट स्मिथ के अनुसार इस वंश के श्रेणिक से पूर्ववर्ती राजाओं का राज्य-काल कुल मिलाकर १२६ वर्ष होता

---

१. आदि पुराण पर्व २४ श्लोक ८१-८४

है, जबकि पार्जोटर के अनुसार यह काल १३६ वर्ष है। किन्तु इन दोनों मतों के विरुद्ध श्री त्रिभुवनदास ऐल० शाह Ancient India, Vol. I में यह काल २२६ वर्ष बताते हैं। इन्होंने इस वंश के राजाओं का विस्तृत इतिहास और उनकी काल-गणना दी है। आपकी मान्यता का सार इस प्रकार है—

काशी में बृहद्रथ वंश के राजा अश्वसेन राज्य करते थे जो भगवान पार्श्वनाथ के पिता थे। अश्वसेन की मृत्यु के पश्चात् काशी की गद्दी पर शिशुनाग नामक एक क्षत्रिय राजा बैठा। इसी राजा से शिशुनाग वंश चला। मत्स्य पुराण में शिशुनाग वंश के राजाओं का राज्य-काल ३३३ वर्ष बताया है। शिशुनाग वंश के पश्चात् मगध की गद्दी नन्द वंश के राजाओं के अधिकार में आ गई। उनका राज्य-काल १०० वर्ष है।

अश्वसेन इक्ष्वाकुवंशी थे. किन्तु शिशुनाग वैशाली के लिच्छवी[1] सम्वृज्जि वंश का था। शिशुनाग ने काशी के राज्य पर बलात् अधिकार कर लिया। इससे कोशल नरेश वृत्त को बहुत क्षोभ हुआ क्योंकि वह भी इक्ष्वाकुवंशीय था और वंश के नाते काशी पर अपना अधिकार मानता था। उसने काशी के ऊपर कई बार आक्रमण किया, किन्तु शिशुनाग पर विजय प्राप्त नहीं कर पाया। कुछ समय के पश्चात् मगध के मल्ल क्षत्रियों ने शिशुनाग को मगध का शासन सूत्र सम्हालने का अनुरोध किया। तदनुसार शिशुनाग अपने पुत्र काकवर्ण को काशी का शासन सुपुर्द करके मगध चला गया। शिशुनाग की अनुपस्थिति का लाभ उठाकर कोशल नरेश ने काकवर्ण के ऊपर आक्रमण करके काशी के ऊपर अधिकार कर लिया। शिशुनाग को जब इसकी सूचना मिली तो उसने कोशल नरेश के ऊपर भयानक वेग से आक्रमण कर दिया और पुनः काशी पर अधिकार करके उसे मगध राज्य में मिला लिया। शिशुनाग की मृत्यु के पश्चात् इस वंश में काकवर्ण, क्षेमवर्धन और क्षेमजित हुए। फिर प्रसेनजित हुआ। इसके समय में मगध की राजधानी कुशाग्रपुर थी। राजधानी में सभी मकान और महल लकड़ी के बने हुए थे। किन्तु कभी कभी इन मकानों में आग लग जाती थी। इस कठिनाई से परेशान होकर प्रसेनजित ने वैभारगिरि के शिखर के ऊपर एक भव्य प्रासाद बनवाया। प्रजा भी पर्वत के ऊपर भवन बनाकर रहने लगी। किन्तु राजधानी पर्वत के ऊपर होने के कारण व्यापार और यातायात की बड़ी असुविधा होने लगी। तब श्रेणिक ने पहाड़ों की तलहटी में राजगृह नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया।

श्रेणिक को राज्याधिकार किस प्रकार मिला, इसके सम्बन्ध में बड़ा रोचक विवरण मिलता है। प्रसेनजित के बहुत से पुत्र थे। प्रसेनजित ने अपना उत्तराधिकारी निर्वाचित करने के लिये दो उपाय किये। उसने मिठाई से भरी टोकरियाँ और पानी से भरे कच्चे घड़े रखवा दिये। उन सबका मुख बांध दिया गया। तब उसने अपने सब पुत्रों को बुलाया और उनसे टोकरी और घड़े बिना तोड़े या बिना खोले मिठाई खाने और पानी पीने का आदेश दिया। सभी राजकुमार किंकर्तव्यविमूढ़ बने एक दूसरे का मुख देखने लगे। उन्हें कोई उपाय नहीं सूझा। किन्तु श्रेणिक ने पहले टोकरी को खूब हिलाया, जिससे मिठाई टूट गई और छेदों में से टुकड़े निकलकर गिरने लगे। उसने मजे से मिठाई खाई। फिर उसने घड़े के चारों ओर कपड़ा लपेट दिया। जब कपड़ा भीग गया तो उसने एक पात्र में वह निचोड़ लिया। इस प्रकार कई बार करने पर पात्र जल से भर गया। तब उसने जल पीकर अपनी पिपासा शान्त की।

राजा ने दूसरी परीक्षा इस प्रकार ली—उसने राजकुमारों को एक कक्ष में दावत दी। ज्यों ही राजकुमार भोजन करने लगे, तभी उनके ऊपर शिकारी कुत्ते छोड़ दिये गये। राजकुमार अपने प्राण बचाकर भागे, किन्तु श्रेणिक निश्चिन्ततापूर्वक भोजन करता रहा। जब कुत्ते उसकी ओर आते, वह अन्य राजकुमारों की थाली में से भोज्य पदार्थ कुत्तों की ओर फेंक देता। कुत्ते उन्हें खाने लगते। इस प्रकार उदरपूर्ति करके श्रेणिक उठ खड़ा हुआ। राजा उसकी सूझ-बूझ और आपत्तिकाल में भी तत्क्षण बुद्धि को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। वह समझ गया कि यदि श्रेणिक राजा बना तो प्रजा उससे सन्तुष्ट और सुरक्षित रहेगी। इस प्रकार श्रेणिक पिता की मृत्यु के पश्चात् राज्यासीन हुआ।

---

१. The journal of the Orissa Bihar Research Society, Vol. 1. p. 76 तारानाथ नन्द राजाओं को भी इसी वंश का बताते हैं।

दि० जैन शास्त्रों में श्रेणिक का चरित्र अत्यन्त विस्तारपूर्वक प्राप्त होता है। जैन शास्त्रों के अनुसार मगध देश के राजगृह नगर का नरेश उपश्रेणिक था। उसकी रानी का नाम सुप्रभा था। उससे श्रेणिक उत्पन्न हुआ था। निमित्त-ज्ञानियों ने बताया कि जो पुत्र सिंहासन पर बैठकर भेरी बजायगा, कुत्तों को खीर खिलायगा और स्वयं भी खायेगा, वही इस राज्य का उत्तराधिकारी होगा। एक दिन श्रेणिक नें इसी प्रकार किया। राजा को विश्वास होगया कि मेरा यही पुत्र मेरा उत्तराधिकारी बनेगा। किन्तु इसके अन्य भाई इसका कोई अनिष्ट न करदें, इस भय से और इसकी सुरक्षा की दृष्टि से राजा ने अपमानित करके श्रेणिक को राज्य से निकाल दिया। श्रेणिक अनेक नगरों में भ्रमण करता रहा। इस प्रवास में कांचीपुर नरेश वसुपाल की पुत्री वसुमित्रा, और राजा के मंत्री सोमशर्मा की पुत्री अभयमती के साथ उसने विवाह किया। अभयमती से अभयकुमार नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

पिता ने संसार से विरक्त होकर मुनि-दीक्षा ले ली और अपने पुत्र चिलात को राज्य सौंप दिया। चिलात ने राज्य पाकर प्रजा के ऊपर अत्याचार करना आरम्भ कर दिया। इससे प्रजा में घोर असन्तोष व्याप्त होगया। यह देखकर मंत्रियों ने श्रेणिक के पास कांचीपुर समाचार भेजा और शीघ्र आकर राज्य भार ग्रहण करने का अनुरोध किया। समाचार पाकर श्रेणिक तुरन्त राजगृह पहुँचा और चिलात को हटाकर शासन सूत्र ग्रहण किया। इसके पश्चात् वैशाली के गण प्रमुख महाराज चेटक की पुत्री चेलना कुमारी के साथ अभयकुमार के बुद्धि कौशल द्वारा श्रेणिक का विवाह सम्पन्न हुआ। चेलना जैनधर्मानुयायी थी और श्रेणिक के ऊपर बुद्ध का प्रभाव था, किन्तु चेलना के प्रयत्न से श्रेणिक भी जैनधर्मानुयायी बन गया। चेलना के दो पुत्र हुए—वारिषेण और कुणिक।

श्रेणिक जिस घटना के कारण जैन धर्म के प्रति श्रद्धानी बना, वह कथा अत्यन्त रोचक है। एक बार श्रेणिक शिकार खेलने वन में गया। वहाँ ध्यानस्थित यमधर मुनि को देखकर उसे बड़ा क्रोध आया। वह सोचने लगा— इसने अपशकुन कर दिया है, जिससे मुझे कोई शिकार नहीं मिला। क्रोध में भरकर उसने पांच सौ शिकारी कुत्ते मुनि के ऊपर छोड़ दिये। किन्तु मुनि के तप के प्रभाव से वे कुत्ते मुनि के समीप पहुँचकर शान्त हो गये और मुनि की तीन प्रदक्षिणा देकर मुनि के समीप बैठ गये। यह दृश्य देखकर तो राजा को मुनि के ऊपर और भी अधिक क्रोध आया। उसने मुनि को लक्ष्य करके बाण चलाये, किन्तु वे पुष्पमाल बन गये और मुनि के चरणों में आ गिरे। राजा के मन में उस समय इतनी तीव्र कषाय थी कि उसने उसी समय सप्तम नरक गति का और उत्कृष्टतम तेतीस सागर की आयु का बंध कर लिया। किन्तु श्रेणिक के मन पर मुनि के तप, साधना और अतिशय का स्वत: ऐसा अद्भुत प्रभाव पड़ा कि वह भक्ति से मुनि की प्रदक्षिणा देकर और उनके चरणों की वन्दना करके मुनि के निकट बैठ गया। दयालु मुनि ने ध्यान समाप्त करके राजा को जैन धर्म का उपदेश दिया जिसे सुनकर श्रेणिक नरेश के मन में जैन धर्म के प्रति निर्मल और प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न हो गई और क्षायिक सम्यग्दर्शन हो गया। सम्यग्दर्शन के कारण श्रेणिक का नरक गति का बन्ध सप्तम नरक के स्थान पर प्रथम नरक का रह गया और तेतीस सागर की आयु के स्थान में चौरासी हजार वर्ष की आयु रह गई। इसके पश्चात् वह भगवान महावीर का अनन्य भक्त बन गया। यद्यपि वह कभी-कभी गृध्रकूट पर्वत पर म० बुद्ध के पास भी जाता था, ऐसे कुछ उल्लेख बौद्ध शास्त्रों में उपलब्ध होते हैं किन्तु ऐसा वह राजनयिक कारणों से करता था, जिससे बौद्ध जगत की सहानुभूति और समर्थन प्राप्त कर सके। वह भक्तिवश ऐसा नहीं करता था।

जब भगवान महावीर का पदार्पण राजगृह में विपुलाचल पर होता था, तब वह भगवान के दर्शन करने अवश्य जाता था। जैन शास्त्रों में वह विपुलाचल पर भगवान के समवसरण में प्रधान श्रोता बताया गया है तथा दिगम्बर परम्परा में भगवान के मुख्य गणधर गौतम स्वामी से उसने अनेक तत्व सम्बन्धी प्रश्न किये हैं। जैन शास्त्रों के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि गौतम स्वामी ने जैन तत्व ज्ञान और कथानकों का निरूपण श्रेणिक की जिज्ञासा के समाधान स्वरूप ही किया है। यहाँ तक कि जैन शास्त्रों में उसे अवसर्पिणी काल का भावी प्रथम तीर्थंकर बताया है, जिसका नाम पद्मनाभ होगा।

भगवान महावीर का प्रभाव न केवल श्रेणिक के ऊपर ही था, अपितु उसका सारा परिवार भी भगवान का अनन्य भक्त था। श्रेणिक के पुत्र वारिषेण, चिलात और अभयकुमार तथा महादेवी चेलना भगवान की भक्त थी

और इन सबने भगवान के पास यथा-समय जिन-दीक्षा लेकर आत्म कल्याण किया।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में श्रेणिक की अनेक रानियाँ और पुत्र बताये हैं। अन्तगड दशाङ्ग भाग-२ अध्याय १३ में बताया है कि श्रेणिक की १३ रानियाँ अपने पति की आज्ञा लेकर जैन आर्यिका बन गईं। उनके नाम इस प्रकार थे—नन्दा, नन्दमती, नन्दोत्तरा, नन्दसेना, मरुया, सुमरुया, महामरुया, मरुदेवा, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमना और भूतदत्ता। इसी ग्रन्थ के राग ३ अध्याय १० में बताया है कि निम्नलिखित १० रानियाँ श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् जैन साध्वी हो गईं—काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, पितृसेन कृष्णा और महासेन कृष्णा।

भगवती सूत्र, कल्पसूत्र, आदि अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि श्रेणिक की यों तो अनेक रानियाँ थीं; किन्तु उनमें मुख्य रानियों में सुनन्दा, धारिणी, चेलना और कोशल देवी के नाम उल्लेखनीय थे। इसी प्रकार इनके पुत्रों में अभयकुमार, मेघकुमार, कुणिक (अजातशत्रु), हल्ल, विहल्ल, नन्दिषेण मुख्य थे। ये सभी रानियां और पुत्र (अजातशत्रु को छोड़कर) भगवान महावीर के समीप दीक्षित हो गये थे।

बौद्ध शास्त्रों में 'महावग्ग' के अनुसार श्रेणिक की ५०० रानियाँ थीं, किन्तु केवल क्षेमा नामक एक रानी के बौद्ध भिक्षुणी बनने का उल्लेख है।

इस सब विवरण से ज्ञात होता है कि राजगृह के राजपरिवार पर भगवान महावीर का महान प्रभाव था और उस राज परिवार के सभी स्त्री और पुरुष महावीर के अनुयायी थे।

वैशाली का राजपरिवार

उस काल में वैशाली गणतंत्र अत्यन्त समृद्ध था। राजनैतिक दृष्टि से समस्त भारत में उसका महत्वपूर्ण स्थान था। वैशाली गणतंत्र के गणप्रमुख का नाम चेटक था। उनके सात पुत्रियाँ और दस पुत्र थे। चेटक के माता-पिता का नाम यशोमति और केक था। उनकी पुत्रियों के नाम इस प्रकार थे—प्रियकारिणी (त्रिशला), सुप्रभा, प्रभावती, प्रियावती, (सिप्रादेवी) सुज्येष्ठा, चेलना और चन्दना। दस पुत्रों में एक सिंहभद्र नामक पुत्र था, जो अपनी वीरता और योग्यता के कारण वैशाली गणतंत्र की सेना का सेनाध्यक्ष था। इस परिवार का धर्म क्या था, इसका न केवल जैन शास्त्र, बल्कि बौद्ध ग्रन्थ एक ही उत्तर देते हैं कि यह परिवार निर्ग्रन्थों का भक्त था और जैन धर्म का अनुयायी था। जैन शास्त्रों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि महाराज चेटक पार्श्वापत्य धर्म को मानते थे। उनकी प्रतिज्ञा थी कि मैं अपनी पुत्रियों का विवाह जैन के अतिरिक्त अन्य किसी व्यक्ति के साथ नहीं करूंगा। अपनी इस प्रतिज्ञा का पालन उन्होंने पूर्णतः किया। उन्होंने अपनी बड़ी पुत्री प्रियकारिणी का विवाह कुण्डग्राम के राजा सिद्धार्थ के साथ किया, प्रभावती सिन्धु-सौवीर के राजा उदायन के लिए दी, सिप्रादेवी (अपर नाम मृगावती) वत्स नरेश शतानीक के साथ विवाही गई तथा सुप्रभा कहीं-कहीं इसका नाम शिवादेवी भी मिलता है दशार्ण देश के हेमकच्छ के नरेश दशरथ को दी गई। इसका अर्थ यह है कि ये चारों राजा जैन थे और भगवान महावीर के अनुयायी थे। चूंकि श्रेणिक उस समय बौद्ध धर्म का अनुयायी था, अतः महाराज चेटक ने चेलना का विवाह उनके साथ नहीं किया। बाद में श्रेणिक के पुत्र अभय कुमार की योजना से चेलना गुप्त रीति से गुप्त मार्ग द्वारा राजगृही पहुँची और उसका विवाह श्रेणिक के साथ हो गया। किन्तु चेलना की बुद्धिमानी से श्रेणिक जैन धर्मानुयायी हो गया और भगवान महावीर का भक्त बन गया। शेष दो पुत्रियाँ-ज्येष्ठा और चन्दना भगवान के पास दीक्षित हो गईं।

आया। दिगम्बर परम्परा में भगवान के माता और पिता की दीक्षा अथवा मृत्यु का भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

उदायन

सिन्धु-सौवीर नरेश उदायन के साथ प्रभावती का विवाह हुआ था। उसकी राजधानी वीतभयपट्टन थी। प्रभावती प्रतिदिन जीवन्त स्वामी की प्रतिमा की पूजा किया करती थी। जब उसे अपनी आसन्न मृत्यु के बारे में निश्चय हो गया तो उसने वह प्रतिमा अपनी एक प्रिय दासी को सौंप दी और वह आर्यिका वन गई। एक दिन गान्धार से एक व्यापारी सिन्धु देश आया। वहाँ आकर वह बीमार पड़ गया। उसका उपचार उस दासी ने किया, जिससे प्रसन्न होकर उस व्यापारी ने कुछ अद्भुत गोलियाँ दीं। एक गोली खाते ही वह अनिन्द्य सुन्दरी वन गई। जब उसने दूसरी गोली खाई तो एक देवी उसके समक्ष प्रकट हुई और बोली—पुत्री ! बता, तेरी क्या इच्छा है। दासी बोली—आप मेरे उपयुक्त कोई पति तलाश कर दीजिये। देवी बोली—तेरा विवाह अवन्ती नरेश चण्डप्रद्योत के साथ होगा। यथासमय चण्ड प्रद्योत आया और वह अपने हाथी अनलगिरि पर बैठा कर उस दासी तथा उस मूर्ति को ले गया। कुछ दिनों पश्चात् यह समाचार राजा उदायन को ज्ञात हुआ। उसने चण्ड प्रद्योत को दासी और मूर्ति वापिस देने का सन्देश भेजा किन्तु उसने देने से इनकार कर दिया। इस उत्तर से क्रुद्ध होकर उदायन ने अवन्ती पर आक्रमण करके चण्ड प्रद्योत को पराजित कर दिया। चण्ड प्रद्योत वन्दी बना लिया गया। दासी भागने में सफल होगई किन्तु मर गई। उदायन ने मूर्ति को ले जाना चाहा, किन्तु वह वहाँ से हिली तक नहीं। तभी प्रभावती जो देवी बनी थी, राजा के समक्ष प्रगट हुई और बोली—'राजन् !' इस मूर्ति को पट्टन ले जाने का प्रयत्न छोड़ दो क्योंकि तुम्हारी राजधानी तूफान में नष्ट होने वाली है।

उदायन चण्डप्रद्योत को वन्दी बनाकर अपने साथ लेगया। उसने चण्ड के माथे पर एक स्वर्ण पत्र बाँध दिया जिसपर अंकित था—मम दासीपतिः। मार्ग में दशपुर में सेना ने पड़ाव डाला। उस दिन पर्यूषण पर्व था। उदायन ने रसोइया को बुलाकर कहा—'पर्यूषण के कारण आज मेरा उपवास है। तुम चण्ड प्रद्योत से पूछ लो, वे क्या भोजन करेंगे।' रसोइया ने जाकर यह वात चण्ड प्रद्योत को बताई। उसके मन में सन्देह उत्पन्न होगया कि कहीं यह कोई कुटिल चाल तो नहीं है। मेरे भोजन में विष मिलाकर कहीं मुझे मारना तो नहीं चाहता। यह सोचकर वह बोला —'मैं भी जैन हूँ। आज मेरा भी उपवास है।' रसोइया ने यह समाचार राजा उदायन को दिया। सुनते ही वह चण्ड प्रद्योत के निकट आया और अपने दुर्व्यवहार के लिए क्षमा मागते हुए बोला—'बन्धुवर ! मैं अपने कृत्य पर लज्जित हूँ। मुझे ज्ञात नहीं था कि तुम तो मेरे धर्म-बन्धु हो।' यह कहकर उसने चण्ड प्रद्योत को आदरपूर्वक मुक्त कर दिया और वीतभय पट्टन लौट गया।

इस घटना से ज्ञात होता है कि राजा उदायन एक कट्टर जैन श्रावक था। रत्नकरण्ड श्रावकाचार तथा कथाकोषों में सम्यग्दर्शन के तृतीय अंग निर्विचिकित्सा अंग के उदाहरण में उदायन का नाम दिया है। एक देव उनकी परीक्षा लेने दिगम्बर मुनि का वेष बनाकर आया। राजा उदायन और रानी प्रभावती ने उन्हें भक्तिपूर्वक आहार दिया। तभी मुनिवेषधारी देव ने उनके ऊपर वमन कर दिया। किन्तु राजदम्पति ने कोई ग्लानि नहीं की बल्कि अपना अशुभोदय समझकर मुनि की वैयावृत्य की। देव ने प्रगट होकर उनके सम्यग्दर्शन की वड़ी प्रशंसा की।

शतानीक

वत्सनरेश शतानीक के साथ सिप्रादेवी (मृगावती) का विवाह हुआ था। उसकी राजधानी कौशाम्बी थी। शतानीक ललितकला का शौकीन था। उसके दरबार में उसका एक कृपापात्र चित्रकार रहता था। किसी कारणवश शतानीक ने अप्रसन्न होकर उसे निकाल दिया। चित्रकार के मन में प्रतिशोध की आग जलने लगी। उसने महारानी मृगावती का एक सुन्दर चित्र बनाया और जाकर अवन्ती नरेश चण्ड प्रद्योत को भेंट किया। प्रद्योत उसे देखते ही मृगावती पर मोहित हो गया। उसने शतानीक को सन्देश भेजा—तुम या तो मृगावती को मुझे सौंप दो अन्यथा युद्ध के लिए तैयार होजाओ। शतानीक ने युद्ध करना पसन्द किया। दोनों नरेशों में युद्ध हुआ। इसी युद्ध के दौरान किसी

रोग या घटना में शतानीक की मृत्यु होगई। उस समय शतानीक का पुत्र उदयन केवल ६-७ वर्ष का था। शतानीक की मृत्यु होने पर चण्ड प्रद्योत उस समय तो लौट गया किन्तु कुछ माह बाद वह फिर कौशाम्बी पर चढ़ दौड़ा। उसने मृगावती के पास सन्देश भेजा—या तो मेरी इच्छा पूरी करो, अन्यथा युद्ध के लिये तैयार हो जाओ। मृगावती बड़ी समझदार थी। उसने उत्तर दिया—'मुझे आपका आदेश स्वीकार है, किन्तु उदयन अभी निरा बालक ही है। वह कुछ बड़ा हो जाय और आपके हाथों उसका राज्याभिषेक हो जाय, तब तक आप प्रतीक्षा करें।' चण्ड प्रद्योत ने यह शर्त स्वीकार कर ली।

इस अवसर का लाभ मृगावती ने युद्ध की तैयारी के लिए उठाया। उसने इस अवधि में दुर्ग, खाई और प्राचीर बनवाये। उदयन अब तेरह वर्ष का हो गया था। मृगावती उसका राज्याभिषेक करने की तैयारी करने लगी। तभी चरों द्वारा चण्ड प्रद्योत को मृगावती की युद्ध सम्बन्धी तैयारियों का पता लगा। वह क्रोध से आग बबूला हो गया। उसने विशाल सेना लेकर कौशाम्बी को घेर लिया। मृगावती ने नगर के सभी फाटक बन्द करा दिये। तभी कौशाम्बी में भगवान महावीर का पदार्पण हुआ। उनके उपदेश से चण्ड प्रद्योत युद्ध से विरत हो गया। इतना ही नहीं, उसने अपने हाथों से उदयन का राज्याभिषेक किया। इसके पश्चात् मृगावती भगवान के संघ में आर्यिका बन गई।

कुछ वर्ष पश्चात् उदयन ने कौशल से चण्ड प्रद्योत की राजकुमारी वासवदत्ता के साथ विवाह किया। उदयन ललित कलाओं—विशेषत: वीणावादन में उस युग का सर्वश्रेष्ठ निपुण व्यक्ति माना जाता था। किन्तु दुर्भाग्य से उसके कोई सन्तान नहीं थी। वह अपना अधिकांश समय धर्माराधना में व्यतीत किया करता था। एक बार उसने किसी सेवक की उसके अपराध के लिए कड़ी भर्त्सना की। इस अपमान से क्षुब्ध होकर सेवक प्रतिशोध लेने की भावना से अवन्ती चला गया और छद्मरूप से जैन मुनि बन गया। कुछ दिन पश्चात् वह अपने गुरु के साथ विहार करता हुआ कौशाम्बी आया। दोनों मुनि जिनालय में ठहरे। एक दिन उदयन प्रोषधोपवास का नियम लेकर जिनालय में अपना समय धार्मिक अनुष्ठान में व्यतीत करने के लिए ठहरा। जब उदयन और गुरु दोनों सोरहे थे, उस मायावी साधु ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए अवसर उपयुक्त समझा और उसने सोते हुए राजा को छुरा घोंप कर हत्या कर दी। हत्या करके वह तो भाग गया। जब गुरु की नींद खुली और राजा को मृत पड़ा हुआ देखा तो लोक-निन्दा के भय से उन्होंने उसी छुरे से आत्म-हत्या कर ली।[1]

इस प्रकार तथ्यों के प्रकाश में यह सिद्ध होता है कि कौशाम्बी का राजपरिवार भगवान महावीर का कट्टर भक्त था।

दशरथ

चेटक ने अपनी एक पुत्री सुप्रभा का विवाह दशार्ण देश के नरेश दशरथ के साथ किया था। इससे यह तो प्रगट ही है कि वह नरेश जैन था और महावीर का भक्त था, किन्तु तत्कालीन राजनीति में उसका क्या योगदान था अथवा राजनैतिक जगत में उसकी क्या स्थिति थी, इतिहास ग्रन्थों से यह ज्ञात नहीं होता।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में इस पुत्री का नाम शिवादेवी दिया है और उसका विवाह अवन्ती नरेश चण्ड प्रद्योत के साथ हुआ बताया है। चण्ड प्रद्योत उस युग का प्रचण्ड और शक्तिशाली नरेश था। कल्पसूत्र में उल्लेख मिलता है कि उसने अपने शौर्य द्वारा चौदह राजाओं को अपने आधीन बनाया था। एक बार अवन्ती में भयानक अग्नि का प्रकोप हुआ, किन्तु शिवादेवी ने अपने शील के माहात्म्य से उसे बुझा दिया था। संभवत: प्रद्योत अपने प्रारम्भिक जीवन में तापसों का अनुयायी था, किन्तु सिन्धु-सौवीर नरेश द्वारा क्षमा प्रदान करने पर वह कट्टर जैन बन गया था। प्रद्योत तो वस्तुत: वंश का नाम था, उसका नाम तो महासेन था और अपनी प्रचण्डता के कारण वह चण्ड प्रद्योत कहलाने लगा था। उसने अपने जीवन में दो काम इतने अविवेकपूर्ण किये, जिनके कारण उसे अपयश का भागी

---

१. Ancient India, Vol, 1 p, 116 by Tribhuban, L, Shah,

बनना पड़ा। एक तो सिन्धु-सौवीर के वीतभयपट्टन से जीवन्त स्वामी की प्रतिमा का अपहरण, जिसके कारण उसे बन्दी बनना पड़ा और सिर पर 'मम दासीपतिः, इस लेख से अंकित स्वर्णपत्र लगाना पड़ा। दूसरा अविवेकपूर्ण कार्य मृगावती के शील हरण का प्रयत्न। जिसका परिणाम यह हुआ कि भगवान महावीर के उपदेश से उसे न केवल अपने कुटिल इरादों को छोड़ना पड़ा, वरन् अपने हाथों से मृगावती के पुत्र उदयन को राजमुकुट पहनाना पड़ा। इतना ही नहीं, उसके कुत्सित इरादों से क्षुब्ध होकर उसकी शिवादेवी आदि आठों रानियाँ महावीर भगवान के चरणसान्निध्य में आर्यिका बन गईं और मृगावती ने भी दीक्षा ले ली। उदयन ने भी अपनी माता के अपमान का भयानक प्रतिशोध लिया। उसने चण्ड प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता के साथ गुप्तरीति से विवाह करके उसका अपहरण कर लिया। यदि चण्ड प्रद्योत अपने जीवन में ये अविवेकपूर्ण कार्य न करता तो सम्भवतः इतिहास में उसका गौरवपूर्ण स्थान होता।

संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार कवि भास ने चण्ड प्रद्योत की महारानी मृगावती को वैदेही कहा है क्योंकि वह विदेह की राजकन्या थी।

चण्ड प्रद्योत ने अवन्ती पर ४८ वर्ष तक शासन किया। उसकी मृत्यु उसी दिन हुई, जिस दिन भगवान महावीर का निर्वाण हुआ और उसी दिन अवन्ती के राजसिंहासन पर पालक राज्यासीन हुआ। वह चण्ड के दो अनुजों में छोटा था। चूँकि बड़ा भाई गोपाल जैन साधु हो गया था, अतः पालक राजा बना।

जीवन्धरकुमार

हेमांगद देश के राजपुर नगर के नरेश जीवन्धरकुमार जैन धर्मानुयायी थे। एक बार विहार करते हुए भगवान महावीर वहाँ के सुरमलय नामक उद्यान में पधारे। जीवन्धरकुमार सपरिवार भगवान के दर्शनों के लिए गये। वहाँ भगवान का कल्याणकारी उपदेश सुनकर उन्हें भोगों से अरुचि हो गई और वे भगवान के समीप मुनि बन गये। उनके साथ उनके भाई नन्दाढ्य, मधुर आदि ने भी दीक्षा ले ली। जीवन्धर की माता विजया तथा उनकी आठों रानियाँ चन्दना के पास आर्यिका बन गईं। भगवान के मोक्ष प्राप्त कर लेने के बाद मुनि जीवन्धर विपुलाचल पर पहुँचे। वहाँ समस्त कर्मों का नाश करके वे भी मुक्त हो गये। इस प्रकार सुदूर हेमांगद देश (वर्तमान कर्नाटक) का राज परिवार भी भगवान का भक्त था।

उपर्युक्त राजाओं के अतिरिक्त अन्य प्रदेशों और नगरों के अनेक नरेश समय-समय पर भगवान महावीर का उपदेश सुनने के लिये आते थे। अनेक राजपरिवारों में जैनधर्म कुलधर्म था। अंग, वंग, कलिंग, मगध, वत्स, काशी, कोशल, अवन्ती, शूरसेन, नागपुर, अहिच्छत्र, सुदूर-सिन्धु-सौवीर, चेर, पाण्ड्य आदि अनेक देशों के राजा भगवान के भक्त थे। वज्जि संघ, मल्ल संघ, काशी-कोल संघ, यौधेय आदि गणतंत्रों में महावीर की मान्यता सर्वाधिक थी। भगवान का निर्वाण होने के समय इन गणसंघों के प्रतिनिधि पावा में एकत्रित हुए थे और उन्होंने अपने गणसंघों की ओर से भगवान का निर्वाण महोत्सव मनाया था।

अन्य नरेश-गण

भगवान जब श्रावस्ती पधारे थे, तब वहाँ के राजा प्रसेनजित ने भगवान का पाद-वन्दन किया था और उसकी महारानी मल्लिका ने एक सभागृह बनवाया था, जिसमें तत्वचर्चा होती रहती थी।

पोलाशपुर में जब भगवान का पदार्पण हुआ, तब वहाँ के राजा विजयसेन ने समवसरण में भगवान का उपदेश श्रवण किया था और भगवान की बड़ी भक्ति की थी। राजकुमार ऐमत्त तो भगवान का उपदेश सुनकर मुनि बन गया था।

चम्पा नरेश कुणिक अजातशत्रु (श्रेणिक बिम्बसार का पुत्र) भगवान के चम्पा में पधारने पर नंगे पैरों और राजचिन्हों से रहित होकर भगवान की अभ्यर्थना करने नगर के बाहर गया था। जब तक भगवान का समव-

सरण वहाँ रहा, वह नियमित रूप से भगवान का उपदेश सुनने जाता रहा और जब भगवान का विहार हुआ तो वह कौशाम्बी तक भगवान के साथ गया।

काशी नरेश जितशत्रु ने वाराणसी पधारने पर भगवान की बड़ी भक्ति की थी और राजकुमारी मुण्डिका ने श्राविका के व्रत ग्रहण किये।

भगवान जब कलिंग पधारे तो वहाँ के नरेश जितशत्रु ने बड़ा आनन्दोत्सव मनाया और वह कुमारी पर्वत पर भगवान के निकट मुनि-दीक्षा लेकर अन्त में मुक्त हुआ। उसकी पुत्री राजकुमारी यशोदा ने भी चन्दना के निकट आर्यिका के व्रत ग्रहण किये। जब भगवान का विहार पोदनपुर की ओर हुआ, तब वहाँ का राजा विद्रदाज भगवान का भक्त बन गया।

भगवान शूरसैन देश में पधारे। मथुरा में भगवान का समवसरण था। वहाँ का राजा उदितोदय भगवान का उपदेश सुनकर उनका भक्त बन गया।

काम्पिल्य नरेश जय भगवान के पधारने पर उनके निकट निर्ग्रन्थ मुनि बन गया और प्रत्येक बुद्ध हुआ।

महावीर का लोकव्यापी प्रभाव—भगवान महावीर के धर्म-विहार और प्रभाव का प्रामाणिक इतिहास मिलता है। आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण' में इस इतिहास पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है। हरिवंश पुराण में वर्णित यह इतिहास प्रामाणिक तो है ही, उससे भारत के सभी भागों में भगवान महावीर के अलौकिक प्रभाव-विस्तार पर भी अधिकृत प्रकाश पड़ता है। उसका सार इस प्रकार है—

राजा श्रेणिक प्रतिदिन तीर्थंकर भगवान की सेवा करता था। वह गौतम गणधर को पाकर उनके उपदेश से सब अनुयोगों में निष्णात हो गया था। उसने राजगृह नगर को जिन मन्दिरों से व्याप्त कर दिया था। राजा के भक्त सामन्त, महामंत्री, पुरोहित तथा प्रजा के अन्य लोगों ने समस्त मगध देश को जिनमन्दिरों से युक्त कर दिया। वहाँ नगर, ग्राम, घोष, पर्वतों के अग्रभाग, नदियों के तट और वनों के अन्तः प्रदेशों में सर्वत्र जिनमन्दिर ही जिनमंदिर दिखाई देते थे। इस प्रकार वर्धमान जिनेन्द्र ने पूर्वदेश की प्रजा के साथ-साथ मगध देश की प्रजा को प्रबुद्ध कर विशाल मध्यदेश की ओर गमन किया। मध्य देश में धर्म तीर्थ की प्रवृत्ति होने पर समस्त देशों में धर्म विषयक अज्ञान दूर हो गया। जिस प्रकार भगवान ऋषभदेव ने अनेक देशों में विहार कर उन्हें धर्म से युक्त किया था, उसी प्रकार भगवान महावीर ने भी वैभव के साथ विहार कर मध्य के काशी, कोशल, कुसन्ध्य, अस्वष्ट, साल्व, त्रिगर्त, पंचाल, भद्रकार, पटच्चर, मौक, मत्स्य, कनीय, सूरसेन और वृकार्थक, समुद्र तट के कलिंग, कुरुजांगल, कैकेय, आत्रेय, कम्बोज, वाल्हीक, यवन, सिन्ध, गान्धार, सौवीर, सूर, भीरु, दरौरुक, वाडवान, भरद्वाज और क्वाथतोय तथा उत्तर दिशा के तार्ण, कार्ण और प्रच्छाल आदि देशों को धर्म से युक्त किया।

भगवान महावीर के धर्म विहार के इस व्यवस्थित और प्रामाणिक इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान महावीर ने भारत के अनेक प्रदेशों में विहार किया था। उन्होंने जहाँ-जहाँ विहार किया था, वहाँ जैन धर्म के मानने वालों की संख्या बहुत हो गई। भगवान के धर्मोपदेश का परिणाम बहुमुखी था। सर्वसाधारण के मानस में हिंसा के प्रति संस्कार बद्धमूल हो गये थे, धार्मिक क्षेत्र में हिंसामूलक क्रियाकाण्डों को अभ्युदय और निःश्रेयस के लिए अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार कर लिया गया था, उनके प्रति जनमानस में वितृष्णा और क्षोभ उत्पन्न हो गया। लोक मानस में एक अद्भुत उद्वेलन उत्पन्न हो गया। यह एक असाधारण उपलब्धि थी। उस स्थिति की कल्पना करें, जब देश के बहुसंख्यक वर्ग का यह विश्वास था कि हिंसामूलक यज्ञ यागादि से सभी प्रकार की इह-लौकिक कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। मंत्रों के अधिष्ठाता देव इन्द्र, वरुण, रुद्र, अग्नि, वायु आदि आलंभन द्वारा ही प्रसन्न हो सकते हैं। उसका यह विश्वास एक-बारगी ही हिल गया, जब महावीर की समर्थ वाणी 'सत्त्वेषु, मैत्री' की उद्घोषणा करती हुई सारे देश और विदेशों में गूंज उठी। समस्त जनता के एकमात्र विश्वास को तात्कालिक ढंग से एक साथ किसी ने परिवर्तित कर दिया हो, संसार में ऐसे उदाहरण प्रायः मिलते नहीं। विश्वास भी वह जो बहुसंख्यक समर्थ सम्प्रदाय का हो। उस विश्वास के विरुद्ध उठी आवाज उस सम्प्रदाय के विरुद्ध उठी आवाज मान ली जाती है। किन्तु महावीर ने किसी का विरोध नहीं किया। उन्होंने कोई बात निषेधात्मक अथवा विरोधात्मक

नहीं कही। विरोध से विरोध उत्पन्न होता है। विरोध कषाय में से निपजता है और उससे फिर कषाय निपजती है। महावीर तो विरोधों में समन्वय का अमृत तत्व लेकर आये। विरोध आये और वे समन्वय के चरणों में झुक गये। जिसके मन में सम्पूर्ण मानव समाज, मानव ही क्यों, विश्व के प्राणीमात्र की मंगल कामना हो, कल्याण-कामना हो, उसका विरोध ही क्यों होगा। जिसने निजता का सर्वथा त्याग कर दिया, उसकी निजता की परिधि असीम अनन्त बन जाती है। जिसके भीतर और बाहर ग्रन्थि नहीं रही, उसका भीतर और बाहर स्वच्छ और निर्मल होता है, उसकी अहंता और ममता निःशेष हो जाती है, वही तो निर्ग्रन्थ कहलाता है। महावीर ऐसे ही निर्ग्रन्थ थे, निर्ग्रन्थ ही नहीं, महा निर्ग्रन्थ थे। वे जो कहते थे, किसी विशेष जाति, वर्ग, वर्ण, देश, काल और प्राणी के लिए नहीं कहते थे। वे सबके लिये, सबके हित के लिये, सबके सुख के लिए कहते थे, सबकी भाषा में कहते थे, सबके बीच में बैठकर कहते थे। इसलिए उनके निकट सब पहुँचते थे, उनकी बात सब सुनते थे, सब समझते थे और सुनकर सब मानते थे।

अहिंसा माने आत्मौपम्य दर्शन अर्थात् तुम्हारी आत्मा में जो अमृतत्व की शक्ति छिपी है, तुम्हारी आत्मा को सुख-दुःख की जो अनुभूति होती है, वही शक्ति दूसरी आत्मा में भी छिपी हुई है, दूसरी आत्मा को सुख-दुःख की वैसी ही अनुभूति होती है। वह शक्ति एक आत्मा अपने भीतर से प्रगट कर सकती है, तो दूसरी आत्मा भी अपने भीतर की उस शक्ति को प्रगट कर सकती है और इस तरह सभी आत्मायें उस शक्ति को प्रगट कर सकती हैं। शुद्ध संकल्प की आवश्यकता है। इस स्वावलम्बी संकल्प में किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा कहाँ ठहरती है। हमारी शक्ति हमारे ही प्रबल पुरुषार्थ द्वारा जागेगी। स्वावलम्बन के इस तत्त्व से ही स्वाधीनता की उपलब्धि हो सकती है। स्वाधीनता का यही मूल तत्व, स्वावलम्बन का यही तत्व दर्शन महावीर के उपदेशों का सारतत्व था। जिसे अमृतत्व की उस शक्ति को उजागर करना है, वह दूसरों का विरोध क्यों करेगा। उसकी तो जीवन-दृष्टि में ही आमूल परिवर्तन आ जायगा। वह मन से, वचन से और कर्म से कोई ऐसी भावना, वचन या कार्य नहीं करेगा, जिससे दूसरे को पीड़ा हो, दूसरे का अहित हो, दूसरे का अकल्याण हो।

महावीर के उपदेशों का लोक जीवन पर जो प्रभाव पड़ा, उससे तत्कालीन समाज में प्रचलित विभिन्न सम्प्रदाय और धर्म, देश और जातियाँ भी अछूते नहीं रहे। इतिहासकार भी यह स्वीकार करते हैं कि वैदिक ब्राह्मणों को महावीर की अहिंसा और जीवन सिद्धान्तों से प्रभावित होकर यज्ञ यागादि का रूप बदलना पड़ा। तब जो वैदिक साहित्य निर्मित हुआ, उसमें ज्ञान यज्ञ को प्रमुखता दी गई, कर्मयोग को महत्व दिया गया और आधिभौतिक स्वरों के स्थान पर आध्यात्मिक स्वर गूंजने लगे। आचार और विचार दोनों ही क्षेत्रों में अहिंसा को मान्यता दी गई।

महावीर के सिद्धान्त आत्मवाद पर आधारित थे। वे आत्मा की अनन्त शक्तियों पर विश्वास करते थे। अचेतन को चेतन पर हावी नहीं होने देना चाहते थे और इसी प्रकार एक आत्मा पर अन्य किसी आत्मा का अधिकार स्वीकार नहीं करते थे। आत्मा के ऊपर किसी अन्य आत्मा के अधिकार का अर्थ आत्मा की शक्तियों पर अविश्वास मानते थे। उनका यह सन्देश था कि आत्मा अपने उत्थान और पतन का स्वयं उत्तरदायी है। यह सन्देश सार्वभौमिक और सार्वकालिक था। यह किसी वर्ग, वर्ण, जाति और देश से अतीत था। उन्होंने आत्मा को वर्ण, जाति और वर्ग की सीमाओं में नहीं जकड़ा, आत्मा की शक्ति को भी इन बन्धनों में नहीं बाँधा। महावीर के इस सिद्धान्त ने सभी वर्गों, सभी जातियों, सभी लिंगों और सभी क्षेत्रों के निवासियों में अपना चरम और परम उत्कर्ष करने का आत्म विश्वास जगाया और सदियों की हीन भावना और परतन्त्रता के संस्कारों से सभी ने मुक्ति प्राप्त की। महावीर के इस आत्म समभावी शाश्वत सन्देश ने अन्त्यजों, शूद्रों से लेकर ब्राह्मणों तक, स्त्रियों और पुरुषों, यहाँ तक कि पशु पक्षियों तक में आत्मिक विकास की स्पृहा जगा दी। परिणाम यह हुआ कि महावीर के चरणों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य वर्ण के पुरुष भी आये और भील तथा शूद्रों ने भी आत्म कल्याण किया। स्त्रियों ने भी आर्यिका दीक्षा लेकर अपने चरम आत्मोत्कर्ष के लिए पथ प्रशस्त किया। यहाँ तक कि मेंढक भी मुह में कमल की पंखुड़ी दबाये भगवान की पूजा की भावना के अतिरेक से भगवान के समवसरण की ओर चल पड़ा। महत्व शरीर का

नहीं; आत्मा का है। मूल्य बाह्य क्रियाकाण्ड का नहीं; भावना का है। महावीर ने सबके कल्याण, हित और सुख की बात कही, इसलिए भगवान सबके हो गये, सब उनके हो गये।

लोक मानस में चिरकाल से बद्धमूल संस्कारों के लिये महावीर का जीव-साम्य का सिद्धान्त एक युगान्तरकारी क्रान्ति का आव्हान लेकर आया था। जो जातीय दम्भ में डूबे हुए थे, उनके संस्कार एकबारगी ही इस सिद्धान्त को पचा नहीं पाये। वे रोष और विरोध लेकर महावीर के निकट आये और उनकी अनन्त करुणा की छाया में आते ही उनके शिष्य बन गये। भगवान महावीर के निकट सर्वप्रथम जिन ४४११ व्यक्तियों ने शिष्यत्व ग्रहण किया था, वे विरोध करने और भगवान को पराजित करने के उद्देश्य से ही आये थे और वे सभी ब्राह्मण थे। चन्दना आदि अनेक महिलाओं ने भी भगवान के निकट आर्यिका-दीक्षा ली। अनेक क्षत्रिय नरेश और उनकी रानियाँ भगवान के धर्म-परिवार में सम्मिलित हुए। जम्बूकुमार आदि अनेक वैश्यों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार किया।

इस देश के ही नहीं, अन्य देशों के अनेक व्यक्ति भी भगवान के निकट आकर दीक्षित हुए थे। उस समय भारत की भौगोलिक सीमायें वर्तमान की अपेक्षा काफी विस्तृत थीं। उस समय गान्धार आदि देश भारत में ही सम्मिलित थे। इसलिये विदेश शब्द का प्रयोग वर्तमान काल की अपेक्षा प्रयुक्त किया गया है। राजकुमार अभयकुमार का एक मित्र आर्द्रक पारस्य (ईरान) का राजकुमार था। वह भगवान का भक्त हो गया था। ग्रीक देश के लगभग पाँच सौ योद्धा भगवान के भक्त बन गये थे। फणिक देश (Phoenccia) के वणिक् भी भगवान के भक्त हो गये थे। वहाँ का एक व्यापारी तो भगवान के संघ में मुनि बन गया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोक जीवन पर भगवान महावीर का अकल्प्य प्रभाव था और सारा देश भगवान महावीर के जयघोषों से गूंज उठा था। उनकी जयघोष केवल उनके अलौकिक और दिव्य व्यक्तित्व की जयघोष नहीं थी, वस्तुतः यह जयघोष उनके सिद्धान्तों की जयघोष थी।

श्वेताम्बर आगमों के अनुसार भगवान महावीर के ४२ विरक्त वर्षों में चातुर्मास इस प्रकार हुए—अस्थिग्राम में १, चम्पा और पृष्ठ चम्पा में ३, वैशाली और वाणिज्य ग्राम में १२, राजगृह और नालन्दा में १४ मिथिलानगरी में ६, भद्दिया नगरी में २, आलंभिका और श्रावस्ती में १-१, वज्रभूमि में १, और पावापुरी में १ इस प्रकार भगवान ने कुल ४२ चातुर्मास किये।

इन चातुर्मासों के काल में भगवान की वाणी से असंख्य नर-नारियों को प्रतिबोध प्राप्त हुआ। अनेक मुनि और आर्यिका बन गये, अनेक ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये, अनेक को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई, अनेक लोगों को धर्म में आस्था दृढ़ हुई, अनेक ने अनेक प्रकार के व्रत-नियम लेकर जीवन-शुद्धि की ओर अनेक भगवान के धर्म के दृढ़ श्रद्धानी बने। इन सबका नाम यहाँ देना न तो संभव ही है और न सभी के नाम शास्त्रों में मिलते हैं। किन्तु यहाँ कुछ व्यक्तियों के नाम दिये जा रहे हैं।

ब्राह्मण कुण्ड के ऋषभ-दत्त और देवानन्दा ने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की। क्षत्रियकुण्ड के राजकुमार जमालि और उसकी स्त्रियों ने एक हजार स्त्रियों के साथ दीक्षा ली। कौशाम्बी नरेश शतानीक की बहन जयन्ती ने संयम ग्रहण किया। श्रावस्ती में शुभनोभद्र और सुप्रतिष्ठ ने दीक्षा ग्रहण की। वाणिज्यग्राम में आनन्द गाथापति ने श्रावक के व्रत धारण किये। आनन्द की सम्पत्ति के सम्बन्ध में शास्त्रों में लिखा है कि उसका चार करोड़ स्वर्ण मान सुरक्षित था, चार करोड़ स्वर्णमान व्याज पर लगा हुआ था। उसकी अचल सम्पत्ति चार करोड़ स्वर्णमान मूल्य की थी। उसका पशुधन चार प्रकार का था। गाय आदि चार प्रकार के पशुधन की सख्या प्रत्येक की १०-१० हजार थी। पर्व दिनों में वह प्रोपध भवन में अपना समय धर्म ध्यान में व्यतीत करता था।

राजगृही के प्रमुख सेठ गोभद्र के पुत्र शालिभद्र ने अपनी ३२ स्त्रियों के साथ संयम धारण किया। कहते हैं, इन्होंने एक भव्य जिनालय राजगृही में बनवाया था, जिसके अवशेष राजगृही के मनियारमठ में अब तक मिलते हैं। शालिभद्र के साथ उनके बहनोई धन्ना सेठ ने भी दीक्षा ले ली। ऐसा प्रतीत होता है कि दिगम्बर शास्त्रों के सुकुमाल सेठ और श्वेताम्बर शास्त्रों के शालिभद्र दोनों एक ही व्यक्ति थे। दोनों की जीवन घटनाएं एक सी हैं। उनकी सम्पत्ति और वैभव का कोई परिमाण नहीं था। एक व्यापारी ने जिन रत्नकंबलों को राजा श्रेणिक नहीं खरीद सका

वे रत्नकंवल सुकुमाल की माता भद्रा ने खरीद लिए और अपनी पुत्र-वधुओं के लिए उनकी जूतियाँ वनवा दीं।

चम्पा में राजकुमार महाचन्द्र ने भगवान के पास दीक्षा ग्रहण की। सिन्धु सौवीर के नरेश उद्रायण भगवान के भक्त वन गये। वाराणसी में वहाँ के नरेश जितशत्रु, चुल्लिनी पिता, उनकी भार्या श्यामा, सुरादेव और उनकी पत्नी धन्या ने श्रावक के व्रत ग्रहण किये। आलंभिया के नरेश जितशत्रु भगवान के भक्त वन गए। राजगृह में मंकाई, किंकत अर्जुन माली, काश्यप, गाथापति वरदत्त आदि ने संयम धारण किया। नन्दन मणिकार ने श्रावक के व्रत ग्रहण किए राजगृह में राजा श्रेणिक के परिवार के अनेक राजकुमार और रानियों ने दीक्षा ली। काकन्दी का राजा जितशत्रु भगवान का भक्त वना। सार्थवाह धन्यकुमार अपनी सुन्दर ३२ स्त्रियों का त्याग करके मुनि वना पोलासपुर के सद्दाल पुत्र ने दीक्षा ली। राजगृह के महाशतक गाथापति ने श्रावक धर्म ग्रहण किया। राजगृही में अनेक वैदिक परिव्राजक दीक्षित हुए। उत्कृष्ट कोटि का विद्वान स्कन्दक मुनि वन गया। चम्पा में मगध सम्राट कुणिक ने भगवान के कुशल समाचार जानने के लिए कर्मचारी नियत कर रक्खे थे। भगवान के कुशल समाचार सुनकर ही वह भोजन करता था। भगवान जव चम्पा पधारे, तव वह भगवान की वन्दना करने के लिए गया। यहाँ पर श्रेणिक के १० पौत्रों और पालित जैसे प्रमुख व्यापारी ने मुनि-दीक्षा ली। कुणिक के भाई हल्ल, वेहल्ल और १० रानियों ने दीक्षा ले ली। काकन्दी में गाथापति खेमक और धृतिधर ने प्रभु के पास मुनि दीक्षा ली। चम्पा में जब भगवान पुन. पधारे उस समय अजातशत्रु और वैशाली में युद्ध चल रहा था। उस समय काली आदि १० रानियों ने अजातशत्रु की आज्ञा लेकर आर्या चन्दना के निकट आर्या-दीक्षा ले ली।

जव भगवान हस्तिनापुर पधारे, वहाँ हस्तिनापुर का नरेश शिव राजर्षि, जो तापसी वन गया था, भगवान का उपदेश सुनकर मुनि वन गया। पृष्ठ चम्पा का राजा शाल और युवराज महाशाल मुनि वन गया। दशार्णपुर के राजा ने मुनि-दीक्षा ले ली। वाणिज्य ग्राम का विद्वान् और वेद-वेदांग का ज्ञाता सोमिल भगवान का उपदेश सुन कर उनका उपासक वन गया। कम्पिलपुर का अम्वड़ नामक परिव्राजक अपने सात सौ शिष्यों के साथ भगवान का उपासक वन गया। राजगृह में कालोदायी तैर्थिक मुनि वना। वाणिज्यग्राम के ही प्रसिद्ध धनपति सुदर्शन ने श्रमण-दीक्षा अंगीकार की। साकेत नरेश शत्रुंजय भगवान का भक्त था। वहाँ कोटिवर्ष का म्लेच्छ नरेश किरातराज आया हुआ था। वह भगवान का उपदेश सुनकर दीक्षित हो गया। मिथिला का राजा जितशत्रु भगवान का उपासक था। पावा में पुण्यपाल नरेश ने भगवान के चरणों में संयम धारण करके आत्मकल्याण किया।

इस प्रकार न जाने कितने नर-नारियों ने भगवान का उपदेश सुनकर आत्म-कल्याण किया।

महावीर के समकालीन तैर्थिक

वौद्ध ग्रन्थ 'दीघनिकाय' के 'सामञ्ज फलसुत्त' में महावीर (निग्गंठ नातपुत्त) के अतिरिक्त छह और तैर्थिकों का उल्लेख मिलता है। ये सभी अपने को तीर्थंकर या अर्हत कहते थे। ये प्रभावशाली धर्मनायक थे। इन्होंने नवीन पन्थों की स्थापना की थी। अथवा प्राचीन मतों के नेता वन गये थे। इन पन्थों या मतों का सविस्तर विवरण दिगम्वर परम्परा के भावसंग्रह, श्वेताम्वर परम्परा के उत्तराध्ययन, सूत्र-कृतांग, भगवती सूत्र, गुणचन्द्र विरचित महावीर चरियं तथा वौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय, मज्झिम निकाय आदि में विभिन्न रूपों में मिलता है। इन तैर्थिकों के नाम इस प्रकार थे— पूर्ण काश्यप, मंखली गोशालक, अजित केशकम्वल, प्रवुद्ध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्र और गौतमवुद्ध। इन धर्मनायकों में सभी का जीवन-परिचय तो नहीं मिलता, किन्तु इनके द्वारा प्ररूपित या प्रचारित मतों का विवरण अवश्य मिलता है। इनका परिचय इस प्रकार है—

पूर्णकाश्यप—अनुभवों से परिपूर्ण मानकर जनता इन्हें पूर्ण मानती थी और इनका गोत्र काश्यप था। ये नग्न रहते थे। इनके अनुयायियों की संख्या ८० हजार थी। वौद्ध ग्रन्थों के अनुसार ये एक प्रतिष्ठित गृहस्थ के पुत्र थे। एक दिन इनके स्वामी ने इन्हें द्वारपाल का काम सौंपा। इसे इन्होंने अपना अपमान समझा और ये विरक्त होकर वन में चले गए। मार्ग में चोरों ने इनके वस्त्र छीन लिए। तवसे ये नग्न रहने लगे। एकवार लोगों ने इन्हें पहनने के लिये वस्त्र दिए। किन्तु इन्होंने वस्त्र वापिस करते हुए कहा—वस्त्र धारण करने का प्रयोजन लज्जा निवारण है। उल्लेख मिलते हैं कि सारिपुत्र और मोद्‌गलायन अपने गुरु संजय परिव्राजक को छोड़कर वुद्ध के संघ में आये।

और लज्जा-निवारण का मूल पाप-प्रवृत्ति है। मैं पाप-प्रवृत्ति से मुक्त हूँ। उनकी यह निस्पृहता देखकर लोग उनके अनुयायी बनने लगे।

उनका सिद्धान्त था अक्रियावाद। उनका मत था—कोई भी क्रिया की जाय, चाहे हिंसा की जाय, असत्य भाषण किया जाय, दान दिया जाय, यज्ञ किया जाय, उसमें न पाप लगता है, न पुण्य। कोई क्रिया सम्यक् या मिथ्या नहीं होती। क्रिया करने की जीव की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। उससे कोई कर्म-बन्ध नहीं होता।

भावसंग्रह में उसका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

मंक्खलि गोशालक

मस्करी गोशालक पार्श्वनाथ परम्परा के मुनि थे। जब भगवान महावीर का प्रथम समवसरण लगा, गोशालक उसमें उपस्थित थे। वे अष्टांग निमित्तों और ग्यारह अंगों के धारी थे। प्रथम समवसरण में भगवान का उपदेश नहीं हुआ, अतः वे वहाँ से रुष्ट होकर चले गये। सम्भवतः उनके रोष का कारण यह हो कि वे गणधर बनना चाहते थे किन्तु उनकी वह इच्छा पूर्ण नहीं हुई। वे पृथक् होकर श्रावस्ती में पहुँचे और वहाँ आजीवक सम्प्रदाय के नेता बन गये। वे अपने आपको तीर्थंकर कहने लगे और विपरीत उपदेश देने लगे। उनका मत था—ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, अज्ञान से मुक्ति होती है। देव (भगवान) कोई नहीं है। अतः शून्य का ध्यान करना चाहिए।

श्वेताम्बर शास्त्रों के अनुसार उनके पिता का नाम मंखली और माता का नाम सुभद्रा था। वे चित्रफलक लेकर घूमा करते और उससे अपनी आजीविका करते। एक बार वे सरवण ग्राम में गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में ठहरे। कुछ समय पश्चात् सुभद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका नाम गोशालक रक्खा गया। जब वह यौवन अवस्था को प्राप्त हुआ, वह अपनी उद्दण्ड प्रकृतिवश माता-पिता से कलह किया करता था। उसने भी एक चित्रपट तैयार कराया और ग्राम-ग्राम में विहार करता हुआ नालन्दा में उसी तन्तुवायशाला में ठहरा, जिसमें भगवान महावीर अपना द्वितीय चातुर्मास कर रहे थे। भगवान मासोपवासी थे। उनका पारणा विजय गाथापति के यहाँ हुआ। देवों ने पंचाश्चर्य किये। गोशालक भी दर्शकों में उपस्थित था। भगवान का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव देखकर गोशालक भगवान के निकट पहुँचा और बोला—"भगवन्! आज से आप मेरे धर्म गुरु और मैं आपका शिष्य। आप मुझे अपनी चरण-सेवा का अवसर प्रदान करें।" किन्तु भगवान मौन रहे।

वह प्रभु के साथ इस प्रकार लगा रहा और तपस्या करके जब उसे तेजोलेश्या प्राप्त हो गई तो वह अलग हो गया और अपने आपको जिन, केवली और तीर्थंकर कहने लगा। वह आजीवक मत का समर्थक बनकर नियतिवाद का प्रचारक बन गया। एक बार उसने क्रोधवश भगवान के ऊपर तेजोलेश्या छोड़ी, जिससे भगवान को छह माह तक दाह जन्य वेदना हुई और रक्तातिसार की बाधा हो गई।

गोशालक ने भगवान के ऊपर जो तेजोलेश्या छोड़ी थी, वह भगवान के अमिट तेज के कारण उन पर कोई असर नहीं कर सकी, बल्कि वह गोशालक को जलाती हुई उसी के शरीर में प्रविष्ट हो गई। उसी की तेजो लेश्या उसी के लिए घातक सिद्ध हुई। वह वहाँ से निराश और दाह से पीड़ित होता हुआ वेदना से आक्रन्दन करता हुआ इधर-उधर फिरने लगा। वह हालाहला कुम्हारिन के कुम्भकारायण में पहुँचा। वह दाह-शान्ति के लिए कच्चा आम चूसता हुआ, मद्यपान करता हुआ, अनर्गल प्रलाप करता हुआ शीतल जल से अपने शरीर का सिंचन करने लगा। उसने प्रलाप करते हुए आठ चरम बतलाये। किन्तु सातवीं रात्रि को उसका मिथ्यात्व दूर हुआ और वह पश्चात्ताप करता हुआ कहने लगा—'मैंने अभिमानवश अपने आपको जिन घोषित किया, यह मेरी भूल थी। वस्तुतः महावीर ही जिन हैं। उसी रात्रि में उसकी मृत्यु हो गई।

गोशालक द्वारा प्रचारित आजीवक सम्प्रदाय उसकी मृत्यु के पश्चात् भी पर्याप्त समय तक जीवित रहा। बराबर पहाड़ी पर सम्राट् अशोक ने आजीवक साधुओं के लिए तीन गुफायें बनवाई थीं। कोशाम्बी के उत्खनन में आजीवकों का एक विहार निकला है। कहा जाता है, इस विहार में पांच हजार आजीवक भिक्षु रहते थे। किन्तु आजीवक सम्प्रदाय किन परिस्थितियों में किस काल में लुप्त हो गया, यह अभी तक निश्चित नहीं

हो पाया। इस सम्बन्ध में इतना तो विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि आजीवक मत के सिद्धान्तों पर जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रभाव था। उसका स्वयं का कोई आधार नहीं था और निराधार सम्प्रदाय अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। आजीवक सम्प्रदाय ने भी संघर्ष की परिस्थिति में अपनी उपयोगिता खोदी और उसके अनुयायी जो संख्या की दृष्टि से अत्यन्त अल्प रह गये थे—जैनधर्म के अनुयायी बन गये।

आजीवक मत के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। इसका कारण सम्भवतः यह रहा है कि महावीर के काल में ग्रन्थ-रचना की परम्परा प्रचलित नहीं हुई थी। गुरु-मुख से शास्त्रों का अध्ययन होता था। इसी कारण गोशालक ने भी किसी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। किन्तु फिर भी श्वेताम्बर और बौद्ध ग्रन्थों में उसके सिद्धान्तों और उनके साधुओं की चर्चा के बारे में कुछ स्फुट उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनके अनुसार आजीवक साधु नग्न रहते थे, हाथों में भोजन करते थे, शिष्टाचारों को दूर रखकर चलते थे। वे अपने लिए बनवाया आहार नहीं लेते थे। जिस बर्तन में आहार पकाया गया हो, उसमें से उसे नहीं लेते थे। एक साथ भोजन करने वाले युगल से, गर्भवती स्त्री से, दुधमुंहे बच्चे वाली स्त्री से आहार नहीं लेते थे। जहाँ आहार कम हो, कुत्ता खड़ा हो, मक्खियाँ भिनभिनाती हों, वहाँ से आहार नहीं लेते थे। मत्स्य, मांस, मदिरा, मैरेय और खट्टी काजी ग्रहण नहीं करते थे। वे विविध उपवास करते थे। उनके गृहस्थ लोग अरिहन्त को देव मानते थे, माता-पिता की सेवा करते थे। गूलर, वड़, बेर, अंजीर और पिलखु इन पाँच फलों का भक्षण नहीं करते थे। बैलों के नाक कान नहीं छेदते थे और जिसमें त्रस प्राणियों की हिंसा हो, ऐसा व्यापार नहीं करते थे।

गोशालक नियतिवाद का समर्थक था। उसका सिद्धान्त था—"अपवित्रता के लिए कोई कारण नहीं होता, कारण के बिना ही प्राणी अपवित्र होते हैं। प्राणी की शुद्धि के लिए भी कोई कारण नहीं होता। कारण के बिना ही प्राणी शुद्ध होते हैं। अपनी सामर्थ्य से कुछ नहीं होता, न दूसरे के सामर्थ्य से कुछ होता है। पुरुषार्थ से भी कुछ नहीं होता। सभी प्राणी अवश हैं, बलहीन हैं, सामर्थ्यहीन हैं। वे नियति (भाग्य) और स्वभाव के कारण परिणत होते हैं और सुख-दुःख का उपभोग करते हैं।

अजित केशकम्बल

ये उच्छेदवाद के प्रवर्तक थे। केशों का बना कम्बल धारण करने के कारण ही ये अजित केशकम्बली कहलाते थे। इनका सिद्धान्त था—"दान, यज्ञ और हवन आदि में कोई सार नहीं हैं। बुरे या अच्छे कर्मों का फल नहीं होता। इहलोक-परलोक, स्वर्ग, नरक आदि कुछ भी नहीं है। मनुष्य चार भूतों का बना हुआ है। जब वह मरता है, तब उसमें रहने वाली पृथ्वी धातु पृथ्वी में, जल धातु जल में, तेजो धातु तेज में और वायु धातु वायु में जा मिलते हैं तथा इन्द्रियां आकाश में चली जाती हैं। जो कोई आस्तिकवाद बतलाते हैं, उनका कथन मिथ्या और वृथा है। शरीर के नाश के बाद मनुष्य नष्ट हो जाता है। मृत्यु के अनन्तर उसका कुछ भी शेष नहीं रहता।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि अजित केशकम्बली ही नास्तिक दर्शन के आद्य प्रवर्तक थे। आचार्य बृहस्पति ने इनके ही सिद्धान्तों का विकास किया है।

प्रक्रुद्ध कात्यायन

ये पक्रुद्ध वृक्ष के नीचे पैदा होने के कारण पक्रुद्ध कात्यायन या प्रक्रुद्ध कात्यायन कहलाते थे। जैन शास्त्रों में इनका नाम प्रक्रुद्ध कात्यायन मिलता है। बौद्ध ग्रन्थ इनका नाम पक्रुद्ध कात्यायन बतलाते हैं। उनके मतानुसार प्रक्रुद्ध उनका नाम था और कात्यायन उनका गोत्र था। इनका सिद्धान्त था —"सात पदार्थ किसी के द्वारा बनाये हुए नहीं हैं। वे कूटस्थ और अचल हैं। वे एक दूसरे को सुख-दुःख नहीं देते, एक दूसरे पर प्रभाव नहीं डालते। पृथ्वी, अप, तेज, वायु, सुख-दुःख एवं जीव ये सात पदार्थ हैं। इन्हें कोई नष्ट नहीं कर सकता, कोई किसी का सिर नहीं काट सकता, न कोई किसी के प्राण ले सकता है। अस्त्र-शस्त्र मारने का अर्थ है सात पदार्थों के बीच के अवकाश में अस्त्र-शस्त्र का प्रविष्ट होना। उक्त सातों पदार्थ के संयोग से मनुष्य को सुख होता है और इनके वियोग से दुःख होता है। ये अन्योन्यवादी थे।

संजय वेलट्ठिपुत्र—सम्भवतः संजय इनका नाम था और ये बेलट्ठि के पुत्र थे। बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे

उल्लेख मिलते हैं कि सारिपुत्र और मौद्गलायन अपने गुरु संजय परिव्राजक को छोड़कर बुद्ध के संघ में आये। इन उल्लेखों के कारण ही कुछ विद्वान् इन्हीं संजय को उपर्युक्त दोनों बौद्ध धर्म नेताओं के गुरु मानने हैं। संजय ने विक्षेपवाद का प्रवर्तन किया। इनके सिद्धान्त में परलोक, कर्मफल, मृत्यु, पुनर्जन्म आदि की मान्यता नहीं है।

गौतम बुद्ध—ये कपिलवस्तु के शाक्य संघ के गणप्रमुख शुद्धोधन और मायादेवी के पुत्र थे। इनका जन्म लुम्बिनी वन में हुआ था। उनके जन्म लेते ही माता का स्वर्गवास हो गया। उनका विवाह यशोदा नामक राजकुमारी के साथ हुआ था और उनके राहुल नामक एक पुत्र हुआ था। जरा से जर्जरित एक वृद्ध को और एक मृत व्यक्ति को देखकर इन्हें वैराग्य उत्पन्न होगया और वे सत्य की खोज में चुपचाप घर से निकल गये। वे परिव्राजक बने, निर्ग्रन्थ जैन साधु भी बने। किन्तु तप की असह्य कठोरता से घबड़ा गये।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डा० राधाकुमुद मुकर्जी[1] लिखते हैं—"वास्तविक बात यह ज्ञात होती है कि बुद्ध ने पहले आत्मानुभव के लिए उस काल में प्रचलित दोनों साधनाओं का अभ्यास किया। आलार और उद्रक के निर्देशानुसार ब्राह्मण मार्ग का और तब जैन मार्ग का और बाद में अपने स्वतन्त्र साधना मार्ग का विकास किया।" ......"वे मगध जनपद के सैनिक सन्निवेश उरुवेला नामक स्थान में गये और वहाँ नदी तथा ग्राम के समीप, जहाँ भिक्षा की सुविधा थी, रहकर उच्चतर ज्ञान के लिए प्रयत्न करने लगे। इस प्रयत्न का रूप उत्तरोत्तर कठोर होता हुआ तप था, जिसका जैन धर्म में उपदेश है, जिसके करने से उनका शरीर अस्थिपंजर और त्वचा मात्र रह गया। उन्होंने श्वास प्रश्वास और भोजन दोनों का नियमन किया एवं केवल मूंग, कुलथी, मटर और हरेणुका का अपने अंजलिपुट की मात्रा भर स्वल्प यूष लेकर निर्वाह करने लगे।

गौतम बुद्ध एक बार जैन साधु बने थे, इसका उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में भी मिलता है। वे अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से कहते हैं—"सारिपुत्र ! बोधि प्राप्ति से पूर्व मैं दाढ़ी, मूछों का लुँचन करता था। मैं खड़ा रह कर तपस्या करता था। उकडूं बैठकर तपस्या करता था। मैं नंगा रहता था। लौकिक आचारों का पालन नहीं करता था। हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था। बैठे हुए स्थान पर आकर दिये हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किये हुए अन्न को और निमन्त्रण को भी स्वीकार नहीं करता था। गर्भिणी और स्तन पान कराने वाली स्त्री से भिक्षा नहीं लेता था[2]।"

वे बोध गया में पहुँचे और वहाँ एक वृक्ष के नीचे बैठ कर गहन चिन्तन में डूब गये—क्या है सत्य। उन्हें लगा कि अति ही अनर्थ मूलक है, चाहे वह भोगों की अति हो या तप की। मध्यम मार्ग ही श्रेयस्कर है। यह ज्ञान ही उनकी बोधि कहलाता है। इसके बाद वे काशी के निकट सारनाथ (मृगदाव) पहुँचे और वहां पंचवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश देकर अपना प्रथम शिष्य बनाया।

उन्होंने चार आर्यसत्यों पर विशेष बल दिया। आठ मार्ग बताये जो अष्टाङ्गिक मार्ग कहलाते हैं। उनका सिद्धान्त क्षणिकवाद है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, क्षणस्थाई है। जो है, वह अगले क्षण रहने वाला नहीं है। वह अगले क्षण अपनी सन्तान को अपने संस्कार दे जाता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु की सन्तान-परम्परा चलती रहती है। सन्तान-परम्परा की समाप्ति ही उसका निर्वाण कहलाता है।

म० बुद्ध के सिद्धान्तों में करुणा को विशेष महत्त्व दिया गया है। किन्तु उनकी करुणा में मांसाहार का निषेध नहीं था। किसी जीव को मारने का तो निषेध किया गया, किन्तु मृत जीव या दूसरे के द्वारा मारे गये जीव का मांस ग्रहण करने की उन्होंने छूट दे दी। परिणाम यह हुआ कि उनके मत के अनुयायियों में मांसाहार निर्बाध रूप से प्रचलित हो गया।

किन्तु इनके सम्प्रदाय अधिक दिनों तक चल नहीं पाये, प्रायः इनके साथ ही वे समाप्त हो गए। केवल मंखलि गोशालक द्वारा प्रचारित आजीवक सम्प्रदाय और बुद्ध द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म ही उनके बाद जीवित रह पाये। आजीवक सम्प्रदाय भी कुछ शताब्दियों तक चला। धीरे-धीरे वह क्षीण होता गया और वह जैन धर्म में विलीन हो गया। इस प्रकार इन तैर्थिकों के सम्प्रदायों में केवल बौद्ध धर्म ही जैन धर्म के साथ-साथ जीवित रह सका।

भगवान महावीर का परिनिर्वाण—आचार्य वीरसेन विरचित 'जयधवला'[1] टीका में भगवान महावीर के निर्वाण के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है—

२९ वर्ष ५ मास और २० दिन तक ऋषि, मुनि, यति और अनगार इन चार प्रकार के मुनियों और १२ गणों अर्थात् सभाओं के साथ विहार करने के पश्चात् भगवान महावीर ने पावा नगर में कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी के दिन स्वाति नक्षत्र के रहते हुए रात्रि के समय शेष अघाति कर्म रूपी रज को छेदकर निर्वाण प्राप्त किया।

आचार्य जिनसेन ने 'हरिवंश पुराण'[2] में भगवान के निर्वाण के सम्बन्ध में कुछ नवीन तथ्यों पर प्रकाश डाला है जो इस प्रकार है—

भगवान महावीर भी निरन्तर सब ओर के भव्य समूह को संबोधित कर पावा नगरी पहुँचे और वहाँ के मनोहरोद्यान नामक वन में विराजमान हो गये। जब चतुर्थ काल में तीन वर्ष साढ़े आठ मास बाकी रहे, तब स्वाति नक्षत्र में कार्तिक अमावस्या के दिन प्रातः काल के समय स्वभाव से ही योग निरोध कर घातिया कर्म-रूपी ईन्धन के समान अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर बन्धन रहित हो संसार के प्राणियों को सुख उपजाते हुए निरन्तराय तथा विशाल सुख से सहित निर्बन्ध मोक्ष स्थान को प्राप्त हुए। गर्भादि पांच कल्याणकों के महान अधिपति, सिद्धशासन भगवान महावीर के निर्वाण महोत्सव के समय चारों निकाय के देवों ने विधिपूर्वक उनके शरीर की पूजा की। उस समय सुरों और असुरों के द्वारा जलाई हुई देदीप्यमान दीपकों की पंक्ति से पावानगरी का आकाश सब ओर से जगमगा उठा। उस समय से लेकर भगवान के निर्वाण कल्याण की भक्ति से युक्त संसार के प्राणी इस भारत क्षेत्र में प्रतिवर्ष आदरपूर्वक प्रसिद्ध दीपमालिका के द्वारा भगवान महावीर की पूजा करने के लिए उद्यत रहने लगे।

आचार्य गुणभद्रकृत 'उत्तर पुराण' में बताया है कि भगवान के साथ एक हजार मुनि मुक्त हुए, किन्तु अन्य आचार्यों का मत है कि भगवान एकाकी ही मुक्त हुए।

'कल्पसूत्र'[3] मे भगवान महावीर के निर्वाण के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया है, जिसका आशय इस प्रकार है—

"भगवान अन्तिम वर्षावास करने के लिए मध्यम पावा नगरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुक सभा में ठहरे हुए थे। चातुर्मास का चतुर्थ मास और वर्षा ऋतु का सातवां पक्ष चल रहा था अर्थात् कार्तिक कृष्णा अमावस्या आई। अन्तिम रात्रि का समय था। उस रात्रि को श्रमण भगवान महावीर काल धर्म को प्राप्त हुए। वे संसार त्याग कर चले गये। जन्म ग्रहण की परम्परा का उच्छेद करके चले गये। उनके जन्म, जरा और मरण के सभी बन्धन नष्ट हो गए, भगवान सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो गये, सब दुःखों का अन्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

'महावीर जिस समय काल धर्म को प्राप्त हुए, उस समय चन्द्र नामक द्वितीय संवत्सर चल रहा था। प्रीतिवर्धन मास, नन्दि वर्धन पक्ष, अग्निवेश दिवस (जिसका दूसरा नाम उवसम भी है), देवानन्दा नामक रात्रि (जिसे निरई भी कहते हैं) अर्थ नामक लव, सिद्ध नामक स्तोक, नाग नामक करण, सर्वार्थसिद्धि नामक मुहूर्त तथा स्वाति नक्षत्र का योग था। ऐसे समय भगवान काल धर्म को प्राप्त हुए। वे संसार छोड़कर चले गये। उनके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो गये।

---

१ भाग १, पृ० ८१

भगवान के निर्वाण-गमन के समय अनेक देवी देवताओं के कारण प्रकाश फैल रहा था तथा उस समय अनेक राजा वहाँ उपस्थित थे और उन्होंने द्रव्योद्योत किया था, इसका वर्णन करते हुए कल्पसूत्रकार कहते हैं—

"जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर काल धर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दुःख पूर्ण रूप से नष्ट हो गए, उस रात्रि में बहुत से देव और देवियाँ नीचे आ जा रही थीं; जिससे वह रात्रि खूब उद्योतमयी हो गई थी।

"जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर काल धर्म को प्राप्त हुए, यावत् उनके सम्पूर्ण दुःख नष्ट हो गए, उस रात्रि में काशी के नौ मल्ल और कोसल के नौ लिच्छवी इस प्रकार कुल अठारह गण राजा अमावस्या के दिन आठ प्रहर का प्रोषधोपवास करके वहाँ रहे हुए थे। उन्होंने यह विचार किया कि भावोद्योत अर्थात् ज्ञान-रूपी प्रकाश चला गया है; अतः हम सब द्रव्योद्योत करेंगे अर्थात् दीपावली प्रज्वलित करेंगे।"

आचार्य हेमचन्द्र ने 'त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित' के महावीर चरित भाग के सर्ग १२ में भगवान महावीर के निर्वाण-काल की जो रिपोर्ट प्रस्तुत की है, वह विस्तृत तो है ही, उसमें उस समय घटित सभी घटनाओं का विस्तृत व्यौरा भी दिया गया है। अतः उसका उपयोगी अश पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ दिया जा रहा है—

"भगवान विहार करते हुए अपापा नगरी पहुंचे। अपापापुरी के अधिकारी हस्तिपाल को जब ज्ञात हुआ कि भगवान समवसरण में पधारे हैं तो वह भी उपदेश सुनने वहाँ गया। इसके बाद भगवान समवसरण से निकलकर हस्तिपाल राजा की शुल्कशाला में पधारे। भगवान ने यह जानकर कि आज रात्रि में मेरा निर्वाण होगा, गौतम का मेरे प्रति अनेक भवों से स्नेह है और उसे आज रात्रि के अन्त में केवलज्ञान होगा, मेरे वियोग से वह दुखी होगा, भगवान ने गौतम से कहा—"गौतम ! दूसरे गाँव में देवशर्मा ब्राह्मण है। उसको तू संबोध आ। तेरे कारण उसे ज्ञान प्राप्त होगा।" प्रभु के आदेशानुसार गौतम वहाँ से चले गये।

"भगवान का निर्वाण हो गया। इन्द्र ने नन्दन आदि वनों से लाये हुए गोशीर्ष, चन्दन आदि से चिता चुनी। क्षीर-सागर से लाये हुए जल से भगवान को स्नान कराया, दिव्य अंगराग सारे शरीर पर लगाया। विमान के आकार की शिविका में भगवान की मृत देह रक्खी। उस समय तमाम इन्द्र और देवी देवता शोक के कारण रो रहे थे। देवता आकाश से पुष्प-वर्षा कर रहे थे। तमाम दिव्य बाजे बज रहे थे। शिविका के आगे देवियाँ नृत्य करती चल रही थीं।

"श्रावक और श्राविकायें भी शोक के कारण रो रहे थे और रासक गीत गा रहे थे। साधु और साध्वियां भी शोकाकुल थे।"

"तब इन्द्र ने शोकाकुल हृदय से भगवान का शरीर चिता पर रख दिया। अग्निकुमारों ने चिता में आग लगाई। वायुकुमारों ने आग को हवा दी। देवताओं ने धूप और घी के सैकड़ों घड़े चिता में डाले। शरीर के जल जाने पर मेघकुमार देवों ने क्षीर-समुद्र के जल की वर्षा करके चिता को शान्त किया। भगवान के ऊपर की दो दाढ़ें सौधर्म और ऐशान इन्द्रों ने लीं और नीचे की दोनों दाढ़ें चमरेन्द्र और बलीन्द्र ने लीं। अन्य दांत और हड्डियां दूसरे इन्द्रों और देवों ने लीं। मनुष्यों ने चिता-भस्म ली। जिस स्थान पर चिता जलाई, उस स्थान पर देवों ने रत्नमय स्तूप बना दिया। इस प्रकार देवताओं ने वहाँ भगवान का निर्वाण-महोत्सव मनाया।"

एवं चतुर्दशी को छोटी दीपावली और अमावस्या को बड़ी दीपावली मनाने लगे। इस प्रकार अब तक भारत में भगवान महावीर के निर्वाण की स्मृति सुरक्षित रूप में चली आ रही है।

भगवान महावीर के यक्ष-यक्षिणी—भगवान महावीर के सेवक यक्ष का नाम मातंग है और सेविका यक्षिणी का नाम सिद्धायनी अथवा सिद्धायिका है।

प्रतिष्ठा पाठों में इन यक्ष-यक्षिणी का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

मातंग यक्ष—

"मुद्गप्रभो मूर्द्धनि धर्मचक्रं, विभ्रत्फलं वामकरेऽथ यच्छन् ।
वरं करिस्थो हरिकेतुभक्तो, मातङ्गयक्षोऽङ्गतु तुष्टिमिष्टया ॥

—वास्तुसार २४

अर्थात् मातंग यक्ष नीला वर्णवाला, सिर पर धर्मचक्र धारण करने वाला, बांये हाथ में बिजौरा फल धारण करने वाला और दांया हाथ वरदान मुद्रा में, गज की सवारी करने वाला और भगवान की धर्मध्वजा की रक्षा करने वाला है।

सिद्धायिका देवी—

"सिद्धायिकां सप्तकरोच्छ्रिताङ्ग-जिनाश्रयां पुस्तकदानहस्ताम् ।
श्रितां सुभद्रासनमत्र यज्ञे, हेमद्युतिं सिंहगतिं यजेऽहम् ॥

वास्तुसार, २४

अर्थात् सात हाथ ऊंचे महावीर स्वामी की शासनदेवी सिद्धायिका नामक देवी है। वह सुवर्ण वर्णवाली, भद्रासन से बैठी हुई, सिंह की सवारी करनेवाली और दो भुजावाली है। उसके बांये हाथ में पुस्तक और दांया हाथ वरदान मुद्रा में है।

यद्यपि यहाँ सिद्धायिका देवी को दो भुजावाली बताया है, किन्तु शिल्पकार ने शास्त्रों के इस बन्धन को कब स्वीकार किया है। यद्यपि चक्रेश्वरी, अम्बिका और पद्मावती की अपेक्षा सिद्धायिका की मूर्तियाँ अल्पसंख्या में मिलती हैं, किन्तु जो मिलती हैं, उनमें सर्वत्र यह देवी द्विभुजी नहीं मिलती, वह बहुभुजी भी मिलती है। खण्डगिरि में तो यह षोडशभुजी भी मिली है। शास्त्रों में इन शासन देवताओं का जो रूप निर्दिष्ट किया है, उसे केवल प्रतीकात्मक ही स्वीकार किया जाना उचित होगा, किन्तु मूर्तिकारों ने शास्त्रीय-विधानों की परिधि से आगे बढ़कर और शास्त्रीय बन्धनों से अपने आपको मुक्त करके अपनी इच्छानुसार इनकी मूर्तियाँ निर्मित की हैं। इस बात को हमें सदा स्मरण रखना चाहिये।

भगवान महावीर के कल्याणक स्थान

जन्म कल्याणक स्थान

हम पूर्व में कह आये हैं कि भगवान महावीर का जन्म वैशाली गणसंघ के क्षत्रिय कुण्डग्राम में हुआ था। भ्रमवश दिगम्बर समाज ने नालन्दा के निकट कुण्डलपुर को नाम साम्य के कारण कुछ शताब्दियों से भगवान का जन्म स्थान मान लिया है। इसी प्रकार श्वेताम्बर समाज ने लिच्छुआड़ को जन्म कल्याणक स्थान मान लिया है। दोनों ही समाजों की मान्यता भ्रममूलक है। दोनों ही सम्प्रदायों के शास्त्रों में कुण्डग्राम को विदेह में माना है, जबकि कुण्डलपुर मगध में था और लिच्छुआड़ अंग देश में। दिगम्बर शास्त्रों के अनुसार भगवान ने प्रथम पारणा कूलग्राम या कूर्मग्राम के राजा कूल के यहाँ किया था। कुण्डलपुर के निकट कूर्मग्राम नामक कोई स्थान नहीं है, जबकि वैशाली के निकट कर्मारग्राम नामक सन्निवेश था। इसी प्रकार श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार भगवान का प्रथम पारणा कोल्लाग सन्निवेश में हुआ था। कोल्लाग नामक सन्निवेश उस समय दो थे—एक वैशाली में और दूसरा गया के पास वर्तमान कुलुहा पर्वत। लिच्छुआड़ से ये दोनों ही कोल्लाग काफी दूर पड़ते थे। वैशालीवाला कोल्लाग लगभग चालीस मील पड़ता था और गया

की दूरी पर उत्तर की ओर क्षत्रिय कुण्ड और काकली नामक स्थान है। जमुई और राजगृह के बीच सिकन्दरा गांव है। सिकन्दरा और लखीसराय के मध्य में आम्रवन है। कहा जाता है कि इस आम्रवन में भगवान महावीर ने तपश्चरण किया था। आज भी यहां के निकटवर्ती लोग इस वन को पावन मानकर इसके वृक्षों की पूजा करते हैं। जमुई के दक्षिण में लगभग ४-५ मील की दूरी पर एक केवाली नामक ग्राम है, जो महावीर के केवल ज्ञानोत्पत्ति स्थान की स्मृति को बनाये रखने के लिये ही प्रसिद्ध हुआ होगा। वहां के निवासी भी कहते हैं कि यही केवाली भगवान महावीर का केवलज्ञान स्थान है। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन यहाँ सामूहिक रूप से उत्सव भी मनाया जाता है। जमुई से राजगृह लगभग ३० मील की दूरी पर है। जमुई चम्पा के भी निकट है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि जमुई का निकटवर्ती केवाली स्थान ही वस्तुतः भगवान महावीर का केवल ज्ञान-प्राप्ति स्थान है।

निर्वाण कल्याणक स्थान—भगवान महावीर का निर्वाण पावा में हुआ था। जैन शास्त्रों में इसे मध्यमा पावा बतलाया गया है। दिगम्बर शास्त्रों में भी अनेक स्थलों पर मध्यमा पावा के नाम से ही महावीर के निर्वाण स्थल का उल्लेख मिलता है।

प्राकृत प्रतिक्रमण में इस सम्बन्ध में निम्नलिखित उल्लेख प्राप्त होता है—

'पावाए मज्झिमाए हत्थवालिसहाए णमंसामि

अर्थात् मध्यमा पावा में हस्तिपाल की सभा में स्थित महावीर को मैं नमस्कार करता हूं।

पं० आशाधर ने क्रिया कलाप (पृ० ५६) में इसी बात का समर्थन किया है—

'पावायां मध्यमायां हस्तिपालिका मण्डपे नमस्यामि।

श्वेताम्बर आगमों में तो सर्वत्र मध्यमा पावा के नाम से ही भगवान के निर्वाण-स्थल का उल्लेख मिलता है। 'कल्पसूत्र' में बताया है—

'तत्थ णं जे से पावाए मज्झिमाए हत्थिवालस्स रन्नो रज्जुगसभाए अपच्छिमं अंतरावासं उवागए।

मध्यमा पावा कहने का आशय यह निकलता है कि उस समय पावा नामक तीन नगर थे। आगम ग्रन्थों और स्थल कोषों के अनुशीलन से इन तीन पावा नगरों की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम पावा उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले में सठियांव- फाजिल नगर के स्थान पर मल्लों की पावा थी और यह मल्लगण संघ की एक राजधानी थी। दूसरी पावा भंगिदेश की राजधानी थी। वर्तमान हजारीबाग और मानभूम जिले इसी में सम्मिलित थे। तीसरी पावा मगध में थी और यह दोनों पावाओं के मध्य में थी। पहली पावा इसके आग्नेय कोण में और दूसरी इसके वायव्य कोण में लगभग समदूरी पर थी। इसी कारण यह तीसरी पावा मध्यमा पावा कहलाती थी।

श्वेताम्बर आगमों के अनुसार महावीर पावा में दो बार पधारे थे। प्रथम बार जृंभिक ग्राम में केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अगले ही दिन यहाँ पधारे। यह जृम्भिक ग्राम से बारह योजन दूर थी। उन दिनों मध्यम पावा में आर्य सोमिल बड़ा भारी यज्ञ कर रहा था। उसमें अनेक विद्वान सम्मिलित हुए थे। उन्हें सम्बोधित करने महावीर जृम्भिक ग्राम से चलकर एक दिन रात में पावा पहुँचे। वैशाख शुक्ला १० को जृम्भिक ग्राम में समवसरण लगा और वैशाख शुक्ला ११ को मध्यमा पावा के महासेन उद्यान में दूसरा समवसरण लगा। इसमें इन्द्रभूति आदि ग्यारह विद्वान अपने ४४०० शिष्यों के साथ भगवान से शास्त्रार्थ करने पहुँचे। किन्तु वहाँ पहुँचते ही वे भगवान के शिष्य बन गये। इस प्रकार प्रथम दिन ही भगवान के ४४११ शिष्य बने। इसी दिन महावीर ने मध्यमा पावा के महासेन उद्यान में चतुर्विध संघ की स्थापना की।

दूसरी बार महावीर चम्पा से विहार कर मध्यमा पावा पहुंचे। इस वर्ष का वर्षावास हस्तिपाल राजा की रज्जुगशाला में किया और यहीं उनका निर्वाण हुआ।

श्वेताम्बर ग्रन्थों के इस विवरण से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जृम्भिक ग्राम से पावा की दूरी इतनी होनी चाहिए, जिसे एक दिन में पूरा करके पावा पहुँचा जा सके। जृम्भिक (वर्तमान जमुई) से वर्तमान पावापुरी की दूरी लगभग ५०-६० मील के लगभग है।

विद्वानों के समक्ष हम कुछ तर्क उपस्थित करते हैं। आशा है, वे उन पर विचार करके अपना मत निश्चित करेंगे —

१. जैन शास्त्रों में किसी स्थान पर महावीर का निर्वाण मल्लों की पावा में नहीं बताया।

२. बौद्ध ग्रन्थों में जब-जब पावा में म० बुद्ध की चारिका का वर्णन आया है, सर्वत्र उसको मल्लों की पावा बताया है। किन्तु निग्गंठ नातपुत्त के कालकवलित होने की जहां भी चर्चा आई है, वहाँ केवल पावा ही दिया है, एक भी स्थान पर मल्लों की पावा नहीं दिया। आखिर क्यों ?

३. जैन शास्त्रों में महावीर के निर्वाण प्रसंग में उल्लेख मिलता है कि उस समय नौ मल्ल राजा और लिच्छवी राजा भगवान के निर्वाणोत्सव में सम्मिलित हुए थे। इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर का निर्वाण मल्ल संघ और लिच्छवी संघ से बाहर कहीं हुआ था। यदि उनका निर्वाण मल्लों की पावा में हुआ होता तो मल्ल राजाओं के उल्लेख की आवश्यकता न पड़ती। उल्लेख बाहर वालों का किया जाता है, स्थानीय लोगों का नहीं।

४. जैन शास्त्रों में महावीर के निर्वाण स्थान का नाम मध्यमा पावा दिया है। यह पावा अन्य दो पावाओं के मध्य में थी, इसलिए मध्यमा पावा कहलाती थी। वर्तमान पावापुरी की स्थिति मध्यमा पावा की बन सकती है। क्योंकि उसके एक ओर भगिजनपद की पावा थी, दूसरी ओर मल्लों की पावा थी। किन्तु सठियांव (मल्लों की पावा) मध्यमा पावा नहीं बन सकती। वह तो एक ओर पड़ जाती है।

५ जैन शास्त्रों में महावीर का जो विहार-क्रम दिया है, उसके अनुसार मध्यमा पावा चम्पा और राजगृही के मध्य में थी। वर्तमान पावापुरी भी चम्पा और राजगृही के मध्य में पड़ती है, मल्लों की पावा नहीं।

इन तर्कों के प्रकाश में पावापुरी ही भगवान महावीर का निर्वाणस्थान सिद्ध होती है। हमें एक बात बहुत स्पष्टतया समझ लेनी चाहिए। महावीर के सम्बन्ध में कोई निर्णय करते समय जैन शास्त्रों को ही प्रमाण स्वरूप मानना है, न कि बौद्ध ग्रन्थों को क्योंकि बौद्ध ग्रन्थों में महावीर के सम्बन्ध में जो वर्णन किया गया है, वह अप्रामाणिक, इतिहास विरुद्ध और साम्प्रदायिक द्वेष से प्रेरित है। उदाहरण के लिए जैसे बुद्ध की प्रशंसा सुनकर मुंह से रक्तवमन करना और उसी में नालन्दा में उनकी मृत्यु होना लिखा है, जो कि स्वीकार्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार महावीर की मृत्यु के तत्काल बाद दिगम्बर और श्वेताम्बर के रूप में जैनों का संघ-भेद होना और उनका परस्पर विग्रह करना यह सब इतिहासविरुद्ध है। साम्प्रदायिक विद्वेष में इससे बड़ा उदाहरण इतिहास में नहीं मिल सकता, जब चुन्द द्वारा महावीर की मृत्यु का समाचार सुनकर आनन्द इस समाचार को तथागत के लिए भेंट स्वरूप कहते हैं।

हम यहाँ उन संभावनाओं का भी स्पष्टीकरण करना उचित समझते हैं, जो पावापुरी को महावीर का निर्वाण-स्थान मानने में उठ सकती हैं अथवा उठाई जाती हैं। संभावनाएं निम्नलिखित हो सकती हैं—

१. मल्ल और लिच्छवी मगध राज्य के शत्रु थे। वे शत्रु देश मगध में किस प्रकार आ सकते थे ?

२. पावा राजगृही के बिलकुल निकट है। तब वहां हस्तिपाल राजा कैसे हो सकता था ?

३. पावापुरी में पुरातत्व सम्बन्धी कोई सामग्री उपलब्ध नहीं होती।

४. मगधवासी होने पर भी अजातशत्रु मगधराज्य में स्थित पावा में महावीर के निर्वाणोत्सव में क्यों सम्मिलित नहीं हुआ।

इन संभावनाओं अथवा शंकाओं का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

१. मल्ल और लिच्छवी संघ मगध साम्राज्य के शत्रु देश थे, यह सत्य है। श्रेणिक बिम्बसार ने एक बार वैशाली पर आक्रमण भी किया था और वह उस अभियान में असफल हुआ था। किन्तु शत्रुता इस सीमा तक नहीं थी कि दोनों ओर के नागरिकों का एक दूसरे प्रदेश में जाना-आना वर्जित हो। पाटलिग्राम में दोनों देशों का सम्मिलित व्यापार था। सीढ़ी में आधे भाग में वज्जि संघ का शासन था और आधे भाग पर मगध का। दोनों ओर के नागरिक एक दूसरे के प्रदेश में निर्बाध आते जाते थे। श्रेणिक के काल में युद्ध-काल को छोड़कर शान्ति-काल में सम्बन्ध सामान्य थे। दोनों देशों में शत्रुता हुई अजातशत्रु के काल में और वह भी हल्ल, विहल्ल द्वारा भाग कर वैशाली में शरण लेने और अजातशत्रु द्वारा उन्हें सचेनक हाथी और रत्नहार समेत वापिस भेजने की मांग को वैशाली के गणपति चेटक द्वारा ठुकराये जाने पर। निर्वाण के समय श्रेणिक का शासन था, न कि अजातशत्रु का।

२. श्रेणिक बिम्बसार के राज्य में ८०००० गांव थे। प्रत्येक गांव का जमींदार ही राजा कहलाता था। हस्तिपाल भी ऐसा ही कोई करद राजा रहा होगा। अतः राजगृही के निकट हस्तिपाल राजा के होने में कोई बाधा नहीं है।

३. पावापुरी में पुरातत्व सामग्री की कोई कमी नहीं है। वहाँ का जल मन्दिर और गांव का मन्दिर ही इसके प्रमाण हैं। जल मन्दिर में जब संगमरमर के पत्थर लगाये जा रहे थे तो मन्दिर की दीवालों में पन्द्रह इंच से बड़ी ईंटें मिलीं। ऐसा प्रत्यक्षदर्शियों का कथन है। इतनी बड़ी ईंटें गुप्तकाल या इससे पूर्व काल में प्रयुक्त होती थीं। इससे तो प्रतीत होता है कि यह मन्दिर गुप्तकाल या उससे भी पूर्ववर्ती है। इसी प्रकार गांव के मन्दिर की मरम्मत के समय खुदाई में एक प्राचीन मन्दिर का अवशेष मिला था। वह पर्याप्त प्राचीन लगता है। इन दोनों मन्दिरों के सम्बन्ध में जानकारी रखने वाले प्रत्यक्षदर्शी अब भी मिल सकते हैं।

इनके अतिरिक्त दिगम्बर जैन मन्दिर में चार मूर्तियाँ विराजमान हैं जो आठवीं शताब्दी की अनुमान की जाती हैं। ये मूर्तियाँ वर्तमान पावा के बाहर पड़ी हुई थीं। वहाँ से लाई गई थी, ऐसा ज्ञात हुआ। मुझे इस स्थान की अपनी शोध-यात्रा में यह भी ज्ञात हुआ कि वहाँ अनेक जैन मूर्तियाँ थीं। उनमें से कुछ बेच दी गई और कुछ को लोग उठा ले गये और गांवों में कहीं किसी पीपल के नीचे विराजमान करके विभिन्न नामों से पूजी जा रही हैं। लगता है, पावा पुरी के निकट प्राचीन काल में जैन मन्दिर थे। उन्हीं मन्दिरों की ये मूर्तियाँ हैं।

कुछ ऐसे यात्रा-विवरण मिलते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि ७-८ वीं शताब्दी में जैन संघ यहां यात्रा करने आते रहे हैं। इससे इस क्षेत्र की प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

दूसरी ओर सठियांव में आजतक एक भी जैन मूर्ति, शिलालेख अथवा जैन मन्दिरों के कोई चिन्ह तक नहीं मिले। जो लोग संभावना पर जी रहे हैं, उन्हें निराशा भी हाथ लग सकती है। संभावना निश्चय-अनिश्चय रूप द्विमुखी होती है।

४. भगवान महावीर के निर्वाण के समय तत्कालीन शासक श्रेणिक बिम्बसार पावा में उपस्थित थे और उन्होंने जनसमूह के साथ इस महोत्सव में भाग लिया था, इस प्रकार का उल्लेख हरिवंश पुराण ६६/२० में मिलता है। हरिषेण कृत बृहत्कथाकोष के अनुसार श्रेणिक की मृत्यु महावीर-निर्वाण के पश्चात् हुई थी।

इस प्रकार ऐतिहासिक और शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध होता है कि वर्तमान पावापुरी ही महावीर की निर्वाण-भूमि है।

परिशिष्ट

तीथकरों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बात

	तीर्थंकर नाम	चिन्ह	वर्ण	पिता का नाम	माता का नाम	जन्म नगरी	अवगाहना	वंश
१.	ऋषभदेव	वृषभ	स्वर्ण	नाभिराय	मरुदेवी	अयोध्या	५०० धनुष	इक्ष्वाकु
२.	अजितनाथ	गज	"	जितशत्रु	विजया	"	४५० "	"
३.	संभवनाथ	अश्व	"	जितारि	सुसेना	श्रावस्ती	४०० "	"
४.	अभिनन्दननाथ	बन्दर	"	संवर	सिद्धार्था	अयोध्या	३५० "	"
५.	सुमतिनाथ	चकवा	"	मेघप्रभ	मंगला	"	३०० "	"
६.	पद्मप्रभ	कमल	रक्त	धरण	सुसीमा	कौशाम्बी	२५० "	"
७.	सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक	हरित	सुप्रतिष्ठ	पृथिवी	वाराणसी	२०० "	"
८.	चन्द्रप्रभ	अर्धचन्द्र	धवल	महासेन	लक्ष्मीमती	चन्द्रपुरी	१५० "	"
९.	पुष्पदन्त	मगर	"	सुग्रीव	रामा	काकन्दी	१०० "	"
१०.	शीतलनाथ	श्रीवृक्ष	स्वर्ण	दृढ़रथ	नन्दा	भद्दलपुर	९० "	"
११.	श्रेयान्सनाथ	गेंडा	"	विष्णु	वेणुदेवी	सिंहपुरी	८० "	"
१२.	वासुपूज्य	भेंसा	रक्त	वसुपूज्य	विजया	चम्पा	७० "	"
१३.	विमलनाथ	शूकर	स्वर्ण	कृतवर्मा	जयश्यामा	कंपिला	६० "	"
१४.	अनन्तनाथ	सेही	"	सिंहसेन	सर्वयशा	अयोध्या	५० "	"
१५.	धर्मनाथ	वज्र	"	भानु	सुव्रता	रत्नपुर	४५ "	कुरु
१६.	शान्तिनाथ	हरिण	"	विश्वसेन	ऐरा	हस्तिनापुर	४० "	इक्ष्वाकु
१७.	कुन्थुनाथ	बकरा	"	सूर्यसेन	श्रीमतीदेवी	"	३५ "	कुरु
१८.	अरनाथ	मत्स्य	"	सुदर्शन	मित्रा	"	३० "	"
१९.	मल्लिनाथ	कलश	"	कुम्भ	प्रभावती	मिथिलापुरी	२५ "	इक्ष्वाकु
२०.	मुनिसुव्रतनाथ	कूर्म	नील	सुमित्र	पद्मा	राजगृह	२० "	यादव
२१.	नमिनाथ	नीलकमल	स्वर्ण	विजय	वप्रिला	मिथिलापुरी	१५ "	इक्ष्वाकु
२२.	नेमिनाथ	शंख	नील	समुद्रविजय	शिवदेवी	शौरीपुर	१० "	यादव
२३.	पार्श्वनाथ	सर्प	हरित	अश्वसेन	वर्मिला	वाराणसी	९ हाथ	उग्र
२४.	महावीर	सिंह	स्वर्ण	सिद्धार्थ	प्रियकारिणी	कुण्डलपुर	७ हाथ	ना

तीर्थंकरों के सम्बन्ध में कुछ ज्ञातव्य बातें

क्र०सं०	तीर्थंकर-नाम	आयु	छद्मस्थकाल	गणधर संख्या	मुनि संख्या	आर्यिकाओं की संख्या	तीर्थंकरों का बोधिवृक्ष	यक्ष	यक्षिणी
१.	ऋषभदेव	८४ लाख वर्ष पूर्व	१००० वर्ष	८४	८४०००	३५००००	वट वृक्ष	गोमुख	चक्रेश्वरी
२.	अजितनाथ	७२ " "	१२ वर्ष	९०	१०००००	३२००००	सप्तपर्ण	महायक्ष	रोहिणी
३.	संभवनाथ	६० " "	१४ वर्ष	१०५	२०००००	३२००००	शालवृक्ष	त्रिमुख	प्रज्ञप्ति
४.	अभिनन्दननाथ	५० " "	१८ वर्ष	१०३	३०००००	३३०६००	सरलवृक्ष	यक्षेश्वर	वज्रशृंखला
५.	सुमतिनाथ	४० " "	२० वर्ष	११६	३२००००	३३०४००	प्रियंगु	तुम्बुरव	वज्रांकुशा
६.	पद्मप्रभु	३० " "	६ मास	११०	३३००००	४२००००	प्रियंगु	मातंग	अप्रतिचक्रेश्वरी
७.	सुपार्श्वनाथ	२० " "	९ वर्ष	९५	३०००००	३३०४००	शिरीष	विजय,	पुरुषदत्ता
८.	चन्द्रप्रभ	१० " "	३ मास	९३	२५००००	३८००००	नागवृक्ष	अजित	मनोवेगा
९.	पुष्पदन्त	२ " "	४ वर्ष	८८	२०००००	३८००००	नागवृक्ष	ब्रह्म	काली
१०.	शीतलनाथ	१ " "	३ वर्ष	८१	१०००००	३८००००	बेल	ब्रह्मेश्वर	ज्वालामालिनी
११.	श्रेयान्सनाथ	८४ लाख वर्ष	२ वर्ष	७७	८४०००	१२००००	तुंबर	कुमार	महाकाली
१२.	वासुपूज्य	७२ " "	१ वर्ष	६६	७२०००	१०६०००	कदम्ब	षण्मुख	गौरी
१३.	विमलनाथ	६० " "	३ वर्ष	५५	६८०००	१०३०००	जम्बू	पाताल	गान्धारी
१४.	अनन्तनाथ	३० " "	२ वर्ष	५०	६६०००	१०८०००	पीपल	किन्नर	वैरोटी
१५.	धर्मनाथ	१० " "	१ वर्ष	४३	६४०००	६२४००	दधिपर्ण	किंपुरुष	सोलसा अनंतमती
१६.	शान्तिनाथ	१ " "	१६ वर्ष	३६	६२०००	६०३००	नंद्यावर्त	गरुड़	मानसी
१७.	कुन्थुनाथ	९५ हजार वर्ष	१६ वर्ष	३५	६००००	६०३५०	तिलक	गंधर्व	महामानसी
१८.	अरहनाथ	८४ " "	१६ वर्ष	३०	५००००	६००००	आम्र	कुवेर	जया
१९.	मल्लिनाथ	५५ " "	६ दिन	२८	४००००	५५०००	अशोक	वरुण	विजया
२०.	मुनिसुव्रतनाथ	३० " "	११ मास	१८	३००००	५००००	चम्पक	भृकुटि	अपराजिता
२१.	नमिनाथ	१० " "	९ मास	१७	२००००	४५०००	वकुल	गोमेध	बहुरूपिणी
२२.	नेमिनाथ	१ " "	५६ दिन	११	१८०००	४००००	देवदार	पार्श्व	कूष्माण्डी
२३.	पार्श्वनाथ	१०० वर्ष	४ मास	१०	१६०००	३६०००	देवदार	मातंग	पद्मा
२४.	महावीर	७२ वर्ष	१२ वर्ष	११	१४०००	३६०००	शाल	गुह्यक	सिद्धायिनी

तीर्थंकरों की शुद्ध पञ्चकल्याणक तिथियां और नक्षत्र

	तीर्थंकर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष	नक्षत्र
१.	ऋषभदेव	आषाढ़ कृ० २	चैत्र कृ० ९	चैत्र कृ० ९	फाल्गुन कृ० ११	माघ कृ० १४	उत्तराषाढ़
२.	अजिततनाथ	ज्येष्ठ कृ० ३०	माघ शु० १०	माघ शु० ९	पौष शु० ११	चैत्र शु० ४	रोहिणी
३.	संभवनाथ	फाल्गुन शु० ८	कार्तिक शु० १५	मा० शी० शु० १५	कार्तिक कृ० ४	चैत्र शु० ६	मृगशिरा
४.	अभिनन्दननाथ	वैशाख शु० ६	माघ शु० १२	माघ शु० १२	पौष शु० १४	वैशाख शु० ६	पुनर्वसु
५.	सुमतिनाथ	श्रावण शु० २	चैत्र शु० ११	वैशाख शु० ९	चैत्र शु० ११	चैत्र शु० ११	मघा
६.	पद्मप्रभु	माघ कृ० ६	कार्तिक कृ० १३	कार्तिक कृ० १३	चैत्र शु० १५	फाल्गुन कृ० ४	चित्रा
७.	सुपार्श्वनाथ	भाद्रपद शु० ६	ज्येष्ठ शु० १२	ज्येष्ठ शु० १२	फाल्गुन कृ० ६	फाल्गुन कृ० ७	विशाखा
८.	चन्द्रप्रभ	चैत्र कृ० ५	पौष कृ० ११	पौष कृ० ११	फाल्गुन कृ० ७	फाल्गुन कृ० ७	अनुराधा
९.	पुष्पदन्त	फाल्गुन कृ० ९	मा० शी० शु० १	मा० शी० शु० १	कार्तिक शु० २	भाद्रपद शु० ८	मूल
१०.	शीतलनाथ	चैत्र कृ० ८	माघ कृ० १२	माघ कृ० १२	पौष कृ० १४	आश्विन शु० ८	पूर्वाषाढ़
११.	श्रेयान्सनाथ	ज्येष्ठ कृ० ६	फाल्गुन कृ० ११	फाल्गुन कृ० ११	माघ कृ० ३०	श्रावण शु० १५	श्रवण
१२.	वासुपूज्य	आषाढ़ कृ० ६	फाल्गुन कृ० १४	फाल्गुन कृ० १४	माघ शु० २	भाद्र० शु० १४	शतभिषा
१३.	विमलनाथ	ज्येष्ठ कृ० १०	माघ शु० ४	माघ शु० ४	माघ शु० ६	आषाढ़ कृ० ८	उत्तरा भाद्रपद
१४.	अनन्तनाथ	कार्तिक कृ० १	ज्येष्ठ कृ० १२	ज्येष्ठ कृ० १२	चैत्र कृ० ३०	चैत्र कृ० ३०	रेवती
१५.	धर्मनाथ	वैशाखकृ० १३	माघ शु० १३	माघ शु० १३	पौष शु० १५	ज्येष्ठ शु० ४	पुष्य

भगवान चन्द्रप्रभ की सप्तमुख वाली अद्भुत मूर्ति । सप्त मुख स

सीरौन में प्राप्त भगवान नेमिनाथ के यक्ष-यक्षी सर्वाण्ह और अम्बिका । शीर्ष पर नेमिनाथ विराजमान है

महोबा में प्राप्त पद्मावती देवी की सुन्दर मूर्ति

—काल ६वीं शताब्दि